श्री विद्यानंदाचार्य प्रणीत

अष्टसहस्री

[प्रथम भाग]

हिन्दी भाषानुवाद सहित

卐

भाषानुवाद कर्त्री

परमविदुषीरत्न, चतुरनुयोगमर्मज्ञा
प्रखरप्रवक्त्री, बालब्रह्मचारिणी,

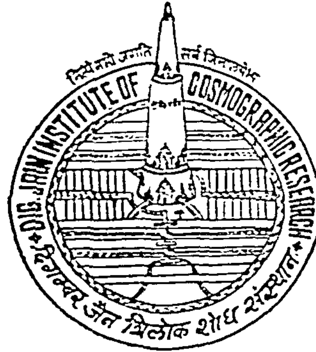
पूज्य आर्यिका १०५ श्री ज्ञानमती माताजी

(आचार्य श्री धर्मसागर जी संघस्थ प्रधान आर्यिका)

सम्पादक

मोतीचन्द जैन सर्राफ
शास्त्री, न्यायतीर्थ
(आ० श्री धर्मसागरजी संघस्थ)

रवीन्द्रकुमार जैन
शास्त्री, बी० ए० (टिकैतनगर)
(संघस्थ)



प्रकाशक—दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान

प्रथम संस्करण
११०० प्रतियां
ई० सन् १९७४

द्वि० भाद्रपद शुक्ला १४
वीर निर्वाण संवत् २५००
वि० सं० २०३१

मूल्य
५१) रु०

भगवान महावीर के २५ सौवें निर्वाणमहोत्सव के मंगलअवसर पर

पू० आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी की पुनीत प्रेरणा से संस्थापित

दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, के अंतर्गत

वीरज्ञानोदय ग्रंथमाला

इस ग्रन्थमाला में दि० जैन आर्ष मार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, कन्नड़ आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धांत अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण, इतिहास आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रन्थों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होगा।

समय-समय पर धार्मिक—लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहेंगी।

ग्रन्थमाला संपादक

मोतीचंद जैन सर्राफ
शास्त्री, न्यायतीर्थ

रवीन्द्रकुमार जैन
शास्त्री, बी० ए०



स्थापनाब्द
कार्तिक कृष्ण अमावस्या
वीर निर्वाण सं० २४९८
वि० सं० २०२९
ई० सन् १९७२

प्रकाशन कार्यालय
दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) U. P.

मुद्रक—एस. नारायण एण्ड संस प्रिन्टिंग प्रेस ७११७/१८ पहाड़ी धीरज दिल्ली-६

चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शाँतिसागरजी महाराज



जन्म—	क्षुल्लक दीक्षा—	एलक दीक्षा—	मुनि दीक्षा—
भोजग्राम	कागनोली (महा०)	श्री गिरनार जी	यरनाल (महा०)
(कोल्हापुर, महाराष्ट्र)	वि० सं० १९७०	वि. सं. १९७५	वि. सं. १९७६
वि. सं. १९२९ आ. कृ. ६	जेष्ठ शु० १२		फाल्गुन शु. १३

क्षुल्लक एवं मुनि दीक्षा गुरु—मुनि सिद्धसागर जी

आचार्यपट्ट—आश्विन शुक्ला ११ वि० सं० १९८१—समडोली (महाराष्ट्र)

स्वर्गवास—भादवा शु० २ वि० सं० २०१२—कुंथलगिरी सिद्धक्षेत्र

अनुक्रम दर्पण

भावनावाद

वेद की अप्रमाणता

चार्वाक मत खंडन

शून्यवाद

तत्वोपप्लववाद

तत्वोपप्लववाद का खण्डन

तीर्थच्छेद संप्रदाय वालों का खण्डन

अद्वैतवादियों का खण्डन

दोष आवरण के अभाव पूर्वक सर्वज्ञ सिद्धि

चार्वाक मत-खंडन



प्रस्तावना

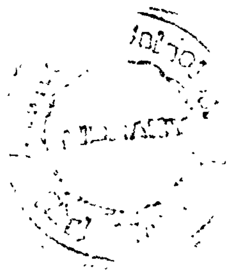
नमः श्री स्याद्वाद विद्यापतये

न्यायशास्त्र प्रमाणभूत शास्त्र है, इतना ही नहीं, इतर सिद्धांत, व्याकरण, साहित्य, चरणानुयोग, करणानुयोग, प्रथमानुयोग आदि ग्रन्थों में प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए साधन हैं। द्वादशांग वाणी में दृष्टिवाद नामक जो अन्तिम अंग है उससे प्रसृत यह न्यायशास्त्र है। न्यायशास्त्र के द्वारा सिद्धांत समर्थित विषयों को कसोटी में कसकर सिद्ध किया जाता है। सिद्धांत प्रतिपादित तत्त्वों में प्रामाणिकता किस प्रकार है इसे न्याय शास्त्र प्रतिपादन करता है। वस्तु का सर्वांश से, सर्वांग से यथार्थ दर्शन न्यायशास्त्र के द्वारा होता है। न्यायशास्त्र की आधार शिला स्याद्वाद या अनेकांत है तो प्रमाण व नय उसके दो पंख हैं। नय प्रमाणरूपी पंखों को धारण कर स्याद्वाद यथेच्छ सर्वत्र जल, स्थल, आकाश में भ्रमण कर सकता है। उसे कोई भी किसी भी क्षेत्र में रोकने के लिए समर्थ नहीं है। उसकी गति निर्बाध है, उसकी गति आतंक रहित वेगवती है। उसमें उपरोध करने वाली कोई शक्ति संसार में नहीं है।

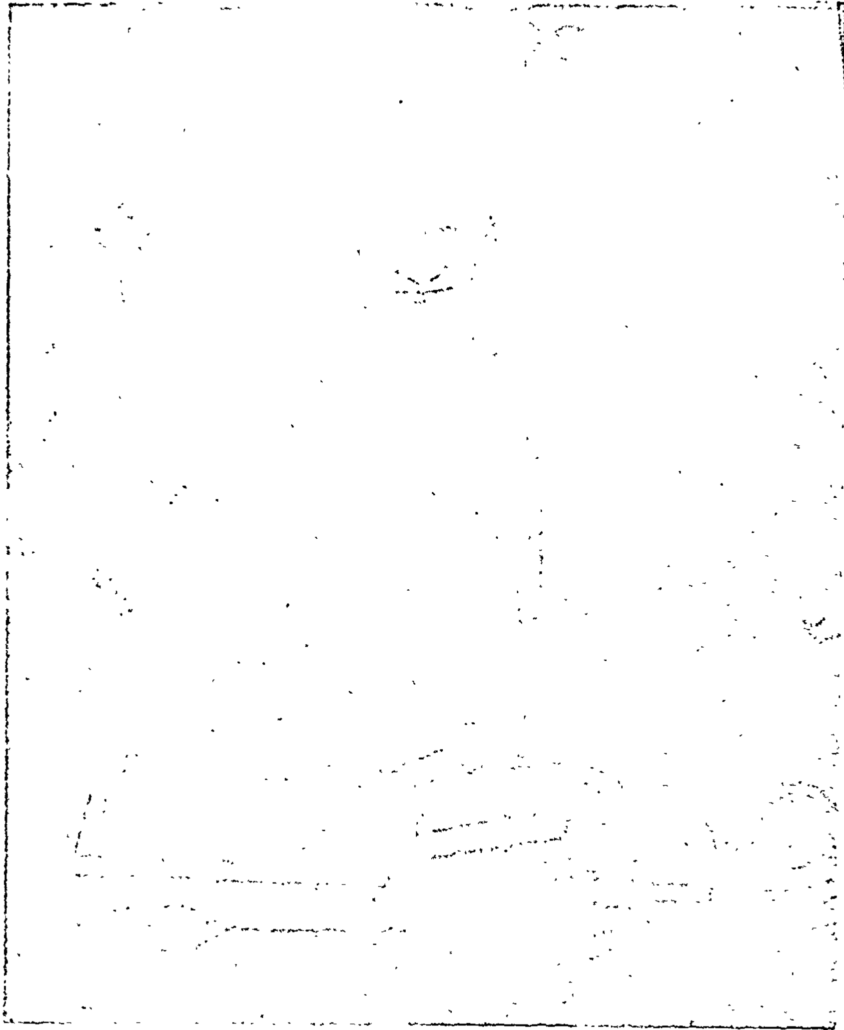
संसार में युक्ति प्रयुक्त करने की योग्यता वाले हर विषय को विवादास्पद बना सकते हैं। उसे, उस कथन को एवं युक्ति को तर्क की कसोटी में कसकर देखना होगा कि वह सम्यक् है या मिथ्या है? युक्ति और शास्त्र से अविरोध जो वचन है वह सम्यक् तर्क है। तर्क में तर्क भी होता है, कुतर्क भी होता है। परन्तु सुतर्क ग्राह्य है, उपादेय है, परन्तु कुतर्क त्याज्य है, निषेध्य है, सुतर्क या तर्क के द्वारा द्रव्य की प्रतिष्ठा होती है, द्रव्य में द्रव्यत्व की सिद्धि, गुण में गुणत्व की सिद्धि, पर्याय में उत्पाद व्यय की सिद्धि आदि सभी तर्क पूर्ण दृष्टि से होती है, अनुदिन के बोलने वाले वचनों में भी न्याय का पुट लगना चाहिये, अन्याय पूर्ण वचनों से विवाद, कलह, संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसलिए युक्ति शास्त्र से अविरोध वचनों से पूर्ण न्याय पथ से चलने को ही बोलने के लिए मनुष्य को सीखना चाहिये। भगवान् समंतभद्र ने अर्हत्परमेश्वर भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए आप्तमीमांसा में लिखा है कि—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥

हे भगवन्! आप ही युक्ति और आगम के अविरोधी वचन को बोलते हैं, अतएव निर्दोष हैं। आपके बोलने चलने में जो अविरोध है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं है, अर्थात् स्पष्टतया



परम पूज्य १०८ आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज



जन्म—	मुनि दीक्षा—	स्वर्गवास—
वीरगाँव (महाराष्ट्र)	वि० सं० १९८०	खानिया, जयपुर
वि० सं० १९३२	आश्विन शुक्ला ११	वि० सं० २०१४
आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा	समडोली (सांगली, महाराष्ट्र)	आश्विन कृष्णा ३०

क्षुल्लक, ऐलक एवं मुनि दीक्षा गुरु—चा० च० १०८ आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज

आदर्शरूप से दिखता है, आप जैसा बोलते हैं, वैसा ही चलते हैं, आपको यह इष्ट है, जो ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं है वही न्यायशास्त्र के लिए सम्मत है, उसी से पदार्थ का निर्दोष ज्ञान होता है।

इसलिए सिद्धांत शिरोमणि श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि "प्रमाणनयैरधिगमः" प्रमाण व नयों से तत्त्व का ज्ञान होता है, अर्थात् पदार्थों का निर्दोष ज्ञान होता है, इस परिपाटी को सिखाने वाला न्यायशास्त्र है, इस सरणि को छोड़कर हम पदार्थों के ज्ञान को ही प्राप्त नहीं कर सकते हैं। हमारे ज्ञान में प्रमाण की सत्ता रहेगी, या नयविवक्षा रहेगी या नयांश रहेगा। इसके बिना हम पदार्थों का चतुर्मुखी ज्ञान नहीं कर सकते हैं। पदार्थों का चतुर्मुखी ज्ञान ही निर्दोष ज्ञान है, अविकृत दर्शन है।

इसलिए आगम सिद्धांत की सिद्धि के लिए, लोक व्यवहार की प्रसिद्धि के लिए, स्वमत स्थापन, परमत खंडन कर वस्तु तत्त्व की सिद्धि के लिए न्यायशास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता है। इसलिए जैनाचार्यों ने इस विषय के भी ग्रन्थों का निर्माण कर भगवान् अर्हत्परमेश्वर के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व विवेचन को निर्दोष सिद्ध किया है। इन सब कार्यों को करते हुए उन्होंने एक ही स्याद्वाद साधन का उपयोग किया है। स्याद्वाद या अनेकांत के रूप में सर्व पदार्थ व्यवस्थित हैं, अतएव उनका ज्ञान भी स्याद्वाद या अनेकांत से ही ठीक तरह से हो सकता है। स्याद्वाद के बिना हम पदार्थों के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं, पदार्थों के ज्ञान में गड़बड़ी होती है, हम संशय कल्लोल में गोता खाते हैं। इसलिए वस्तु तत्त्व की निर्दोष सिद्धि के लिए स्याद्वाद का ही अवलंबन करना चाहिये।

भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए महर्षि समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है कि—

अनवद्यः स्याद्वादः तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादः सद्वितयविरोधान्मुनीश्वरास्याद्वाद ॥

(स्वयंभूस्तोत्र) १३८

जिस स्याद्वाद से पदार्थों की ठीक स्थिति का ज्ञान होता है उसके संबन्ध में आचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! आपका स्याद्वाद निर्दोष है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से अबाधित है, अतएव स्याद्वाद है। प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, तर्क आदि कोई भी प्रमाण इसे बाधित करने के लिए समर्थ नहीं हैं। दूसरे जो एकांतवाद हैं उन्हें स्याद्वाद नहीं कह सकते हैं, उनमें स्यात् का प्रयोग नहीं हो सकता है। इसके अलावा उसमें प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा भी उत्पन्न होती है। अतः वह स्याद्वाद भी नहीं है। अस्याद्वाद है।

इसलिए न्याय शास्त्रों के निरूपण में मूलाधार स्याद्वाद है। उसके आधार से तत्त्व की वस्तुनिष्ठ प्रतिष्ठा हो जाती है।

तत्त्वों को निर्दोष सिद्धि करते हुए हित प्राप्ति एवं अहित परिहार के लिए न्यायशास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है। इसी के लिए ही जैनाचार्यों ने न्याय ग्रंथों की रचना की है।

इस सम्बन्ध में विचार करने पर न्यायशास्त्र की परम्परा का उद्योत करने वाले निम्नलिखित आचार्य अवश्य उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं।

परम तार्किक श्री अकलंकदेव, विद्यानंदि, माणिक्यनंदि, प्रभाचन्द्र, धर्मभूषण, वादिराज सूरि आदि का नाम बहुत गौरव के साथ इस दिशा में लिया जा सकता है, इन आचार्यों ने अपने अगाध पाँडित्य के द्वारा जैन सिद्धांत की समीचीनता का दर्शन युक्ति और आगम के अविरोधी वचन के द्वारा एवं अपने तर्क कौशल्य के द्वारा कराया, यही कारण है कि आज जैनदर्शन निर्दोष रूप से और पूर्वापर अविरोध रूप से व्यवस्थित है।

अष्टसहस्री एक महान् न्यायग्रन्थ

अष्टसहस्री एक महान् तार्किक ग्रन्थ है। इसका मूलाधार देवागम स्तोत्र है। स्वामी समंतभद्राचार्य के द्वारा विरचित गंधहस्ति महाभाष्य का यह देवागम स्तोत्र मंगलाचरण कहलाता है। गंधहस्ति महाभाष्य के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में 'उक्तं च' कहते हुए उद्धरण मिलता है, इसलिए स्वामी समन्तभद्राचार्य के द्वारा तत्त्वार्थ सूत्र के ऊपर एक महान् भाष्य ग्रन्थ की रचना की गई है, यह स्पष्ट है, देवागम उसी का यदि मगलाचरण है तो निस्संदेह वह ग्रन्थ भी विद्यानंदि के श्लोक वार्तिकालंकार के समान ही महान तार्किक ग्रन्थ होगा, इसे सहज अनुमान कर सकते हैं। आचार्य श्री ने मंगलाचरण की रचना में भी इतनी तर्क पूर्ण दृष्टि रखी है तो मूलग्रन्थ में न मालूम कितना रहस्य भरा होगा। जिस ग्रन्थ के मंगलाचरण पर अकलंक देव अष्टशती भाष्य की रचना कर सकते हैं और महर्षि विद्यानंदि अष्टसहस्री की रचना करते हैं तो समझना चाहिए कि वह ग्रंथ सामान्य नहीं हो सकता है, परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि आज वह अनुपलब्ध है।

समंतभद्र की अनुपम कृति

महर्षि समंतभद्र की यह अनुपम कृति है, इसे देवागम स्तोत्र इसलिए कहते हैं कि इसका प्रारम्भ देवागम पद से होता है, जिस प्रकार भक्तामर, कल्याणमन्दिर आदि स्तोत्र उन्हीं पदों से प्रारम्भ होने के कारण उस नाम से कहे जाते हैं, इसी प्रकार यह भी देवागम स्तोत्र कहलाता है। नहीं तो इसे आप्तमीमांसा के नाम से भी कहते हैं। आप्त किस प्रकार होना चाहिए ? आप्त में किन गुणों की आवश्यकता है? इस बात की सुन्दर मीमांसा इस ग्रंथ में की गई है, अतः इसका नाम "आप्तमीमांसा" सार्थक है।

आप्तमीमांसा समन्तभद्र को एक अर्थगर्भित दुरूह कृति है, उस पर तर्कपूर्ण दृष्टि से अकलंक देव ने अष्टशती नामक वृत्ति लिखी है, यह ग्रन्थ आठ सौ श्लोक प्रमाण हैं, अतः इसका नाम अष्टशती पड़ गया है, अकलंक देव ने यह जो ग्रथ लिखा, वह गंभीर, तर्क पूर्ण एवं अर्थगर्भित है, अनेक स्थानों में विशद व्याख्या न होने के कारण ग्रन्थ गांभीर्य को विद्वान् भी समझने में असमर्थ रहे, इसीलिए तार्किक चूड़ामणि विद्यानंदि स्वामी ने अष्टसहस्री नामक आठ हजार श्लोक परिमित ग्रन्थ की रचना कर अनेक गुंत्थियों को स्वैर शैली से सुलझाया है। कठिन से कठिन विषयों को सरल बनाकर जिज्ञासु हृदयों को आकर्षित ही नहीं, आल्हादित भी किया है। इस देवागम पर वसुनंदि सिद्धांतदेव के द्वारा विरचित देवागम वृत्ति नामक ग्रंथ भी है जो कि श्लोकों का अर्थमात्र सूचित करता है। इससे स्तोत्र के अर्थ को समझने में कोई वाधा नहीं है, यद्यपि अकलंक या विद्यानंदी के समान गम्भीर तर्क पूर्ण भाषा से ग्रन्थ की रचना नहीं है, तथापि अपने स्थान में उसका महत्त्व है इसमें कोई संदेह नहीं है।

प्रकृत ग्रंथ की महत्ता

यह विद्यानंदि कृत अष्टसहस्री सचमुच में देवागम का विशेष अलंकार है, अतः इसे देवागमालंकार के नाम से भी कहते हैं अथवा अकलंकदेवकृत आप्त मीमांसा को सामने रखकर यह व्याख्यान रूप अलंकार किया गया है इस दृष्टि से इसे आप्तमीमांसालंकार भी कह सकते हैं। इसका प्रसिद्ध नाम अष्टसहस्री है। शायद इसलिए कि यह आठ हजार श्लोक प्रमाण है। अष्टसहस्री में विद्यानंद स्वामी ने भी इस ग्रंथ को अष्टसहस्री के नाम से यत्र तत्र उल्लेख किया है।

ग्रंथ की शैली अनूठी है। जैनेतर तर्क ग्रंथों का सूक्ष्म तलस्पर्शी ज्ञान होने के कारण उसके तर्कों को पूर्व पक्ष में रखकर ग्रंथ में अकाट्य युक्तियों के द्वारा उत्तर दिया गया है। ग्रंथकार ने कुमारिल भट्ट, प्रज्ञाकर, धर्मकीर्ति, आदि मीमांसक, बौद्ध सिद्धांतों का जिस तर्क के साथ खंडन किया है वह अजोड़ है।

कुमारिल भट्ट ने अपने मीमांसा श्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हुए लिखा है कि—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥

यदि सुगत सर्वज्ञ है तो कपिल सर्वज्ञ क्यों नहीं है। उसके निषेध में प्रमाण क्या है ? यदि वे दोनों सर्वज्ञ हैं तो उनमें मतभेद क्यों ? मतभेद होने के कारण निश्चय से दोनों सर्वज्ञ नहीं हैं यह स्पष्ट है।

अष्टसहस्री को लिखते समय वह मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रंथकारके सामने था, इसलिए उन्होंने भावना, विधि व नियोग को वाक्यार्थ निषेध करने में उसी युक्ति का प्रयोग कर खंडन किया है।

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतो भट्टप्रभाकरौ ।
कार्येर्थे चोदना ज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा द्वयोश्चेद्धंत तौ नष्टौ भट्टवेदांतवादिनौ ।।

यदि भावना श्रुति वाक्य का अर्थ है तो नियोग नहीं है इसमें क्या प्रमाण है, यदि दोनों ही श्रुति-वाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व प्रभाकर का सिद्धांत नष्ट होता है । इसी प्रकार नियोग श्रुतिवाक्य का अर्थ है तो विधि क्यों नहीं है ? इसमें प्रमाण क्या है ? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व वेदांती दोनों का सिद्धांत खंडित हो जाता है ।

अष्टसहस्री में स्थान स्थान पर इसी प्रकार की तर्कणा शैली के द्वारा स्वमत सिद्धांत का मंडन किया गया है । भाषा सौष्ठव, सरलता, युक्तियुक्त कथन, गंभीर शैली, कोमल प्रहार, आदि वातों का विचार करने पर समग्र न्यायसंसार में इसकी बरावरी करने वाला अन्य ग्रंथ नहीं है यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

अष्टसहस्री की तर्कणा शैली अद्वितीय है । खंडन मंडन पद्धति मनोहारिणी है । सूक्ष्मतल स्पर्शी सिद्धांत का निरूपण है । विद्वत्संसार को चकित करने वाली मीमांसा है ।

स्वयं अष्टसहस्री में ग्रंथकार ने ग्रंथ के संबंध में स्पष्ट किया है कि:—

स्फुटमकलंकपदं या प्रकटयति परिचेतसामसमम् ।
दर्शितसमंन्तभद्रं साष्टसहस्री सदा जयतु ।।

अर्थात् अकलंक के अत्यंत दुर्गम्य पदों का जो स्पष्टीकरण करती है, समंतभद्र की दिशाओं को जो प्रदर्शन करती है वह अष्टसहस्री सदा जयवंत रहे ।

इससे स्पष्ट है कि ग्रंथ में स्थान स्थान पर समंतभद्र के अभिप्रायानुसार अकलंक की अष्टशती के स्पष्ट आशय को व्यक्त किया है । अष्टशती में यह अष्टसहस्री इतनी अनुप्रविष्ट हुई है कि अष्टशती की अनेक पंक्तियां अष्टसहस्री में उपलब्ध होती हैं, एवं उनकी विशद व्याख्या इस ग्रंथ में की गई हैं । इसकी शैली अत्यंत गंभीर व प्रसन्न है, गंभीर इसलिए की वह गूढ़ है, प्रसन्न इसलिए कि स्वयं व दूसरों के लिए खेदजनक नहीं है । सभ्य, मृदु, मधुर, संतुलनात्मक शब्दों से यह ग्रंथित है । इसलिए ग्रंथ में एक स्थान पर कहा गया है कि :—

जीयादष्टसहस्त्री देवागमसंगतार्थमकलंकम् ।
गमयन्ती सन्नयतः प्रसन्नगंभीरपदपदवी ।।

देवागम स्तोत्र में समंतभद्र ने जिस स्याद्वाद का प्रतिपादन किया है, जिसे अकलंक देव ने समर्थन किया है जिसमें प्रसन्न गंभीर पदों का प्रयोग हुआ है ऐसी आप्तमीमांसालंकृति अष्टसहस्री सदा जयवंत

रहे। यह आचार्य के द्वारा की गई स्वप्रशंसा नहीं है, अपितु वस्तु स्थिति का परिचायक है। देवागम की दिशा को प्रतिपादन करने वाला, इसकी तुलना करने वाला अन्य ग्रंथ नहीं है।

इस ग्रंथ में संशय, विपर्यय, वैयधिकरण्य, व्यतिकर आदि दोषों का उद्भावन कर पूर्व पक्ष में परमत का मंडन कर खंडन किया गया है, एवं स्वमत का मंडन किया गया है,। सर्वज्ञ अभाव वादियों को करारा उत्तर देते हुए निर्दोष सर्वज्ञ की सिद्धि करते हुए आचार्य ने मनोरम शैली से ग्रंथ को प्रवाहित किया है। निस्संदेह कहा जा सकता है कि अष्टसहस्री का प्रमेय अन्यत्र दुर्लभ है। सिद्धांत पक्ष का समर्थ समर्थन है। इस ग्रंथ के अध्ययन से अनेक विषयों का परिज्ञान हो जाता है। कतिपय विषयों में वह निष्णात विद्वान् वन जाता है। इस गौरव मय व्याख्यान के संबंध में स्वयं ग्रंथकार ने वर्णन किया है कि—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत यथैव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥

हजार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है ? केवल एक अष्टसहस्री के सुनने से ही सर्व इष्टार्थ की सिद्धि हो सकती है, जिसके सुनने से स्वसमय क्या है, पर समय क्या है इसका अन्यून बोध हो जाता है। यह इस ग्रंथ का विषय है।

इस ग्रंथ के कर्ता महर्षि विद्यानंदि

इस ग्रन्थ की रचना महर्षि विद्यानंदि ने की है। विद्यानंदि यतिपति के ऐतिह्य का पता लगाने पर ज्ञात होता है कि आप वैदिक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने पर जैनमार्ग के अकाट्य तर्क व सयुक्तिक कथन से आकर्षित होकर इस पवित्र धर्म में आये एवं अपनी विद्वत्ता व तर्कणा शक्ति का सदुपयोग किया। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के द्वारा अनेक न्याय ग्रन्थों की रचना कर जैन न्याय संसार की श्री वृद्धि की है।

उनके द्वारा विरचित ग्रंथ संपत्ति का उल्लेख यहां पर करना अप्रस्तुत नहीं होगा।

(१) विद्यानंद महोदय, (२) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, (३) अष्टसहस्री, (४) युक्त्यनुशासनालंकार, (५) आप्त परीक्षा, (६) प्रमाण परीक्षा, (७) पत्र परीक्षा, (८) सत्यशासन परीक्षा, (९) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, इस प्रकार ९ ग्रंथों की रचना का उल्लेख मिलता है, इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यों कराया जाता है।

(१) **विद्यानंद महोदय**—यह विद्यानंदि आचार्य के द्वारा विरचित शायद प्रथम रचना है, क्योंकि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इसका प्रायः उल्लेख आता है, इतना ही नहीं, विस्तार से देखना हो तो विद्यानन्द महोदय में देखो ऐसी सूचना भी इनमें पायी जाती है। परन्तु दुर्भाग्य से आज यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। महर्षि विद्यानंदि के बाद करीव पांच सौ वर्षों तक यह ग्रन्थ उपलब्ध रहा, तत्कालीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का उद्धरण दिया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थ सूत्र पर श्लोक व वार्तिक रूप वृहद्भाष्य है। यह निश्चित कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थ सूत्र पर जो आज उपलब्ध भाष्य हैं, उनमें सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण है। तत्त्वार्थ सूत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ रत्न है जिस पर पूज्यपाद, अकलंक, भास्करनंदी, श्रुतसागर आदि अनेक विद्वानों ने भाष्य की रचना की है। कुमारिल भट्ट के मीमांसा श्लोकवार्तिक का यह वेजोड़ जवाव है, यह विद्यानदि यतिपति की अद्वितीय रचना व न्यायशास्त्र की शोभा को बढ़ाने वाली है।

अष्टसहस्री—प्रकृत ग्रन्थ है। यह समंतभद्र के देवागम स्तोत्र पर अकलंक देव के द्वारा विरचित आप्त मीमांसा पर टीकालंकृत भाष्य है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने अकलंक ग्रन्थ की दुरूह गुत्थियों को अच्छी तरह लीलामात्र से सुलझाया है। पाठकों को इसके अध्ययन से सहज ज्ञात हो जावेगा।

युक्त्यनुशासनालंकार—आचार्य समंतभद्र के द्वारा विरचित तर्कपूर्ण स्तोत्र ग्रन्थ की यह टीका ग्रन्थ है। महर्षि विद्यानंदि ने अपनी ही शैली से इसमें युक्ति प्रयुक्तियों से भगवंत् की उपासना की है।

आप्त परीक्षा—इस ग्रन्थ में महर्षि विद्यानन्द ने—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥

इस श्लोक को आधार बनाकर अत्यन्त सरल व सुबोध शैली से आप्त की परीक्षा की है। वस्तुतः अर्हंत ही निर्दोष सर्वज्ञ आप्त हो सकते हैं इस बात की सुन्दर सिद्धि आचार्य देव ने इस ग्रन्थ में की है। इसके साथ स्वोपज्ञ टीका होने से ग्रन्थ के हृद्य को समझने में वड़ी सहूलियत हो गई है।

प्रमाण परीक्षा—इस ग्रन्थ में इतर दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित प्रमाणों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए जैनमत सम्मत प्रमाण के स्वरूप में विशद विवेचन किया गया है। प्रमाणपरीक्षा नाम सार्थक है।

पत्र परीक्षा—यह विद्यानदि के द्वारा विरचित गद्य पद्यमय रचना है, इसमें साध्य के लिए उपयुक्त अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए स्वमत की स्थापना एवं परमत का निराकरण किया गया है। शायद विद्यानंदि को जैनधर्म की निर्दोषता को व्यक्त करने की अत्यन्त आसक्ति ही उत्पन्न हो गई थी।

सत्यशासन परीक्षा—यह ग्रन्थ अपूर्ण उपलब्ध होता है, प्रकाशित भी है, इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ इतर शासनों की परीक्षा करने का संकल्प आचार्य ने व्यक्त किया है, परन्तु ६ की ही मीमांसा की गई है, शायद आचार्य की यह अंतिम कृति है, बीच में ही आयु का अंत हो गया हो, इसे पूर्ण न सके हों, अनेकांत शासन की परीक्षा का प्रकरण इस ग्रन्थ में अनुपलब्ध है, शायद इस प्रकरण को तार्किक विद्यानंदि की लेखनी से हम अत्यधिक सम्पन्न स्थिति में देख सकते थे परंतु दुर्भाग्य है।

श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र—यह श्रीपुर 'सिरपुरअंतरिक्ष' पार्श्वनाथ का नामांतर है। अथवा उसी का अपभ्रंश होकर सिरपुर हो गया है। इस सातिशय पार्श्वनाथ जिनबिंब की तर्कपूर्ण शैली से इस स्तोत्र में स्तुति की गई है, यद्यपि यह स्तोत्र अत्यन्त लघुकाय है तथापि अर्थगर्भित है, महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार अनेक ग्रन्थों की रचना कर विद्यानंद स्वामी ने अपनी सम्यक्त्व निष्ठा को व्यक्त किया है। वे जिनमत के निस्सीम व सुदृढ़ उपासक थे, इस विषय का अनुभव उनकी पंक्तियों के अध्ययन में निश्चित रूप से हो जाता है।

स्व० न्यायाचार्य पं० माणिकचंद जी तर्क रत्न कहते थे कि बनारस विद्यालय के न्यायाध्यापक न्याय विषय के प्रकांड विद्वान् पं० अंबादास जी, विद्यानंदि की तर्कणा शैली से अत्यन्त प्रभावित थे, ईश्वर सृष्टिकर्तृत्व के विरोध में उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो युक्तियों का प्रयोग किया है वह अन्यत्र देखने में नहीं आते, शायद विद्यानंद जी ईश्वर के पीछे डंडे लेकर ही चल पड़े थे, जिससे उनके अनेक ग्रंथों में इस विषय का अकाट्य सिद्धांत देखने को मिलता है।

स्व० न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी जो हमारे सहपाठी थे, उन्होंने अपने एक निबन्ध में निबद्ध किया था कि—'तर्क ग्रन्थ के अभ्यासी विद्यानंद के अतुल पांडित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थों के स्पष्टीकरण एवं प्रसन्न भाषा (मृदुमधुर गंभीर) में गूंथे गये युक्ति जाल से परिचित होंगे। उनके प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, आप्त परीक्षा आदि प्रबंध अपने-अपने विषय के बेजोड़ निबंध हैं, ये ही निबंध एवं विद्यानंद के द्वारा विरचित अन्य ग्रंथ आगे बने हुए समस्त दि० श्वे० न्याय ग्रन्थ के आधारभूत है, इनके विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि० श्वे० न्याय ग्रन्थों पर अमिट छाप लगाये हुये हैं। यदि जैन न्याय के कोषागार से विद्यानंदि के ग्रन्थों को अलग कर दिया जाय तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायगा।'

स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी का कथन सचमुच में विद्यानंद के ग्रन्थों पर संक्षेप में अपितु वस्तु का दर्शक है, आचार्य विद्यानंदि उसी कोटि के विद्वान् थे।

श्वेतांबर संप्रदाय के माने हुये विद्वान् प्रज्ञाचक्षु प्रज्ञाविवेकी पं० सुखलाल जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक में (विद्यानंद विरचित) जितना जैसा सबल मीमांसक दर्शन का खंडन है, वैसा तत्त्वार्थ सूत्र की दूसरी किसी की टीका में नहीं, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सर्वार्थ सिद्धि और राजवार्तिक में चर्चित हुए कोई विषय छूटे नहीं, बल्कि बहुत से स्थानों पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है, कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में अपूर्व ही है। राजवार्तिक में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, समग्र जैन वाङ्मय में जो थोड़ी बहुत कृतियां

महत्त्व रखती हैं उनमें की दो कृतियां राजवार्तिक व श्लोकवार्तिक भी हैं। [1]तत्त्वार्थ सूत्र पर उपलब्ध श्वेतांबर साहित्य में से एक भी ग्रन्थ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके ऐसा दिखाई नहीं देता।"

पं० सुखलाल जी का यह कथन सचमुच में अर्थ पूर्ण है। एवं विद्यानंद के अद्भुत विद्वत्ता को सूचित करने के लिए पर्याप्त है।

उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओं पर प्रभाव

यह असामान्य प्रभाव उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओं पर भी निश्चित रूप से पड़ा है, अनेकों ने विद्यानंद की शैली को अपनाया है तो अनेकों ने विद्यानन्द के वचनों का उद्धरण किया है, अनेकों ने विद्यानद के निर्मल आचार एव वाग्वैखर्य की प्रशंसा की है।

श्रीमद् विद्यानन्द के ग्रन्थों का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वे केवल न्यायशास्त्र के ही प्रकांड पडित नही थे अपितु व्याकरण, साहित्य, छंद, व सिद्धांत के भी निष्णात विद्वान् थे, इसलिये उन्होंने अपनी विद्वत्ता द्वारा उनका समावेश अपने ग्रन्थों में किया है, अतः उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने उनके उद्धरण को महत्त्व दिया हो तो आश्चर्य की बात नहीं है।

उत्तरवर्ती ग्रन्थकार माणिक्यनंदि, वादिराजसूरि, प्रभाचंद्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचंद्र, लघु समंतभद्र, धर्मभूषण, यशोविजय आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में विद्यानन्द के ग्रन्थों से मार्गदर्शन प्राप्त किया है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं विद्यानन्द के उद्धरणों को भी स्थान दिया है। अनेक उत्तर-वर्ती ग्रन्थकारों ने विद्यानद के विद्या वैभव की प्रशंसा करते हुए अपने ग्रन्थ श्री की शोभा बढ़ाई है।

न्यायविनिश्चय में ग्रंथकार ने निम्न श्लोक के द्वारा विद्यानन्द भी प्रशंसा की है।

देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्
तात्पर्यतः क इह बोद्धुमतीवदक्षः।
विद्वान् न चेत् सद्गुणचंद्रमुनिर्न विद्या-
नंदोऽनवद्यचरणः सदनंत वीर्यः॥

[न्यायविनिश्चय.]

भगवान् अकलंक,देव के गंभीर वचनों की गुत्थियों को अगर निर्दोष चारित्र को धारण करने वाले विद्यानंद न होते तो कौन समझने में समर्थ होता ? सचमुच में यह विद्यानंद का ही प्रसाद है, उन्होंने अष्टसहस्री ग्रन्थ में उसका रहस्योद्घाटन किया है।

---

१. पं० सुखलाल जी ने तत्त्वार्थ सूत्र की प्रस्तावना में यह निर्देश किया है। इसलिए विद्यानंद की इसी विषय की कृति का इसमें विवेचन है।

वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथ चरित में श्री विद्यानंद की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि :

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानंदस्य विस्मयः
शृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रंगति ।। [अ० १ श्लोक-२८.]

विद्यानंद के सरल, सतेज, दार्शनिक विचारों को सुनने में भी बहुत बड़ा आनंद आता है, वह भी अपने शरीर में अलंकार के रूप में परिवर्तित होता है तो उसके अध्ययन व अनुभव में न मालूम कितना आनंद होता होगा।

इस प्रकार उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने विद्यानंद का उल्लेख अपने ग्रंथों में गौरवपूर्वक किया है।

प्रमाण परीक्षा के प्रारंभ में मंगलाचरण के रूप श्री जिनेश्वर की वंदना करते हुए अपने नाम का दिग्दर्शन कराते हुए विद्यानंद स्वामी ने जिनेश्वर का विशेषण उस विद्यानंद पद को किया है।

जयंति निर्जिताशेषसर्वथैकांतनीतयः ।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानंदा जिनेश्वराः ।।

[प्रमाणपरीक्षा मंगलाचरण]

इन उद्धरणों से विद्यानंद की महत्ता सहज समझ में आ सकती है। पत्र परीक्षा के अंत में विद्यानंद की प्रशंसा में निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है।

जीयान्निरस्तनिश्शेषसर्वथैकांतशासनम्
सदा श्रीवद्‌र्धमानस्य विद्यानंदस्य शासनम् ।।

इसमें विद्यानन्द ने अपने नाम का उल्लेख करते हुए भी भगवान् महावीर के लिए विद्यानंद विशेषण का प्रयोग किया है।

आप्त परीक्षा की प्रशस्ति में स्वयं विद्यानन्द ने लिखा कि :—

स जयतु विद्यानंदो रत्नत्रयभूरिभूषणस्सततम्
तत्त्वार्थार्णवतरणे सदुपायः प्रकटितो येन ।।

रत्नत्रय के द्वारा विभूषित समर्थ विद्यानंद सदा जयवंत रहें जिन्होंने तत्त्वार्थ समुद्र को तैरने का सरल उपाय प्रकट किया है। ऐसे विद्यानंद के द्वारा प्रकृत अष्टसहस्री की रचना की गई है।

आचार्य विद्यानंदिकी कृतियों से स्पष्ट है कि वे एक प्रतिभा संपन्न तार्किक थे, उन्होंने उसी दृष्टि से अनेक गन्थ रत्नों की रचना की है।

आचार्य विद्यानंदिका काल

ऐसे आचार्य पुंगव का समय कौन सा था इस संबंध में तार्किक जिज्ञासुओं को जानने की इच्छा होना साहजिक है। परंतु आचार्य ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने समय का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया

है। अतः उनके ग्रन्थों से हम समय निर्धारण नहीं कर सकते हैं, तथापि अन्य अनेक अनुमानों से उनके समय का निर्धारण हो सकता है, इस दष्टि से अनेक ऐतिहासिक विद्वानों के द्वारा उनके समय का अनुमान किया गया है। विद्वानों ने उन्हें करीब आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में होने का निर्णय किया है, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी कोठिया ने आप्त परीक्षा की प्रस्तावना लिखते हुए आप्त परीक्षा के कर्ता महर्षि विद्यानन्दि के समय का भी उल्लेख किया है, समय निर्धारण में उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये हैं। वह इस प्रसंग में उपयुक्त होंगे।

(१) न्यायसूत्र पर लिखे गये वात्स्यायन के न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य पर रचेगये उद्योतकर के न्यायवार्तिक, इस तीनों का तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक आदि में सविस्तृत समालोचना की है, उद्योतकर का समय ई. सन् ६०० माना जाता है।

(२) तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक और अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में विद्यानंद ने प्रसिद्ध शद्वाद्वैतवादी भर्तृहरिका नाम लेकर एवं अनुल्लेख से भी उनके वाक्य प्रदीप ग्रन्थ की कारिकाओं को उद्धृत कर खंडन किया है, भर्तृहरिका समय करीब ६०० से ६५० तक सुनिर्णीत है।

(३) जैमिनि, शवर, कुमारिल भट्ट और प्रभाकर इन मीमांसक विद्वानों के सिद्धान्तों का विद्यानंद ने अपने ग्रन्थों में निरसन किया है कुमारिल भट्ट प्रभाकर का समय ई. सन् ६२५ से ६८० तक सुनिर्णीत है।

(४) कणाद के वैशेषिक सूत्र पर लिखे गये प्रशस्तपाद के प्रशस्तपादभाष्य एवं उस पर रची गई व्योम शिवाचार्य की व्योमवती टीका की आचार्य विद्यानंद ने आप्त परीक्षा में आलोचना की है। व्योमशिवाचार्य का समय ७ वीं सदी का उत्तरार्ध माना जाता है। (अर्थात् विद्यानंद सातवीं शती के उत्तरकालीन सिद्ध होते हैं)।

(५) धर्मकीर्ति और उनके अनुगामी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तर का अष्टसहस्री में एवं प्रमाण परीक्षा में विद्यानंद ने खंडन किया है। प्रज्ञाकर व धर्मोत्तर का आठवीं सदी का प्रारंभिक काल माना जाता है।

(६) अष्टसहस्री में मंडनमिश्र का खंडन किया गया है। श्लोक वार्तिक में भी मंडनमिश्र के सिद्धान्तों का खंडन किया गया है, मंडन मिश्र का भी समय आठवीं सदी का प्रारंभ माना जाता है। इसी प्रकार शंकराचार्य के प्रधान शिष्य सुरेश्वर मिश्र के ग्रन्थों का उल्लेख कर आचार्य विद्यानंद ने खंडन किया है, सुरेश्वर मिश्र का समय भी आठवीं सदी का प्रारंभ माना जाता है। इसके उत्तरवर्तिग्रंथकारों के उद्धरण आचार्य विद्यानंदि के ग्रन्थों में पाये नहीं जाते है। इसलिए उनका समय आठवीं शताब्दी के पूर्वार्धका जो विद्वानों ने निर्णय किया है वही समुचित होता है। उनके उत्तरवर्ति ग्रन्थकारों में किसी किसी ने उनकी स्तुति की है। इससे भी वे उनसे पूर्ववर्ती हुए हैं। यह सुनिश्चित विषय है।

वादिराज सूरि ने अपने न्याय विनिश्चय विवरण व पार्श्वनाथ चरित में विद्यानंद का स्मरण किया है। न्यायविनिश्चय विवरणकार १०२५ सन् में हुए हैं।

प्रशस्त पाद भाष्य पर चार टीकायें लिखी गई हैं उनमें सिर्फ व्योमवती टीका का विद्यानंद ने निरसन किया है, अन्य तीन टीकाओं का निरसन नहीं किया, इससे ज्ञात होता है कि विद्यानंद के समय वे तीन टीकायें नहीं थीं, न्याय कंदली के टीकाकार श्रीधर का समय १० वीं सदी का माना जाता है, उदयन का भी समय प्राय: वही है, इससे विद्यानंद, उदयन व श्रीधर से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

अष्टसहस्री की अंतिम प्रशस्ति में विद्यानंद ने दो पद्य दिये हैं। उनमें दूसरा पद्य इस प्रकार है।

कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्
शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ।।

इससे स्पष्ट होता है कि अकलंक की अष्टशती पर कुमारसेन की कोई टिप्पणी होगी, वह विद्यानंद के समय अवश्य रही होगी, उसको स्पष्टीकरण करने के लिए ही यह अष्टसहस्री की रचना की गई है। कुमारसेन का समय निश्चित ७८३ से पहिले है। क्योंकि हरिवंशकार जिनसेन ने अपने ग्रंथ में कुमारसेनका स्मरण किया है, इसलिए कुमारसेन जिनसेन के भी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। इसलिए आचार्य विद्यानंद किसी भी तरह ७ वीं सदी के अंतिम भाग में नहीं हो सकते हैं, अगर वे होंगे भी तो उनका वह प्रात: काल हो सकता है, ग्रंथ निर्मित का काल नहीं माना जा सकता है। यह सुनिश्चित है।

आचार्य विद्यानंद ने अपने श्लोक वार्तिक के अंत में श्लेष रूप में शिवमार राजा का उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि उनके समय में शिवमार शासक था गंगवंशी श्रीपुरुष नरेश का उत्तराधिकारी शिवमार (द्वितीय) था। जिसका समय आठवीं शती का प्रारंभ माना जाता है। यह जैन धर्म का अनन्य भक्त था, इसने श्रवण वेलगोला के चंद्रगिरि पर एक जिन मंदिर बनवाया था जिसका नाम 'शिवमारनवसदि' है, कन्नड में वसदिका अर्थ मंदिर है। इस बसदि के पास ही चट्टान पर शिवमारन वसदि यह लेख भी अंकित है। इसका समय करीब ८१० सन् का माना जाता है। उसके बाद इसका भतीजा सत्य वाक्य राजपट्ट पर आया, उसका भी उल्लेख आचार्य विद्यानंद ने किया है, वह करीब ८१६ के आसपास पट्टाधिकारी हुआ था, तदनंतर वर्षों उसका कार्य काल रहा होगा, आचार्य विद्यानंदि ने भी उसके राजाश्रय को पाकर अपने ग्रंथों का निर्माण निरातंक के रूप में किया, सत्य वाक्य को धारण करने वाले कई राजा हुए हैं, सत्य शासन परोक्षा नामक ग्रंथ को रचना भी इसी सत्यवाक्य शासक के काल में ही रची गई है।

इन सब प्रमाणों से हम निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आचार्य विद्यानंद के ग्रंथ निर्माण का समय सन् ८०० से ८४० तक रहा होगा। उसी काल में उन्होंने अपने ग्रंथों का निर्माण किया है। अष्टसहस्री

व तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार उनकी प्रौढ़ रचनायें हैं, आयु के उत्तर काल में इनकी उन्होंने रचना की होगी, सत्यशासनपरीक्षा विद्यानंद की अंतिम रचना प्रतीत होती है।

अष्टसहस्री की कष्टमय हिंदी टीका

न्याय ग्रंथों की हिन्दी या भाषा टीका करना सरल काम नहीं है। सिद्धान्त और काव्यों का भावांतर सरल व सरस हो जाता है, परन्तु न्याय शास्त्र की पारिभाषिक शैली का भाषानुवाद शुष्क ही नहीं दुरधिगम्य भी हो जाता है। तथापि पूज्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने इसकी टीका न्याय लोक में उपस्थित कर सचमुच में एक लोकोत्तर कार्य किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती जी साध्वीमणि हैं

बालब्रह्मचारिणी आर्यिका ज्ञानमती जी का क्षयोपशम अलौकिक है, आपने बाल्य काल से ही विरक्ति को पाकर आचार्य देशभूषणजी महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की तदनंतर परम पूज्य स्व० आचार्य वीर सागर महाराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की, संघ में निरंतर अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग क्रमबद्ध रूप से शब्द, अलंकार, व्याकरण, न्याय सिद्धान्तों का अध्ययन जारी रहा, केवल पठन की दृष्टि ही नहीं, ग्रन्थों के अन्तस्तल में पहुंचकर उनके सूक्ष्म मर्मको समझने के नैपुण्य को उन्होंने प्राप्त किया, विद्यालयों में दसों वर्ष रहकर क्रम बद्ध शास्त्रीय कक्षा तक अध्ययन करने वाले छात्रों में वह योग्यता प्राप्त नहीं होती है, जो योग्यता ग्रन्थ का सूक्ष्मतल स्पर्शी ज्ञान आर्यिका ज्ञानमतीजी को प्राप्त हो गई है। इससे यह श्रद्धा दृढीभूत होती है कि सम्यग्दर्शन के साथ सिर्फ ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, चारित्र पूर्वक जो ज्ञान है उसमें विशिष्ट क्षयोपशम की प्राप्ति होती है, तप की प्रखरता से ज्ञान भी निखर उठता है। इस बात के लिए आर्यिका ज्ञानमती माता जी ही निदर्शन है। बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, जिस अष्टसहस्री को कष्टसहस्री समझकर विद्यार्थी पठन से विद्वान् पाठनसे उपेक्षा करते हैं उस अष्टसहस्री का बिना किसी की सहायता के स्वयं अध्ययन कर अर्थ करना, भाषांतर लिखना, सुबोध अनुवाद का निर्माण करना, यह उनके तपःपूत प्रज्ञातिशय का ही कार्य है, यह सर्व साधारण को साध्य नहीं है। आचार्य शांतिसागर जी की परम्परा में प्राप्त ऐसी साध्वीरत्नों से जैन समाज के साधु समुदाय का मुख उज्वल है, मस्तक ऊंचा है, यह लिखने में हमें जरा भी संकोच नहीं होता है।

टिकैतनगर (उ. प्र.) सदृश छोटे से कस्बे में जन्म होने पर सर्व भारत के कोने-कोने में विहार तत्तत्प्रान्तीय भाषाओं का प्रगाढ़ परिचय, साधु सन्तों के प्रतिनितांत भक्ति, विद्वानों के प्रति वात्सल्य मय स्नेह, गुणिजनों के प्रति धर्म स्नेहयुक्त समादर यह माताजी की विशेषता है।

कन्नड़, मराठी, हिंदी, संस्कृत व प्राकृत ग्रन्थों में सूक्ष्मतम प्रवेश ही नहीं, अपितु उन भाषाओं में काव्यरचना की योग्यता भी माताजी में है अनेक काव्यमय ग्रन्थ उनकी ज्ञान गंगा से प्रवाहित हुए हैं एवं

जनादर को पा चुके हैं। विपुल प्रमाण में ज्ञानदान करने के कारण उनका नाम सचमुच में सार्थक है।

चातुर्मास में प्रायः निन्तर अध्ययन अध्यापनादि के कारण स्वपर कल्याण के महान् कार्य में वे संलग्न होती हैं, उनका चातुर्मास प्रायः सर्वत्र हुआ है, कर्नाटक, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश के भव्य वर्गों के हृदय में उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़दी है। वे सपने में जागृत अवस्था में उनका स्मरण करते रहते हैं। उनकी कृपा से कभी उऋण नहीं हो सकेंगे।

पूज्य माताजी जिस प्रकार ज्ञान की धनी हैं, उसी प्रकार वे प्रवचन में भी पटु हैं, ज्ञानाराधना और चीज हैं, गणधर बनकर द्वादशांग वाणीका विस्तार-विवेचन करना और बात है, सबको यह सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। पूज्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती में यह विशेषता है कि वे अपने हस्तगत ज्ञान को दूसरों के सामने करतलामलकवत् सुस्पष्ट रूप से रख सकती हैं। कठिन से कठिन विषयों को सरल बनाकर लोक के सामने रखने में आप सिद्ध हस्त हैं।

भारत की राजधानी देहली में उन्होंने भगवान महावीर निर्वाण रजत शती वर्ष में जो त्रिलोक शोध संस्थान सदृश आवश्यक व अनिवार्य कार्य का जो नेतृत्व किया है वह अभिनंदनीय है। उस त्रिलोक शोध-संस्थान भवन का यह महान् कार्य कलश के रूप में सिद्ध होगा, माताजी का कार्य अनुपम है। दुरूह है दुःसाध्य है, सर्वजनोपयोगी है। केवल उनके प्रति अनन्य भक्ति होने से ही दो शब्दपुष्प उन्हें समर्पित किये हैं।

कल्याण भवन
शोलापुर (महाराष्ट्र)
१ जून १९७४

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

प्राक्-कथन

आ० विद्यानन्द और उनके ग्रन्थ-वाक्यों का अपने ग्रन्थों में उद्धरणादिरूप से उल्लेख करने वाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के समुल्लेखों तथा विद्यानन्द की स्वयं की रचनाओं पर से जो उनका संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है उस पर से विदित है[1] कि विद्यानन्द वर्तमान मैसूर राज्य के पूर्ववर्ती गंगराजाओं—शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) और उसके उत्तराधिकारी राजमल्ल सत्य-वाक्य प्रथम (ई० ८१६) के समकालीन विद्वान् हैं। इनका कार्यक्षेत्र मुख्यतया इन्हीं गंगराजाओं का राज्य मैसूर प्रान्त का वह बहु भाग था, जिसे 'गंगवाडि' प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईसवी चौथी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा और आठवीं शती में श्री पुरुष (शिवमार द्वितीय के पूर्वाधिकारी) के राज्यकाल में वह चरम उन्नति को प्राप्त था। शिलालेखों तथा दानपत्रों से ज्ञात होता है कि इस राज्य के साथ जैनधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनन्दि ने इसकी स्थापना में भारी सहायता की थी और आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि इस राज्य के गंग नरेश दुर्विनीत (लगभग ई० ५००) के राजगुरु थे। अतः आश्चर्य नहीं कि ऐसे जिनशासन और जैनाचार्य भक्त राज्य में विद्यानन्द ने बहुवास किया हो और वहां अपने बहुत समय साध्य विशाल तार्किक ग्रन्थों का प्रणयन किया हो। कार्य-क्षेत्र की तरह संभवतः यही प्रदेश उनकी जन्मभूमि भी रहा ज्ञात होता है, क्योंकि अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में उल्लिखित इस प्रदेश के राजाओं की उन्होंने पर्याप्त प्रशंसा एवं यशोगान किया है।[2] इन्हीं तथा दूसरे प्रमाणों से विद्यानन्द का समय इन्हीं राजाओं का काल स्पष्ट ज्ञात होता है। अर्थात् विद्यानन्द ई० ७७० से ८४९ के विद्वान् निश्चित होते हैं।[3]

विद्यानन्द के विशाल पाण्डित्य, सूक्ष्म प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, गम्भीर विचारणा, अद्भूत अध्ययनशीलता, अपूर्व तर्कणा आदि के सुन्दर और आश्चर्यजनक उदाहरण उनकी रचनाओं में पद-पद पर मिलते हैं। उनके ग्रन्थों में प्रचुर व्याकरण के सिद्धि प्रयोग, अनूठी पद्यात्मक काव्य रचना, तर्कागम वादचर्चा, प्रमाणपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शि जिन शासन भक्ति उन्हें निःसन्देह उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठतम कवि, अद्वितीय वादी, महान् सैद्धान्ती और सच्चा जिनशासनभक्त सिद्ध करने में पुष्कल समर्थ हैं। वस्तुतः विद्यानन्द जैसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान् तार्किक उनके बाद भारतीय वाङ्मय

१. देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना।

२. वही, प्रस्तावना पृ० ५३ तथा ५४।

३. ,, ,, ,,



परम पूज्य १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज

जन्म—	क्षुल्लक दीक्षा—	मुनि दीक्षा—
अड़गाँव	आचार्य प्रवर श्री वीरसागरजी महाराज से	
(औरंगाबाद, महा०) वि० सं० १९५८	फाल्गुन शुक्ला ५ वि. सं. २००० सिद्ध क्षेत्र-सिद्धवरकूट (म० प्र०)	वि. सं. २००६ आषाढ़ शु. ११ नागौर (राज०)

आचार्यपट्ट—कार्तिक शु० ११ वि० सं० २०१४—खानिया, जयपुर (राज०)

स्वर्गवास—फाल्गुन कृष्णा ३० वि० सं० २०२५—श्री महावीरजी

में कम-से-कम जैन परम्परा में तो दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृति उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, लघु समन्तभद्र, अभिनव धर्मभूषण, उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकों के लिए पथप्रदर्शक एवं अनुकरणीय सिद्ध हुई हैं। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख जहां अकलङ्क देव के वाङ्मय का उपजीव्य है, वहां वह विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षा आदि तार्किक रचनाओं का भी आभारी है। उस पर उनका उल्लेखनीय प्रभाव है।[1] वादिराज सूरि[2] (ई० १०२५) ने लिखा है कि यदि विद्यानन्द अकलङ्क देव के वाङ्मय का रहस्योद्घाटन न करते तो उसे कौन समझ सकता था। विदित है कि विद्यानन्द ने अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा द्वारा अकलङ्क देव की अत्यन्त जटिल एवं दुरूह रचना अष्टशती के तात्पर्य को 'अष्टसहस्री' व्याख्या में उद्घाटित किया है। पार्श्वनाथ चरित में भी वादिराजने विद्यानन्द के तत्वार्थालङ्कार (तत्वार्थश्लोकवार्तिक) तथा देवागमालङ्कार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए यहां तक लिखा है—'आश्चर्य है कि विद्यानन्द के इन दीप्तिमान् अलङ्कारों की चर्चा करने-कराने और सुनने-सुनाने वालों के भी अङ्गों में कान्ति आ जाती है तब फिर उन्हें धारण करने वालों की तो बात ही क्या है।' प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण की कृतियाँ भी विद्यानन्द के तार्किक ग्रन्थों की उपजीव्य हैं। उन्होंने इनके ग्रन्थों से स्थल के स्थल उद्धृत किए और अपने अभिधेय को उन से पुष्ट किया है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री को जिसके विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "हजार शास्त्रों को सुनने की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए, उसी से ही समस्त सिद्धान्तों का ज्ञान हो जायेगा,' पाकर यशोविजय भी इतने विभोर एवं मुग्ध हुए कि उन्होंने उस पर 'अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण' नाम की नव्य न्यायशैली प्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या लिखी है। इस तरह हम देखते हैं कि आ० विद्यानन्द एक उच्चकोटि के प्रभावशाली दार्शनिक एवं तार्किक थे तथा उनकी अनूठी दार्शनिक कृतियां भारतीय विशेषत: जैनवाङ्मयाकाशकी दीप्तिमान् नक्षत्र हैं।

जैन दर्शन को उनकी अपूर्व देन—

विद्यानन्द ने जैन दर्शन को दो तरह से समृद्ध किया है। एक तो अपनी कृतियों के निर्माण से और दूसरे उनमें कई विषयों पर किए गए नये चिन्तन से। हम यहां उनके इन दोनों प्रकारों पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

(क) कृतियां

जैन दर्शन के लिए विद्यानन्द की जो सबसे बड़ी देन है, वह है उनकी नौ महत्वपूर्ण रचनाएं। वे ये हैं—

---

१. प्रमाण परीक्षा और परीक्षा मुख की तुलना देखें—आ० प० प्रस्तावना पृ० २८–२९।

२. न्यायविनिश्चयविवरण भाग २, पृ० १३१।

(१) विद्यानन्द महोदय, (२) तत्वार्थ श्लोकवार्तिक, (३) अष्टसहस्री, (४) युक्त्यनुशासनालङ्कार, (५) आप्तपरीक्षा, (६) प्रमाण परीक्षा, (७) पत्र-परीक्षा, (८) सत्यशासन परीक्षा और (९) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र। इनमें तत्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री और युक्त्यनुशासनलङ्कार ये तीन व्याख्य-ग्रन्थ हैं और शेप उनके मौलिक ग्रन्थ हैं।

(१) भावना-विधि-नियोग—इसमें सन्देह नहीं कि आ० विद्यानन्द का दर्शनान्तरीय अभ्यास अपूर्व था। वैशेपिक, न्याय, मीमांसा चार्वाक, सांख्य और बौद्ध दर्शनों के वे निष्णात विद्वान् थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में इन दर्शनों के जो विशद पूर्व-पक्ष प्रस्तुत किए हैं, और उनकी जैसी मार्मिक समीक्षा की है, उससे स्पष्टतया विद्यानन्द का समग्र दर्शनों का अत्यन्त सूक्ष्म और गहरा अध्ययन जाना जाता है। किन्तु मीमांसा दर्शन की भावना-नियोग और वेदान्त दर्शन की विधि सम्बन्धी दुरूह चर्चा को जब हम उन्हें अपने तत्वार्थ श्लोकवार्त्तिक और अष्टसहस्री में विस्तार के साथ करते हुए देखते हैं, तो उनकी अगाध विद्वत्ता, असाधारण प्रतिभा और सूक्ष्म प्रज्ञा पर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। उनका मीमांसा और वेदान्त दर्शनों का कितना गहरा और तलस्पर्शी पांडित्य था, यह सहज ही उनका पाठक जान जाता है। जहां तक हम जानते हैं, जैन वाङ्मय में यह भावना-नियोग-विधि की दुरवगाह चर्चा सर्वप्रथम तीक्ष्णवुद्धि विद्यानन्द द्वारा ही की गई है और इसलिए जैन दर्शन को यह उनकी अपूर्वदेन है। मीमांसा दर्शन की जैसी और जितनी सवल मीमांसा तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक में है वैसी और उतनी जैन वाङ्मय की अन्य कृतियों में नहीं है।

(२)सह-क्रमानेकान्त की परिकल्पना—आचार्यमूर्धन्य गृद्धपिच्छ ने द्रव्य का लक्षण गुण और पर्याय-युक्त प्रतिपादित किया है, यद्यपि यही लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द भी प्रकट कर चुके हैं। इस पर शङ्का की गई कि 'गुण' संज्ञा तो इतर दार्शनिकों (वैशेपिकों) की है, जैनों की नहीं। उनके यहां तो द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वर्णित है और इसी से उनके ग्राहक द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दो ही नयों का उपदेश है। यदि गुण भी उनके यहां मान्य हो तो उसको ग्रहण करने के लिए एक और तीसरे गुणार्थिक नय की भी व्यवस्था होना चाहिये? इस शङ्का का समाधान सिद्धसेन, अकलङ्क और विद्यानन्द तीनों तार्किकों ने किया है। सिद्धसेन ने[1] वतलाया कि 'गुण' पर्याय से भिन्न नहीं—पर्याय में ही गुण संज्ञा जैनागम में स्वीकृत है और इसलिए गुण तथा पर्याय एकार्थक होने से पर्यायार्थिक नय द्वारा ही गुण का ग्रहण होने से गुणार्थिक नय पृथक् उपदिष्ट नहींहै। अकलङ्क[2] कहते हैं कि द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है तथा सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये सव उसके पर्याय शब्द हैं। तथा विशेष, भेद, पर्याय ये तीनों विशेष के पर्यायवाची हैं। अत: सामान्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक और विशेष को विषय

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः॥ अष्टस. पृ० १५७।

१. देखिए सन्मतिसूत्र ३-९, १०, १२।

२. देखिए, तत्वार्थवार्तिक ५-३७।

करने वाला पर्यायार्थिक नय है। अतएव गुण का ग्राहक द्रव्यार्थिक नय ही है, उससे जुदा गुणार्थिक न प्रतिपादित नहीं हुआ। अथवा गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं है—पर्याय का ही नाम गुण है।

सिद्धसेन और अकलङ्क के इन समाधानों के बाद भी शङ्का उठायी गयी कि यदि गुण, द्रव्य या पर्याय से अतिरिक्त नहीं है तो द्रव्य लक्षण में गुण और पर्याय दोनों का निवेश क्यों किया ? 'गुणवद् द्रव्यम्' या 'पर्यायवद् द्रव्यम्' इतना ही लक्षण पर्याप्त था ? इसका उत्तर विद्यानन्द ने[1] जो दिया वह बहुत ही महत्वपूर्ण एवं सूक्ष्म प्रज्ञता से भरा हुआ है। वे कहते हैं कि वस्तु दो तरह के अनेकान्तों का रूप (पिण्ड) है–१ सहानेकान्त और २ क्रमानेकान्त। सहानेकान्त का ज्ञान कराने के लिए गुणयुक्त को और क्रमानेकान्त का निश्चय कराने के लिए पर्याययुक्त को द्रव्य कहा है। अतः द्रव्य लक्षण में गुण तथा पर्याय दोनों पदों का निवेश युक्त एवं सार्थक है।

जहां तक हम जानते हैं, विद्यानन्द से पूर्व अकलंक देव ने सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्त के भेद से दो प्रकार के अनेकान्तों का तो प्रतिपादन किया है। परन्तु सहानेकान्त और क्रमानेकांत इन दो तरह के अनेकान्तों का कथन विद्यानन्द से पूर्व उपलब्ध नहीं होता। इन अनेकान्तों के कथन और उनकी सिद्धि के लिए द्रव्य लक्षण में गुण तथा पर्याय दोनों शब्दों के निवेश का समाधान विद्यानन्द की अद्भुत प्रतिभा का सुपरिणाम है। उनका यह समाधान और स्पष्ट शब्दों में सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो अनेकान्तों की परिकल्पना इतनी सजीव एवं सबल सिद्ध हुई कि स्याद्वादसिद्धिकार आ० वादीभसिंह ने[2] उससे प्रेरणा पाकर उक्त अनेकान्तों की प्रतिष्ठा के लिए सहानेकान्तसिद्धि और क्रमानेकान्तसिद्धि नाम से दो स्वतन्त्र प्रकरणों की सृष्टि स्याद्वादसिद्धि में की है तथा उनका विस्तृत विवेचन किया है।

(३) व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तुविवेचन—अध्यात्म के क्षेत्र में तो व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु का विवेचन किया ही जाता है, पर तर्क के क्षेत्र में भी उनके द्वारा वस्तुविवेचन हो सकता है, यह दृष्टि हमें विद्यानन्द से प्राप्त होती है। उन्होंने इन दोनों नयों से अनेक स्थलों में वस्तु-विवेचन किया किया है। 'निष्क्रियाणि च' (त० सू० ५-७) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए वे तत्वार्थश्लोकवार्तिक [पृ० ४००] में लिखते हैं, कि निश्चयनय से सभी वस्तुएं कथंचित् निष्क्रिय हैं और व्यवहारनय से कथंचित् सक्रिय हैं। लोकाकाश और धर्मादि द्रव्यों में आधाराधेयता का विचार करते हुए वे कहते हैं कि व्यवहारनय से लोकाकाश तथा धर्मादि द्रव्यों में आधाराधेयता है तथा निश्चयनय से उनमें उसका अभाव है। उनका तर्क है कि निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य अपने में अवस्थित होता है। अन्य द्रव्य की स्थिति अन्य द्रव्य में नहीं होती, अन्यथा उनका अपना प्रातिस्विक रूप न रहकर उनमें स्वरूप-सांकर्य हो जायेगा। इसी तरह सब द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्यवस्था करते हुए वे त० सू० ५-१६

---

१. गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्त सिद्धये।
तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्त सिद्धये॥ तत्वा० श्लो० पृ० ४३८।

२. स्याद्वाद सिद्धि ३-१ से ३-७४ तथा ४-१ से ४-८६।

टीका में लिखते हैं[1] कि निश्चयनय से सभी द्रव्यों की उत्पादादि व्यवस्था विस्रसा (स्वभावतः) है। व्यवहारनय से उनके उत्पादादिक सहेतुक हैं। अतः व्यवहार और निश्चयनय के स्वरूप को समझ कर द्रव्यों की आधाराधेयता तथा कार्यकारण भाव की व्यवस्था जहां जिस नय से की गई हो उसे उसी नय से जानना चाहिए। इस तरह विद्यानन्द का व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु विचार भी जैन दर्शन के लिए उनकी एक अनन्यतम उपलब्धि है।

(४) **उपादान और निमित्त का विचार**—यों तो कारणों का विचार सभी दर्शनों में है और उनकी विस्तार से चर्चा की गई है किन्तु जैन दर्शन में उनका चिन्तन बहुत सूक्ष्म किया गया है। कार्य की उत्पत्ति में कितने कारणों का व्यापार होता है, इस सम्बन्ध में न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य है कि समवायि, असमवायि और सहकारी इन तीन कारणों का व्यापार कार्योत्पत्ति में होता है। बौद्धदर्शन का मत है कि उपादान और सहकारी इन दो ही कारणों से कार्य उत्पन्न होता है। सांख्य दर्शन भी कारणों का विचार करता है, लेकिन उसका दृष्टिकोण कार्य की उत्पत्ति से न होकर उसके आविर्भाव से और कारण से तात्पर्य केवल उपादान से है। जो भी सरूप अथवा विरूप कार्य उत्पन्न होता है वह एकमात्र प्रकृति रूप उपादान से होता है, उसका कोई प्रकृति से भिन्न सहकारी कारण नहीं है। जैन दर्शन यद्यपि बौद्ध दर्शन की तरह प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्त इन दो कारणों को स्वीकार करता है। परन्तु बौद्ध दर्शन की मान्यता से जैन दर्शन की मान्यता में बड़ा अंतर है। बौद्ध दर्शन पूर्व रूपादिक्षण को उत्तररूपादि क्षण में उपादान तथा रसादि को सहकारी मानता है। पर जैनदर्शन अव्यवहित पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य को उपादान और कालादि सामग्री को निमित्त स्वीकार करता है। यहां हम विद्यानन्द के सूक्ष्म चिन्तन के दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

प्रश्न है [2]कि उपादान के नाश से उपादेय की उत्पत्ति होती है। सम्यक् दर्शन सम्यक्ज्ञान का उपादान है। अतः सम्यक्ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर सम्यक्दर्शन का नाश हो जाना चाहिए? इसके उत्तर में विद्यानन्द कहते हैं कि उपादेय की उत्पत्ति में उपादान का नाश कथंचित् इष्ट है, सर्वथा नहीं, अन्यथा, कार्य की उत्पत्ति कभी भी न हो सकेगी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि दर्शन परिणाम से परिणत आत्मा ही वस्तुतः दर्शन है और वह विशिष्ट ज्ञान 'परिणाम की उत्पत्ति का उपादान है। अन्वय रहित केवल पर्याय या केवल जीव द्रव्य उसका उपादान नहीं है, क्योंकि केवल पर्याय या केवल जीवादि द्रव्य कूर्मरोम आदि की तरह अवस्तु है। इसी तरह दर्शन-ज्ञान परिणत जीव-दर्शन-ज्ञान है और दर्शन-ज्ञान चारित्र का उपादान है, क्योंकि पर्याय विशेष परिणत द्रव्य उपादान है, जिस प्रकार घट परिणमन में समर्थ पर्यायरूप मिट्टी द्रव्य घट का उपादान होता है। विद्यानन्द[3] उपादान का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—'जो पूर्व रूप को छोड़ता हुआ तथा अपूर्व रूप को न छोड़ता

---

१. त० श्लो० पृ० ४०८-४११।

२. त० श्लो० पृ० ४१०।

१. तत्वार्थश्लोकवा. पृ० ६८-६९।

हुआ तीनों कालों में भी विद्यमान रहता है उस द्रव्य को उपादान कहा गया है।' किन्तु जो सर्वथा अपने रूप को छोड़ देता है अथवा जो बिल्कुल नहीं छोड़ता वह किसी भी वस्तु का उपादान नहीं है। जैसे सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य।' विद्यानन्द ने उपादान के इसी लक्षण को सामने रखकर सर्वत्र उपादानोपादेय की व्यवस्था की है। यह तो हुआ उनके उपादान का विचार।

इसी प्रकार उन्होंने[१] निमित्त--सहकारि कारण का भी चिन्तन किया है। वे लिखते हैं कि बिना सहकारी सामग्री के उपादान कार्यजनन में समर्थ नहीं है। जब तक अयोग केवलि गुणस्थान का उपान्त्य और अन्त्य समय प्राप्त नहीं होता तब तक नामादिक कर्मों के निर्जरण की शक्ति प्रकट नहीं होती और न मुक्ति ही सम्भव है। अतः अयोग केवली का अन्त्य क्षण ही शेष कर्मों के क्षय में कारण है। इस तरह सहकारी सापेक्षित उपादान कार्यजनक है, अकेला नहीं। इस प्रकार आचार्य विद्यानन्द का यह उपादान और निमित्त सम्बन्धी चिन्तन जैन दर्शन के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को पुष्ट करता है।

इस तरह आचार्य विद्यानन्द की जैन शंन को कितनी ही नयी देनें हैं जो उसे गौरवास्पद और सर्वादरणीय बनाती हैं।

---

१. त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥
यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ॥२॥ अष्ट स० पृ० २१०।
स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्षते।
कालादिसामाग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुर्न केवलः तथाऽप्रतीतेः।
क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणिप्रथम क्षणे।
यथा क्षीणकषायस्स शक्तिरन्त्यक्षणे मता ॥
ज्ञानावृत्यादि कर्माणि हन्तु तद्वदयोगिनः।
पर्यन्त क्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ ॥ त० श्लो० पृ० ७०-७१।

अष्टसहस्री का प्रस्तुत संस्करण

आचार्य विद्यानन्द की कृतियों का पीछे उल्लेख कर आये हैं। अष्टसहस्री उन्हीं में से एक महनीय कृति है। इसका सन् १९१५ में सेठ नाथारङ्ग जी गांधी द्वारा आज से ५९ वर्ष पूर्व एक बार प्रकाशन हो चुका है। किन्तु उसका हिन्दी-रूपान्तर अब तक नहीं हो सका था। अत्यन्त प्रमोद की बात है कि अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में ही नहीं, चारित्राचारादि पंचाचार में सतत निरत पूज्या माता श्री ज्ञानमती जी ने इस अभाव की पूर्ति का सफल एवं स्तुत्य प्रयत्न किया है। अष्टसहस्री कितना जटिल और दुरवगाह दार्शनिक ग्रन्थ है, इसे तज्ज्ञ विद्वान् जानते हैं। एक ही स्थल पर बौद्धदर्शन की चर्चा करते-करते अन्य दर्शनों की भी चर्चा आ जाती है, जिसे समझना साधारण बुद्धि का कार्य नहीं है। उसे समझने-समझाने के लिए बुद्धि का बहु-आयाम करना पड़ता है। जिसका सभी भारतीय दर्शनों में गहरा प्रवेश होगा, वही अष्टसहस्री का मर्मोद्‌घाटन कर सकता है। माता जी ने इस दुरवगाह ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करके जिस साहस एवं बुद्धि-वैभव का परिचय दिया है वह निःसन्देह स्तुत्य है।

ज्ञानानुरागी श्री मोतीचंद जी सर्राफ द्वारा प्रेषित माता जी के अष्टसहस्री-अनुवाद के कुछ मुद्रित फर्मों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्हें 'स्थाली-पुलाक' न्याय से देखकर हम अनुभव करते हैं कि माता जी ने गहराई से ग्रन्थ का अध्ययन कर यह हिन्दी-रूपान्तर लिखा है। भारतीय दर्शनों का उनका तलस्पर्शी अभ्यास भी स्पष्टतया अवगत होता है। बुद्धि वैभव और सत्साहस से भरे माता जी के इस महान् प्रयत्न की हम सराहना करते हैं। इसके लिए हम ही नहीं, समस्त समाज एवं विद्वद्वर्ग उनका उपकृत है। उनके द्वारा जिनशासन की अधिक काल तक प्रभावना हो, यही मंगल-कामनाएं हैं।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया
[रीडर, जैन-बौद्ध दर्शन]
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वीर-शासन-जयन्ती
श्रावण कृष्णा १, वी. नि. सं० २५००
५ जुलाई, १९७४,
वाराणसी-५

संपादकीय

प्रस्तुत अष्टसहस्री का मूल श्री तत्त्वार्थ सूत्र शास्त्र का "मोक्ष मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥" यह मंगलाचरण हैं । इस मंगलाचरण में स्तुति को प्राप्त भगवान् आप्त की मीमांसा रूप देवागम स्तोत्र है, जिसका प्रादुर्भाव समंतभद्राचार्य द्वारा भगवद् भक्ति करते हुये सच्चे आप्त की परीक्षा रूप में हुआ । इस देवागम स्तोत्र को आधार बनाकर अकलंक देव द्वारा अष्टशती का निर्माण हुआ । जैसे माला में रंग विरंगे पुष्प अथवा अनेक प्रकार के मोती, माणक, पन्ना आदि पिरोकर अधिक आकर्षक बनाया जाता है, उसी तरह विद्यानंद महोदय ने देवागम स्तोत्र की टीका रूप में अष्टसहस्री का सृजन किया । अष्टसहस्री में देवागम स्तोत्र को ऐसा गूंथा कि जिसने न्याय दर्शन का सेहरा वनकर जिनागम के मस्तक को गौरवान्वित किया ।

न्याय दर्शन की शृंखला में समय-समय पर अनेक दिग्गज विद्वान् जैनाचार्यों द्वारा कड़ियाँ जोड़ते रहने से विशाल अर्गल वन गई जिससे उन्मत्त वादियों को बांधना (परास्त करना) सुगम हो गया । कालचक्र निरंतर चलते हुये भी इस फौलादि सांकल को काट नहीं सका । यही कारण है कि इस विलासिता के दुर्गम समय में भी जिनमत का प्रसार व प्रचार है ।

अनुवाद का बीजारोपण

अष्टसहस्री का अनुवाद समस्त दार्शनिक जगत के लिये एक अनूठी उपलब्धि है। किसी भी मिष्ठान्न को खा लेना और खाकर उसका आनंद प्राप्त करना बहुत ही सुगम है, किन्तु उसके बनाने में कितना श्रम लगा यह वही जान सकता है जिसने उसे वनाया है अथवा आद्योपांत जिसने वनते देखा है व वनाने में सहयोग दिया है ।

किसी भी चीज को बनाने वाला या किसी काम को करने वाला जब उसमें तन्मय होता है तव वह उसका स्वाभाविक आस्वाद प्राप्त कर लेता है । बल्कि यहां तक देखने में आता है कि वस्तु के उपभोक्ता से भी अधिक आनंद निर्माता को प्राप्त होता है ।

ठीक यही स्थिति ग्रन्थ निर्माता आचार्यों की रही है । परम निर्ग्रन्थ गुरू भगवान् कुंदकुंद, पूज्यपाद, समंतभद्र, अकलंक देव, जिनसेन, पुष्पदंत, भूतवली, अमृतचंद्र, विद्यानंद आदि ने आत्मानंद में निमग्न हो होकर उसी को जंगलों में वैठकर ताड़पत्रों पर लिपी वद्ध कर दिया । जिनका स्वाध्याय करके हम भी अपनी आत्मानुभूति का मार्ग खोज रहे हैं । जो आनंद उन्होंने प्राप्त किया उसका शतांश भी हमको

ग्रनुपलब्ध है।

जिस कार्य के बारे में इस वर्तमान समय में सोचना भी कठिन है उस ग्रष्टसहस्री का भाषा ग्रनुवाद पू० श्री ज्ञानमती माताजी ने सहज में करके एक ग्राश्चर्य जनक कार्य किया है। ग्रधिकांश प्राचीन ग्रन्थों का सृजन शिष्यों के ग्रध्यापन ग्रथवा प्रश्नों के निमित्त से हुग्रा है। इसी प्रकार से इस ग्रन्थ के भाषांतर का शुभारंभ भी माताजी ने साधुग्रों ग्रौर शिष्यों को ग्रध्ययन कराते हुये किया।

राजस्थान की जैन नगरी जयपुर को इस बात का गौरव प्राप्त है कि जहां से इसके ग्रनुवाद कार्य का बीजारोपण हुग्रा। वैसे प्राचीन समय से इस नगरी का महान सौभाग्य रहा है जहां ग्रनेकों विद्वानों ने ग्रन्थों का निर्माण, ग्रनुवाद ग्रादि करके जिनवाणी की महिमा को दिगदिगंत व्यापी बनाया है। इस पुण्यशाली नगरी में सर्वदा दिगंबर मुनि संघों का ग्रावागमन बना रहता है।

वि० सं० २०२५ में शांतिवीर नगर श्री महावीर जी (राज०) में हुई पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के ग्रनंतर नवीन ग्राचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज विशाल संघ को लेकर स्व० ग्राचार्य प्रवर श्री वीर सागर जी महाराज की निषीधिका के दर्शनार्थ जयपुर (खानियां) पधारे एवं जयपुर वासियों के ग्रत्यधिक ग्राग्रह पर श्री १००८ आदिनाथ जिन मंदिर (मेंहदी वालों का चौक रामगंज-बाजार बड़ी चौपड़) में चातुर्मास की स्थापना की।

अनुवाद का शुभारम्भः—

वर्षायोग में एक स्थान पर लगातार चार महीने तक निश्चित ठहरने के निमित्त से साधुग्रों का ध्यान ग्रध्ययन विशेष होता है। वरिष्ठता के कारण माताजी ने ग्रार्यिका संघ संबंधी ग्रनेक दैनिक व्यवस्थाग्रों को सम्हालने के साथ-साथ ग्रध्ययन आदि कराते हुए प्रस्तुत ग्रष्टसहस्री के ग्रनुवाद कार्य में भी थोड़ा-थोड़ा समय लगाना प्रारंभ किया। समय बीतता गया और कार्य को तीव्र गति प्राप्त होती गई। ग्रनुवाद कार्य की समाप्ति से पूर्व वि० सं० २०२७ का ग्रागामी चातुर्मास ग्रा गया इस बार के चातुर्मास का सुयोग टोंक (राज०) को प्राप्त हुग्रा। चातुर्मास समाप्ति तक ग्रनुवाद कार्य भी चरम सीमा को प्राप्त हो चुका था किंतु निर्विघ्न कार्य समाप्ति का श्रेय टोडारायसिंह (टोंक, राज०) (ग्रा० श्री वीरसागर जी महाराज के शिष्य मुनि सन्मति सागरजी की जन्मभूमि) को प्राप्त हुग्रा।

अनुवाद कार्य तो हो चुका था किंतु मध्य का कुछ प्रकरण देखे बिना ही क्लिष्ट समझकर छोड़ दिया था वह था भावना नियोग ग्रधिकार। यह प्रकरण अतिक्लिष्ट एवं गहन होने से परीक्षा कोर्स में भी छोड़ दिया गया है। इसी वजह से माताजी ने भी उतने पृष्ठों को प्रारंभ में ही छोड़कर ग्रनुवाद किया। एवं यह विचार किया कि न्याय दर्शन के किसी विशिष्ट जैन विद्वान के सहयोग से चर्चा के उपरांत इसका ग्रनुवाद करना उचित होगा।

कई विद्वानों से पत्र व्यवहार किया गया किंतु बहुतों ने तो यह कहकर ग्रसमर्थता प्रकट की कि न्याय दर्शन हमारा विषय ही नहीं है, किन्हीं का कहना रहा कि ग्रब न्याय का विषय हमारी स्मृति से

ओझल हो गया है। जो कुछ थोड़े से विद्वान इस विषय के मर्मज्ञ हैं उन्होंनें वृद्धावस्था के कारण शारीरिक एवं मानसिक कमजोरी वश इस कठिन काय को करने में असमर्थता प्रकट कर दी।

ऐसी स्थिति में एक कठिन समस्या उपस्थित हो गई थी। किंतु आत्म विश्वास के साथ भगवान के चरण सान्निध्य में बैठकर छोड़े हुये भाग का अनुवाद कार्य स्वयं माताजी ने प्रारंभ किया एवं यथाशीघ्र (लगभग १० दिन में) उसे भी पूर्ण कर लिया। मनमें कृति को अपूर्ण न रहने देने की जो अपूर्व लगन थी उसी के फल स्वरूप दुरूह कार्य भी सुगमता से हो गया। उक्त प्रकरण का अनुवाद करने के उपरांत माताजी ने बताया कि यह प्रकरण भी उतना क्लिष्ट नहीं है जितना समझा गया है।

अनुवाद समापन समारोह :—

पौष माह की पूर्णिमा का वह उज्ज्वल दिवस था जिस दिन अनुवाद कार्य सानंद सम्पन्न हुआ। इसी दिन आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज का ५७ वाँ जन्म दिन भी मनाया गया। अनुवाद कार्य की समाप्ति के हर्षोपलक्ष्य में शांति विधान पूर्वक समाप्ति की गई एवं विशाल रथयात्रा के साथ अनुवादित हस्तलिखित प्रतियों को सुन्दर पालकी में विराजमान करके आरती पूजनादि के द्वारा महती प्रभावना की गई।

माताजी ने तो अनुवाद पूर्ण कर दिया एवं आचार्यों के मनोभावों का रसास्वादन प्राप्त कर लिया। किन्तु हमारे भाव यह हुए कि इसे शीघ्र ही प्रकाशित किया जावे। जिससे जैन न्याय के पाठक विद्यार्थी एवं स्वाध्याय प्रेमी अष्टसहस्री के मर्म को हृदयंगम कर सकें। भाव करने में न तो कुछ शक्ति लगानी पड़ती है नहीं कुछ खर्च करना पड़ता है। अनुवाद के अनन्तर १ वर्ष का समय व्यतीत हो गया।

प्रकाशन से पूर्व समस्यायें :—

प्रकाशन के पूर्व जो सबसे पहली समस्या आई वह थी पुनर्संशोधन की। इसके लिये फिर विद्वानों का सहयोग लेने के लिये प्रयास किया गया किन्तु कुछ भी सार नही निकला। बड़ी आशाएं थी परम तपस्वी पू० आचार्य श्री महावीर कीर्ति महाराज से किन्तु वे असमय में ही स्वर्गस्थ हो गए। अंतिम एक और सहारा थे पू० आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज। उन्होंने प्रारंभिक कुछ पृष्ठ पढ़ाकर सुने एवं यथावश्यक दो चार जगह प्रकरण को कुछ अधिक स्पष्ट भी कराया किन्तु अतिवृद्धावस्था से इन्द्रियों की शिथिलता के कारण और अधिक संशोधन नहीं करा सके और उन्होंने कई बार ये शब्द कहे कि "हिन्दी अनुवाद बहुत ही सरल स्पष्ट और सुन्दर हुआ है।" अंततोगत्वा पुनः माताजी से ही निवेदन करना पड़ा कि स्वयं एक बार फिर सूक्ष्मता से दृष्टि डालकर परिमार्जित कर दें। पू० माताजी ने अन्य अनेक जरूरी कामों को भी गौण करके अपना अमूल्य समय एवं संपूर्ण शक्ति इसी में लगाकर कृति को पूर्ण विशुद्ध बना दिया।

हस्तलिखित प्रति की प्राप्ति :—

अनुवाद के समय छपी हुई मूल अष्टसहस्री के अलावा आधार था केवल देव गुरू शास्त्र की प्रगाढ़ श्रद्धाभक्ति का। जब वि० सं० २०२९ के अजमेर चातुर्मास के उपरांत व्यावर आये तो० पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री से अष्टसहस्री के विषय में कुछ चर्चा हुई उन्होंने भी कुछ पृष्ठों का अवलोकन किया था व्यस्तता के कारण वे भी पूर्ण रूप से नहीं देख सके किन्तु उन्होंने इस अनुवाद पर संतोष व्यक्त करते हुये माताजी के कार्य की प्रशंसा की थी। पंडित हीरालाल जी के सौजन्य से ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, व्यावर के विशाल ग्रंथ भण्डार से लगभग ४०० वर्ष प्राचीन एक हस्तलिखित अष्टसहस्री प्राप्त हुई इस प्रति में छपी हुई से कुछ अधिक टिप्पणियां एवं पाठान्तर दे रखे थे जिनसे अर्थ का विशेष स्पष्टीकरण होता है। यदि यह प्रति अनुवाद से पूर्व सामने होती तो अनुवाद में जितना श्रम लगा उसमें सहायता मिलती। इसकी विशेष टिप्पणियों एवं पाठांतरों को माताजी ने इस ग्रन्थ में जोड़ लिया है।

प्रकाशन का निश्चय :—

जब प्रकाशन की तैयारी हो चुकी तो प्रेस की समस्या सामने आई। व्यावर में तो कोई ऐसा प्रेस उपलब्ध नहीं हुआ जिसमें संस्कृत का कार्य हो सके। तब पं० अभय कुमार जी अजमेर (प्रबन्धक जैन-गजट, साप्ताहिक) के सहयोग से केशव आर्ट प्रिन्टर्स, हाथी भाटा अजमेर के यहां छपना प्रारंभ हुआ। संस्कृत प्रूफ रीडिंग एवं पेज कटिंग के लिये कई लोगों से बात की गई किंतु अंततोगत्वा प्रूफ रीडिंग का कार्य हमें ही करना पड़ा। कटिंग एवं फाईनल प्रूफ रीडिंग का कार्य भार माताजी पर ही छोड़ा गया क्योंकि और कोई करने में सक्षम भी नहीं था।

प्रकाशन-व्यवस्था अजमेर से दिल्ली—

बड़ी कठिनाई से यह व्यवस्था बन पाई थी कि संघ का विहार दिल्ली के लिये हो गया। पुनः यह समस्या उपस्थित हो गई कि इतनी दूर रहकर यह काम चलाना अशक्य है अतः दिल्ली में संस्कृत का काम करने वाले अनुभवी प्रेस की तलाश की गई। सम्राट प्रेस पहाड़ी धीरज इसके लिये सक्षम रहा। अजमेर से छपे हुये फर्मे व अवशेष कागज आने तक छह माह बीत गये एवं प्रेस निर्णय के बाद भी टाइप आदि की व्यवस्था में ३ माह और निकल गये। पुनः वि० सं० २०२९ में भाद्रपद माह के शुभ दिन से छपाई का कार्य मंदगति से चलने लगा।

संलग्न न्यायसार—

छपाई का कार्य चलते हुये कई बार यह विचार धारा मन में चला करती थी कि इस अष्टसहस्री को सिवाय परीक्षार्थियों एव विशिष्ट विद्वानों के और कौन पढ़ेगा। क्योंकि न्याय शास्त्रों के स्वाध्याय

की प्रथा बिल्कुल नहीं के बराबर रह गई है, और खास करके न्याय के इस सर्वोपरि महान ग्रंथ को जन सामान्य का समझना वैसे भी दुरूह है। इन विचारों के निराकरणार्थ पू० माताजी ने न्यायसार नाम से एक स्वतंत्र कृति का सृजन किया जो कि इस अष्टसहस्री के पीछे संलग्न है। जैन न्याय दर्शन के प्रारंभिक रूचि के (जिज्ञासु) पाठक वृंद यदि न्यायसार को पढ़कर अष्टसहस्री का स्वाध्याय अध्ययन प्रारंभ करेंगे तो निश्चय ही सुगमता पूर्वक स्याद्वादामृत का पान कर सकेंगे।

पू० माताजी का अनुवाद सौष्ठव में अपार श्रम—

माताजी ने अनुवाद करने में जितना श्रम किया है उसके विषय में कलम से लिखना कठिन है। मूल एवं हिंदी प्रकरणों के शीर्षक बनाना, प्रत्येक पृष्ठ के प्रकरण का पृष्ठ के ऊपर शीर्षक देना, मूल पंक्तियों के अर्थ के साथ टिप्पणियों के अर्थ को खोलना, अर्थ के अनन्तर स्थान-स्थान पर भावार्थ एवं विशेषार्थ के द्वारा अतिस्पष्ट रूप में प्रकरण के रहस्य को प्रस्फुट करना, सामान्य श्रम नहीं है। इन सबके बावजूद भी समस्त प्रतिवादियों की विचार धारा को मस्तिष्क में रखकर सार रूप में विषय विभाजन करते हुये ५४ सारांश बनाये हैं। जिसकी सहायता से प्रारंभ में थोड़ा पढ़कर भी बहुत कुछ समझा जा सकता है। मैंने एवं संघ के अन्य छात्र-छात्राओं ने इन्हीं सारांशों के आधार से शास्त्री एवं न्यायतीर्थ की परीक्षाएं उत्तीर्ण की हैं। बहुत सी बातों को एक सूत्र में गर्भित करके कहना अथवा एक सूत्र पर एक ग्रन्थ तैयार कर देना—ये दोनों बातें अपने-अपने स्थान पर विशेष महत्त्व रखती हैं।

एक और हस्तलिखित प्रति की उपलब्धि—

जब प्रस्तुत प्रथम भाग के लगभग ३०० पृष्ठ छप गए तब दि० जैन नयामंदिर धर्मपुरा दिल्ली के प्राचीन शास्त्र भंडार से एक और प्राचीन हस्तलिखित प्रति श्री पन्नालालजी जैन अग्रवाल दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त हुई। इसमें विस्तार पूर्वक टिप्पणियां दी गई हैं। उपयुक्त समझकर इस प्रति की भी अधिक टिप्पणियां एवं पाठांतर लिये गये हैं। इसकी टिप्पणियां अलग दिखाने की दृष्टि से (दि० प्र०= दिल्ली प्रति) संकेत अंकित किया है।

पू० माताजी की अपार क्षमता एवं कार्य कुशलता—

नीतिकारों ने कार्य करने वाले तीन तरह के बतलाये हैं। एक तो वे होते हैं जो कठिनता आदि कारणों से कार्य को करते ही नहीं हैं दूसरे वे होते हैं, जो विघ्न बाधाएं आने पर प्रारंभ किये हुये कार्य को मध्य में ही अधूरा छोड़ देते हैं, किन्तु तीसरे वे होते हैं जो विघ्न बाधाओं की परवाह न करके अनेक कष्टों को सहन करके भी कार्य को पूर्ण करते हैं। अथवा पूर्ण करने में संलग्न रहते हैं।

पूज्य माताजी भी तीसरी प्रकार के व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने अपने जीवन में कभी भी यह नहीं सोचा कि यह काम नहीं हो सकता है। सदा आत्मीक बल से सोचे हुये अनेक कार्य पूर्ण किये आपका

मनोबल अपार है। उत्साह हीनता को आप के जीवन में प्रश्रय नहीं मिला। कर्मठता ही आपके जीवन का ध्येय रहा। इसी के फलस्वरूप यह अष्टसहस्री ग्रन्थ अनुवाद सहित प्रकाशित होकर आपके हाथों में पहुंच सका है।

प्रस्तुत ग्रंथ की विशेषता—

इस अष्टसहस्री ग्रन्थ की महानता के विषय में स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्त्यार द्वारा लिखित "देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा" नामक पुस्तक की प्रस्तावना में जो भाव प्रगट किये हैं उनको उन्हीं के शब्दों में देना अधिक उपयुक्त प्रतीत होगा। लिखते हैं "एक बार खुर्जा के सेठ पं० मेवारामजी ने बतलाया कि जर्मनी के एक विद्वान ने उनसे कहा है कि—जिसने अष्टसहस्री नहीं पढी वह जैनी नहीं और जो अष्टसहस्री पढ़कर जैनी नहीं हुआ उसने अष्टसहस्री को समझा ही नहीं"। कितने महत्व का यह वाक्य है और एक अनुभवी विद्वान के मुख से निकला हुआ अष्टसहस्री के गौरव को कितना अधिक स्थापित करता है। सचमुच अष्टसहस्री ऐसी ही एक अपूर्व कृति है और यह देवागम के मर्म का उद्घाटन करती है। खेद है कि आज तक ऐसी महत्त्व की कृति का कोई हिंदी अनुवाद गौरव के अनुरूप होकर प्रकाशित नहीं हो सका।

काश! अगर आज पं० जुगलकिशोर जी मुख्त्यार होते तो उन्हें इस अनुवाद ग्रन्थ को देखकर कितनी प्रसन्नता होती।

स्वयं आचार्य विद्यानंद जी ने अष्टसहस्री के द्वितीय अध्याय के मंगलाचरण में लिखा है—

श्रोतव्याष्टसहस्रीश्रुतैः किमन्यैः सहस्र संख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमय सद्भावः॥

अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिये हजारों ग्रन्थों के सुनने-पढ़ने से क्या प्रयोजन है। जबकि एक मात्र अष्टसहस्री से ही स्वसमय अर्थात् आत्मा, जैन सिद्धांत और उनके तलस्पर्शी रहस्यों का बोध हो जाता है।तथा परसमय अर्थात् अनात्मा, अन्य मतावलंबियों के सिद्धांत और भ्रांत धारणाओं का एवं कपोल कल्पनाओं का सर्वथा निराकरण हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रंथ की उपयोगिता—

कुछ लोगों की यही धारणा है कि न्याय शास्त्रों में आत्मा का वर्णन नहीं है किन्तु ऐसा नहीं है। प्रमाण-सच्चे ज्ञान का एवं आप्त—कर्ममल रहित आत्मा का ही विशद वर्णन है और आत्मा को या अन्य द्रव्यों को समझने के लिये स्याद्वाद ही महान आधार है और यह अष्टसहस्री स्याद्वाद कथनमय है।

माताजी कहा करती हैं कि अष्टसहस्री में सप्तभंगीमय स्याद्वाद प्रक्रिया का स्थल-स्थल पर जितना अधिक एवं विशद विवेचन है उतना वर्तमान के उपलब्ध जैन सिद्धांत ग्रन्थों में से अन्य किसी ग्रंथ में नहीं है। अतः यह ग्रन्थ स्याद्वाद प्रक्रिया को समझने में सर्वोपरि-ग्रंथराज है।

अभिमत—

अष्टसहस्री के छपे हुए कुछ पृष्ठों का अवलोकन करके पं० परमेष्ठीदास जी ललितपुर-संपादक-वीर, पं० लालबहादुर जी शास्त्री संपादक-जैनदर्शन, पं० कैलाशचंद जी सिद्धांत शास्त्री संपादक-जैन संदेश, पं० गुलाबचंद जी जैन जैनदर्शनाचार्य प्रिंसिपल-संस्कृत महाविद्यालय जयपुर, पं० बाबूलाल जी जमादार-बड़ौत, पं० मूलचंद जी शास्त्री श्री महावीरजी, पं० ए० एन० उपाध्याय, पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य आदि अनेक मूर्धन्य विद्वानों ने बड़ी प्रसन्नता एवं गौरव व्यक्त किया कि अभी भी अष्टसहस्री जैसे न्याय के महान ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले ही नहीं अपितु इनके अनुवाद जैसे महान कार्य को करने वाली पू० श्री ज्ञानमती माताजी जैसी परमविदुषी आर्यिका विद्यमान हैं, जिनके हमें साक्षात दर्शन हो रहे हैं।

युग की अनुपम देन—

अनेक विद्वानों को सुनकर विश्वास नहीं होता है कि किसी आर्यिका ने इतने विशेष रूप में अष्टसहस्री का अनुवाद किया हो। इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ रचना काल के प्रारंभ से अब तक किसी भी आर्यिका द्वारा कोई जैन ग्रन्थ लिखा अथवा अनुवाद नहीं किया गया था।

इस युग की यह एक बड़ी भारी ऐतिहासिक देन है कि न्याय जैसे क्लिष्ट विषयक ग्रंथ का अनुवाद दि० जैन समाज की आर्यिका द्वारा प्रथम बार किया जाकर इतनी सुन्दरता एवं विशेषता के साथ प्रकाशित किया गया है।

हस्तलिखित प्रति से टिप्पणियों को निकालने में पू० मुनिराज १०८ श्री वर्धमानसागर जी महाराज, श्री रवीन्द्र कुमार जैन शास्त्री बी० ए० टिकैतनगर व उनकी लघु सहोदरा कु० मालती शास्त्री धर्मालंकार, कु० त्रिशला शास्त्री, कु० माधुरी शास्त्री एवं संघस्थ कु० कला ने विशेष सहयोग प्रदान किया, तथा प्रेस कापी भी तैयार की है।

मुद्रित प्रति की प्रस्तावना से उद्धृत—

बंबई से प्रकाशित मूल अष्टसहस्री की प्रस्तावना में पं० वंशीधर जी ने लिखा है—

"श्री विद्यानंद स्वामी ने श्री अकलंक देव की अष्टशती को अन्तर्गभित करके इस अष्टसहस्री ग्रन्थ को बनाया है स्वामी जी ने इस प्रकार से पूरी की पूरी अष्टशती को अंश-अंश करके अपने ग्रन्थ में अंतर्भूत कर लिया है कि बिना पृथक् संकेत के उसे पृथक् करना शक्य नहीं है। इसलिए अष्टशत के अंशों को पृथक् जानने की इच्छा रखने वालों को पृथक् मुद्रित अष्टशती ग्रन्थ देखना चाहिये। हमने भी ग्रन्थ के कुछ पृष्ठ छप जाने के अनंतर आगे वृत्ति ग्रन्थ जहां-जहां आया है, वहां-वहां गहरे काले अक्षरों में दे दिया है। प्रारंभ में कुछ पृष्ठों में जो वैसा नहीं किया है उसका कारण वृत्ति ग्रंथ का देर से मिलना है।

इसलिये पूर्व मुद्रित मूल प्रति में पृष्ठ ४६ तक पृथक् अक्षरों में नहीं लिया है किन्तु हमने इस प्रस्तुत प्रति में प्रारंभ से ही अष्टशती को गहरे काले अक्षरों में लिया है। अष्टशती की हिन्दी को भी गहरे काले अक्षरों में लिया है।

आगे पुनः मुद्रित मूल प्रति की प्रस्तावना में पं० वंशीधरजी ने लिखा है कि—"एक पुस्तक पूना नगर के सहकारी पुस्तकालय से उपलब्ध हुई जो अतीव शुद्ध थी, लघु समंतभद्रादि संकेतित टिप्पणी सहित थी। किंतु उसमें अभी टिप्पणियां अशुद्ध थीं। एक-एक टिप्पणी अनेक वार भी आ गई थी। किसी-किसी टिप्पणी के संकेत नहीं थे कि किस शब्द की टिप्पणी है। एवं कोई-कोई टिप्पणियां अनुपयोगी भी थीं। अतः जितनी टिप्पणियां उस पुस्तक से लेना आवश्यक प्रतीत हुआ उतनी ले ली। शेप वहुभाग मात्र टिप्पणियां मैंने नियोजित कर दी हैं। अन्य तीन पुस्तकें भी मुझे मिलीं किंतु वे शुद्ध नहीं थीं अतः पहली पुस्तक से ही वहुत कुछ उपयोग हुआ है।

इससे यह वात स्पष्ट हो जाती है कि मुद्रित प्रति की टिप्पणियां 'श्री लघुसमंतभद्र' द्वारा वनाई हुई हैं। एवं कुछ टिप्पणियां पं० वंशीधर जी द्वारा वनाई गई हैं।

मुद्रित ग्रंथ में जितनी भी टिप्पणियां छपी हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में उन सभी टिप्पणियों को ज्यों की त्यों लिया है। तथा हस्तलिखित दोनों प्रतियों की टिप्पणियों को और पाठांतरों को नीचे अलग दे दिया है।

आवश्यक संकेत—

इस ग्रन्थ में संस्कृत और हिंदी में जो शीर्षक हैं उन्हें पू० श्री ज्ञानमती माताजी ने वनाये हैं जिनका संकेत [ ] यह है प्रारंभ से अष्टशती को संस्कृत एवं हिन्दी में गहरे काले अक्षरों में लिया है।

व्यावर सरस्वती भवन की हस्तलिखित प्रति की टिप्पणियों को पृथक् दिखाने के लिये अंग्रेजी अंकों द्वारा संकेत किया है।

पाठान्तर के लिये 'इतिपा.' संकेत दिया है दिल्ली से उपलब्ध प्रति की टिप्पणी और पाठांतरों में "दि० प्र०" संकेत दिया है जो कि पृष्ठ ३०२ से स्पष्ट है।

यदि कहीं सुधार मिला है और वह उपयुक्त प्रतीत हुआ है तो 'इति वा क्वचित् पाठः' संकेत देकर उसे भी टिप्पणी में सम्मिलित कर लिया है। धरमपुरा दिल्ली के नया मंदिरजी से श्री पन्नालाल जी अग्रवाल के सौजन्य से तीन प्रतियां हस्तलिखित अष्टशती की प्राप्त हुई हैं जिनका सांकेतिक नाम 'अ, व, स' दिया है जिसके पाठांतर का पृष्ठ २९१-२९२ पर खुलासा है तथा अन्यत्र भी है।

परिशिष्ट—

परिशिष्ट में मूलकारिका के साथ अष्टशती को दिया है। उस अष्टशती की एक मुद्रित प्रति है जो कि 'भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशित संस्था से प्रकाशित हुई है। तीन प्रतियां दिल्ली की हैं जोकि 'अ, व, स' से संकेतित हैं तथा व्यावर व दिल्ली की हस्तलिखित अष्टसहस्री में 'भाष्य' पद से अष्टशती को पृथक् किया है। उन सभी के आधार से पाठभेद भी परिशिष्ट में नीचे दिया गया है।

इस प्रथम भाग में जितने भी उद्धृत श्लोक आये हैं उन्हें भी अकारादि के अनुक्रम से दिया है। अनंतर पारिभाषिक शब्दों के अर्थों का स्पष्टीकरण किया गया है।

न्याय कुंचिका—

अष्टसहस्री आदि सभी न्याय ग्रन्थों में प्रवेश कराने के लिये कुंजी के समान 'न्यायसार' नामक स्वतंत्र संकलित ग्रन्थ को परिशिष्ट में जोड़ दिया गया है।

अन्य दार्शनिक (दर्शन शास्त्र) प्रमाण के लक्षण और भेदों को किस रूप में मानते हैं उसका भी वर्णन है। इसी प्रकार जैनाचार्यों द्वारा मान्य प्रमाण के भेद प्रभेदों का भी संकलन किया गया है। संसार, मोक्ष, आत्मा एवं ज्ञान आदि के विषय में अन्य दर्शनों की मान्यता के साथ-साथ जैनाचार्यों की समीचीन मान्यता को भी दर्शाया गया है।

इन सभी विषयों से यह ग्रन्थ मूल में कठिन होते हुए भी सरल एवं उपयोगी बन गया है।

आभार—

सोलापुर (महा.) निवासी विद्यावाचस्पति श्री मान पं० वर्धमान जी पार्श्वनाथ जी शास्त्री ने प्रस्तावना लिखकर तथा बनारस निवासी पं० दरबारी लालजी कोठिया न्यायाचार्य ने प्राक्कथन के द्वारा ग्रन्थ का रहस्योद्घाटन करके ग्रंथ की महत्ता को द्विगुणित कर दिया है एवं अपने निजी उदगार व्यक्त करके न्याय दर्शन के प्रति जो सबको आकृष्ट किया है उसके लिये हम उभय विद्वानों के अत्यन्त आभारी हैं। विशेष परिश्रम के द्वारा मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण को श्री उमास्वामी कृत सिद्ध करने में जो प्रमाण संकलित करके दिये हैं वह वास्तव में सराहनीय हैं।

इस भाग के प्रकाशन में सर्वप्रथम बिना किसी की प्रेरणा के स्वरूचि से गुरू भक्ति एवं जिनवाणी की सेवा के भावों से ओतप्रोत होकर श्रीमान सेठ हीरालाल जी जयपुर (फर्म—चपालाल रामस्वरूप, ब्यावर) ने जो विशिष्ट आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उनके भी हम अत्यन्त आभारी हैं। (परिचय आगे दिया गया है।)

एस० नारायण एंड संस प्रिंटिंग प्रेस पहाड़ी धीरज के मालिक श्री नारायणसिंह जी ने इस महान ग्रन्थ का सुन्दर मुद्रण किया है अतः हम उनके आभारी हैं।

हमारा प्रथम प्रयास होने से संपादन में अनेक त्रुटियां एवं कमियां रही हैं, उसे विद्वद्जन एवं पाठक वृंद सुधारकर हमारी अल्पज्ञता के कारण मध्यस्थ भाव धारण करेंगे। वास्तव में इस संपादन कार्य में हमारा श्रम नगण्य है। जिस रूप में यह प्रथम भाग आपके समक्ष है वह सब पू० माताजी के ही अथक परिश्रम का फल है हम तो नाम मात्र के हैं।

हम यथा शीघ्र इसका दूसरा, तीसरा एवं चौथा भाग प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे। कागज

एवं छपाई के दाम निरन्तर तेजी से बढ़ने के कारण उत्पन्न कठिनाई के बावजूद भी हम अविलम्ब प्रकाशन कार्य चालू रखेंगे।

सभी नरनारी इस ग्रन्थ का पठन-पाठन करके स्याद्वाद के रहस्य को अच्छी तरह समझकर सच्चे ज्ञानी बनें यही हमारी भावना है।

दिल्ली
१५ अगस्त १९७४

मोतीचंद जैन सर्राफ
शास्त्री, न्यायतीर्थ



मङ्गल-स्तोत्र

यह अष्टसहस्री आप्तमीमांसा की व्याख्या है। अब प्रश्न है कि स्वामी समन्तभद्र ने यह आप्त-मीमांसा जिस **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** मङ्गल-स्तोत्र में स्तुत आप्त की मीमांसा (समीक्षा) में लिखी है और स्वयं विद्यानन्द ने भी उसी स्तोत्रगत आप्त की परीक्षा में आप्त परीक्षा रची है, वह महत्त्वपूर्ण मंगल-स्तोत्र तत्त्वार्थ सूत्र का मंगलाचरण है या सर्वार्थसिद्धि का ? इस प्रश्न पर भी विचार लेना आवश्यक है।

इस विषय में पर्याप्त ऊहापोह हुआ है। कुछ विद्वानों का मत रहा कि उक्त मंगल-पद्य सर्वार्थ सिद्धि के आरम्भ में उपलब्ध होने और उस पर सर्वार्थ सिद्धिकार की व्याख्या न होने से उसी का मंगलाचरण है, तत्त्वार्थ सूत्रका नहीं। सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थ सूत्र के अवतरण की जो प्रश्नोत्तर रूप उत्थानिका दी गई है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र के आरम्भ में मंगलाचरण किये विना ही उसकी रचना की है।

इसके विपरीत दूसरे अनेक विद्वानों का स्पष्ट अभिमत है, कि सूत्रकार ने, जिन्हें शास्त्रकार भी कहा गया है, तत्त्वार्थ सूत्र के आदि में मंगलाचरण किया है और वह **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** मंगल-स्तोत्र है। सर्वार्थसिद्धि में वहीं से वह लिया गया है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृद्धपिन्छ परम आस्तिक थे। वे मंगलाचरण की प्राचीन परम्परा का, जो षट्खण्डागम, कषायपाहुड आदि आगम ग्रन्थों में भी उपलब्ध है, उल्लंघन नहीं कर सकते। अतः उक्त पद्य उन्हीं द्वारा तत्त्वार्थ सूत्र के आरम्भ में रचित मगल-स्तोत्र है। वृत्तिकार आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि ने उसे अपनी टीका सर्वार्थ सिद्धि में अपना लिया है और अपना लेने से उन्होंने उसकी व्याख्या नहीं की।

इस सम्बन्ध में डाक्टर दरबारीलाल कोठिया ने ऊहापोहपूर्वक सूक्ष्म एवं गम्भीर विचार किया है और 'तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण' शीर्षक अपने दो विस्तृत निबन्धों में[1] आचार्य विद्यानन्द के प्रचुर ग्रन्थोल्लेखों एवं अन्य प्रमाणोंसे सवलताके साथ सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तत्त्वार्थ सूत्र के आरम्भ में **'सम्यग्य-दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'** [१-१] सूत्र से पहले मंगलाचरण किया है, और वह उक्त **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** आदि मंगल-स्तोत्र है, जिसे विद्यानन्द ने[2], **शास्त्रकारकृत स्तोत्र'** वतलाते हुए **'तीर्थोपम'**,

---

१. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६, ७ तथा १०, ११, वीर सेवा मन्दिर, सन् १९४४।

२. आप्तपरीक्षा, कारिका ३ व १२३ वीर सेवा मन्दिर -संस्करण, सन् १९४६।

'प्रथि त-पृथु-पथ' और 'स्वामिमीमांसित' जैसे अर्थगर्भ महत्त्वपूर्ण विशेषणों से युक्त किया है[1]। विद्यानन्द का उसे शास्त्रकारकृत बतलाना, तीर्थोपम कहना, प्रथित-पृथु-पथ–प्रसिद्ध-महानमार्ग प्रकट करना और स्वामी द्वारा मीमांसित निरूपित करना ये सभी बातें विशेष महत्त्वपूर्ण एवं सार्थ हैं। आगे डाक्टर कोठिया ने बल देते हुए लिखा है, कि विद्यानन्द के[2] इन तथा अन्य उल्लेखों से स्पष्ट है 'कि स्वामी समन्तभद्र ने इसी मंगल-स्तोत्र पर उसके व्याख्यान में 'आप्तमीमांसा' लिखी और स्वयं विद्यानन्द ने भी उसी की व्याख्या में अष्टसहस्री के अतिरिक्त 'आप्तपरीक्षा' रची। सूत्रकार एवं शास्त्रकार पदों से विद्यानन्द का स्पष्ट अभिप्राय तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ से है, तत्त्वार्थ वृत्तिकार आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि से नहीं है। सर्वार्थसिद्धिमें उक्त मंगल-स्तोत्र को अपना मङ्गलाचरण बना लिया गया है और इसी कारण उसकी व्याख्या नहीं की गयी। सर्वार्थसिद्धि में जो तत्त्वार्थशास्त्र के अवतरण की प्रश्नोत्तर रूप उत्थानिका दी गयी है, उसका यह अर्थ नहीं कि प्रश्नकर्ता भव्य प्रश्न करने पर आचार्य ने सारा व्याख्यान देकर उसे तत्काल निबद्ध किया है। अपितु उसने मोक्ष और मोक्षमार्ग की जिज्ञासा प्रकट की। तदनुसार आचार्य ने उसकी या उस जैसे अनेक भव्यों की जिज्ञासा-शांति के लिए उक्त प्रकार के ग्रन्थ-निर्माण की आवश्यकता अनुभव करके 'तत्त्वार्थ सूत्र' शास्त्र की रचना की और उसके आरम्भ में पूर्व परम्परानुसार उक्त स्तोत्र को मंगलाचरण के रूप में निबद्ध किया।

अतः मंगल-स्तोत्र के विषय में अधिक न लिखकर अब इतना ही लिखना पर्याप्त है, कि वह आचाय गृद्धपिच्छरचित तत्त्वार्थ सूत्र का ही मंगलाचरण है, सर्वार्थ सिद्धि का नहीं।

इस विषय में पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी ने अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिक ग्रन्थ से अनेकों प्रमाण निकाले हैं। उनमें से कुछ उद्धरण बानगी के रूप में यहां दिये जा रहे हैं—

अष्टसहस्री के मंगलाचरण में ही प्रारंभ में "शास्त्रावतार रचितस्तुतिगोचराप्त मीमांसितं कृतिरलं क्रियते मयास्य" इस उत्तरार्ध में श्री विद्यानंदि महोदय ने स्पष्ट कह दिया है कि शास्त्रावतार–तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र के प्रारम्भ में रचित स्तुति के गोचर जो आप्त हैं उनकी मीमांसा रूप यह कृति मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

१, श्री मत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत -सलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानाऽऽरम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पृथु-पथं स्वामि-मीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै॥

२, इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्र-गोचरा।
प्रणीताऽऽप्तपरीक्षेयं विवाद-विनिवृत्तये॥

—आप्त परीक्षा, का० १२३,१२४; पृ० २६५।

टिप्पणीकार श्री लघु समंतभद्र ने भी इसे अत्यधिक विस्तृत कर दिया है—

"इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्या संपदा गणधर प्रत्येक बुद्ध श्रुत केवलि दशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात् कुर्वद्भिरुमास्वामिपादराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गंधहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबन्धन्तः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्री स्वामि समंतभद्राचार्यास्तत्र मंगलपुरस्सर स्तवविषयपरमाप्त गुणातिशय परीक्षामुपक्षिप्तवंन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचन तीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे ।"

तत्त्वार्थाधिगमरूपमोक्षशास्त्र के ऊपर 'गंधहस्ति' नाम का महाभाष्य लिखते हुए श्री समंतभद्र स्वामी ने मंगलाचरण में स्तुति के विषय को प्राप्त परम आप्त के गुणों के अतिशयों की परीक्षा करते हुये 'देवागम' नामक प्रवचनतीर्थ की सृष्टि को बनाया है।

स्वयं श्री विद्यानंद महोदय ने छठी कारिका की उत्थानिका में—"नन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्म भूभृद्भेदित्वमिव विश्व तत्त्व साक्षात्कारित्वं, प्रमाण सद्भावात्। स तु परमात्मार्हन्नेवेति कथं निश्चयो यतोहमेव महानभिवंद्यो भवतामिति..."।

कर्म पर्वत भेदन करने वाले के समान कोई महापुरुष विश्व तत्त्व को साक्षात् करने वाले हो जावें, किन्तु वह परमात्मा अर्हंत ही हैं ? यह निश्चय कैसे हुआ कि जिससे 'मैं ही आपके द्वारा अभिवंद्य होऊं, मानों ऐसा प्रश्न श्री समंतभद्र ने स्वयं भगवान् के सामने रखा है। आगे सातवीं कारिका की उत्थानिका में भी कहते हैं कि—"[५]भगवतोऽर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात्। ततस्त्वमेव महान मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः।

इन वाक्यों से यह बात स्पष्ट है कि 'मोक्ष मार्ग के नेता, कर्म पर्वत के भेत्ता और विश्वतत्त्व के ज्ञाता' इन तीन विशेषणों से ही अर्हंत को सच्चा आप्त सिद्ध किया जा रहा है, अथवा अर्हंत में ये तीन विशेषण घटित होते हैं इसलिये ही वे सच्चे आप्त हैं। यह सिद्ध किया गया है।

आगे और देखिये—अंतिम ११४ वीं कारिका की टीका में श्री अष्टसहस्रीकार क्या कहते हैं—

"शास्त्रारम्भेभिष्टु तस्याप्तस्य मोक्षमार्ग प्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत् सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।"

शास्त्र के आरम्भ में स्तुति को प्राप्त जो आप्त हैं, वे 'मोक्षमार्ग के प्रणेता, कर्म पर्वत के भेत्ता और विश्वतत्त्व के ज्ञाता' इन तीन विशेषणों से युक्त भगवान् अर्हंत सर्वज्ञ ही हैं, अन्य कोई नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार अन्य योग का व्यवच्छेद करके भगवान् अर्हंत में ही इन विशेषणों की व्यवस्था को करने में तत्पर यह परीक्षा की गई है। यह है सारे अष्टसहस्री ग्रन्थ का अंतिम उपसंहार। यह मंगलाचरण श्री उमास्वामी आचार्यकृत ही है, इस बात को सिद्ध करने के लिये इससे बढ़कर सबल प्रमाण और क्या हो

सकता है ? पूज्य श्री ज्ञानमती माता जी आश्चर्यपूर्वक कहा करती हैं, कि यह मंगलाचरण श्री उमास्वामी कृत है या नहीं ? विद्वानों में ऐसी शंका कहाँ से उत्पन्न हो गई ?

श्लोकवार्तिकालंकार ग्रन्थ में भी श्री विद्यानंद महोदय ने स्थल-स्थल पर इस बात को स्पष्ट किया है। देखिये !

[1]प्रबुद्धाशेष तत्त्वार्थ साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे ।
सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ।।२।।
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः ।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिदम् ।।२।।

कल्याणमार्ग के अभिलाषी अनेक शिष्यों की मोक्षमार्ग जानने की इच्छा होने पर ही 'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं.........। इस अच्छी तरह सिद्ध किये गये मंगलाचरण की भित्ति पर ही श्री उमास्वामी महाराज ने पहला सूत्र लिखा है। जिन्होंने केवल ज्ञान के द्वारा संपूर्ण पदार्थ जान लिये हैं, ज्ञानावरण आदि घाति कर्म नष्ट कर दिये हैं तथा मोक्षमार्ग को प्राप्त करने और कराने वाले मुनि पुंगवों द्वारा स्तुति करने योग्य हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव के सिद्ध होने पर ही तथा ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप और मोक्ष से युक्त होने वाले शिष्य की मोक्षमार्ग को जानने की तीव्र अभिलाषा होने पर यह पहला सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' उमास्वामी आचार्य ने प्रचलित किया है।

"[2]सिद्धे मोक्षमार्गस्य नेतरि प्रबंधेन वृत्तं सूत्रमादिमं शास्त्रस्येति"।
"ततो[3] निः शेषतत्त्वार्थवेदी प्रक्षीणकल्मषः ।
श्रेयोमार्गस्य नेतास्ति स संस्तुत्यस्तदर्थिभिः" ।।४६

इन सभी प्रमाणों से सर्वथा यह बात सिद्ध हो जाती है कि मंगलाचरण श्री सूत्रकार उमामी आचार्य-कृत ही है ।

श्री उमास्वामी आचार्य ने 'गागर में सागर' को भरने वाली कहावत को पूर्णतया चरितार्थ कर दिया है। उनके इस तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के ऊपर अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थ तैयार हो गये हैं। जब एक मंगलचरण के ऊपर आप्त मीमांसा, अष्टशती और अष्टसहस्री जैसे जैनदर्शन के सर्वोपरि ग्रन्थ बन गये। आप्तपरीक्षा ग्रन्थ बन गया। तब उस ग्रन्थ की महत्ता और विशेषता की जितनी भी गौरव गाथायें गाई जावें, थोड़ी ही हैं। यही कारण है कि आज भी भारतवर्ष में दक्षिण-उत्तर आदि प्रांतों में सर्वत्र नर-नारी इस

---

१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार प्रथम खंड, पृ० ४०

२. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार प्र० खं० पृ० ५८

३. तत्त्वार्थ श्लोक. पृ० १४५

तत्त्वार्थ सूत्र का पाठ बड़ी भक्ति से करते हैं और एक उपवास करने का फल समझते हैं। बहुत-सी महिलाओं का तो नियम ही रहता है कि 'तत्त्वार्थसूत्र सुने बिना भोजन नहीं करना'। कहा भी है--

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः॥

दश अध्याय से परिपूर्ण इस तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ने पर एक उपवास का फल प्राप्त होता है ऐसा श्री मुनियों में श्रेष्ठ मुनियों ने कहा है।

इस ग्रन्थ का यह मंगलाचरण सच्चे आप्त-देव को सिद्ध करने में सर्वोपरि मान्य अमोघ उपाय है। ऐसा समझना चाहिए।

कु० मालती शास्त्री, धर्मालंकार
(संघस्थ)



पू. आर्यिका १०५ श्री ज्ञानमती माताजी का जीवन दर्शन

बहुतों ने रोका, पुरुषार्थ किया, समझाया लेकिन स्वातंत्र्य
प्रिय मैना को रोंकने में सफलता कैसे मिलती,
त्याग के बढ़ते कदम को रोकने में सफलता नहीं मिली,
आखिर लोगों ने आश्चर्य प्रगट किया, अन्तर्मन से जयकारा बोला।

+ + +

न्याय शास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ अष्टसहस्री, जिसको बनाने वाले आचार्य श्री विद्यानन्दि ने स्वयं १२०० वर्ष पूर्व ही इसे कष्टसहस्री की संज्ञा प्रदान करदी है, ऐसे महान क्लिष्ट ग्रन्थ का सरल भाषा में हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत कर देना यह कोई महान व्यक्तित्व का ही कार्य है—साधारण जन तो उसके हिन्दी अभिप्राय को समझने में ही अपनी शक्ति का निरीक्षण पहले कर लेते हैं। जिस महान मस्तिष्क ने इस स्याद्वाद, अनेकान्त एवं सप्तभंगी से ओतप्रोत ग्रन्थ में मनरूपी मथानी से सारे ग्रन्थ का आद्योपान्त एक-एक अक्षर, एक-एक शब्द का मन्थन करके उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिप्राय को हृदयंगम कर लिया है—उस महान व्यक्तित्व के सम्बन्ध में बहुत थोड़े शब्दों द्वारा मैं आपको जानकारी प्रदान कर रहा हूं।

संस्कृत में प्रसिद्ध उक्ति—'गुणाः पूजास्थानम्, गुणिषु न वयः न च लिङ्गः'।

जन्मतिथी :—

आध्यात्मिक क्षेत्र में स्त्रीपर्याय के सर्वोत्कृष्ट आर्यिका के व्रतों से विभूषित विदुषी माता ज्ञानमती जी के नाम से प्रसिद्ध व्यक्तित्व का जन्म सम्पूर्ण शुभ्र ज्योत्स्ना से प्रसरित शरदपूर्णिमा (आसोज शुक्ला १५) वि० सं० १९९१ सन् १९३४ की शुभ रात्रि में तीर्थंकरों की जन्म भूमि अयोध्या के निकट बाराबंकी जिले के एक छोटे से गांव टिकैतनगर में हुआ था। माता-पिता में धार्मिक वृत्ति होने से पुत्री का शुभ नाम रखा 'मैना'।

बाल्यावस्था :—

टिकैतनगर निवासी अग्रवाल जातिय श्रेष्ठि श्री छोटेलाल जी जैन को सौभाग्य प्राप्त हुआ कु० मैना के पिता बनने का। मन में बहुत प्रसन्नता थी, सर्वप्रथम संतान पुत्री को जन्म देकर माता मोहिनीदेवी को। वैसे कन्या का जन्म साधारणतया घर में कुछ समय के लिए क्षोभ उत्पन्न कर देता है, किन्तु विश्व में अनादि काल से पुरुषों के समान नारियों ने भी महान् कार्य कर धरा को गौरवान्वित किया है। बल्कि यों भी कह सकते हैं कि सतियों के सतीत्व के बल पर ही धर्म की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है।

भारतीय परम्परा में वैदिक संस्कृति ने कन्या को १४ रत्नों में से एक रत्न माना है। माता-पिता दोनों सौम्य, सज्जन, सरल एवं धर्म परायण थे। प्रथम संतान होने से कुमारी मैना को माता-पिता का सर्वाधिक प्यार एवं वात्सल्य मिला। घर के पास ही जिनेन्द्र देव का विशाल मंदिर एवं पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन माध्यमिक विद्यालय होने से 'मैना' ने धार्मिक संस्कारों का आदर किया।

ब्रह्मचर्य :—

संस्कारों का प्रभाव जीवन में बहुत महत्व रखता है। ११ वर्ष की अवस्था में कुमारी मैना के जीवन पर अमिट छाप पड़ी। अकलंक-निकलंक नाटक के दृश्यों की। विवाह की चर्चा के समय जो बात अकलंक ने माता-पिता से कही थी कि "कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा, नहीं रखना ही श्रेयस्कर है।" तदनुसार आपने भी उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत रखने का मन में संकल्प कर लिया।

कुमारी मैना का व्यक्तित्व बाल्यकाल से ही बड़ा आकर्षक था, सभी लोग आपके ज्ञान एवं दिन चर्या से बहुत प्रसन्न रहते थे। कुशाग्रबुद्धि, सहनशीलता, वात्सल्य, कार्य करने की उत्सुकता एवं कार्य को पूरा करने की दृढ़ता तथा संयमित जीवन आपके विशेष गुण थे।

साधना की ओर :—

समय बीतता गया। इधर कुमारी मैना जीवन के मधुर क्षण में प्रवेश कर रही हैं—माता-पिता एवं कुटुम्बीजन कुमारी मैना के विवाह-बन्धन की तैयारी में लगे हुए हैं, उधर आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज का बिहार उत्तर भारत में हो रहा था। दैवयोग से आचार्य श्री का बाराबंकी में मंगल आगमन हुआ। बाराबंकी में आचार्य श्री के केशलोंच की सूचना टिकैतनगर गांव में भी पहुंची। कुमारी मैना भी अपने लघु भ्राता श्री कैलाशचन्द के साथ बाराबंकी केशलोंच देखने आयीं। आचार्य श्री के केशलोंच देखने के लिए एक विशाल जन समुदाय उमड़ पड़ा था -- विशाल जन समुदाय के मध्य में ही कुमारी मैना ने आचर्य श्री से क्षुल्लिका दीक्षा की याचना कर दी। समाचार पाकर घर से कुटुम्बी जन, माता-पिता, तथा गांव के अन्य बहुत से लोग आ गये। लोगों ने कुमारी मैना को बहुत समझाया—तरह-तरह की घोर यातनाएं दीक्षित जीवन में सहन करना पड़ती हैं, एकवार भोजन करना, पैदल चलना आदि बहुत कठिन एवं दुरूह कार्य हैं—फिर घर में विवाह की सारी तैयारियां चल रही हैं। लेकिन कुमारी मैना के मन पर किसी के समझाने का कोई असर नहीं हुआ। अन्ततोगत्वा कुमारी मैना ने भाई कैलाशचन्द आदि को यह कह कर विदा किया—कि हमारा और आप लोगों का सम्बन्ध अब तक रहा और आगे भी रहेगा। अन्तर केवल इतना आयेगा कि अब तक हमारा आपका मोह का संबंध था और आगे अब धर्म का सम्बन्ध रहेगा। विवश होकर कु० मैना के सामने सबको झुकना पड़ा।

समय था २२ वर्ष पूर्व का। लोगों के अत्यन्त आग्रह एवं उग्र रूप धारण कर लेने से आचार्य श्री ने उस समय क्षुल्लिका दीक्षा न देकर सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार करा दिये अब यहीं से कुमारी मैना के जीवन ने आध्यात्मिक मोड़ ले ली।

क्षुल्लिका दीक्षा :—

वहुतों ने रोका, समझाया लेकिन स्वातंत्र्य प्रिय कु० मैना को रोकने में सफलता नहीं मिली।

६ माह बाद चांदनपुर श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर आचार्य श्री ससंघ पदार्पण करते हैं। पुनः कुमारी मैना दीक्षा की याचना करती हैं, आचार्य श्री ने योग्यता एवं दृढ़ता को देखकर शुभ मिती चैत्रकृष्ण १ सं० २००६ के दिन क्षुल्लिका दीक्षा प्रदान कर दी तथा त्याग एवं निश्चय की दृढ़ता को देखकर नाम रखा—'वीरमती।'

अब आपका सारा समय ध्यान, अध्ययन, मनन-चिन्तन में व्यतीत होने लगा। धीरे-धीरे २ वर्ष वीत गये। अभी आपके कदम त्याग के अन्तिम चरण की ओर बढ़ने के प्रयास में थे।

आर्यिका दीक्षा :—वीरमती से ज्ञानमती

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की कुन्थलगिरि में सल्लेखना हो रही है। म्हसवड़ चातुर्मास के मध्य ही आप भी कुन्थलगिरि आई और आचार्य श्री की विधिवत् सल्लेखना का दृश्य साक्षात् दृष्टि से देखा। आचार्य श्री ने अपने प्रथम शिष्य मुनि वीरसागरजी को आचार्य पट्ट की घोषणा कर दी है। आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार 'वीरमति' ने आचार्य वीर सागर जी महाराज के संघ में पदार्पण किया। धीरे-२ कुछ समय वीता—तदनन्तर 'वीरमति' ने आ० वीर सागर जी से स्त्री पर्याय में सर्वोत्कृष्ट आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली–वह दिन था वि० सं० २०१३ वैसाख कृष्णा-२ का। राजस्थान की प्रसिद्ध नगरी माधोराजपुरा को इस समय का सौभाग्य प्राप्त हुआ। माता जी के ज्ञान की प्रतिभा को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य श्री वीरसागर जी ने दीक्षोपरांत 'वीरमति' का नाम परिवर्तन कर नामकरण कर दिया—'ज्ञानमती'।

अध्ययन अध्यापन :—

आचार्य श्री के सान्निध्य में सबसे छोटी (२० वर्ष) आयु की आर्यिका एवं ज्ञान में अत्यन्त तीक्ष्ण होने से स्थान-स्थान पर प्रवचन रूपी ज्ञान गंगा प्रवाहित होने लगी––लेकिन दुर्भाग्य से आचार्य श्री २ वर्ष पश्चात् इस नश्वर देह को त्याग कर गये। आचार्य श्री की समाधि के पश्चात लगभग ६ वर्ष तक पूज्य आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के सानिध्य में रह कर ध्यानाध्ययन किया।

अंग्रेजी की एक सुप्रसिद्ध कहावत है—**'The Power Study of mankind is man'.** मनुष्य के अध्ययन का उपयुक्त विषय मनुष्य ही है।

प्रारम्भ से ही अध्ययन-अध्यापन आप का प्रमुख व्यसन सा रहा है। दीक्षोपरांत सारे भारत में भ्रमण करके अनेकों प्राणियों को आपने त्याग के उत्कृष्ट व्रत आर्यिका एवं मुनि मार्ग पर आसीन कराया है। तथा शिष्यों को स्वयं ही न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार, सिद्धांत एवं अध्यात्म आदि विषयों के उच्च-कोटि का ज्ञान प्रदान किया है। आपकी ओजस्वी वाणी नें न जाने किन-२ पर मधुर प्रहार करके जीवन को परिवर्तित कर दिया है। दिन-प्रतिदिन आपकी ज्ञानगरिमा की मधुर सौरभ जन-२ में उत्तरोत्तर व्याप्त हो गई।

तीर्थ यात्रा :—

वि० सं० २०१९ में तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी की यात्रा हेतु आपने ३ आर्यिका एवं १ क्षुल्लिका के साथ आचार्य श्री की आज्ञा लेकर संघ से अलग विहार किया। सम्मेदशिखर दर्शनोपरांत दक्षिण भारत का भ्रमण कर कलकत्ता, हैदराबाद, श्रवणबेलगोला तथा सोलापुर जैसे भारत के विशाल एवं प्रमुख शहरों में चातुर्मास करके अतीव धर्म की प्रभावना की। स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाओं द्वारा आपने भगवान् महावीर की वाणी का महान उद्योत किया है।

दक्षिण भारत की यात्रानंतर पूज्य माताजी ने मध्य-भारत को भी अपने पावन पद रज से सुशो-भित किया। अनेक छोटे-बड़े शहरों में विहार करके धर्म की वर्षा करते हुए पूज्य माता जी का मंगल पदार्पण इन्दौर निकटस्थ सनावद में होता है। शुभ वर्ष सं० २०२४ का चातुर्मास पूज्य माता जी ने सनावद में करने का निर्णय दिया। सनावद में पूज्य माताजी का चातुर्मास होता है तथा ४ महीने निरं-तर अनेकों प्रकार से धर्म कार्य के द्वारा समाज को एक नई दिशा प्राप्त होती है। आपके वात्सल्यपूर्ण, विद्वत्तापूर्ण एवं मार्मिक उपदेशों को श्रवण कर सनावद निवासी, कालेज के विद्यार्थी श्री यशवंत कुमार तथा श्री मोतीचंद जी सराफ के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा, इधर पूज्य माताजी की सद्प्रेरणा का आश्रय मिला—दोनों नवयुवकों के जीवन में एक नया मोड़ आया।

संघ समागम :—

आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज विशाल संघ सहित सलूम्बर निकटस्थ ग्राम करावली (राज०) में विराजमान थे—सनावद चातुर्मासोपरांत पूज्य माताजी आचार्य संघ में पदार्पण करने की मंगल कामना करके सनावद से विहार कर देती हैं। शीघ्र ही आचार्य संघ से माताजी का मंगल मिलन होता है। साथ में बालब्रह्मचारी श्री मोतीचन्द जी सर्राफ एवं श्री यशवंतकुमार भी पूज्य माताजी को छत्र छाया में विद्याध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त कर लेते हैं। पूज्य माताजी ने अन्य विद्यार्थियों के साथ इन्हें भी व्याकरण न्याय, सिद्धान्त आदि ग्रन्थों का अध्ययन कराना प्रारम्भ कर दिया।

प्रतापगढ़ चातुर्मास सम्पन्न होने के वाद आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज का विशाल संघ समुदाय के साथ श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की सानंद समाप्ति के लिए

मंगलपदार्पण होता है। उस समय श्री महावीर जी क्षेत्र पर आ० शिवसागर जी महाराज के विशाल संघ समेत कुल ७२ साधुओं के विशाल समुदाय का दृश्य कई शताब्दियों के बाद प्रथम अवसर था। श्रावक गण भक्ति में फूल रहे थे। लेकिन कर्मों की विचित्रता से ही मानुष के हृदय कमल में वैराग्य के अंकुर निकलते हैं। कर्मों के आगे किसी का वश नहीं चलता—आ० शिवसागर जी महाराज प्रतिष्ठा से पूर्व ही विपुल साधु-समुदाय के मध्य इस नश्वर शरीर का परित्याग करके हम सबकी दृष्टि से अविद्यमान हो गये। अगर उस समय की करुण गाथा को हम आपके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास करें तो एक विशाल ग्रन्थ तैयार हो जावेगा।

महान प्रेरणा :—

आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज की समाधि के पश्चात् विशाल समुदाय के मध्य बालब्रह्मचारी, महानतपस्वी, त्यागमूर्ति पूज्य मुनि धर्मसागर जी महाराज को आचार्य पट्ट प्रदान किया गया।

यशवंतकुमार एवं श्री मोतीचंद जी को भौतिक युग (गृह-पिंजरे) से आचार्य संघ रूपी गुरुकुल में आये १ वर्ष ही बीते होंगे—कि संसार की नश्वरता को देखकर यशवंत कुमार में वैराग्य के तीव्र भाव बढ़े और पूज्य वात्सल्यमूर्ति ज्ञानमती माताजी की सद्प्रेरणा प्राप्त कर नवीन आचार्य श्री के चरण—कमलों में यथा-जात दीक्षा की याचना कर दी—शुभ मिती फाल्गुन शुक्ला ८ सं० २०२५ के दिन बिना किसी पूर्वाभ्यास के ५०-६० हजार विशाल जन समुदाय के मध्य दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली—सबसे अल्प आयु (१९ वर्ष) की प्रथम दीक्षा प्रदानकर आचार्य श्री धर्म सागर जी महाराज ने तदनुरूप यशवंत कुमार का नाम रखा—वर्धमानसागर। जो कि आज हम सबके समक्ष आ० संघ के सान्निध्य में रत हैं—यह महान उदाहरण जो आपके सामने प्रस्तुत किया—पूज्य माताजी के अथक प्रयास एवं प्रतिभा का ही द्योतक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अष्टसहस्री के संपादन कार्य में जिन मोतीचंद जी ने अपने समय का सदुपयोग किया है—ये वही मोतीचन्द जी हैं जो पूज्य माताजी के मार्मिक प्रवचनों से प्रभावित होकर ६ वर्ष पूर्व गृह-पिंजरे से निकलकर आचार्य संघ रूपी पाठशाला में माताजी से अध्ययनार्थ आये। आपके पिता श्री अमोलकचंद जी सा० एवं मां रूपाबाई ने बहुत ही विचार पूर्ण दृष्टि से बच्चे का नाम मोतीचन्द रखा था। धनाढ्य परिवार होने से सभी साधन उपलब्ध होते हुए भी वैराग्यपूर्ण भावनाओं के कारण आपने बिना किसी की प्रेरणा के १८ वर्ष की अल्पायु में सन् १९५८ में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। १० वर्ष घर पर ही बड़ी कुशलता से व्यापार करते हुए धर्माराधन में संलग्न रहकर सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में अग्रसर रहकर व्यतीत किये।

पश्चात् पूज्य माताजी के साथ आकर अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त करके शास्त्री एवं बंगीय सं० शि० परिषद की न्यायतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण करके आपके समक्ष अनेकों ग्रन्थोंके संपादन लेखन एवं

अन्य धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कर रहे हैं। आपके घर सोने चांदी का व्यापार होता है आपकी प्रेरणा से आपके पिताजी ने ४ वर्ष पूर्व पचीस हजार रु० का दान निकालकर एक पारमार्थिक ट्रस्ट की स्थापना की—जिसके माध्यम से सनावद में ही आज २ धार्मिक पाठशालाएं चल रही हैं। दो छोटे भाई आपके द्वारा छोड़े हुए व्यापार को सम्हाल रहे हैं।

अभी पूज्य श्री ज्ञानमती माता जी की सद्प्रेरणा से स्थापित 'दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान' के निर्माण कार्य में भी आपने पचीस हजार रु० की राशि दान में घोषित की है। इस प्रकार आपके पिताजी धर्म कार्यों में समय-समय पर विपुल धन राशि व्यय करते आ रहें हैं।

शास्त्री एवं न्यायतीर्थ के अलावा आपनें पूज्य माता जी से जैन भूगोल का बड़ा ही गहन अध्ययन प्राप्त किया है। इस प्रकार ६ वर्ष से संघ की सेवा में रहकर व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, भूगोल अध्यात्म आदि के ग्रन्थों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया है। आपके सहिष्णुता एवं वात्सल्य जैसे अनुकरणीय गुणों से हर व्यक्ति प्रभावित रहता है। ऐसे महान व्यक्तित्व से समाज एवं धर्म को अनेक आशाएं हैं यह भी पूज्य माताजी की ही प्रतिभा का परिचायक है।

पूज्य मुनिराज संभवसागर जी, पूज्य मुनिराज वर्धमान सागर जी स्व० पूज्य आर्यिका पद्मावती जी पू० आ० जिनमतीजी, पू० आ० आदिमतीजी, पू० आ० श्रेष्ठमतीजी, पू० आ० अभयमतीजी, पू० आ० जयमतीजी, पू० आ० रत्नमतीजी, तथा पू० आ० यशोमतीजी पू० क्षु० मनोवतीजी आदि ने आप से ही ज्ञान एवं त्याग की प्रेरणा प्राप्त की है।

श्री मोतीचंद जी के अतिरिक्त मुझे तथा कु० मालती, कु० शीला, कु० सुशीला, कु० कला, कु० माधुरी, कु० त्रिशला कु० मंजू आदि विद्यार्थियों को शास्त्री एवं न्यायतीर्थ का अध्ययन करा कर पूज्य माताजी ने अनेकों होनहार छात्रों एवं छात्राओं को ज्ञान दान प्रदान किया है। आपकी लघु सहोदरा कु० त्रिशला एवं कु० माधुरी ने १२ एवं १४ वर्ष की अल्पायु में राजवार्तिक, गोमट्टसार, सर्वार्थसिद्धि, अष्टसहस्री आदि ग्रंथों का अध्ययन करके शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण कर एक नया उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। यह सब पू० माताजी की उच्चकोटि की प्रतिभा एवं ज्ञान गरिमा का ही फल है। पू० माताजी की मातेश्वरी मोहनी देवी ने भी सन् १९७१ के अजमेर चातुर्मास के अनन्तर आपकी प्रेरणा से आपके ही पदानुकूल आर्यिका के सर्वोत्कृष्ट व्रत अंगीकार करके भारतीय जैन इतिहास को गौरवान्वित किया है। जिस-जिस वगीचे में आपने उपदेशामृत एवं ज्ञान रूपी बीज डाला है, वह प्रत्येक वगीचा एक न एक दिन मधुर सुवासों से युक्त पुष्पित एवं पल्लवित नजर आया है। आपकी छत्र छाया में रहने वाली अनेक कु० वालिकाएं ज्ञान एवं त्याग में उत्तरोत्तर वढ़ती जा रही हैं। यह है आपका जीवन एवं आपकी छत्र छाया में रहने वालों के जीवन के ज्ञान एवं त्याग में वढ़ते कदम।

जिनागम मंथन :—

लेखन 'चिन्तन' का प्रसाद है। पू० माताजी ने जैन भूगोल का बहुत ही सूक्ष्म अध्ययन किया है। 'त्रिलोक भास्कर', 'जैन ज्योतिर्लोक एवं 'जम्बूद्वीप' नामक पुस्तकों में आप दृष्टि डालकर देखें तो आपको इस तपः पूत जीवन के महान क्षणों द्वारा अन्वेषित सामग्री प्राप्त होगी।

जिस समय हम न्यायदर्शन की ओर दृष्टि डालते हैं तो प्रस्तुत ग्रन्थ 'अष्टसहस्री' (भाषानुवाद-सहित) एवं 'न्यायसार से आपके गहन अध्ययन एवं प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है।

पू० माताजी बहुमुखी प्रतिभा से युक्त हैं। प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, एवं द्रव्यानुयोग में माताजी का समान अधिकार है। व्याकरण, छंद, अलंकार आदि में आप अच्छी तरह सिद्धहस्त हैं। आपके द्वारा अनुवादित 'कातंत्रव्याकरण' 'वीरज्ञानोदयग्रंथमाला' के प्रकाश्य विभाग में विद्यमान है। संस्कृत की स्तुतियां बनाना आपके लिए बहुत ही साधारण सा कार्य लगता है। हिन्दी की रचना में आपकी रूचि कम ही है, फिर भी 'उपावंदना' ग्रामोफोन रिकार्ड आपके द्वारा रचित स्तुति का ही सुफल है। कई ग्रामों एवं शहरों के बालक बालिकाओं की जिह्वा पर गुनगुनाते हुए स्वर में आने वाली 'मंगलस्तुति भी आपकी बहुमूल्य देन है।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थमाला के प्रकाश्य विभाग में 'भगवान महावीर कैसे बने' सचित्र पुस्तक को देखने से भगवान महावीर के पूर्व पर्यायी अनेकों भवों का स्पष्टीकरण आपको प्राप्त होगा। चित्रों से पुस्तक को अतीव रोचक बनाने का पुरुषार्थ किया है। यह भी पू० माताजी के सौजन्य से ही प्राप्त हुई है।

पू० माताजी हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत एवं कन्नड़ भाषा की उद्भट विद्वान् हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भाषाएं आंशिक रूप से आपकी प्रायोग्य हैं।

प्रेरक स्तम्भ :—

'दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान' की स्थापना करवा कर आप जैन समाज के लिए ही नहीं वरन् समग्र भारत को एक अभूतपूर्व, अद्वितीय एवं दर्शनीय चीज प्रदान कर रही हैं। इस संस्थान के अंतर्गत संचालित 'वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला' से अनेकों ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं।

उपरोक्त संस्थान के अन्तर्गत मासिक मुख पत्र के रूप में 'सम्यग्ज्ञान' भी आपके समक्ष विपुल सामग्री सहित प्रस्तुत करके हमें गौरव का अनुभव हो रहा है। क्योंकि प्रस्तुत पत्रिका में सारे लेखों का संग्रह इसी तपः पूत व्यक्तित्व के सौजन्य से प्राप्त हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि २२ वर्ष के दीक्षित जीवन में पू० माताजी ने स्व एवं पर सम्बन्धी अनेकों कार्य किये—दर्शन एवं ज्ञान को चारित्र से अलंकृत किया।

वह भी समय था—जब बहुतों ने रोका था, समझाया था, पर स्वातंत्र्य
प्रिय कुमारी मैना को रोकने में सफलता कैसे मिलती,
त्याग के बढ़ते कदम को रोकने में सफलता नहीं मिली थी,
अब लोगों ने आश्चर्य प्रगट किया—अन्तर्मन से जयकारा बोला।

एक हैं अष्टान्हिका के महान् व्रतों को याद दिलाने वाली मैना। आज यह मानव जीवन के सर्वोत्कृष्ट व्रत त्याग वृत्ति को याद दिलाने वाली मैना (ज्ञानमती) हैं। दोनों ही मैना वीतराग भगवान की भक्ति एवं धर्म में सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्र के कारण संसार में क्रमशः मान्य एवं वन्दनीय बन गई हैं।

पू० माताजी के चरणों में शतशः नमन।

दिल्ली
२० अगस्त १९७४

रवीन्द्र कुमार जैन
शास्त्री, बी० ए०



सन् १९७१ के अजमेर चातुर्मास के अनंतर जब पू० श्री ज्ञानमती माता जी का ब्यावर पदार्पण हुआ तब आपने संघ की बड़ी सेवा की तथा माता जी की प्रेरणा से ब्यावर में ही बनने वाली जम्बूद्वीप रचना (मॉडल) के निर्माण में भी आर्थिक सहयोग प्रदान किया। इन दिनों अष्टसहस्री प्रकाशन के विषय पें विचार विमर्श चल ही रहा था और आपके चारों पुत्र श्री देवेन्द्रकुमार जी, मधुकुमार जी, वीरेन्द्रकुमार जी एवं सुरेन्द्रकुमार जी तथा दोनों सुपुत्रियां शारदाबाई एवं सुशीलाबाई ब्यावर आये हुए थे। आपके ही समान आपके पुत्र पुत्रियों के भी धार्मिक संस्कार हैं। उस समय श्री देवेन्द्रकुमार जी ने स्वेच्छा से ५००१) नकद देकर अष्टसहस्री के प्रकाशन का शुभारंभ कराया। अनंतर ५०००) और भेजकर प्रकाशन को तीव्रगति प्रदान करने में पुनीत सहयोग प्रदान किया। पश्चात् इस प्रथम भाग में होने वाले पूर्ण व्यय के लिए स्वीकृति प्रदान कर जिनवाणी की सेवा का एक महान एवं अनुकरणीय कार्य आपके द्वारा सम्पन्न हुआ है।

आपके दो पुत्र– श्री देवेन्द्रकुमार जी एवं मधु कुमार जी बंबई में तथा दो पुत्र श्री वीरेन्द्रकुमार जी एवं सुरेन्द्रकुमार जी जयपुर में व्यापार के निमित्त से आ गये हैं। स्वास्थ लाभ की दृष्टि से आप भी पिछले २-३ वर्षों से जयपुर ही रहने लगे हैं।

पूर्व की भांति भविष्य में भी आपका परिवार धर्मनिष्ठ रहकर धर्मायतनों की तन-मन धन से सेवा करता रहे यही शुभ कामना है।

मोतीचन्द जैन सर्राफ

—:o:—

न्यायसार

परिशिष्ट में 'न्यायसार' दिया गया है। न्यायशास्त्र में प्रवेश करने के इच्छुक जन सर्व प्रथम ही इसका मनन कर लेवें पुनः अष्टसहस्री ग्रन्थ के स्वाध्याय में अधिक आनंद आयेगा। और सर्वत्र सभी विषय सरलतया समझ में आ जावेंगे। प्रत्येक मतावलम्बियों की क्या क्या मान्यतायें हैं एवं जैनाचार्यों की क्या मान्यता है। इस बात का इस 'न्यायसार' में बहुत ही संक्षिप्त तथा स्पष्ट विवेचन है।

ग्रन्थमाला परिचय

भगवान महावीर स्वामी के परिनिर्वाणोत्सव के पुनीत अवसर परस्थापित 'दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान' के अन्तर्गत ग्रन्थ प्रकाशन हेतु 'वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला' की स्थापना वीर नि० सं० २४९८ में हुई है। ग्रन्थमाला का "प्रथमपुष्प' अष्टसहस्री प्रथमभाग (भाषानुवादसहित) श्रीमान सेठ हीरालाल जी (रानी वाले) जयपुर (राज०) के द्रव्य से प्रकाशित हो रहा है।

अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन की सुविधा के लिए १००१) एक हजार एक रुपये प्रदान करने वाले इस ग्रन्थमाला के सदस्य मनोनीत किये जाते हैं। कई ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य चल रहा है। ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित प्रत्येक ग्रन्थ की एक-एक प्रति ग्रन्थमाला के सदस्यों को भेंट स्वरूप प्राप्त होती रहेगी। इस पुनीत कार्य हेतु निम्नलिखित धर्मानुरागी बन्धुओं ने १००१) की स्वीकृति प्रदान करके ग्रन्थ प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया है।

१. डा० श्री कैलाशचंद जी जैन [राजा टाइज] दिल्ली।
२. श्री नेमीचंद जी जैन, रोहतक रोड, दिल्ली।
३. ,, जवाहर लाल जी जैन, रोहतक रोड, दिल्ली।
४. ,, छोटेलाल कैलाशचंद जैन, टिकैतनगर [बाराबंकी, उ० प्र०]।
५. ,, फूसूशाह प्रद्युम्न कुमार जैन, टिकैतनगर [बाराबंकी, उ० प्र०]।
६. श्रीमती शान्ति बाई जी जैन, कश्मीरी गेट, दिल्ली।
७. श्रीमती इलाइची बाई जी जैन, कश्मीरी गेट, दिल्ली।
८. श्री अमोलकचंद जी फूलचंद सा जी जैन सर्राफ सनावद, [म. प्र.]।
९. श्रीमती केतकी देवी धर्मपत्नी सेठ श्रीपत जी जैन (भा. व. महासभा के मंत्री) अजमेर।
१०. श्री उमेशचंद जी जैन नजफगढ, दिल्ली।

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
व्यवर्तयर्थ	व्यक्तयर्थ	१०७	३
जुहया	जुहुया	१०७	२४
कतृकः	कर्तृकः	११४	२२
गाण	गौण	१३१	६
कथमश्तथाहि	कथं तथाहि	१३५	२५
सुद्र	सुदूर	१३६	२
चोद्र्धवता	चोर्द्ध्वता	१४१	६
ताद्रूप	ताद्रूप्य	१४१	६
स्वातत्र्येण	स्वातंत्र्येण	१४४	३
यापारस्य	व्यापारस्य	१४६	२६
वाक्य रथ	वाक्यस्थ	१४७	१
अश	अंश	१४७	८
अभाव न होने से अनवस्था आ जायेगी	अभाव होने से अनवस्था नहीं आवेगी	१४६	१०-११
पाको	पाचको	१५३	१२
"जैन भवति"	जैन "भवति"	१५३	१३
याग	यागं	१५८	१२
प्रत्यद् दूमवर	प्रत्ययवददूर	१६०	५
धवलयोः	धवलयोः	१६१	२६
परिष्पंदात्मक	परिस्पंदात्मक	१६३	२०
परब्रह्मादा	परब्रह्मादी	१७३	१
अमती	अमती	१७५	२६
भवदमिः	भवद्भिः	१८४	१
नाम्	नाम	१८४	४
वैकल्प	वैकल्य	२००	३०
स्त्रान	स्नान	२०५	२७
सिद्धि	सिद्धिका	२१५	२६
किञ्चिद् निणीतः	यह अष्टशती में नहीं है। श्लोक है'	२२२	५

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
अनक	अनेक	२३८	३०
चतुथ	चतुर्थ	२५२	९
भ्यासतै	भ्यासशतै	२५५	५
सर्वज्ञो ज्ञायते	सर्वज्ञो न ज्ञायते	२५८	१
प्रत्यासत्त र्ज्ञाना	प्रत्यासत्तेर्ज्ञाना	२७४	१
व्वापार व्याहा	व्यापारव्याहार	२९१	२४
संस्कतृणां	संस्कर्तृणां	२९२	३
पथ्वी	पृथ्वी	२९३	१२
सर्थस्य	समर्थस्य	२९४	१
याशी	यादृशी	२९९	८
सावाद्	सद्भाववाद	३०४	५
सन्निशं	सन्निवेशं	३०८	२
कवल	केवल	३११	७
परमाप्वा	परमाण्वा	३१८	२
रूक्ष्माद्यर्थानां	सूक्ष्माद्यर्थानां	३१८	३
बुद्धयूत्पादकं	बुद्ध्युत्पादकं	३१८	३
नुमेयेर्थे	अनुमेयेर्थे	३२०	८
प्रत्यक्षेयण	प्रत्यक्षेण	३२०	२८
नगास्ति	नास्ति	३२५	२८
नियाकरण	निराकरण	३३५	२२
ध्यानोभ्दूत	ध्यानोद्भूत	३३६	२३
गृण्हाति	गृह्णाति	३३९	२८
विकल्पौघै:	विकल्पौघै:	३४५	३
लाला	वाला	३५०	४
तप्सिद्धे घंटीयंत्र	तत्सिद्धेर्घटीयंत्र	३५२	६
भांति निवृत्तिवत्	भ्रांतिनिवृत्तिवत्	३५२	६
चत्तन	चित्तेन	३५५	२९
प्यचेन	प्यचेतन	३७७	६

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
युक्तिमे	युक्तमे	३७७	८
स्यद्वादी	स्याद्वादी	३७७	२८
मित्वर्थः	मित्यर्थः	३८१	२५
वंर्ण	वंर्णं	३८३	२८
शत्या	शक्त्या	३८५	४
ऋत्स्न	कृत्स्न	३८८	६
सांख्यादिमान	सांख्यादिमान्य	३९२	४
कोपिल	कपिल	३९२	१७
सांख्या	सांख्या	३९५	१
लभेयहि	लभेमहि	४०३	६
प्रायसो	प्रायशो	४०६	४
मिच्छ विषयी	मिच्छांविषयी	४१०	२४
निराकृत	निराकूत	४१०	२५
योहीनि	योर्हानिं	४१०	२७
व्यावहार	व्यवहार	४११	१४
वाव्यापारो	वाग्व्यापारो	४११	२९
शांस्त्राणां	शास्त्राणां	४१६	७
समर्थयमनः	समर्थयमानः	४१६	२९
कंठोष्ठा	कंठौष्ठा	४१७	८
परित्छित्तौ	परिच्छित्तौ	४२२	३
अप्रामाणीक	प्रामाणीक	४२३	७
स्वार्धाधिगम	स्वार्थाधिगम	४२४	८

★★★

समर्पण

श्रीमद् परम पूज्य प्रातः स्मरणीय

चारित्र तपोनिधि

१०८ आचार्य

श्री धर्मसागर जी

महाराज

एवं

१०८ आचार्य

श्री देशभूषण जी

महाराज

के

कर कमलों में

❀ सादर समर्पित ❀

—आर्यिका ज्ञानमती

परम पूज्य तपोनिधि पट्टाधीश १०८ आचार्य श्री धर्म सागर जी महाराज

का

शुभाशीर्वाद



शिक्षा प्रधान वर्तमान युग में लौकिक अध्ययन के साथ साथ धार्मिक पठन-पाठन भी बढ़ा है। जहां पाश्चात्य भाषा सर्वाधिक प्रचलन में आई है वहाँ संस्कृत-प्राकृत भाषा के ज्ञान में अधिक ह्रास हुआ है। हमारे अधिकांश प्राचीन ग्रंथ संस्कृत प्राकृत भाषा में लिखे हुए हैं। अनेक विद्वानों ने समय समय पर बहुत से ग्रंथों का सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद करके जिनागम के मर्म को समझने में सर्व साधारण को सुलभता प्रदान की है जिसके लिए सभी स्वाध्यायी उनके इस महान् उपकार से उपकृत हैं।

कुछ वर्षों पूर्व तक तो न्याय ग्रंथों को पढ़ाने व पढ़ने वाले विशेष संख्या में थे किन्तु अब अत्यल्प मात्रा में रह गया है। वर्तमान में जैन समाज में तो न्याय ग्रंथों के स्वाध्याय की प्रथा उठ सी गई है। द्रव्यानुयोग के अध्यात्मिक ग्रंथों को समझने एवं हृदयंगम करने के लिए भी न्याय दर्शन का ज्ञान होना आवश्यक है। वस्तुत्व का सच्चा एवं दृढ़ निश्चय न्याय की कसौटी पर कसकर ही किया जा सकता है।

न्याय के कतिपय ग्रंथों का हिन्दी भाषानुवाद तो हो चुका है किन्तु विशिष्ट ग्रंथ अष्टसहस्री का क्लिष्टता के कारण अनुवाद नहीं हो पाया था। प्रसन्नता है कि उस कमी की पूर्ति भी आर्यिका श्री ज्ञानमती जी द्वारा हो गई है। इस अनन्य कार्य के लिए हमारा शुभ आशीर्वाद है,

आशा है विद्वद्वृंद इसी प्रकार से अन्य आर्ष प्रणीत प्राचीन ग्रंथों के अनुवाद में भी पूर्ण रुचि रखकर जिनवाणी की सेवा में अग्रसर रहेंगे।

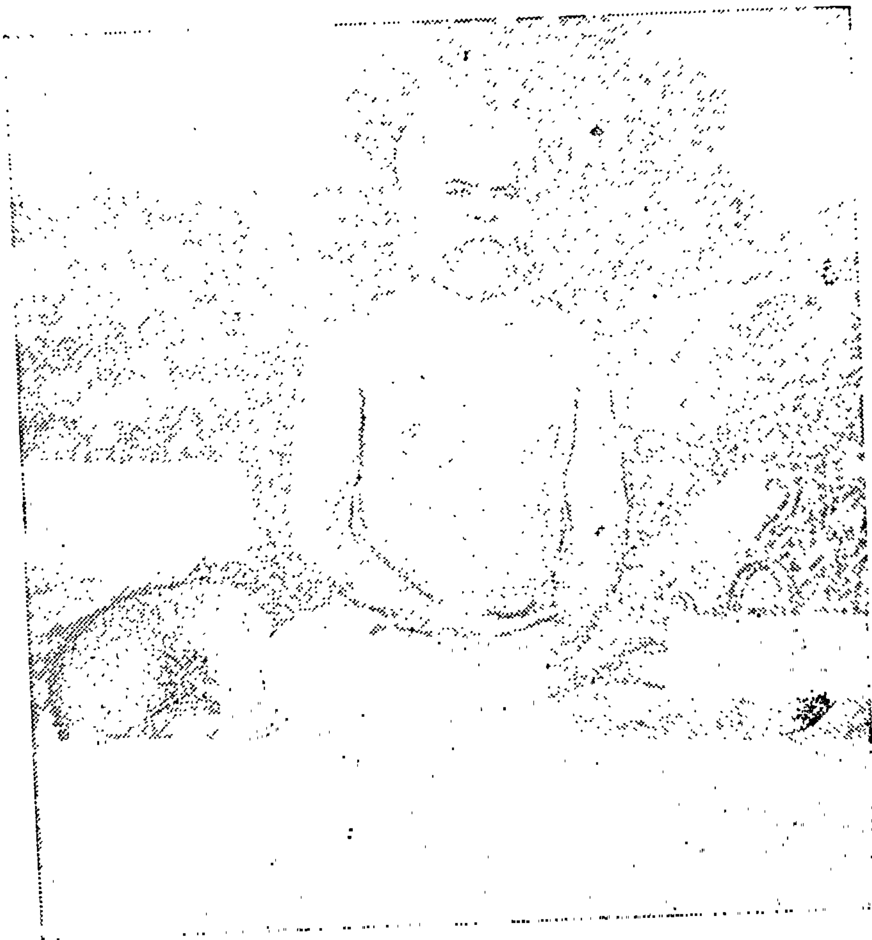
परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज



जन्म—	क्षुल्लक दीक्षा—	मुनि दीक्षा—
गम्भीरा (राज०)	आ०कल्प श्री चन्द्रसागरजी से	आ० श्री वीरसागर जी
वि० सं० १९७०	वालूज (औरंगाबाद, महाराष्ट्र)	फुलेरा (राज०)
पौष शुक्ला १५	वि० सं० २००० चैत्र कृष्णा ७	वि. सं. २००८ का. शु. १४

आचार्यपट्ट—फाल्गुन शुक्ला ८ वि० सं० २०२५ —श्री महावीर जी

प० पू० १०८ आचार्य रत्न श्री देशभूषणजी महाराज



जन्म —
कोथली (वेलगाँव, महाराष्ट्र)
वि० स० १९६०
मगसिर शुक्ला २

ऐलक दीक्षा—
आचार्य श्री जयकीर्तिजी महाराज से
स्थान—अतिशयक्षेत्र-रामटेक
(महाराष्ट्र)
आचार्यपट्ट सूरत (गुजरात)

मुनि दीक्षा—
वि० सं० १९८५
स्थान कुंथलगिर

परम पूज्य १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की ओर से

आशीर्वाद रूप में

दो शब्द

आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी उत्तर प्रदेश के जिला बाराबंकी—टिकैत नगर की रहने वाली हैं। इनका गृहस्थावस्था का नाम मैना था। इनके पिता का नाम छोटेलाल एवं माता का नाम मोहनी देवी था। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए छोटी उम्र में भी इनका धार्मिक ज्ञान विशेष था। इनकी भावना एवं रुचि धर्म के प्रति अगाध थी।

माता-पिता द्वारा विवाह की तैयारियां की जाने पर इन्होंने इन्कार कर दिया और कहा कि मैंने स्त्री पर्याय का नाश करने के लिए दीक्षा लेने की ठान ली है। संसार के बन्धनों में न फंसने के लिए शादी की बात ठुकरा दी। इस प्रकार वैराग्य की जागृति तो हो चुकी थी परन्तु अपने मनोरथ की सिद्धि अर्थात् गृहपरित्याग गुरु के हस्तावलम्बन के बिना नहीं हो पाया था।

जब हम वि० सं० २०१० में इनके गांव टिकैत नगर में पहुंचे तब इन्होंने घर से निकलने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु सफलता नहीं मिली। अनंतर उसी साल बाराबंकी चातुर्मास होने पर दर्शन हेतु घर से हमारे पास आईं एवं पुन: घर जाने से इन्कार कर दिया।

एक दिन हमारे केशलोंच के प्रसंग पर इन्होंने भी अपने हाथ से अपने लोंच करना प्रारम्भ कर दिया। छोटी उम्र होने के कारण समाज के लोगों ने दीक्षा देने में बड़ा विरोध प्रस्तुत किया। तब हमने इन्हें सातवीं प्रतिमा के व्रत देकर लोगों को शांत किया।

उस अवस्था में भी इनकी बुद्धि अत्यंत तीक्ष्ण थी एवं स्मरण शक्ति भी प्रबल थी। कोई भी पाठ या विषय एक बार बतला देने पर कंठस्थ कर लेती थीं। गोमट्टसार आदि कई विषयों को पढ़ाते समय देखा कि १५ दिन में ३०० गाथायें याद कर लीं, बुद्धि की इतनी तीक्ष्णता को देखकर बड़ा आश्चर्य होता था। एक बार जब दश भक्ति पाठ याद करने के लिए कहा तो संस्कृत होते हुए भी १०-१५ दिन में एकदम पक्की याद कर ली।

चातुर्मास के पश्चात् विहार करके जब हम श्री महावीर जी आये तो इनकी उत्कृष्ट भावना को देखकर शुभमुहूर्त में चैत्रकृष्णा वि० सं० २००६ को क्षुल्लिका दीक्षा दे दी। इनकी दीक्षा के पुरुषार्थ को देखकर ही हमने इनका दीक्षित नाम "वीर मती" रखा।

जब हम यहाँ से वापस कानपुर लखनऊ होते हुए दरियावाद पहुंचे तब इनके पिता जी आदि कई लोगों ने आकर टिकैत नगर चातुर्मास करने की प्रार्थना की। मेरे न चाहते हुए भी समाज के आग्रह पर इनकी जन्मभूमि पर ही पहला चातुर्मास हो गया।

चातुर्मास के बाद वापस महावीर जी आगमन हुआ। आगामी चातुर्मास (वि० सं० २०११ में) जयपुर होना निश्चित हुआ। जयपुर चातुर्मास में इन्होंने मात्र दो माह में पं० दामोदर जी शास्त्री से कातंत्र व्याकरण पढ़ ली। इस प्रकार शीघ्र ही संस्कृत का अध्ययन अच्छी तरह कर निपुणता प्राप्त कर ली। एक व्याकरण के अध्ययन के आधार से अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थों का मूल संस्कृत से स्वाध्याय कर लिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण तथा एक पाठी थी। ज्ञान से अपनी चारित्रिक उन्नति कर समाज में एक अच्छी विदुषी शिरोमणी की पदवी पाई। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी स्त्री रत्न और छोटी अवस्था में घर छोड़ कर इतने उच्च स्थान को प्राप्त करना मामूली बात नहीं है! लोग कहेंगे कि शिष्य होने से प्रशंसा लिख दी है सो बात नहीं है किन्तु गुणों के कारण प्रशंसा की गई है!

आर्यिका दीक्षा मांगने पर हमने थोड़े दिन ठहरने को कहा। कुछ समय बाद विहार करते हुए आचार्यवर श्री वीरसागर जी महाराज से वि० सं० २०१३ में आर्यिका दीक्षा ले ली। तत्पश्चात् अनेकों धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते-कराते हुए वक्तृत्व कला को भी सम्पन्न कर लिया। आज कई बड़े-बड़े संस्कृत के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करके उनका अनुवाद करना भी प्रारम्भ किया है उनमें से एक ग्रन्थ यह अष्टसहस्री है जो कि बारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य विद्यानन्द द्वारा रचित है। इस महान ग्रन्थ के अनुवाद में बड़े-बड़े विद्वान भी हार मान गये ऐसे ग्रन्थ का इन्होंने परिश्रम करके हिन्दी अनुवाद किया है जिससे अब इसके स्वाध्याय में भी सुगमता हो गई है। सभी स्त्री पुरुष इसका रसास्वादन ले सकेंगे।

इसलिए हम अपनी शिष्या ज्ञानमती को बार-बार आशीर्वाद देते हैं। एवं इस ग्रंथ के अध्ययन से सभी जैन अजैन जनता को सच्चे आत्म-कल्याण का मार्ग प्राप्त हो यही सबको हमारा शुभाशीर्वाद है।

विदुषीरत्न पू० आ० श्री १०५ ज्ञानमती माताजी



जन्म

टिकैतनगर (लखनऊ, उ. प्र.)
सन् १९३४ वि. सं. १९९१
आसोज शु. १५ (शरद पू०)

क्षुल्लिका दीक्षा—

आ० श्री देशभूषणजी से
श्री महावीर जी में
वि. सं. २००९ चैत्र कृ. १

आर्यिका दीक्षा —

आ. श्री वीरसागरजी से
माधोराजपुरा (राज०) में
सं. २०१३ वैशाख कृ. २

मंगल स्तवः

तीर्थेशं श्रीत्रिभुवनपतिं वीरनाथं प्रणम्य ।
श्रीतत्त्वार्थं जिनवरवचःपूतपीयूषगर्भम् ॥
तत्कर्तारं यतिपतिजगत्पत्युमास्वामिनं च ।
वंदे नित्यं भुवनमहितं सूत्रकर्तारमीडे ॥१॥

श्रीमत्सूत्रावतरणविधौ श्लोकमादौ कृतं यत् ।
श्रीमान् स्वामी मुनिगणपतिः स्तोत्रमाश्रित्य तर्कात् ॥
मीमासां यां जिनपतिमहाप्तस्य सामंतभद्रीं ।
कृत्वा लोके जयति नितरां तं त्रिशुद्धया प्रवंदे ॥२॥

देवागमस्तवनमाप्तपरीक्षया यत् । तस्योपरि प्रकटिताष्टशती सुटीका ॥
येनेह तं विजितवादिगणं मुनीन्द्रं । वंदे कलंकरहितं ह्यकलंक देवम् ॥३॥

देवागमस्तवं ह्यष्टशतीयुक्तं प्रपद्य यैः कृता टीकाष्टसाहस्रीं तान् विद्यानंदिनः स्तुवे ॥४॥

अष्टसहस्रीं वंदे सप्तसुभंगैस्तरंगितामृतसरणिम् । यामवगाह्य ववा मे समंतभद्र ह्यकलंकं लघुभूयात् ॥५॥

रत्नत्रयपवित्रांगाः शांतिसिंधुगणीश्वराः । धर्मधुर्या जगत्पूज्यास्तान् वंदे भवशांतये ॥६॥

जातरूपधरं स्तौमि गणिनं वीरसागरं । शिवसागरसूरिं च नौमि भक्त्या त्रिशुद्धितः ॥७॥

धर्मध्यानरतो नित्यं सूरिर्योधर्मसागरः । तं वंदे भक्तिभावेन धर्मवृद्धिं सदा क्रियात् ॥८॥

एतान् परंपराचार्यान् रत्नत्रयविभूषितान् गुरुभक्त्या प्रवंदेहं रत्नत्रयविशुद्धये ॥९॥

श्री देशभूषणाचार्यं क्षुल्लिका व्रतदायिनं । शांतिक्षमागुणोपेतं वंदे तं भवहानये ॥१०॥

श्री वीरसागराचार्यं महाव्रत प्रदायिनं । गभीरं धीरवीरं तं वंदे दीक्षागुरु मुदा ॥११॥

न्यायसिद्धांतसज्ज्ञानं लब्धं यत्प्रसादतः । विद्यागुरुं महावीर-कीर्त्याचार्यं नमामि तं ॥१२॥

क्वायं ग्रन्थः क्व मे बुद्धिस्तथापि गुरुभक्तितः ।
अहो ! ह्यष्टसहस्रीयं भाषयानूद्यते मया ॥१३॥

पंचमहागुरून् भक्त्या चित्ते धृत्वा लिखाम्यहं ।
सतां चेतो हरेन्नित्यं त्वत्प्रसादेन मे कृतिः ॥१४॥

सरस्वति ! नमस्तुभ्यं प्रसीद वरदा भव ।
त्वत्प्रसादेन मे भूयात् वाक्शुद्धिः सर्वसिद्धिदा ॥१५॥

ग्रन्थ रत्न का आधारभूत मंगलाचरण

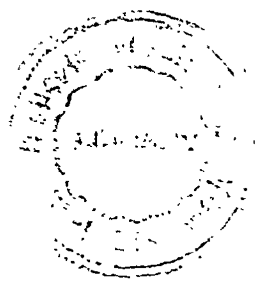
मोक्ष मार्गस्यनेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ।।

—श्रीमान् उमास्वामी आचार्यवर्य

वंदना

उमास्वामिकृतं पूत-मर्हत्संस्तवमंगलं ।
महेश्वराश्रियं दद्यात् महादेवपदस्थितं ।।१।।
मूलाधारं स्तुतेराप्त—मीमांसाकृतेरिदं ।
मूलमष्ट सहस्र्याश्च मंगलं मंगलं क्रियात् ।।२।।
देवागमस्तवोद्भूता समंतात् भद्रकारिणी ।
अकलंकवचःपूता विद्यानंदं तनोतु मे ।।३।।
महापूज्या जगन्माता स्याद्वादामृतवर्षिणी ।
अनेकांतमयीमूर्तिः सप्तभंगतरंगिणी ।।४।।
स्वपर समयज्ञानं प्रकटीकुरुते सदा ।
सर्वथैकांतदुर्दांतान् विमर्दीकुरुते क्षणात् ।।५।।
जिनशासन माहात्म्य-वर्धने पूर्णचंद्रवत् ।
मिथ्यामतमहाध्वांत—ध्वंसने सूर्यवत् सदा ।।६।।
जीयात् कष्टसहस्रैर्या साध्या सर्वार्थसिद्धिदा ।
पुष्यात्साष्टसहस्री मे वाञ्छां शतसहस्रिकाम् ।।७।।

आर्यिका ज्ञानमती





श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामिविरचिता

अष्टसहस्री

मंगलाचरणम्

श्री[1]वर्द्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्र-मुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त-मीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयास्य ।।१।।

मंगलाचरण का अर्थ—जो समंत—सर्वप्रकार से भद्र—कल्याणस्वरूप हैं, जिनके केवलज्ञान की महिमा प्रकट हो चुकी हैं—जो विद्यानंदमय हैं, जिनके वचन अनिंद्य-अकलंकरूप अनेकांतमय हैं, ऐसे श्री-अंतरंग-अनन्तचतुष्टयादि एवं बहिरंग—समवसरणादि विभूति से सहित अंतिम तीर्थंकर श्री वर्धमान भगवान् को नमस्कार करके महाशास्त्र-तत्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में "मोक्षमार्गस्य नेतारम्" इत्यादि मंगलरूप से रचित स्तुति के विषयभूत आप्त भगवान् की मीमांसा स्वरूप जो "देवागमस्तोत्र" है उसे भाष्यरूप से मैं—विद्यानंदि स्वामी अलंकृत करता हूँ ।

[श्री लघुसमंतभद्रकृत टिप्पणी का **भावार्थ**—इसमें मंगलाचरण से सर्वप्रथम श्री वर्धमान भगवान् को एवं संपूर्ण अर्हंत्समुदाय को नमस्कार किया है । पुनः इसी श्लोक से श्री समंतभद्रस्वामी को एवं आप्तमीमांसा स्तोत्र को नमस्कार किया है ।]

उत्थानिका—इसी भरतक्षेत्र में पहले अपनी निर्दोष विद्या एवं निर्दोष संयमरूपी संपत्ति से गणधरदेव, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली, दशपूर्वधारी आदि सूत्र की रचना करने वाले महर्षियों की महिमा को आत्मसात् (स्वयं प्रत्यक्ष) करते हुए भगवान् श्री उमास्वामी आचार्यवर्य ने तत्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र की रचना की है। स्याद्वादविद्या के अग्रणी श्री समंतभद्रस्वामी ने उस तत्वार्थ सूत्र महाशास्त्र की 'गंधहस्ति महाभाष्य' रूप टीका रचते हुए मंगलाचरण में "मोक्षमार्गस्य नेतारम्" इत्यादि की टीका में मंगल

---

१ ॐ नमः । इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिदशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नन्तः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्त-

स्वरूप स्तुति के गोचर परम आप्त भगवान् के गुणों की मीमांसा (परीक्षा) को करते हुए प्रवचनमय तीर्थ की सृष्टि की पूर्ति स्वरूप इन "देवागम-नभोयान" इत्यादि पदों द्वारा "देवागमस्तोत्र" नाम के ग्रन्थ की रचना की है।

इसके पश्चात् जिनके चरणनख की किरणें सकल तार्किक जनों के चूड़ामणि की किरणों से चित्र विचित्र शोभा को प्राप्त हैं, ऐसे भगवान भट्टाकलङ्कदेव ने इसी देवागम-स्तोत्र की 'अष्टशती' नामक टीका रची है।

इसी प्रकार महाभाग तार्किकजनों से मान्य 'वादीभसिंह' इस पदवी से अलंकृत **श्री विद्यानन्दि स्वामी** स्याद्वाद से प्रगट सत्यवचनों का प्रवाह है जिसमें, ऐसी अपनी वाणी की चतुरता को प्रगट करते हुए 'आप्त-मीमांसा' को अलंकृत करने की इच्छा करते हुए 'श्री वर्द्धमानम्' इत्यादि प्रतिज्ञा श्लोक को कहते हैं।

"मया अलंक्रियते" मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है,–इस पद से अलंकार का महत्व प्रगट किया है अर्थात् जिस प्रकार सौंदर्यशालिनी कन्या की भी अलंकार आदि से शोभा द्विगुणित हो जाती है, उसी प्रकार से यह टीका भी इस स्तोत्र के लिए अलंकार स्वरूप इस स्तोत्र के पदों के अर्थों को अत्यर्थ रूप में स्पष्ट करते हुए श्रोता जनों के मन को हरण करने वाली है।"

"मेरे द्वारा क्या अलंकृत की जाती है ?" "कृतिः"–रचना। वह किस रूप है ? शास्त्र के प्रारम्भ में रचित स्तुति के विषय को प्राप्त जो परम आप्त भगवान हैं, उनकी मीमांसा-परीक्षा की जाती है। "अस्य" यह निर्देश विशेष्य-विशेषण सम्वन्ध से युक्त होने से स्वामी समंतभद्राचार्य के माहात्म्य को प्रगट करता है अर्थात् स्वामी समंतभद्राचार्य की रचना, "अभिवंद्य"-नमस्कार करके–मन वचन काय से वंदना करके, मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है। इस नमस्कार पद से आस्तिक्य भावना के अस्तित्व को दिखलाया है। किसको नमस्कार करके ? "श्री वर्द्धमानम्" सब तरफ से वृद्धि को प्राप्त है 'मान'–केवलज्ञान जिनका, ऐसे वर्द्धमान भगवान को। श्री–समवसरणादि लक्षण एवं परम आर्हत्य लक्षण से विभूषित श्री

गुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे। तदनु सकलतार्किकचक्रचूडामणि-मरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवस्तदेतस्याष्टशतयाख्येन भाष्येणोन्मेपमकार्षीत्। तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसामलंचिकीर्षवः स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यसरां गिरां चातुरीमाविर्भावयन्तः प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः "श्रीवर्धमानमित्यादि" अस्यार्थः।—अलङ्क्रियते विभूष्यते। केन ? मया विद्यानन्दिसूरिणा। अनेनालङ्कारस्य महत्त्वमुद्द्योतितम्। का ? कृतिः सन्दर्भः। किंरूपा ? शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितम्। विशेष्यविशेषणयोराविष्टलिङ्गत्वादयं निर्देशो यथा।—रमणीरत्नमुर्वशीति। कस्य ? अस्य स्वामिसमन्तभद्राचार्यस्य। माहात्म्यमावेदितम्। श्रीवर्द्धमानः समन्तभद्रः सूरिरनिन्द्यवागित्येतत्त्रितयस्यानन्तरोक्तस्यास्येत्यनेन परिग्रहप्राप्तावपि सूरेरेव परिगृहीतिः कृतेरनेनैव प्रत्यासत्तिप्रकर्षयोगात्। किं कृत्वा ? प्रागभिवन्द्य अभितः समन्तान्मनसा वचसा वपुषा च वन्दित्वा। अनेन नमस्कृतावास्तिक्यस्यास्तित्वमादर्शितम्। कम् ? श्रीवर्द्धमानम्। अव समन्ताद्वृद्धं प्रवृद्धं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ तथोक्तः। श्रिया समवसरणादिलक्षणया परमार्हन्त्यलक्ष्म्या लक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानः परमजिनेश्वरसमुदयस्तम्। अर्थसमुदयस्यार्थः कथम् ? अव समन्ताद्वृद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं

वर्द्धमान भगवान् अंतिम तीर्थंकर अथवा संपूर्ण अर्हंतपरमेष्ठी समुदाय को नमस्कार करके। पुनः कैसे हैं भगवान् ? "समन्तभद्र" भद्र अर्थात् जिनके शतेन्द्रवंदित गर्भावतरण आदि कल्याणक हुये हैं, ऐसे भगवान् ही समन्तभद्र हैं। पुनः कैसे हैं भगवान् ? "उद्भूतबोध महिमानम्" जिनके केवलज्ञान की महिमा-यथावत् संपूर्ण वस्तुतत्व के प्रकाशन की महिमा प्रगट हुई है। इस विशेषण से अचल ज्योतिः स्वरूप केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को अवलोकन करने वाले हैं, यह प्रगट किया है। पुनः कैसे हैं भगवान् ? "अनिंद्यवाचम्" अनेकान्त की नीति वही हुआ गंगाप्रवाह, उसमें अवगाहन करने वाली है वाणी–दिव्य-ध्वनि जिनकी ऐसे भगवान् को। इस विशेषण से धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति स्वरूप भगवान् के वचन हैं–यह स्पष्ट किया है।

[अथवा इसी श्लोक से आचार्य समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करते हैं—]

दूसरा अर्थ—श्री समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करके। कैसे हैं समंतभद्र स्वामी ? "श्री वर्द्धमानम्" निर्दोष स्याद्वाद विद्या के वैभव की आधिपत्य-लक्षण लक्ष्मी से जो वृद्धि को प्राप्त हैं। पुनः कैसे हैं ? "उद्भूत-बोध-महिमानम्" भव्य जीवों को इस कलिकाल में भी कलंक-रहित निर्दोष विद्या को प्रगट करने के लिए स्याद्वाद तत्व को प्रगट करने में जिनका ज्ञान समर्थ है। पुनः कैसे हैं ? "अनिंद्यवाचम्" सप्तभंगी से युक्त

यस्यासौ वर्द्धमानः। अवाप्योरल्लोप इत्यवशब्दस्याकारलोपः। श्रिया वहिरङ्गया चान्तरङ्गया समवसरणानन्तचतुष्टय-लक्षणया चोपलक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानोऽर्हत्समुदय इति व्युत्पत्तेः। अनेन परमार्हतां समुदयमिति वृत्तिकारोक्त-प्रतिज्ञाश्लोकनमस्कृतौ विशेष्यमुपात्तम्। कथम्भूतम् ? समन्तभद्रम्। समन्ताद्भद्राणि शतमखशताभिवन्दितानि गर्भावतरण-महिमादिकल्याणानि यस्य तम्। अनेनाखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितमिति विशेषणमुपगृहीतम्। भूयः कथम्भूतम् ? उद्भूतः प्रसिद्धो वोधस्य महिमा वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणो यस्य तम्। अनेनाचलज्योतिर्ज्वलत्केवलालोकालोकितलो-कालोकमिति विशेषणं स्वीकृतम्। अचलैर्निर्बाधैर्ज्योतिर्भिर्निर्भासैर्ज्वलता दीप्यमानेन केवलालोकेन केवलदर्शनेनालोकितौ लोकालोकौ येन तमिति प्रतिपादनात्। भूयोपि कथम्भूतम् ? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्यानेकान्तनीतिगङ्गाप्रवाहावगाहिनी वाग् वाणी यस्य तम्। अनेनोद्दीपीकृतधर्मतीर्थमिति विशेषणमात्मीकृतम्। उद्दीपीकृतं धर्मप्रतिपादकं तीर्थं शास्त्रं येनेति व्युत्पादनात्। भगवान् श्रीवर्द्धमानः कल्याणसम्पदाशंसिनामभिवन्द्यः सकलकल्याणसम्पदभिरामत्वात्। यथा सकललक्ष्मी-सम्पदभिरामः सार्वभौमो लक्ष्मीसम्पदाशंसिनामिति स्वभावलिङ्गजनितमनुमानम्। सकलकल्याणसम्पदभिरामोऽयमुद्भूत-बोधमहिमत्वादिति कारणसहचरलिङ्गजनितं केवलज्ञानोदयसहभाविनस्तीर्थकरपुण्योदयात् सकलकल्याणाभिरामपर-मार्हन्त्यलक्ष्मीसम्परसंयुतैः सर्वत्रोद्भूतमहिमायं तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्। यथैवागदङ्कारकर्मणि युक्तिशास्त्रा-विरोधिवाग्भिषग्वरस्तत्रोद्भूतमहिमेति कार्यलिङ्गजनितं महीयसां वचनातिशयस्य प्रज्ञातिशयनिवन्धनत्वादिति। एवमुत्तरत्र व्याख्याद्वयेपि यथासम्भवं हेतून्यासः प्रतिपत्तव्यः।

अथवा अभिवन्द्यं। कम् ? समन्तभद्रं समन्तभद्राचार्यम्। कीदृशम् ? श्रीवर्धमानं श्रिया निखिलविद्यालङ्कार-निरवद्यस्याद्वादविद्याविभवाधिपत्यलक्षणया लक्ष्म्या वर्द्धमानमेधमानम्। साक्षात्कृतसकलवाङ्मयत्वेन समस्तविद्याविदां परमैश्वर्यमातिष्ठमानस्य स्याद्वादविद्याग्रगुरोर्महामुनेः श्रीवर्द्धमानतायां विवादाभावात्। भूयः कीदृशम् ? उद्भूतबोध-महिमानम्। उद्भूतो बोधस्य महिमा भव्यानां कलिकालेप्यकलङ्कभावाविर्भावाय स्याद्वादतत्त्वसमर्थने पटिमा यस्य

आप्तमीमांसा नाम की स्तुति जिन्होंने रची है, ऐसे श्री समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करके यह आप्त मीमांसा की टीका मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

[अथवा तीसरा अर्थ–यहाँ आप्तमीमांसा को नमस्कार करते हैं।]

इस आप्त मीमांसा स्तुति को मैं नमस्कार करता हूँ। कैसी है वह स्तुति? "अनिन्द्यवाचं" प्रत्यक्षादिप्रमाणों से अबाधित एवं पूर्वा पर विरोध से रहित वचन जिसमें हैं। पुनः कैसी है? "श्री वर्धमानं" जो स्यात्कार लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त–अभ्युदयशील है। पुनः कैसी है? "समन्तभद्र" सब तरफ से भद्र–कल्याण स्वरूप है, सभी के हृदय को आल्हादकारी तत्व स्वरूप आगम वो ही अमृत उसके निर्झर से जो रमणीय है।

पुनः यह स्तुति कैसी है? "उद्‌भूत बोध महिमानं।" जिसमें अनेकांत तत्व की महिमा प्रगट है अर्थात् पाप रूप एकान्तवाद वही हुआ अंधकार, उसको नाश करने में प्रचंड सूर्य के समान जिसमें ज्ञान है। इन विशेषणों से विशिष्ट इस आप्तमीमांसा स्तुति को नमस्कार करके, शास्त्र जो तत्वार्थ सूत्र है उसके प्रारम्भ में रचित जो मंगलाचरण स्तुति–"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भूभृतां" आदि इस स्तुति के विषय को प्राप्त जो आप्त—भगवान उनकी मीमांसा-परीक्षा जिसमें है ऐसी यह आप्तमीमांसा नामक स्तोत्र की टीका मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

तम्। भूयोपि कीदृशम्? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्या सप्तभङ्गीसमालिङ्गिता वागाप्तमीमांसास्तुतिर्यस्य तम्। अनेन स्याद्वादविद्याविपत्यं भव्याकलङ्कभावाविर्भावनावैदग्ध्यं तीर्थप्रभावनाप्रागल्भ्यमिति विशेषणत्रयेण तीर्थमित्येतदादौ कृत्वेत्येतदन्ते वृत्तांशे वाक्यत्रयोपदर्शितं सूरेर्विशेषणत्रयं संबोधितम्। तत्राद्येन विशेषणेन सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वाद-पुण्योदधेरुद्धृत्यैतद्वाक्यमाश्लिष्टं भगवानयमाचार्यः स्याद्वादविद्याविभवाधिपतिस्तद्विद्यामहोदधेरुद्धृत्य प्रकरणमारचयितृत्वात्। यथा सकलश्रुतविद्यामहोदधेरुद्धृत्योत्तराध्ययनप्रकरणमारचयन् भद्रबाहुस्तद्विद्याविभवाधिपतिरित्युपपादनात्। द्वितीयेन भव्यानामकलङ्कभावकृतये काले कलावित्येतदिष्टं स्पृष्टम्। तृतीयेन तीर्थं प्राभावीत्येतदुपक्षिप्तमिति। विशेष्यं तु प्रसिद्धमेव।

अथवाभिवन्द्य। कम्? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्या प्रमाणाबाधा पूर्वापरविरोधविधुरा वाग्व्याहृतिर्यस्मिन्नसाव-निन्द्यवाक् प्रस्तुतत्वात् समन्तभद्राचार्यकृतिराप्तमीमांसास्तवस्तम्। अनेन गामिति विशेष्यमालिङ्गतम्। कीदृक्षम्? श्रीवर्द्धमानम्। श्रिया नानाभङ्गीभावसुव्यक्तमूर्त्या स्यात्कारलक्ष्म्या वर्द्धमानमभ्युदयमानम्। अनेन सप्तभङ्गीविधिमिति विशेषणमुपगूढम्। भूयः कीदृक्षम्? समन्तभद्रं समन्तात्सर्वतो भद्रं सहृदयहृदयाल्हादितत्त्वागमसुधासारनिष्यन्दिसूक्ति-रमणीयमिति यावत्। अनेन स्याद्वादामृतगर्भिणीमिति विशेषणं परिरब्धम्। अनेकान्ततत्त्वाकलनात्मना पीयूषेण सान्तस्सारमिति गोशब्दस्य वेन्वर्थवृत्तितामभिसमीक्ष्य प्रतिपादनात्। भूयोपि कीदृक्षम्? उद्भूतबोधमहिमानम्। उद्भूतो बोधस्यानेकान्ततत्त्वप्रकाशस्य महिमा दुरितैकान्तवादतमस्काण्डखण्डने प्रचण्डिमा यस्माद्विनेयानां तम्। अनेन प्रतिहतै-कान्तान्धकारोदयामिति विशेषणं परिष्वक्तम्। गोशब्दस्य दीप्त्यर्थविषयतामाकलय्य निवेदनात्। शास्त्रं तत्त्वार्थसूत्रं तस्यावतारः प्रारम्भस्तस्मिन् रचिता यासौ स्तुति "मोक्षमार्गस्य नेतारं कर्मभूभृतां भेत्तार" मित्यादिस्तस्या गोचरो विषयोऽसावाप्तस्तस्य मीमांसितं या। अस्मिन् श्लोके पूर्वार्द्धेन भाष्यादिपद्यद्वयार्थः उत्तरार्द्धेन प्रथमभाष्यार्थश्च सङ्गृहीतः समस्तः। सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुगामिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।

[मंगलाचरणस्य महत्वं ग्रंथकर्तुरुद्देश्यञ्च]

श्रेयः[1] श्रीवर्द्धमानस्य परमजिनेश्वरसमुदयस्य समन्तभद्रस्य तदमलवाचश्च [2]संस्तवनमाप्तमीमांसितस्यालङ्करणे [3]तदाश्रयत्वादन्यतमासम्भवे तदघटनात्। [4]तद्वृत्तिकारैरपि तत एवोद्दीपीकृतेत्यादिना तत्संस्तवनविधानात्। [5]देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव[6] स्वयं[7] श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं[8] प्रयोजनमाक्षिप्तं[9] लक्ष्यते[10]। [11]तदन्यतरापायेऽर्थ[12]स्यानुपपत्तेः[13]। [14]शास्त्रन्यायानुसारितया [15]तथैवोपन्यासात् ※। इत्यनेन[16]

[मंगलाचरण का महत्व और ग्रन्थकर्त्ता का उद्देश्य]

श्री वर्धमान भगवान, समस्त तीर्थंकरों का समुदाय, श्री समन्त भद्र स्वामी और उनके निर्दोष वचन रूप स्तुति का संस्तवन ही कल्याणकारी है, क्योंकि आप्तमीमांसा की टीका करने में वे सब आश्रयभूत हैं। इनमें से एक किसी की भी स्तुति न करने से इसकी टीका नहीं हो सकती है। इस आप्तमीमांसा की प्रथमतः वृत्ति (टीका) करने वाले श्री भट्टाकलंक देव ने भी इसी विषय को अष्टशती नामक टीका करते समय "उद्दीपीकृत" इत्यादि श्लोक के द्वारा मंगलाचरण किया है। तथैव **"देवागम" इत्यादि मंगल-पूर्वक स्तुति के विषय को प्राप्त, परम आप्त भगवान के गुणातिशय की परीक्षा को स्वीकार करते हुए श्री समन्तभद्र स्वामी ने स्वयं अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन को सूचित किया है, ऐसा जाना जाता है। क्योंकि श्रद्धा और गुणज्ञता इन दोनों में से किसी एक के अभाव में देवागमस्तव में परीक्षा लक्षण अर्थ नहीं बन सकता है। अतः आचार्य पूर्वशास्त्र के आधार से ही अर्थात् तत्वार्थसूत्र का अवलंबन लेकर ही टीका करते हैं** ※। इस कथन से ग्रंथकार ने स्वरचित एवं स्वरुचि-विरचित शास्त्र का परिहार किया है।

---

१ ननु चेष्टदेवतामभिष्टुत्यैव सर्वेपि शास्त्रकृतः शास्त्रमुपक्रमन्ते न पुनःस्तुत्यस्तोतृस्तुतीस्तत्त्रयस्तोत्रमिदं शास्त्रादौ भगवता सूचितं कथं सौन्दर्यमास्कन्दतीत्याशङ्कायामाह श्रेय इत्यादि। २ इदं साध्यम्। अनेन श्लोकवर्त्त्यभिवन्द्यशब्दः संस्तवनार्थ एव न तु प्रणमनार्थ इति प्रकाशितः (तम्)। अनेनोपकारकरणार्थं स्तुत्यादित्रयसंस्तवनं कृतमिति प्रकाशितं **श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिरित्यादौ** तथैव श्रवणात्। अतएव तदाश्रयत्वात्तदन्यतमासम्भवे तदघटनात् अनेन सम्मितिर्दर्शिता भाष्यादिपद्यद्वयस्याभिप्रायश्च सूचितः, भाष्यानुसारेणैवालङ्कारः क्रियते इति च प्रकाशितः (तम्)। ३ पक्षः। ४ ननु चास्यालङ्करणस्य स्तुत्यस्तोतृस्तुतिनिमित्तकत्वेपि तत्र तत्त्रयस्तोत्रेण श्रेयसा भाव्यमिति कोयं नियम इत्याशङ्कायामाह तद्वृत्तिकारैरपीत्यादि। भट्टाकलङ्कदेवैः। ५ नन्वस्य भगवतः समंतभद्रस्य समन्तभद्रादयस्तित्त एव कृतयः श्रूयन्ते न तु शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं नाम कृतिस्तस्मात्कथमियं प्रतिज्ञा सुघटनामटतीत्युक्ते वक्ति देवागमेत्यादि। मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि। ६ स्वीकुर्वता समन्तभद्रस्वामिना। ७ स्वस्य समन्तभद्रस्य। ८ प्रेरकत्वं वाऽऽराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिस्तत्रात्यन्तमनुरागः श्रद्धा। ९ कटाक्षिसंसूचितमित्यर्थः। प्रतिज्ञातम्। स्वीकृतम्। सामर्थ्येनोपपन्नम्। मङ्गृहीतम्। १० (यतः) प्रयोजनाभावे शास्त्रकरणं न स्यात्। ११ तयोः श्रद्धागुणज्ञतयोर्मध्ये एकस्याभावे। १२ परीक्षालक्षणस्य। देवागमस्तवस्य। १३ प्रयोजनानुसारेण शास्त्रकरणं घटते। १४ अनुपपत्तिः कुत इत्याह पूर्वशास्त्रानुसारितया। १५ ग्रन्थकारस्य तत्त्वार्थशास्त्रप्रसिद्धानुसारित्वेन स्वोपज्ञान्तत्वस्वरुचिविरचितत्वपरिहारलक्षणप्रयोजनेन मङ्गलपुरस्सरस्तवविषये- त्यादिप्रकारेणैवोपन्यासात्। अन्यथानुपपत्तिप्रकारेण परीक्षात्वेन वा। १६ वृत्तिग्रन्थेन।

ग्रन्थकारस्य[1] श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे [2]प्रयोजने साध्ये [3]शास्त्रारम्भस्तवविषयाप्तगुणा[4]तिशय[5]परीक्षोपक्षेपस्य[6] [7]साधनत्वसमर्थनात् । शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं देवागमाभिधानमिति निर्णयः[8] । [9]मङ्गलपुरस्सरस्तवो[10] हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते । मंङ्गलं पुरस्सरमस्येति मङ्गलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तवः इति व्याख्यानात् । तद्विषयो यः [11]परमाप्तस्तद्गुणातिशयपरीक्षा तद्विषयाप्तमीमांसितमेवोक्तम् ।

इस प्रकार से ग्रंथकार ने श्रद्धा, गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन रूप साध्य में शास्त्र के प्रारम्भ में रचित स्तव के विषय को प्राप्त परम आप्त के गुणातिशय की परीक्षा की स्वीकारता को हेतु बनाया है। शास्त्र के आदि में रचित स्तुति के विषय को प्राप्त आप्त की मीमांसा रूप यह शास्त्र "देवागमस्तोत्र" इस नाम का है—यह निर्णय हुआ क्योंकि मंगल-पूर्वक स्तव ही शास्त्र के आदि में रचित स्तुति कहलाती है। मंगल है पूर्व में जिसके, उसे मंगलपुरस्सर कहते हैं। शास्त्र-रचना के प्रारम्भ में रचित मंगलपुरस्सर स्तव कहलाता है उस स्तुति के विषयभूत परम आप्त भगवान्, उनके मोक्षमार्ग प्रणेतृत्वादि गुणातिशयों की परीक्षा ही तद्विषयक आप्तमीमांसा है।

भावार्थ—श्री विद्यानंद स्वामी का कहना है कि श्री वर्धमान भगवान्, सभी तीर्थंकरों का समुदाय एवं देवागम स्तोत्र के कर्त्ता श्री समंतभद्र स्वामी तथा उनके निर्दोष वचन इन सबकी मंगलाचरण के द्वारा मैंने स्तुति की है क्योंकि इनमें से किसी एक की भी स्तुति न करें तो इस आप्तमीमांसा की टीका को करने में हम समर्थ नहीं हो सकेंगे। एवं श्री भट्टाकलंक देव ने तो अष्टशती भाष्य में स्पष्ट ही कह दिया है कि इस ग्रंथ में आप्त-अर्हंत भगवान् की परीक्षा करने में श्रद्धा और गुणज्ञता ये दो ही प्रयोजन मुख्य हैं। यदि

---

१ ग्रन्थकारः पक्षः। २ प्रेरकत्वे। ३ मोक्षमार्गस्येत्यादि। ४ मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि। ५ विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्य (घटमानयोश्च) दौर्बल्यावधारणाय प्रवर्त्तमानो विचारः परीक्षा। सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं चेदेवं न स्यादित्येवं प्रवर्त्तते। ६ स्वीकारस्य। ७ श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनं पक्षः धर्मित्वं समन्तभद्राचार्यस्यास्ति। आप्तगुणातिशय परीक्षोपक्षेपान्यथानुपपत्तेः। ८ अर्थस्यानुभवगम्यस्य परीक्षाविशेपस्य गुणातिशयपरीक्षोपक्षिप्तस्यास्यैव तावद्देवागमाभिधानमिति निर्णयः। कथमिति चेदुच्यते। अस्य देवागमत्वान्निर्णये ग्रन्थकारस्य श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे प्रयोजने साध्ये साधनमिदं न भवत्येव स्वरूपासिद्धत्वात्। कथमिति चेद्देवागममन्तरेणान्यस्य मोक्षशास्त्रारम्भरचित "मोक्षमार्गस्य नेतार" मित्यादिस्तवनविषयाप्तगुणातिशयपरीक्षारूपायाः समन्तभद्राचार्यकृतेः सर्वथाप्यसम्भवात्। निश्श्रेयसपूर्वोक्तशास्त्रशब्दस्यार्थोयम्। ९ एतच्च विभावयति। १० नन्वेवमपि शास्त्रारम्भस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षैव देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामित्यनेन तयोरेकत्वेनाभिधानात्, न पुनः शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति। ततः कथमिदमुक्तम्।—शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रम्। देवागमाभिधानमित्युक्ते तद्गुणातिशयपरीक्षातदाप्तमीमांसितयोरेकत्वे साधिते तदाप्तमीमांसितमपि देवागमाभिधानं भविष्यत्येवेति स्वीकृत्य तयोरेकत्वसमर्थनार्थमाह।—मङ्गलपुरस्सरेत्यादि। ११ मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि।

[1]तदेवं [2]निश्श्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया[3] मंगलार्थतया च [4]मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छतां[5] [6]सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेष-[7]प्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसां [8]विदधानाः, श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनसः, कस्माद् देवागमादि-विभूतितोऽहं[9] महान्नाभिष्टुत[10] इति स्फुटं पृष्टा[11] इव स्वामिसमन्तभद्राचार्याः प्राहुः—

हमारे में श्रद्धा श्रौर भगवान के गुणों का ज्ञान नहीं है तो कथमपि उनकी परीक्षा नहीं की जा सकती है। यदि श्रद्धा या गुणज्ञता इन दोनों गुणों में से एक गुण नहीं हो तो भी श्राप्त की परीक्षा नहीं हो सकती है। इस कथन से यह जाना जाता है कि श्री समंतभद्र स्वामी भगवान के गुणों में विशेष रूप से श्रनुरक्त हो करके ही व्यंग्यात्मक शैली से श्राप्त की परीक्षा के बहाने से उनके महान गुणों की स्तुति कर रहे हैं। इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि जो व्यक्ति किसी देव, शास्त्र या गुरुश्रों की परीक्षा को करने में रुचि रखते हैं तो सबसे पहले उन्हें श्रद्धालु एवं गुणग्राही होना चाहिये न कि श्रश्रद्धालु श्रथवा दोषज्ञ, क्योंकि मात्र दोषग्राही व्यक्ति किसी के गुणों की परीक्षा करने में या किसी के गुणों का मूल्यांकन करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं; क्योंकि दोषग्राही बुद्धि से तो सामने वाले के गुणों में भी दोषारोपण कर दिया जाता है श्रतः परीक्षा करने में कुशल, श्रधिकारी व्यक्ति को ही किसी की परीक्षा में कदम उठाना चाहिये क्योंकि सभी को सभी की परीक्षा का श्रधिकार नहीं है।

उत्थानिका—इस प्रकार से निःश्रेयस शास्त्र (मोक्षशास्त्र) के श्रादि में मोक्ष के लिये जो कारण भूत हैं श्रौर श्री उमास्वामी श्राचार्य के द्वारा स्तुति को प्राप्त श्रतिशय गुण सहित जो भगवान श्राप्त हैं, उन्होंने श्री समंतभद्र स्वामी से प्रश्न किया है। कैसे हैं समन्तभद्र स्वामी ? मोक्षमार्ग ही श्रात्मा का हित है इस प्रकार स्वीकार करने वाले शिष्यों को सम्यक् उपदेश श्रौर मिथ्या उपदेश की जानकारी के लिये श्राप्तमीमांसा को करते हुये श्रद्धा श्रौर गुणज्ञता से जिनका मन युक्त है—उनसे भगवान ने प्रश्न किया कि हे समन्तभद्र ! "देवागम श्रादि विभूति से मैं महान हूँ पुनः श्राप मेरी स्तुति क्यों नहीं करते हैं ?" इसप्रकार स्पष्टतया भगवान के प्रश्न करने पर ही मानों समन्तभद्र स्वामी कहते हैं—

---

१ ननु च मीमांसितं, परीक्षा, विचार इत्यनर्थान्तरं तच्च वादिप्रतिवादिभ्यां भवितव्यम्। तथा च सति समन्तभद्राचार्यस्य महावादिनः प्रतिवादी न कश्चिन्मनुष्यमात्रः सम्भवत्येव (श्रवटुतटमटति झटिति स्फुटतटवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा। वादिनि समन्तभद्रे कान्येषां संकथा तत्र) ततः कथमाप्तमीमांसाविधानमुपपद्यते इति पृष्टः सन्नाचष्टे तदेवमित्यादि। तदेवमुक्तन्यायेनेत्यर्थः। २ तत्त्वार्थसूत्रस्य। ३ मोक्षनिमित्तं मङ्गलनिमित्तमाचार्याः शास्त्रं कुर्वन्ति। ४ उमास्वामिपादैः गृद्धपिच्छाचार्यापरनामधेयैः "श्राचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः। एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दी वितन्यते" ॥१॥ "तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वात्प्रकटीकृतसन्मतः। उमास्वामिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥ २ ॥ (टिप्पण्यन्तरम्)। ५ विनेयानाम्। ६ यसः (द्वन्द्वसमासः)। ७ श्रर्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासादिति पूर्वोक्तभाष्यांशविवरणमिदम्। एवं यथायोग्यं ज्ञातव्यम्। ८ कुर्वाणाः समन्तभद्राचार्याः। ९ जिनः, परमेष्ठी। १० तत्त्वार्थसूत्रकारैः। ११ मोक्षमार्गस्य नेता कर्मभूभृतां भेत्ता विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति विशेषणत्रयेणाहं स्तुतः सूत्रकृता भो समन्तभद्राचार्या देवागमादिविभूत्या त्वं महानिति कुतोहं नाभिष्टुत इति पृष्टा इव।

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते 'नातस्त्वमसि[2] नो[3]महान् ।।१।।

देवागमादीनामादिशब्देन प्रत्येकमभिसम्बन्धनाद्देवागमादयो[4] नभोयानादय[5]श्चामराद-यश्च[6] विभूतयः परिगृह्यन्ते ताश्च भगवतीव मायाविष्वपि मस्करिप्रभृतिषु दृश्यन्ते इति तद्वत्तया[1] भगवन्नोस्माकं परीक्षाप्रधानानां महाञ्च स्तुत्योसि । [8]**आज्ञाप्रधाना [9]हि त्रिद-शागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिन्हं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयस्तादृशो[6] मायाविष्वपि [10]भावादित्यागममाश्रयोयं[11] स्तवः**※ । श्रेयोमार्गस्य प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान् देवागमन-भोयानचामरादिविभूतिमत्त्वाद्यन्यथानुपपत्तेरिति हेतोरप्यागमाश्रयत्वात्[12] । तस्य च प्रति-वादिनः[2] प्रमाणत्वेनासिद्धेः तदागमप्रामाण्यवादिनामपि विपक्षवृत्तितया गमकत्वायोगात्[13]। तदागमादेव हेतोर्विपक्षवृत्तित्वप्रसिद्धेः ।

कारिकार्थ—आप के जन्म कल्याणक आदिकों में देवों का आगमन, आप का आकाश मार्ग में गमन एवं समवसरण में चामर छत्र आदि अनेक विभूतियों का होना आदि यह सब बाह्य वैभव मायावी विद्याधर मस्करी आदिकों में भी पाया जा सकता है अतः हे भगवन् ! हम लोगों के लिए आप महान नहीं है, स्तुति करने योग्य नहीं हैं ।।१।।

इस कारिका के आदि पद को प्रत्येक पद के साथ लगाना चाहिए । इससे देव चक्रवर्ती आदिकों का आगमन, आकाश में गमन, चतुर्मुख आदि, चामर, छत्र, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ ग्रहण की जाती हैं–ये विभूतियाँ जिस प्रकार अर्हन्त भगवान में देखी जाती हैं उसी प्रकार मायावी मस्करी, पूरण आदिकों में भी पाई जा सकती हैं । इसलिए हे भगवन् ! हम जैसे परीक्षा-प्रधानी महापुरुषों के लिए आप स्तुति करने योग्य नहीं हैं । हाँ ! **जो आज्ञा प्रधानी हैं वे ही अर्हंत भगवान के देवागम, नभोयान आदि वैभव को परमात्मा का चिह्न समझ कर नमस्कार करते हैं न कि हम जैसे परीक्षा-प्रधानी जन, क्योंकि वैसा वैभव मायावी जनों में भी पाया जाता है। अतः इस प्रकार का स्तवन आगम के आश्रित है ।**※

यथा—"मोक्ष मार्ग के प्रणेता भगवान स्तुति करने योग्य महान हैं, क्योंकि देवागम नभोयान चामरादि विभूतियों का अन्यथा होना संभव नहीं है।"

---

१ इति हेतोः । अथवा देवागमादिविभूतितः । २ वर्द्धमानः । ३ अस्माकं परीक्षाप्रधानानां समन्तभद्रादीनाम् । ४ चक्रवर्त्यागमादि । ५ चतुरास्यत्वादि । ६ सुरपुष्पवृष्ट्यादि ७ परीक्षाप्रधानानां स्तुत्यो नासीत्यादि भावयति । ८ आज्ञावशवर्तिनः नान्यथाभाषितमिति वदंति शास्त्रविचारं न जानंतीति आज्ञासम्यक्त्ववशवर्तिनः । ९ देवागमा-दिचिह्नस्य । १० इति हेतोः । ११ देवागमादिविभूतितस्त्वं महानित्ययम् । १२ महत्वाभावे । १३ जैनागमसत्यवादिनां स्याद्वादिनामपि विपक्षेषु मस्करिप्रभृतिषु प्रवर्त्तमानत्वाद्धेतोः साधकत्वासम्भवात् ।

---

1 देवागमादिविभूतियुक्तितया 2 मीमांसकस्य ।

[विभूतिमत्त्वहेतोर्निर्दोषत्व-साधने युक्तिः]

परमार्थपथप्रस्थायियथोदितविभूतिमत्त्वस्य हेतोर्मायो[1]पदर्शिततद्विभूतिमद्भिर्मायाविभिर्न व्यभिचारः [2]सत्यधूमवत्त्वादेः पावकादौ साध्ये स्वप्नोपलब्धधूमादिमता देशादिनानैकान्तिकत्वप्रसंगात् सर्वानुमानोच्छेदात्[1]।

[तटस्थ जैनेन समाधान-जनकं प्रत्युत्तरं कारिकाया द्वितीयोऽर्थश्च]

इति चेत् तर्हि मा भूदस्य[3] हेतोर्व्यभिचारः पारमार्थिक्यः पुरन्दरभेरीनिनादादिकृत-[4]प्रतिघातागोचरचारिण्यो यथोदितविभूतयस्तीर्थंकरे भगवति त्वयि तादृश्यो मायाविष्वपि नेत्य[5]तस्त्वं[6] महानस्माकमसीति[7] व्याख्यानाद्ग्रन्थविरोधाभावादिति[8] कश्चित्,[9]

यह हेतु भी आगमाश्रित है इसलिए यह हेतु प्रतिवादी को प्रमाण रूप से मान्य नहीं है, क्योंकि वे लोग भी अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। अतः विपक्ष में चले जाने से यह हेतु गमक (अपने साध्य को सिद्ध करने वाला) नहीं हो सकता है। उनके आगम में भी चले जाने से इस हेतु में विपक्षवृत्तित्व सिद्ध ही है।

[विभूतिमत्व हेतु को निर्दोष मानने में युक्ति]

अब कोई प्रश्न करता है कि वास्तविक आगम कथित विभूतिमान् जो हेतु है वह माया से उपदर्शित विभूति वाले मायावी जनों के साथ व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि मायावी जनों में उस प्रकार की विभूतियाँ नहीं पाई जाती हैं, यदि ऐसा नहीं मानोगे तो सत्य धूमवत्वादिक हेतु से अग्नि आदि साध्य के सिद्ध करने में स्वप्न में उपलब्ध हुए धूमादिमान प्रदेशादिक से भी व्यभिचार मानना पड़ेगा और पुनः सभी अनुमानों का उच्छेद हो जायेगा।

[तटस्थ जैनी द्वारा समाधान-जनक उत्तर एवं कारिका का द्वितीय अर्थ]

अब यहाँ कोई तटस्थ जैनी उत्तर देता है कि यदि ऐसी बात है तो इस "देवागमत्व हेतु को व्यभिचारी मत मानिये, किन्तु ऐसा अर्थ कर लीजिए कि देवादिकों के भेरी निनाद आदि के द्वारा होने वाली एवं विनाश को न प्राप्त होने वाली, ऐसी वास्तविक, यथोदित (शास्त्र में कही गई) विभूतियाँ जिस प्रकार की आप तीर्थंकर भगवान में हैं, उस प्रकार की मायावी जनों में नहीं हैं। अतएव आप हम लोगों के लिए महान हैं—इस श्लोक का ऐसा अर्थ करने पर ग्रन्थ में भी विरोध नहीं आता है।

---

१ माययोपदर्शिताश्च तास्तद्विभूतयो देवागमादिविभूतयस्तास्सन्ति येषां मायाविनां ते मायोपदर्शिततद्विभूतिमन्तस्तैः। २ अत्राह कश्चित्स्वमतवर्ती 'हे समन्तभद्राचार्या! मायाविभिः कृत्वास्य हेतोर्व्यभिचारो नास्ति तदेव सत्यधूमवत्त्वादेरित्यादिना दर्शयति। ३ देवागमादिमत्त्वस्य। ४ विनाश। ५ मायाविषु तादृश्यो विभूतयो न दृश्यन्ते। ६ इति हेतोः। ७ देवागमादिश्लोकस्यैवं व्याख्यानादित्यर्थः। ८ व्यभिचाराभावे देवागमेत्यादिग्रन्थविरोध इत्यत आह ग्रन्थविरोधाभावात्। ९ तटस्थः स्वमतवर्ती पृच्छति।

---

1 सर्वानुमानोच्छेदापत्तेः—इति पाठांतरम्।

[पुनरप्याचार्यास्तर्केण हेतोर्व्यभिचारं साधयंति]

सोपि कुतः प्रमाणात्प्रकृतहेतु[1] [2]विपक्षासम्भविनं प्रतीयात्[3] ? न तावत्प्रत्यक्षादनुमानाद्वा [4]तस्य [5]तदविषयत्वात् । नाप्यागमादसिद्ध[6]प्रामाण्यात्तत्प्रतिपत्तिरतिप्रसंगात् । [7]प्रमाणतः[1] सिद्धप्रामाण्यादागमात्तत्प्रतिपत्तौ ततः [8]साध्यप्रतिपत्तिरेवास्तु [9]परम्परापरिश्रमपरिहारश्चैवं[10]प्रतिपत्तुः स्यात् । ततः[11] सूक्तं सर्वथा नातो हेतोस्त्वमसि नो महांस्तस्यागमाश्रयत्वादिति ।

[पुनः आचार्य तर्क द्वारा हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करते हैं]

इस पर श्री विद्यानन्दि स्वामी प्रश्न करते हैं कि आप किस प्रमाण से प्रकृत हेतु (देवागमनादि) को विपक्ष में असंभवी निश्चित करते हैं–प्रत्यक्ष से या अनुमान से ?

इन दोनों प्रमाणों से भी चामरादि विभूतिमत्व हेतु की सिद्धि नहीं हो सकती है और सिद्ध नहीं है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से भी यह हेतु विपक्ष-व्यावृत्ति रूप सिद्ध नहीं हैं। यदि आप कहें अनुमान प्रमाण से सिद्ध है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से इस हेतु को सिद्ध करेंगे तो इस आगम से महानपने रूप साध्य की ही सिद्धि हो जावे जिससे कि प्रतिपत्ता -ज्ञाता के परंपरा से होने वाले परिश्रम का परिहार हो जाता है। अर्थात् आगम से विभूतिमत्व हेतु की सिद्धि, पुनः इस हेतु से भगवान के महानपने रूप साध्य की सिद्धि होती है। अतः इस परंपरा परिश्रम से कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु स्वयं आगम से ही साध्य की सिद्धि कर सकते हैं, इसलिए यह ठीक ही कहा है कि सर्वथा इस 'विभूतिमत्वादि' हेतु से आप हम लोगों के लिए महान नहीं हैं क्योंकि यह हेतु आगमाश्रित है।

भावार्थ—ग्रन्थकर्त्ता का कहना है कि विभूतिमत्व हेतु से हम भगवान को महान समझकर नमस्कार नहीं करते हैं। इस पर कोई जैन ही कह देता है कि जैसी विशेष एवं सच्ची विभूतियाँ अर्हंत भगवान में हैं वैसी अन्य मायावी जनों में हो ही नहीं सकती हैं। इस पर कोई दूसरा तटस्थ जैन उत्तर देता है कि पुनः इस हेतु को व्यभिचारी मत मानिये एवं कारिका के अर्थ में 'न' शब्द को "मायाविष्वपि" के साथ लगाकर अर्थ कर लीजिये, जिससे भगवान अर्हंत इन विभूतियों से ही महान् हैं

---

१ देवागमादिहेतुम् । २ मष्करिष्वसम्भविनम् । ३ निश्चीयात् । ४ विभूतिमत्त्वादिहेतोः । ५ तयोः प्रत्यक्षानुमानयोरगोचरत्वात् प्रत्यक्षाच्चामरादिविभूतिर्न दृश्यते नाप्यनुमानेन हेतोरसिद्धेरिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यां हेतुरयं गोचरो न । ६ असिद्धप्रमाणत्वादागमात्तस्य हेतोः परिज्ञानं चेत्तदातिप्रसङ्गः । ७ अयमागमो धर्मी प्रमाणं भवितुमर्हति पूर्वापरविरोधरहितत्वादित्यनुमानात् प्रमाणात् । ८ महानिति । ९ आगमाद्धेतुप्रतिपत्तिस्ततः साध्यसिद्धिरिति परम्परापरिश्रमस्तस्यपरिहारः । १० आगमात्साध्यप्रतिपत्तिप्रकारेण । ११ निर्विशेषे सति विशेषव्याख्यानद्वयस्यागमाश्रितत्वं यतः ।

---

1 यदि प्रमाणादागमसिद्धिरागमात्साध्यसिद्धिर्हेतुना किं प्रयोजनम् ।

तर्ह्यन्तरंगबहिरंगविग्रहादिमहोदयेनान्यजनातिशायिना[1] सत्येन[2] स्तोतव्योहं[3] महानिति भगवत्पर्यनुयोगे[4] सतीव प्राहुः ।—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।
दिव्यः सत्यो [5]दिवौकस्स्वप्यस्ति[6] [7]रागादिमत्सु सः ॥२॥

आत्मानमधिश्रित्य वर्त्तमानोऽध्यात्ममन्तरंगो विग्रहादिमहोदयः शश्वन्निःस्वेदत्वादिः

अतः हम लोगों के लिये पूज्य हैं क्योंकि मायावीजनों में ये विभूतियाँ नहीं पाई जाती हैं, ऐसा अर्थ करके परस्पर में समाधान कर देने पर श्री विद्यानंद स्वामी कहने लगे कि यह "विभूतिमत्व" हेतु अन्य के भी आगम में चला जाता है। अतः विपक्ष में चले जाने से यह व्यभिचारी है क्योंकि सभी मतावलंबी जन अपने-अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहे वह हेतु व्यभिचारी कहलाता है जैसे कि "आकाश नित्य है क्योंकि वह ज्ञान का विषय है" अब यहाँ ज्ञान का विषय रूप "ज्ञेयत्व" हेतु व्यभिचारी है। क्योंकि यह घट पट आदि अनित्य पदार्थों में भी पाया जाता है। तथा "इस पर्वत पर अग्नि है क्योंकि धूमवाला है" यहाँ यह धूमवत्व हेतु पक्षरूप पर्वत पर है एवं सपक्ष रूप रसोईघर में भी है तथा विपक्षभूत तालाब में नहीं है अतः यह हेतु व्यभिचारी नहीं है। उपर्युक्त व्यभिचारी हेतु का दूसरा नाम अनैकांतिक भी है।

उत्थानिका—पुनः मानो साक्षात् भगवान ही समन्तभद्र स्वामी से प्रश्न कर रहे हैं–कि हे समन्तभद्र ! बाह्य विभूति से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही, किन्तु अन्य मस्करी पूरण आदि जनों में नहीं पाये जाने वाले, ऐसे वास्तविक अन्तरंग, बहिरंग विग्रहादि महोदय हैं, उनके द्वारा तो मैं तुम्हारे स्तवन करने योग्य महान अवश्य ही हूँ।

इस प्रकार के प्रश्न करने पर ही मानों समन्तभद्र स्वामी कहते हैं :—

कारिकार्थ—अंतरंग विग्रह आदि महोदय-निरंतर पसीना रहितपना आदि एवं बहिरंग-गन्धोदक वृष्टि आदि महोदय जो कि दिव्य हैं, सत्य अर्थात् वास्तविक हैं। इस प्रकार अन्तरंग, बहिरंग शरीर आदि महोदय भी मस्करीपूरण आदि में न होते हुए भी रागद्वेष-युक्त देवों में पाये जाते हैं, इसलिए भी हे भगवन् ! आप महान् नहीं हैं ॥२॥

---

१ मस्करिपूरणाद्यन्यजनेभ्योतिशयवता । २ परमार्थभूतेन । ३ अहं पक्षः महान् भवामीति साध्यो धर्मः अन्तरङ्ग-बहिरङ्गविग्रहादिमहोदयसद्भावान्यथानुपपत्तेः । ४ प्रश्ने । ५ अक्षीणकषायेषु देवेषु । ६ वर्तते यस्मात्तस्मात्त्वं महान्न । अथवा किमस्तीति काकुः नास्तीत्यर्थः । अतस्त्वं महानस्माकमसीत्यभिप्रायो भगवतः । ७ आदिशब्दान्मोहद्वेषमदाहङ्काराणां ग्रहणम् ।

परानपेक्षत्वात्[1] । ततो बहिर्गन्धोदकवृष्टयादिर्बहिरंगो देवोपनीतत्वात् । स च सत्यो मायाविष्वसत्त्वात् । दिव्यश्च [2]मनुजेन्द्राणामप्यभावात् । स एष बहिरन्तःशरीरादिमहोदयोपि[1] पूरणादिष्वसम्भवी व्यभिचारी स्वर्गिषु भावादक्षीणकषायेषु । [3]ततोपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते॥ ।

[अत्र कश्चित्तटस्थजैनः महोदयत्वहेतुं निर्दोषं साधयति]

अथ[4] यादृशो घातिक्षयजः स[5] भगवति न तादृशो देवेषु [6]येनानैकान्तिकः स्यात् । [7]दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते

[पुनरपि आचार्या हेतुं सदोषं साधयंति]

तथाप्यागमाश्रयत्वादहेतुः पूर्ववत्[8] । ननु प्रमाणसंप्लववादिनां[9] प्रमाणप्रसिद्ध-

---

आत्मा का आश्रय लेकर जो होवे उसे अध्यात्म कहते हैं अर्थात् अन्तरंग शरीरादि महोदय हमेशा मल-मूत्र, पसीना आदि से रहित अवस्था विशेष, जो कि पर मंत्रादि किसी की भी अपेक्षा नहीं रखते हैं उससे भिन्न वाह्य-गन्धोदक, पुष्प वृष्टि आदि वहिरंग महोदय होते हैं जो कि देवों के द्वारा किये जाते हैं। ये दोनों प्रकार के महोदय सत्य (वास्तविक) हैं, क्योंकि ये मायावी जनों में नहीं पाये जाते हैं और दिव्य हैं क्योंकि चक्रवर्ती आदि महापुरुषों में भी इनका अभाव है। इस प्रकार ये "वहिरंग, अन्तरंग शरीरादिक महोदय" भी मस्करीपूरण आदि में असम्भव हैं, तो भी रागादिमान्–कषाय सहित देवों में पाये जाते हैं अतः व्यभिचारी हैं, इसलिए इस हेतु के द्वारा भी आप परमात्मा नहीं हैं अतः मेरे द्वारा स्तुत्य नहीं हैं।

[यहां कोई तटस्थ जैनी "विग्रहादि महोदयत्वात्" हेतु को निर्दोष सिद्ध करता है]

अव कोई तटस्थ जैनी कहता है कि जिस प्रकार का घातिया कर्म के क्षय से होने वाला अतिशय भगवान में है, उस प्रकार का देवों में नहीं है जिससे कि यह विग्रह आदि महोदय हेतु अनेकान्तिक होवे, अर्थात् यह हेतु व्यभिचारी नहीं है तथा यह विग्रहादि महोदय रागादिमान देवों में हैं? अर्थात् नहीं हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति रूप व्याख्यान के द्वारा अर्थ करने से आगम में भी वाधा नहीं आती है।

[पुनः आचार्य हेतु को सदोष सिद्ध करते हैं]

इस पर आचार्य श्री विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं कि यह हेतु भी पूर्ववत् आगमाश्रय होने से अहेतु है, क्योंकि यह हेतु विपक्ष में नहीं रहता है, यह कैसे जाना जाय। कोई कहता है कि आप जैनी तो

---

१ मन्त्राद्यनपेक्षत्वात्। २ चक्रवर्त्यादीनाम्। ३ हेतोर्व्यभिचारित्वात्। ४ यदि। आह स्वमतवर्त्ती। ५ विग्रहादिमहोदयः। ६ न केनापि। ७ किमस्तीति काकुः नास्तीत्यर्थः। ८ सोपि प्रकृतहेतुं विपक्षासम्भविनं कुतः प्रतीयादित्यादिसम्वन्धनीयम्। ९ वहूनां प्रमाणानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः प्रमाणसम्प्लवः। जैनानाम्।

---

1 अहं धर्मी महान् भवामि अंतरंगवहिरंगमहोदयसद्भावान्यथानुपपत्तेः।

प्रामाण्यादागमात्साध्यसिद्धावपि[1] तत्प्रसिद्धसाधनजनितानुमानात्पुनस्तत्प्रतिपत्तिरविरुद्धैवेति चेन्न, [2]उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवस्यानभ्युपगमात् । सति हि प्रतिपत्तुरुपयोग-विशेषे [3]देशादिविशेषसमवधानादागमात्प्रत्तिपन्नमपि[4] हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्प्र-तिपित्सते । तत्प्रतिबद्धधूमादिसाक्षात्करणात्प्रतिपत्तिविशेषघटनात् [5]पुनस्तमेव प्रत्यक्षतो बुभुत्सते । [6]तत्करणसम्बन्धात्तद्विशेष[7]प्रतिभाससिद्धेः[8] । न [9]चैवमागममात्रगम्ये साध्ये साधने च [10]तत्प्रतिपत्तिविशेषोस्तीति [11]किमकार[12]णमत्र[13] प्रमाणसंप्लवोभ्युपगम्यते [14]प्रत्यक्ष-निश्चतेग्नौ धूमे च तदभ्युपगमप्रसंगात् । सर्वथा विशेषाभावात् । ततो देवागमनभोयानचा-मरादिविभूतिभिरिवान्तरंगबहिरंगविग्रहादिमहोदयेनापि न स्तोत्रं भगवान् परमात्मार्हति ।

प्रमाण सम्प्लववादी हैं, अतः प्रमाण से प्रसिद्ध है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से साध्य की सिद्धि, अर्थात् भगवान का महत्व सिद्ध हो जाने पर भी आगम से प्रसिद्ध हेतु से उत्पन्न होने वाले अनुमान प्रमाण से पुनरपि साध्य की सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उपयोग विशेष के अभाव में हमने प्रमाण सम्प्लव को स्वीकार नहीं किया है।

जानने वाले ज्ञाता का उपयोग-प्रयोजन विशेष होने पर ही देश, कालादि विशेष से निर्णीत आगम से निश्चित जाने गये भी अग्नि को अनुमान विशेष से जानना चाहता है, एवं साध्य से सम्बद्ध धूमादि के साक्षात् करण से ज्ञान विशेष होता है, पुनः वह ज्ञाता उस साध्य अग्नि आदि को प्रत्यक्ष से जानना चाहता है, क्योंकि साध्य 'अग्नि' का चक्षु इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से उनका विशेष पीत वर्ण रूप भासुराकार प्रतिभास सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रमाण संप्लव के द्वारा आगम मात्र गम्य साध्य और साधन में साध्य का परिज्ञान विशेष नहीं हो सकता है।

अतः यहाँ पर व्यर्थ ही प्रमाण संम्प्लव को स्वीकर करने की क्या आवश्यकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं है। यदि कारण के बिना भी प्रमाण-संप्लव स्वीकार करेंगे तो प्रत्यक्ष से निश्चित हुई अग्नि और धूम में भी प्रमाण-सम्प्लव मानने का प्रसंग आयेगा। सर्वथा यहाँ पर भी विशेष का अभाव है, इस-लिए 'देवागम नभोयान चामरादि विभूतिमत्व' के समान अन्तरंग, वहिरंग विग्रहादि महोदय के द्वारा भी आप भगवान-परमात्मा स्तवन करने योग्य नहीं हैं।

भावार्थ—पुनरपि ग्रंथकर्त्ता "विग्रहादि महोदयत्व" हेतु से भी भगवान् को महान् मानने को तैयार नहीं है। इस पर भी कोई तटस्थ जैन कहता है कि घाति कर्म के क्षय से होने वाले जो दिव्य

---

१ महत्ता। २ परिच्छित्ति। ३ कालस्वरूपम्। ४ निर्णयात्। ५ पुनः स प्रतिपत्ता तं हिरण्यरेतसं साक्षाद्बोद्धु-मिच्छति। कस्मात्? अग्निनेत्रेन्द्रियसंयोगात्साध्यविशेषप्रतिभासः सिद्धयति यतः। ६ इन्द्रियेण। ७ पिङ्गभासुराकार। ८ विशेषप्रतिभाससिद्धेरिति वा पाठः। ९ अग्निप्रकारेण। १० प्रमाणसंप्लवेन तस्य साध्यस्य परिज्ञानविशेषो नास्ति। ११ किमिति किमर्थम्। १२ कारणं विना। १३ साध्ये। १४ अग्नौ धूमे च प्रत्यक्षं निश्चिते सति तस्य प्रमा-णसंप्लवस्याङ्गीकारप्रसङ्गो घटते।

तर्हि तीर्थकृत्सम्प्रदायेन[1] स्तुत्योहं महानिति भगवदाक्षेपप्रवृत्ताविव[2] साक्षादाहुः—

तीर्थकृत्समयानां[3] च परस्परविरोधतः[4] ।
[5]सर्वेषामाप्तता[6] नास्ति [7]कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

अतिशय हैं वे रागादिमान् देवों में असंभव हैं अतः कारिका के अर्थ में वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ करके प्रश्न वाचक कर देने से, मतलब ये विग्रहादि महोदय रागादिमान देवों में हो सकते हैं क्या ? अर्थात् नहीं हो सकते हैं ऐसा अर्थ कर देने से आगम में भी बाधा नहीं आती है। इस समाधान पर भी श्री विद्यानंद स्वामी कहते हैं कि यह हेतु आगमाश्रित होने से अनैकांतिक ही है। इस पर किसी का कहना है कि आप जैन प्रमाण संप्लव को मानते हैं अतः प्रमाण से प्रसिद्ध प्रमाणता वाले आगम प्रमाण से भगवान् का महत्व सिद्ध करो, पुनः प्रसिद्ध हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान प्रमाण से भी भगवान का महत्व सिद्ध करो, इस प्रकार से आप जैनों के यहाँ तो कोई भी बाधा नहीं है अर्थात् बहुत से प्रमाणों का एक ही साध्य को सिद्ध करने में प्रवृत्त हो जाना प्रमाण संप्लव कहलाता है। जैसे किसी पुस्तक में पढ़ा कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। पुनः सामने के पर्वत पर धूम को देखकर अनुमान से जाना कि यहाँ अग्नि अवश्य है, तदनंतर कदाचित् उसी पर्वत पर चढ़ गये अथवा रसोई घर में गये एवं अग्नि को प्रत्यक्ष चक्षुइंद्रिय से देखा। इस अग्निरूप साध्य को सिद्ध करने में आगम, अनुमान एवं प्रत्यक्ष ऐसे तीन प्रमाण प्रवृत्त हुये हैं। कोई-कोई इस विषय में आगे के प्रमाण को अपूर्वार्थग्राही न होने से दोष मानते हैं किन्तु जैनाचार्य इसे दोष नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक प्रमाण आगे-आगे कुछ विशेष-विशेष अंशों को ग्रहण करने वाले होने से अपूर्वार्थग्राही ही हैं इत्यादि। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हम प्रयोजन के बिना ही प्रमाण संप्लव को नहीं मानते हैं। जहाँ प्रयोजन विशेष होता है वहीं पर मानते हैं, नहीं तो एक बार अग्नि को प्रत्यक्ष से देखकर भी उसका अनुमान लगाते बैठेंगे।

उत्थानिका—तब तो देवों में भी असंभवी ऐसे आगम रूप तीर्थकृत संप्रदाय के द्वारा तो मैं अवश्य ही स्तुति करने योग्य महान हूँ, इस प्रकार मानों भगवान के साक्षात् प्रश्न करने पर ही श्री समन्तभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुए के समान ही कहते हैं :—

कारिकार्थ—परमागम लक्षण तीर्थ को करने वाले तीर्थकृत् कहलाते हैं। उनके समय

---

१ दिवौकस्स्वप्यसम्भविना आगमेन। २ प्रश्नप्रवृत्तौ सत्याम्। ३ तीर्थं परमागमलक्षणं कुर्वन्ति ये ते तीर्थकृतो जैनव्यतिरिक्तवादिनः कपिलादयस्तेषां समया आगमास्तेषाम्। ४ स्वकीयस्वकीयभिन्नाभिप्रायेण। ५ मीमांसक, सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्त्वोपप्लववादि, योग, ब्रह्माद्वैतवादि, पुरुषाद्वैतवादि, चित्राद्वैतवादी, शब्दाद्वैतवादि, ज्ञानाद्वैतवादिप्रमुखाणां वादिनामेकान्तमताश्रयिणाम्। ६ यथाभूतार्थोपदेष्टृत्वम्। ७ परमतापेक्षया काक्वा व्याख्यानं, कश्चित्किं गुरुर्भवेदपितु न कश्चिद्गुरुर्भवेदिति। जैनमतापेक्षयायमर्थो ग्राह्योऽस्याः कारिकायाः, कः परमात्मा चिदेवार्हन् केवल्येवाप्तो भवेन्नान्यः। भवं यन्ति ये ते भवेतः संसारिणस्तेषां गुरुर्भवेद्गुरुरित्येकपदं ज्ञेयम्। चार्वाकमते बृहस्पतेर्ग्रहणं ज्ञेयम्।

इति भगवतो महत्त्वे साध्ये तीर्थकरत्वं साधनं कुतः प्रमाणात् सिद्धम् ? न तावदध्यक्षात्तस्य [1]तदविषयत्वात्साध्यवत् । नाप्यनु[2]मानात्तदविनाभाविलिंगाभावात् । [3]समयात्सिद्धमिति चेत् पूर्ववदागमाश्रयत्वादगमकत्वमस्य व्यभिचारश्च । **न[4] हि तीर्थकरत्वमाप्ततां साधयति, शक्रादिष्वसम्भवि सुगतादौ दर्शनात्*** । यथैव[5] हि भगवति तीर्थकरत्वसमयोस्ति तथा सुगतादिष्वपि । सुगतस्तीर्थकरः, कपिलस्तीर्थकर इत्यादिसमयाः [6]सन्तीति सर्वे महान्तः स्तुत्याः स्युः । **न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्परविरुद्धसमयाभिधायिनः***। [7]तदुक्तम् ।

सुगतो यदि सर्वज्ञो कपिलो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः[8] कथं तयोः ।।

अर्थात् आगमों में परस्पर में भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है, अतः सभी को आप्तपना (सर्वज्ञपना) नहीं है, अर्थात् मीमांसक सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्वोपप्लववादी, यौग, ब्रह्माद्वैतवादी, ज्ञानाद्वैतवादी आदि अनेक एकान्तमतावलंबी वादियों में सभी के ही सर्वज्ञता नहीं हो सकती है, इसलिए कोई एक गुरु-परमात्मा अवश्य है ।।३।।

इस प्रकार भगवान में "महानपना" साध्य करने में तीर्थकरत्व हेतु भी किस प्रमाण से सिद्ध है ?

यह हेतु प्रत्यक्ष से तो सिद्ध नहीं है, क्योंकि साध्य के समान यह हेतु भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, न अनुमान से सिद्ध है क्योंकि साध्य जो महान है उसके साथ अविनाभावी लिंग नहीं पाया जाता है । यदि आप कहें—आगम से सिद्ध है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्ववत् आगमाश्रय होने से यह हेतु अगमक है—साध्य को सिद्ध करने वाला नहीं है । और विपक्ष में जाने से व्यभिचारी भी है ।

देखिये—**यह 'तीर्थंकरत्व' हेतु आप्तपने को सिद्ध नहीं कर सकता है । यद्यपि यह तीर्थंकरत्व हेतु देवादिकों में असंभवी है फिर भी बुद्ध आदिकों में पाया जाता है ।*** क्योंकि जिस प्रकार भगवान्-तीर्थंकर का आगम मौजूद है उसी प्रकार सुगत आदि में भी अपने-अपने तीर्थ को करने वाला आगम पाया जाता है । सुगत भी तीर्थंकर हैं, कपिल भी तीर्थंकर हैं, इस प्रकार आगम मौजूद है । अतः सभी ही महान एवं स्तुति के योग्य हो जावेंगे ।

किन्तु वे सभी सर्वदर्शी सर्वज्ञ नहीं हैं, क्योंकि परस्पर में विरुद्ध आगम का कथन करने वाले हैं ।*

जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा—

श्लोकार्थ—बुद्ध यदि सर्वज्ञ है और कपिल (सांख्य का गुरु) नहीं है इसमें क्या प्रमाण है

---

१ प्रत्यक्षागोचरत्वात् । २ भगवान् धर्मी महान् भवतीति साध्यस्तीर्थकरत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । यो महान्न भवति स तीर्थकरो न भवति यथा रथ्यापुरुषः तीर्थकरश्चासौ तस्माद् महान् भवतीति । ३ आगमात् । ४ व्यभिचारमेव भावयति । ५ एतन्नास्तीत्युक्ते आह । ६ आशङ्क्य । ७ कुमारिलेन । ८ सर्वथा क्षणिकं, सर्वथा नित्यमित्यादि ।

इति । **ततोऽनैकान्तिको हेतुः*** तीर्थकरत्वाख्यो न [1]कस्यचिन्महत्त्वं साधयतीति कश्चिदेव गुरुर्महान् भवेत् ? नैव भवेदित्यायातम्[2] । [3]**अत एव न कश्चित्पुरुषः सर्वज्ञः*** स्तुत्यः श्रेयोर्थिनां श्रुतेरेव[4] श्रेयःसाधनोपदेशप्रसिद्धेरित्यपरः[5] । तं प्रत्यपीयमेव कारिका योज्या । तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः [6]सर्वज्ञागमनिराकरणवादित्वात् । तेषां [7]समयास्तीर्थकृत्समयास्तीर्थच्छेदसम्प्रदाया भावनादि[8]वाक्यार्थप्रवादा इत्यर्थः । तेषां च परस्परविरोधादाप्तता संवादकता[9] [10]नास्तीति कश्चिदेव सम्प्रदायो भवेद्गुरुः [11]संवादको नैव भवेदिति व्याख्यानात् ।

और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं तो उन दोनों में मत भेद क्यों पाया जाता है, क्योंकि बुद्ध तो सर्वथा वस्तु को क्षणिक ही मानते हैं और सांख्य सर्वथा सभी वस्तु को नित्य ही मानते हैं ।

इसलिए **यह 'तीर्थंकरत्व' हेतु अनैकांतिक है,*** यह किसी भी पुरुष को "महान्" सिद्ध नहीं कर सकता है । अतः कोई गुरु-महान हो सकता है क्या ? अर्थात् नहीं हो सकता है ।

अब मीमांसक कहते हैं कि **इसीलिए मोक्षाभिलाषी के द्वारा कोई भी पुरुष–विशेष सर्वज्ञ स्तुति योग्य नहीं है ।*** श्रुति अर्थात् अपौरुषेय वेद के द्वारा ही मोक्ष के साधन भूत उपदेश की प्रसिद्धि है ।

ऐसा कहने वाले उन मीमांसकों के प्रति भी इस कारिका का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए–

"तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः" अर्थात् मीमांसकजन तीर्थ का नाश करने वाले तीर्थकृत् हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम का निराकरण करने वाले हैं । उनके आगम (उपदेश) तीर्थकृत् आगम हैं, अर्थात् तीर्थ के नाशक सम्प्रदाय वाले हैं–भावना, विधि, और नियोग रूप वेद वाक्यों के प्रतिपादक अर्थ करने वाले हैं। अर्थात् वेद वाक्यों का अर्थ कोई तो भावना रूप करते हैं, कोई उससे विरुद्ध विधिरूप करते हैं, एवं कोई उससे विरुद्ध नियोगरूप करते हैं । इसलिए उनमें परस्पर में विरोध होने से आप्तपना–संवादकपना सम्भव नहीं है। अतः कोई भी सम्प्रदाय गुरु-संवादक नहीं है, ऐसा व्याख्यान समझना चाहिए ।

भावार्थ—पुनरपि श्री समंतभद्र स्वामी भगवान को तीर्थकृत्त्व हेतु से भी महान सिद्ध नहीं कर रहे हैं । इस पर मीमांसक, चार्वाक और शून्यवादी को बोलने का मौका मिल जाता है । वे कहते हैं कि कारिका के "कश्चिदेव भवेद्गुरुः" इस अंतिम चरण का वक्रोक्ति के द्वारा प्रश्न वाचक अर्थ कर दीजिये कि सभी आगमों में परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः "क्या कोई गुरु भगवान् हो सकता है ?"

---

१ पुंसः । २ यत एवं ततस्तीर्थकरत्वनामा हेतुर्व्यभिचारी सन् कस्यचित् सुगतादेर्महत्त्वं न साधयति । ३ सर्वेषां तीर्थकरत्वप्रतिपादकत्वमस्ति यतः । ४ श्रेयोर्थिनां कथं श्रेय इत्युक्ते आह 'वेदात्' । ५ मीमांसकः । ६ सर्वज्ञप्रतिपादक । ७ उपदेशाः । ८ आदिशब्देन विधिनियोगौ । ९ संवादकताप्रेरणालक्षणभावनाज्ञानम् । १० संवादकता नास्ति यतः । ११ भावनारूपे ।

तदेवं वक्तव्यम् ।

भावना[1] यदि वाक्यार्थो नियोगो[1] नेति का प्रमा[2] । तावुभौ यदि वाक्यार्थो हतौ भट्टप्रभाकरौ ॥१॥ इति [2]कार्येर्थे चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा । [3]द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ ॥२॥ इति

अर्थात् नहीं हो सकता है। बस ! ऐसा अर्थ कर देने पर हम मीमांसकों का मत पुष्ट हो जाता है कि जगत में कहीं पर भी कोई सर्वज्ञ भगवान है ही नहीं। हमारे द्वारा अपौरुषेय वेद से ही धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सिद्ध हो जाता है। अतः किसी पुरुष को सर्वज्ञ मानने की आवश्यकता ही नहीं है। इस पर जैनाचार्यों ने इस अन्तिमचरण का प्रथम तो यह अर्थ किया है कि कोई एक ही गुरु हो सकता है पुनः उसी से यह अर्थ भी कर दिया है कि कः—परमात्मा, चित्–अर्हंत भगवान, एव–ही भवेत्, भव–संसार को जो इत्–प्राप्त हैं वे भवेत् हैं उन संसारी जीवों के गुरु–भगवान महान केवली आप्त ही हो सकते हैं, अन्य कोई भी नहीं हो सकते हैं ।

श्लोकार्थ—यदि वेद वाक्य का अर्थ भावना है नियोग नहीं है इसमें क्या प्रमाण है ? यदि वे दोनों ही वाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और प्रभाकर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं ॥१॥ नियोगरूप कार्य के अर्थ में वेद का ज्ञान प्रमाण है तो स्वरूप–विधि में वह प्रमाण क्यों नहीं है ? यदि कार्य और स्वरूप दोनों में ही वह वेद-वाक्य प्रमाण होवे तब तो खेद है कि भट्ट और वेदांतवादी दोनों ही नष्ट हो गये ॥२॥

विशेषार्थ—जैनाचार्य अपौरुषेय वेद में भी परस्पर विरोध को दिखलाते हुये दूषण देते हैं। "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्ग कामः" इत्यादि वाक्यों में जो "यजेत" पद विधि लिङ् है, अद्वैतवादी लोग इसका अर्थ विधिरूप एक अद्वितीय परमब्रह्म ही करते हैं, नियोगवादी प्रभाकर इसी का अर्थ "मैं इस वाक्य से यज्ञ कार्य में नियुक्त हुआ हूँ" ऐसा नियोग रूप करते हैं तथा भावनावादी भाट्ट इसी वेद का अर्थ भावना रूप करते हैं। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इन वेद वाक्यों से नैयायिक लोग ईश्वर का सर्वज्ञत्व अर्थ निकालते हैं एवं इसी वाक्य से मीमांसक लोग कर्मकांड की स्तुति करने वाला अर्थवाद वाक्य मानते हैं और चार्वाक "अन्नाद्वै पुरुषः" आदि श्रुतियों से अपना मत पुष्ट करते हुये कहते हैं कि अन्नादि भूत चतुष्टय से ही आत्मा का निर्माण होता है। कामधेनु के समान इन वेदवाक्यों से भिन्न-भिन्न मतावलंबी जन भिन्न-भिन्न ही अर्थ की कल्पना करके अपना-अपना मत पुष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार सभी के मतों में परस्पर में एक दूसरे से विरोध आता है। मीमांसक तो सर्वज्ञ को मानते ही नहीं हैं। ये वेदवाक्य स्वयं तो कहते नहीं हैं कि मेरा यह अर्थ प्रमाण है एवं यह अर्थ अप्रमाण है। तथा उस वेद

---

१ नियुक्तोहमित्याकूतं यस्माद्भवति स एव नियोग इत्यर्थः। २ सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिविधिस्वरूपप्रतिपादने वेदवाक्यं कथं न प्रमाणम् । ३ कार्यस्वरूपयोः ।

---

1 किं केन कथमित्यंशत्रयवती भावना–भाव्यकरण कर्तव्यता रुपमंशत्रयं । 2 भावनारूपे । यागे ।

के व्याख्याता पुरुष भी रागी द्वेषी ही मिलेंगे। इसलिये "ये ही अर्थ प्रमाण हैं" ऐसी अंध परम्परा से अर्थ का निर्णय होना नहीं बनेगा। एक अंधे ने दूसरे अंधे का एवं दूसरे ने तीसरे का इत्यादि रूप से सैकड़ों अंधे हाथ पकड़कर पंक्ति से खड़े हो जावें तो क्या सबको दीखने लगेगा ? अर्थात् नहीं दीखेगा और न वे अंधे अभीष्ट स्थान को ही प्राप्त कर सकेंगे और यदि उन अंधों की पंक्ति में आगे एक चक्षुष्मान् व्यक्ति जुड़ जावेगा तो कदाचित सभी को अभीष्ट स्थान तक पहुँचा भी सकता है। तथैव यदि आप मीमांसक इस अनादि निधन वेद का व्याख्याता सर्वज्ञ को मान लेवें तो सभी अल्पज्ञों-असर्वज्ञों को भी सच्चा अर्थ बोध हो सकता है हम जैनों ने भी द्रव्यार्थिक नय से श्रुत को अनादि निधन माना है एवं पर्यायार्थिक नय से ही सादि सान्त भी माना है। किंतु सर्वज्ञ को मानने से हमारे यहाँ अर्थकर्त्ता तो सर्वज्ञ ही हैं किंतु ग्रंथकर्त्ता चार ज्ञानधारी गणधर हैं। उन्हीं की परम्परा से अविच्छिन्न परंपरा तक ग्रंथ प्रमाण माने जाते हैं। इसका श्लोकवार्तिक में अच्छा स्पष्टीकरण है।

यहाँ पर तो अपौरुषेय वेद में प्रभाकर, भाट्ट एवं अद्वैतवादी इन तीनों ने ही नियोग भावना और विधिरूप से वेदवाक्यों का अर्थ किया है तथा जैनाचार्यों ने एक दूसरे के द्वारा ही उनका खंडन करा दिया है।

आप्त परीक्षा का सारांश

मोक्षशास्त्र की आदि में मोक्ष के लिये कारणभूत एवं मंगल के लिये कारणभूत श्री उमास्वामी आचार्य द्वारा जो अतिशय गुण सहित भगवान आप्त हैं उनकी स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्र स्वामी भगवान से प्रश्न-उत्तर करते हुये के समान ही कहते हैं कि—

हे भगवन् ! आपके जन्मकल्याणकादिकों में देव चक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती हैं किन्तु ये विभूतियां तो मायावी आदिकों में भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिये महान्-पूज्य नहीं हैं। अर्थात्–"श्रेयोमार्ग प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान्, देवागमनभोयान–चामरादि–विभूतिमत्वाद्यन्यथानुपपत्तेः" इसमें 'देवागमनभोयान चामरादि विभूतिमान् की अन्यथानुपपत्ति होने से' यह हेतु आगमाश्रय होने से असिद्ध है क्योंकि सभी लोग अपने अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। यदि कोई तटस्थ जैनी यों कहे कि वास्तविक आगम कथित विभूतिमान् हेतु मायावीजनों में संभव नहीं है क्योंकि साधारण में असंभवी असाधारण विभूतियाँ तीर्थंकर भगवान की हैं इसलिये इस श्लोक का अर्थ ऐसा करना चाहिये कि "देवागम आदि विभूतियाँ जो आप में हैं सो मायावीजनों में नहीं देखी जाती हैं अतएव आप हमारे लिये महान् हैं इस पर श्री विद्यानंद स्वामी कहते हैं कि इस "विभूतिमत्वात्" हेतु को विपक्ष से असंभवी आप किस प्रमाण से

निश्चित करते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से ? इन दोनों से तो आप सिद्ध नहीं कर सकते। यदि आगम प्रमाण से सिद्ध करें तब तो हमने पहले कहा ही है कि यह हेतु आगमाश्रय होने से असिद्ध है।

इस पर भगवान मानो पुनः प्रश्न करते हैं कि हे समंतभद्र ! वाह्य विभूति से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही किन्तु अन्य मस्करी आदि में असंभवी ऐसे अंतरंग में पसीना आदि से रहितपना एवं बहिरंग गंधोदक की वृष्टि आदि महोदय हैं जो कि दिव्य हैं, सत्य हैं वे मुझमें हैं अतः आप स्तुति करिये। इस पर स्वामी समंतभद्राचार्य कहते हैं कि ये महोदय भी रागादिमान् देवों में पाये जाते हैं अतः इनसे भी आप महान् नहीं हैं।

इस पर कोई तटस्थ जैनी कहता है कि जैसा घाति कर्म के क्षय से होने वाला अतिशय भगवान में है वैसा देवों में नहीं है। अतः "विग्रहादि महोदयत्वात्" हेतु व्यभिचारी नहीं है इसलिये कारिका का अर्थ ऐसा करना कि ये विग्रहादि महोदय रागादिमान् देवों में हैं ? अर्थात् नहीं है इस प्रकार वक्रोक्ति द्वारा अर्थ करने से आगम में बाधा नहीं आती है। इस पर श्री विद्यानंद स्वामी कहते हैं कि पूर्ववत् ही यह हेतु आगमाश्रय होने से अहेतु है। अतः पूर्ववत् आप विग्रहादि महोदय के द्वारा भी हमारे लिये महान् पूज्य नहीं हो सकते हैं।

तब तो देवों में भी असंभवी ऐसे आगमरूप तीर्थकृत संप्रदाय महोदय के द्वारा तो मैं अवश्य स्तुति करने योग्य हूँ इस प्रकार से मानो भगवान् के द्वारा साक्षात् प्रश्न करने पर ही श्री समंतभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुये के समान कहते हैं कि हे भगवन् ! आगमरूप तीर्थ को करने वाले तीर्थकरों में परस्पर में भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नहीं सकते अर्थात् मीमांसक, सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्वोपप्लववादी, यौग, ब्रह्माद्वैतवादी, चित्राद्वैत-वादी, शब्दाद्वैतवाती, विज्ञानाद्वैतवादी आदि अनेक एकान्त मतावलंबियों में सभी के सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकती है इसलिये कोई एक ही गुरु परमात्मा हो सकता है।

यहाँ भी तीर्थकृत्व हेतु देवों में असंभवी होते हुये भी बुद्धादिकों में पाया जाता है, क्योंकि सभी अपने अपने बुद्ध, कपिल आदि को तीर्थकृत मानते हैं किन्तु सभी सर्वदर्शी नहीं हो सकते हैं। कुमारिलभट्ट ने कहा है कि "यदि बुद्ध भगवान सर्वज्ञ हैं सांख्य के गुरु कपिल सर्वज्ञ नहीं हैं इसमें क्या प्रमाण है और यदि दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो उनमें मतभेद क्यों पाया जाता है" ? इसपर मीमांसक कहता है कि—

कोई विशेष पुरुष सर्वज्ञ स्तुति करने योग्य नहीं है अतः अपौरुषेय वेद के द्वारा ही मोक्ष के साधनभूत उपदेश की एवं अतीन्द्रिय पदार्थ की सिद्धि हो जाती है। उनके प्रति आचार्य उत्तर देते हैं कि "तीर्थं कृंततीति तीर्थकृत् मीमांसकः" तीर्थ का नाश करने वाले आप मीमांसक हैं क्योंकि आपके आगम तीर्थ के नाशक हैं एवं आपके वेदवाक्यों का अर्थ कोई तो भावना करते हैं कोई उससे विरुद्ध विधिरूप एवं कोई नियोग रूप करते हैं इसलिये इनमें परस्पर विरोध होने से आप्तता नहीं है।

विशेष सूचना

यद्यपि आगे नियोगवाद, विधिवाद एवं भावनावाद ये तीनों प्रकरण क्लिष्ट एवं नीरस हैं ये प्रकरण वेद से संबंधित हैं एवं इनमें व्याकरण का संबध भी अधिक है तथापि भावार्थ और विशेषार्थ द्वारा उसे सरल एवं सरस बनाने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी स्वाध्याय प्रेमी जनों को इन विषयों में रूचि न हो तो आगे चार्वाक, शून्यवादी के प्रकरण से स्वाध्याय करें । अनन्तर ये तीनों प्रकरण भी सरल मालूम पड़ेंगे । किन्तु इनके समान सारे ग्रंथ को ही कठिन समझकर स्वाध्याय न छोड़ें क्योंकि आगे–आगे इस ग्रंथ में प्रकरण सरल, सरस एवं अतीव रुचिपूर्ण हैं। स्थान-स्थान पर पाठकों को स्वयं ही अनुभव आता रहेगा।

[अत्र भाट्टो नियोगवाद निराकरणार्थं तस्य पूर्वपक्षं स्पष्टयति]

ननु च[1] भावनावाक्यार्थ इति सम्प्रदायः श्रेयान् नियोगो न, नियोगे बाधकसद्भावात् । नियुक्तोहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगो हि नियोगस्तत्र मनागप्ययोगस्य[2] सम्भवाभावात् स चानेकविधः [3]प्रवक्तृमतभेदात् ।

[एकादशधा नियोगस्य क्रमशः वर्णनम् ।]

(१) [4]केषाञ्चिल्लिङादि[5]प्रत्ययार्थ[6]:[1] शुद्धोन्यनिरपेक्षः [8]कार्यरूपो नियोगः ।

[यहाँ पर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर द्वारा मान्य नियोगवाद के खंडन हेतु पहले उसका पूर्वपक्ष रखते हैं ।]

भाट्ट—वेदवाक्यों का अर्थ भावना ही है नियोग नहीं है, और यही संप्रदाय श्रेयस्कर है क्योंकि यदि आप वेदवाक्य का अर्थ नियोग करेंगे तब तो नियोग में बाधा का सद्भाव देखा जाता है । 'इस अग्निष्टोमादि वाक्य से मैं नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रकार निरवशेष योग को नियोग कहते हैं क्योंकि वहाँ पर किंचित् भी अयोग (अप्रेरकत्व असंघटमान चिद्भावना रूप) कार्य संभव नहीं है और वह नियोग अनेक प्रकार का है क्योंकि नियोग के कथन करने वाले प्रवक्ता लोग भिन्न-भिन्न अभिप्राय को लिये हुये हैं ।

भावार्थ—"अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" मैं इस वाक्य से नियुक्त हो गया हूँ इस प्रकार "नि" निरवशेष तथा "योग" अर्थात् मन, वचन, काय और आत्मा की एकाग्रता होकर प्रवृत्ति हो जाना नियोग है । नियुक्त किये गये व्यक्ति का अपने नियोज्य कार्य में परिपूर्ण योग लग रहा है जैसे कि स्वामिभक्त सेवक या गुरु-भक्त शिष्य को स्वामी या गुरु विवक्षित कार्य करने की आज्ञा दे देते हैं कि तुम जयपुर से पुखराज रत्न लेते आना, अथवा तुम अष्टसहस्री पढ़ो तो सेवक एवं शिष्य उन कार्यों में परिपूर्ण रूप से नियुक्त हो जाते हैं । कार्य होने तक उनको उठते, बैठते, सोते, जागते शांति नहीं मिलती है सदा उसी कार्य में परिपूर्ण योग लगा रहता है । इसी प्रकार प्रभाकर लोग "यजेत" इत्यादि वाक्यों को सुनकर नियोग से आक्रांत हो जाते हैं । जन्मोत्सव, विवाह, प्रतिष्ठा आदि के अवसर पर पुरोहित,

---

१ अत्राह भावनावादी भट्टः । २ अग्निष्टोमं स्वर्गकामो यजेतानेन वादिनो मते लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययस्वरूपः । ३ अप्रेरकत्वस्य, असंघटमानस्य, चिद्भावनारूपस्य कार्यस्य । ३ अभिप्राय । ४ अनेन लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययार्थः सूच्यते न तु लडादिप्रत्ययार्थः । ५ "जातिर्व्यक्तिश्च लिङ्गं च प्रकृत्यर्थोभिधीयते । संख्या च कारकं चेति प्रत्ययार्थः प्रतीयते" ६ अग्निहोत्रादिविशेषणरहितः । ७ धात्वर्थनिरपेक्षः । ८ अवश्यं करणीयः । •

---

1 पूर्वकारिकायां वाक्यार्थ एव नियोगः प्रतिपादितः इदानीं प्रत्ययार्थःप्रतिपाद्यते । तर्हि विरोधमिति नाशंकनीयं, गुण-मुख्यभावात् नियोगस्तावत्प्रत्ययेन विहितः तस्मात्तदर्थमुख्यत्वं प्रत्ययार्थरूपस्येति सूत्रेण नियोगार्थे लिङादिप्रत्यया भवन्ति ।

[1]प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते । [2]कार्यरूपश्च तेनात्र[3] शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥१॥
विशेषणं तु यत्तस्य[4] किञ्चिदन्यत्[5] प्रतीयते । [6]प्रत्ययार्थो न तद्युक्तं धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ॥२॥
प्रेरकत्वं तु [7]यत्तस्य[8] [9]विशेषणमिहेष्यते । तस्याप्रत्ययवाच्यत्वाच्छुद्धे[1] कार्ये नियोगता ॥३॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. २९]

इति वचनात् ।

(२) [10]परेषां शुद्धा[11] प्रेरणा[12] नियोग इत्याशयः[13] ।

नाई आदि नियोगी पुरुष अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं, तभी तो उनके नेग (नियोग) का परितोष दिया जाता है। वह नियोग अनेक प्रकार का है, मीमांसकों के प्रभाकर, भट्ट और मुरारि ये तीन भेद हैं, प्रभाकरों की भी अनेक शाखायें हैं ये प्रभाकर लोग "यजेत" इस विधिलिङ् प्रत्यय, "यजताम्" इस लोट् प्रत्यय, एवं "यष्टव्यं" इस तव्य प्रत्यय का अर्थ नियोग रूप से करते हैं।

[एकादश प्रकार के नियोग का क्रम से वर्णन]

(१) कोई-कोई कहते हैं कि जो लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय का अर्थ है, शुद्ध है, अन्य निरपेक्ष है एवं कार्यरूप है, वही नियोग है । अर्थात् पहले वेदवाक्य के अर्थ को नियोग कहा था इस समय प्रत्यय के अर्थ को नियोग कहते हैं इस तरह से तो परस्पर में विरोध आता है, ऐसी शंका नहीं करना चाहिये क्योंकि गौण मुख्य कथन है । प्रत्यय के द्वारा नियोग का कथन होता है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—"जो प्रत्यय का अर्थ शुद्ध अग्निहोत्रादि विशेषण से रहित प्रतीति में आता है उसे नियोग कहते हैं और वह कार्यरूप ही है, इसलिये इस वेदवाक्य का अर्थ शुद्ध कार्यरूप है" ॥१॥

श्लोकार्थ—एवं जो उस कार्यरूप नियोग का अग्निहोत्रादि कुछ अन्य विशेषण प्रतीति में आता है वह प्रत्यय का अर्थ नहीं है किन्तु वह धातु का अर्थ है, जैसे स्वर्गकामः ॥२॥

श्लोकार्थ—जो उस कार्यरूप नियोग का कार्य की निष्पत्ति के लिये प्रेरकत्व—प्रवर्तकत्व विशेषण है, वह प्रत्ययों से वाच्य अर्थ नहीं है क्योंकि शुद्धकार्य में ही नियोगता होती है ऐसा कहा गया

---

१ कुत एतदित्याशङ्क्य पुरातनं श्लोकत्रयमाह । २ एव । ३ वेदवाक्ये । ४ कार्यरूपस्य नियोगस्य । ५ अग्निहोत्रादिकम् । ६ यजनमात्रः ७ कार्यस्य स्वनिष्पत्त्यर्थं यत्प्रेरकत्वं प्रवर्त्तकत्वम् । ८ कार्यरूपस्य नियोगस्य । ९ यागकर्मणि । १० नियोगवादिनाम् । ११ वाक्यान्तर्गतकर्माद्यवयवापेक्षारहिता । १२ प्रेरकत्वम् । १३ सिद्धान्तः ।

---

1 प्रत्ययार्थप्रतिपादकाभावान्मया करणीये ।

यह नियोगवाद का प्रकरण, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मूलग्रन्थ के २६२ पेज पर एवं हिंदी सहितग्रन्थ की चौथी पुस्तक के १६३ पर है। तथा न्यायकुमुदचन्द्रोदय ग्रन्थ के ५८३ पेज पर है।

प्रेरणैव नियोगोत्र [1]शुद्धा सर्वत्र गम्यते । नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ।।४।।
[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. २९]

(३) प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति केचिन्मन्यन्ते ।

ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् । [2]स्वसिद्धौ [3]प्रेरकं तत्स्यादन्यथा[4] तन्न सिद्धचति ।।५।।
[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. २९]

(४) कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यपरे ।

प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित्[1] । ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ।।६।।
[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. २९]

है । अर्थात् जैसे यजि, पचि आदि धातुओं के अर्थ शुद्ध याग, पाक हैं स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला या तृप्ति की कामना करने वाला धात्वर्थ नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय के अर्थ का प्रतिपादक नहीं है ।।३।।

(२) तथा अन्य किन्हीं नियोगवादियों का ऐसा कहना है कि वाक्यांतर्गत कर्मादि अवयवों की अपेक्षा से रहित 'शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है ऐसा सिद्धांत है।''

श्लोकार्थ—शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है और वह सर्वत्र जानी जाती है क्योंकि प्रेरित नहीं हुआ कोई भी पुरुष अपने को नियुक्त हुआ नहीं समझता है। अर्थात् जाति, व्यक्ति और लिंग तो जिस प्रकृति से प्रत्यय किये जाते हैं उस प्रकृति के अर्थ कहे जाते हैं और संख्या एवं कारक ये प्रत्यय के अर्थ हैं, इस मन्तव्य की अपेक्षा शुद्ध प्रेरणा को ही प्रत्यय का अर्थ मानना चाहिये । वह प्रेरणा जिस धात्वर्थ के साथ लग जावेगी उस क्रिया में नियुक्त जन प्रवृत्ति करता रहेगा ।।४।।

(३) कोई प्रेरणा सहित कार्य को नियोग कहते हैं ।

श्लोकार्थ—''यह मेरा कर्त्तव्य—कार्य है ऐसा जब पहले ज्ञान हो जाता है, तभी वह वाक्य अपने कार्य की सिद्धि में—पुरुष को याग कर्म में प्रेरक हो सकता है अन्यथा—यदि यह मेरा कार्य है ऐसा पहले नहीं जाना है तब वह अपने कार्य की सिद्धि में प्रेरक नहीं हो सकता है । अर्थात् अकेली प्रेरणा या शुद्ध कार्य नियोग नहीं है किन्तु प्रेरणा सहित कार्य नियोग है'' ।।५।।

(४) कोई कार्यसहित प्रेरणा को नियोग कहते हैं । तथाहि—

श्लोकार्थ—कार्य के विना कोई पुरुष यज्ञ क्रिया में प्रेरित नहीं किया जाता है इसलिये कार्य-

---

१ नियोगरहिता । २ वाक्यम्य । ३ पुरुषस्य यागकर्मणि । ४ ममेदं कार्यमित्येव ज्ञानाभावे तत्स्वसिद्धौ प्रेरकं न सिद्धचति ।

---

1. यागकर्मणि ।

(५) कार्यस्यैवोपचारतः[1] प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यन्ये ।

[2]प्रेरणाविषयः [3]कार्यं न तु तत्प्रेरकं स्वतः। [4]व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय[5] उपचर्यते ॥७॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

(६) कार्यप्रेरणयोः[6] सम्बन्धो नियोग इत्यपरे ।

प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् । कार्यं वा प्रेरणायोगो नियोगस्तेन[7] सम्मतः ॥८॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

(७) तत्समुदायो[8] नियोग इति चापरे ।

परस्पराविनाभूतं [9]द्वयमेतत्प्रतीयते[10] । नियोगः समुदायोऽस्मात् कार्यप्रेरणयोर्मतः ॥९॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

सहित प्रेरणा ही नियोग कही जाती है। अर्थात् तृतीय पक्ष में कार्य की प्रधानता थी, और यहाँ प्रेरणा की मुख्यता है, जैसे गुरु से सहित शिष्य या शिष्य से सहित गुरु इन वाक्यों में विशेषण विशेष्य भाव से प्रधानता और अप्रधानता हो जाती है, उसी प्रकार यहां भी विशेषण को गौण और विशेष्य को मुख्य समझना चाहिये ॥६॥

(५) कोई कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते हैं अर्थात् वेदवाक्य का जो मुख्य प्रेरकत्व है वह यागलक्षण कार्य में उपचरित किया जाता है उसका नाम उपचार है। कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक मानते हैं और उसे नियोग कहते हैं।

श्लोकार्थ—वेदवाक्य का व्यापार—याग प्रेरणा का विषय कार्य है (प्रवर्त्तक है) किंतु वह स्वतः प्रेरक नहीं है। प्रमाण का व्यापार प्रमेय में उपचरित किया जाता है (वेदवाक्य का जो व्यापार है उस यागादि कार्य रूप प्रमेय में प्रमाण का उपचार किया जाता है) ॥ ७ ॥

(६) कार्य और प्रेरणा का संबंध नियोग है अर्थात् याग और वेदवाक्य का संबंध नियोग है, ऐसा कोई कहते हैं।

श्लोकार्थ—कार्य के विना प्रेरणा किसी पुरुष को प्रेरणा नहीं करती है अथवा कार्य और प्रेरणा का योग ही नियोग है ऐसा सम्मत है अर्थात् प्रेरणा के विना कार्य भी किसी का प्रेरक नहीं है इसलिये प्रेरणा और कार्य का संबंध ही नियोग है" ॥ ८ ॥

---

१ मुख्यं वेदवाक्यस्य यत्प्रेरकत्वं तद्यागलक्षणकार्ये उपचर्यते इत्युपचारः । २ वेदवाक्यव्यापारः । यागः। ३ प्रवर्त्तकत्वम् । ४ वेदवाक्यस्य । ५ यागादौ कार्ये । ६ यागवेदवाक्ययोः सम्बन्धः । ७ प्रेरणां विना कार्यं कस्यचित्प्रेरकं नैव तेन कारणेन प्रेरणाकार्ययोः सम्बन्धो नियोगः प्रतिपादितः । ८ तयोः प्रेरणाकार्ययोस्तादात्म्यम् । ९ तादात्म्यम् । १० यतः कारणात् ।



(८) तदुभयस्वभावविनिर्मुक्तो[1] नियोग इति चान्ये ।

[2]सिद्धमेकं [3]यतो ब्रह्म गतमाम्नायतः[4] सदा । सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं [5]कुत एव तत् ॥१०॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

(९) [6]यंत्रारूढो[7] नियोग इति कश्चित् ।

[8]कामी यत्रैव[9] यः कश्चिन्नियोगे [10]सति तत्र सः । [11]विषयारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते ॥११॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

---

(७) "उन प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है" ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—परस्पर में अविनाभूत ये दोनों तादात्म्य रूप से प्रतीति में आते हैं अतः कार्य और प्रेरणा का समुदाय ही नियोग माना गया है ॥ ९ ॥

(८) कार्य और प्रेरणा इन उभय स्वभाव से विनिर्मुक्त ही नियोग है, ऐसा कोई कहते हैं।

श्लोकार्थ—क्योंकि एक ब्रह्म आम्नाय से सदा सिद्ध है और सिद्ध होने से ही नियोग उसका कार्य नहीं हो सकता है पुनः वह प्रेरक कैसे होगा ? अर्थात् कार्य रूप ही जो कुछ होता है वह अपनी निष्पत्ति के लिये प्रेरक होता है किंतु यह ब्रह्म तो नित्य रूप होने से कार्य रूप नहीं है अतः प्रेरक भी नहीं है। "अग्निष्टोमादि" वाक्य में कार्य एवं प्रेरणा से निरपेक्ष होकर जो अवभास है अथवा जो परमात्म स्वभाव है वही एक ब्रह्म रूप से सिद्ध है, निरंश है और वेदवाक्य से जाना जाता है एवं सदा सिद्ध रूप होने से वह कार्य नहीं है पुनः वह प्रेरक कैसे होगा ? ॥ १० ॥

(९) यन्त्रारूढ़—याग कर्म में लगा हुआ जो पुरुष है वही नियोग है ऐसा कोई कहते हैं।

श्लोकार्थ—स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष (प्रवर्तक वाक्य रूप) नियोग के होने पर जिस यज्ञ कार्य में नियुक्त है वह वहाँ पर—यागलक्षण विषय में अपने को आरूढ़ मानता हुआ प्रवृत्त होता है, वही नियोग है। अर्थात् यंत्रों में आरूढ़ होने के समान यज्ञादि कार्यों में आरूढ़ हो जाना नियोग है जैसे झूला या यंत्र से चलने वाले घोड़े आदि पर आरूढ़ हुआ पुरुष उन्हीं भावों में रंगा हुआ प्रवर्त रहा है उसी प्रकार से जिस पुरुष को जिस विषय की लगन लग रही है वह पुरुष उसी में अपने को रंगा हुआ मानकर प्रवृत्ति करता है ॥ ११ ॥

---

१ कार्यरूपमेव हि यत्किञ्चन स्वनिष्पत्त्यै प्रेरकं स्यादस्य तु ब्रह्मणो नित्यत्वेन कार्यरूपत्वाभावात् प्रेरकत्वं न भवतीत्यर्थः । २ अग्निष्टोमादिवाक्ये कार्यप्रेरणानिरपेक्षतयावभासः परमात्मस्वभावो वा । ३ निरंशम् । ४ वेदात् । ५ कुतः ? यतः । ६ यागकर्म । ७ पुरुषः । ८ स्वर्गकामी । ९ यागकर्मणि । १० प्रवर्तकवाक्ये सति । ११ यागलक्षण । स्वर्ग ।

(१०) [1]भोग्यरूपो नियोग इत्यपरः ।

ममेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तर्येव व्यवस्थितम् ॥१२॥
स्वामित्वेनाभिमानो[2] हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्यं तदेव विज्ञेयं तदेवं [3]स्वं निरुच्यते ॥१३॥
[4]साध्यरूपतया येन[5] ममेदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥१४॥
सिद्धरूपं हि यद्भोग्यं न नियोगः स तावता । साध्यत्वेनेह[6] भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता[7] ॥१५॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

(११) पुरुष एव नियोग इत्यन्यः ।

ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा । पुंसः [8]कार्यविशिष्टत्वं नियोगोस्य[9] च वाच्यता ॥१६॥
कार्यस्य[10] सिद्धौ जातायां तद्युक्तः[11] पुरुषस्तदा । भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥१७॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

---

(१०) कोई कहते हैं कि भोग्यरूप—भविष्य में होने वाला जो भोग्य है वही नियोग है।

श्लोकार्थ—मेरा यह भोग्य है इस प्रकार से जो भोग्य का रूप प्रतीति में आता है और ममत्व रूप से जो विज्ञान है, वह भोक्ता में ही व्यवस्थित है ॥ १२ ॥ जहाँ पर स्वामीपने से भोक्ता का अभिप्राय है उसी को भोग्य समझना चाहिये । इस प्रकार वह स्वकीय कहलाता है ॥ १३ ॥ साध्य रूप से जिस पुरुष के द्वारा यह मेरा है, इस प्रकार से जाना जाता है, वह प्रसाध्य रूप से स्वकीय भोग्य कहलाता है ॥ १४ ॥ और सिद्ध रूप भोग्य है वह नियोग नहीं है वह उतने साध्य रूप से इस वेदवाक्य में भोग्य का प्रेरक होने से नियोग रूप है ॥ १५ ॥

भावार्थ—कार्य कर चुकने पर भविष्य में जो भोगने योग्य अवस्था होगी उसे भोग्य कहते हैं जैसे कि अपराधी को कठोर कारावास की आज्ञा के वचन सुनकर भोग्य रूप का अनुभव हो रहा है। जिस पदार्थ का जो स्वामी है उसके लिए वही पदार्थ भोग्य है अतः आत्मा का स्वरूप ही 'स्व' शब्द से कहा जाता है। आत्मा अपने स्वभावों का भोक्ता है। मेरे द्वारा यह कार्य साध्य है इस प्रकार से जान लेने पर निज स्वरूप भोग्य नियोग है किंतु जो आत्मा का स्वरूप सिद्ध हो चुका है वह भोग्य नहीं है अपितु भविष्य में करने योग्य ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों से विशिष्ट आत्मा का स्वरूप ही भोग्य है, वही नियोग है।

(११) कोई पुरुष—आत्मा को ही नियोग कहते हैं।

श्लोकार्थ—यह मेरा कार्य है इस प्रकार से पुरुष हमेशा मानता है वह पुरुष का कार्य विशिष्ट

---

१ भविष्यद्रूपमेव भोग्यं नियोग इत्याह । २ अभिप्रायः । ३ स्वकीयम् । ४ स्वर्गादिकं साध्यम् । ५ पुंसा । ६ वेदवाक्ये । ७ यतः । ८ यागादिलक्षणसम्पृक्तत्वम् । यज्ञकर्त्ता । भोग्यतामात्रेण । ९ नियोगः स्यादवाचितः इति वा पाठः । १० यदि पुरुष एव नियोगस्तदा तस्य नित्यत्वात् कथं साध्यरूपो भवतीत्याशङ्कायामाह । ११ साध्यकार्यविशिष्टः ।

[अत्रत्यात् भाट्टः नियोगं निराकरोति]

[1]सोयमेकादशप्रकारोपि नियोगो विचार्यमाणो बाध्यते । प्रमाणाद्यष्टविकल्पानतिक्रमात् । [2]तदुक्तम् ।—

[3]प्रमाणं किं नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः । उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोथवा पुनः ॥१॥
शब्दव्यापाररूपो वा [4]व्यापारः पुरुषस्य वा । द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा ॥२॥

[नियोगस्य प्रमाणप्रमेयादिरूपाभ्युपगमे दोषारोपणम्]

(१) [5]तत्रैकादशभेदोपि नियोगो यदि प्रमाणं[6] तदा विधिरेव[7] वाक्यार्थ इति वेदान्तवाद-प्रवेशः प्रभाकरस्य[8] स्यात्, प्रमाणस्य चिदात्मकत्वात्,[9] चिदात्मनः प्रतिभासमात्रत्वात्,

---

ही नियोग है और यही इसकी वाच्यता है ॥ १६ ॥

[एवं कोई कहे कि यदि पुरुष ही नियोग है तब तो वह नित्य है साध्य रूप कैसे होगा ? इस पर समाधान]

कार्य की सिद्धि हो जाने पर उस साध्य-कार्य से विशिष्ट पुरुष ही उस समय साधित हो जाता है। इस प्रकार पुरुष ही वेदवाक्य का अर्थ है ॥ १७ ॥

किन्तु यह ११ प्रकार का नियोगवाद भी विचार करने पर प्रमाण प्रमेयादि वक्ष्यमाण आठ विकल्पों से पार नहीं पा सकने के कारण बाधित हो जाता है।

[इस प्रकार से अब विधिवाद का आश्रय लेकर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर संबंधी नियोगवाद को दूषित करते हैं।]

रविगुप्त नाम के आचार्य ने कहा भी है—

श्लोकार्थ—यह आप प्रभाकरवादी का नियोग प्रमाण रूप है या प्रमेयरूप है, दोनों से रहित है या उभयरुप है, शब्द-व्यापार रूप है अथवा पुरुष के व्यापार रूप, दोनों के व्यापार रूप है या दोनों के व्यापार से रहित है ? ॥

[नियोग को प्रमाण, प्रमेयादि रूप मानने में दोषारोपण]

इन आठ प्रकार के विकल्पों में से यदि पहला विकल्प लेवें कि उपर्युक्त ग्यारह प्रकार का नियोग भी प्रमाण है, तब तो विधि ही वाक्य का अर्थ सिद्ध हो जावेगी, पुनः आप नियोगवादी प्रभाकर का वेदांतवाद में प्रवेश हो जाता है क्योंकि प्रमाण तो चिदात्मक है एवं चिदात्मा प्रतिभास मात्र है तथा वह प्रतिभास परब्रह्मस्वरूप ही है। उस प्रतिभास मात्र से पृथक् विधि कार्य–कर्तव्यरूप से प्रतीति में नहीं आता

---

१ अथ विधिवादमाश्रित्य भट्टः प्राभाकरमतसम्बन्धिनं नियोगवादं दूषयति । २ रविगुप्तेन । ३ भाट्टः प्राभाकरं प्रतिपृच्छति । ४ वाङ्मयमात्रकथनो व्यापारः । ५ अष्टप्रकारविकल्पनमध्ये । ६ प्रवेनः प्रमाणान्वक्तो [illegible]। ७ कर्त्तव्यार्थोपदेशो विधिः । ब्रह्म । ८ नियोगवादिनः । ९ अत्र प्रमाणस्याचिदात्मकत्वमङ्कुत्वा [illegible] प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारादित्यग्रे वक्ष्यमाणनुत्तरं द्रष्टव्यम् ।

तस्य[1] च परब्रह्मत्वात्[2]। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः [3]कार्यरूपतया न प्रतीयते घटादिवत्[4]। प्रेरकतया वा [5]नानुभूयते [6]वचनादि[7]वत्[8]। [9]कर्मकरणसाधनतया हि [10]तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययौ युक्तौ [11]नान्यथा। किं [12]तर्हि [13]द्रष्टव्योरेयमात्मा श्रोतव्यो-ऽनुमंतव्यो[1] [14]निदिध्यासितव्य[2] इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणेन[15] प्रेरितोहमिति

है। जैसे घट प्रतिभासमात्र से कार्य रूप से पृथक् अनुभव में आता है, वैसे ही विधि प्रतिभास मात्र स्वरूप से भिन्न रूप-पृथक् अनुभव में नहीं आती है।

अथवा प्रेरक रूप से भी वह विधि अनुभव में नहीं आती है, वचनादि के समान। अर्थात् जैसे वचनादि प्रेरक रूप से प्रतिभास मात्र से पृथक् अनुभव में आते हैं, उस प्रकार विधि अनुभव में नहीं आती है, क्योंकि कर्म और करण साधन रूप से उस विधि का अनुभव मानने पर तो कार्यता प्रत्यय और प्रेरकता प्रत्यय मानना युक्त है अन्यथा नहीं। अर्थात् जो किये जावें, बनाये जावें वे कर्म हैं, जैसे घटादि। जो पुरुष अपने कार्य में जिसके द्वारा प्रेरित किया जावे—नियुक्त किया जावे वह प्रेरक-वचन करण है। इन कर्म और करण रूप से यदि विधि का अनुभव आवे तब तो उसे कार्य और प्रेरकपना मानना अन्यथा कैसे मानना? मतलब "विधीयते यत् या विधीयतेऽनेन" इस प्रकार से निरुक्ति द्वारा विधि शब्द कर्म साधन या करण साधन में नहीं बनता है अतः कर्म करण साधन के बिना ही शुद्ध सन्मात्र विधि का ज्ञान पाया जाता है पुनः उसे कार्य या प्रेरक नहीं माना जा सकता है। तब तो उस विधि का स्वरूप क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर सुनिये! अरे! यह आत्मा "देखने योग्य है, सुनने योग्य है और ध्यान करने योग्य है" इत्यादि शब्दों के सुनने से अवस्थांतर विलक्षण—अन्य अवस्थाओं से विलक्षण दर्शनादि के द्वारा "मैं प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार के अभिप्राय से सहित अहंकार रूप से स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होती है और वही

---

१ प्रतिभासमात्रस्य। २ प्रतिभासश्चान्यो विधिश्चान्य इत्युक्ते आह। ३ कर्त्तव्य। ४ व्यतिरेकदृष्टान्तः। यथा घटः प्रतिभासमात्रात् कार्यरूपतया पृथक् प्रतीयते न तथा विधिः प्रतिभासमात्रात् स्वरूपात् पृथक् प्रतीयते। ५ नानुमीयते इत्यपि खपाठः। ६ व्यतिरेकदृष्टान्तः। ७ अंगुलिसंज्ञा। ८ यथा वचनादिः प्रेरकतया प्रतिभासमात्रात् पृथगनुभूयते। तथा विधिर्नानुभूयते। ९ उभयरूपतया विधिर्नानुभूयते इत्युक्त आह। क्रियते निष्पाद्यते इति कर्म घटादि। प्रेर्यते नियुज्यते पुरुषः स्वकृत्येऽनेनेति प्रेरकं वचनं करणम्। १० विधिप्रतीतौ। ११ कर्मकरणसाधनत्वाभावेन विधिप्रतीतौ कार्यताप्रेरकताज्ञानं युक्तं न स्यात्। १२ तर्हि किं स्वरूपं विधेरित्युक्ते आह द्रष्टव्येत्यादि। १३ "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तितः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः"। १४ परब्रह्मस्वरूपेण ध्यातव्यः। १५ अवस्था दर्शनादिः अवस्थान्तरमदर्शनादिस्तेन विलक्षणो दर्शनादिस्तेन।

---

1 ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणं श्रोतव्यं। श्रुतार्थस्य युक्त्या विचारणमनुमन्तव्यम्।
2 श्रवणमननाभ्यां निश्चतार्थमनवरतं मनसा परिचिंतनं निदिध्यासितव्यम्।

[1]जाताकूतेना[2]हङ्कारेण[1] स्वयमात्मैव प्रतिभाति स एव विधिरिति वेदान्तवादिभिरभिधानात् ।

(२) प्रमेयत्वं तर्हि नियोगस्यास्तु प्रमाणत्वे दोषाभिधानादित्यप्यसत्–प्रमाणाभावात् । प्रमेयत्वे हि तस्य[3] प्रमाणमन्यद्वाच्यम्[4] –तदभावे प्रमेयत्वायोगात् । श्रुतिवाक्यं [5]प्रमाणमिति चेन्न– [6]तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारात्[7] । [8]संविदात्मकत्वे श्रुति-

---

विधि है, ऐसा वेदांतवादियों का कहना है। ब्रह्म में तात्पर्य का निश्चय करना श्रोतव्य है। सुने हुये अर्थ का युक्ति से विचार करना अनुमन्तव्य है और सुने गये एवं मनन किये गये निश्चित अर्थ का हमेशा ही मन से परिचिंतन करना निदिध्यासितव्य है। ऐसा तीनों का अर्थ समझना चाहिये।

भावार्थ—विधि क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर यह है कि अरे मैत्रेय! यह आत्मा दर्शन करने योग्य है और आत्मा का दर्शन यों होता है कि पहले उस आत्मा का वेदवाक्यों के द्वारा श्रवण करना चाहिये तभी ब्रह्म ज्ञान में तत्परता हो सकती है। पुनः श्रुत आत्मा का युक्तियों से विचार कर अनुमनन करना चाहिये। श्रवण और मनन से निश्चित किये गये अर्थ का मन से परिचिंतन करना चाहिये अथवा "तत्त्वमसि" वह प्रसिद्ध ब्रह्म तू ही है इत्यादि वैदिक शब्दों के श्रवण से मैं पहली अदर्शन, अश्रवण आदि अवस्थाओं की अपेक्षा विलक्षण हो रही दूसरी अवस्थाओं से इस समय प्रेरित हो गया हूँ, इस प्रकार से "अहं" शब्द का दर्शन आदि द्वारा प्रत्यक्ष कराने रूप अहंकार अथवा आकार वाली चेष्टा करके स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित हो रही है और वह आत्मा ही तो विधि है इस प्रकार वेदांतवादियों का कथन है। अतः नियोग को प्रमाण रूप मानने पर आप प्रभाकर को वेदांतवादी बनना ही पड़ेगा।

(२) इस पर यदि आप कहें कि नियोग को हम प्रमेय मानेंगे क्योंकि आपने उसको प्रमाण मानने से अनेक दोष दिये हैं सो यह कथन भी असत् है क्योंकि नियोग को प्रमेय सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। नियोग को प्रमेय मान लेने पर तो उसको ग्रहण करने वाला अन्य कोई प्रमाण आप प्रभाकर को कहना ही चाहिये क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय है, यह कैसे कहा जावेगा? "प्रमाणेन ज्ञातुं योग्यम् प्रमेयं" जो प्रमाण के द्वारा जानने योग्य है वही तो प्रमेय है।

---

१ अप्रेरितावस्थाविलक्षणेनाकारेण प्रेरितोहमित्यभिमानरूपेण। २ दर्शनादिना। ३ प्रमेयरूपस्य नियोगस्य ग्राहकं प्रमाणम्। ४ प्रभाकरेण। ५ श्रुतिवाक्यं प्रमाणं, नियोगः प्रमेयमिति चेत्। ६ अत्राह भावनावादी भट्टः। –भो नियोगवादिन् प्रभाकर तावकं श्रुतिवाक्यं चिदात्मकमचिदात्मकं वेति। तत्र विकल्पद्वयं खण्डयति। ७ चन्द्रवन्मुखमित्यादिरुपचारः। ८ ज्ञानात्मकत्वे सति।

---

1. जाताकूतेनाकारेण इति पा.।

वाक्यस्य पुरुष[1] एव श्रुतिवाक्यमिति स एव प्रमाणम् । तत्संवेदनविवर्त्तस्तु[2] नियुक्तोह-मित्यभिमानरूपो[3] नियोगः प्रमेयत्वमिति नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते यतो वेदान्तवादिमत-प्रवेशोऽस्मिन्नपि पक्षे न भवेत् ।

(३) तर्हि प्रमाणप्रमेयरूपो नियोगो भवत्वित्यप्ययुक्तम् संविद्विवर्त्तत्वापत्तेः अन्यथा[4] प्रमाणप्रमेयरूपतानुपपत्तेः । तथा च स एव [5]चिदात्मोभयस्वभावतयात्मानमा[6]दर्शयन्नियोग इति सिद्धो ब्रह्मवादः ।

प्रभाकर—श्रुति-वेदवाक्य तो प्रमाण हैं और नियोग प्रमेय है हम ऐसा मानते हैं ।

भाट्ट—ऐसा भी आप नहीं कह सकते क्योंकि वेदवाक्यों के अचिदात्मक होने से उनमें प्रमाणता घटित नहीं होती है और यदि मानेंगे भी तो उपचार के सिवाय वस्तुतः वे प्रमाण नहीं हो सकेंगे । यदि उन वेदवाक्यों को आप चिदात्मक-ज्ञानात्मक मानोगे तब तो पुरुष ही श्रुति वाक्य है इस प्रकार से वह पुरुष-परब्रह्म ही प्रमाण सिद्ध हुआ और उस संवेदन की पर्याय-ब्रह्म की पर्याय ही "नियुक्तोऽहं" इस प्रकार के अभिमान-अभिप्राय रूप नियोग है और वही प्रमेय है इस प्रकार से तो यह प्रमेय रूप नियोग पुरुष से भिन्न कोई प्रतीति में नहीं आता है कि जिससे इस पक्ष के मानने पर भी वेदांतवादी के मत में प्रवेश न हो जावे अर्थात् यदि आप नियोग को प्रमेय रूप मानते हैं तो भी आप वेदांतवादी बन जावेंगे ।

(३) *प्रभाकर*—तब तो प्रमाण और प्रमेय इन उभय रूप नियोग को मानना यह तृतीय पक्ष ही उचित है ।

भाट्ट—यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि वह नियोग ज्ञान की पर्याय हो जावेगा अन्यथा प्रमाण और प्रमेय रूपता ही घटित नहीं होगी । अर्थात् नियोग ज्ञान की पर्याय हो जाता है क्योंकि सामान्य से "मैं नियुक्त हूँ" इस प्रकार के अभिप्राय को स्वीकार किया है अन्यथा ज्ञान पर्याय न मानने पर वह नियोग प्रमाण नहीं हो सकेगा और अप्रकाशमान होने से प्रमेय रूप भी नहीं हो सकेगा क्योंकि जो वस्तु प्रमाण, प्रमेय रूप से उभयरूप है वह चैतन्यात्मक अवश्य है । पुनः वह सत्, चिद्, आनन्द स्वरूप आत्मा ही प्रमाण प्रमेय रूप सिद्ध होता है और यही तो ब्रह्माद्वैतवाद सिद्धान्त है । इसलिये वह चिदात्मा ही उभय स्वभाव रूप से अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ नियोग कहलाता है । इस प्रकार से नियोग ब्रह्मवाद रूप ही सिद्ध हो जाता है ।

---

१ परब्रह्म पश्चात् कार्यं कुर्यात् । २ पर्यायः । ३ विशेषणमिदं नियोगस्य संवेदनविवर्त्तत्वसमर्थनार्थम् । ४ ज्ञानपर्यायप्राप्तत्वान्नियोगस्य सामान्येन नियुक्तोहमित्यभिमानरूपत्वाभ्युपगमादन्यथा ज्ञानपर्यायप्राप्त्यभावे प्रमाणरूपत्वं नोपपद्यते, अप्रकाशमानत्वेन प्रमेयरूपत्वं च न घटते इति भावः । ५ स्वरूपम् । ६ प्रकाशयन् ।

(४) अनुभयस्वभावो नियोग इति चेत्तर्हि[1] संवेदनमात्रमेव[2] पारमार्थिकं[3] तस्य[4] कदाचिदप्यहेयत्वा[5]दनुभयस्वभावत्वसम्भवात् । [6]प्रमाणप्रमेयत्वव्यवस्थाभेदविकलस्य सन्मात्रदेहतया[7] तस्य[8] वेदान्तवादिभिर्निरूपितत्वात्तन्मतप्रवेश एव ।

(५) यदि पुनः [9]शब्दव्यापारो नियोग इति मतं तदा भट्टमतानुसरणमस्य[10] दुर्निवारम्-शब्दव्यापारस्य[11] शब्दभावनारूपत्वात् ।

(६) अथ पुरुषव्यापारो [12]नियोगस्तदापि परमतानुसरणम्-पुरुषव्यापारस्यापि [13]भावनास्वभावत्वात् शब्दात्मव्यापारभेदेन भावनायाः परेण [14]द्वैविध्याभिधानात् ।

---

(४) प्रभाकर—अनुभय स्वभाव ही नियोग है।

भाट्ट—तब तो आपका नियोग प्रमाण और प्रमेय इन दोनों रूपों का त्याग कर देने से तो केवल शुद्ध संवेदन मात्र ही पारमार्थिक रूप होगा क्योंकि वह संवेदन मात्र कदाचित् भी अहेय—त्यागने योग्य न होने से वही अनुभय स्वभाव हो सकता है। उस संवेदन मात्र को छोड़कर अन्य कोई अनुभय स्वभाव हो ही नहीं सकता है। वेदांतवादियों ने भी ऐसा ही निरूपण किया है कि "प्रमाण प्रमेय भेद की व्यवस्था से रहित सन्मात्र देहरूप से वह संवेदन मात्र परमब्रह्म रूप सिद्ध है।" इसलिये चतुर्थ पक्ष के मानने पर भी आप उस वेदांतवादी के मत में ही प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् "न उभयः अनुभयः" में नञ् समास का पर्युदास अर्थ करने से सर्वथा प्रमाण प्रमेय रूप उपाधियों से रहित शुद्ध प्रतिभास ही ग्रहण हो जाता है जो कि 'सत्स्वरूप" इतने मात्र शरीर को धारण करने वाले ब्रह्म का ही द्योतक है।

(५) प्रभाकर—"अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि रूप से शब्द का व्यापार ही नियोग है।

भाट्ट—तब तो आपको हमारे मत का ही अनुसरण दुर्निवार है क्योंकि हमारे यहाँ शब्द का व्यापार शब्द की भावना रूप है। शब्द भावक हैं और उसका व्यापार भावना स्वरूप है।

(६) प्रभाकर—तब तो हम पुरुष के व्यापार को नियोग कहेंगे।

भाट्ट—तो भी आपको पर—हमारे मत का ही अनुसरण करना पड़ेगा क्योंकि पुरुष का व्यापार भी भावना स्वभाव है। हम भाट्टों ने शब्द-व्यापार और आत्म-व्यापार के भेद से भावना के दो भेद मानें हैं।

---

१ प्रमाणप्रमेयरूपत्यागे। २ संवेदनमात्रादन्यस्य कस्यचिदनुभयस्वभावत्वाघटनात्। ३ पारमार्थिकत्वं कुतः ?। ४ संवेदनमात्रस्य। ५ कुतः। ६ अनुभयस्वभावत्वं कुतः। ७ सत्स्वरूपतया। ८ संवेदनमात्रस्य। ९ अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादिशब्दव्यापारः। १० प्रभाकरस्य ११ शब्दरूपार्थरूपा चेति भावना द्वेधा। १२ तदेव (पूर्वोक्तमेव) इति खपुस्तकपाठः। १३ अर्थभावना। १४ शब्दभावना आत्म (अर्थ) भावना च।

(७)। तदुभयरूपो[1] नियोग इति चेत्तर्हि पर्यायेण युगपद्वा ? यदि पर्यायेण स[2] एव दोषः--क्वचित्कदाचिच्छब्दव्यापारस्य पुरुषव्यापारस्य च भावनास्वभावस्य नियोग इति नामकरणात् । युगपदुभयस्वभावत्वं पुनरेकत्र विरुद्धं[3] न शक्यं व्यवस्थापयितुम्[4] ।

(८)। तर्हि तदनुभयव्यापाररूपो नियोगोङ्गीकर्त्तव्य इति चेत् सोपि [5]विषयस्वभावो वा स्यात् फलस्वभावो वा स्यान्निस्स्वभावो[6] वा ? गत्यन्तराभावात् । विषयस्वभाव इति चेत् । कः पुनरसौ विषयः ? अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवाक्यस्यार्थो यागादिर्विषय इति चेत्[7] स [8]तद्वाक्यकाले स्वयमविद्यमानो विद्यमानो वा ? यद्यविद्यमानस्तदा [9]तत्स्वभावो

---

(७) *प्रभाकर*—शब्द व्यापार और पुरुष व्यापार ऐसे उभय के व्यापार को हम नियोग कहते हैं।

भाट्ट—तब तो आप पर्याय से-क्रम से कहते हैं या युगपत् ? यदि पर्याय-क्रम से कहें तब तो वही पूर्वोक्त हमारे मत का अनुसरण करने रूप दोष आता है क्योंकि कहीं पर किसी काल में आपने शब्द व्यापार रूप और कहीं पर पुरुष व्यापार रूप भावना के स्वभाव को ही नियोग यह नाम कर दिया है। यदि युगपत् उभय स्वभाव कहो तो एक जगह विरुद्ध दो धर्मों को व्यवस्थापित करना शक्य नहीं है अर्थात् शब्द-व्यापार प्रेरणा रूप है और पुरुष व्यापार क्रिया रूप है एवं प्रेरणा तो अतीतकाल संबंधी है तथा क्रिया भविष्यत्काल संबंधी है। जैसे प्रकाश और अंधकार एक जगह नहीं रह सकते हैं वैसे ही ये दोनों विरुद्ध धर्म एक जगह एक काल में नहीं रह सकते हैं।

(८) *प्रभाकर*—तब तो उन दोनों के अनुभय व्यापार को नियोग मानना ठीक है। अर्थात् आठवें पक्ष के अनुसार वह नियोग शब्द व्यापार और पुरुष व्यापार इन दोनों ही व्यापारों से रहित है।

भाट्ट—यदि आप ऐसा कहें तो भी हम आपसे नञ् समास का पर्युदास पक्ष लेकर प्रश्न करते हैं कि वह अनुभय व्यापार रूप भी नियोग विषय (यज्ञादि कर्म रूप) स्वभाव है, या फल (स्वर्गादि) स्वभाव है अथवा (प्रसज्य निषेध पक्ष लेने पर) निःस्वभाव है ? इन तीनों विकल्पों के सिवाय और अन्य कोई प्रकार संभव नहीं है। यदि विषय स्वभाव मानों तब तो यह विषय क्या है ? यह पहले बतलाइये।

प्रभाकर—"स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निष्टोम से यज्ञ करे" इत्यादि वाक्य का अर्थ जो यागादि रूप है वही विषय है।

---

१ शब्दव्यापारेण पुरुषव्यापारेण च। २ तर्हि। भट्टमतानुसरणलक्षणः पूर्वोक्तः। ३ प्रेरणाया अतीतकालत्वं क्रियाया भविष्यत्कालत्वं यतः पूर्वं प्रेरितः पश्चात् कार्यं करोति। ४ यथा तेजस्तमसोरैक्यमेकत्र स्थातुं न शक्यम्। ५ विषयो यागादिकर्म। ६ पर्युदासवृत्त्या द्वौ विकल्पौ प्रसज्यवृत्त्या त्वेकः (निःस्वभावः)। ७ विषयः। ८ वेदवाक्यकाले। ९ विषयस्वभावः।

नियोगोप्यविद्यमान एवेति [1]कथमसौ वाक्यार्थः खपुष्पवत् । [2]बुध्यारूढस्य भाविनस्तस्य[3] वाक्यार्थत्वे सौगतमतानुसरणप्रसङ्गः[4] । अथ [5]तद्वाक्यकाले [6]विद्यमानोसौ तर्हि न नियोगो वाक्यस्यार्थः-तस्य [7]यागादिनिष्पादनार्थत्वात्[8] --निष्पन्नस्य च यागादेः पुनर्निष्पादनायोगात्,[9] पुरुषादिवत् । अथ [10]तस्य किञ्चिदनिष्पन्नं रूपं तदा तन्निष्पादनार्थो नियोग इति मतम् तर्हि [11]तत्स्वभावो नियोगोप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थः ? [12]स्वयमसन्निहितस्य कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स[13] एव सौगतमतप्रवेशः । फलस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षो न कक्षीकर्तव्यः-तस्य[14] नियोगत्वाघटनात् । न हि स्वर्गादिफलं नियोगः-[15]फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गात्-

भाट्ट—पुनः वह विषय उस वेदवाक्य के काल में स्वयं अविद्यमान है या विद्यमान ? यदि अविद्यमान रूप प्रथम पक्ष लेवें तब तो उस विषय का स्वभाव रूप नियोग भी अविद्यमान ही रहा । पुनः ऐसी स्थिति में वह नियोग आकाश-कुसुम के समान वेदवाक्य का अर्थ कैसे हो सकता है ? बुद्धि से परिणत (वर्तमान काल में कल्पित विषय रूप) भावी—विषय स्वभाव नियोग को वेदवाक्य का अर्थ मानने पर तो सौगत मत के अनुसरण का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि सौगत के मत में प्रमाण प्रमेय व्यवहार काल्पनिक है । उनके यहाँ वचनों को वक्ता के अभिप्राय मात्र का सूचक माना है । यदि कहो कि वेदवाक्य के काल में वह विषय स्वभाव विद्यमान है, तब तो वह नियोग वाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा क्योंकि वह तो यागादि को निष्पादन करने के लिये हुआ है और निष्पन्न हुये यागादि का पुरुषादि के समान पुनः निष्पादन करना बनता नहीं है । अर्थात् जिस प्रकार निष्पन्न परमब्रह्म पुरुष का संपादन करना नहीं बन सकता उसी प्रकार निष्पन्न यागादिकों का संपादन करना भी नहीं बन सकेगा । यदि आप कहें कि उस यागादि का किंचित्–कुछ अनिष्पन्न रूप है इसलिये उस शेष अनिष्पन्न के निष्पादन के लिये नियोग है तब तो यागादि विषय स्वभाव नियोग भी अनिष्पन्न है इस प्रकार से वेदवाक्य का अर्थ कैसे होगा ? स्वयं असन्निहित–भावी विषय स्वभाव, कल्पनारूढ़ को वेदवाक्य का अर्थ मानने पर वही सौगत मत में आपका प्रवेश हो जावेगा, उसका रोकना दुर्निवार है ।

"फल स्वभाव नियोग है" यह पक्ष भी तुम्हें स्वीकार नहीं करना चाहिये क्योंकि वह नियोग फल स्वभाव भी घटित नहीं होता है । स्वर्गादि के फल नियोग नहीं है अन्यथा फलांतर की कल्पना का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि निष्फल–फल रहित नियोग का अभाव है । एवं फल स्वभाव नियोगवादियों के यहाँ फलांतर को नियोग मानने पर उसके लिए अन्य फल की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसंग आ

१ नियोगः । २ बुद्धिपरिणतस्य । वर्त्तमानकाले कल्पितविषयस्य । ३ विषयस्वभावनियोगस्य । ४ प्रमाणप्रमेयव्यवहारस्य काल्पनिकत्वात्सौगतमते । वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्वितीदं हि सौगतमतम् । ५ वेद । ६ यागादिविषयो नियोगो यागमुत्पादयति । ७ आकाशादि । ८ यागादिनिष्पादनं वाक्यकाले जातमेव । ९ पुरुषादिविषयस्य । १० यागादेः । ११ यागादिविषयस्वभावः । १२ भाविनो विषयस्य । १३ पूर्वोक्तः । १४ फलस्वभावस्य । १५ अन्यथा ।

निष्फलस्य नियोगस्यायोगात् । फलांतरस्य च फलस्वभावनियोगवादिनां नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गः[1] । [2]फलस्य [3]वाक्यकाले स्वयमसन्निहितत्वाच्च [4]तत्स्वभावो नियोगोप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः ? [5]तस्य वाक्यार्थत्वे [6]निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुतः प्रभाकरमतसिद्धिः ? निःस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षोऽनेनैवप्रतिक्षिप्तः[7] ।

जावेगा। तथा स्वर्गादि फल "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्य के काल में स्वयं असन्निहित-अविद्यमान हैं पुनः वह फल स्वभाव रूप नियोग भी असन्निहित-अविद्यमान ही रहेगा। इस प्रकार से वह वेदवाक्य का अर्थ कैसे सिद्ध होगा ? यदि आप अविद्यमान फल स्वभाव वाले 'नियोग' को वेदवाक्य का अर्थ मान लेवो तो निरालंब शब्दवाद का आश्रय लेने से आप प्रभाकर के मत की सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात् शब्द को अन्यापोह मात्र का कहने वाला मानने से बौद्ध का अर्थ शून्यवाद सिद्ध होता है। बौद्ध के मत में शब्द अन्यापोह रूप हैं, अर्थ को कहने वाले नहीं हैं।

यदि आप निःस्वभाव को नियोग कहें तो यह पक्ष भी इसी कथन से निराकृत हो जाता है क्योंकि निःस्वभाव अन्यापोह रूप ही है।

भावार्थ—प्रभाकर ने नियोग का लक्षण करके भिन्न-भिन्न वक्ता के अभिप्राय से उन्हें ११ प्रकार से सिद्ध किया है। इस प्रकार भाट्ट ने उन ११ विकल्प रूप नियोगों को दूषित ठहराने के लिये प्रमाण प्रमेय आदि रूप आठ विकल्प उठाकर उस प्रभाकर को वेदांतवादी होने का दूषण दिखाया है। उसी में अंतिम "अनुभय व्यापार रूप" आठवें पक्ष में तीन विकल्प उठाये हैं। उसमें विषय और फल स्वभाव को पर्युदास पक्ष से एवं निःस्वभाव नियोग को प्रसज्य निषेध पक्ष से लिया है। उसमें विषय स्वभाव और फल स्वभाव नियोग में दूषण दिया है कि "अग्निष्टोम से यज्ञ करना चाहिये" इस वाक्य के उच्चारण काल में यज्ञादि कर्म नहीं है अतः यज्ञ रूप नियोग भी संभव नहीं है। जो कार्य भविष्य में होने वाला है उस कार्य के साथ तादात्म्य संबंध रखने वाला धर्म वर्तमान काल में नहीं है और यदि भविष्य में होने वाले यज्ञ की वर्तमान में संभावना मानी जावे तो पुनः वाक्य का अर्थ नियोग नहीं हो सकेगा क्योंकि वह नियोग तो कर्त्तव्य कार्यों को भविष्य में बनाने के लिये हुआ करता है। जो किया जाकर बन चुका है उसका पुनः बनाना नहीं हो सकता है, जैसे कि अनादि काल के बने हुए (अकृत्रिम) नित्य द्रव्य-आत्मा, आकाशादि नहीं बनाये जा सकते हैं। एवं उस नियोग को स्वर्गादि फल स्वभाव मानने पर वे स्वर्गादि फल तो स्वयं उस यज्ञ के अंतिम परिणाम हैं। फल का पुनः फल होता नहीं है किन्तु नियोग तो फल से सहित है। यदि अन्य फलों की कल्पना करो तो अनवस्था तैयार खड़ी है। यदि फल को भविष्य में होने वाला माना जावे तो

---

१ प्रसङ्गादिति खपुस्तकपाठः। २ स्वर्गादेः। ३ अग्निष्टोमेन यजेतेति वाक्यकाले। ४ फलस्वभावः। ५ असन्निहितस्य फलरूपनियोगस्य। ६ शब्दस्यान्यापोहाभिधायित्वेनार्थशून्यवादः। सौगतमते शब्दस्त्वन्यापोहरूपो नत्वर्थाभिधायी ७ निःस्वभावस्यान्यापोहत्वानतिक्रमात्।

[नियोगस्य सदसदादिरूपस्वीकारे दोषारोपणम्]

किञ्च सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नेव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे विधिवाद एव। द्वितीयपक्षे निरालम्बनवादः[1]। तृतीयपक्षे तूभयदोषानुषङ्गः[2]। चतुर्थपक्षे [3]व्याघातः-[4]सत्त्वासत्त्वयोः[1] परव्यवच्छेद[5]रूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्तेः— सकृदेकत्र [6]प्रतिषेधायोगात्। सर्वथा सदसत्त्वयोः प्रतिषेधेपि कथञ्चित्सद[7]सत्त्वा[8]विरोधाददोष इति चेत् स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गः प्रभाकरस्य।

वर्तमान काल का नियोग नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि उस वाक्य उच्चारण के समय में उन स्वर्गादि फलों का सन्निधान नहीं है। यदि उस अविद्यमान फल को भी वाक्य का अर्थ मानोगे तो निरालंब शब्द पक्ष को लेने से आप बौद्ध बन जावेंगे क्योंकि बौद्धों के यहाँ शब्द का अर्थ वस्तुभूत कुछ भी नहीं है। अविद्यमान-अवास्तविक अर्थों को ही शब्द कहा करते हैं किंतु आपने तो आगम को प्रमाण माना है अतः यह मान्यता ठीक नहीं है। तथा यदि आप तृतीय निःस्वभाव पक्ष को अनुभय के नञ् समास का प्रसज्य प्रतिषेध करके मानें तब तो सभी स्वभावों से रहित नियोग खर-विषाण के समान असत् ही हो जावेगा एवं बौद्धों ने शब्दों का वाच्य असत्-अन्यापोह ही माना है। उन्हीं के मत में आपका प्रवेश हो जावेगा अतः आठों विकल्पों की कसौटी पर कसने से आपका नियोग सिद्ध नहीं होता है।

[नियोग को सत् असत् आदि मानने में दोषारोपण]

दूसरी बात यह है कि यह आपका नियोग सत् रूप ही है या असत् रूप ही है या उभयरूप है अथवा अनुभय रूप है? प्रथम पक्ष में तो विधिवाद ही आता है अर्थात् वेदांती संपूर्ण जगत् को सत् रूप ही मानते हैं। द्वितीय पक्ष के लेने पर निरालंवनवाद-शून्यवाद ही आता है अर्थात् शून्यवादी संपूर्ण जगत को असत् रूप ही मानते हैं। तृतीय पक्ष में उभयपक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग आता है। एवं चतुर्थ पक्ष के मानने पर व्याघात-विरोध नाम का दोष आता है क्योंकि सत् और असत् एक दूसरे के व्यवच्छेद-विरोध रूप हैं अतः इन दोनों में से किसी एक का निषेध करने पर दूसरे का विधान हो जाता है। एक साथ एक ही वस्तु में सत्त्व एवं असत्त्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता है अर्थात् "सत् नहीं है" ऐसा कहने पर असत् स्वयं ही आ जाता है एवं "असत् नहीं है" ऐसा कहने पर सत् स्वयमेव आ जाता है। तथा सर्वथा सत्त्व एवं असत्त्व का प्रतिषेध करने पर भी कथंचित् सत्त्व असत्त्व का विरोध न होने से कोई दोष नहीं है यदि आप ऐसा कहें तो आप प्रभाकर स्याद्वाद मत का आश्रय ले लेंगे।

---

१ अन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेन। २ तदुक्तम्।—प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न स इति वचनात्। ३ विरोधः। ४ कथम्?। ५ यथा सदित्युक्तेऽसत्स्वयमेवायाति, असदित्युक्ते सत्स्वयमेवायाति। ६ सत्त्वासत्त्वयोः। ७ सदसत्त्वविधानाददोष इति खपाठः। ८ सर्वेषां पदार्थानां क्रमवर्तित्वात् शब्दानां च।

---

1 परस्परव्यवच्छेदययोः। इतिपाठान्तरं।

[नियोगस्य प्रवर्तकाप्रवर्तकस्वीकारे दोषारोपणं]

किञ्च[1] नियोग: सकलोपि[2] प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेत् प्रभाकराणामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्त्तक: स्यात्—तस्य सर्वथा[3] प्रवर्त्तकत्वात् । [4]तेषां [5]विपर्यासादप्रवर्त्तक इति चेत् [6]परेषामपि [7]विपर्यासाद[8]प्रवर्त्तकोस्तु[1] । शक्यं हि वक्तुं, प्राभाकरा [9]विपर्यस्तत्वाच्छब्द[10]नियोगात्प्रवर्त्तन्ते [11]नेतरे[2]—तेषामविपर्यस्तत्वादिति । सौगतादयो[12] विपर्यस्तास्तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात् । न पुन: प्राभाकरा इत्यपि[13] पक्षपातमात्रम्-तन्मतस्यापि प्रमाणबाधितत्वाविशेषात् । यथैव हि प्रतिक्षणविनश्वरसकलार्थकथनं

[नियोग को प्रवर्तक या अप्रवर्तक मानने में दोष]

दूसरी बात यह है कि यह ग्यारह प्रकार का भी नियोग प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव है ? यदि प्रवर्तक स्वभाव मानों तो आप प्रभाकर के समान ही वेदवाक्य का अर्थ बौद्धों के लिये भी प्रवर्तक हो जावेगा क्योंकि वह वेदवाक्य सर्वथा प्रवर्तक स्वभाव वाला है। यदि आप कहें कि वे सौगतादि विपरीत बुद्धि वाले हैं अत: वह नियोग उनके लिये अप्रवर्तक है तब तो आप प्रभाकरों को भी विपर्यास होने से वह अप्रवर्तक हो जावे। हम ऐसा कह सकते हैं कि प्रभाकर विपर्यस्त–विपरीत बुद्धि वाले होने से शब्द नियोग से प्रवृत्ति करते हैं इतर बौद्धादि नहीं करते हैं क्योंकि वे विपर्यस्त बुद्धि वाले नहीं हैं। टिप्पणी में "अप्रवर्तक" की जगह "प्रवर्तक" ऐसा पाठ है उसका ऐसा अर्थ करना कि आप प्रभाकर को भी विपरीत बुद्धि होने से ही वह नियोग प्रवृत्ति कराता है। अर्थात् आपकी ही बुद्धि विपरीत है।

प्रभाकर—सौगतादि विपर्यस्त–विपरीत बुद्धि वाले हैं क्योंकि उनका मत प्रमाण से बाधित है, किंतु हम प्रभाकर का मत प्रमाण से बाधित नहीं है।

भाट्ट—यह आपका कथन पक्षपात मात्र को सूचित करता है क्योंकि आपका मत भी प्रमाण से बाधित ही है, अत: दोनों ही मत प्रमाण से बाधित हैं। जिस प्रकार से सभी पदार्थों को प्रतिक्षण विनश्वर कहना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है उसी प्रकार से नियोक्ता–यज्ञकर्ता, नियोग–वेदवाक्य और उसका विषय–यज्ञादि रूप से भेद की परिकल्पना भी प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से बाधित ही है

१ भाट्ट: २ एकादशप्रकारोपि । ३ सर्वपुरुषापेक्षाप्रकारेण । ४ सौगतादीनाम् । ५ प्रवर्त्तकस्वभावे नियोगेऽप्रवर्त्तकतया मननं विपर्यास: । ६ युष्माकं प्राभाकराणां विपरीतत्वादप्रवर्त्तकोस्तु । ७ अप्रवर्त्तकस्वभावे नियोगेप्रवर्त्तकतया मननं विपर्यास: । ८ प्रवर्त्तकोस्त्विति खपाठ: । ९ अप्रवर्त्तकत्वात् (खपुस्तके) । १० शब्दाविकारात् । ११ ताथागतादय: । १२ अत्राह नियोगवादी प्रभाकर: । १३ अत्राह भावनावादी भट्ट: ।—भो प्रभाकर इति ते वचनं स्वमतपक्षपातमात्रम् । कस्मात् ? प्रभाकरमतस्यापि प्रमाणबाधितत्वेन विशेषो नास्ति यत: ।

1 विपर्यासात्प्रवर्तकोऽस्तु । इति पा. । 2 बौद्धा अविपर्यस्त्वाच्छब्दनियोगात् प्रवर्तन्ते ।

प्रत्यक्षादिविरुद्धं तथा [१]नियोक्तृनियोग[२]तद्विषयादि[३]भेदपरिकल्पनमपि, सर्वप्रमाणानां [४]विधि[1]विषयता[2]व्यवस्थापनेन[५] [६]तद्बाधकत्वोपपत्तेः। यदि पुनरप्रवर्त्तकस्वभावः[3] शब्दनियोगस्तदा सिद्ध एव तस्य[७] प्रवृत्तिहेतुत्वायोगः। स[८] च वाक्यार्थत्वाभावं साधयति।

क्योंकि सभी प्रमाण विधि के विषय को व्यवस्थापित करते हैं अतः नियोग की सिद्धि बाधित ही है। अर्थात् प्रमाण चेतन रूप है और विधि-ब्रह्म भी चेतन रूप है। अतः विधि में ही सभी प्रमाण घटित हो जाते हैं, किन्तु नियोग में घटित नहीं होते हैं। इसलिये नियोग बाधित हो जाता है क्योंकि जब सभी प्रमाण विधि-परब्रह्म में अंतर्भूत हो जाते हैं तब यह नियोक्ता है, यह नियोग है इत्यादि भेद कल्पना प्रत्यक्षादि से ही विरुद्ध हो जाती है।

पुनः यदि द्वितीय पक्ष लेवो कि शब्द नियोग अप्रवर्तक स्वभाव वाला है तब तो वह शब्द नियोग प्रवृत्ति हेतुक नहीं है अतः उसमें प्रवृत्ति का अभाव सिद्ध ही है। वह शब्दनियोग उपरोक्त विधि से सिद्ध होता हुआ वेदवाक्य के अर्थ के अभाव को सिद्ध करता है।

भावार्थ—यहाँ पर भाट्ट विधिवाद का आश्रय लेकर प्रभाकरों से प्रश्न करते हैं कि आपका नियोग प्रवृत्ति करा देने रूप स्वभाव वाला है या प्रवृत्ति नहीं कराने रूप? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो वह नियोग जैसे आप प्रभाकरों को यज्ञादि कर्म में प्रवृत्ति कराता है वैसे ही बौद्धों को भी क्यों नहीं कराता है? क्योंकि यदि अग्नि का स्वभाव जलाने का है तो वह पक्षपात रहित काष्ठ, वस्त्र, मूर्ख के शरीर, पंडित के शरीर, रत्न, तृण आदि सभी को भस्म कर देती है। यदि आप कहें कि बौद्ध मिथ्या बुद्धि वाले हैं अतः उन्हें वेदवाक्य प्रवृत्ति नहीं करा सकते हैं जैसे कि सुवर्ण, अभ्रक आदि को अग्नि नहीं भी जलाती है तब तो हम ऐसा भी कह सकते हैं कि आप प्रभाकर विपरीत बुद्धि वाले हैं अतः वेदवाक्य के अर्थ नियोग से अपने आपको यज्ञकार्य में नियुक्त होना अर्थ मान लेते हैं और कर्मकांडों में प्रवृत्ति भी करते हैं किन्तु बौद्धादि विपरीत बुद्धि वाले नहीं हैं अतः वे नियोग को प्रवृत्ति कराने वाला नहीं मानते हैं एवं उसके अनुकूल यज्ञादि में प्रवृत्ति भी नहीं करते हैं। यह हमारा कथन भी आप किसी तरह से बाधित नहीं कर सकते हैं। यदि आप बौद्ध चार्वाकादि के मतों को बाधित कहें तो जैसे उनके मत प्रत्यक्षादि से बाधित हैं वैसे ही आपका नियोग पक्ष भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित ही है क्योंकि सभी प्रमाणों

---

१ नियोगकृद्-यज्ञकृद्-यज्ञकर्त्ता। अयं यज्ञकर्त्तायं नियोग इदं फलमिति भेदापादनं प्रत्यक्षादिप्रमाणाद्विरुद्धं मतभेदः साधयितुं न शक्यते। २ वेदवाक्य। ३ आदिशब्दात् पुरुषफले। ४ विधिमध्यपतितत्वव्यवस्थापनेन। ५ प्रत्यक्षादिविरुद्धमिति सम्बन्धः। ६ तस्य नियोगस्य बाधकमुपपद्यते यतः। ७ शब्दनियोगस्य। ८ शब्दनियोगः सिद्धः सन्।

---

1 प्रमाणं चेतनं विधिश्चेतनो विधिमध्ये सर्वाणि प्रमाणानि घटंते न च नियोगे। 2 व्यवस्थापने इति पा.। सति यदा सर्वेषां प्रमाणानां विधौ परमब्रह्मणिअंतर्भावे नियोक्तृनियोगादिभेदकल्पनं प्रत्यक्षादिविरुद्धं भवतीति भावः। 3 अग्निष्टोमादिवाक्यनिबंधनः।

[नियोगः फलरहितः फल सहितो वेत्युभयपक्षे दोषारोपणम्]

किञ्च नियोगः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेत्, न ततः[१] प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः अप्रेक्षावत्त्वप्रसङ्गात्[1], प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्त्तते इति प्रसिद्धेश्च। [२]प्रसिद्धचण्ड[३]नरपतिवचननियोगादफलादपि प्रवर्त्तनदर्शनाददोष इति चेन्न, तस्यापायपरिरक्षणफलत्वात्। [४]तन्नियोगादप्रवर्त्तने तदाज्ञोल्लङ्घन[५]कृतामपायोवश्यं[६] सम्भवतीति।

से विधिवाद–सत्–चित् परमब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध होता है। यदि आप द्वितीय पक्ष में उस नियोग को प्रवृत्ति नहीं कराने वाला मानेंगे तब तो उन "यजेत" आदि वाक्यों से यज्ञादि कार्य में कभी भी प्रवृत्ति ही नहीं कर सकेंगे पुनः आप कर्मकांडी मीमांसक कैसे रहेंगे ? अतः उपर्युक्त विकल्पों से भी वेदवाक्य का अर्थ नियोग सिद्ध नहीं होता है।

[नियोग फल रहित है या फल सहित]

प्रकारांतर से यह भी प्रश्न होता है कि वह नियोग फल रहित है या फल सहित है ? यदि फल रहित मानों तब तो उस फल रहित नियोग में बुद्धिमान् पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी अन्यथा वे बुद्धिमान भी मूर्ख ही हो जावेंगे क्योंकि "प्रयोजन के बिना मंद-मूढ़ भी प्रवृत्ति नहीं करते हैं" यह बात प्रसिद्ध है। अर्थात् बुद्धिमान जन फल की अभिलाषा से ही प्रवृत्ति करते हैं। यदि फल के अभाव में भी प्रवृत्ति करेंगे तब तो विद्वान् नहीं कहे जा सकेंगे।

प्रभाकर—प्रसिद्ध अत्यंत क्रोधी राजा के वचन के नियोग से–फल रहित भी वचन के नियोग से प्रवृत्ति देखी जाती है अतः कोई दोष नहीं है।

भाट्ट—ऐसा भी नहीं कहना, वह प्रवृत्ति भी अपाय (कष्ट) से परिरक्षण रूप फल वाली है क्योंकि उस क्रोधी राजा के वचनादेश से प्रवृत्ति न करने पर तो उस राजा की आज्ञा का उलंघन करने वाले मनुष्यों का धनापहरण आदि अपाय अवश्यंभावी है।

प्रभाकर—तब तो वेदवाक्य से भी नियुक्त हुआ मनुष्य प्रत्यवाय-विघ्नों को दूर करने के लिये प्रयत्न करे क्योंकि हमारे यहाँ कहा भी है कि विघ्नों को दूर करने के लिए नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठानों को करे अर्थात् "त्रिकाल संध्या, उपासना, जप, देव, ऋषि, पितृ–तर्पण आदि अनुष्ठान नित्य कर्म कहलाते हैं एवं अमावस्या, पौर्णमासी, ग्रह, ग्रहण आदिकों में किया गया अनुष्ठान नैमित्तिक कहलाता है। इन नित्यनैमित्तिक क्रियाओं को विघ्नों का नाश करने के लिए करे"।

---

१ फलरहितान्नियोगाद्विचारचतुराणां प्रवृत्तिर्न घटते। घटते चेत्तदा तेषामप्रेक्षावत्त्वं सजतीति। २ प्रसिद्ध इत्ययं शब्दः खपुस्तके नास्ति। ३ चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः। ४ चण्डनरपतिवचनादेशात्। ५ जनानाम्। ६ वित्तापहारादिः।

---

1 अन्यथा। प्रेक्षावंतः फलमभिलष्य प्रवर्तंते यदि फलाभावे प्रवर्तंते तर्हि—।

तर्हि[1] वेदवचनादपि नियुक्तः प्रत्यवायपरिहाराय[2] प्रवर्त्तताम्—"[3]नित्यनैमित्तिके[4] कुर्यात्प्रत्यवायजिहासये[5]" ति वचनात् । [6]कथमिदानीं[7] स्वर्गकाम[8] इति वचनमवतिष्ठते—[9]जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययान्त[10]निर्देशमात्रादेव नियोगमात्रस्य सिद्धेस्तत एव च प्रवृत्तिसम्भवात्[11] । यदि पुनः फलसहितो नियोग इति पक्षस्तदा फलार्थितैव प्रवर्त्तिका न नियोगः-- [12]तमन्तरेणापि फलार्थिनां प्रवृत्तिदर्शनात् । [13]पुरुषवचनान्नियोगे[14]ऽयमुपालम्भो[15] [16]नापौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यात्—[1]तस्यानुपालम्भत्वादिति चेत्, "सर्वं वै

"नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।
अकुर्वन विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते ।।"

ऐसा श्रुतिवाक्य है।

भाट्ट—पुनः विघ्नों के परिहार रूप फल का प्रतिपादन करते समय "स्वर्गकामः" यह वचन कैसे सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् यदि विघ्न का परिहार करने के लिये यज्ञ किया जाता है तब "स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष" इस शब्द से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

"जुहुयात्, जुहोतु, होतव्यं" इस प्रकार से लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय जिसके अंत में हैं ऐसे शब्द के निर्देश कर देने मात्र से ही नियोग मात्र सिद्ध है और उसी से ही प्रवृत्ति संभव है। अर्थात् इस संसार में लौकिक विघ्नों को दूर करने की इच्छा रखता हुआ पुरुष होम क्रिया में प्रवृत्त होवे न कि स्वर्ग की इच्छा करने वाला मनुष्य, क्योंकि लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय स्वरूप ही नियोग है इसलिए स्वर्ग की इच्छा के विना ही यज्ञादि कर्म में प्रवृत्ति संभव है अतः आप नियोगवादियों को पूर्वापर विरुद्ध दो प्रकार के वचन नहीं कहना चाहिये क्योंकि पाप का परिहार करने के लिये यज्ञादि कर्म हैं पुनः वे यज्ञादि कर्म स्वर्ग की प्राप्ति कैसे करावेंगे ? अतः "स्वर्गकामः" यह शब्द संभव है ऐसा नहीं कहना चाहिये। यदि पुनः आप दूसरा पक्ष लेवें कि फल सहित ही नियोग है तब तो फल की इच्छा होना ही प्रवर्तिका-प्रवर्तन कराने वाली है न कि नियोग, क्योंकि उस नियोग के विना भी फलार्थी—फल की इच्छा करने वाले जनों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

---

१ प्रभाकरः । २ पापपरिहारफलाय । अवश्यं विघ्न आयाति धर्मकार्ये तन्निवारणाय । ३ त्रिकालं सन्ध्योपासनजपदेवर्षिपितृतर्पणादिकमित्याद्यनुष्ठानम् । ४ दर्शपौर्णमासीग्रहग्रहणादिषु क्रियमाणं नैमित्तिकानुष्ठानम् । ५ अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते इति श्रुतेः । ६ भावनावादी । ७ प्रत्यवायपरिहारस्य फलत्वप्रतिपादनकाले । ८ यदि विघ्नविनाशनाय यज्ञः क्रियते तर्हि स्वर्गकाम इत्यनेन वचनेन किं प्रयोजनम् ? । ९ इहलोकप्रत्यवायपरिहारार्थी पुमान् जुहुयादिति प्रवर्त्ततां, न तु स्वर्गकाम इति । १० प्रत्ययस्वरूप एव नियोगः । ११ ततः स्वर्गकामनिरपेक्षतया यागे प्रवर्त्तनं नाम । १२ नियोगं विनापि । १३ अत्राह नियोगवादी । १४ पूर्वोक्तः सर्वः । १५ दूषणम् । १६ अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्याद्यपौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यान्नियोगे दूषणं न—तस्य वाक्यस्यादूष्यत्वात् ।

---

1 अनुपालभ्यत्वात् इति पा. । अदूष्यत्वात् ।

खल्विदं ब्रह्म" त्यादि[1] वचनमपि विधिमात्रप्रतिपादकमनुपालभ्यमस्तु [2]तत एव । तथा च वेदान्तवादसिद्धिः । तस्मान्न नियोगो वाक्यार्थः [3]कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्विधिवत्[4] ।

[पूर्वकथितैकादशप्रकारस्य नियोगस्य क्रमशः निराकरणम्]

सर्वेषु[5] च पक्षेषु नियोगस्य प्रत्येकं विचार्यमाणस्यायोगान्न वाक्यार्थत्वमवतिष्ठते । तथा हि ।–न तावत्कार्यं शुद्धं नियोग इति पक्षो घटते [6]प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य[7] नियोगस्यासम्भवात् । तस्मिन्नियोगसंज्ञाकरणे स्वकम्बलस्य [8]कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्रं स्यात् । न च तावता [9]स्वेष्टसिद्धिः । शुद्धा प्रेरणा[10] नियोग इत्यप्यनेनापास्तं[11]–[12]नियोज्यफल-[13]

नियोगवादी-प्रभाकर—यदि हम पौरुषेय वचन–पुरुष के वचन से नियोग का अर्थ करें तब तो उपर्युक्त दोष आ सकते हैं किंतु हम तो अपौरुषेय वेद के अग्निहोत्रादि वाक्य से नियोग मानते हैं अतएव उस मान्यता में आप उलाहना नहीं दे सकते हैं।

भावनावादी-भाट्ट—तब "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन । आरामं तस्य पश्यंति न तं पश्यति कश्चन ॥" इस विधि मात्र के प्रतिपादक वचन भी निर्दोष सिद्ध होवें क्या बाधा है ? क्योंकि अपौरुषेयत्व हेतु दोनों जगह समान है और उस प्रकार से तो वेदांतवाद की सिद्धि हो जाती है। इसलिये वेदवाक्य का अर्थ नियोग नहीं है क्योंकि उसमें किसी भी पुरुष की प्रवृत्ति का अभाव है जैसे विधि–परब्रह्म में किसी की प्रवृत्ति नहीं है ।

[प्रारम्भ में जो नियोग के ११ प्रकार से अर्थ किये हैं उनका क्रमशः भाट्ट द्वारा खंडन किया जा रहा है]

उपर्युक्त सभी एकादश प्रकार के पक्षों में प्रत्येक का विचार करने से वह नियोग सिद्ध नहीं होता है अतः वेदवाक्य का अर्थ नियोग करना ठीक नहीं है। तथाहि—

(१) "शुद्ध कार्य नियोग है" यह पक्ष भी घटित नहीं होता है क्योंकि "यजेत स्वर्ग कामः" इस प्रकार से प्रेरणा और नियोज्य—स्वर्ग की इच्छा करने वाले श्रोतापुरुष से वर्जित नियोग ही असम्भव है अर्थात् स्वर्ग की इच्छा करने वाले पुरुष से वर्जित नियोग ही असम्भव है। और उसकी नियोग संज्ञा करने पर तो अपने कम्बल को 'कूर्दालिका–कुदालि' ऐसा एक भिन्न नाम रख दिया गया मात्र ही हो जाता किन्तु उतने से अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थात् नियोग पक्ष में स्वर्ग है और कूर्दालिका–कुदाली पक्ष में खोदना आदि है। अर्थात् कुछ का कुछ नाम रख देने से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रेरणा और नियोज्य पुरुष से रहित केवल शुद्ध कार्य रूप नियोग से स्वर्ग नहीं मिल सकता है जैसे कि

---

१ नेह नानास्ति किञ्चन । आराम (विस्तारं) तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ॥ २ अदूष्यत्वस्याविशिष्टत्वात् । ३ पुरुषस्य । ४ परब्रह्म यथा ५ एकादशभेदनियोगेषु । ६ यजेतेति । प्रवर्त्तकत्वं । ७ स्वर्गकाम । ८ कुदाली । ९ स्वर्गं । स्वर्गो नियोगपक्षे कूर्दालिकापक्षे खननादि । १० अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादि । ११ पूर्वोक्तेन वक्ष्यमाणेन च । १२ नियोज्यः पुमान् । १३ स्वर्गः ।

---

1 अपौरुषेयत्वादेव ।

रहिताया: [1]प्रेरणाया: [2]प्रलापमात्रत्वान्नियोगरूपतानुपपत्तेः । प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इत्यप्यसम्भाव्यम्—नियोज्यविरहे नियोगविरोधात् । कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यप्यसारम्—नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य [3]प्रवर्त्तकत्वोपचारायोगात् । कदाचित्क्वचित्परमार्थतस्तस्य[4] तथानुपलम्भाच्च[5] । [6]कार्यप्रेरणयोः[7] सम्बन्धो नियोग इति [8]वचनमसङ्गतम्–[9]ततो भिन्नस्य[10] सम्बन्धस्य सम्बन्धिनिरपेक्षस्य [11]नियोगत्वाघटनात् [12]सम्बन्ध्यात्मनः सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्[1]-

कम्बल को कुदाली कह देने से उससे सड़क का खोदना नहीं हो सकता है ।

(२) और जो आपने कहा था कि "शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है" अर्थात् "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इस कथन का भी पूर्वोक्त कथन से ही निरसन हो जाता है । नियोज्य—पुरुष और उसका फल–स्वर्ग इन दोनों से रहित प्रेरणा प्रलाप मात्र ही है इसलिये वह प्रेरणा नियोग रूप नहीं हो सकती है।

(३) "प्रेरणा सहित कार्य नियोग है" यह पक्ष भी असम्भव है क्योंकि नियोज्य मनुष्य के न होने पर नियोग ही असम्भव है ।

(४) "कार्य सहित प्रेरणा ही नियोग है" इसका भी इसी कथन से निरसन हो जाता है ।

(५) "कार्य ही उपचार से प्रवर्तक होने से नियोग है" यह पक्ष भी असार है । नियोज्य–पुरुष आदि से निरपेक्ष कार्य में प्रवर्तक का उपचार ही नहीं हो सकता है क्योंकि कदाचित् क्वचित् परमार्थ से वह नियोज्यादि निरपेक्ष कार्य प्रवर्तक प्रकार से उपलब्ध नहीं होता है । अर्थात् नियोज्य—श्रोतापुरुष, नियोजक—शब्दादि की अपेक्षा रहित कार्य उपचार से भी यज्ञादि में प्रवृत्ति नहीं करता है । मुख्य रूप से सिंह के प्रसिद्ध होने पर वीर पुरुषों में सिंह का उपचार कर दिया जाता है किन्तु यहाँ कभी कहीं नियोज्यादि से रहित केवल कार्य उस प्रकार से प्रवर्तक नहीं हो सकता है ।

(६) "यागादि कार्य और वेदवाक्य रूप प्रेरणा का सम्बन्ध ही नियोग है ।" यह वचन भी असंगत है क्योंकि कार्य और प्रेरणा रूप सम्बन्धी से भिन्न सम्बन्ध यदि सम्बन्धी से निरपेक्ष है तो वह नियोग रूप से घटित नहीं हो सकता है । "संबंध्यात्मक सम्बन्ध को नियोग कहना भी दुरन्वय–गलत ही है" क्योंकि प्रेर्यमाण पुरुष से निरपेक्ष, संबंध्यात्मक भी कार्य और प्रेरणा नियोग नहीं हो सकते हैं ।

भावार्थ—सम्बन्धियों से सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ सम्बन्ध तटस्थ पदार्थ के समान उनका नियोग

१ प्रेरकत्वस्य । २ निरर्थकत्वात् । ३ निरर्थकत्वादिति भावः । ४ नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य । ५ प्रवर्तकत्व-प्रकारेण । ६ यागादि । ७ वेदवाक्य । ८ इति च न सङ्गतमिति खपुस्तकपाठः । ९ कार्यप्रेरणाख्ययोः सम्बन्धिनोः । १० सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नोऽभिन्नो वेति विकल्पद्वयमवतीति क्रमेण निराकुर्वन्नाह । ११ नियोगत्वेनाघटनादिति खपुस्तकपाठः । १२ सम्बन्धिनावात्मानौ स्वरूपे यस्य ।

1 दुष्टोपदेशः ।

प्रेर्यमाणपुरुष[1] निरपेक्षयोः [1]सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोर्नियोगत्वानुपपत्तेः । [2]तत्समुदायनियोगवादोप्यनेन[3] प्रत्याख्यातः । कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो न विधिवादमतिशेते[4] । यत्पुनः स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्त्तते इति यन्त्रारूढनियोगवचनं तदपि न [5]परमात्मवादप्रतिकूलम्—[6]पुरुषाभिमानमात्रस्य[2] नियोगत्ववचनात्, [7]तस्य चाविद्योदयनिबन्धनत्वात् । भोग्यरूपो नियोग इति चायुक्तम्— [8]नियोक्तृ[9]प्रेरणाशून्यस्य [10]भोग्यस्य तद्भावानुपपत्तेः । पुरुषस्वभावो हि[11] न नियोगो घटते [12]तस्य [13]शाश्वतिकत्वेन नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गात् । [14]पुरुषमात्रविधेरेव [15]तथाभिधाने वेदान्तवादपरिसमाप्तेः[16] कुतो नियोगवादो नाम ।

नहीं हो सकता एवं कार्य और प्रेरणा रूप सम्बन्धियों से अभिन्न तदात्मक हो रहा सम्बन्ध जब तक श्रोता-पुरुष की अपेक्षा नहीं रखेगा तब तक कथमपि नियोग नहीं हो सकता। शिष्य की अपेक्षा नहीं रखकर अध्ययन करने की प्रेरणा करना बहुत ही कठिन है सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध का भेद अथवा अभेद इन दोनों पक्षों में नियोग व्यवस्थित नहीं होता है।

(७) "उन दोनों का तादात्म्य समुदाय ही नियोग है" उपर्युक्त भिन्न अभिन्न पक्ष उठाने से यह पक्ष भी निरस्त हो जाता है क्योंकि पुरुष के बिना उन दोनों के समुदाय को नियोग कहना उचित नहीं है।

(८) कार्य और प्रेरणा से रहित भी नियोग विधिवाद का उलंघन नहीं कर सकता है किन्तु विधिवाद ही आ जाता है। तुच्छाभाव को न मानने से आप प्रभाकरों के यहाँ कार्य और प्रेरणा से रहित नियोग वेदान्तवादी के ब्रह्माद्वैतवाद का ही आश्रय ले लेता है।

(९) जो आपने कहा है कि स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्रादि वाक्यों से नियुक्त होने पर अपने को याग लक्षण विषय में आरूढ़ मानता हुआ प्रवृत्ति करता है इस प्रकार से "यंत्रारूढ़ नियोग वचन ही नियोग है" यह कथन भी परमात्म—ब्रह्मवाद के प्रतिकूल नहीं है। वहाँ विधिवाद में भी पुरुष के अभिप्राय मात्र को नियोग कहा है और पुरुष का अभिमान—अभिप्राय भी तो अविद्या के उदय से ही होता है।

(१०) "भोग्य रूप नियोग है" यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि नियोक्ता—वेदवाक्य और

---

१ यसः (कर्मधारयः)। २ तादात्म्यम्। ३ ततो भिन्नस्येत्यादिना। ४ नातिशयं प्राप्नोति। नातिक्रामति। किन्तु विधिवाद एवायातः। ५ विधिवाद। ६ अभिप्रायः। ७ पुरुषस्याभिमानाभावादित्युक्ते आह। पुरुषाभिमानमात्रस्य। ८ वेदवाक्य। ९ प्रवर्त्तकलक्षणो वाक्यधर्मः। १० स्वर्गस्य। ११ पुरुषस्वभावोपीति खपुस्तकपाठः। १२ अन्यथा। तस्य पुरुषस्वभावस्य। १३ नित्यत्वेन। १४ अस्तित्वस्य। १५ नियोग इति। १६ प्राप्तेः।

---

1 संबंधात्मनोः इति पा.। 2 तत्संवेदनविवर्तस्तु नियुक्तोहमिति अभिमानरूपो नियोग इति नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते।

प्रेरणा-प्रवर्तक लक्षण वेदवाक्य का धर्म इन दोनों से रहित भोग्य-स्वर्ग (भविष्यत्काल में भोगने योग्य पदार्थ) की व्यवस्था नहीं बन सकती है।

(११) एवं ग्यारहवें पक्ष में माना गया "पुरुष का स्वभाव नियोग है" यह कथन भी घटित नहीं होता है। अन्यथा यदि पुरुष के स्वभाव को ही नियोग मानोगे तो पुरुष का स्वभाव तो शाश्वतिक है पुनः वह नियोग भी शाश्वतिक हो जावेगा। पुरुषमात्र के अस्तित्व को ही "नियोग" कहने पर तो वेदान्तवाद की प्राप्ति हो जाने से नियोगवाद नाम ही कैसे रह सकेगा ?

इस प्रकार आप प्रभाकर द्वारा मान्य ११ प्रकार का नियोग कथमपि सिद्ध नहीं होता है विचार कोटि में रखने पर वह विधिवाद में ही चला जाता है एवं आगे विधिवाद का भी निराकरण कर देने से अपौरुषेय वेदवाक्य एवं उसमें मान्य नियोग, विधि आदि सभी समाप्त हो जाते हैं।

नियोगवाद के खंडन का सारांश

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं और उन्हीं के यहां जो भेद प्रभेद हैं उनके अर्थ में अनेक की कल्पना करके परस्पर में विसंवाद करते हैं। प्रभाकर मतानुयायी वेदवाक्य का अर्थ नियोग करते हैं, अर्थ भाट्ट भावना अर्थ करते हैं और वेदान्ती वेदवाक्य का अर्थ विधि करते हैं।

सर्वप्रथम नियोगवादी का पक्ष स्थापित करके भावनावादी भाट्ट दोष दिखाता है—

भावनावादी—आप प्रभाकर ने वेदवाक्य का अर्थ नियोग किया है सो ठीक नहीं है उसमें अनेक बाधायें सम्भव हैं "अग्निष्टोमादि वाक्य से मैं नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रकार से निरवशेष योग को नियोग कहते हैं वहाँ भी किंचित् चिद् भावना रूप कार्य सम्भव नहीं है क्योंकि आपके यहाँ नियोग का अर्थ अनेक वक्ताओं ने ग्यारह प्रकार से किया है।

(१) कोई कहते हैं कि जो लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय का अर्थ है, शुद्ध है, अन्यनिरपेक्ष है, एवं कार्यरूप (यज्ञरूप) है वही नियोग है।

(२) वाक्यांतर्गत कर्मादि अवयवों से निरपेक्ष शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है।

(३) प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है।

(४) कार्य सहित प्रेरणा को नियोग कहते हैं क्योंकि कार्य के विना कोई पुरुष प्रेरित नहीं होता है।

(५) कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते हैं।

(६) प्रेरणा और कार्य का सम्बन्ध ही नियोग है।

(७) प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है।

(८) इन दोनों से विनिर्मुक्त स्वभाव ही नियोग है।

(९) यंत्रारूढ़—यागलक्षण कार्य में लगा हुआ जो पुरुष है वही नियोग है।

(१०) भाग्य—भविष्यत् रूप ही नियोग है।

(११) पुरुष ही नियोग है।

इन एकादश पक्षों का विचार करने से वह नियोग सिद्ध नहीं होता है यथा—

(१) "शुद्ध कार्य नियोग है" यह पक्ष असंभव है क्योंकि "यजेत स्वर्गकाम:" इस प्रकार प्रेरणा और नियोज्य से रहित नियोग असंभव है।

(२) जो आपने कहा था "शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है" क्योंकि नियोज्य—पुरुष और उसका फल-स्वर्ग उससे रहित प्रेरणा प्रलाप मात्र है।

(३) "प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है" इसमें भी नियोज्य मनुष्य के न होने पर नियोग ही असम्भव है।

(४) "कार्य सहित प्रेरणा" का इसी से निरसन हो गया।

(५) "कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहना" भी असार है क्योंकि पुरुषादि से निरपेक्ष कार्य (यज्ञ) में प्रवर्तक का उपचार ही असम्भव है।

(६) "कार्य और प्रेरणा का संयोग" अर्थ करने पर तो इन दोनों सम्बन्धी से भिन्न सम्बन्ध यदि सम्बन्धी से निरपेक्ष है तो वह नियोग रूप से नहीं घटता है।

(७) "उन दोनों का समुदाय" अर्थ कहने पर वह उससे भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि विकल्पों से दूषित हो जाता है।

(८) "कार्य और प्रेरणा से रहित नियोग" विधिवाद में ही प्रविष्ट हो जाता है।

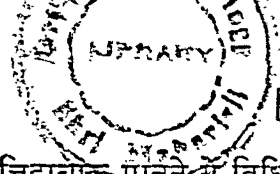
(९) "यंत्रारूढ़ नियोग वचन ही नियोग है" इस कथन से भी विधिवाद ही आता है।

(१०) भोग्य को नियोग कहने से वेदवाक्य और प्रेरणारूप वाक्य का धर्म इन दोनों से रहित भोग्य-स्वर्ग की व्यवस्था ही असम्भव है।

(११) "पुरुष का स्वभाव नियोग है" ऐसा अर्थ करने पर तो पुरुष का स्वभाव शाश्वतिक होने से नियोग भी शाश्वत हो जावेगा।

इस प्रकार से ११ विकल्पों में कहा गया नियोग सिद्ध नहीं होता तथा इनमें आठ विकल्प और उठते हैं कि ये ग्यारहों विकल्प रूप नियोग प्रमाण है या प्रमेय, उभय रूप है या अनुभय रूप तथा शब्द व्यापार रूप है या पुरुष व्यापार रूप, दोनों के व्यापार रूप हैं या दोनों के व्यापार से रहित ?

यदि आप प्रथम पक्ष लेवें तो विधिवाद आ जावेगा क्योंकि प्रमाण तो चिदात्मक है। यह आत्मा "द्रष्टव्य:, श्रोतव्यो, निदिध्यासितव्य:" इत्यादि वाक्यों के सुनने से अवस्थांतर से विलक्षण "मैं प्रेरित हुआ हूँ" ऐसी अहंकार बुद्धि से आत्मा ही प्रतिभासित होती है और वही विधि है। यदि दूसरा पक्ष लेवें तो प्रमेय को ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण मानना होगा अन्यथा प्रमाण के अभाव में प्रमेय कैसे रहेगा ? एवं प्रमेय रूप नियोग पुरुष से भिन्न न होने से आप वेदान्ती बन जावेंगे।



यदि उभयरूप को नियोग कहें तब तो नियोग को ज्ञान पर्याय–चिदात्मक मानने से विधिवाद ही सिद्ध हो जाता है यदि अनुभय स्वभाव कहो तो उभयरूप से रहित संवेदनमात्र ही पारमार्थिक होने से विधिवाद ही आवेगा। यदि शब्द व्यापार को नियोग कहो तो "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि शब्द का व्यापार नियोग होने से आप हमारे–भाट्ट के मत में प्रवेश कर जावेंगे क्योंकि हमने "शब्द भावना" को नियोग कहा है। एवं छठे पक्ष में भी आप भाट्ट ही हो जावेंगे कारण हमने पुरुष के व्यापार को भी भावना स्वभाव कहा है। हमारे यहाँ भावना के २ भेद हैं–शब्द भावना और अर्थभावना। यदि उभय के व्यापार को नियोग कहो तो क्रम से कहोगे या युगपत्? क्रम से कहो तो वही भाट्टमत प्रवेश नाम का दोष आता है। यदि युगपत् कहो तो एक जगह एक साथ उभय स्वभाव की व्यवस्था नहीं होगी। अनुभय स्वभाव को नियोग कहो तो वह यागादि कर्म रूप विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है अथवा निःस्वभाव?

यदि विषय स्वभाव कहो तो यागादि अर्थ के विषय विद्यमान हैं या नहीं? यदि वेदवाक्य के काल में विषय अविद्यमान हैं तो उस विषय का स्वभाव रूप नियोग भी अविद्यमान ही रहा। यदि विद्यमान कहो तो वह वेदवाक्य के काल में विषय स्वभाव विद्यमान होने से वाक्य का अर्थ नहीं होगा क्योंकि वह तो यागादि को निष्पादन करने के लिये हुआ है। निष्पन्न हुये यागादि का पुनः निष्पादन शक्य नहीं है। यदि यागादि का रूप किंचित् अनिष्पन्न है उसे निष्पादन करने के लिये नियोग है कहो तो यागादि विषय स्वभाव नियोग भी अनिष्पन्न होने से वेदवाक्य का अर्थ कैसे होगा? यदि फल स्वभाव नियोग है कहो, तो स्वर्गादि का फल नियोग नहीं है क्योंकि वह स्वर्गादि फल वाक्य के काल में अविद्यमान है यदि असन्निहितफल को भी नियोग कहो तो निरालंबवाद–बौद्ध के मत में प्रवेश हो जावेगा क्योंकि वे शब्द को निरालंब—अन्यापोह अर्थवाला कहते हैं यदि निःस्वभाव कहो तो भी अन्यापोहवाद ही आवेगा।

दूसरी बात यह है कि यह नियोग सत् है या असत्, उभयरूप है या अनुभयरूप? प्रथम पक्ष में विधिवाद है। द्वितीय में निरालंब–शून्यवाद है, उभयपक्ष में उभय पक्षोपक्षिप्त दोष है एवं चतुर्थ पक्ष में विरोध दोष आता है क्योंकि सत् के निषेध में असत् का विधान होगा ही। यदि सर्वथा सत् असत् का निषेध करो तो कथंचित् सत् असत् आ जाता है जो कि स्याद्वाद का आश्रय ले लेता है, वह आपको इष्ट नहीं है। पुनः नियोग प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो आप प्रभाकर के समान ही वह बौद्धों को भी प्रवर्तक हो जावेगा क्योंकि सर्वथा प्रवर्तक स्वभाव है यदि दूसरा पक्ष लेवो तो वह नियोग प्रवृत्ति का हेतु न होता हुआ वेदवाक्य के अर्थ के अभाव को ही सिद्ध करेगा। तथा यह नियोग फल रहित है या फल सहित? यदि प्रथम विकल्प कहो तो फल रहित नियोग से कोई भी बुद्धिमान प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि प्रयोजन के विना मूर्ख भी प्रवृत्ति नहीं करता है यदि कहो कि अत्यन्त क्रोधी राजा के फल रहित भी वचन के नियोग से प्रवृत्ति देखी जाती है सो भी प्रवृत्ति कष्ट से परिरक्षण रूप फल वाली है क्योंकि क्रोधी राजा के वचनादेश से प्रवृत्ति न करने पर धनापहरण, मृत्यु दंड आदि अवश्यंभावी है।

इस पर यदि कहें कि वेदवाक्य से नियुक्त हुआ पुरुष विघ्नों को दूर करने के लिये ही प्रवृत्ति करता है क्या बाधा है ? त्रिकाल संध्योपासन, पितृऋषितर्पण आदि नित्य कर्म और पौर्णमासी आदि तिथियों में किया गया अनुष्ठान नैमित्तिक कर्म है। कहा भी है—

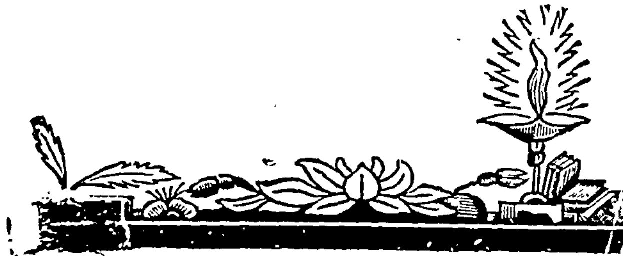
' नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।
अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते ॥"

परन्तु यह कथन भी विरुद्ध है। विघ्नों के परिहार रूप फल को प्रतिपादन करते समय "स्वर्गकामः" यह वचन कैसे सिद्ध होगा ? जब विघ्न का परिहार करने के लिये यज्ञ किया जाता है तब "स्वर्गकामः" इस शब्द से क्या प्रयोजन है ? अतएव "जुहुयात् जुहोतु होतव्यं" इन लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय को अन्त में रखकर निर्देश कर देने से नियोग मात्र सिद्ध हो गया उसी से प्रवृत्ति सम्भव है इसलिये स्वर्ग की इच्छा के विना भी याग कर्म में प्रवृत्ति हो गई।

यदि फल सहित नियोग है ऐसा कहो तो फल की इच्छा होना ही प्रवर्तक है न कि नियोग, क्योंकि नियोग के विना भी फलार्थीजनों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

नियोगवादी—ये सभी दोष तो तब आवेंगे जब हम वेद को पौरुषेय-पुरुषकृत मानें। हमारे यहाँ अपौरुषेय वेदवाक्य से नियोग अर्थ मानने में कोई दोष नहीं आते हैं।

भाट्ट—तब तो आपको 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन, आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' इत्यादि विधि वचन को भी प्रमाण मानना होगा। अतः एकादश प्रकार के सभी पक्षों में प्रत्येक का विचार करने पर वह नियोग सिद्ध नहीं होता है।



[भाट्टो नियोगवादं निराकृत्याधुना विधिवादं निराकरोति]

[1]नन्वेवं नियोगनिराकरणेऽपि [2]विधेर्वाक्यार्थत्वघटनान्न भावना वाक्यार्थः सिद्धो भट्टस्येति न [3]चेतसि विधेयम्[1] –विधेरपि विचार्यमाणस्य बाध्यमानत्वात्। सोऽपि हि प्रमाणरूपो वा स्यात् प्रमेयरूपो वा तदुभयरूपो वा अनुभयरूपो वा पुरुषव्यापाररूपो वा [4]शब्दव्यापाररूपो वा द्वयव्यापाररूपो वाऽद्वयव्यापाररूपो वेत्यष्टौ विकल्पान्नातिक्रामति। तथाहि।

[विधेः प्रमाणरूपाभ्युपगमे दोषानाह]

प्रमाणं विधिरिति [5]कल्पनायां प्रमेयं किमपरं स्यात्? [6]तत्स्वरूपमेवेति चेन्न—सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रदेहस्य विधेः प्रमाणप्रमेयरूपद्वयविरोधात्। [7]कल्पितत्वात्तद्रूपद्वयस्य

[प्रभाकर नियोगवाद को मानता है जैनाचार्यों ने भावनावादी भाट्ट के मुख से उस नियोगवादी का खंडन कराया है। अब जैनाचार्य पुनः विधिवादी वेदान्ती का भी खंडन भाट्ट के द्वारा ही करा रहे हैं।]

विधिवादी [*वेदांतवादी*]—इस प्रकार से नियोग का निराकरण हो जाने पर भी वेद का अर्थ विधि ही घटित होता है किन्तु आप भाट्टों के द्वारा मान्य वेदवाक्य का भावना अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता है।

भाट्ट—ऐसा भी तुम्हें मन में नहीं समझना चाहिये क्योंकि विधिवाद को भी विचार की कोटि में रखने से वह वाधित हो जाता है। उस विधि अर्थ में हम प्रश्न करेंगे कि वह विधि प्रमाण रूप है या प्रमेयरूप, उभयरूप है या अनुभयरूप, पुरुष व्यापार रूप है या शब्द व्यापार रूप, द्वय–इन दोनों के व्यापार रूप है या अद्वय–इन दोनों से रहित व्यापार रूप है? इन आठ विकल्पों का उलंघन वह विधि—ब्रह्मवाद भी नहीं कर सकता है।

[विधि को प्रमाण रूप मानने पर उसका खंडन]

(१) तथाहि—विधि को प्रमाण मानने पर आप ब्रह्माद्वैतवादियों के यहाँ अन्य प्रमेय नाम की और क्या वस्तु होगी? यदि आप कहो विधि (ब्रह्म) का स्वरूप ही प्रमेय है तब तो सर्वथा निरंश, सन्मात्रदेहवाले विधि–परब्रह्म के प्रमाण और प्रमेय ऐसे दो रूप नहीं हो सकते हैं क्योंकि विरोध आता है।

वेदांती—कल्पित होने से वे प्रमाण और प्रमेय दोनों रूप वहाँ पर विधि में अविरुद्ध हैं।

---

१ अथ नियोगवादिनं निराकृत्य भट्टो विधिवादिनं दूषयति। २ वाक्यार्थनिवेदनादिति खपाठः। ३ त्वया विधिवादिनेति शेषः। ४ यदि शब्दः सद्भावस्वरूपं नाभिदधाति निषेधस्वरूपमभिदधाति चेत्तदभावे क्वचिद्वस्तुनि प्रवृत्तिर्न स्यात्। ५ ब्रह्माद्वैतवादिनाम्। ६ विधिस्वरूपमेव। ७ ननु स एव चिदात्मोभयस्वभावतया स्वात्मानं प्रमाणप्रमेयरूपं नावदत्, साम्प्रतं निरंशतैवोच्यतेऽतः पूर्वापरविरोधः इति चेन्न, प्रमेयस्वभावः काल्पनिकः प्रतिपाद्यार्थमुच्यते न तु वास्तवस्तद्विवर्तत्वात्तस्य।

---

1 निधेयं इति वा पाठ.।

तत्राविरोध इति चेत्, [1]कथमिदानीमन्यापोहः[2] शब्दार्थः प्रतिषिध्यते[3]—संविन्मात्रस्याप्रमाणत्व[4]व्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या च प्रमेयत्वमिति । [5]परैरभिधातुं शक्यत्वात् । [6]वस्तुस्वभावाभिधायकत्वाभावे शब्दस्यान्यापोहा[7]भिधायकत्वेऽपि [8]क्वचित्[1] प्रवर्त्तकत्वायोगान्नान्यापोहः शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि वस्तुस्वरूपाभिधायिनोपि शब्दस्यान्यापोहान[9]-

---

भाट्ट—तब तो बौद्धाभिमत शब्द का अर्थ अन्यापोह है उसका आप निषेध कैसे करते हैं ? क्योंकि "अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण और अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय है" इस प्रकार से संविन्मात्र को ही विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध ने स्वीकार किया है ।

भावार्थ—शंका यह हुई थी कि चिदात्मा प्रमाण एवं प्रमेयरूप उभयस्वभाव से अपने को प्रकाशित करता हुआ युक्त है ऐसा विधिवादी का कहना था पुनः ऐसा कह दिया वह परमब्रह्म निरंश ही है इसलिये परस्पर विरुद्ध हो गया ऐसा कहने पर उसने कहा कि प्रमेय स्वभाव तो काल्पनिक है और वही प्रतिपाद्य अर्थ है वह वास्तविक नहीं है वह तो उस ब्रह्म की ही पर्याय है । तब उस भाट्ट ने कहा कि प्रमाण और प्रमेय दोनों रूपों को कल्पित कहने पर तो बौद्ध भी शब्द का अर्थ अन्यापोह करता है उसका निषेध आप क्यों करते हैं क्योंकि बौद्धों के यहां भी संविन्मात्र–विज्ञानमात्र तत्त्व अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण रूप है और प्रमेय भी अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय रूप है ऐसा संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध भी कह सकते हैं क्या बाधा है ? मतलब—आप विधिवादी प्रमाण प्रमेय दोनों को कल्पना रूप से विधि में विरुद्ध नहीं मानते हो तब तो "अगोर्व्यावृत्तिर्गौः, अघटव्यावृत्तिर्घटः" इत्यादि लक्षण अभावात्मक–अन्यापोह रूप शब्द का अर्थ क्यों नहीं मान लेते हो, उसका निषेध क्यों करते हो क्योंकि कल्पित रूप तो प्रमाण और अन्यापोह दोनों में समान है ? जैसे आप वेदांतवादी प्रमाण को कल्पित मानते हो वैसे ही बौद्ध अन्यापोह को कल्पित मानते हैं इसलिये दोनों में कोई अन्तर नहीं दीखता है ।

विधिवादी—आप बौद्ध की मान्यतानुसार शब्द अन्यापोह का कथन करने वाले भले ही हों किन्तु वस्तु के स्वभाव का कथन करने वाले नहीं हैं । अतः उन शब्दों की क्वचित्–विधि में प्रवृत्ति नहीं होती है इसीलिये शब्द का अर्थ अन्यापोह नहीं है ।

---

१ प्रमाणप्रमेयरूपद्वयस्य कल्पितत्वाभिधानकाले । २ विधौ कल्पितत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं घटते चेत्कल्पितं किमन्यापोहः ? स एव शब्दार्थस्तत्रापि वाक्यार्थत्वघटनात् । ३ अत्राह सौगतमतमवलम्ब्य भावनावादी विधिवादिनं प्रति ।—हे विधिवादिन् कल्पनारूपत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं विधौ न विरुध्यते इति त्वया प्रतिपाद्यते चेत् तर्हि कल्पनारूपत्वादगोर्व्यावृत्तिर्गौः अघटव्यावृत्तिर्घट इत्यादिलक्षणः सौगताभ्युपगतशब्दार्थः अन्यापोहः अभावात्मकस्त्वया विधिवादिना कथं निराक्रियते ? प्रमाणान्यापोहयोः कल्पितत्वाविशेषात् । ४ शून्य । ५ सौगतैः संविन्मात्रपक्षग्राहकैः । ६ विधिवादी । ७ तदा शब्दो वस्तुस्वरूपमभिदधाति अन्यापोहस्वरूपं नाभिदधाति चेदन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न स्यात् स्वपररूपयोः सङ्करो भवेदित्यर्थः । ८ विधौ । ९ विधेयत्वात्प्राप्यत्वात् ।

---

1 सर्वत्र निवर्तकत्वात् ।

भिधायित्वे[1]ऽन्य[2]परिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबन्धनतापा[1]याद्विधिरपि शब्दार्थो मा भूत्। [3]परमपुरुषस्यैव [4]विधेयत्वात्तदन्य[5]स्यासम्भवान्नान्यपरिहारेण [6]प्रवृत्तिरिति चेत् कथमिदानीं[7] "दृष्टव्यो[2]ऽरे[8]ऽयमात्मे" [9]त्यादिवाक्यान्नैरात्म्यादि[9]परिहारेणात्मनि [10]प्रवृत्तिर्नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रसङ्गात्। [11]नैरात्म्यादेरनाद्यविद्योपकल्पितत्वान्न [12]तद्दर्शनादौ प्रवृत्तिरिति चेत्[13] कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न भवेत्? [14]परमब्रह्मणो [15]विधिरेवान्य[16]स्यानाद्य-

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो वस्तु स्वरूप का कथन करने वाले भी शब्द अन्यापोहका कथन करने वाले नहीं हैं ऐसा मानने पर तो आपके यहां ब्रह्म को छोड़कर अन्य कोई है हो नहीं अतः अन्य का परिहार करके वे शब्द कहीं पर भी प्रवृत्ति के निमित्त नहीं हो सकेंगे इसलिये विधि भी शब्द का अर्थ मत होवे। अर्थात् विधि तो प्रवर्तनस्वभाव वाली हो है तो फिर अन्य का निषेध करके एक ब्रह्म के विषय में ही नियम रूप से वह प्रवृत्ति कैसे करावेगी?

विधिवादी—परम पुरुष हो विधेय है क्योंकि ब्रह्म को छोड़कर कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं इसलिये अन्य का परिहार करने से विधि में प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो अन्य का परिहार करके प्रवृत्ति के न होने रूप समय में "दृष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" अरे मैत्रेय! यह आत्मा देखने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, अनुमनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है, इत्यादि वाक्यों से नैरात्म्य दर्शनादिकों का परिहार करके आत्मा में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? अन्यथा—यदि नैरात्म्यादि दर्शन का परिहार नहीं मानोगे तो उनका भी प्रसंग आ जावेगा अर्थात् नैरात्म्यादि सिद्धान्त भी मानने पड़ेंगे।

भावार्थ यहां यदि आप वेदांती के वचन केवल विधि वाक्य को ही कहते हैं, निषेधवाक्य को नहीं कहते हैं तो फिर आप क्षणिकवाद, शून्यवाद आदि का परिहार भी कैसे करेंगे? पुनः आपके ब्रह्मवाद में शून्यवाद आदि आ घुसेंगे, आप किसी को भी नहीं रोक सकेंगे।

वेदांती—नैरात्म्यादि दर्शन तो अनादिकालीन अविद्या से ही उपकल्पित हैं अतः उन दर्शनों में

१ विधेयत्वात्प्राप्यत्वात। २ अन्यद् ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्तु नास्ति विधिवादिनो मते। ३ विधिवादी। ४ प्राप्यत्वात्। ५ परमपुरुषात्किञ्चिद्भिन्नं वस्तु नास्ति यतः। ६ विधौ। ७ अन्यपरिहारेण प्रवृत्त्यभावप्रतिपादनकाले। ८ दृष्टव्योयमात्मा श्रोतव्योनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रुतिः। ९ सौगत आह।—हे विधिवादिन् अन्यथा नैरात्म्यादि परिहाराभावे पुरुषे शब्दस्य प्रवृत्तिर्घटते चेत्तदा नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रवृत्तिर्घटताम्। १० अन्यथा। ११ विधिवाद्याहानात्मवादिकम्।—अनाद्यज्ञानोपरूढं यतस्तस्मान्नैरात्म्यादिदर्शनश्रवणादौ प्रवृत्तिर्न घटते। १२ नैरात्म्य। १३ भाट्टः। १४ विधिवादी (परब्रह्मणः)। १५ विधानम्। १६ अन्यापोहस्य।

(1) अनियामकत्वाद् विधेः प्रवर्तनस्वभावत्वादन्यपरिहारेण क्वचित् प्रवृत्तिः कथं स्यात्।

(2) दृष्टव्यः श्रुतवाक्येभ्यो मंतव्यश्चोपपत्तितः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः। इति स्मृति वाक्यं।

विद्योपकल्पितस्य नैरात्म्यादेः परिहार[१] इति चेत् [२]कथमेवमन्यापोह[३]वादिनोपि परापोहनमेव स्वरूपविधिर्न [४]भवेत् ? [५]तस्यान्यापोहवादविरोधा[1]न्नैवमिति चेत् [६]विधिवादिनोपि [७]तथा विधिवादविरोधादन्यापोहाभ्युपगमो मा भूत् । [८]परमार्थतोन्यापोहो विधिवादिना नैवाभ्युपगम्यते तस्य प्रतिभास[९]समानाधिकरणत्वेन[2] प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः परमपुरुषत्वात्, प्रतिभासस्वरूपवत् । तस्याप्रतिभासमानत्वे[3] व्यवस्थानुपपत्तेरन्यथातिप्रसङ्गात्[१०]।

शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है।

भाट्ट—यदि ऐसा मानते हो तो पुनः अन्य का परिहार करके शब्द की प्रवृत्ति कैसे नहीं होगी ?

वेदांती—परब्रह्म की विधि ही तो अनादि अविद्या से उपकल्पित—माने गये नैरात्म्यादि अन्यदर्शनों का परिहार है।

भाट्ट—तब तो अन्यापोह वादी बौद्ध-शून्यवादियों के द्वारा पर का अपोहन—अभाव करना भी स्वरूप की विधि क्यों न हो जावेगा अर्थात् हो ही जावेगा। मतलब यह है कि शून्यवादियों के अन्यापोह से भी स्वरूप का ही विधान होता है ऐसा मान लेना चाहिये।

विधिवादी—उस विधि का अन्यापोहवाद से विरोध है इसलिये वह अन्यापोह स्वरूप का विधान करने वाला नहीं हो सकता है। अर्थात् बौद्धों के यहां सभी वस्तुएं अपने स्वभाव से शून्य ही हैं क्योंकि स्वरूप की विधि—अस्तित्व को उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया है और अन्य के अभाव से वस्तु के स्वरूप का विधान तो होता ही नहीं है।

भाट्ट—तब तो आप विधिवादियों के यहां भी विधि-कथन के प्रकार से अन्यापोह में विधिवाद का विरोध होने से अन्यापोह की स्वीकृति नहीं होनी चाहिये।

विधिवादी—हम वेदांतियों ने तो परमार्थ से अन्यापोह को स्वीकार ही नहीं किया है वह अन्यापोह तो प्रतिभास-समानाधिकरण रूप से प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट सिद्ध है क्योंकि वह परम पुरुष रूप है जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप। यदि उस अन्यापोह को प्रतिभासमान नहीं मानोगे तब तो व्यवस्था ही नहीं हो

१ निषेधः। २ सौगतः। भाट्टः। ३ शून्यवादिनः। ४ अपि तु भवेदेव (विधिवादे दूषणं दत्तम्)। ५ विधिवाद्याह।—तस्य विधेरन्यापोहवादेन विरोधाद्धे सौगत ! यदुक्तं त्वया अन्यापोहनमेव विधिस्तदेवं न स्यात्। ६ सौगतः। भाट्टः। ७ अन्यापोहस्य विधिकथनप्रकारेण। ८ विधिवादी। ९ विधिः प्रतिभासतेऽपोहः प्रतिभासते इत्यन्यापोहस्य प्रतिभाससामानाधिकरण्यम्। विधिवादिनोऽनुमानम्।—अन्यापोहः पक्षः प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेन कृत्वा प्रतिभासान्तःप्रविष्टो भवतीति साध्यो धर्मः—प्रतिभासमानत्वात्। यत्प्रतिभासमानं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्। प्रतिभासते चायं तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टः। विधिवाद्याह।—अन्यापोहः प्रतिभासते न प्रतिभासते वा ? प्रतिभासते चेत्तदा विधौ प्रविष्टः। न प्रतिभासते चेत्तदा तस्य व्यवस्थितिरपि नास्ति। १० अप्रतिभासमानत्वेप्यन्यापोहस्य स्थितिरुपपद्यते चेत्तदातिप्रसङ्गः स्यात्। असतः स्थितिश्चेत्तदा खरविषाणादेरपि सास्तु।

(1) सर्वेषां वस्तूनां निःस्वभावत्वं बौद्धानां मते यतः। स्वरूपविधेरनंगीकारादन्यस्यापोहनं स्वरूपविधिरिति नास्ति यतः।
(2) भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां एकस्मिन्नधिकरणे प्रवृत्तिः समानाधिकरणत्वं। (3) असावन्यापोह इति।

[१]शब्दज्ञानेस्यानु[२]मानज्ञाने[1] चान्यापोहस्य प्रतिभासनेपि तत्समानाधि[३]करणतया प्रतिभासनान्न [४]ततोन्यत्वम् । तस्य[2] च शब्दानुमानज्ञानस्य प्रतिभासमात्रात्मकत्वान्ना[५]र्थान्तरत्वमिति चेत् कथमिदा[६]नीमुपनिषद्वाक्यं[७] [८]प्रतिभासमात्रादन्यल्लिङ्गं[९] वा[3] यतस्तत्प्रतिपत्तिः [१०]प्रेक्षावतः स्यात् । तस्य[११] परमब्रह्म[१२]विवर्त्तत्वाद्विवर्त्तस्य च [१३]विवर्त्तिनोऽभेदेन[4]

सकेगी, अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा ।

भावार्थ—विधि प्रतिभासित होती है, अन्यापोह प्रतिभासित होता है। इस प्रकार से अन्यापोह प्रतिभास समानाधिकरण है, विधिवादियों के अनुमान में अन्यापोह पक्ष है, प्रतिभास समानाधिकरण रूप से प्रतिभास के अंतः प्रविष्ट है यह साध्य है, प्रतिभासमानत्वात् यह हेतु है । वे विधिवादी प्रश्न करते हैं कि अन्यापोह प्रतिभासित होता है या नहीं ? यदि होता है तो विधि में ही प्रविष्ट है, यदि नहीं होता है तो उसकी स्थिति ही नहीं हो सकती है । एवं प्रतिभासमान न होने पर भी यह अन्यापोह है इस प्रकार से उसकी स्थिति मानों तो असत् खर विषाणादि की भी स्थिति माननी पड़ेगी ।

शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान में इस अन्यापोह का प्रतिभास होने पर भी तत्समानाधिकरण-अभेद रूप से प्रतिभासित होने से वह अन्यापोह प्रतिभास से भिन्न नहीं है । एवं वह शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान भी प्रतिभासमात्रात्मक स्वरूप वाला होने से प्रतिभास से भिन्न नहीं है ।

भाट्ट—प्रतिभास का समानाधिकरण होने से अन्यापोहादि प्रतिभास से भिन्न नहीं है ऐसा कहने पर तो "सर्व वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि उपनिषद्वाक्य अथवा "प्रतिभासमानत्वात्" हेतु प्रतिभासमात्र—परमब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकेंगे कि जिससे उनका ज्ञान विद्वानों को हो सके अर्थात् ऐसी मान्यता में तो विद्वानों को उपनिषद्वाक्य अथवा हेतु का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा ।

विधिवादी – वह हेतु परमब्रह्म की पर्याय है तथा पर्यायें अपने पर्यायी परमब्रह्म से अभिन्न मानी गई हैं, अतः उनका ज्ञान होता है। अथवा पाठांतर ऐसा भी है कि ये हेतु आदि परब्रह्म से भेद रूप कल्पित किये जाते हैं, वास्तव में उस ब्रह्म से उनमें भेद नहीं है । अतः भेद रूप से माने जाने से ही उनका ज्ञान होता रहता है ।

---

१ अन्यापोह इति । २ अन्यापोहोस्ति–अमुकत्वात् । ३ अभेदतया । ४ प्रतिभासादन्यापोहस्यान्यत्वं न । ५ प्रतिभासात् । विधेः । ६ प्रतिभाससामानाधिकरण्यात्प्रतिभासादन्यापोहादीनामभेदप्रतिपादनकाले । ७ सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि । ८ ब्रह्मणः । ९ प्रतिभासमानत्वम् । १० परमब्रह्मपरिज्ञानं विचारकस्य कुतः स्यात् ? न कुतोपि । ११ विधिवादी प्राह ।–लिङ्गस्य । १२ "पूर्वाकारापरित्यागादपरः प्रतिभाति चेत् । विवर्त्तः स परिज्ञेयो दर्पणे प्रतिबिम्बवत्" ("पूर्वाकारपरित्यागादिति कपाठः) । १३ ब्रह्मणः ।

---

(1) शब्दज्ञानेऽनुमानज्ञाने इ. पा० । (2) शब्दज्ञानानुमानज्ञानसमानाधिकरणत्वे न द्वैतप्रसंग इति मतं परिहरति । (3) कथं । (4) भेदेन कल्पनमेव न तु परमार्थता भेदः । भेदेन इति पा० ।

परिकल्पनात्ततस्तत्प्रतिपत्तिरिति चेत् [१]कथं तत्परिकल्पिताद्वाक्याल्लिङ्गाद्वा परमार्थ-पथावतारिणः परमब्रह्मणः प्रतिपत्तिः—परिकल्पिताद्धूमादेः पारमार्थिकपावकादि-प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । [२]पारमार्थिकमेवोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमब्रह्मत्वेनेति[1] चेत् तर्हि[३] यथा तत्पारमार्थिकं [४]तथा साध्यसमं[2] कथं पुरुषाद्वैतं व्यवस्थापयेत्[3] ? यथा[५] च प्रतिपाद्य-[६]जनस्य प्रसिद्धं न तथा[७] पारमार्थिकं[८]—द्वैत[९]प्रसङ्गात् । इति कुतः परमार्थसिद्धिः । [१०]तत-स्तामभ्युपगच्छता पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च[११] प्रतिपत्तव्यम् । [१२]तच्चाचित्स्वभावं,

---

भाट्ट—परिकल्पित उपनिषद्वाक्य से अथवा कल्पित हेतु से, परमार्थ-पथावतारी—वास्तविक परम-ब्रह्म का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? अन्यथा परिकल्पित धूमादि से वास्तविक अग्नि आदि का भी ज्ञान होने लगेगा ।

विधिवादी—उपनिषद्वाक्य और हेतु ये दोनों पारमार्थिक ही हैं, क्योंकि वे परमब्रह्म रूप ही हैं ।

भाट्ट—तब तो जैसे वे पारमार्थिक हैं वैसे ही कल्पितरूप से साध्यसम-असिद्ध पुरुषाद्वैत को कैसे व्यवस्थापित कर सकेंगे ? क्योंकि जिस प्रकार से कल्पित रूप से प्रतिपाद्य जनों को प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार से वे पारमार्थिक नहीं है अन्यथा द्वैत का प्रसंग आ जावेगा इस प्रकार से परमार्थ की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? इसलिये उपनिषद् वाक्य और हेतु से परमार्थ सिद्धि को स्वीकार करते हुये आप विधिवादी को उपनिषद्वाक्य और हेतु को भी पारमार्थिक रूप ही स्वीकार करना चाहिये ।

वे उपनिषद्वाक्य एवं हेतु अचित्स्वभाव हैं । यदि आप इन उपनिषद वाक्य और हेतु को चित्स्वभाव मानेंगे तब तो उपर्युक्त अनुमान के अनुसार पर के द्वारा संवेद्य का विरोध हो जाएगा, क्योंकि वे प्रति-पादक—गुरु के चित्स्वभाव हैं । जैसे कि उस प्रतिपादक के सुखादि का अनुभव स्वयं उसी को होता है पर

---

१ भाट्टः । सौगतः । २ विधिवाद्याह । ३ भाट्टः । सौगतो वदति ।—यथा तथेदं वाक्यं लिङ्गं वा सत्यभूतं तथा सत्यभूतपरब्रह्मसमानमनुमानं च कर्तृपुरुषाद्वैतं कथं व्यवस्थापयेद् ? अपि तु न । ४ कल्पितत्वप्रकारेण । ५ कल्पितत्वप्रकारेण । ६ येन प्रकारेणोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च प्रतिपादकादिजनस्य प्रसिद्धं तेन प्रकारेण प्रसिद्धं पारमार्थिकं न पारमार्थिकम् । भवति चेत् तदा द्वैतं प्रसज्यते, इति कुतः पारमार्थिकसिद्धिः ? न कुतोपि । उपनिषद्वाक्य-स्येति शेषः । ७ कोर्थः पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं चेति त्वयोक्तं तथा चेत्साध्यसमं यथाप्रसिद्धं तथोपनिषद्वाक्य-मप्यसिद्धम् । असिद्धं साध्यमिति वचनात् । विरुद्धयोरधिकरणात् । ८ अन्यथा । ९ पारमार्थिकत्वं प्रतिपाद्यस्य प्रसिद्धं किल तर्हि कुतः चित्स्वभावस्य प्रतिपाद्यादीनां प्रसिद्धेरभावात्, प्रतिपादकसुखादिवत् । १० तत उपनिषद्वाक्याल्लिङ्गाच्च परमार्थसिद्धिमङ्गीकुर्वता विधिवादिना उपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमार्थभूतं ज्ञातव्यम् । ११ च अङ्गीकर्त्तव्यं प्रतिपत्तव्यमिति कपुस्तकपाठः । १२ विकल्पचतुष्टयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयन्नाह ।

---

(1) ब्रह्मरूपत्वेन । (2) असिद्धं ।

(3) प्रतिपाद्यभेदेन सिद्धमुपनिषद्वाक्यमित्याशंकायामाहुः ।

[1]चित्स्वभावत्वे परसंवेद्यत्वविरोधात् प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात्, तत्सुखादिवत् । प्रतिपाद्य-चित्स्वभात्वे वा न प्रतिपादकसंवेद्यत्वं प्रतिपाद्यसुखादिवत् । तस्य[2] तदुभयचित्स्वभावत्वे प्राश्निकादिसंवेद्यत्वंविरोधस्तदुभयसुखादिवत् । [3]सकलजनचित्स्वभावत्वे [4]प्रतिपादकादिभावानुपपत्तिः—[5]अविशेषात् । प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वाददोष इति चेत्,[6]यैव प्रतिपाद-

---

को नहीं होता है अथवा प्रतिपाद्य—शिष्य का चित्स्वभाव स्वीकार करने पर प्रतिपादक के संवेद्य नहीं होंगे, उस प्रतिपाद्य के सुखादि के समान । यदि उन उपनिषद् वाक्य और लिंग को गुरु और शिष्य दोनों का चित्स्वभाव मानोगे तब तो प्राश्निक—प्रश्न करने वाले मनुष्यादिकों के द्वारा संवेदन का विरोध हो जाता है उन दोनों गुरु शिष्यों के सुखादि के समान । अर्थात् गुरु और शिष्य के सुख दुःख का अनुभव गुरु और शिष्य को ही होगा, किन्तु प्रश्न करने वाले एवं सुनने वाले लोगों को गुरु शिष्य के सुख दुःख का अनुभव नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि उपनिषद्वाक्य और हेतु को चित्स्वभाव मानने पर दूसरों के द्वारा ये संवेद्य-ग्राह्य नहीं हो सकते हैं । तथा इन दोनों को गुरु का चित्स्वभाव कहने पर गुरु के सुख दुःखादि के समान उनका भी अन्य शिष्यों के द्वारा संवेदन विरुद्ध होता है । अथवा इन दोनों को यदि शिष्य का चित्स्वभाव कहोगे तो शिष्य के सुखादि के समान गुरु के द्वारा उनका संवेदन विरुद्ध हो जावेगा । यदि उन गुरु और शिष्य का ही चित्स्वभाव इन उपनिषद्वाक्य और हेतु को कहोगे तव तो ये प्रश्न करने वालों के ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकेंगे ।

सभी प्रतिपाद्यजनों का चित्स्वभाव कहने पर तो प्रतिपादक आदि भाव ही नहीं वन सकेंगे, क्योंकि सभी समान हैं अर्थात् सभी जनों का चित्स्वभाव इन आगमवाक्य और हेतु को मान लेने पर उसका यह गुरु है, यह शिष्य है ये प्रश्न करने वाले लोग हैं इत्यादि भाव नहीं वन सकेंगे क्योंकि ये दोनों तो सभी के

---

१ सौगतो वदति हे विधिवादिन् तत् (उपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च) अचित्स्वभावं चित्स्वभावं वेति प्रश्नविकल्पः । अचित्स्वभावं चेत्तदा परब्रह्मणो द्वैतं व्यवस्थापयति । चित्स्वभावं चेत्तदा प्रतिपादकाद्यनुमानद्वारेण दूषयति । प्रतिपादकवाक्यं पक्षः प्रतिपाद्यसंवेद्यं न भवतीति साध्यो धर्मः प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात् । यत्प्रतिपादकचित्स्वभावं तत्प्रतिपाद्यसंवेद्यं न, यथा प्रतिपादकसुखादिकम् । प्रतिपादकचित्स्वभावं चेदं तस्मात्प्रतिपाद्यसंवेद्यं न भवति । एवमग्रेपि । २ उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य च चित्स्वभावत्वे सति परेषां ग्राह्यत्वं विरुध्यते । उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य गुरोश्च चित्स्वभावत्वमस्तीत्युक्ते तथा सति गुरुसुखदुःखादिवत्तस्यापि परेषां प्रतिपाद्यादीनां संवेद्यत्वं विरुध्यते । तस्य शिष्यस्य चित्स्वभावत्वे सति यथा शिष्यसुखादेर्यथा तथा तस्यापि गुरोः संवेद्यत्वं विरुध्यते । तस्य गुरुशिष्योभयचित्स्वभावत्वे सति तत्सुखादेर्यथा तथोपनिषद्वाक्यस्यापि प्राश्निकानां संवेद्यत्वं ज्ञानग्राह्यत्वं विरुध्यते । ३ प्रतिपाद्यादि । ४ सर्वजनचित्स्वभावत्वे सति तन्वायं गुरुः, अयं शिष्यः, अमी प्राश्निका इत्यादिभावो नोपपद्यते सर्वेषां चित्स्वभावत्वेन विशेषाभावात् । ५ या अविद्या गुरोर्गुरुत्वव्यवस्थापिका सैव शिष्यादेः सकाशादभिन्ना सती शिष्यादेरपि गुरुत्वं व्यवस्थापयेत् । ६ सकलजनचित्स्वभावस्याविशेषात् ।

कस्याविद्या प्रतिपादकत्वोपकल्पिका सैव प्रतिपाद्यस्य प्राश्निकादेश्चाविशिष्टा प्रतिपादकत्वमुपकल्पयेत् । प्रतिपाद्यस्य चाविद्या प्रतिपाद्यत्वोपकल्पनपरा प्रतिपादकादेरविशिष्टा प्रतिपाद्यत्वं परिकल्पयेत् प्रतिपादकादीनामभेदात्तदविद्यानामभेदप्रसङ्गात्[1] । भेदे[2] वा प्रतिपाद-

चित्स्वभाव हैं पुनः भेद कैसे होगा ?

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि आप विधिवादी "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इस उपनिषद्वाक्य रूप आगम को एवं "प्रतिभासमानत्वात्" इस हेतु को अचेतन स्वभाव मानते हो या चेतन स्वभाव ? यदि कहो कि इन्हें हम अचेतन स्वभाव कहते हैं तब तो चेतन स्वरूप परमब्रह्म से ये भिन्न ही रहेंगे पुनः आप अद्वैतवादी के यहां द्वैत का प्रसंग आ जावेगा और यदि आप इन्हें चेतन स्वभाव कहें तो चार विकल्प उठाये जा सकते हैं कि ये आगम वाक्य और हेतु गुरु के चेतन स्वभाव हैं या शिष्य के, प्राश्निकजनों के या सभी जनों के चेतन के स्वभाव हैं ? गुरु के कहने पर तो शिष्य को उनका अनुभव नहीं होगा अर्थात् गुरु के चेतनस्वभाव रूप आगम और हेतु गुरु के ही संवेदन योग्य हैं शिष्य के संवेदन करने योग्य नहीं हैं क्योंकि वे गुरु के ही चैतन्य स्वभाव हैं । जो जो गुरु का स्वभाव होता है वह वह शिष्य को सवेद्य नहीं होता है जैसे कि गुरु के सुख-दुःखादि का अनुभव गुरु को ही होता है शिष्यों को नहीं हो सकता है । इसी प्रकार से यदि दूसरे पक्ष में आप इन आगम और हेतु को शिष्य का चैतन्य स्वभाव कहो तो भी वे गुरु के द्वारा अनुभव करने योग्य नहीं रहेंगे एवं तीसरे विकल्पानुसार यदि इन्हें प्रश्न करने वालों का चेतन स्वभाव कहो तो गुरु और शिष्य दोनों को ही इनका ज्ञान नहीं हो सकेगा । तथा इन्हें सभी का चेतन स्वभाव माना जावेगा तब तो ये गुरु हैं, ये शिष्य हैं, ये प्राश्निक लोग हैं एवं ये सुनने वाले हैं इत्यादि रूप से कुछ भी भेदभाव नहीं बन सकेगा और यदि अविद्या से ही आप यह सब भेद स्वीकार करोगे तो भी आपके यहाँ अविद्या भी सर्वथा निःस्वभाव—स्वभाव से शून्य ही है उसके द्वारा इन कल्पित भेद भावों की व्यवस्था नहीं की जा सकेगी जैसे कि आकाश के गुलाब पुष्पों से माला बना कर वंध्या के पुत्र को पहनाना शक्य नहीं है तद्वत् आपके द्वारा कल्पित अविद्या से असत् रूप गुरु शिष्यादि भेद करना सर्वथा असंभव ही है । इस अविद्या के विषय में आगे स्वयं ही स्पष्टीकरण किया जा रहा है ।

विधिवादी—प्रतिपादक, प्रतिपाद्य आदि भाव तो अविद्या से ही उपकल्पित हैं अतः कोई दोष नहीं आता है ।

भाट्ट—तब तो जो अविद्या प्रतिपादक—गुरु में प्रतिपादकपने को कल्पित कराती है वही अविद्या प्रतिपाद्य—शिष्य और प्राश्निकजनों में समान रूप से है अतः उन्हें भी प्रतिपादक—गुरु बना देने में क्या बाधा है ? अर्थात् जो अविद्या गुरु में गुरुत्व की व्यवस्था करती है वही अविद्या शिष्यादिकों से अभिन्न

१ प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्गः । प्रसङ्ग इति कपाठः । २ अविद्याभेदकृतः प्रतिपादकादीनां भेद इति ।

कादीनां भेदसिद्धिः—[१] विरुद्धधर्माध्यासात् । अनाद्यऽविद्योपकल्पित एव तदविद्यानां भेदो न पारमार्थिक इति चेत्, परमार्थतस्तर्ह्यभिन्नास्तदविद्या इति स एव प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्गः[२] । यदि पुनरविद्यापि[३] प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वादेव, न भेदाभेद-विकल्पसहा [४]नीरूपत्वादिति मतं तदा परमार्थपथावतारिणः प्रतिपादकादय इति बला-दायातम्–[५]तदविद्यानामविद्योपकल्पितत्वे विद्यात्वविधेरवश्यम्भावित्वात् । तथा च प्रति-

---

होती हुई शिष्यादिकों को भी गुरु रूप से व्यवस्थापित कर सकती है। शिष्य की अविद्या शिष्य में शिष्य की उपकल्पना करने में तत्पर हुई प्रतिपादक गुरु आदि में समान रूप से विद्यमान है पुनः उन गुरुओं में शिष्य की कल्पना भी करा देगी। एवं प्रतिपादकों में अभेद होने से उस अविद्या में भी अभेद का प्रसंग आ जावेगा पुनः सभी प्रतिपादकादिकों में संकर का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् गुरु जी शिष्य बन जावेंगे एवं शिष्य गुरु जी बन बैठेंगे। अथवा अविद्या के भेद से उन प्रतिपादकों में भेद की सिद्धि माननी पड़ेगी तब तो अभेद को सिद्ध करने में प्रवृत्त हुये आप भेद को सिद्ध कर देंगे तो विरुद्धधर्माध्यास हो जावेगा।

विधिवादी—उन अविद्याओं का जो भेद है वह भी अनादि अविद्या से उपकल्पित ही है पारमार्थिक नहीं है।

भाट्ट—तब तो परमार्थ से वह अविद्या अभिन्न ही रही। अतः प्रतिपादक आदिकों में वही संकर दोष आ जावेगा अर्थात् गुरु और शिष्यादि का भेद न रहने से गुरु ही शिष्य और शिष्य ही गुरु बन बैठेंगे।

विधिवादी—प्रतिपादकादिकों की अविद्या भी अविद्या से ही उपकल्पित है अर्थात् प्रतिपादक आदि केवल अविद्या से ही उपकल्पित हैं ऐसा ही नहीं है किन्तु अविद्या भी अविद्या से ही उपकल्पित है। अतः वह भेद और अभेद के विकल्प को सहन ही नहीं कर सकती हैं क्योंकि वह नीरूप–निःस्वभाव–तुच्छाभाव रूप है अर्थात् अविद्यमान रूप है।

[यहां पर भाट्ट जैन मत का आश्रय लेकर विधिवाद का खंडन करता है]

भाट्ट—यदि आप ऐसा मानते हैं तब तो प्रतिपादकादि––गुरु, शिष्य आदि परमार्थ पथावतारी ही हैं यह बात बलपूर्वक आ गई क्योंकि उन प्रतिपादकादिकों की अविद्या को अनादि अविद्या से कल्पित मानने पर विद्या की विधि ही अवश्यंभावी है और इस प्रकार से प्रतिपादकादिकों से उपनिषद्वाक्य भिन्न हैं क्योंकि युगपत् उन गुरु शिष्यादिकों के संवेदन करने योग्य संवेद्य की अन्यथानुपपत्ति है

---

१ अभेदसाधने प्रवृत्तत्वे भेदः साधित इति विरुद्धधर्माध्यासः (अध्यासः साहित्यम्)। २ य एव प्रतिपादकः स एव प्रतिपाद्य इति। ३ न केवलं प्रतिपादकादय एवाविद्योपकल्पिताः। ४ तस्या अविद्याया नीरूपत्वात् अविद्यमानत्वा-दित्यर्थः ५ प्रतिपादकाद्यविद्यानामनाद्यविद्योपकल्पितत्वे प्रतिपादकादीनां विद्यासद्भावोऽवश्यमेव सम्भवति।

पादिकादिभ्यो भिन्नमुपनिषद्वाक्यं [१]सकृत्त[२]त्संवेद्यत्वान्यथानुपपत्तेः[1] इत्यचित्स्वभावं,[३] सिद्धं[2] वहिर्वस्तु तद्वद्घटादिवस्तुसिद्धिरिति न प्रतिभासाद्वैतव्यवस्था प्रतिभास्य[४]स्यापि सुप्रसिद्धत्वात् । [५]प्रतिभास[६]समानाधिकरणता पुनः प्रतिभास्यस्य[७] कथञ्चिद्भेदेपि[८] न विरुध्यते ।

इसलिये वह अचित्स्वभाव रूप बहिर्वस्तु सिद्ध है अर्थात् यदि उपनिषद्वाक्य प्रतिपादकादिकों से भिन्न नहीं होवे तो उन सभी को युगपत् सवेदन नहीं हो सकेगा किन्तु एक साथ सबको उसका संवेदन देखा जाता है अतः उपनिषद्वाक्य अचेतन स्वभाव हैं और बाह्यवस्तु रूप हैं यह बात सिद्ध हो गई ।

उसी प्रकार से घटादि वस्तुएं भी बाह्यवस्तु हैं इसलिए प्रतिभासाद्वैत—ब्रह्माद्वैत की व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि प्रतिभासित होने योग्य—प्रतिभास्य बाह्य पदार्थ सुप्रसिद्ध हैं । अर्थात् उपनिषद्वाक्य और घटादि वस्तुरूप प्रतिभास्य प्रमेय भी जगत् में प्रसिद्ध हैं न कि प्रतिभास मात्र एक पुरुष । प्रतिभाससमानाधिकरणता भी प्रतिभास्य से कथंचित् भेद होने पर विरुद्ध नहीं है अर्थात् घट प्रतिभासित होता है, पट प्रतिभासित होता है यह समानाधिकरणता है । यदि कोई कहे कि घटादि पदार्थ ज्ञान से अर्थांतरभूत हैं पुनः घटादिपदार्थों की ज्ञान से समानाधिकरणता कैसे घटेगी ? अर्थात् घट और ज्ञान में विषय-विषयी-भाव है घट तो विषय है और ज्ञान विषयी है तब घट प्रतिभासित होता है ऐसा कैसे कह सकेंगे ? इसका उत्तर तो यही है कि प्रतिभास की समानता है । ज्ञान से ज्ञेय पदार्थ उपचार से अभिन्न हैं किन्तु परमार्थ से भिन्न हैं । इस प्रकार से प्रतिभास से प्रतिभासित होने योग्य-अन्यापोह लक्षण में कथंचित् भेद होने पर भी प्रतिभास की समानाधिकरणता विरुद्ध नहीं है । प्रतिभास हैं समानाधिकरण जिसका उसे प्रतिभास समानाधिकरण कहते हैं ।

घट प्रतिभासित होता है । मतलब घट प्रतिभास का विषय होता है ऐसा कहने से विषय और विषयी में उपचार से अभेद माना है । अर्थात् "घट प्रतिभासित होता है" यह उपचरित समानाधिकरण है, संवेदन—ज्ञान प्रतिभासित होता है यह मुख्य समानाधिकरण है, संवेदन का प्रतिभासन यह उपचरित वैयधिकरण्य है और पट का प्रतिभास यह मुख्य वैयधिकरण्य है । घट और प्रतिभास में विषय-विषयी

१ उपनिषद्वाक्यं प्रतिपादकादिभ्यो भिन्नं न भवतीति चेत्तदा प्रतिपादकादीनां युगपदेव सर्वेषां संवेद्यत्वं न भवेत् । २ तेषां प्रतिपादकादीनाम् । ३ उपनिषद्वाक्यमचित्स्वभावं सद्बहिर्वस्तु सिद्धं यथा तद्वत् (उपनिषद्वाक्यवत्) घटादिवस्तुनोपि वहिर्वस्तुत्वं सिध्यति । ४ उपनिषद्वाक्यं घटादि वस्तुरूपं प्रतिभास्यं प्रमेयमपि सुप्रसिद्धम् । (प्रतिभासस्यापीति खपाठः) । ५ घटः प्रतिभासते, ज्ञानं प्रतिभासते इति प्रतिभाससमानाधिकरणता । ६ यदि घटादयो ज्ञानादर्थान्तरभूतास्तदा कथं ज्ञानसामानाधिकरण्यं घटादेर्घटेतेत्युक्ते आह प्रतिभाससमानेति । ७ प्रतिभासस्येति खपाठः । ८ ज्ञानाज्ज्ञेयमुपचारादभिन्नं परमार्थतो भिन्नमिति प्रतिभासात्प्रतिभास्यस्यान्यापोहलक्षणस्य कथञ्चिद्भेदेपि प्रतिभाससमानाधिकरणता न विरुध्यते । प्रतिभासः समानमधिकरणं यस्य स समानाधिकरणस्तस्य भावः प्रतिभाससमानाधिकरणता ।

(1) प्रत्यक्षरूपतया । (2) तत्सिद्धं । इतिपा. ।

[१]घटः प्रतिभासत इति प्रतिभासविषयो भवतीत्युच्यते[1] विषयविषयिणोर[२]भेदोपचारात्[३], प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इति यथा । ततः सामानाधिकरण्याद्रुपचरितान्नानुपच[४]रितैकत्वसिद्धिः । मुख्यं सामानाधिकरण्यं क्व सिद्धमिति चेत्, संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्तीत्यादि व्यवहारे मुख्यम् । ततो [५]वैयधिकरण्यव्यवहारस्तु गौणस्तत्र[६] संवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमित्यत्र तस्य[७] मुख्यत्वप्रसिद्धेः । कथञ्चिद्भेदमन्तरेण सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च[2] । तत[८] एव [3]कथञ्चिद्भेदसिद्धिः । [९]शुक्लः पट इत्यत्र सर्वथा शुक्लपटयोरैक्ये हि न समानाधिकरणता[4] पटः[5] पट इति यथा । नापि सर्वथा भेदे हिमवन्मकरा-

भाव है घट प्रतिभासित होता है इसमें अभेदोपचार है जैसे प्रस्थ प्रमाण धान्य को प्रस्थ कह देते हैं इसलिये उपचरित समानाधिकरण से अनुपचरित—वास्तविक एकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

शंका—मुख्य समानाधिकरण कहां पर सिद्ध है ?

समाधान—संवेदन प्रतिभासित होता है "संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्ति" इत्यादि व्यवहार में मुख्य है । इसलिए वैयधिकरण व्यवहार गौण है मुख्य समानाधिकरण में "संवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमिति" संवेदन का प्रतिभासन, पट का प्रतिभासन इस प्रकार से यहाँ प्रतिभासन में वैयधिकरण्य व्यवहार मुख्य है । कथंचित् भेद को माने बिना समानाधिकरण बन नहीं सकता इसलिये उस समानाधिकरण से ही कथंचित् भेद की सिद्धि होती है । अर्थात् प्रतिभासित होने योग्य पदार्थ और प्रतिभास रूप ज्ञान के प्रकार से भेद सिद्ध ही है । "शुक्लः पटः" इसमें यदि सर्वथा शुक्ल और पट में ऐक्य मानों तो समानाधिकरण नहीं बनेगा जैसे पट पट में समानाधिकरण नहीं है । अर्थात् "पटः पटः" इस प्रकार से दो पट शब्द हैं, वे दोनों एक अर्थ के वाचक हैं या अनेक अर्थ के वाचक हैं ? यदि एक अर्थ के वाचक हैं तो भिन्न प्रवृत्ति में निमित्त नहीं हो सकेंगे और यदि भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं तो एक

१ घटः प्रतिभासत इत्युपचरितं सामानाधिकरण्यं, संवेदनं प्रतिभासते इति मुख्यं सामानाधिकरण्यं, संवेदनस्य प्रतिभासनमिति उपचरितं वैयधिकरण्यं, पटस्य प्रतिभासनमिति मुख्यं वैयधिकरण्यम् । २ यदि घटप्रतिभासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथं घटः प्रतिभासते इत्याशङ्क्याह । "मुख्यबाधायां" सति हि प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते इतिन्यायानुसाराद् घटः प्रतिभासत इत्यत्राभेद उपचर्यते तत्र घटस्याप्रतिभासत्वं मुख्यबाधाप्रतिभासत्वं निमित्तं तद्व्यवहारः प्रयोजनमिति । ३ घटः प्रतिभासत इत्यत्र घटे ज्ञानस्योपचारो विषयिभावो निमित्तम् । ४ यत एवं तत उपचारभूतादन्यापोहस्य प्रतिभाससामानाधिकरण्यान्न परमार्थभूतैकत्वसिद्धिः । ५ भिन्नाधिकरण्यव्यवहारः । ६ मुख्ये सामानाधिकरण्ये । ७ वैयधिकरण्यव्यवहारस्य । ८ सामानाधिकरण्यादेव । ९ सर्वथा भेदे वा किं दूषणमित्युक्ते आह ।

(1) यदि घटप्रतिमासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथं घटः प्रतिभासते इत्याशंक्याह । (2) सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तेश्च । (3) प्रतिभास्यप्रतिभासकप्रकारेण (4) भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिनिमित्तत्वं । (5) एकस्मिन् । पटशब्दद्वयस्यैकार्थवाचकत्वमनेकार्थवाचकत्वं वा इति विकल्प्य दूषणांतरयोरेकार्थवाचकत्वे भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वाघटनात् । भिन्नार्थवाचकत्वे एकार्थवृत्तित्वाघटनात् ।

करवत्। [1]तथान्यापोहस्य[2] प्रतिभासमानस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेपि प्रतिभासाद्भेदव्यवस्थितेस्तद्विषयः शब्दः कथं विधिविषय एव [3]समवतिष्ठते। [4]तथाभ्युपगमे च कथमन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवर्त्तकः शब्दो यतो विधिविषयः स्यादिति सूक्तम्—विधेः प्रमाणत्वे तस्यैव प्रमेयत्वकल्पनायामन्यापोहानु[5]प्रवेशो[6]न्यथान्यत्प्रमेयं वाच्यमिति।

[विधिः प्रमेयादिस्वरूपाभ्युपगमेऽपि दोषाः संभवंतीत्याह]

प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनायामपि प्रमाणमन्यद्वाच्यमिति तस्यैवोभय[7]स्वभावत्व-

---

अर्थ की वृत्ति नहीं बन सकेगी। तथैव सर्वथा भेद में भी हिमवान् पर्वत और समुद्र के समान समानाधिकरण नहीं है उसी प्रकार से अन्यापोह प्रतिभासमान का प्रतिभास समानाधिकरण होने पर भी प्रतिभास से वह अन्यापोह भिन्न ही सिद्ध होता है पुनः तद्विषयक शब्द विधि को ही विषय करता है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी और ऐसा स्वीकार कर लेने पर तो शब्द कहीं पर भी अन्य का परिहार करके कैसे प्रवृत्ति करेगा कि जिससे वह विधि को ही विषय करने वाला हो सके? अर्थात् अन्यापोह विषयक शब्द विधि–विषयक होता है ऐसा स्वीकार करने पर तो नैरात्म्यादि-शून्यवादी जनों का परिहार करके परब्रह्म में अथवा अविवक्षित वस्तु का परिहार करके किसी विवक्षित वस्तु में शब्द प्रवृत्ति कैसे कर सकेगा? जिससे कि वह शब्द विधि को विषय करने वाला ही होवे, अर्थात् नहीं होगा। अतएव शब्द परार्थ—अन्य के अर्थ को छोड़कर स्व अर्थ में प्रवृत्ति करता हुआ भावाभावात्मक है यही स्याद्वाद प्रक्रिया है। इसलिये यह बात बिल्कुल ठीक कही है कि—विधि को प्रमाण रूप स्वीकार करके पुनः उसी में ही प्रमेय की कल्पना भी कर लेने पर अन्यापोहवाद में अनुप्रवेश हो जाता है। अन्यथा आपको "अन्य कोई प्रमेय है" ऐसा कहना चाहिये।

[वेदवाक्य का अर्थ विधि—परमब्रह्म रूप है, ऐसी मान्यता में भाट्ट ने प्रश्न उठाये थे कि आपका यह ब्रह्माद्वैत वाद प्रमाण रूप है या प्रमेय रूप इत्यादि? उसमें से विधि को प्रमाण रूप मानने से उस भाट्ट ने यहां तक उस विधिवादी को दूषण दिया है अब आगे उस विधि को प्रमेय रूप मानने पर दूषण दिखाते हैं।]

(२) द्वितीय पक्ष में विधि "प्रमेय रूप है" ऐसी कल्पना के करने पर भी किसी भिन्न को प्रमाण

---

१. पटप्रकारेण। २ समानाधिकरणता इति सम्बन्धः। ३ कथञ्चिद्भेदे सामानाधिकरण्यव्यवस्थापनद्वारेण प्रतिभासमानोन्यापोहः समानाधिकरणत्वे सत्यपि प्रतिभासाद्भिन्नो व्यवतिष्ठते, यतस्तस्मादन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषय एव कथं समवतिष्ठते? न कथमपि। ४ अन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषयो भवतीत्यंगीकारे कृते सति नैरात्म्यादिपरिहारेणाविवक्षितवस्तुपरिहारेण वा क्वचिद्ब्रह्मणि विवक्षितवस्तुनि वा शब्दः कथं प्रवर्त्तको यतः कुतो विधिविषयः स्यान्न कुतोपि। एवं शब्दः परार्थं परिहृत्य स्वार्थे प्रवर्त्तमानो भावाभावात्मको ज्ञेय इति स्याद्वादप्रक्रिया। ५ अन्यापोहवादी आह—अप्रमाणत्वव्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या प्रमेयत्वमित्यन्यापोहावतारः। ६ अन्यापोहस्य प्रमेयत्वकल्पनाभावे। ७ अन्यापोहवादानुप्रवेशेन।

विरोधात्—[1] कल्पनावशाद्विधेः प्रमेयप्रमाणरूपत्वेन्यापोहवादानुषङ्गस्याविशेषात् । प्रमाण-प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनाप्यनेन निरस्ता । तदनुभयरूपो विधिरिति कल्पनायां तु खर-शृङ्गादिवदवस्तुतापत्तिः—प्रमाणप्रमेयस्वभावरहितस्य विधेः स्वभावान्तरेण व्यवस्थाना-[2] योगात् । [3]प्रमात्रादेरपि प्रमेयत्वोपपत्तेः[4] । अन्यथा तत्र[5] प्रमाणवृत्तेरभावात् सर्वथा वस्तुत्वहानिः ।

[विधेः शब्दादिव्यापाररूपाभ्युपगमे दोषानाह]

शब्दव्यापाररूपो विधिरिति चेत् सा शब्दभावनैव । पुरुषव्यापारः स इति चेत् सार्थ-

---

कहना पड़ेगा क्योंकि वह विधि प्रमाण प्रमेय रूप उभय स्वभाव वाली नहीं हो सकती है, विरोध आ जाता है। अर्थात् प्रमाण को माने बिना विधि—ब्रह्म को प्रमेय रूप कैसे कहोगे ? और यदि आप ब्रह्म को प्रमाण प्रमेय रूप से उभय रूप कह दोगे तब तो एक ही निरंश परमब्रह्म अद्वैत रूप है पुनः वही दो रूप कैसे बन सकेगा ? कल्पना के निमित्त से विधि को प्रमेय और प्रमाण रूप से उभय रूप कहने पर तो अन्यापोहवादी होने का प्रसंग समान ही है। अर्थात् बौद्धों ने शब्दों से वाच्य अर्थ को कल्पना से ही अन्यापोह रूप माना है उसी के समान आपकी मान्यता भी कल्पना से होने से आपके यहां भी अन्यापोहवाद आ जावेगा।

(३) तृतीय पक्ष में "विधि प्रमाण और प्रमेय से उभय रूप है" यह कल्पना भी इस उपर्युक्त विवेचन से ही निरस्त कर दी गई है।

(४) चतुर्थ विकल्प में विधि को आप इन प्रमाण प्रमेय से रहित अनुभय रूप कल्पित करोगे तब तो खरविषाणादि के समान वह विधि अवस्तु ही हो जावेगी, क्योंकि प्रमाण और प्रमेय से रहित विधि का भिन्न किसी भी स्वभाव से रहना ही असंभव है। यदि आप कहें कि विधि प्रमाण, प्रमेय से भिन्न, प्रमाता—ज्ञाता एवं प्रमिति—जानने रूप क्रिया रूप से व्यवस्थित होगी सो भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाता—आत्मा आदि भी प्रमेय रूप ही हैं। अन्यथा—उन प्रमाता—आत्मा अथवा प्रमिति रूप ज्ञप्ति में प्रमाणवृत्ति का अभाव होने से सर्वथा वस्तुत्व की हानि हो जावेगी अर्थात् पुनः वे प्रमाता प्रमिति वस्तुभूत ही नहीं रह सकेंगे, क्योंकि आपके यहां तो एक परम ब्रह्म ही ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञप्ति रूप से अभेद रूप ही है पुनः आप उसे ज्ञान, ज्ञेय रूप से नहीं मानकर यदि ज्ञाता और ज्ञप्ति रूप से मानेंगे तो प्रमाण—ज्ञान रूप न मानने से वह विधि—ब्रह्म वास्तविक सिद्ध नहीं हो सकेगा।

---

१ तस्यैवोभयस्वभावत्वविरोधादित्यादिना द्वितीयविकल्पनिराकरणेन । २ स्वभावान्तरेण व्यवस्थानाभावः कुतो यावता प्रमात्रादिरूपेण विधेर्व्यवस्थितिर्भविष्यतीत्याङ्क्याह । ३ प्रमिति । ४ विधिवाद्याह ।—विधिः प्रमाणं प्रमेयं च मा भवतु किन्तु प्रमातृप्रमितिरूपोऽस्तीति चेदाहान्यापोहवादी ।—प्रमात्रादेरपि प्रमाणविषयत्वं घटते अन्यथा प्रमेयत्वं न घटते चेत्तदा प्रमाणव्यापारस्याभावात् प्रमात्रादिरूपेणाभ्युपगतस्य विधेर्वस्तुत्वं हीयते । ५ प्रमातरि प्रमितौ वा ।

भावना[1] स्यात् । [2]एतेनोभय[3]व्यापाररूपो विधिरिति प्रत्याख्यातम् । [4]तदनुभयव्यापाररूप स्तु[5] विधिर्विषय[6]स्वभावश्चेत् तस्य[7] वाक्य[8]कालेऽसन्निधानान्निरालम्वनशव्दवादप्रवेशः[9] । [1]फल-[10]स्वभावश्चेत् स[11] एव दोषः—तस्यापि तदाऽसन्निधानादन्यथा[2] विधेरनवतारात् । निःस्व-भावो विधिरिति कल्पनायां तु विधिर्वाक्यार्थ इति न किञ्चिद्वाक्यार्थ इत्युक्तं स्यात् ।

[विधि को शब्द के व्यापार आदि रूप से ४ विकल्प रूप मानने में हानि]

(५) यदि विधि को शब्द का व्यापार रूप मानोगे, तव तो वह हमारे द्वारा मान्य शब्दभावना रूप ही सिद्ध होगी ।

(६) यदि पुरुष का व्यापार कहो तो वह ब्रह्म अर्थभावना रूप (पुरुष भावना) ही होवेगा ।

(७) इसी कथन से उभय व्यापार रूप सातवें पक्ष का भी खंडन कर दिया गया है अर्थात् पूर्व में जैसे नियोग पक्ष का निराकरण करने में—क्रम से या युगपत् ? इत्यादि अनेक विकल्प उठाये हैं वे सभी यहां पर भी समझना चाहिये ।

(८) यदि उन दोनों के व्यापार से रहित अनुभय रूप कहो तव तो प्रश्न उठेंगे कि वह विधि विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है या निःस्वभाव है ? यदि विषय का स्वभाव मानो तव तो "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य के काल में असंनिहित—निकट न होने से निरालंवन शब्दवाद (सौगत के अन्यापोहवाद) में प्रवेश हो जावेगा ।

यदि फल स्वभाव मानो, तो भी अर्थ रहित फल का स्वभाव भी निरालंवन शब्दवाद ही हो जावेगा, क्योंकि वह विधि वेदवाक्य के समय विद्यमान नहीं है अन्यथा विधि का (मनन, निदिध्यासन आदि का) अवतार ही नहीं होगा। यहां फल स्वभाव से ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होना रूप अर्थ समझना चाहिये।

तथा विधि को निःस्वरूप मानने पर तो "विधि वेदवाक्य का अर्थ है" ऐसा कहने पर तो "कुछ भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं है" ऐसा ही कहा गया हो जावेगा, क्योंकि विधि तो स्वभाव से शून्य है। अर्थात् आपने ही तो विधि को स्वभाव से शून्य कह दिया है ।

पुनरपि ये प्रश्न उठेंगे कि वह विधि सत् रूप है या असत् रूप, उभय रूप है या अनुभय रूप ?

---

१ पुरुषभावना । २ प्रत्येकपक्षद्वयनिराकरणेन । ३ पर्यायेण युगपद्वेत्यादिना नियोगनिराकरणे प्रोक्तं दूषणमत्रापि ज्ञातव्यं दृष्टव्येत्यादिना । ४ तदुभयाव्यापाररूप इति वा पाठः । ५ ब्रह्मदर्शनादि । ६ शब्दात्मव्यापाररहितो विधिरिति चेत् सोपि विषयस्वभावो वा स्यान्निःस्वभावो वा फलस्वभावो वेति क्रमेण दूषयति । ७ विषयस्वभावस्य विधेः । ८ सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्यकाले । ९ सौगतमते निरालम्वनशव्दवादोभिप्रेतः १० अर्थरहितः । ११ फलस्वभावस्य विधेः स एव निरालम्वनशव्दवादप्रवेशः । कस्मात् ? तदा वाक्यकाले विधेरसामीप्यात् ।

---

(1) ब्रह्मस्वरूपप्राप्तिः (2) मननिदिध्यासनादिविधानस्य ।

[विधेः सदसदादिरूपाभ्युपगमे दोषानाह]

किञ्च[1] यदि विधिः सन्नेव तदा न [2]कस्यचिद्विधेयः पुरुषस्वरूपवत् । अथासन्नेव तथापि न विधेयः खरविषाणवत्[3] । अथ पुरुषरूपतया सन् [4]दर्शनादिरूपतया त्वसन्निति विधेयः स्यात्[5] [6]तदोभयरूप[7]तापत्तिः[1] । न सन्नाप्यसन् विधिरिति चेत् तदिदं [8]व्याहतम्—सर्वथा सत्त्वप्रतिषेधे सर्वथैवासत्त्वविधिप्रसंगात्[9]—तन्निषेधे वा सर्वथा सत्त्वविधानानुषङ्गात् ।

[विधि को सत् असत् आदि रूप मानने में दोषारोपण]

(१) यदि सर्वथा सत् रूप ही विधि होगी तब तो विधि किसी भी पुरुष को विधेय—करने योग्य नहीं होगी, पुरुष के स्वरूप के समान । अर्थात् "विधिः कस्यचित् मनुष्यस्य विधेयो न भवति सत्वात् । यः सन् स न कस्यचित् विधेयो यथा पुरुषः, संश्चायं तस्माद् न कस्यचिद् विधेयः" इत्यर्थः । विधि—ब्रह्म किसी को करने योग्य नहीं है क्योंकि वह सत् रूप ही है, जो सत् रूप है वह किसी का विधेय नहीं होता है । जैसे आत्मा सत् रूप है अतः वह किसी के लिये करने योग्य—विधेय नहीं है और यह ब्रह्म सत् रूप है इसलिये किसी को विधेय नहीं है । अर्थात् जो सर्वथा सत् रूप होता है वह किसी के करने योग्य नहीं हो सकता है ।

(२) असत् ही मानो तो भी वह विधि खरविषाण के समान किसी के लिये भी विधेय नहीं होगी । अर्थात् असत् रूप होने से वह विधि किसी को विधेय—करने योग्य नहीं हो सकती । जैसे खरशृंग किसी का विधेय—करने योग्य नहीं है ।

(३) यदि कहो कि पुरुष रूप से तो वह विधि सत् रूप है किंतु "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि दृष्टव्य, कर्त्तव्य आदि रूप से असत् रूप है इसलिये वह विधेय हो जावेगी तब तो उस विधि के उभय रूप हो जाने से द्वैत का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् स्वसिद्धांत का भी व्याघात हो जावेगा, क्योंकि वेदांतवादियों ने तो विधि को सर्वथा सत् रूप माना है असत् रूप से माना ही नहीं है । एवं सर्वथा निरंश, सन्मात्र स्वरूप ब्रह्म के दो रूप की प्राप्ति का विरोध स्पष्ट है ।

(४) वह विधि न सत् रूप है न असत् रूप । ऐसा चतुर्थ पक्ष लेने पर तो विरुद्ध ही हो जाता है,

---

१ विधिः सन्नेव वाऽसन्नेव वा उभयरूपो वानुभयरूपो वेति विकल्पक्रमेण दूषयति । २ विधिः पक्षः कस्यचिन्नुर्विधेयो न भवतीति साध्यो धर्मः—सत्त्वात् । यः सन् स न कस्यचिद्विधेयो यथा पुरुषः । संश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः (कर्त्तव्यः) । ३ द्वितीयविकल्पानुमानम्—विधिः पक्षः कस्यचिद्विधेयो न भवतीति साध्यः—असत्त्वात् । यदसत्तन्न कस्यचिद्विधेयं यथा खरविषाणम् । असंश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः । ४ दृष्टव्यो रेऽयमात्मेत्यादि दृष्टव्यकर्तव्यत्वादिना । ५ विधिरिति शेषः । ६ ततः स्वसिद्धान्तव्याघातः—विधेः सर्वथासत्त्वाभ्युपगमात्—असद्रूपस्य कस्यापि वेदान्तिभिरनभ्युपगमात् । ७ द्वैतापत्तिः । ८ विरुद्धम् । ९ सर्वथा असत्त्वनिषेधे ।

---

(1) सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रदेहस्य विधेः रूपद्वयप्राप्तिर्विरोधः ।

सकृदुभयप्रतिषेधे तु कथञ्चित्सदसत्त्वविधानान्मतान्तरानुपङ्गात्[1] कुतो विधिरेव वाक्यार्थः ।

[विधेः प्रवर्तकादिस्वभावस्वीकारे हानिः]

किञ्च विधिः प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेद्वेदान्तवादिनामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्त्तकः स्यात्[2] । [3]तेषां [4]विपर्यासान्न प्रवर्त्तक इति चेत्तत[5] एव वेदान्तवादिनामप्रवर्त्तक इत्यपि शक्येत[6] । सौगतादीनामेव विपर्यासोऽप्रवर्त्तमानानां, न पुनः प्रवर्त्तमानानां विधिवादिनामित्यप्रामाणिकमेवेष्टम्[7]—उभयेषां समानाक्षेपसमाधानत्वात् । यदि पुनरप्रवर्त्तकस्वभाव एव विधिस्तदा कथं वाक्यार्थः स्यान्नियोगवत् ।

सर्वथा सत्त्व का प्रतिषेध करने पर सर्वथा असत्त्व की ही विधि हो जावेगी, अथवा सर्वथा असत्त्व का निषेध करने पर सत्त्व का विधान अवश्यंभावी हो जावेगा, और एक साथ दोनों का प्रतिषेध करने से कथंचित् सत्त्व असत्त्व का विधान हो जाने से मतांतर—स्याद्वाद के आश्रय का प्रसंग आ जावेगा। पुनः विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

[विधि को प्रवर्तक स्वभाव या अप्रवर्तक स्वभाव मानने में दोष]

दूसरी तरह से भी प्रश्न होंगे कि विधि प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रवर्तक स्वभाव मानो तब तो वह विधि आप वेदांतवादियों के समान बौद्धादिकों के लिये भी प्रवर्तक स्वभाव हो जावेगी क्योंकि वह सर्वथा ही प्रवर्तक स्वभाव वाली है। यदि कहो कि बौद्धादिकों को प्रवर्तक नहीं होती है क्योंकि वे विपर्यास रूप—विपरीत बुद्धि वाले हैं तब तो विपर्यास होने से ही वेदांतवादियों को भी प्रवर्तक नहीं होगी, ऐसा भी हम कह सकते हैं। अर्थात् यदि विधि प्रवृत्ति कराने रूप स्वभाव वाली है तब तो आपको और बौद्धों को, दोनों को ही प्रवर्तक होवे अथवा किसी को भी प्रवर्तक न होवे। एक को प्रवर्तक और एक को अप्रवर्तक कहने से तो कथंचित्वाद आ जाता है। यदि आप कहो कि अप्रवर्तमान—प्रवृत्ति न करने वाले सौगतादिकों को ही विपर्यास है किन्तु प्रवर्तमान विधिवादियों को नहीं है। आपका यह कथन भी अप्रमाणीक ही है आप विधिवादी और सौगत दोनों के प्रति दोष और समाधान सदृश ही लागू होते हैं। अर्थात् आप वेदवाक्य का अर्थ ब्रह्म रूप करते हैं और उसे प्रवर्तक मानते हैं तब वह परम ब्रह्म आप ब्रह्माद्वैतवादी एवं अन्य सौगत आदि सभी को यज्ञादि क्रियाकाण्ड में प्रवृत्ति करावे अथवा किसी को भी प्रवृत्ति न करावे। यदि आप विधि को अप्रवर्तक स्वभाव वाली मानोगे तब तो वह विधि वेदवाक्य का अर्थ कैसे हो सकेगा, नियोगवाद के समान। अर्थात् आप जैसे नियोगवाद को अप्रवर्तक स्वभाव मान करके वाक्य का अर्थ नहीं

---

१ जैनमता (स्याद्वाद) श्रयणात् । २ तस्य सर्वथा प्रवर्त्तकत्वात् । ३ ताथागतादीनाम् । ४ प्रवर्त्तकस्वभावे विधावप्रवर्तकतया गमनं विपर्यासः । ५ विपर्यासादेव । ६ वक्तुमिति शेषः । ७ इति स्याद्वादी वदति ।—उभयेषां सौगतादीनां वेदान्तवादिनां चेष्टं प्रतिपादितं प्रमाणविरुद्धं भवति । कस्मात् ? सदृशप्रत्यवस्थानव्यवस्थानात् ।

[विधिः फलरहितः सहितो वा इत्याद्यभ्युपगमे हानिः]

किञ्च विधिः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेन्न प्रवर्त्तको नियोगवदेव[१]। [२]पुरुषाद्वैते न कश्चित्[1]कुतश्चित्प्रवर्त्तक इति चेत् कथमप्रवर्त्तको विधिः सर्वथा वाक्यार्थः [३]कथ्यते ।—तथा[४] नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् । तथा दृष्टव्यो रेऽयमात्मेत्यादिवाक्यादात्मनि[५] दर्शनश्रवणानुमननध्यानविधाने प्रतिपत्तुरप्रवृत्तौ [६]किमर्थस्तद्वाक्याभ्यासः ? फलसहितो विधिरिति कल्पनायां फलार्थितयैव लोकस्य प्रवृत्तिसिद्धेर्व्यर्थं

मानते हो तथैव आपका परमब्रह्म भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा ।

[विधि को फल रहित या सहित मानने में दोषारोपण]

प्रकारांतर से यह भी प्रश्न होता है कि वह विधि फल रहित है या फल सहित ?

फल रहित कहो तो नियोग के समान ही प्रवर्तक नहीं होगी । अर्थात् आपके मन से नियोग फल शून्य होने से ही प्रवर्तक नहीं है अतः वेदवाक्य का अर्थ भी नहीं है ।

विधिवादी—हमारे यहां पुरुषाद्वैतवाद में कोई भी किसी—वेदवाक्य प्रकार से प्रवर्तक है ही नहीं ।

भाट्ट—तब तो सर्वथा अप्रवर्तक विधि वेदवाक्य का अर्थ है यह भी कैसे कहा जावेगा ? अन्यथा—अप्रवर्तक होते हुये नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावेगा और उस प्रकार से "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मरूप आत्मा का दर्शन, श्रवण, अनुमनन और ध्यान करने में प्रतिपत्ता—मनुष्य की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी पुनः उन वेदवाक्यों का अभ्यास भी किसलिये किया जावेगा ? अर्थात् "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्यों से परमब्रह्म रूप आत्मा का दर्शन, श्रवण, ध्यान करना आदि प्रवृत्ति रूप ही तो है पुनः विधि को फल रहित या अप्रवर्तक मानने पर तो उपर्युक्त प्रवृत्ति कैसे घटित हो सकेगी ? यदि विधि को फलसहित मानो तब तो फलार्थी होने से ही लोक की प्रवृत्ति सिद्ध है पुनः विधि को प्रवर्तक कहना नियोग के कथन के समान व्यर्थ ही हो जाता है । तथापि—अप्रवर्तक होने पर भी यदि आप विधि को वेदवाक्य का अर्थ कहोगे तब तो नियोग भी वाक्य का अर्थ क्यों नहीं होगा ? अर्थात् प्रमाण और प्रमेयादि अनेक विकल्पों के निरसन द्वारा विधि वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा सिद्ध नहीं हुआ फिर भी विधिवादी यदि हठपूर्वक विधि को वेदवाक्य का अर्थ मान ही लेवें तो नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ क्यों नहीं होगा ?

---

१ विधिः पक्षः वाक्यार्थो न भवतीति साध्यो धर्मः—अप्रवर्तकत्वान्नियोगवत् । २ आह विधिवादी ।—कश्चिद्विधिः कुतश्चित्प्रमाणात्प्रमाणाद्वैते प्रवर्त्तको न स्यात् । ३ अन्यथा । ४ अप्रवर्त्तकत्वेन । ५ ब्रह्मणि । ६ [illegible] । दृष्टव्येत्यादि । विधिः प्रवर्त्तक इति प्रतिपादनम् ।

---

(1) वाक्यात् ।

[1]विधिकथनं नियोगकथनवत् । तथापि[2] विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कुतो न भवेत् । [3] पटादिवत्[1] [4]पदार्थान्तरत्वेना[2]प्रतिभासना[3]न्नियोज्य[5]मानविषय[6]नियोक्तृधर्मत्वेन चानवस्थानान्न नियोगो [4]वाक्यार्थ इति चेत् [5]तदितरत्रापि[7] समानम्[8]—विधेरपि घटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनात्—विधाप्य[9]मानविषय[10]विधायक[11]धर्मत्वेनाव्यवस्थितेश्च ।

विधिवादी—'नियोग' वस्त्रादि (या घटादि पाठ भेद भी है) के समान भिन्न रूप होने से प्रतिभासित नहीं होता है और नियोज्यमान पुरुष के यागादि विषय में "अग्निष्टोमेन" इत्यादि नियोक्ता के धर्म रूप से व्यवस्थित न होने से नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकता है । अर्थात् घट शब्द से जैसे पृथु बुध्नोराकार--गोलमटोल रूप "घट" अन्य ही प्रतीति में आता है वैसे ही अग्निष्टोमादि वाक्य से अन्य रूप नियोग प्रतीति में नहीं आता है । इस रीति से अप्रवर्तक स्वभाव में भी विधि ही वाक्य का अर्थ है नियोग है ऐसा नियम है । यहां "घटवत्" यह दृष्टांत व्यतिरेक में है ।

भाट्ट—यह वात तो आपके विधिपक्ष में भी समान ही है—विधि भी घटादि के समान भिन्न होने से प्रतिभासित नहीं होती है "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य से विधीयमान—यागादि रूप विषय, विधायक—आत्मा के धर्म रूप से व्यवस्थित न होने से वह विधि भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—अद्वैतवादी का कहना है कि जैसे आत्मा से भिन्न कल्पित किये गये घट पटादि पदार्थ भिन्न-२ प्रतिभासित होते हैं, वैसे न तो भिन्न पदार्थ रूप से नियोग ही प्रतिभासित है, न वेदवाक्य रूप नियोग से नियुक्त हुये श्रोता पुरुष ही प्रतिभासित हैं और न यज्ञ आदि विषय का धर्म रूप नियोग ही प्रत्यक्ष है अतः "भिन्न पदार्थ रूप हेतु" से एवं "श्रोता पुरुष के यज्ञादि विषय में नियोक्ता (वेदवाक्य) के धर्म रूप" हेतु से, इन दोनों ही हेतुओं से नियोग प्रतिभासित नहीं है अतः वेदवाक्य का अर्थ नियोग नहीं हो सकता है । इस पर भाट्ट कहता है कि इसी आक्षेप का हम आपके ऊपर भी आरोप कर सकते

---

१ अप्रवर्त्तकत्वेपि । यद्यपि प्रमाणप्रमेयाद्यनेकवा विकल्पखण्डनद्वारेण विधिर्वाक्यार्थो नास्ति तथापि विधिवादिनो वलात्कारेण विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कथं न भवेत् ? इत्याशयः । २ व्यतिरेकदृष्टान्तः । विधिवाद्याह ।—यथा पुरुषात्पटादिकार्यरूपं भिन्नं प्रतिभासते तथा न नियोगप्रेर्यमाणपुरुषविषयप्रेरकधर्मरूपेण घटादिः प्रतिभासते तथा नियोग इति हेतुद्वयान्नियोगस्यानवतारान्न नियोगो वाक्यार्थो न भवति । ३ भिन्नत्वेन । ४ पुरुष । ५ यागादि । ६ अग्निष्टोमेत्यादि । ७ विधिपक्षे । ८ विधिर्न वाक्यार्थः इत्यादि । ९ अवश्यकरणीयतयाभिमन्यमान । सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्याद्विधाप्यमान । १० यागादिरूप । ११ आत्मा ।

---

(1)घटादिवत् इति पा० । यथा घटशब्दात्पृथुबुध्नोदराकाररूपो घटोऽन्यः प्रतीयते तथाग्निष्टोमादिवाक्यादन्यो नियोगः प्रतीयते इति नियामकमनया रीत्याप्रवर्तकस्वभावेऽपि विधिरेव वाक्यार्थो न नियोगः । घटवदिति व्यतिरेकदृष्टांतः । (2) नियोगो वाक्यार्थो न भवेदतः कारणात् । (3) नियुज्यमान-इति पा० । (4) अग्निष्टोमेत्यादि । (5) दूषणं ।

[अधुना जैनमतमाश्रित्य भाट्टः विधिवादिनं दूषयति]

[१]यथैव[२] हि नियोज्यस्य पुंसो धर्मे नियोगेऽन[३]नुष्ठेयता नियोगस्य सिद्धत्वाद्—अन्यथा[1] तदनुष्ठानोपरमाभावानुषङ्गात्[४]—[५]कस्यचिद्रूपस्यासिद्धस्याभावात्[2]। [६]असिद्धरूपतायां[3] वाऽनियोज्यत्वं-विरोधाद्वन्ध्यास्तनन्धयादिवत् । [4]सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे तस्यैवासिद्धरूपेण[5] वा नियोज्यतायामेकस्य[७] पुरुषस्य[6] सिद्धासिद्धरूप[7]सङ्करान्नियोज्येतरत्वविभागासिद्धिः । [८]तद्रूपा-

हैं। अर्थात् आपका परमब्रह्म भी घट पटादि के समान पुरुष से भिन्न प्रतिभासित नहीं होता है तथा विधान करने योग्य दर्शन, श्रवण, मनन आदि या दृष्टव्य विषय का धर्म, अथवा ब्रह्म को कहने वाले वेदवाक्यों के द्वारा भी विधिरूप परमब्रह्म की व्यवस्था नहीं हो सकती है अतः आपके द्वारा मान्य वेदवाक्य का 'विधि' अर्थ भी सिद्ध नहीं हो पाता है।

[जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट विधिवादी पर दोषारोपण करता है]

जिस प्रकार से नियोज्य पुरुष का नियोगधर्म में अनुष्ठेयपना न होने से अकर्तव्यता है क्योंकि नियोग की सिद्धि है। अन्यथा उसके अनुष्ठान के उपरम-समाप्ति का अभाव ही हो जावेगा, क्योंकि उसका कुछ भी रूप असिद्ध नहीं है। अर्थात् यदि सिद्ध रूप नियोग की कर्तव्यता है तब तो नियोग को करने में अनवस्था का प्रसंग आता है क्योंकि उस नियोग में कोई भाग असिद्ध नहीं है।

यदि कहो कि असिद्ध रूप भी नियोग नियोज्य है तब तो वंध्या के पुत्रादि भी नियोज्य हो जावेंगे, किन्तु ऐसा तो है नहीं, लोक में विरोध देखा जाता है। सिद्ध रूप से-पुरुष रूप से नियोज्य को मानने पर अथवा उसी को असिद्ध रूप से नियोज्य कहने पर तो सर्वथा निरंश रूप एक पुरुष में सिद्ध और असिद्ध दो रूप से संकर दोष आ जावेगा। पुनः नियोज्य और अनियोज्य रूप से विभाग ही सिद्ध नहीं हो सकेगा।

---

१ एतदेव क्रमेण विव्रियते । २ अतो नियोगखण्डनद्वारेण विधिखण्डनार्थं भावनावादी वदति । ३ अकर्तव्यता । ४ सिद्धरूपस्य नियोगस्य यद्यनुष्ठेयता तदा तस्य नियोगस्य करणीयानवस्थाप्रसंगः—यतस्तत्र नियोगे कश्चिद्भागो असिद्धो नास्ति । ५ पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्वं कथमित्याशंकायामाह कस्यचिदिति । ६ असिद्धरूपोपि नियोगः नियोज्यो भवतीति चेत्तदावन्ध्यास्तनन्धयादेरपि नियोज्यत्वप्रसंगः । तथा नास्ति लोके विरोधदर्शनात् । ७ नियोगस्यैकं रूपं सिद्धमन्यदसिद्धं सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे सति तस्यैव नियोगस्यासिद्धरूपेण कृत्वा अनियोज्यतायां सत्यामित्येकपुरुषस्य सिद्धासिद्धरूपमिश्रणादयं नियोज्योयमनियोज्य इति भेदो न सिद्ध्यति । अथवा तद्रूपयोर्नमिश्रणे सति भेदघटनादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोश्च परस्परसम्बन्धो नास्ति । कस्मात् ? उपकाराकरणात् । ८ तद्रूपासंकरे एव भेदप्रसंगादिति वा पाठः ।

---

(1) पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्वं कथमित्याशंकायामाह । (2) पुरुषस्य । (3) वा नियोज्यत्वविरोधात् । [illegible] । तच्छुद्धं प्रतिभाति । (4) पुरुषरूपतया । (5) अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यसिद्धरूपेण । (6) सर्वथा निरंशस्ये-त्यर्थः । (7) अभेदः ।

सङ्करे वा[१] [1]भेदप्रसङ्गादात्मनः[2] सिद्धासिद्धरूपयोः सम्बन्धाभावोनुपकारात्। उपकारकल्पनायामात्मनस्तदुपकार्यत्वे[२] नित्यत्वहानिः। तयोरात्मोपकार्यत्वे सिद्धरूपस्य[3] सर्वथोपकार्यत्वव्याघातः। असिद्धरूपस्याप्युपकार्यत्वे गगनकुसुमादेरुपकार्यतानुषङ्गः। सिद्धासिद्धरूपयोरपि[4] कथञ्चिदसिद्धरूपोपगमे प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्था[३]नुषङ्गादित्युपालम्भः[४]।

[भावनावादिना भाट्टेन प्राग्यथा नियोगवादो निराकृतस्तथैवाधुना विधिवादोपि निराक्रियते]

[५]तथा विधाप्यमानस्य पुरुषस्य धर्मे [६]विधावपि सिद्धस्य पुंसो दर्शनश्रवणानुमननध्यानवि-

---

अर्थात् नियोग का एक रूप सिद्ध है अन्य रूप असिद्ध है, सिद्ध रूप से नियोज्य मानने पर वही नियोग असिद्ध रूप से अनियोज्य हो जाता है। इस प्रकार से एक पुरुष में सिद्ध, असिद्ध रूप का मिश्रण हो जाने से यह नियोज्य है और यह अनियोज्य है, ऐसा भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा। अथवा उन दोनों रूपों का मिश्रण न होने पर भेद घटित हो जाने से आत्मा में परस्पर में सिद्धासिद्ध रूप संबंध नहीं रहेगा।

अथवा उन रूपों का संकर न होने पर भेद का प्रसंग आ जाने से आत्मा के सिद्ध असिद्ध रूप में संबंध का अभाव है, क्योंकि कोई भी उपकार संबंध नहीं है और यदि आप उपकार की कल्पना करोगे तो उन सिद्ध और असिद्ध के द्वारा आत्मा का उपकार मानने पर आत्मा के नित्यत्व की हानि हो जावेगी। एवं उन दोनों सिद्ध असिद्ध रूप नियोगों पर आत्मा के द्वारा उपकार मानने पर जो सिद्ध रूप है उसके तो सर्वथा उपकारपने का विरोध आता है। तथा असिद्ध रूप का भी उपकार मानने पर आकाश फूल आदि के भी उपकारित होने योग्य का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् आत्मा सिद्ध रूप का उपकारक है या असिद्ध रूप का? इन दो विकल्पों को उठाकर उन दोनों में दोष दिखाया है।

सिद्धासिद्ध रूप नियोग को भी कथंचित् असिद्ध रूप स्वीकार करने पर प्रकृत के-उपर्युक्त प्रश्न दूर नहीं किये जा सकेंगे, प्रश्नों की अनवस्था ही आ जावेगी।

[पूर्व में भावनावादी भाट्ट ने जैसे नियोग का खण्डन किया है उसी प्रकार से विशेषरूप से अब विधिवाद का भी खण्डन करता है]

भाट्ट—जिस प्रकार से नियोग पक्ष में दूषण आते हैं तथैव विधाप्यमान—जिसके लिए विधि की जावे अर्थात् "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इस वाक्य के द्वारा जिसके लिये यज्ञ का विधान किया गया है

---

१ आत्मनः सकाशात् सिद्धासिद्धरूपयोर्भेदप्रसंङ्गात्। २ ताभ्यां सिद्धासिद्धाभ्यामुपकार्यत्वे किं दूषणं स्यात्? आत्मनो नित्यत्वहानिः। ३ प्रारब्धनियोगप्रश्नस्य निवृत्तिर्न भवतीति तदा किमायातम्? अनवस्थानाम दूषणं स्यात्। ४ अतः प्रभृति नियोगखण्डनवद्विधेः खण्डनं करोति भावनावादी। ५ यथैव हीत्यादिनियोगपक्षे। ६ अवश्यकरणीयदर्शनश्रवणमननादिरूपे।

---

(1) आत्मनः सकाशात्सिद्धासिद्धरूपयोर्भेदप्रसंगादित्यर्थः। (2) ता (3) आत्मा सिद्धरूपस्योपकारकोऽसिद्धरूपस्य वेति विकल्पद्वयं कृत्वा निराचष्टे। (4) किंचित् इत्यपि पाठः प्रतिभाति।

धानविरोधः[1]। [१]तद्विधाने वा सर्वदा [२]तदनुपरतिप्रसक्तिः। दर्शनादिरूपेण [३]तस्यासिद्धौ [४]विधानव्याघातः कूर्मरोमादिवत्। सिद्धरूपेण विधाप्यमानस्य विधाने तस्यैवासिद्धरूपेण चाविधाने सिद्धासिद्धरूपसङ्कराद्विधाप्येतरत्वविभागासिद्धिः। तद्रूपासङ्करे वा भेदप्रसङ्गादात्मनः[५] सिद्धासिद्धरूपयोस्तत्संबन्धाभावादि दोषासङ्ग[६]नस्याविशेषः। [७]तथा विपयस्य

ऐसे उस पुरुष के विधि (अवश्यकरणीय, दर्शन, श्रवण, मननादि) रूप धर्म में भी परमब्रह्म रूप सिद्ध पुरुष के दर्शन, श्रवण, अनुमनन, ध्यान के विधान का विरोध आता है।

अथवा उस सिद्ध पुरुष के भी यज्ञ करने का विधान मान लेने पर हमेशा उसके यज्ञ करने की उपरति नहीं हो सकेगी एवं उस विधि रूप ब्रह्म को असिद्ध मानने पर उसके दर्शन, श्रवण आदि के विधान का विरोध हो जाता है। जैसे कूर्म रोमादि है नहीं, तो उससे वस्त्रादि बनाने का विरोध ही है एवं सिद्ध रूप से विधाप्यमान—ब्रह्म का विधान करने पर और उसी का असिद्ध रूप से विधान न करने पर सिद्धासिद्ध रूप का संकर हो जाने से विधाप्यमान और अविधाप्यमान रूप विभाग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अथवा उन दोनों रूपों का संकर न मानने से भेद का प्रसंग आ जाने पर आत्मा से सिद्धासिद्ध का संबंध न हो सकना आदि दोषों का प्रसंग समान ही है।

भावार्थ—यहां पर भाट्ट विधिवादी को दूषण देते हुये कहते हैं कि जैसे आप विधिवादी नियोग में दूषण देते हो वैसे ही आपके यहां विधिवाद में भी दूषण समान ही है। अर्थात् जैसे प्रभाकर का मान्य नियोग नियोज्य-पुरुष का धर्म तथा याग लक्षण-विषय का धर्म, एवं नियोक्ता-शब्द का धर्म नहीं हो सकता है वैसे ही विधि भी विधीयमान-पुरुष का धर्म तथा विधेय-विषय का धर्म एवं विधायक-शब्द का धर्म नहीं हो सकता है। देखिये! जिस प्रकार 'नियुक्त होने योग्य पुरुष का धर्म' यदि नियोग माना जावे तो आप अद्वैतवादियों ने प्रभाकर के ऊपर "अनुष्ठान नहीं करने योग्य" आदि दोषों का आरोप किया है, मतलब नियुक्त होने योग्य पुरुष अनादिकाल से स्वतः सिद्ध है तो उस आत्मा का स्वभाव नियोग भी पूर्वकालों से सिद्ध है और यदि सिद्ध हो चुके पदार्थ का अनुष्ठान माना जावेगा तो अनुष्ठान का कभी भी अंत ही नहीं हो सकेगा, कृत का पुनः करना होते रहने से पुनः पुनः उसी किये हुये को करते चलिये, चर्वित का चर्वण अनंत काल तक करते रहिये। अतः यही अच्छा है कि बन चुके को पुनः न बनाया जावे। नित्य पुरुष के धर्म रूप नियोग का कोई भाग असिद्ध तो है नहीं। हां! यदि किसी असिद्ध रूप को नियुक्त होने योग्य माना जावेगा तब तो सर्वथा असिद्ध-वंध्यापुत्र, अश्वविषाण आदि को भी नियोज्य मानना पड़ेगा। यदि आप कहें कि आत्मा का धर्म नियोग किसी एक सिद्ध रूप से नियोज्य एवं किसी एक असिद्ध रूप से अनियोज्य

१ तस्य सिद्धस्य पुरुषस्य करणे वा। २ अविश्रान्तिरनवस्था वा। ३ विधेः। ४ यागलक्षणस्य विषयधर्मस्य नियोगस्य। ५ सकाशात्। ६ अनुषङ्गस्य। ७ हे विधिवादिन्!

(1) अनुष्ठेयतेत्यर्थः।

है तब तो एक ही आत्मा में दोनों का संकर हो जाने से नियोज्य और अनियोज्य रूप दो प्रकार का विभाग भी नहीं हो सकेगा। यदि सिद्ध असिद्ध, इन दोनों रूपों का आत्मा में संकर न मानों तब तो इन दोनों स्वभावों से अभिन्न एक आत्मा के भेद का प्रसंग आ जावेगा अथवा नित्य-आत्मा से ये दोनों रूप पृथक् हो जावेंगे ऐसी दशा में ये दोनों सिद्ध असिद्ध रूप आत्मा के हैं ऐसा नियामक-वताने वाला कोई संबंध आपके यहां है ही नहीं, क्योंकि राजा का पुरुष, गुरु का शिष्य या पुरुष का राजा, शिष्य का गुरु, यहां परस्पर में आजीविका देना, चाकरी देना, पढ़ाना, सेवा करना आदि उपकार करने से स्वामी-भृत्य संबंध, गुरु-शिष्य संबंध, राजा-प्रजा संबंध माने जाते हैं, किन्तु उपकार नहीं होने से उन सिद्ध असिद्ध रूप और कूटस्थ नित्य आत्मा का कोई षष्ठी विधायक सम्बन्ध नहीं हो पाता है।

यदि उपकार की कल्पना करो तो प्रश्न यह होता है कि इन सिद्ध असिद्ध दोनों रूपों से आत्मा के ऊपर उपकार किया जाता है या आत्मा के द्वारा दो रूपों पर उपकार किया जाता है? प्रथम विकल्प मानों तो आत्मा नित्य नहीं माना जा सकेगा क्योंकि जो उपकृत होता है वह कार्य होता है और कार्य अनित्य ही होता है। यदि दूसरे विकल्पानुसार सिद्धासिद्ध रूपों पर आत्मा के द्वारा उपकार मानों तब तो जो सिद्ध रूप हो चुका है उसमें उपकार को धारण करने योग्य कोई अंश शेष नहीं है। यदि दूसरे असिद्ध रूप को भी उपकार प्राप्त करने योग्य माना जावे तब तो आकाश पुष्प आदि भी उपकार झेलने वाले हो जायेंगे। यदि कथंचित् सिद्धासिद्ध रूप कहो तो उपर्युक्त दोषों की ही अनवस्था चलती रहेगी। इस प्रकार से विधिवादी ने नियोगवादी पर दूषण दिया है अब भाट्ट इन्हीं सभी दूषणों को विधिवादी पर आरोपित करते हैं।

देखिये! विधान कराये जा रहे पुरुष का धर्म विधि है और परिपूर्णतया सिद्ध हो चुका श्रोतापुरुष भी नित्य है वह नित्य पुरुष परमब्रह्म का दर्शन श्रवण आदि कैसे कर सकेगा क्योंकि जो पहले दर्शन आदि से रहित है वह परिणामी पदार्थ ही दर्शनादि का विधान अनुष्ठान कर सकता है, नित्य कृतकृत्य नहीं हैं। यदि सिद्ध हो चुका पुरुष भी दर्शन, श्रवणादि का विधान करेगा तो सर्वदा ही उन दर्शन, मनन आदि से विराम नहीं हो सकेगा क्योंकि दो-चार बार दर्शन कर चुकने पर भी पुनः पुनः सिद्ध हो चुके पुरुष भी यदि दर्शनादि में प्रवृत्ति करते रहेंगे तो पूर्ववत् चर्वित चर्वण ही होता रहेगा। यदि आप कहें कि आत्मा का धर्म रूप जो विधि है उसका दर्शन श्रवण आदि स्वरूप असिद्ध नहीं है तब तो कछुवे के रोम के समान उस असिद्ध स्वरूप आदि से असत् रूप विधि का विधान नहीं हो सकेगा। यदि उस विधि को सिद्ध असिद्ध ऐसे दो रूप मानोंगे तब तो एक ही परम ब्रह्म सिद्ध रूप होने से विधान करने योग्य होगा और असिद्ध रूप से विधान के योग्य नहीं होगा तो संकर दोष आ जावेगा एवं विधान करने के योग्य-अयोग्य का विभाग नहीं हो सकेगा। तथा एक ब्रह्म में स्वरूप संकर न मानने से दोनों रूपों का आत्मा से भेद हो जावेगा एवं सर्वथा भिन्न सिद्धासिद्ध दोनों रूपों का आत्मा के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं बनेगा। यदि उपकार की कल्पना करोगे तब तो पूर्ववत् दोष आते ही

यागलक्षणस्य धर्मे नियोगे तस्याऽपरिनिष्पन्नत्वात् [१]स्वरूपाभावाद्वाक्येन प्रत्येतुमश[२]क्य-त्वस्य [३]विधावपि [४]विषयधर्मे समानत्वात्कुतो [५]विषयधर्मो विधिः ? [६]पुरुषस्यैव [1]विषय-तयाऽवभासमानस्य विषयत्वात्तस्य[७] च परिनिष्पन्नत्वान्न तद्धर्मस्य [८]विधेरसम्भव इति चेत् [९]तर्हि यजनाश्रयस्य [2]द्रव्यादेः सिद्धत्वात्तस्य[१०] च विषयत्वात्कथं तद्धर्मो नियोगोपि न सिद्ध्येत ? येन रूपेण विषयो विद्यते तेन तद्धर्मो नियोगोपीति, तदनुष्ठानाभावे[११] [3]विधिविषयो येन रूपेणास्ति तेन तद्धर्मस्य विधेः कथमनुष्ठानम् ?

रहेंगे । अतः नियोग के समान आपका ब्रह्माद्वैत भी सिद्ध नहीं हो सकता है । यहां नियोगवादी के ऊपर विधि-वादी के द्वारा कटाक्षवर्षा किये जाने पर भट्ट मीमांसकों ने विधिवादी को आड़े हाथ लिया है एवं श्लोकवार्तिकालंकार में आचार्यों ने नियोगवादी की ओर से विधिवादी के ऊपर दोषारोपण किया है ।

तथा हे विधिवादिन् ! यदि आप नियोगवादी को ऐसा कहें कि यागलक्षण विषय का नियोग रूप धर्म मानने पर उसके परिनिष्पन्न होने से उसके स्वरूप का अभाव ही है अतः वाक्य के द्वारा उसका निश्चय करना अशक्य है तब तो यह बात विषय के धर्म रूप विधि में भी समान है अतः विषय का (आत्मा का) धर्म विधि है यह बात कैसे सिद्ध होगी ?

विधिवादी—पुरुष ही विषय रूप से अवभासित होता है क्योंकि वह विषय है और वह पुरुष निष्पन्न है इसलिये उस पुरुष का धर्म विधि है यह कथन असंभव नहीं है ।

भाट्ट—तब तो यजन—यज्ञ के आश्रयभूत द्रव्यादि सिद्ध हैं और वे विषय भी हैं । पुनः उन द्रव्यादिक का धर्म भी नियोग है यह बात भी क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगी ? क्योंकि जिस रूप से विषय रहता है उस रूप से उसका धर्म नियोग भी रहता है यदि कहो कि उस नियोग के अनुष्ठान का अभाव है तब तो विधि का विषय जिस रूप से है उस विषय के धर्म रूप विधि का भी अनुष्ठान कैसे हो सकेगा ।

विधिवादी—जिस अंश—दर्शन आदि रूप से विधि नहीं है उस अंश से विधि का अनुष्ठान घटित होता है ।

भाट्ट—ऐसा अनुष्ठान तो नियोग में भी समान है ।

भावार्थ—विधिवादी कहते हैं कि यदि नियोग को याग स्वरूप विषय का धर्म माना जाता है तो मान लीजिये, किन्तु वह यज्ञ अभी बनकर पूर्ण तो हुआ नहीं है । उपदेश सुनते समय तो उस यज्ञ का स्वरूप है ही नहीं, पुनः वेदवाक्य के द्वारा उसका निर्णय कैसे हो सकेगा ? इस पर भाट्ट कहता है कि

---

१ प्रत्येतुमशक्यत्वं कुत इत्युक्ते तत्र समर्थनपर प्रथमं साधनम् । २ दूषणमन्द । ३ श्रवणकरणादिदर्शनादौ । ४ दर्शनादि । ५ आत्मनः धर्मः । ६ विधिवादी । ७ पुरुषस्य । ८ श्रवणकरणादिदर्शनादेः । ९ नियोग[illegible] भावनावादी वदति । १० द्रव्यादेः । ११ तस्य नियोगस्य करणाभावे सति विधेरप्यनुष्ठानं मा भूत् ।

---

(1) दर्शनादिरूपेण । (2) पुरुष । रूपादि । (3) पुरुष ।

[१]येनांशेन[1] [२]नास्ति [३]तेनानुष्ठानमिति [2]चेत् [४]तन्नियोगेपि समानम् । [५]कथमसन्नियोगोनुष्ठीयते—अप्रतीयमानत्वात् खरविषाणवदिति [६]चेत्तत एव विधिरपि नानुष्ठेयः । [७]प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयतया[८] चासिद्धत्वादनुष्ठेयो विधिरिति चेन्नियोगोपि [९]तथास्तु ।[१०]नन्वनुष्ठेय[११]तयैव[3]

"दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्य के सुनने के अवसर पर जब दर्शन श्रवण हैं ही नहीं तब उनका धर्म विधि भी विद्यमान नहीं है पुनः उस असद्भूत विधि का अनुभव भी वाक्य के द्वारा कैसे हो सकेगा ? अतः जैसे यज्ञ रूप विषय का धर्म नियोग सिद्ध नहीं है वैसे ही विधि भी सिद्ध नहीं है ।

इस पर विधिवादी कहता है कि—हम दर्शन, श्रवण आदि को विधि का विषय नहीं मानते हैं किन्तु विषय रूप से प्रतिभासित परम ब्रह्म को ही हम विधि का विषय मानते हैं और पुरुष तो पहले से ही बना बनाया नित्य रूप सिद्ध है, इसलिये विधि को पुरुष रूप विषय का धर्म मानना ठीक ही है । इस पर पुनः भाट्ट कहता है कि तब तो नियोगवादियों के यहां यज्ञ, पूजन आदि के अधिकरण रूप द्रव्य आत्मा पात्र, स्थानादि पदार्थ भी पहले से ही सिद्ध हैं अतः उन द्रव्य आदिकों का विषय होने से नियोग भी क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगा ? पुनरपि विधिवादी आरोप उठाता है कि जिस रूप से द्रव्यादि विषय पहले से विद्यमान हैं उसी रूप से उनका धर्म नियोग भी पहले से ही मौजूद है अतः बन चुके-सिद्ध रूप नियोग का अनुष्ठान कैसे हो सकेगा ?

इस पर भाट्ट कहता है कि परमब्रह्म का विषय भी जिस रूप से विद्यमान है उसी स्वरूप से उसके धर्म रूप विधि का भी सद्भाव है अतः उसका विधान भी कैसे किया जा सकेगा ? यदि आप कहें कि जिस स्वरूप से विधि अविद्यमान है उस रूप से उसका अनुष्ठान होता है तो नियोग में ऐसा ही समझिये कि जिस अंश से नियोग विषयी अविद्यमान है उसी अंश से कर्मकांडी मीमांसक उसका अनुष्ठान करते हैं ।

विधिवादी—असत् रूप नियोग का अनुष्ठान कैसे किया जायेगा क्योंकि वह तो अप्रतीयमान है खर-विषाण के समान ।

भाट्ट—उसी हेतु से विधि भी अनुष्ठेय नहीं हो सकेगी ।

विधिवादी—वर्तमान काल में विधि प्रतीयमान होने से प्रतीत हो रही है, किन्तु दर्शन, श्रवण आदि अनुष्ठेय रूप से असिद्ध रूप है अतएव वह विधि अनुष्ठेय है । अर्थात् भविष्यत्काल में उस विधि का विधान करना योग्य है ।

---

१ अत्र विधिवादी वदति । २ विधिर्नास्ति । ३ विधेः करणं घटते । ४ अनुष्ठानम् । ५ विधिवादी । ६ उत्तरम् । अप्रतीयमानत्वादेव । ७ विधिवादी । ८ दर्शनश्रवणादिरूपतया । ९ विधिप्रकारेण प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयो भवतु । १० विधिवादी भावनावादिनं प्रति । ११ कर्त्तव्यतया ।

---

(1) दर्शनादिना । (2) उत्तरं । (3) करणीयतया एव ।

नियोगोवतिष्ठते[१], न प्रतीयमानतया तस्याः [२]सकलवस्तुसाधारणत्वात् । [३]अनुष्ठेयता च यदि प्रतिभाता कोन्यो [1]नियोगो यस्यानुष्ठितिरिति चेत् तर्हि विधिरपि न प्रतीयमानतया प्रतिष्ठामनुभवति[४], किन्तु [2]विधीयमानतया[५] । सा चेदनुभूता कोन्यो विधिर्नाम यस्य

भावनावादी—तब तो नियोग को भी ऐसा ही मानों क्या बाधा है ?

विधिवादी—अनुष्ठेय-कर्त्तव्य रूप से ही नियोग है किन्तु प्रतीयमान रूप से नहीं है क्योंकि वह सकल वस्तुओं में साधारण रूप से है। और प्रश्न यह होता है कि उस नियोग की अनुष्ठेयता—कर्त्तव्यता प्रतिभात है या अप्रतिभात ? यदि प्रतिभात है तो प्रतिभास के अंतः प्रविष्ट ही है। यदि अप्रतिभात है तब तो उसकी अवस्थिति ही नहीं है इसलिये कर्त्तव्यता यदि प्रतिभात है तब तो नियोग नाम की अन्य क्या चीज है कि जिसका अनुष्ठान होवे ?

भावनावादी—तब तो विधि भी प्रतीयमान रूप से व्यवस्था को प्राप्त नहीं कर सकती है किन्तु विधीयमान रूप से ही व्यवस्थित हो सकती है, क्योंकि वह भी सकल वस्तु में साधारण रूप से है। अन्यथा अन्यापोह को भी विधिरूप का प्रसंग आ जावेगा। यदि कहो कि वह अनुभूत है तो विधि अन्य और क्या चीज है कि जिसका विधान उपनिषद् वाक्य से आप वेदांती सुन लेते हैं।

भावार्थ—यदि विधिवादी कहे कि कुछ अंश रूप से असत् नियोग का अनुष्ठान कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो सत् रूप नहीं है और गगनकुसुमवत् जिसकी प्रतीति ही नहीं है उसका अनुष्ठान असंभव है। तब यह दोष तो आप अद्वैतवादी पर भी लागू हो जाता है क्योंकि आपने भी विषय के असद्भूत अंश वाली विधि का ही अनुष्ठान माना है। यदि आप कहें कि हमारे यहां विधि की प्रतीति हो रही है अतः उस विधिरूप ब्रह्म का स्वरूप सिद्ध है पुनः उसके अनुष्ठान में क्या बाधा है ? तब तो हम भाट्ट भी ऐसा कह सकते हैं कि प्रभाकर के यहां वह नियोग भी प्रतीति में आ रहा है वे भी उसको अनुष्ठान करने योग्य मानते हैं।

इस नियोग की पुष्टि के कथन पर पुनरपि विधिवादी अपना ही पक्ष पुष्ट करते हुये कहते हैं कि नियोग अनुष्ठान करने योग्य तो है किंतु उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है, क्योंकि केवल वह अनुष्ठेयता मात्र तो संपूर्ण वस्तुओं में सामान्य रूप से पाई ही जाती है और यदि वह अनुष्ठेयता आप प्रभाकर को प्रतिभासित हो चुकी है तब तो आपका यह कथित नियोग भी प्रतिभास के अंतरंग में प्रविष्ट हो जाने से नित्य ब्रह्म रूप ही सिद्ध हो गया समझना चाहिये। पुनः ब्रह्म से भिन्न दूसरा नियोग कुछ रहा ही नहीं कि जिससे आप उसके अनुष्ठान का विधान कर सकें और यदि आप उस नियोग को

१ अयं नियोगो नान्य इति व्यवस्थितिर्भवति । २ कुड्यादिष्वादिषु । ३ अनुष्ठेयता प्रतिभाता अप्रतिभाता वा ? यदि प्रतिभाता तदा प्रतिभासान्तःप्रविष्टैव । अप्रतिभाता चेत्तदा तस्यावस्थितिरपि नास्ति । ४ तस्याः [illegible] सम्बन्धः । ५ द्रष्टव्योरेयमात्मेत्यादिकर्त्तव्यतया ।

(1) वाक्यात्प्रतीयमानः । (2) अन्यथान्यापोहस्यापि विधित्वप्रसंगात् ।

विधानमुपनिषद्वाक्याद[1]नुकर्ण्यते[1] । [2]ननु द्रष्टव्यादिवाक्येनात्मदर्शनादिकं विहितं[3] ममेति प्रतीतेरप्रतिक्षेपार्हो विधिः कथमपाक्रियते[4] ? [5]किमिदानीमग्निहोत्रादिवाक्येन यागादिविषये

प्रतिभासित नहीं मानोगे तब तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा क्योंकि हम अद्वैतवादियों के यहां तो "नरः प्रतिभासते, पटः प्रतिभासते" इत्यादि रूप से मनुष्य, घट पट आदि सभी चेतन अचेतन पदार्थों को ब्रह्म स्वरूप बनाकर ब्रह्माद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये आकाश के समान विशाल उदर वाला सबसे सुन्दर "प्रतिभासमानत्वात्" हेतु मौजूद है जो कि सभी पदार्थों को विना श्रम के ब्रह्म स्वरूप बना देता है तथाहि, 'सर्वेऽपि चेतनाचेतनात्मकपदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः संति, प्रतिभासमानत्वात् प्रतिभासस्वरूपवत्" अर्थात् सभी चेतन अचेतन पदार्थ प्रतिभास रूप परम ब्रह्म के अंतः प्रविष्ट हैं, क्योंकि वे प्रतिभासित हो रहे हैं जैसे कि प्रतिभास—ब्रह्म का स्वरूप उस ब्रह्म के ही अंतः प्रविष्ट हैं। इस कारण से नियोग भी अनुष्ठान करने योग्य होकर प्रतिभासित हो चुका है और जो प्रतिभासित हो जाता है उसकी वर्तमान काल में प्रतीति नहीं होती है अतः यदि आप ब्रह्माद्वैतवादी नहीं बनना चाहते हैं तव तो आप नियोग को अप्रतीयमान ही रहने दीजिए। इस पर भाट्ट अपने भाई नियोगवादी को सहारा देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार से आप की विधि का भी तो वर्तमान काल में अनुभव नहीं आ रहा है किन्तु वह वर्तमान में विधीयमान-विधान किए जाने रूप से ही जानी जाती है क्योंकि वह विधीयमानता भी तो सभी पदार्थों में साधारण रूप से पाई जाती है और जब विधि की विधीयमानता का अनुभव हो चुका है तो फिर उससे अन्य कौन सा अंश विधि नाम का शेष रह गया है कि जिसका "दृष्टव्योरेयमात्मा" इत्यादि वाक्यों से विधान कराया जा सके इसलिए विधि भी अप्रतीयमान है ऐसा मान लेना चाहिए अन्यथा उसका विधान नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकार से भाट्ट ने विधिवादी पर दोषारोपण किया है। यहां पर अनुष्ठेयता भविष्यत्कालीन है, प्रतीयमानता वर्तमान कालीन है एवं प्रतिभासित्व भूतकाल का वाचक है इस प्रकार से कालों का व्यतिकर (भेद) दिखलाते हुए विद्वानों का अच्छा संघर्ष हो रहा है।

विधिवादी—"दृष्टव्यादि" वाक्यों से आत्मदर्शनादि अवश्यकरणीय कहे गए हैं क्योंकि 'मम इदं कर्तव्यं' यह मुझे करने योग्य है इस प्रकार से प्रतीति होती है अतः विधि प्रतिक्षेप—निषेध के योग्य नहीं है पुनः नियोगवादी प्रभाकर उसका निराकरण कैसे करते हैं ?

भाट्ट—तो क्या विधि की प्रतीति के समय अग्निहोत्रादि वाक्य से यज्ञादि के विषय में 'मैं नियुक्त हूं' ऐसी प्रतीति नहीं आती है कि जिससे नियोग का खंडन आप करते हैं। अर्थात् आप नियोग का खंडन भी नहीं कर सकेंगे।

---

१ वेदान्तवादिना। २ विधिवादी। ३ अवश्यङ्करणीयम्। ४ प्रभाकरेण। ५ विधेः प्रतीतिकाले।

---

(1) उपवर्ण्यते इति पा.।

नियुक्तोहमिति प्रतीतिर्न विद्यते येन नियोगः प्रतिक्षिप्यते ? सा प्रतीतिरप्रमाणमिति चेत् विधिप्रतीतिः कथमप्रमाणं न स्यात् ? विधिप्रतीतेः पुरुषदोषरहितवेदवचनेन जनितत्वादिति चेत्तत एव नियोगप्रतीतिरप्यप्रमाणं मा भूत्—सर्वथाप्यविशेषात्[1]। तथापि नियोगस्य विषयधर्मस्यासम्भवे विधेरपि तद्धर्मस्य न सम्भवः। [1]शब्दस्य[2] [3]विधायकस्य धर्मो विधिरित्यपि न निश्चेतुं शक्यम्[4]—नियोगस्यापि नियोक्तृशब्दधर्मत्वप्रतिघाताभावा-

विधिवादी—वह प्रतीति अप्रमाण है।

भाट्ट—पुनः विधि की प्रतीति भी अप्रमाण क्यों नहीं हो जावे ?

विधिवादी—विधि की प्रतीति तो पुरुष के दोष से रहित अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होती है है अतः प्रमाण है।

भाट्ट—उसी हेतु से ही नियोग की प्रतीति भी अप्रमाण मत होवे, सर्वथा भी दोनों में समानता है अर्थात् विधि की प्रतीति और नियोग की प्रतीति दोनों भी अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होती हैं अतः दोनों ही प्रमाण हो सकती हैं दोनों में कोई अंतर नहीं है फिर भी यदि आप कहें कि नियोग विषय का धर्म नहीं है तो विधि भी विषय का धर्म नहीं है।

भावार्थ—विधिवादी कहता है कि दृष्टव्य, मन्तव्य, सोहं इत्यादि वाक्यों से मुझको आत्मदर्शनादि की विधि हो चुकी है अतः उसका खंडन नहीं किया जा सकता है इस पर भाट्ट कहता है कि अग्निहोत्र, विश्वजित् आदि यज्ञों के कहने वाले वाक्यों से "मैं यज्ञादि विषयों में नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रतीति को आप अप्रमाण ही कह सकते हैं यदि आप विधिवादी कहें कि राग द्वेष अज्ञानादि दोषों से रहित अनादि, अनिधन वेदवाक्यों से उत्पन्न हुई विधि प्रमाणभूत है तब तो अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही तो प्रभाकर नियोग को प्रमाण मानता है। यहाँ तक तो नियुक्त होने योग्य पुरुष को नियोग कहना या यज्ञ स्वरूप पुरुष के धर्म को नियोग कहने में आप विधिवादी जो बाधा देते हैं आपके यहाँ भी विधि कराने योग्य—पुरुष को विधि कहने में या विधेय के धर्म को विधि-ब्रह्मरूप करने में वे ही बाधायें सामान रूप से आ जाती हैं अतः नियोग और विधि में यहां तक संपूर्ण अंशों में सदृश दोषारोपण किया गया है।

विधिवादी—शब्द—विधायक का धर्म विधि है।

भाट्ट—यह निश्चय करना भी शक्य नहीं है अन्यथा नियोग भी नियोक्ता शब्द का धर्म हो जावेगा उसका आप अभाव नहीं कर सकेंगे शब्द तो सिद्ध रूप हैं पुनः उनका धर्म नियोग असिद्ध कैसे रहेगा कि जिससे यह वेदवाक्य से अनुष्ठेय है ऐसा प्रतिपादन किया जा सके। ऐसा भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि

१ विधिप्रतीतिनियोग प्रतीत्योर्द्वयोरपि पुरुषदोषरहितवेदवचनजनितत्वेन [illegible]। २ [illegible]णार्थप्रतिपादकस्य। ३ विधिवाद्याह।—विदधातीति विधायको द्रष्टव्योरेयमात्मेत्यादि[illegible] धर्मो [illegible] विधायक इति। ४ अन्यथा।

(1) दृष्टव्योरेयमित्यादिकस्य।

नुपक्तेः । शब्दस्य [१]सिद्धरूपत्वात्तद्धर्मो नियोगः कथमसिद्धो येनासौ [२]सम्पाद्यते [1]कस्यचिदित्यपि न मन्तव्यम्[2]—विधिसम्पादनविरोधात्—तस्यापि[३] सिद्धोपनिषद्वाक्य-धर्मत्वाविशेषात् । [४]प्रसिद्धस्यापि[3] सम्पादने पुनःपुनस्तत्सम्पादनप्रवृत्त्यनुपरमात्[4] कथमुपनिषद्वाक्यस्य प्रमाणता—तदपूर्वार्थताविरहात्स्मृतिवत्[५] । तस्य वा प्रमाणत्वे नियोग-वाक्यं प्रमाणमस्तु—विशेषाभावात् ।

विधि में भी ऐसा प्रतिपादन करना विरुद्ध है वह विधि का संपादन भी प्रसिद्ध उपनिषद्वाक्य का धर्म है दोनों जगह कोई अन्तर नहीं है । प्रसिद्ध—निष्पन्न को भी संपादित करने में पुनः पुनः उसके संपादन की प्रवृत्ति का विराम-अभाव ही नहीं होगा पुनः उपनिषद्वाक्य में प्रमाणता कैसे आवेगी क्योंकि वह अपूर्वार्थपने से रहित हैं जैसे कि स्मृति अपूर्वार्थ का प्रतिपादन नहीं करती है अथवा उसको प्रमाण मानोगे तो नियोग वाक्य को भी प्रमाण मानो कोई अंतर नहीं है ।

भावार्थ—अब तीसरे प्रकार से विधायक शब्द के धर्म को विधि मानने पर नियोजक शब्द के धर्म को भी नियोग कहना पड़ेगा इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्यों के द्वारा विधायक शब्द के धर्म को विधि कहने पर तो "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्यों के द्वारा नियोक्ता शब्दों के धर्म को भी नियोग मानना पड़ेगा । इस पर विधिवादी यों कहता है कि शब्द को कूटस्थ नित्य मानने वाले मीमांसकों के भाई आप प्राभाकरों के यहां शब्द का परिपूर्ण रूप सिद्ध है अतः उस शब्द का धर्म नियोग असिद्ध कैसे रहेगा कि जिससे उस नियोग को कर्मकांड वाक्यों के द्वारा कोई भी श्रोता संपादित कर सके। इस पर भाट्ट का कहना है कि आप विधिवादी के यहां भी अनादि काल से परिपूर्ण सिद्ध वैदिक उपनिषद् वाक्यों का धर्म विधि है इस मान्यता में भी वेदवाक्य का धर्म विधि भी नित्य ही ठहरी । यदि सर्व अंशों में परिपूर्ण रूप से सिद्ध हो चुके पदार्थ का भी संपादन करना माना जावेगा तो पुनः सिद्ध हो चुके का भी अनुष्ठान किया जावेगा तो कभी भी अनुष्ठान का अन्त ही नहीं हो सकेगा । इस कारण स्मृति के समान अपूर्व अर्थ के ग्राही न होने से आत्म प्रतिपादक वैदिक उपनिषद् वचनों को प्रमाणता नहीं आ सकती है । यहां पर स्मृति का दृष्टांत नियोगवादी की अपेक्षा से दिया गया है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धांत में स्मृति को अपूर्वार्थग्राही मानकर प्रमाणीक माना है यदि फिर भी विधिवादी गृहीत के ग्राहक उन उपनिषद् वचनों को प्रमाण मानेंगे तो नियोग वाक्य भी प्रमाण हो जावेंगे ।

---

१ शब्दस्त्वग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिः सिद्धरूपः शब्दधर्म एव नियोगः कथमसिद्धो यतो यागादिः कर्त्तव्यः स्यात् । २ वेद-वाक्येनानुष्ठेयो भवतीति प्रतिपाद्यते । ३ विधिसम्पादनस्य । ४ ज्ञातस्यापि । ५ वेदस्य उप समीपे निपदनमुपनिपत् तस्य वाक्यमुपनिपद्वाक्यं पक्षः प्रमाणं न भवतीति साध्यो धर्मः तस्यापूर्वार्थताविरहात् । यथा स्मृतिः । यथा स्मृतेरपूर्वार्थताप्रतिपादनं नास्ति श्रुत्यनुसारित्वात् तथेत्यर्थः ।

---

(1) नुः । (2) अन्यथा । (3) निष्पन्नस्यापि । (4) अनुपरमाङ्गीकारे ।

[विधेर्ग्राहकं वाक्यमप्रधानतया विधिं विषयीकरोति प्रधानतया वा ? इति विकल्प्योभयं दूषयति]

किञ्च तद्विधिविषयं वाक्यं गुणभावेन प्रधानभावेन वा विधौ प्रमाणं स्यात् ? यदि गुणभावेन तदाग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादिरपि [१]तादस्तु[1] —गुणभावेन[२] विधिविषयत्वस्य भावात्—[३]तत्र भट्टमतानुसारिभिर्भावनाप्राधान्येनोपगमात्—प्राभाकरैश्च नियोगगोचरत्वस्य प्रधानत्वाङ्गीकरणात्[2] । तौ च भावनानियोगौ नासद्विषयौ[४] प्रवर्तेते प्रतीयेते वा सर्वथाप्यसतोः प्रतीतौ प्रवृत्तौ वा शशविषाणादेरपि तदनुषक्तेः[५] । [3]सद्रूपतया[६] च तयोर्विधि-[4]नान्तरीयकत्वसिद्धेः सिद्धं गुणभावेन विधिविषयत्वं वाक्यस्य[5] । इति नाप्रमाणतापत्तिर्येन कर्मकाण्डस्य पारमार्थिकता न भवेत् । [७]प्रधानभावेन विधिविषयं चोदनावाक्यं प्रमाणमिति

[विधि को ग्रहण करने वाले वाक्य अप्रधान रूप से विधि को ग्रहण करते हैं या प्रधान रूप से ? दोनों विकल्पों का निराकरण ।]

दूसरी बात यह है कि उस विधि को विषय करने वाले वाक्य गौण भाव से विधि को ग्रहण करने में प्रमाण हैं या प्रधान भाव से ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्य भी उस नियोग भावना रूप हो जावें क्योंकि विधि का विषय गौण रूप से है । विधि में हम भाट्टों ने भावना को प्रधानता से स्वीकार किया है, और प्राभाकरों ने नियोग का विषय प्रधान माना है । वे भावना और नियोग असत् के विषय नहीं हैं न असत् रूप से प्रतीत ही हैं, क्योंकि सर्वथा भी असत् की प्रतीति मान लेने पर शशविषाणादि की प्रतीति और उनमें प्रवृत्ति होने लगेगी । सत् रूप से वह भावना और नियोग विधि से भिन्न नहीं हैं इसलिये वेदवाक्य विधि को गौण रूप से विषय करते हैं यह बात सिद्ध हो गई । अतः अप्रमाणिकता का प्रसंग नहीं आता है जिससे कि कर्मकांड (क्रियाकांड) को पारमार्थिकपना न होवे अर्थात् कर्मकाण्ड पारमार्थिक ही सिद्ध हो जाते हैं यदि आप कहें कि हम द्वितीय पक्ष ले करके वेदवाक्य को प्रधानभाव से विधि को विषय करने वाला मानते हैं इसलिये वे प्रमाण हैं । यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि विधि को सत्यरूप मान लेंवेगे तब तो द्वैत का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् श्रोतव्य और श्रोता आदि के भेद से विधायक और विधेय से भी भेद होने से द्वैत हो जावेगा और यदि उस विधि को असत्य मानेंगे तब तो वह प्रधान नहीं हो सकेगी । तथाहि "विधि प्रधानाभाव का अनुभव नहीं करती है क्योंकि वह असत्य है

१ नियोगभावनास्तित्वम् । २ नियोगस्योपचारेण विधिविषयत्वघटनात् । ३ विधौ । ४ असतां च नो विषयौ च । ५ सर्वथाप्यविद्यमानस्य शशकशृङ्गगगनकुसुमवन्ध्यास्तनन्धयादेरपि तयोः प्रतीतिप्रवृत्तिकर्योरनुषङ्गात् । ६ भावना-नियोगयोर्नान्तरीयकत्वं (न विच्छेदकत्वमविनाभावित्वं वा) तस्य सिद्धेर्घटनात् । ७ वेदवाक्यं मुख्यं विधिरपि मुख्य इति चेन्न—तथा—सति द्वैताभावात् । ❀ वर्ण्यते इत्यपि पुस्तकान्तरे ।

(1) विधौ प्रमाणत्वमस्तु । (2) प्रधानताङ्गीकरणात् । इति पा. । (3) सद्रूपस्य [illegible] । (4) अस्तित्व । अविनाभाव । (5) अग्निहोत्रादेः ।

चायुक्तम्—विधेः[1] [१]सत्यत्वे द्वैतावतारात्[२]। तदसत्यत्वे प्राधान्यायोगात्। तथा[३] हि। यो योऽसत्यः स स न प्रधानभावमनुभवति। यथा [2]तदविद्याविलासः। तथा चासत्यो विधिरिति न प्रधानभावेन [3]तद्विषयत्वोपपत्तिः। स्यान्मतम्।—न सम्यगवधारितं विधेः स्वरूपं

जो जो असत्य है वह-वह प्रधानभाव का अनुभव नहीं करता जैसे उसकी अविद्या का विलास" और उसी प्रकार से विधि असत्य है इसलिये प्रधानभाव से वह विधि वेदवाक्य का विषय नहीं है।

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि ब्रह्मरूप विधि को विषय करने वाला वाक्य गौण रूप से विधि को जानता हुआ प्रमाण समझा जाता है या प्रधानभाव से विधि का प्रतिपादन करता हुआ प्रमाण समझा जाता है? यदि गौण रूप से विधि को कहने वाला वाक्य प्रमाण हो जावे तब तो प्रभाकरों के यहां "स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्र पूजन द्वारा यज्ञ को करे" इत्यादि रूप से कर्मकांड के प्रतिपादक वचन भी प्रमाणिक हो जावेंगे क्योंकि इन अग्निहोत्रादि वाक्यों का अर्थ भी गौण रूप से विधि को विषय कर रहा है। इन कर्मकांड वाक्यों में प्रभाकरों ने नियोग अर्थ प्रधान माना है तथा भट्ट ने भावना अर्थ प्रधान माना है एवं प्रभाकर और भट्ट के द्वारा मान्य नियोग और भावना रूप अर्थ अभाव रूप नहीं हैं अथवा स्वकर्तव्य के द्वारा ये दोनों भावना और नियोग असत् पदार्थ की प्रतीति कराते हों ऐसा भी नहीं है, अतः यह बात सिद्ध हो जाती है कि ये भावना और नियोग सत् रूप से (सत्सामान्य की अपेक्षा से) विधि के साथ अविनाभाव संबंध रखते हैं इसलिये प्रभाकरों के द्वारा मान्य अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, विश्वजित्, अश्वमेध आदि वाक्य प्रमाणभूत ही सिद्ध हो जाते हैं अतः गौण रूप से विधि को कहने वाले इन प्रभाकरों के कर्मकांड वाक्य भी आप अद्वैतवादियों को प्रमाण मानने पड़ेंगे। यदि आप विधिवादी इन दोषों को दूर करने के लिये प्रधान रूप से विधि को विषय करने वाले वाक्य को प्रमाण मानों तब तो वाक्य का अर्थ विधि है ऐसा परमार्थ कथन मान लेने पर एक विधि और दूसरा ब्रह्म इस प्रकार से द्वैतवाद आ जाता है और उस "श्रोतव्य, दृष्टव्य" आदि रूप विधि को असत्य कहोगे तो विधि को प्रधानता नहीं रहेगी क्योंकि जो असत्य है वह प्रधान नहीं हो सकता है अतः यह विधि प्रधान रूप से भी वाक्य का अर्थ सिद्ध नहीं होती है।

विधिवादी—आपने विधि के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझा ही नहीं है क्योंकि वह विधि ही व्यवस्थित है। प्रतिभास मात्र से पृथक् वह विधि घटादि के समान कार्यरूप से प्रतीति में नहीं आती है और वचनादि के समान प्रेरक रूप से भी वह जानी नहीं जाती है क्योंकि कर्म और करण साधन रूप से उस विधि की प्रतीति के मानने पर तो कार्यता और प्रेरकता प्रत्यय युक्त हैं अन्यथा नहीं—अर्थात् कर्म

१ उपचरितत्वाभावे। २ श्रोतव्यश्रोतृत्वादिभेदेन विधायकतया विधेयतया च। ३ अत्र विधिविषयं वाक्यं प्रधानभावेन विधौ प्रमाणमस्तीति यदुक्तं तत्खण्डनार्थं भावनावादी नियोगमतवलम्ब्याह।—"विधिः प्रधानभावं नानुभवति—असत्यत्वात्। यो योऽसत्य इत्यादि"।

(1) तव्यप्रत्ययविषय आत्मा विधिः। (2) सा प्रसिध्दा। (3) वाक्यस्य।

[१]भवता[२] [1]तस्यैव[३] [2]यतो व्यवस्थितत्वात् । प्रतिभासमात्राद्धि पृथग् विधिः कार्यतया न प्रतीयते घटादिवत्[४] प्रेरकतया च नाध्यवसीयते वचनादिवत्[५] । कर्मकरणसाधनतया हि [६]तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकता[७]प्रत्ययो युक्तो [८]नान्यथा ।

[वेदांतवादी पुनरपि ब्रह्माद्वैतवादं समर्थयति]

किंतर्हि ? दृष्टव्यो रेयमात्मा श्रोतव्योनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तर[3]विलक्षणेन[९] प्रेरितोहमिति जाताकूतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति । स एव विधिरित्युच्यते । [१०]तस्य च ज्ञानं[4] विषयतया[5] [११]सम्बन्धमधितिष्ठतीति प्रधानभावविभावना[6] विधेर्न[१२] विहन्यते—[7]तथाविधवेदवाक्यादात्मन[१३] एव विधायकतया[8] प्रतिभासनात् । तद्दर्शनश्रवणानुमननध्यानरूपस्य[9] विधीयमानतयानुभवात् । तथा[१४] च स्वयमात्माऽऽत्मानं

और करण रूप साधन के अभाव में विधि का ज्ञान मानने पर कार्यता और प्रेरकता प्रत्यय युक्त नहीं हैं ।

[यहां विधिवादी पुनरपि ब्रह्माद्वैतवाद का समर्थन करते हैं ।]

भाट्ट—पुनः वह विधि किस रूप है ?

विधिवादी—सो हम बताते हैं । "दृष्टव्योरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि शब्दों के सुनने से अवस्थांतर से विलक्षण—अप्रेरितावस्था से विलक्षण—अदृष्टव्यादि से विलक्षण रूप से "मैं प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार के अभिप्राय और आकार से सहित होकर स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होता है और वही विधि है इस प्रकार से कहा जाता है । उस विधि का ज्ञान विषय रूप से संबंध को प्राप्त कर लेता है इसलिये विधि का प्रधान भाव मानना विरुद्ध नहीं है अर्थात् दर्शन, मनन आदि विधीयमान रूप से विधि-ब्रह्म से संबंध को प्राप्त होते हैं । 'वृक्ष की शाखा के समान' अभेद अर्थ में षष्ठी होती है किन्तु ब्रह्म रूप से एकत्व ही है । वह ब्रह्म ही विषयी है और वही विषय है । देखने योग्य और दर्शन करने वाले से उसमें भेद नहीं है । अतः वह विधि मुख्य ही सिद्ध हो जाती है पुनः उस

१ प्रभाकरेण । २ (वेदान्त्याह) नियोगमतावलम्बिना भट्टेन त्वया । ३ विधेः । ४ यथा घटादिः कार्यतया पृथक् प्रतीयते तथा विधिः प्रतिभासमात्रात् पृथङ्न प्रतीयते । ५ यथा प्रेरकतया वचनमध्यवसीयते तथा विधिर्न । ६ विधि । ७ कार्यता-प्रेरकता (विधेः) न युक्तेत्येव खपाठः । ८ कर्मकरणसाधनाभावे विधिपरिज्ञाने कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो न । ९ अप्रेरितावस्थाविलक्षणेन । अद्रष्टव्यादिविलक्षणेन । १० विधेः । ११ दर्शनादिकं विधीयमानतया विधेः सम्बन्धमधितिष्ठतीति यावत् । वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठीविधिना एकत्वमेवेत्यर्थः । १२ विधेर्मुख्यत्वनिश्चयो न विरुद्ध्यते । १३ वेदवाक्यादात्मान्य एव न तद्दर्शयति । वेदवाक्यं ज्ञानमेव तच्चात्मनो धर्मोतः कारणाद्वेदवाक्यात्मनोरभेद एवेति । १४ विधायकविधीयमानयोरभेदे ।

(1) तस्यैवमव्यस्थिततत्त्वात् । इति पा. । (2) असत्यत्वप्रकारेण । (3) दर्शनादिरूपेण । (4) दर्शनादिकं विधीयमानतया विधेः संबंधमधितिष्ठतीति यावद् वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठी विधिनैकत्वमेवेत्यर्थः (5) स एव विषयी स एव विषयः । दृश्यदृष्टृत्वाद्योः । (6) निश्चयः (7) संबंधमधितिष्ठतीत्येतस्य समर्थनात् । (8) दृष्टृत्वादितया । (9) आत्मस्वरूपस्य ।

द्रष्टुं श्रोतुमनुमन्तुं ध्यातुं वा प्रवर्त्तते। तथा प्रवृत्त्यसम्भवे [1]ह्यात्मनः प्रेरितोहमित्यव[1]-गतिरप्रामाणिकी[2] स्यात्। ततो नासत्यो विधिर्येन प्रधानता तस्य विरुध्यते। नापि सत्यत्वे द्वैतसिद्धिः—आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण [2]तदभावात्—तस्यैकस्यैव तथा[3] प्रतिभासनादिति।

[भाट्टो नियोगपक्षमाश्रित्य पुनरपि विधिवादिनं दूषयति]

[4]तदप्यसत्यम्—नियोगादि[5]वाक्यार्थस्यापि निश्चयात्मकतया प्रतीयमानत्वात्। तथा हि।—नियोगस्तावदग्निहोत्रादिवाक्यादिव द्रष्टव्योऽरेयमात्मेत्यादिवचनादपि प्रतीयते एव। नियुक्तोहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो [6]योगः [3]प्रतिभाति—[4]मनागप्ययोगाशङ्कानवतारा-दवश्यकर्त्तव्यतासम्प्रत्ययात्[5]। कथमन्यथा तद्वाक्यश्रवणादस्य[7] प्रवृत्तिरुपपद्यते—[8]मेघध्व-

---

प्रकार के विधिरूप वेदवाक्य से आत्मा ही विधायक रूप से प्रतिभासित होता है एवं उसका दर्शन, श्रवण, अनुमनन और ध्यान रूप आत्मस्वरूप ही विधीयमान रूप से अनुभव में आता है। उस प्रकार से विधायक-आत्मा और विधीयमान-दर्शन श्रवण आदि कार्य में अभेद के हो जाने पर स्वयं आत्मा ही आत्मा को देखने, सुनने, अनुमनन करने अथवा ध्यान करने के लिये प्रवृत्त होता है उस प्रकार की प्रवृत्ति के संभव न होने पर "मैं प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार का आत्मा का ज्ञान अप्रमाणिक हो जावेगा इसलिये विधि असत्य नहीं है कि जिससे उसकी प्रधानता विरुद्ध हो जावे। एवं सत्यरूप मानने पर द्वैत की सिद्धि भी नहीं होती है क्योंकि आत्मा के स्वरूप को छोड़कर अन्य कोई विधि असंभव ही है। वह एक ही विधि विधायक और विधेय रूप से प्रतिभासित होती है।

[यहां भावनावादी भाट्ट पुनरपि नियोगपक्ष का आश्रय लेकर विधिवादी को दूषण देता है]

भाट्ट—यह आपका कथन भी असत् है क्योंकि नियोग और भावना भी वेदवाक्य के अर्थ हैं वे भी निश्चायक रूप से प्रतीति में आ रहे हैं। तथाहि—अग्निहोत्रादि वाक्य के समान ही "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वचन से भी नियोग प्रतीति में आ रहा है।

"मैं इन वाक्यों से नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रकार से निरवशेष योग रूप नियोग ही प्रतिभासित होता है क्योंकि किंचित् भी अयोग की आशंका की गुंजाइश ही नहीं है। अवश्यकर्तव्यता का ही ज्ञान हो रहा है एवं वही स्वीकार की गई है। अन्यथा उन वाक्यों के सुनने से ही इस मनुष्य की प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? यदि आप कर्तव्यता के ज्ञान का अभाव होने पर भी उस वाक्य के सुनने से प्रवृत्ति होना मानोगे तब तो मेघ के शब्दादिकों से भी प्रवृत्ति का प्रसंग हो जाना चाहिये।

भावार्थ—जैसे घट पटादि पदार्थ भिन्न प्रतिभासित होते हैं उस प्रकार से प्रतिभासमात्र परमब्रह्म से भिन्न कार्य रूप से विधि का अनुभव नहीं होता है एवं वचन, चेष्टा आदि के समान प्रेरक रूप—करणरूप

---

१ प्रमितिः। २ विधेरभावात्। ३ विधायकतया विधेयतया च। ४ भाट्टः। ५ आदिशब्देन भावना। ६ दर्शनश्रवणा-दावात्मसम्बन्धः। ७ नुः। ८ अन्यथा। कर्तव्यतासम्प्रत्ययाभावेपि तद्वाक्यश्रवणात्प्रवृत्तिरुपपद्यते चेत्।

---

(1) ता। (2) प्रामाणिका स्यात्। इति पा.। (3) यतः। (4) असंबंध (5) अभ्युपगमात्।

न्या'देरपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।

से भी वह विधि नहीं जानी जाती है । कर्म साधन में "विधीयते यः सः विधिः" जो विधान किया जावे वह विधि है एवं "विधीयतेऽनेन स विधिः" जिसके द्वारा विधान किया जावे वह विधि है, इस प्रकार से करण साधन है । निरुक्ति के अनुसार कर्म साधन में कार्यता प्रत्यय के द्वारा एवं करण साधन में प्रेरकता प्रत्यय के द्वारा विधि का अनुभव नहीं आता है । यदि कोई कहे कि विधि का क्या स्वरूप है ? तो हम अद्वैतवादियों का कहना है कि 'अरे संसारी जीव ! यह आत्मा दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है" "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है । "ब्रह्मविदाप्नोति परं" "नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानामि अहमस्मि इति नो इवेमानि भूतानि" इत्यादि शब्दों के सुनने से अन्य अवस्थाओं से विलक्षण होकर उत्पन्न हुई चेष्टा रूप आकार से मैं प्रेरित हुआ हूँ इस प्रकार से स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होता है और वह आत्मा ही "विधि" इस शब्द के द्वारा कहा जाता है, अर्थात् विधि का ज्ञान, विधि में ज्ञान ये सब अभेद होने से विधि स्वरूप ब्रह्म ही हैं । अत: विधि को प्रधान रूप से वाक्य का अर्थ कहने से उन विधिवाचक (विधायक) वाक्यों से आत्मा का ही विधान हो जाता है और उस आत्मा के दर्शन, श्रवण आदि से विधि ही कर्मरूप हो जाती है । पुन: स्वयं आत्मा ही अपने को देखने के लिये, सुनने के लिये, अनुमनन करने के लिये, एवं ध्यान करने के लिये प्रवृत्ति करता है । आत्मा ही वेदवाक्य है, कर्ता, कर्म, क्रिया भी स्वयं आत्मा ही है अतएव "मैं स्वयं आत्मा से प्रेरित हुआ हूँ" ऐसा अनुभव हो रहा है क्योंकि विधायक, विधीयमान और भाव त्रिविध रूप से वह परमब्रह्म ही प्रतिभासित हो रहा है एवं आत्मस्वरूप के अतिरिक्त उस परमब्रह्म का अभाव ही है अतएव यह विधि सत्य ही है इत्यादि रूप से विधिवादी ने अपना पक्ष रखा है ।

अब भाट्ट प्रभाकर का मत पुष्ट करते हुये उसका निराकरण करते हैं अर्थात् अव्यक्त रूप से प्रभाकर के द्वारा विधिवाद का खंडन कराते हैं । भाट्टों का कहना है कि—आप विधिवादी के कथनानुसार वाक्य के अर्थ नियोग, भावना आदि भी अनुभव में आ रहे हैं । जैसे "अग्निष्टोमेन यजेत" आदि शब्दों से नियोग प्रतीत हो रहा है वैसे ही "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि शब्दों के द्वारा भी "मैं इस वाक्य के द्वारा नियुक्त—प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार से परिपूर्ण रूप से योग हो जाना उसमें लीन हो जाना ही तो नियोग है जो कि इस वाक्य से भी प्रतिभासित हो रहा है क्योंकि इस वाक्य से भी अवश्य कर्तव्यता का ज्ञान हो जाने से किंचित् मात्र भी शंका नहीं रह जाती है और यदि आप "दृष्टव्यो रे" इत्यादि वाक्यों से पूर्ण योग-लीनता-प्रेरित अवस्था नहीं मानोगे तो इन वाक्यों के सुनने से श्रोता मनुष्यों की उस ब्रह्म के विषय में दर्शन, श्रवण, मनन, ध्यान आदि की प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी ? यदि

१ का (पञ्चमी) ।

[विधिप्रतिपादकवाक्यमन्यार्थस्यापोहं करोति न वेति विकल्प्य दूषयति]

किञ्च शब्दाद् द्रष्टव्योरेयमात्मेत्यादे[1]रात्मद्रष्टव्यतादिविधि[2]स्तदऽद्रष्ट[1]व्यतादि[3]व्यवच्छेदरहितो[2] यदीष्यते तदा न [4]कस्यचित्प्रवृत्ति[3]हेतुः[5]—[6]प्रतिनियतविषय[7]विधिनान्तरीयकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः। तस्य चातद्विषय[4]परिहाराविनाभावित्वात् कटः कर्त्तव्य इति यथा। न हि कटे कर्त्तव्यताविधिरत[5]द्व्यवच्छेदमन्तरेण व्यवहारमार्गमवतारयितुं शक्यः। [6]परपरिहारसहितो विधिः शब्दार्थ इति चेत् [7]तर्हि [8]विधिप्रतिषेधात्मकः[8] शब्दार्थ

"इति कर्तव्यता" यह मेरा करने योग्य कार्य है इस रूप नियोग ज्ञान के बिना ही चाहे जिस शब्द से प्रवृत्ति होना मान लिया जावेगा तो मेघ की गर्जना, समुद्र की फूत्कार आदि शब्दों से भी श्रोताओं की प्रवृत्ति होने लगेंगी किन्तु ऐसा तो किसी ने भी नहीं माना है। मेघ की गर्जना सुनकर कोई भी मनुष्य परमब्रह्म के दर्शन, श्रवण आदि का अर्थ करके उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है।

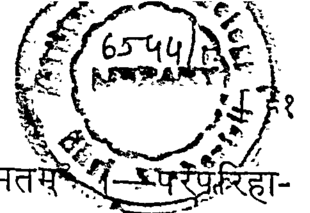
[विधि को कहने वाले वाक्य अन्य अर्थ का निषेध करते हैं या नहीं ? ये दो विकल्प उठाकर दोष देते हैं]

दूसरी बात यह है कि "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि शब्द से आत्मा को देखने योग्य आदि की विधि तो होती है किन्तु यदि आप उस विधि को—आत्मा को नहीं देखने योग्य आदि रूप के व्यवच्छेद—निराकरण से रहित मानते हैं तब तो वह विधि किसी को भी प्रवृत्ति में हेतु नहीं हो सकेगी अर्थात् अन्य का परिहार करके किसी भी विषय में वह प्रवृत्ति का निमित्त नहीं है। क्योंकि प्रतिनियत विषय को विधि का अविनाभाव होने से ही प्रेक्षावान् प्रवृत्ति करते हैं और वह अप्रतिनियत रूप—अतत् विषय के परिहार के साथ अविनाभावी है जैसे चटाई बनाना चाहिये, चटाई में जो कर्तव्यता विधि है वह पट कर्तव्यता आदि अतद् विषय का परिहार किये बिना व्यवहार मार्ग में नहीं आती है। यदि आप कहें कि पर के परिहार से सहित ही विधि वेदवाक्य—शब्द का अर्थ है। तब तो विधि प्रतिषेधात्मक ही शब्द का अर्थ सिद्ध हो गया पुनः विधिरूप एकांतवाद की प्रतिष्ठा-व्यवस्था कहाँ रही जैसे कि सर्वथा प्रतिषेध—अन्यापोहरूप एकांत की व्यवस्था नहीं बनती है।

भावार्थ—यहाँ भाट्ट विधिवादी से प्रश्न करता है कि "दृष्टव्यो" इत्यादि शब्द से आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन आदि रूप जो विधि है वह विधि आत्मा की अदर्शन, अश्रवणादि अवस्थाओं का निषेध नहीं करते हुये आत्मा के दर्शन आदि रूप से होती है या आत्मा के अदर्शनादि का परिहार करते हुये भी होती है ? यदि आप कहें कि यह विधि तो आत्मा के दर्शन, मनन आदि रूप से ही होती है अन्य अदर्शन आदि

१ अश्रोतव्यतादि। २ वेदान्तिना त्वया। ३ आत्मद्रष्टव्यतादौ। ४ अप्रतिनियतविषय ५ पटकर्तव्यतादिपरिहारं विना। अकटकर्तव्यतानिराकरणं विना। ६ विधिवादी वदति। ७ भाट्टः। ८ अस्तित्व।

(1) ईप्। (2) विधानं। (3) परिहारः। (4) नुः। (5) अन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबंधनापायात्। (6) विषया अनेके संति एकं एकं विषयं प्रति प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरतद्विषयपरिहाराविनाभूता कथमदृष्टव्यादिव्यवच्छेदाभावे विवक्षिते प्रवृत्तिरिति भावः। (7) बसः। (8) द्वंद्वः।



इति कुतो विध्येकान्तवादस्य प्रतिष्ठा प्रतिषेधैकान्तवादवत्[१] । स्यान्मतम्[२]—परपरिहारस्य[३] गुणीभूतत्वाद्विधेरेव प्रवृत्त्यङ्ग[४]त्वेन[1] प्राधान्याद्विधिः शब्दार्थ इति । [५]कथमिदानीं[६] शुद्धकार्यादि[७]रूपनियोगव्यवस्थितिर्न स्यात् ?—कार्यस्यैव शुद्धस्य प्रवृत्त्यङ्गतया प्रधानत्वोपपत्तेः—[८]नियोज्यादेस्तत्रापि[९] गुणीभावात् । तद्वत्प्रेरणादिस्वभावनियोगवादिनां प्रेरणादौ प्रधानताभिप्रायात् तदितरस्य सतोपि गुणभावाध्यवसायाद्युक्तो नियोगः शब्दार्थः ।

का परिहार नहीं करती है तब तो यह विधि किसी भी श्रोता की प्रवृत्ति में हेतु नहीं बन सकेगी क्योंकि हिताहित को जानने वाले विद्वानों की प्रवृत्तियाँ प्रतिनियत विषय की विधि के साथ अविनाभाव संबंध रखती हैं जैसे घट की विधि यदि अघटों की व्यावृत्ति करेगी तब तो बुद्धिमान् नियत घट को लाने की प्रवृत्ति करेंगे अन्यथा शयन, रुदन, अध्ययन आदि जो भी कार्य कर रहे हैं उनको ही करते हुए कृतकृत्य हो जावेंगे उनको घट लाने या बनाने का कार्य आवश्यक ही नहीं रहेगा क्योंकि पर का परिहार तो नहीं किया गया है। जब इसने अपने से भिन्न अन्य का निषेध नहीं किया तब आत्मा के दर्शन, मनन के समान आत्मा के अदर्शन, अश्रवण, अध्ययन आदि में भी प्रवृत्ति कराने वाली[a] हो जावेगी, मतलब दर्शन, श्रवण आदि में प्रवृत्ति नहीं होगी। जैसे किसी ने कहा कि आपको चटाई बनाना चाहिये यदि इस चटाई की कर्तव्य विधि में वस्त्र के बनाने रूप कर्तव्य का निषेध नहीं है तब तो वह श्रोता मनुष्य या तो चटाई वस्त्र, मकान आदि सभी कुछ बनाने लग जावेगा अथवा कुछ भी नहीं करेगा क्योंकि "कटः कर्तव्यः" यह, वाक्य जब अन्य का निषेध नहीं करता है तब उस श्रोता के सिर पर सभी काम आ पड़ेंगे। यदि दूसरा पक्ष लेकर आप कहें कि "दृष्टव्यो रे" इत्यादि वाक्य आत्मा के अदर्शन, अश्रवण आदि का निषेध करने वाले हैं तब तो आपने वेदवाक्य का अर्थ विधिप्रतिषेधात्मक रूप से उभय रूप ही मान लिया है पुनः आपका विधि-अस्तित्व रूप ही एकांतवाद कहाँ रहा ? अतएव जैसे शब्द का अर्थ अन्यापोह मात्र है ऐसा बौद्धों का कथन सिद्ध नहीं होता है वैसे ही आपका विधि रूप एकांत भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

विधिवादी—पर का परिहार रूप अन्यापोह गौण रूप है विधि ही प्रवृत्ति का अंग होने से प्रधान है इसलिये विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है।

भाट्ट—इस प्रकार से प्रधानता का आश्रय लेकर विधि को वेदवाक्य का अर्थ करते समय शुद्ध कार्यादि रूप ग्यारह प्रकार के नियोग की व्यवस्था क्यों नहीं हो जावेगी ? क्योंकि शुद्ध कार्य ही प्रवृत्ति का अंग होने से प्रधान रूप होता है, नियोज्यादि—पुरुषादि वहां शुद्ध कार्य रूप नियोग—वाक्य में भी गौण हैं। उसी प्रकार से प्रेरणादि स्वभाव नियोगवादियों के यहां प्रेरणादि में प्रधानता का अभिप्राय होने से विद्यमान

---

१ यथा सर्वथा प्रतिषेधैकान्त (अन्यापोह) वादस्य प्रतिष्ठा नास्ति । २ विधिवादी । ३ अन्यापोहस्य । ४ हेतुत्वेन । ५ भाट्टः । ६ प्राधान्यमाश्रित्य विधेः शब्दार्थनिरूपणावसरे । ७ शुद्धकार्यादिएकादशप्रकारः । ८ पुरुषादेः । ९ शुद्धकार्यरूपे नियोगे । वाक्ये ।

---

(1) परपरिहारस्य यथागुणीभूतत्वं तथा विधेरपि भविष्यतीत्याशंक्य योजनीयमिदं साधनं ।

[1]शुद्धकार्यप्रेरणादिषु[1] [2]स्वाभिप्रायात् कस्यचित्प्रधानभावेपि पराभिप्रायात्प्रधानत्वाभावात् । [3]तदन्यतरस्यापि स्वभावस्याव्यवस्थितेर्न [4]कस्यापि[2] शब्दार्थत्वमिति चेत् [5]तर्हि पुरुषाद्वैतवाद्याशयवशाद्विधेः प्रधानत्वेपि ताथागतमताश्रयणादप्रधानताघटनात् सोपि न प्रतिष्ठामापद्येत विप्रतिपत्तिसद्भावाविशेषात्[6] ।

उससे भिन्न मे गौण भाव का निश्चय होने से नियोग को वेदवाक्य का अर्थ कहना युक्त ही है ।

विधिवादी—शुद्धकार्य, प्रेरणादिकों में स्व-प्रभाकर के अभिप्राय से किसी को प्रधान कर देने पर भी पर के—हमारे अभिप्राय से प्रधानता का अभाव है। उन दोनों प्रधान और अप्रधान में से किसी एक शुद्धकार्यादि नियोग स्वभाव की भी व्यवस्थिति न होने से प्रधान या अप्रधान रूप कोई भी एक प्रेरणादि नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा ।

[यहाँ भावनावादी भाट्ट सौगत मत का अवलंबन लेकर विधिवाद को दूषित करते हैं]

भाट्ट—तब तो आप—पुरुषाद्वैतवादी के अभिप्राय के निमित्त से विधि को प्रधान मानने पर भी बौद्ध मत का आश्रय लेने से तो विधि की अप्रधानता ही घटित होती है अतः वह विधि भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होगी क्योंकि विधिवादी और सौगत दोनों में विवाद का सद्भाव होने से समानता ही है ।

भावार्थ—विधिवादियों का यह मन्तव्य है कि यद्यपि पर पदार्थों का परिहार करना शब्द का अर्थ है, किन्तु वह पर का परिहार गौण है। प्रधान रूप से तो विधि ही प्रवृत्ति का हेतु है क्योंकि पर पदार्थ अनंत हैं, अनंत जन्मों तक भी उनका निषेध शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता है। हाँ ! कर्तव्य कार्य की विधि कर देने से नियुक्त पुरुष की तत्काल वहाँ प्रवृत्ति हो जाती है अतः शब्द का प्रधान अर्थ विधि ही है। इस पर भाट्ट कहता है कि पुनः आप अद्वैतवादीजन प्रभाकर द्वारा मान्य शुद्धकार्य, शुद्ध प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग की भी व्यवस्था क्यों नहीं मान लेते हो क्योंकि प्रवृत्ति कराने का मुख्य अंग होने से शुद्ध कार्य ही प्रधान हो जावेगा और पुरुष, शब्द, फल आदि के विद्यमान होते हुये भी उनका अर्थ गौण मान लिया जावेगा। तथैव शुद्ध प्रेरणा, कार्य सहित प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग भी प्रभाकरों के यहाँ प्रधान हैं और उनसे भिन्न, पुरुष, फल आदि के मौजूद होते हुये भी उनको गौणरूप से शब्द के द्वारा जाना जाता है। अतः नियोग को शब्द का अर्थ मानना ठीक ही है। इस पर विधिवादी कहते हैं कि शुद्धकार्य, शुद्धप्रेरणा आदि में प्रभाकरों के अपने अभिप्राय से किसी एक को प्रधानता होते हुये भी भट्ट, वेदांती, बौद्ध आदिकों के अभिप्राय से प्रधानता नहीं मानी गई है अतः शब्द के उन प्रधान, अप्रधान दोनों अर्थों में से किसी एक स्वभाव रूप भी नियोग सिद्ध नहीं हो सकता है अतः एक भी शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है। ऐसा कहने

१ विधिवादी । २ प्राभाकराभिप्रायात् । ३ अत्र विधिवादी वदति ।—तयोः प्रधानत्वाप्रधानत्वयोरन्यतरस्यापि शुद्धकार्यादिनियोगस्य । ४ प्रेरणादिनियोगस्य प्रधानस्याप्रधानस्य वा । ५ भावनावादी सौगतमतमवलम्ब्य विधिवादिनमाह । ६ विधिवादिसौगतयोर्विवादसद्भावेन विशेषाभावात् ।

(1) नियोगेषु (२) शुद्धकार्यादिनियोगस्य प्रधानभूतस्य ।

[विधिरेव वाक्यस्यार्थः सर्वत्र प्रधानमिति मन्यमाने दोषः]

स्यान्मतिरेषा ते[१] विधेरेव [२]सर्वत्र प्रधानता—प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेः[1]। न पुनः प्रतिषेधस्य सर्वथा [३]प्रवृत्त्यङ्ग[४]तानुपपत्तेः। [४]क्वचित्प्रवर्त्तितुकामो हि [2]सर्वस्तद्विधि[६]मन्वेषते [७]तत्र पररूपप्रतिषेधान्वेषणे[८] परिनिष्ठा[९]नुपपत्तेः—[१०]पर[११]रूपाणामानन्त्यात् [१२]क्वचि[3]त्प्रतिषेद्धुमशक्तेश्च[१३]। [१४]तद्धि पररूपं न [4]तावत्स्वयमप्रतिपद्य[5] क्रमशः प्रतिषेद्धुं शक्यम्—प्रतिषेधस्य[6] निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। नापि प्रतिपद्य[१५]—तत्प्रतिपत्तेरपि [7]पररूपप्रतिषेधापेक्षत्वात्—[१६]तस्यापि

पर तो आप पुरुषाद्वैतवादी के अभिप्राय से विधि अर्थ को प्रधानता होते हुये भी बौद्ध के मत से विधि को अप्रधानता घटित हो जाती है अतः यह विधि भी अपनी प्रतिष्ठा को कैसे रख सकेगी क्योंकि कई दार्शनिकों की ओर से विवादों के उपस्थित हो जाने पर विधि और नियोग दोनों में समाधान और निषेध में कोई अंतर नहीं दीखता है अतएव या तो आप विधिवादी विधि और नियोग इन दोनों को ही वेदवाक्य का अर्थ मान लीजिये या तो एक को भी न मानिये पक्षपात करने में कोई सार नहीं है। आगे इसी का और भी स्पष्टीकरण ग्रंथकार स्वयं करते हैं।

[वाक्य का अर्थ विधि ही है वही सर्वत्र प्रधान है ऐसा मानने में दोष]

विधिवादी—हमारे यहाँ विधि ही सर्वत्र-वेदवाक्य में प्रधान है क्योंकि वही प्रवृत्ति का अंग है किन्तु प्रतिषेध प्रवृत्ति का अंग नहीं है अतः वह प्रधान भी नहीं है। कहीं जलादि में प्रवृत्ति करने की इच्छा करते हुये सभी पुरुष विधि—जलादि के अस्तित्व को ही खोजते हैं वहां जलादि में पर रूप के प्रतिषेध की अन्वेषणा के होने पर परिसमाप्ति नहीं होती है क्योंकि पर रूप तो अनंत हैं उनका कहीं जलादि में प्रतिषेध करना अशक्य ही है अर्थात् विवक्षित वस्तु में पर रूप के अभाव का विचार करने पर कहीं भी परिसमाप्ति होना संभव नहीं है क्योंकि पर रूप तो अनंत हैं अतएव उनका किसी भी वस्तु में प्रतिषेध करना शक्य नहीं हो सकता है।

[हम आपसे प्रश्न करते हैं कि जो आप पर रूप का निषेध करते हैं वह क्रम से करते हैं या युगपत्? क्रम से है कहो तो भी वहां पररूप को जान करके उसका निषेध करते हैं या विना जाने ही ?]

---

१ विधिवादिनः। २ वाक्ये। ३ सर्वथा प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेरिति वा पाठः। ४ कारणता। ५ जलादौ। ६ जलाद्यस्तित्वम्। ७ जलादौ। ८ सति। ९ परिसमाप्ति। १० परिनिष्ठानुपपत्तिः कुतः? ११ अग्निरूपाणाम्। १२ जलादौ। १३ तत्र विवक्षिते वस्तुनि पररूपाभावविचारणे परिसमाप्तिर्न सम्भवति। कस्मात्? पररूपाण्यनन्तानि यतः क्वचिद्वस्तुनि प्रतिषेधः कर्तुं न शक्यते च यत इति हेतुद्वयम्। १४ विधिवादी पृच्छति।—हे सौगतमतावलम्बिन् भावनावादिन्! त्वया यत्पररूपं प्रतिषिध्यते तत्क्रमशो युगपद्वा? क्रमशश्चेत्तदा तत्रापि पररूपं तदनिश्चित्य निश्चित्य वा प्रतिषिध्यते? इति विकल्पमेव विधिवादी खण्डयति। १५ पररूपं ज्ञात्वा स्वयं क्रमेण निवारयितुं न शक्यते। कस्मात्? तस्य पररूपस्य निश्चितेरप्यन्यपररूपप्रतिषेधाश्रयत्वात्। १६ पररूपस्यापि।

---

(1) प्रवृत्त्यंगतोपपत्तेः। इति पाठः। (2) जनः। तत्-जलं। (3) जलादौ पररूपाणां प्रतिषेद्धुमशक्तेश्च। (4) स्वरूपेण। (5) अज्ञात्वा। (6) अन्यथा। (7) अपरापररूपस्य।

च प्रतिपन्नस्यैव [१]प्रतिषेधेऽनवस्थानुषङ्गात्। युगपत्सकलपररूपप्रतिषेधे परस्पराश्रयानुषङ्गात्। सिद्धे सकलपररूपप्रतिषेधे [1]प्रतिपित्सि[२]तविधिसिद्धि[३]स्तत्सिद्धौ च [४]तत्परिहारेण[2] तत्प्रतिपत्तिपूर्वकसकलपररूपप्रतिषेधसिद्धिरिति।

[सर्वथा विधिरेव प्रवृत्त्यंगं नास्तीति प्रतिपादयन् भाट्टो विधिवादं परिहरति]

[५]तदेतदनालोचिताभिधानम्—मण्डनमिश्रस्य[६]। सर्वथा विधेरपि प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः। सर्वो हीष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तितुमना जनोनिष्टपरिहारं [७]तत्रान्वेषते—अन्यथानिष्टेपि प्रवृत्तौ समीहितव्याघातप्रसक्तेः[3]। अनिष्टप्रतिषेधश्च प्रत्यक्षादिवत्[८] कुतश्चिद्वाक्यादपि शक्यः

यदि आप कहें कि पररूप को स्वयं विना जाने ही उसका प्रतिषेध करते हैं ऐसा कहना तो शक्य नहीं है अन्यथा प्रतिषेध विषयशून्य—निर्विषयक हो जावेगा। यदि आप कहो कि हम पर रूप को जान करके उसका क्रम से निवारण करते हैं तो भी पर रूप का निश्चय—ज्ञान होने पर भी अन्य पररूप के प्रतिक्षेप-निषेध की अपेक्षा रहेगी ही और उस अन्य पररूप को भी जानकर उसका निषेध करने पर तो अनवस्था का प्रसंग आ ही जावेगा।

यदि कहो कि एक साथ सभी पर रूप का प्रतिषेध करते हैं तब तो परस्पराश्रय दोष का प्रसंग आ जावेगा। सकल पररूप का प्रतिषेध सिद्ध होने पर प्रतिपित्सित—जानने योग्य का सद्भाव सिद्ध हो जावेगा एवं जानने योग्य विधि का सद्भाव सिद्ध होने पर उसका परिहार करके उसकी प्रतिपत्ति—ज्ञान पूर्वक सकल पररूप के प्रतिषेध की सिद्धि होगी।

[सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति में हेतु नहीं है ऐसा कहते हुये भाट्ट विधिवाद का परिहार करते हैं]

भाट्ट—आप मंडनमिश्र (विधिवादी) का यह सब कथन अविचारित ही है क्योंकि सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति का अंग नहीं हो सकती है। इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति करने की इच्छा रखने वाले सभी जन वहां इष्ट में अनिष्ट का परिहार खोजते ही हैं, अन्यथा—यदि ऐसा न मानो तो अनिष्ट में भी प्रवृत्ति के हो जाने पर सभी के हित—इष्ट के व्याघात का प्रसंग आ जावेगा एवं प्रत्यक्षादि के समान अनिष्ट का प्रतिषेध भी किन्हीं वेदवाक्यों से जानना शक्य है क्योंकि केवल विधि का ज्ञान ही अन्य के प्रतिषेध-निषेध की प्रतिपत्ति—ज्ञान रूप है अर्थात् केवलभूतल का ज्ञान होने से ही घट के अभाव का ज्ञान सिद्ध है। यह जानने

---

१ प्रतिषेधेनानवस्थाप्रसङ्गादिति पाठान्तरम्। २ सद्भाव। ३ प्रतिपित्सितविधिसिद्धौ ४ प्रतिपित्सितवस्तुनिराकरणेन तत्परिज्ञानपूर्वकसर्वान्यरूपनिषेधसिद्धिः। ५ भावनावादी भाट्टः। ६ विधिवादिनः। ७ इष्टे। ८ प्रत्यक्षादेरिव।

---

(1) प्रतिपत्तुमिष्ट। (2) सकल पररूपेषु विधिर्नास्तीति विधिपरिहारस्तेन। (3) अनिष्टप्रतिषेधो ज्ञातुमशक्यो नन्वित्याशंकायामाह।

प्रतिपत्तुम्[1] —केवलविधिप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्—केवलभूतलप्रतिपत्तेरेव घटाभावप्रतिपत्तिसिद्धेः । न ह्ययं प्रतिपत्ता [१]किञ्चिदुपलभमानः पररूपैः [२]सङ्कीर्णमुपलभते[2]—यतः प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिषेधः [३]साध्यते । न[४] च सर्वथा तैरसङ्कीर्णमेव[3]—[५]सदाद्यात्मनापि तदसङ्करे [4]तस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । [६]परस्मात्कथञ्चिद्व्यावृत्त्यव्यावृत्त्यात्मकं[5] च कुतश्चित्प्रमा[७]णादुपलभमानोर्थी [6]परव्यावृत्तिद्वारेण वा प्रवर्त्तते [7]विधि[८] द्वारेण वेति । विधेरिवान्यापोह[९]स्यापि प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेर्न विधेरेव प्रधान्यम्–[१०]विधात्रेव प्रत्यक्षमुपनिषद्वाक्यं चेति नियमस्यासम्भवात्—[११]अन्यथा [१२]ततो विद्यावदविद्याविधानानुषङ्गात्[8] ।

वाला पुरुष कुछ जलादि वस्तु को प्राप्त करता हुआ पररूप से संकीर्ण—सहित वस्तु को प्राप्त नहीं करता है कि जिससे भिन्न प्रमाण से उसका प्रतिषेध सिद्ध किया जावे अर्थात् केवल भूतलादि को जानता हुआ अथवा देखता हुआ मनुष्य पररूप घटादिकों से सहित उसको नहीं देखता है कि जिससे अन्य प्रमाण से पररूप का प्रतिषेध सिद्ध किया जावे मतलब स्वयं ही पर रूप का प्रतिषेध हो जाता है ।

[इस पर किसी की शंका यह है कि हे स्याद्वादिन् ! शुद्ध भूतल घटादि पररूप से सर्वथा असंकीर्ण—रहित ही रहेगा । इस पर आचार्य कहते हैं कि]—

सर्वथा घटादिकों से रहित हो हो ऐसा एकांत नहीं है, अन्यथा सत्त्व, प्रमेयत्व, वस्तुत्व आदि से भी उसका संकर न मानने पर तो वे (भूतलादि) भी असत् रूप हो जावेंगे । पररूप से कथंचित् व्यावृत्ति अव्यावृत्ति स्वरूप वस्तु को किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्राप्त करता हुआ प्रयोजनार्थी मनुष्य पर की व्यावृत्ति रूप से अथवा विधि रूप से प्रवृत्ति करता है अर्थात् जलादि में "यह मरीचिका नहीं है" अथवा "जल है" इस प्रकार से प्रवृत्ति करता है इसलिए विधि के समान ही अन्यापोह—प्रतिषेध भी प्रवृत्ति का अंग सिद्ध हो गया है अतः विधि ही प्रधान नहीं है, क्योंकि विधाता—ब्रह्म ही प्रत्यक्ष और उपनिषद्

---

१ जलादिकम् । २ सहितम् । ३ किञ्चित्केवलभूतलादिकं जानन् पश्यन् वायं प्रमाता पुमान् पररूपैर्घटादिकैः सङ्कुलं न पश्यति यतः कुतोन्यस्मात्प्रमाणात्पररूपप्रतिषेधः साध्यते ? अपि तु न कुतोपि । ४ पर आह ।—तर्हि हे स्याद्वादिन् ! शुद्धभूतलंघटादिपररूपैः सर्वथाऽसङ्कीर्णमेवेति पृष्टे स्याद्वादी वदति ।—नैवम् । कस्मात् ? सत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वादिना कृत्वा भूतलस्य पररूपैः सहाऽमेलने सति भूतलस्याप्यसत्त्वमायाति यतः । ५ अन्यथा । ६ इष्टेतरात् । पररूपात् । ७ प्रत्यक्षात् । ८ सदाद्यात्मना । ९ प्रतिषेधस्यापि । १० (प्रथमान्तम्) आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते इति विधिवादिप्रतिपादित वाक्यस्यार्थस्य नियमस्यासम्भवात् । ११ अन्यथा, नियमः सम्भवति चेत्तदा ततो विधातुः सकाशादविद्याविधानमनुषजति । १२ प्रत्यक्षादुपनिषद्वाक्याद्वा ।

---

(1) कुतः । (2) पश्यति । (3) अन्यथा । (4) जलादिवस्तुनि सत्तायाः अभावो जायते यतः । (5) व्यावृत्ताव्यावृत्तात्मकं इति पा० । पररूपैर्व्यावृत्तं सदाद्यात्मनाऽव्यावृत्तं च । (6) इदं मरीचिकादिकं न भवतीति । (7) इदं जलं भवतीति । (8) विधायकमेवोपनिषद्वाक्यं यतः ।

सो[1]यमविद्या[1]विवेकि[2]सन्मात्रं [3]कुतश्चित्प्रतीयन्नेव न निषेद्धृप्रत्यक्षमन्य[4]देवेति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः[2]? कथं वा प्रत्यक्षादेर्निषेद्धृत्वाभावं प्रतीयात्[5] ? [6]यतस्तत्प्रतिपत्तिः—तस्यैवाभावविषयत्वसिध्देः[3] । [7]प्रत्यक्षादेर्विधातृत्वप्रतिपत्तिरेव निषेद्धृत्वाभावप्रतिपत्तिरिति चेत्तर्हि सिद्धं भावाभावविषयत्वं [8]तस्येति न [4]परोदितो विधिर्वाक्यार्थः सिद्ध्यति । नियोगस्यैव वाक्यार्थत्वोपपत्तेः प्रभाकरमतसिद्धिः ।

वाक्य हैं ऐसा नियम करना असंभव है, अन्यथा उस प्रत्यक्ष अथवा उपनिषद् वाक्य से विद्या के समान अविद्या का भी विधान हो जावेगा। तथा च आप विधिवादी अविद्या का परिहार करके सन्मात्र को किसी प्रमाण से प्रतीतिगत करते हैं एवं प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है, अथवा अन्य उपनिषद्वाक्य निषेध करने वाले नहीं हैं ऐसा कहते हुये स्वस्थ कैसे हैं ? क्योंकि अन्य का निषेध करके ही आप विधि में प्रवृत्त हैं। अथवा प्रत्यक्षादि से निषेध करने वाले के अभाव को कैसे प्रतीत करेंगे ? अर्थात् प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है यह वचन विरुद्ध है, क्योंकि जो विधि का ज्ञान है वही अभाव को विषय करने वाला है, मतलब जिस प्रमाण से विधि का ज्ञान होता है उसी से ही प्रतिषेध का ज्ञान सिद्ध है। इसलिये "प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है" ये आपके वचन विरुद्ध ही हैं।

विधिवादी—प्रत्यक्षादि से विधाता का ज्ञान होना ही निषेद्धृत्व के अभाव का ज्ञान है।

भाट्ट—ऐसा कहो तब तो यह बात सिद्ध हो गई कि प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय भावाभावात्मक है इसलिये वेदांतवादी के द्वारा कही गयी विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है यह कथन सिद्ध नहीं हो सकता है। एवं नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ सिद्ध हो जाने से नियोगवादी प्रभाकर के मत की सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—विधिवादी का कहना है कि प्रधान रूप से वेदवाक्य का अर्थ विधि ही है और वही प्रवृत्ति का अंग है किन्तु किसी भी शब्द का अर्थ निषेध नहीं है जैसे किसी को जल में स्नान करने की या उसे पीने की इच्छा है तो वह जल चाहता है और 'जल' इस शब्द के सुनने से जल को ही खोजता है। यदि वह व्यक्ति जल में पररूप का निषेध करने लगे तो पररूप तो अनंत हैं "यह जल है" इस शब्द में यह

---

१ स्याद्वाद्याह ।—सोयं विधिवादी अविद्यापृथग्भूतं सन्मात्रं कुतश्चित्प्रमाणाज्जानन्नेव निषेद्धृ प्रत्यक्षं नान्यत् (विधात्रेव प्रत्यक्षं न) इति जल्पन् कथं स्वस्थः स्यात् ? अपि तु न । अविद्याया विवेकः पृथग्भावः अविवेकः सोस्यास्तीत्यविद्याविवेकि तच्च तत्सन्मात्रं चाविद्याविवेकिसन्मात्रम् । अविद्यायाः सन्मात्रे शून्यत्वमित्यत्रैव प्रतिषेधः प्रतीयते । २ अविद्याविवेकेन (अविद्यापरिहारेण) सन्मात्रमिति पाठः खपुस्तकीयः । ३ प्रमाणात् । ४ उपनिषद्वाक्यम् । अन्यद्वेति खपाठः । ५ ततश्च न निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति वचो विरुध्येत । ६ यस्मात् प्रमाणाद्विधिप्रतिपत्तिस्तस्मादेव प्रतिषेधप्रतिपत्तिः सिद्ध्यति । ७ विधिवादी । ८ प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य ।

---

(1) विवेकेन इति पा. । व्यावृत्त्या (2) अन्यव्यावृत्तिरूपेण सन्मात्रे प्रवृत्तः । (3) ततश्च न निषेद्ध प्रत्यक्षमिति वाचो विरूद्धचेत् । (4) वेदांतवादि ।

पुस्तक नहीं है, चौकी नहीं है इत्यादि रूप से निषेध करते-करते सारा जीवन ही समाप्त हो जायेगा किंतु पररूप का अभाव नहीं हो सकेगा।

पुनरपि विधिवादी सौगत से प्रश्न करता है कि आप पररूप का निषेध करते हुए क्रम-क्रम से उस जल में एक-एक वस्तु का निषेध करते हैं या एक साथ ? यदि क्रम-क्रम से कहें तो भी उन अनंतरूपों को समझकर उनका निषेध करते हैं या बिना समझे ? यदि बिना जाने ही उन पररूपों का निषेध करेंगे तो निषेध का विषय क्या रहेगा ? शून्यमात्र ही तो रहेगा। यदि जानकर निषेध करना कहो तो भी एक-एक को जान-जानकर उनका निषेध करने में कहीं पर भी अंत न आने से अनवस्था ही आ जावेगी। यदि आप कहें कि हम एक साथ ही सभी पररूपों का निषेध कर देंगे तब तो परस्पराश्रयदोष आ जावेगा, पहले सभी पररूपों का प्रतिषेध हो जावेगा पुनः जानने योग्य जल का ज्ञान हो सकेगा और जब जल का सद्भाव सिद्ध हो जावेगा तब अनंत पररूपों का प्रतिषेध एक साथ ही सिद्ध होगा। अतः शब्द का अर्थ प्रतिषेध (अन्यापोह) नहीं है विधि ही है ऐसा सत्ताद्वैतवादी ने अपना पक्ष रखा है।

इस पर भाट्ट का कहना है कि सर्वथा विधि ही प्रवृत्ति का हेतु नहीं है क्योंकि इष्ट जल में स्नान आदि की इच्छा रखने वाले मनुष्य वहाँ इष्ट जल में अनिष्ट अग्नि आदि का परिहार खोजते ही हैं। अन्यथा अनिष्ट अग्नि आदि में भी प्रवृत्ति हो जाने से किसी को भी अपने इष्ट की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी अतएव विधि के समान निषेध भी शब्द का अर्थ है और प्रवृत्ति का हेतु है। यदि आप कहें कि "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेधृ विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते"॥ अर्थ—विद्वान् लोग प्रत्यक्ष को विधायक—विधि को विषय करने वाला मानते हैं, किंतु निषेधक—प्रतिषेध को विषय करने वाला नहीं मानते है। इसलिये एकत्व के समर्थन में जो आगम है, वह प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होता है। यदि ऐसा ही एकांत मानोगे तो आपके यहां प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा उपनिषद्वाक्य भी जैसे अपना विधान करते हैं वैसे ही अविद्या का या अन्य सांख्य, सौगत, जैन के सिद्धांत का भी विधान ही कर देंगे न कि निषेध। पुनः वेदवाक्य का अर्थ अविद्या का परिहार करके मात्र सन्मात्र परमब्रह्मरूप ही है ऐसा आप कैसे कह सकोगे ? एवं 'प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है' इस वाक्य के द्वारा आप निषेध का भी निषेध कैसे करेंगे ? यदि आप कहें कि प्रत्यक्ष से की गई परमब्रह्म की विधि ही तो अन्य पदार्थों का अभाव है। तब तो जैनधर्म के अनुसार आपके प्रत्यक्षादि प्रमाण भावाभावात्मक ही सिद्ध हो जाते हैं पुनः एकांत से वेदवाक्य का अर्थ विधि ही है यह बात सिद्ध नहीं होती है। भाट्ट कहता है कि इसलिये आप नियोग को ही प्रमाण मान लीजिये ऐसे प्रभाकर का अभी तक पक्ष रखा है। अब प्रभाकर सामने आता है तब उसको बुद्धू बनाकर भाट्ट अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुये भावनावाद को पुष्ट करते हैं।

विधिवाद के खंडन का सारांश

भाट्ट—आप कहें कि विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है तो आपके विधिवाद में भी हम प्रश्न करेंगे कि—विधि प्रमाण है या प्रमेय, उभयरूप है या अनुभय रूप, शब्दव्यापार रूप है या पुरुष व्यापाररूप, उभयव्यापाररूप है या अनुभय व्यापाररूप है? यदि आप विधि को प्रमाण कहेंगे तो आप ब्रह्माद्वैतवादियों के यहां अन्य प्रमेय और क्या होगा? यदि आप विधि के स्वरूप को ही प्रमेय कहो तो सर्वथा निरंश, सन्मात्र देह वाली विधि प्रमाण और प्रमेय ऐसे दो रूप वाली कैसे होगी? एवं प्रमाण प्रमेय को कल्पित कहने पर तो आप बौद्ध ही हो जावोगे, क्योंकि बौद्ध भी प्रमाण और प्रमेय दोनों को कल्पित—अन्यापोह रूप अर्थ से मानता है किन्तु अन्यापोह को वस्तु का कथन करने वाला नहीं मानता है एवं कल्पित उपनिषद्वाक्य से या हेतु से परब्रह्म का ज्ञान कैसे होगा? यदि इन्हें वास्तविक कहोगे तो द्वैत आ जावेगा। दूसरी बात यह है कि ये उपनिषद्वाक्य अचित्स्वभाव हैं या चित्स्वभाव? यदि अचित्स्वभाव कहो तो ब्रह्म से भिन्न अचेतन रूप होने से द्वैत हो गया। यदि चित्स्वभाव कहो तो प्रतिपादक–गुरु के चित्स्वभाव हैं या प्रतिपाद्य—शिष्य के अथवा दोनों के? यदि गुरु का कहो तो शिष्य को ज्ञान नहीं होगा। यदि शिष्य का कहो तो गुरु को ज्ञान नहीं होगा, यदि दोनों का चित्स्वभाव मानों तो प्रश्न करने वाले अनेक मनुष्यों को ज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि ये आगम वाक्य और हेतु सभी के चित्स्वभाव हैं तो यह गुरु है, यह शिष्य है, ये प्राश्निक हैं इत्यादि भेद नहीं हो सकेंगे। यदि इन भेदों को अविद्या से मानों तो अविद्या गुरु में ही गुरु का बोध न कराकर शिष्य में गुरु का एवं गुरु में शिष्य का भी ज्ञान करा देगी, क्योंकि वह तो अविद्या ही है और वह एक ही है, सभी में अभिन्न रूप से समान काल में रहती है एवं अविद्या को अविद्या से कल्पित कहने पर तो विद्या ही सिद्ध हो गई अतः सभी में संकर दोष हो जावेगा, यदि आगमादि को ब्रह्म से भिन्न ही मानोगे तो बाह्य वस्तु के सिद्ध हो जाने से अद्वैतवाद समाप्त हो जावेगा।

यदि विधि को प्रमेय रूप मानो तो किसी भिन्न प्रमाण को मानना ही होगा पुनः द्वैत आ जावेगा। यदि उभयरूप कहो तो भी विरोध ही है। अनुभयरूप मानने पर तो खरविषाण के समान अवस्तु ही हो जावेगी। यदि पांचवां विकल्प लेवो तो भाट्ट के मत में प्रवेश होगा तथैव छठे में भी वही बात है। उभय के व्यापार से कहो, तो क्रम से या युगपत्? इन दो विकल्पों से दोष आते हैं। एवं अनुभय व्यापाररूप विधि को कहो तो वे ही प्रश्न मौजूद हैं कि विधि विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है अथवा निस्स्वभाव? विषय का स्वभाव कहो तो निरालंबवाद में प्रवेश हो जाता है। तथैव फल का स्वभाव कहने पर भी वाक्य के काल में स्वर्गादि फल असंनिहित होने से निरालंबवाद ही आता है। निःस्वभाव कहो तो "वेदवाक्य का कुछ भी अर्थ नहीं है" ऐसा हो जाता है।

पुनरपि यह विधि सत् रूप है या असत् रूप, उभयरूप है या अनुभयरूप ? सत्रूप कहो तो किसी को भी विधेय नहीं होगी, पुरुष के समान। असत् कहो तो खरविषाण के समान हो जावेगी। उभयरूप कहो कि "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि से असत्रूप हैं और पुरुषरूप से सत्रूप है तब तो द्वैत हो जावेगा। चतुर्थ पक्ष में सत् का निषेध होने से असत् की विधि होगी अथवा सर्वथा दोनों का निषेध होने से "कथंचित् सत्त्वासत्त्व" की विधि होगी तो जैनमत में प्रविष्ट हो जावोगे।

तथैव वह विधि प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रवर्तक कहो तो बौद्धादिकों को भी विधि प्रवर्तक हो जावेगी। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो वेदवाक्य का अर्थ वह कैसे हो सकेगी ?

इसी प्रकार वह विधि फल रहित है या फल सहित ? फल रहित कहो तो नियोग के समान प्रवर्तक नहीं होगी। पुनः वेदवाक्यों का अभ्यास भी क्यों किया जावेगा ? फल सहित कहो तो फलार्थीजनों की प्रवृत्ति स्वतः सिद्ध है, पुनः विधि के अर्थ से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अतएव जिस प्रकार से वेदवाक्य का अर्थ नियोग करने में अनेक दूषण आते हैं तथैव विधि अर्थ मानने में अनेक दूषण आते हैं। यदि आप विधि अर्थ को प्रमाण कहोगे तो नियोग को भी प्रमाण मानना होगा। अतएव हमारे द्वारा मान्य "भावना" ही वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा भाट्ट का कथन है उसका भी जैनाचार्य खंडन करेंगे।



[अधुनापर्यंतं भावनावादी भाट्टो नियोगवादं सौगतमतं चाश्रित्य विधिवादमदूषयत् अतःप्रभृति स्वाभ्युपगतं भावनावादं पोषयति]

[1]स [2]एव वाक्यार्थोस्त्वित्ययुक्तम्—[3]धात्वर्थवन्नियोगस्य [4]परोपवर्णितस्वरूपस्य वाक्यार्थतया प्रतीत्यभावात्—[5]सर्वत्र भावनाया[6] एव वाक्यार्थत्वप्रतीतेः। सा हि द्विधा; शब्दभावनार्थभावना च।

"शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव[8] लिङादयः[9]। [10]इयं [1]त्वन्यैव [11]सर्वार्था [2]सर्वाख्यातेषु [3]विद्यते"॥

इति वचनात्। तत्र शब्दभावना[4] शब्दव्यापारः[5]। [12]शब्देन हि पुरुषव्यापारो [13]भाव्यते, पुरुषव्यापारेण [6]धात्वर्थो[14], धात्वर्थेन [15]फलमिति।

[यहाँ तक भावनावादी भाट्ट ने नियोगवादी प्रभाकर के मत का अवलंबन लेकर एवं सौगत मत का भी आश्रय करके विधिवादी—वेदांती को दूषण दिया है अब स्वयं अपना पक्ष पुष्ट करता है।]

प्रभाकर—अतः आपके ही कथनानुसार हमारे द्वारा मान्य वह नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ हो जावे यही ठीक है। बाधा क्या है?

भावनावादी भाट्ट—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि धातु के अर्थ के समान आप प्रभाकर द्वारा वर्णित स्वरूप वाला नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ है ऐसी प्रतीति नहीं आती है क्योंकि सर्वत्र—नियोग एवं विधि आदि के प्रतिपादक वैदिक एवं लौकिक वाक्यों में भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति में आ रहा है। उस भावना के दो भेद हैं—(१) शब्दभावना (२) अर्थभावना। कहा भी है—

श्लोकार्थ—लिङ् लोट् आदि लकार अर्थभावना से भिन्न शब्दभावना और आत्मभावना को कहते हैं क्योंकि यह अर्थभावना सर्वार्थ—सभी लकारों के अर्थों का प्रतिपादन करने वाली है अतः सभी आख्यातों में विद्यमान है॥

उसमें शब्दव्यापार को शब्दभावना कहते हैं "अग्निष्टोमेन" इत्यादि शब्द के द्वारा पुरुष का व्यापार उत्पन्न किया जाता है। पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है तथा उस धातु के अर्थ से फल की सिद्धि होती है।

---

१ नियोगः। प्राभाकरः। २ अतः। ३ अत्र भावनावादी वदति।—इति नियोगवादिवचोऽयुक्तम्—विधिवादवत्परोदितनियोगस्याप्यप्रमाणत्वात्। ४ सन्मात्रं धात्वर्थोत्र विधिः। ५ प्रभाकर। ६ नियोगविध्यादिस्वरूपप्रतिपादके वैदिके लौकिके च वाक्ये। ७ तेन (वाक्येन) भूतिषु (यागक्रियासु) कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः (द्रष्टव्यादेः)। प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः। ८ अर्थभावनातो भिन्नाम्। ९ लिङ्लोट्तव्याः कर्त्तारः। १० अर्थभावना। करोति धात्वर्थलक्षणा वक्ष्यमाणेयं सर्वार्थप्रतिपादिनी भावना अन्यापूर्वोक्तायाः शब्दभावनातो भिन्ना। कुतः? सर्वाख्यातेषु विद्यमानत्वात्। ११ सर्वोर्थो यजनादिर्यस्याः सा। १२ अग्निष्टोमेत्यादिना। १३ उत्पाद्यते। १४ यथा शब्दव्यापारः। १५ धात्वर्थस्य।

---

(1) शब्दभावनातः (2) लिङ्गादिषु (3) यतः (4) उत्पादकत्वं पुरुषव्यापारस्य। (5) प्रेरणात्परं। (6) धात्वर्था इति पा.

भावार्थ—भाट्टों के यहां शब्दभावना और अर्थभावना ये दो प्रकार की भावनाएं मानी गई हैं। उनके ग्रन्थों में कथन है कि लिङ् लोट् और तव्य ये प्रत्यय शब्दभावना और अर्थभावना को ही कहते हैं। संपूर्ण अर्थों में व्याप्त "करोत्यर्थ" रूप अर्थभावना तो सपूर्ण तिङन्त से आख्यात—दशों लकारों में विद्यमान है। यह अर्थभावना शब्दभावना से भिन्न ही है। इन दोनों भावनाओं में शब्दभावना तो शब्द के व्यापार रूप है क्योंकि शब्द के द्वारा ही पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष व्यापार के द्वारा "यज्" "पच्" आदि धातुओं का अर्थ भावनारूप किया जाता है। तथा धातु के अर्थ से फल भावित किया जाता है यह शब्दभावनावादी भाट्टों का मत है, किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है क्योंकि शब्द का व्यापार शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है। "स्वर्ग की इच्छा रखने वाला पुरुष अग्निष्टोम वाक्य से यज्ञ को करे" इस प्रकार के शब्द से उस शब्द का व्यापार रूप यज्ञ प्रतिभासित नहीं होता है। वही शब्द अपने ही व्यापार का प्रतिपादक भला कैसे हो सकेगा? एक ही शब्द स्वयं प्रतिपाद्य और प्रतिपादक इन दोनों रूप हो यह बात विरुद्ध है। वेदवाक्य के उच्चारण के समय प्रतिपादक शब्द का स्वरूप तो पहले से ही सिद्ध है और भविष्य में होने योग्य प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप तो उस काल में असिद्ध है। अतएव अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि की भावना कराने वाले वाक्यों से अनुष्ठाता पुरुष का यज्ञ में प्रवृत्ति कराने रूप व्यापार कैसे भावित किया जावेगा तथा पुरुष के व्यापार से यज्ञ करने रूप धातु का अर्थ भी कैसे भावित किया जावेगा? तथैव धातु के अर्थ से चिरकाल में होने वाला स्वर्ग नाम का फल कैसे भावनायुक्त किया जावेगा कि जिससे आप भाट्ट के कथनानुसार भावना करने योग्य, भावना करने वाला तथा भावना का कारण इन तीन रूप से तीन अंशों से परिपूर्ण होती हुई भावना का विचार किया जा सके अथवा तीन अंश वाली भावना आत्मा में विशेषतया भायी जा सके? अतः शब्दभावना वाक्य का अर्थ नहीं है। यदि पुरुष का व्यापार भावना है तब तो पुरुष यज्ञादि के द्वारा स्वर्ग को भावित करता है, किन्तु इस प्रकार यज्ञ से भावित किया गया फल तो शब्द का अर्थ नहीं है। क्योंकि शब्द के बोलते समय स्वर्ग सन्निहित नहीं है। शब्द सुनने के पश्चात् न जाने कितने दिन बाद यज्ञ किया जावेगा और बहुत दिन पीछे मरने के बाद कदाचित् स्वर्ग मिल सकेगा अतः अनेक दूषणों से दूषित होने से 'भावना' वेदवाक्य का अर्थ नहीं है।

इस प्रकार से पुरुष के व्यापार में शब्द व्यापार के समान और धातु के अर्थ में पुरुष व्यापार के समान फल में जो धातु का अर्थ है वह भावना हो, ऐसा प्रसंग नहीं आता है। अर्थात् पुरुष के व्यापार में शब्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ में पुरुष का जो व्यापार है वह भावना है। उसी प्रकार से फल में धात्वर्थ भावना नहीं है अन्यथा वह शुद्ध धात्वर्थ सन्मात्ररूप होने से विधि–ब्रह्माद्वैत रूप हो जावेगा किन्तु ऐसा है नहीं।

न [1]चैवं पुरुष[2]व्यापारे (1)शब्दव्यापार[3]वद्धात्वर्थे च पुरुषव्यापारवत् फले धात्वर्थो भावनानुषज्यते[4]—[5]तस्य [6]शुद्धस्य सन्मात्ररूपतया विधिरूपत्वप्रसङ्गात् । तदुक्तम् ।—

"सन्मात्रं [7]भावलिङ्गं (2)स्यादसंपृक्तं तु कारकैः(3) । धात्वर्थः(4) केवलः[8] शुद्धो[9] भाव इत्यभिधीयते ॥

[10]तां (5)प्रातिपदिकार्थं[11] च धात्वर्थं च प्रचक्षते । सा सत्ता सा महानात्मा[12] यामाहुस्त्वतलादयः ॥"

इति च (6)प्रतिक्षिप्तश्[13]चैवंविधो विधिवादो नियोगवादिनैवेति नास्माक[14]मत्राति-

[अर्थात् वह धात्वर्थ सन्मात्ररूप है या यजनादि रूप है अथवा क्रियारूप है ? इत्यादि रूप से भाट्ट तीन विकल्प करके क्रम से दूषण दिखाते हैं ।]

यदि धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र मानो तो वह विधिरूप ही सिद्ध होगा । कहा भी है—

श्लोकार्थ—जो कारकों के संपर्क से रहित सन्मात्र, भावलिंग है एवं केवल—भिन्न अर्थ से रहित शुद्ध (अपने अंतर्गत विशेषों से रहित) भाव है वह धात्वर्थ कहलाता है ॥१॥

श्लोकार्थ—ज्ञानीजन प्रातिपदिक अर्थ को और धातु के अर्थ को सत्ता कहते है तथा वह सत्ता ही महान् आत्मा (परब्रह्म) स्वरूप है । उस सत्ता को ही "त्व और तल्" आदि प्रत्यय द्योतित करते हैं ॥२॥

प्रातिपदिक शब्द का अर्थ—पाणिनि व्याकरण में धातु और प्रत्यय से रहित अर्थवान् शब्द को "प्रातिपदिक" कहते हैं एवं कातंत्रव्याकरण में "धातु विभक्तिवर्ज्यमर्थवल्लिगं" सूत्र से उसे लिंग संज्ञा है एवं जैनेन्द्र व्याकरण में इसे "मृत" संज्ञा दी है ।

इस प्रकार के विधिवाद का नियोगवादी के द्वारा निरसन कर दिया गया है अतः हम भावनावादी भाट्टों को इस विधिवाद के निराकरण करने में विशेष आदर नहीं है । यदि आप कहें कि सन्मात्र से भिन्न यजनादि रूप ही धात्वर्थ है तब तो वह भी प्रत्यय के अर्थ से शून्य होने से किसी अग्निहोत्रादि वाक्य से प्रतीति में नहीं आता है प्रत्युत प्रत्यय सहित ही वह धातु का अर्थ उस वाक्य से जाना जाता है । अर्थात् प्रत्ययार्थ विशेषणभूत का ही उससे ज्ञान होता है ।

१ धात्वर्थस्य फलजनकत्वप्रकारेण । २ कपुस्तके पुरुषव्यापारः इति प्रथमांन्तेन पाठः । ३ यथा शब्दव्यापारः । ४ पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा धात्वर्थे पुरुषव्यापारो भावना तथा फले धात्वर्थो भावना न । ५ धात्वर्थस्य । ६ स हि धात्वर्थः सन्मात्ररूपो वा यजनादिरूपो वा क्रियारूपो वेति विकल्पत्रयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयति भाट्टः । ७ भाव इति निश्चेयम् । ८ अर्थान्तररहितः । ९ स्वान्तर्गतविशेषरहितः । १० सत्ताम् । ११ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमिति पाणिनिकृता शब्दानां संज्ञा । १२ परब्रह्म । १३ एवं नियोगवादिना धात्वर्थभावनावादः प्रतिक्षिप्तः तथा विधिवादः प्रतिक्षिप्तः । १४ भावनावादिनां विधिवादनिराकरणे ।

(1) स्वेन क्रियमाणे पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा शब्दभावना (2) विधिज्ञापकं (3) यतः (4) यागादिविशेषणरहितः (5) विभक्त्यादिरहितनामर्थः (6) शुद्धधात्वर्थरूप ।

तरामादरः । [1]अथ[१] [२]ततोन्यो[३] धात्वर्थः[2] सोपि न [४]प्रत्ययार्थशून्यः [५]कुतश्चिद्वाक्यात्प्रतीयते—[६]तदु[७]पाधेरेव तस्य ततः सम्प्रत्ययात् । [८]प्रत्ययार्थस्तत्र[९] प्रतिभासमानोपि न प्रधानं [१०]कर्मादिवदन्य[११]त्रापि भावादिति चेत् [१२]तर्हि धात्वर्थो यजनादिः प्रधानं मा भूत् [१३]प्रत्ययान्तरेपि[3] भावात् प्रकृत[१४]प्रत्ययापायेपीति समानं पश्यामः[१५] । [१६]यदि पुनः [१७]क्रिया सकलव्यापिनी-धात्वर्थः–सर्वधातुषु भावात् तदा सैव [१८]भावना किं नेष्यते–[१९]सर्वार्थेषु सद्‌भावात् । यथैव हि जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङादयः[4] क्रियां हवनावच्छिन्नां[२०] प्रतिपादयन्ति तथा सर्वाख्यात-

---

विधिवादी—प्रत्यय का अर्थ उस धातु के अर्थ में प्रतिभासित होता हुआ भी प्रधान नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय का अर्थ कर्म करण आदि के समान अन्यत्र—धात्वंतर (भिन्न धातुओं) में भी विद्यमान है।

भाट्ट—तब तो धातु का अर्थ यजन आदि भी प्रधान नहीं होवे क्योंकि प्रकृत प्रत्यय (लिङ् लोट् तव्य) के अभाव में भी प्रत्ययांतर में विद्यमान है। इस प्रकार से हम भावनावादी और आप विधिवादी दोनों के प्रति दूषण समान ही दीखते हैं।

यदि पुनः सकल व्यापिनी क्रिया धातु का अर्थ है क्योंकि सभी धातुओं में विद्यमान है तो उसी को ही भावना–पुरुषभावना रूप क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हो, क्योकि वह क्रिया सभी यजनादि लक्षण अर्थो में मौजूद है। अर्थात् भावनावादी कहता है कि हे विधिवादिन् ! आपके द्वारा स्वीकृत सन्मात्र—सत्तामात्र परम ब्रह्म ही धातु का अर्थ नहीं है क्योकि सकलव्यापिनी—सभी धातुओं में व्याप्त "करोति" इस अर्थ के लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओं में संभव है ऐसा "करोति" क्रिया लक्षण धात्वर्थ यदि आप स्वीकार कर लेते हो तब तो हम लोग भी उसी सर्वव्यापिनी क्रिया को "भावना-पुरुषभावना रूप" क्यों नहीं स्वीकार करेंगे अपितु करेंगे ही। क्योकि सभी अर्थो में और सभी आख्यातों में वह क्रिया सभव है।

जिस प्रकार से "जुहुयात्, जुहोतु, होतव्यं" (हवन करना चाहिये) इस प्रकार के लिङ्, लोट्, तव्य

---

१ द्वितीयविकल्पः (भाट्टः)। २ भावनावाद्याह—हे विधिवादिन् एवं किं तवाभिप्रायः। ततः सन्मात्रादन्य एव धात्वर्थं इति तदा—सोपि धात्वर्थः प्रत्ययार्थरहितो न दृश्यते। ३ यजनादिः। ४ लिङाद्यर्थः करोत्यर्थव्याप्तः। ५ अग्निहोत्रादेः। ६ प्रत्ययसहितस्यैव तस्य धात्वर्थस्य ततो वाक्यात्प्रत्ययो भवति। ७ न प्रत्ययार्थं उपाधिविशेषणं यस्य न तथोक्तस्तस्य तदुपाधेः प्रत्ययार्थविशेषणभूतस्य सम्प्रत्ययात्। ८ प्रभाकरः। विधिवाद्याह। ९ धात्वर्थे। १० कर्मकरणादेर्यथान्यत्र भावो विद्यते। ११ धात्वन्तरे। १२ भाट्टः। १३ धात्वर्थान्तरे। १४ लिङ्लोट्तव्य। १५ वयं भावनावादिनः हे विधिवादिन् तव मम च तुल्यं दूषणं पश्यामः। १६ (तृतीयो विकल्पः) भावनावादी प्राह।—हे विधिवादिन् भवदभ्युपगतः सन्मात्रस्तावद्धात्वर्थो न। यदि पुनः सकलव्यापिनी करोत्यर्थलक्षणा क्रिया सर्वधातुषु सम्भवाद्धात्वर्थस्त्वयाभ्युपगम्यते तदास्माभिः सैव सर्वव्यापिनी क्रिया भावना किं नेष्यते। अपि त्वभ्युपगम्यते। कुतः ? सर्वार्थेषु सर्वाख्यातेषु च तस्याः सम्भवात्। १७ यजनपचनादिक्रिया। १८ पुरुषभावना। १९ यजनादिलक्षणेषु लडादिषु च। २० हवनविशिष्टाम्।

---

(1) योगाचारः (2) यजनादि। (3) लडादौ (4) लोट् तव्य।

[१]प्रत्यया अपि—पचति पपाच पक्ष्यतीति पचनावच्छिन्नायाः क्रियाया एव प्रतिपत्तेः। [२]पाकं करोति चकार करिष्यतीति[1]। [३]तथा च लिङादिप्रत्ययप्रत्याय्यः[2] करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इत्यायातम्। [४]स च [५]भावनास्वभाव एवेति न [६]धात्वर्थ एव वाक्यार्थतया प्रतीयते। [७]नापि कार्यादिरूपो[८] नियोगः।

प्रत्यय हवन से विशिष्ट क्रिया को प्रतिपादित करते हैं उसी प्रकार से सर्वाख्यात प्रत्यय—लट् लकारादि भी प्रतिपादित करते हैं क्योंकि "पचति, पपाच, पक्ष्यति" इस प्रकार से पचन से अविच्छिन्न—व्याप्त क्रिया ही जानी जाती है। उस क्रिया से वह पाक को करता है, किया था और करेगा इत्यादि ज्ञान होता है। इस प्रकार से क्रिया को भावना मान लेने पर लिङादि प्रत्यय से जानने योग्य 'करोति' का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ होता है यह बात सिद्ध हो जाती है और वह आत्मा शुद्ध भावना स्वभाव ही है इसलिये यह तीन प्रकार का धात्वर्थ ही वाक्यार्थ–वेद के अर्थ रूप से प्रतीति में नहीं आता है और न कार्यादिरूप नियोग ही वेद के अर्थ रूप से प्रतीति में आता है।

विशेषार्थ—वेदवाक्यों में विधिलिङ् लोट् और तव्य प्रत्यय पाये जाते हैं यथा "अग्निष्टोमेन यजेत्"। इस "यजेत" क्रियारूप पद में विधिलिङ् है तथैव यजताम् और यष्टव्यं में लोट् और तव्य प्रत्यय हैं। व्याकरण के नियम के अनुसार मूल में दो तरह के शब्द होते हैं प्रकृति और धातु। पुरुष या धर्म शब्द प्रकृतिरूप हैं और भू, पच्, पठि आदि धातु कहलाते हैं। कातन्त्रव्याकरण में "धातुविभक्तिवर्ज्यमर्थवल्लिंगं" इस सूत्र के अनुसार धातु और विभक्ति से रहित अर्थवाले पुरुष, धर्म आदि शब्दों को लिंग संज्ञा है। सिद्धांतकौमुदी में इसकी प्रातिपदिक संज्ञा है और जैनेन्द्र व्याकरण में इसी को मृत संज्ञा है। इस मृत संज्ञक शुद्ध प्रकृति रूप शब्दों से विभक्ति सु औ जस् अम् आदि आकर इस एक पुरुष शब्द को ही एकवचन, द्विवचन, बहुवचन एवं कर्त्ता कर्म करण आदि रूप सिद्ध कर देती हैं। जैसे 'पुरुषः' का अर्थ एक पुरुष है तो "पुरुषौ" का अर्थ दो पुरुष हो जाता है तथा "पुरुषं" का अर्थ 'पुरुष को" हुआ, तो "पुरुषेण" का अर्थ "पुरुष के द्वारा" हो जाता है। अतः प्रकृति और विभक्ति अर्थात् प्रत्यय मिलकर ही अर्थ को प्रकट करते हैं। उसी प्रकार से मिङन्त में भी 'भू, कृ' आदि धातु हैं इनसे दश लकार से संबंधित मि, वस्, मस् आदि विभक्तियाँ आती हैं एव कृदंत प्रकरण के अनुसार 'तव्य तृच्' आदि प्रत्यय भी आते हैं तभी इनका अर्थ स्पष्ट होता है। शुद्ध प्रकृति या धातु में यदि प्रत्यय के द्वारा विकार उत्पन्न न होवे तो वे ज्यों-के त्यों पड़े रहेंगे उन शुद्ध प्रकृति या धातु से कोई भी वाक्य रचना नहीं बनेगी। हां! उनमें प्रत्यय के लग जाने पर विकार के उत्पन्न हो जाने से वे अनेक अर्थों को प्रकट करने लग जाते हैं। जैसे 'जिनं यजेत्', "धर्ममाश्रयामि, अहं गच्छामि" आदि वाक्य रचना एक-एक पदों के मिलाने से ही बनी है और "सुप्मिङन्तं

---

१ लडादयः। २ केन प्रकारेण प्रतिपत्तिरित्युक्ते आह। ३ क्रियाया एव भावनात्वे च। ४ आत्मा। ५ शुद्धभावना। ६ त्रिविधोपि धात्वर्थः। ७ भाट्टः। ८ वाक्यार्थतया न प्रतीयते।

---

(1) अनेन (2) ज्ञाप्यः (3) पुरुष।

पदं" इस सूत्र के अनुसार सुप् आदि विभक्तियां एवं मिङादि (तिङादि) प्रत्ययों के लगने से ही शब्दों की पद संज्ञा होती है और पदों के समुदाय को वाक्य संज्ञा होती है। अब यहाँ विचार इस बात का करना है कि 'यजेत' पद में जो लिङ् प्रत्यय पड़ा है उसका क्या अर्थ है। प्रभाकर तो शुद्ध मात्र प्रत्यय के अर्थ को ही नियोग कहते हैं उनका कहना है कि "अग्निष्टोमेन यजेत्" वाक्य सुनकर "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन" इस प्रकार मैं इस वाक्य के द्वारा यज्ञ कर्म में नियुक्त हो जाता हूँ। विधिवादी कहते हैं कि शुद्ध यज् धातु का जो अर्थ है वह सत्तामात्र है, वही विधि अर्थात् ब्रह्मस्वरूप है। अर्थात् इस 'यजेत' पद में जो धातु का अर्थ है उसी धात्वर्थ को यह वाक्य कहता है।

भावनावादी कहता है कि यह उपर्युक्त वाक्य न केवल धातु अर्थ को ही कहता है और न ही केवल प्रत्यय के अर्थ को ही कहता है किन्तु इसमें जो "यज्ञ को करे" इस रूप से करोति क्रिया का अर्थ है वही भावना है। अतः 'यजेत' यह वाक्य, भावना अर्थ को ही कहता है। उनके ग्रंथों में कथन है कि—लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय मात्र प्रत्यय के अर्थ रूप अर्थभावना से भिन्न ही शब्दभावना और आत्मभावना को कहते हैं। हाँ ! संपूर्ण अर्थों में व्याप्त हो रही "करोत्यर्थ" रूप अर्थभावना से भिन्न ही है जो कि गच्छति, पचति, यजति आदि संपूर्ण तिङन्त–आख्यात दशों लकारों में विद्यमान है यह अर्थभावना शब्दभावना से भिन्न है। इन दोनों भावनाओं में शब्दभावना तो शब्द का व्यापार स्वरूप है क्योंकि शब्द के द्वारा ही पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष के व्यापार से यज्, पच् आदि धातु का अर्थ भावित किया जाता है तथा धातुओं के अर्थ से फल भावित किया जाता है यह शब्दभावनावादी भाट्टों का मत है। इस भाट्ट ने धात्वर्थ के विषय में तीन विकल्प उठाकर दूषण दिखाये हैं। यथा—

यह धात्वर्थ शुद्ध सन्मात्र रूप है, यजनादि रूप है, या क्रिया रूप है ? यदि धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र अर्थ ही मानों तब तो वह विधि रूप है क्योंकि जो कर्ता, कर्म आदि कारकों से रहित, भिन्न अर्थों से रहित, अपने अंतर्गत विशेषों से रहित केवल भावमात्र है वही धात्वर्थ है उस सत्ता को और प्रातिपदिक अर्थ—अर्थवान् शब्द को ही धात्वर्थ कहते हैं। वह सत्ता ही महान् आत्मा है परमब्रह्म स्वरूप है। त्व, तल् और अण् आदि प्रत्यय उसको प्रकट करते हैं जैसे ब्राह्मणता, ब्राह्मणत्वं, पांडित्यं आदि शब्द भाववाची हैं। त्व, तल्, यण् आदि प्रत्ययों से प्रगट हो रहे हैं। इस प्रकार से यदि प्रथम पक्ष रूप से धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र मानों तो विधिवाद ही आ जाता है जो कि हम भाट्टों को इष्ट नहीं है। यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि सन्मात्र से भिन्न यजनादि रूप धात्वर्थ है तब तो वह प्रत्ययों के अर्थ से शून्य होने से किसी अग्निहोत्रादि वाक्य से प्रतीति में नहीं आ रहा है प्रत्युत वाक्य के द्वारा प्रत्यय से सहित ही धातु का अर्थ प्रतीति में आता है।

इसी बीच में विधिवादी बोल पड़ता है कि भले ही यज् धातु के अर्थ में लिङ् प्रत्यय का अर्थ प्रतिभासित हो रहा हो किन्तु वह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय का अर्थ भिन्न-भिन्न

अनेकों धातुओं में भी पाया जाता है, अतः धात्वर्थ ही प्रधान है। इस पर पुनः भाट्ट कहता है कि हम इससे विपरीत भी कह सकते हैं कि यज्, पच् आदि धातु का अर्थ भी प्रधान नहीं है क्योंकि प्रकरण प्राप्त लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्ययों के अतिरिक्त भी लट्, लिट्, तृच् आदि अनेकों भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में आपका यज्, पच् आदि धातु का अर्थ विद्यमान है। अर्थात् जैसे यजेत् यजतां आदि में विधिलिङ् लोट् प्रत्यय का अर्थ है यज्ञ करना चाहिये, यज्ञ करो। किन्तु यह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नहीं है, मात्र यज्ञ रूप धातु का भाव अर्थ ही प्रधान है, तव यज् धातु भी लिङादि प्रत्ययों के अतिरिक्त यजति, इयाज, यष्टा आदि के लट्, लिट्, तृच् आदि भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में पाया जाता है जिसका अर्थ—यज्ञ को करता है, यज्ञ किया था, यज्ञ करने वाला आदि हो जाता है। यह यज् धातु भी अनेकों प्रत्ययों में चली जाती है अतः धातु के प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान मानों क्योंकि अनेकों प्रत्ययों में धातुएं व्याप्त रहती हैं। विधिवादी कहता है कि धातु का अर्थ तो संपूर्ण ही लिङ्, लिट्, लुट् आदि प्रत्ययों में माला में डाले हुये सूत्र के समान ओत-प्रोत है अतः धातु अर्थ प्रधान है इस पर भाट्ट कहता है कि इस प्रकार से तो संपूर्ण यजि, पचि, भू, कृ आदि धातुओं के अर्थों में पीछे-पीछे चलता हुआ प्रत्यय का अर्थ भी तो अन्वय रूप हो रहा है अतः प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान मानना चाहिये। यदि आप अद्वैतवादी यों कहें कि विशेष-विशेष रूप प्रत्यय का अर्थ तो सभी धातुओं के अर्थों में अन्वय रूप नहीं है जैसे एक विवक्षित तिप् या तस् विभक्ति (प्रत्यय) का अर्थ सभी मिप् वस्, लुट्, क्ति, तल् आदि प्रत्यय वाले धातु के अर्थों में अन्वय रूप नहीं है। इस पर हम भाट्टों का भी यही कथन है कि विशेष रूप से एक यज् धातु का अर्थ भी पच्, गम् आदि धातुओं के साथ लगे हुये प्रत्ययों के अर्थों में ओत-प्रोत हो करके कहाँ रहता है। हाँ! सामान्य रूप से धातु का अर्थ संपूर्ण प्रत्ययों के अर्थों में अन्वित है। इसलिये आप धातु के अर्थ को प्रधान कहेंगे तो हम प्रत्ययों के अर्थ को प्रधान कहने लगेंगे यह प्रश्नोत्तरमाला दोनों मान्यताओं में समान ही है अतएव वेदवाक्य का अर्थ "शुद्ध धात्वर्थ रूप सन्मात्र है" यह कथन भी गलत है एवं वेदवाक्य का अर्थ "धातु के प्रत्यय के अर्थ रूप ही हैं" यह भी गलत है। हां! यदि आप तृतीय पक्ष लेते हो कि धातु का अर्थ क्रियारूप है तव तो ठीक ही है क्योंकि "करोति" अर्थ लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओं में विद्यमान है। ऐसा करोति क्रिया लक्षण धात्वर्थ यदि आप मान लेवें तव तो हमारे भावनावाद का ही पोषण हो जाता है क्योंकि सभी अर्थों में और सभी लकारों में वह करोति क्रिया व्याप्त है, वही तो भावना है। जैसे जुहोतु, जुहुयात्, होतव्यं से लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय हवन से विशिष्ट क्रिया को वतलाते हैं उसी प्रकार से सभी लट् लिट् आदि लकार भी वतलाते हैं। जैसे "यागं करोति, चकार, करिष्यति" ये क्रियायें भी अथवा "पचति, पाकं करोति" आदि क्रियायें भी सर्वत्र करोति अर्थ को ही वताती हैं। पकाता है, पाक को करता है। यजति, यागं करोतियजता है, यज्ञ को करता है इत्यादि में करोति क्रिया ही प्रधान है वही वेदवाक्य का अर्थ है। ऐसे भावनावादी ने अपना पक्ष पुष्ट किया है।

[शब्दव्यापाररूपेण शब्दभावनैव नियोग इति प्रभाकरेण मन्यमाने सति भाट्टः तन्निराकरोति]

[1]ननु [2]शब्दव्यापाररूपो नियोगः प्रतीयत[3] एव। शब्दो हि स्वव्यापारस्य पुरुषव्यापारकरण[4]लक्षणस्य प्रतिपादको[5], न पुनः कारकः शब्दादुच्चरितान्नियुक्तोहमनेनेति[6] प्रतिपत्तृणां प्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेरिति[7] चेत् [8]तर्हि [9]भावनैव नियोग इति शब्दान्तरेणोक्ता स्यात्। तदुक्तम्।—

शब्दादुच्चरितादात्मा[10] नियुक्तो गम्यते नरैः[(1)]। भावनातः[11] परः को[12] वा नियोगः परिकल्प्यताम्॥

इति।

[गृहीतसंकेतः शब्दोऽर्थं प्रत्याययति अगृहीतसंकेतो वास्य विचारः क्रियते]

[13]स्यान्मतम्।—यदि शब्दव्यापारो भावना कथमगृहीतसङ्केतो[14] नैव[15] गच्छति

["शब्दव्यापाररूप शब्दभावना ही नियोग है" ऐसा प्रभाकर के द्वारा मानने पर भाट्ट कहता है कि आपने भावना को ही नियोग नाम धर दिया है वास्तव में भावना ही प्रतीति में आती है।]

प्रभाकर—अग्निहोत्रादि शब्द का व्यापार रूप नियोग ही वेदवाक्य के अर्थरूप से प्रतीति में आता है, क्योंकि शब्द पुरुषव्यापारकरण लक्षण (कार्यरूप व्यापार के प्रति साधकतम लक्षण) अपने व्यापार का प्रतिपादक है—"ऐसा करो" इस प्रकार से शब्द ही ज्ञापक है किन्तु कारक नहीं है। अन्यथा उच्चारण किये गये शब्द से "मैं इस शब्द से नियुक्त हुआ हूं" इस प्रकार से ज्ञाता पुरुषों को ज्ञान नहीं हो सकेगा। अन्यथा—शब्दोच्चारण के अभाव में "नियुक्तोऽहमनेन" इस प्रकार की प्रतिपत्ता—ज्ञाताओं को अनुपपत्ति—प्रतीति नहीं होती है। यह "अन्यथानुपपत्ति" का स्पष्टीकरण है।

भाट्ट—तब तो भावना ही नियोग है उसी को आपने शब्दांतर—"शब्दभावना" इस भिन्न शब्द से कह दिया है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—उच्चारण किये गए शब्द से आत्मा नियुक्त है ऐसा मनुष्यों के द्वारा जाना जाता है इसलिए शब्दभावना से भिन्न कोई नियोग है ऐसी कल्पना क्यों करना? अर्थात् नहीं करना चाहिये।

[संकेत ग्रहण किये हुए शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं या विना संकेत ग्रहण किये हुए ही शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं? इस पर विचार किया जा रहा है]

बौद्ध—यदि शब्द के व्यापाररूप भावना है तब तो संकेत को ग्रहण न करने वाला पुरुष "नियुक्तो-

---

१ प्रभाकरः। २ अग्निहोत्रादि। ३ वाक्यार्थतया। ४ कृतिरूपव्यापारं प्रति साधकतमलक्षणस्येति। ५ ज्ञापकः। एवं कुर्विति। ६ शब्देन। ७ अन्यथा शब्दोच्चारणाभावे नियुक्तोहमनेनेति प्रतिपत्तॄणां प्रतिपत्तिर्नोपपद्यते। ८ भाट्टः। ९ शब्दभावना। १० स्वरूपम्। ११ शब्दभावनातः। १२ न कोपीत्यर्थः। १३ सुगतस्य। १४ प्रेरणा। १५ नावगच्छतीति पाठान्तरम्।

---

(1) अतः।

नियुक्तोहमनेनेति स्वभावतस्तस्य[1] नियोजकत्वात् । सङ्केतग्रहण[2]स्यानुपयोगित्वादिति [3]तदसमीचीनमेव—सङ्केतस्य[4] तथाऽवगतौ[5] सहकारित्वात्[1]—सामग्री जनिका नैकं [6]कारण-मिति प्रसिद्धेः । [7]ननु च सङ्केतसामग्री[8] न [9]प्रेरणे भावनायां[10] वा व्याप्रियते—[11]अर्थवेदने तस्याः प्रवृत्तेः[2]—[3]अर्थप्रतीतौ[12]पुरुषस्य [13]स्वयमेव [14]तत्र तदर्थितया [15]प्रवृत्तेः । [16]इदं कुर्विति[4]

ऽहमनेन" इस प्रकार से क्यों नहीं जानता क्योंकि आपके मत से शब्द तो स्वभाव से ही नियोजक हैं। अतः संकेत का ग्रहण करना अनुपयोगी ही है।

भाट्ट—आप बौद्धों का जो यह कथन है वह भी समीचीन नहीं है। "इस शब्द का यह अर्थ है" ऐसा संकेत उस प्रकार के ज्ञान में सहकारी कारण है अर्थात् संकेत को ग्रहण करने की शब्द में योग्यता नहीं है क्योंकि संकेत को ग्रहण करने वाला ज्ञान है न कि शब्द। सामग्री कार्य की जनक होती है तथा कोई भी कार्य एक कारण जन्य नहीं है यह बात प्रसिद्ध है।

बौद्ध—संकेत लक्षण सामग्री प्रेरणा में—नियोग में अथवा भावना-शब्द और पुरुषरूप भावना में व्यापार नहीं करती है किन्तु अर्थसंवेदन—अर्थ के ज्ञान में उस संकेत सामग्री की प्रवृत्ति है अर्थात् सामग्री अर्थ के ज्ञान में ही प्रवृत्ति करती है किन्तु स्थिर, स्थूल, साधारण आकार रूप बाह्य पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं करती है। यदि संकेत लक्षण सामग्री अर्थ ज्ञान में व्यापार न करे तब तो पुरुष की अर्थ में प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी, किन्तु जल का ज्ञान होने पर पुरुष उसमें स्नानादि की प्रवृत्ति करता है ऐसा देखा जाता है। अर्थ की प्रतीति होने पर पुरुष स्वयमेव—नियोग और भावना से निरपेक्ष रूप ही उस अर्थ में तदर्थी रूप से प्रवृत्ति करता है क्योंकि संकेत सामग्री से अर्थ का परिज्ञान होने पर पुरुष की प्रवृत्ति घटित होती है। "इदं कुरु" इस प्रकार से प्रेषण और अध्येषण रूप लिङर्थ की ही प्रतीति होती है। यदि उसकी प्रतीति न मानो तो नियुक्तत्व का ज्ञान नहीं होगा और नियोज्य—पुरुष का कार्य में व्यापार

१ शब्दस्य यतः स्वभावेन नियोजकत्वम् । २ कायस्येत्यव्याहारः । ३ सौगतमाशङ्क्य भट्टः प्राह । ४ अयं शब्दस्यायमर्थ इति सङ्केतः । ५ सङ्केतग्रहणे शब्दस्यायोग्यत्वात् सङ्केतग्राहकं ज्ञानं न तु शब्दः । ६ कार्यस्य । ७ बौद्धः । ८ सङ्केतलक्षणा सामग्री । ९ प्रेरणायामिति वा पाठः । नियोगे । १० उभयरूपायाम् । ११ यदिसङ्केतसामग्री न तत्र व्याप्रियते तदा पुरुषस्य कथमर्थे प्रवृत्तिरित्युक्ते आह । १२ सत्याम् । १३ नियोगभावनानिरपेक्षतया । १४ अर्थे । १५ सङ्केतसामग्र्या अर्थपरिज्ञाने सति प्रवृत्तिघटनात् । १६ किञ्च भावना हि प्रेषणाध्येषणरूपा । सा च प्रयोज्यप्रयोजकद्वयीं विना तयोश्च बाध्यमानप्रतीतिकत्वेनाऽसत्त्वात्कुतः सा भावना ? यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकामः । किञ्च प्रेषणाध्येषणयोरपि बहिरर्थरूपतया न शाब्दी प्रतीतिरस्ति बुद्ध्यारूपस्यैवार्थस्य शब्दवाच्यत्वादतः कथं तद्रूपा भावना शब्दाभिधेयो यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकाम इदं कुर्वित्याद्यारभ्य प्रज्ञाकर इतिपर्यन्त माह ।

(1) एतत्कुतः । (2) अर्थसंवेदने सामाग्र्याः प्रवृत्तिर्न तु स्थिरस्थूलसाधारणाकारे बाह्यार्थे । (3) संकेतसामग्री यदि न तत्र व्याप्रियेत पुरुषस्यार्थे प्रवृत्तिः कथमित्युक्ते आह । (4) अनेन प्रकारेण ।

[1]प्रेषणाद्ध्येषणयोरेव[1] हि प्रतीतिः—[2]तदप्रतीतौ [3]नियुक्तत्वाप्रतिपत्तेः। नियुक्तत्वं च नाम [2]कार्ये व्यापारितत्वम्[4]। कार्ये [3]व्यापृततामवस्थां प्रतिपद्य[4] नियोजको[5] नियुङ्क्ते[5]। सा च तस्य[6] भाविन्यवस्था न स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं शक्या। स्वरूपसाक्षात्करणे हि[6] सर्वं तदैव[7] सिद्धमिति न नियोगः[7] स्यात्सफलः। ततः प्रयोजको[8] बाध्यमानप्रतीतिक एव। तदुक्तम्।—

यथा प्रयोजकस्तत्र[9] बाध्यमानप्रतीतिकः। [8]प्रयोज्योपि [6]तथैव [10]स्याच्छब्दो [11]बुद्ध्यर्थवाचकः॥

यथैव हि [12]प्रयोजकस्य शब्दस्य प्रयोज्येन पुरुषेण [13]स्वव्यापारशून्यमात्मानं प्रतीयता प्रयोजकत्व-

---

कराना ही नियुक्तत्व है। कार्य में व्यापृत—प्रवृत्त हुई अवस्था को जान करके नियोजक—शब्द नियुक्त करता है और वह उस नियोजक की भाविनी—भविष्य में होने वाली अवस्था है उसका स्वरूप से साक्षात्कार करना शक्य नहीं है। क्योंकि स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने पर तो सभी उस काल में ही सिद्ध हो जावेंगे। अर्थात् "अग्निष्टोम" इत्यादि वाक्यों से यज्ञादि का करना और स्वर्ग को प्राप्त कराने के लिये निमित्तभूत पुण्य का उपार्जन ये सब कार्य उस काल में निष्पन्न ही हैं; पुनः नियोग का मानना सफल नहीं हो सकेगा इसलिए प्रयोजक बाध्यमान प्रतीति वाला ही है। यहां नियोग शब्द से प्रेरणा रूप भावना ग्रहण करना चाहिए। कहा भी है—

श्लोकार्थ—जिस प्रकार से भावीकार्य से व्यापृत अवस्था वाले नियोज्य में बाध्यमान प्रतीतिवाला प्रयोजक है उसी प्रकार से प्रयोज्य—पुरुष भी बाध्यमान प्रतीतिक—काल्पनिक ही है क्योंकि शब्द बुद्धि से परिकल्पित ही अर्थ का वाचक है॥

जिस प्रकार से प्रयोजक (प्रेरक) शब्द में यागविषयक स्वव्यापार से शून्य आत्मा का निश्चय कराते हुए प्रयोज्य पुरुष के द्वारा प्रयोजकत्व की प्रतीति बाध्यमान होती हुई निरालंबन है उसी प्रकार से प्रयोज्यत्व प्रतीति भी बाध्यमान होती हुई निरालंबन है तथा यज्ञलक्षण स्वव्यापार में अप्रविष्ट आत्मा का निश्चय न कराते हुए प्रयोज्य पुरुष के द्वारा ही वह बाधित हो जाती है। अथवा टिप्पणी के आधार से ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं कि "तथा यज्ञ लक्षण स्वव्यापार में अप्रविष्ट रूप आत्मा का निश्चय

---

१ लिङर्थयोः। २ नियोज्यस्य। ३ व्यापृततामवस्थामिति खपाठः। ४ आत्मना स्वीकृत्य। ५ शब्दव्यापारापरपर्यायप्रेरणादिरूपः शब्दः। ६ नियोजकस्य। ७ अग्निष्टोमेन यागादिकरणं स्वर्गप्रापणनिमित्तपुण्योपार्जनं च सर्वं निष्पन्नमेव तस्मिन्नेव काले। ८ पुरुषः। ९ काल्पनिकः। १० किञ्च शब्दात् प्रेषणादिप्रतीतिरपि न युक्ता। कुत इत्याह। ११ बुद्धिपरि कल्पितो यतः। १२ प्रेरकस्य। १३ यागविषय। स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतीयतेति पाठान्तरम्।

---

(1) सत्कारपूर्वकव्यापार। (2) कर्मणिस्वरूपं। (3) नत्वर्थस्य। (4) नियोज्यस्य (5) अर्थे नियोज्यं (6) व्यापृतावस्त्वकार्य चेति। (7) स्वव्यापारे अविशिष्टं सहितमित्यर्थः। नियोगे शब्देनात्र प्रेरणारूपभावना ग्राह्या। (8) शब्दव्यापारापरपर्यायः प्रेरणादिरूपः शब्दः। (9) भाविकार्यव्यापृततावति नियोज्ये।

प्रतीतिर्बाध्यमाना[१] निरालम्बना तथा प्रयोज्यत्वप्रतीतिरपि[२] तेनव[३] स्वव्यापारा[1]विष्टमात्मानमप्रतीयता[2] बाध्यते[४]। शब्दात् सा[५] प्रतीतिरिति च न युक्तम्[६]—तस्य[७] [3]बुद्ध्यर्थख्यापनत्वात्[4]। सोपि हि शब्दो बुद्ध्यर्थमेव [5]ख्यापयति। एवं [८]मया प्रतिपादितमेवं [९]मया प्रतिपन्नमिति—द्वयोरपि प्रतिपादकप्रतिपाद्ययोरध्यवसायात्। पौरुषेयवचनाद्धि मयैवं तावत्प्रतिपन्नमस्य[१०] तु वक्तु रय[११]मभिप्रायो भवतु मा वाभूदिति [१२]प्रतिपत्ताध्यवस्यति। अपौरुषेयादपि [१३]शब्दादेवमयमर्थो मया प्रतिपन्नोस्य[१४] भवतु मा वा भूदिति[१५] वक्तृव्यापारविषयो[१६] योर्थः पौरुषेयशब्दस्य यो वा बुद्धौ प्रकाशतेर्थः अपौरुषेयत्वाभिमतशब्दस्य तत्र[१७] प्रामाण्यं न

कराते हुए पुरुष के द्वारा वह प्रतीति बाधित ही है।

यदि आप कहें कि वह प्रतीति शब्द से ही होती है तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि वह शब्द बुद्धि से कल्पित अर्थ को ख्यापित—प्रगट करता है वह शब्द भी बुद्धि के अर्थ का ही ख्यापन करता है। इस प्रकार से मैंने प्रतिपादित किया है और इस प्रकार मैंने समझा है क्योंकि प्रतिपादक—गुरु और प्रतिपाद्य—शिष्य इन दोनों का अध्यवसाय—ज्ञान होता है अर्थात् मैंने यह प्रतिपादन किया, इस प्रकार गुरु में, तथा मैंने समझा, इस प्रकार शिष्य में, ऐसा इन दोनों में प्रतिपादक-प्रतिपाद्य सम्बन्ध पाया जाता है।

प्रतिपत्ता—श्रोता ऐसा निश्चय करता है कि पौरुषेय वचन से ही "मैंने इस प्रकार से जाना है" इस वक्ता—गुरु का यह अभिप्राय हो या न हो। इसी प्रकार से अपौरुषेय वेद वाक्य से भी "इस प्रकार से मैंने यह अर्थ जाना है इस अपौरुषेय शब्द का यह अर्थ हो या न हो"। ऐसा प्रतिपत्ता—पुरुष जानता है। ऐसा वक्ता के व्यापार का विषयभूत जो अर्थ पौरुषेय शब्द का श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित होता है और इसी प्रकार से अपौरुषेय रूप से स्वीकृत शब्द का जो अर्थ बुद्धि में प्रकाशित होता है उसमें वह शब्द व्यापार ही प्रमाण है किन्तु बाह्यार्थ तत्त्व निमित्तक प्रमाणता नहीं है इसलिए विवक्षा में आरूढ़ अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है किन्तु भावना यह वेदवाक्य का अर्थ नहीं है।

यहां तक प्रज्ञाकर बौद्ध ने कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ पर बौद्धों का ऐसा आरोप है कि भाट्ट शब्द के व्यापार को भावना कहते हैं और प्रभाकर को खुश करने के लिए उसी भावना को नियोग कह रहे हैं वे कहते हैं कि भावना से भिन्न

१ सती। २ बाध्यमाना सती निरालम्बनेति शेषः। ३ पुंसा। ४ प्रयोज्येन। ५ प्रेरणाप्रेषणयोः सम्बन्धिनी। ६ इतो वदति बौद्धः।—सा भाविनी प्रतीतिः शब्दाज्जायते इति हे भट्ट यदुक्तं त्वया तद्वक्तुं युक्तं न। ७ शब्दस्य। ८ गुरुणा। ९ शिष्येण। १० गुरोः। ११ बुद्ध्यारूढः। १२ श्रोता। १३ वेदवाक्यात्। १४ अपौरुषेयस्य। १५। प्रतिपत्ताध्यवस्यतीति सम्बन्धः। १६ प्रतिपन्नार्थाव्यभिचारी। वक्तृव्यापारो विवक्षा। १७ बुद्ध्यर्थे।

(1) स्वव्यापारे अविष्टं यागलक्षणे व्यापारेऽप्रविष्टमित्यर्थः। (2) आत्मानं प्रतीयता इति पा.। (3) बुद्धिशब्देन कल्पना। (4) ख्यापकत्वात् इति पा.। (5) कल्पनारूढत्वमुल्लिखति।

पुनर्बाह्यार्थतत्त्वनिबन्धनम्[१] । तदुक्तम् ।—

वक्तृव्यापारविषयो योर्थो [२]बुद्धौ प्रकाशते । [३]प्रामाण्यं [४]तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्व[५]निबन्धनम् ॥

इति वचनात् । ततो विवक्षारूढ एवार्थो वाक्यस्य, न पुनर्भावनेति प्रज्ञाकरः[६] ।

[प्रत्यक्षवच्छब्देनापि बाह्यपदार्थस्य ज्ञानं भवति]

[७]सोपि न परीक्षकः—[८]प्रत्यक्षादिव शब्दाद्बहिरर्थप्रतीतिसिद्धेः[1] । यथैव हि प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तृप्रणिधान[2]सामग्रीसव्यपेक्षात्प्रत्यक्षार्थ[८]प्रतिपत्तिस्तथा सङ्केतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छ-

---

नियोग नाम की कोई चीज ही नहीं है इस पर हमारा ऐसा कथन है कि "अग्निष्टोमेन यजेत्" वाक्य से संकेत को न समझने वाला कोई बालक या मूर्ख पुरुष भी यज्ञकार्य में नियुक्त हो जावे क्योंकि शब्द तो स्वभाव से ही नियोजक–प्रेरक हैं।

इस पर भाट्ट ने उत्तर दिया कि इस शब्द का यह अर्थ है कि पृथुबुध्नाकार—गोल-मटोल को घट कहना, कागज के पन्नों से सहित को पुस्तक कहना इत्यादि संकेत के अनुसार ही कार्य होता है अतः शब्द में संकेत को ग्रहण करने की योग्यता नहीं है क्योंकि संकेत को ग्रहण करने वाला ज्ञान है। अतः वेदवाक्य के द्वारा यज्ञ का संकेत ज्ञान में सहकारी कारण है। इस पर फिर बौद्ध बोल पड़ता है कि संकेत शब्दभावना और पुरुषभावना में व्यापार नहीं करता है वह संकेत अर्थ ज्ञान में व्यापार करता है और पदार्थ रूप अर्थ का ज्ञान होने से ही वह पुरुष जलादि में प्रवृत्ति करता है। मतलब यह है कि शब्द, विवक्षा में आरूढ़ हुए अर्थको कहते हैं। बौद्धों ने वही बात अपने ग्रन्थों में कही है कि वक्ता-गुरु के व्यापार का विषयभूत जो अर्थ श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित हो रहा है उसी अर्थ को कहने में शब्द प्रमाणीक हैं किन्तु वास्तविक अर्थ–तत्त्व को कारण मानकर शब्द की प्रमाणता का कोई खास कारण नहीं है। वक्ता की बुद्धि सम्बन्धी व्यापार से जाना गया अर्थ यदि शिष्य की बुद्धि में प्रकाशित हो गया तो उस अंश में शब्द प्रमाण हैं बाह्य अर्थ हो या न हो कोई आकांक्षा नहीं है।

[प्रत्यक्ष के समान शब्द से भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है

भाट्ट—ऐसा कहने वाले आप प्रज्ञाकर बौद्ध भी परीक्षक नहीं हैं। प्रत्यक्ष के समान ही शब्द से बाह्य पदार्थ की प्रतीति होना सिद्ध है।

जिस प्रकार से प्रत्यक्ष से ज्ञाता के उपयोग रूप अंतरंग और बाह्य सामग्री की अपेक्षा से प्रत्यक्ष

---

१ बाह्यपदार्थस्वरूपकारणकम् । २ श्रोतुर्बुद्धौ । ३ उपाध्यायव्यापारगम्यार्थशिष्यबुद्धिप्रकाशमानार्थे शब्दस्य प्रामाण्यम् । ४ बुद्धयारूढेर्थे । ५ बाह्यतत्त्व । ६ बौद्धः । ७ इतो भाट्टो वदति । ८ प्रत्यक्षविषयार्थ ।

---

(1) प्रतिपत्तिसिद्धेः इति पा. । (2) एकाग्रता ।

ब्दार्थ[१]प्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा—अन्यथा[२] ततो वहिरर्थे[1] प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात्। न चार्थ[2]वेदनादेवार्थे पुरुषस्यार्थिनः स्वयमेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्तक इत्येव वक्तुं युक्तम्—[३]प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्—तदर्थेपि[४] [५]सर्वस्याभि[६]लापादेव प्रवृत्तेः । [७]परम्परया प्रत्यक्षादिप्रवर्त्तकमिति चेत् तथा[८] वचनमपि प्रवर्त्तकमस्तु—विशेषाभावात्[3]। यथा च प्रत्यक्षस्य सलिलादिरर्थः—तस्य तत्र प्रतीतेस्तथा वाक्यस्य भावना प्रेरणा वा तस्यैव[९] तत्र[१०] प्रतीतेरबाध्यमानत्वात् ।

के विषयभूत पदार्थ का ज्ञान होता है तथैव संकेत सामग्री की अपेक्षा रखने वाले शब्द से ही शब्द के विषयभूत अर्थ का ज्ञान होता है और यह ज्ञान सकल जनों में सुप्रसिद्ध है। अन्यथा—यदि आप शब्द से वहिरंग घट पटादि पदार्थों का ज्ञान न मानों तव तो उन शब्दों से वाह्य पदार्थ का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उनकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी और जहाँ पर बाह्य पदार्थ में प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है वही शब्द का अर्थ है ऐसा समझना।

भावार्थ—शब्द से वाह्य पदार्थ का ज्ञान न मानने पर तो जलादि शब्द से वाह्य पदार्थ जलादि में प्यासे पुरुष को जलादि का परिज्ञान होना, उसके पास जाना, स्नान करना, पीना, लाना आदि रूप प्रवृत्ति और प्राप्ति कुछ भी नहीं हो सकेगी।

पदार्थ का ज्ञान होने से ही उस पदार्थ में उसके इच्छुक जनों की स्वयमेव प्रवृत्ति हो जाती है इसलिए शब्द अप्रवर्त्तक ही हैं ऐसा कहना भी शक्य नहीं है। अन्यथा प्रत्यक्ष आदि भी इस प्रकार से अप्रवर्त्तक हो जावेंगे। क्योंकि प्रत्यक्ष के विषयभूत अर्थ में भी सभी मनुष्यों की शब्द से ही प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि आप कहो कि परम्परा से—प्रत्यक्ष से अर्थ का ज्ञान होता है उस अर्थ के ज्ञान से अभिलाषा होती है पुनः अभिलाषा से प्रवृत्ति होती है अतः परम्परा से प्रत्यक्षादि प्रवर्त्तक हैं।

ऐसा मानने पर तो उसी प्रकार से वचनों को भी परंपरा से प्रवर्त्तक मान लो दोनों में कोई अंतर नहीं है। अर्थात् शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है उस ज्ञान से अभिलाषा होती है और उस अभिलाषा से

---

१ शब्दविषयार्थ। २ शब्दाद् घटादिवाह्यपदार्थप्रतिपत्तिर्न भवति चेत्तदा ततः शब्दाद्वहिरर्थे जलादौ पिपासितादेः पुंसो जलादि परिज्ञानं, तत्समीपे गमनं, स्नानपानानयनादिरूपा तत्प्राप्तिश्च न घटते । ३ अन्यथा। ४ प्रत्यक्षार्थे। ५ नुः । ६ शब्दात् । अभिलाषादिति च क्वचित्पाठः । ७ प्रत्यक्षादर्थप्रतिपत्तिस्ततोभिलाषस्ततः प्रवृत्तिरिति। ८ भाट्टः । ९ भावनाप्रेरणारूपस्यार्थस्य । १० भावनाप्रेरणयोः ।

---

(1) यत्र हि प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयः समधिगम्यंते स शब्दार्थ इति वचनात्। (2) संवेदना इति पा.। (3) शब्दार्थप्रतिपत्तिस्ततोऽभिलापस्ततः प्रवृत्तिरिति ।

[वचनेन कार्यस्य साक्षात्कारो भवति न वेति विचारः]

[1]नन्विदं कुर्विति वचनात्कार्ये[2] व्यापारितत्वं पुरुषस्य नियुक्तत्वम् । न च कार्ये [1]व्यापृततावस्था भाविनी तेन[2] साक्षात्कर्त्तुं शक्या—[3]तत्साक्षात्करणे नियोगस्याफलत्वप्रसङ्गात् । ततो बाध्यमानैव [4]तत्प्रतीतिरिति । [5]तदेतदसमञ्जसमालक्ष्यते—[6]अन्यत्रापि समानत्वात् ।

प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार से प्रत्यक्ष के जलादि पदार्थ विषय हैं उसकी वहाँ प्रतीति होती है उसी प्रकार से वेदवाक्य का भावना अथवा प्रेरणा अर्थ है उन भावना अथवा प्रेरणा रूप अर्थ की ही वहाँ उनमें प्रतीति होती है इसमें भी बाधा नहीं है।

विशेषार्थ—भाट्ट ने कहा कि आप प्रज्ञाकर बौद्ध प्रज्ञाकर न होकर प्रज्ञाशून्य ही हैं क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान से बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो रहा है वैसे ही शब्दों से बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो रहा है। जिस प्रकार से पुरुष के उपयोग रूप अंतरंग सामग्री और इन्द्रिय के सन्निकट पदार्थ आदि रूप बहिरंग सामग्री से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वैसे ही संकेत सामग्री से ही शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। यदि शब्द से, बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होवेगा तब तो जल शब्द से जल का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति करना, उसे लाना, प्यास बुझाना, स्नान आदि करना कैसे हो सकेगा ? अतः शब्द से बाह्य पदार्थों का ज्ञान मानना उचित है। एवं यदि बिना संकेत ग्रहण किये गए ही शब्द वस्तु का ज्ञान करा देंगे तब तो बिना संकेत के मनुष्य, तिर्यंच या बालक अथवा गूंगे भी कठिन शास्त्रों का अर्थ समझ जावेंगे। विद्यालयों में पाठकों की आवश्यकता नहीं रहेगी। अतएव "इस शब्द का यह अर्थ है" जल शब्द से वाच्य वस्तु जल एवं अग्नि शब्द से वाच्य उष्ण अग्नि है। इन इशारों को संकेत कहते हैं। परीक्षामुख में भी कहा है कि "सहजयोग्यता संकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्ति हेतवः ॥९६॥ यथा मेर्वादयः संति" ॥९७॥" अर्थों में वाच्य रूप तथा शब्दों में वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है, जिसमें संकेत हो जाने से ही शब्दादिक पदार्थों के ज्ञान में हेतु हो जाते हैं। जैसे सुमेरु आदि हैं ऐसा मेरु शब्द के कहने या सुनने मात्र से ही जंबूद्वीप के मध्य स्थित सुमेरु का ज्ञान हो जाता है क्योंकि शिष्य को मेरु का संकेत मालूम था उसी प्रकार से सर्वत्र ही शब्द से अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अतएव शब्द सर्वथा प्रवृत्ति कराने वाले नहीं है ऐसा एकांत गलत है।

[शब्द से कार्य का साक्षात्कार होता है या नहीं इस पर विचार]

सौगत—"इदं कुरु" इस वचन से याग लक्षण कार्य में पुरुष का व्यापार होना ही नियुक्तत्व है। एवं कार्य में होने वाली व्यापार की अवस्था उस नियोज्य-पुरुषके द्वारा साक्षात् नहीं की जा सकती है

१ सौगतः । २ यागलक्षणे । ३ भावनाप्रेरणालक्षणार्थस्य । ४ व्यापृतत्व । ५ भट्टः । ६ प्रत्यक्षादावपि बाध्यमान-प्रतीतित्वस्य समानत्वात् ।

(1) व्यापृतावस्था इति पा. । (2) नियोज्येन ।

प्रत्यक्षस्य हि प्रवर्तकत्वं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वमुच्यते । प्रवृत्तिविषयश्चार्थ[१]क्रियाकारी सलिलादिः । सा च [२]तस्यार्थक्रियाकारिता भाविनी न साधनावभासिना[1] वेदनेन[३] साक्षात्कर्त्तुं शक्या[2] [४]तत्साक्षात्करणे प्रवृत्तिवैफल्यात् । ततोऽध्यक्षस्य प्रवर्त्तकत्वं बाध्यमानप्रतीतिकं [3]कथमेवेति न शक्यं वक्तुम्[५] । [६]यदि पुनरर्थक्रियाकारिताऽनागतापि साधनावभासिनि [७]वेदने प्रतिभातैव–[4]एकत्वाध्यवसायात्[८] तदा शब्दादपि पुरुषस्य कार्यव्यापृतता[९] [१०]तत एव प्रतिभातैवेति किं नानुमन्यते[११]।[१२]तथा सति बुद्ध्यारूढोर्थःशब्दस्य स्यादिति [१३]चेत्तथापि[5] प्रत्यक्षस्य

यदि भावना अथवा प्रेरणा लक्षण अर्थ को साक्षात् करना मानोगे तब तो नियोग ही निष्फल हो जावेगा। इसलिए यह प्रतीति बाधित ही है ।

भाट्ट—यह आपका कथन असमञ्जस ही मालूम पड़ता है क्योंकि अन्यत्र–प्रत्यक्षादि में भी यह बाध्यमान प्रतीति समान ही है इसका कारण यह है कि प्रवृत्ति के विषय को दिखलाना ही तो प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व कहा गया है। एवं प्रवृत्ति के विषय जलादि हैं जो कि स्नान, पानादि रूप से अर्थक्रिया-कारी हैं और वह जलादि की अर्थक्रियाकारिता भाविनी—भविष्यत् में होने वाली है। स्नानपान आदि क्रिया के साधन जलादि हैं, वे साधन जिस ज्ञान में झलकते हैं वह ज्ञान साधनावभासी है वह भाविनी अर्थक्रियाकारिता साधनावभासी प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा साक्षात् नहीं की जा सकती है। यदि आप भाविनी अर्थक्रियाकारिता को साक्षात् करना मानोगे तब तो उसमें प्रवृत्ति ही विफल हो जावेगी, इसलिए प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व बाधित प्रतीति वाला कैसे है ? ऐसा भी आपको कहना शक्य नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष भी बाधित प्रतीति वाला ही है ।

सौगत—अनागत—भविष्य में होने वाली भी अर्थक्रियाकारिता साधनावभासी प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रति-भासित ही होती है क्योंकि भाविनी अर्थ क्रियाकारिता और प्रत्यक्ष इन दोनों में एकत्व का ज्ञान हो रहा है अर्थात् दृश्य और प्राप्य में एकत्व का अध्यवसाय होता है। यहां दृश्य कहने से जल समझना और प्राप्य

---

१ स्नानपानादि । २ सलिलादेः । ३ प्रत्यक्षेण । ४ भाविन्यर्थक्रियाकारितायाः प्रत्यक्षीकरणे सति । ५ कुतः ? यतो बाध्यमानप्रतीतिकमेवेति । ६ हे सौगत त्वमेवं वदसि । ७ प्रत्यक्षे । ८ भाविन्यर्थक्रियाकारिताप्रत्यक्षयोरैक्याधारत्वात् । ९ अनागतता । १० पुरुषव्यापृततावस्थयोरेकत्वाध्यवसायादेव । ११ भवद्भिः सौगतैः । १२ बौद्धः । १३ भाट्टः ।

---

(1) दृश्यं—सलिलं । स्नानपानादिक्रियायाः साधनं जलादिः । (2) पुरुषस्य (3) बाध्यमानप्रतीतिकमेव इति शक्यं वक्तुं । इति पा. । (4) दृश्यप्राप्ययोः । दृश्यमित्युक्ते जलं प्राप्यमित्यर्थक्रिया, तयोरेकत्वाध्यवसायात् । दृश्ये जले भाविन्यर्थक्रियायाः सद्भावात् । (5) तवापि इति पा. ।

बुध्द्यध्यवसितोर्थः किन्न भवति[1]। ततो[2] निरालम्बनमेव प्रत्यक्षं न[१] स्यात्। [२]परमार्थतः प्रत्यक्षमपि न प्रवर्त्तकम् स्वरूपस्य [३]स्वतो गतेः संवेदनाद्वैतस्य वा सिद्धिरिति चेत् [४]पुरुषाद्वैतस्य

कहने से अर्थक्रिया लेना इन दोनों में एकत्व का अध्यवसाय है। मतलब दृश्य जल में भविष्य में होने वाली अर्थक्रिया—स्नान पानादि का सद्भाव है।

भाट्ट—यदि आप सौगत ऐसा कहते हैं तब तो शब्द से भी पुरुष का अनागत कार्य—व्यापार उसी एकत्व ज्ञान रूप हेतु से प्रतिभासित ही होता है ऐसा भी आप क्यों नहीं मान लेते हो ?

यदि आप कहें कि वैसा होने पर बुद्धि से आरूढ़ अर्थ शब्द का विषय होता है तब तो उसी प्रकार से आपके यहां भी प्रत्यक्ष का भी अर्थ बुद्धि से अध्यवसित पदार्थ क्यों नहीं हो जावे क्या बाधा है? क्योंकि स्नान पान आदि क्रियायें तो भाविनी ही हैं पुनः प्रत्यक्ष भी निरालंबन ही क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् प्रत्यक्ष भी निरालंबन रूप ही हो जावेगा।

भावार्थ—बौद्ध कहता है कि "इदं कुरू" यह करो इस वचन से यज्ञ में पुरुष की प्रवृत्ति होना ही नियुक्त होना है एवं यज्ञ कार्य में होने वाली प्रवृत्ति उस वचन से साक्षात् नहीं की जा सकती है यदि भावना या प्रेरणा लक्षण अर्थ का साक्षात्कार करना मानोगे तब तो नियोग का फल क्या रहेगा ? इस पर भाट्ट ने कहा कि ऐसी बाधा तो प्रत्यक्षादि ज्ञान में भी आ सकती है क्योंकि प्रवृत्ति के विषयभूत जलादि को दिखाना ही प्रत्यक्ष का प्रवर्तकपना है और जलादि की अर्थक्रिया—उसमें स्नान पान आदि करना वह तो कार्य और फल भविष्य में होता है। अर्थक्रिया के साधनभूत जल को बतलाने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान उस भविष्य की स्नान पान आदि अर्थक्रिया को साक्षात् नहीं करता है यदि बौद्ध कहें कि भविष्य में होने वाली अर्थक्रिया—कार्य प्रत्यक्ष ज्ञान में झलक रहा है क्योंकि भविष्य के कार्यरूप अर्थक्रिया और प्रत्यक्ष इन दोनों में एकत्व दिख रहा है। तब तो आप बौद्ध ऐसा भी मान लो कि शब्द के द्वारा भविष्य में होने वाला यज्ञ कार्य उस शब्द में झलक रहा है शब्द के बोलने पर प्रतीति में आ रहा है। यदि आप कहें कि ज्ञान में प्रतिभासित अर्थ ही शब्द का विषय है तब तो ज्ञान में झलकते पदार्थ ही प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं ऐसा भी मानों पुनः प्रत्यक्ष ज्ञान निरालंबन हो गया अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय कुछ भी पदार्थ नहीं रहा, "मात्र ज्ञान में ही पदार्थ झलक रहे हैं कुछ बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं" ऐसी विज्ञानाद्वैत की मान्यता ही सिद्ध हो जावेगी।

बौद्ध—परमार्थ से प्रत्यक्ष भी प्रवर्त्तक नहीं है क्यों कि "स्वरूपस्य स्वतो गतेः" ज्ञान की स्वयं ही प्रवृत्ति हो जाती है अथवा संवेदनाद्वैत की स्वयं ही सिद्धि मानी गयी है।

---

१ कुतो न स्यात् ? अपि तु स्यादेव। २ बौद्धः। ३ ज्ञानस्य स्वस्मादेव प्रवृत्तिर्न तु वहिरर्थात्। ४ भाट्टः।

---

(1) स्नानपानादि क्रिया भाविनी यतः। (2) यतो इति पा.।

कुतो न सिद्धिः ? तस्य नित्यसर्वगतस्यैकस्य[1] [१]संवित्त्यभावादिति चेत् क्षणिकनिरंशस्यैकस्य संवित्तिः किं कस्यचित्कदाचिदस्ति ? यतस्तत्सिद्धिरेव स्यात् । [2]ततः पुरुषाद्वैतवत्संवेदनाद्वैतस्य सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्तेः[२]भेदवादे[३] च प्रत्यक्षस्य [3]प्रवर्त्तकत्वायोगाद्भिन्नाभिन्नात्मकं[4] वस्तु[5] प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्[४] [५]विरोधादेश्चित्रज्ञानेनोत्सारितत्वात् । [६]भेदस्याभेदस्य[७] वा [८]सांवृतत्वे सर्वथार्थक्रियाविरोधात् । तथा[6] च शब्दात्कार्यव्यापृततया[7] व्यक्तिरूपेण

भाट्ट—ऐसा कहो तो पुरुषाद्वैत की सिद्धि भी क्यों नहीं हो जावेगी ?

बौद्ध—उस नित्य, सर्वगत, एक स्वरूप परम पुरुष का ज्ञान ही नहीं होता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो क्षणिक, निरंश, एक ज्ञानाद्वैत रूप का संवेदन—ज्ञान किसी को कदाचित् हुआ है क्या ? जिससे कि उसकी ही सिद्धि हो सके अर्थात् वह संवेदनाद्वैत भी असिद्ध ही है ।

इसलिए पुरुषाद्वैत के समान संवेदनाद्वैत की व्यवस्था करना सर्वथा अशक्य है एवं सर्वथा भेदवाद में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति का अभाव है क्योंकि प्रवर्तकत्व का अर्थ ही अपने विषय को दिखला देना है । अतः आप सौगत को भिन्नाभिन्नात्मक ही वस्तु प्रतीति में आती हुई माननी चाहिए । अर्थात् भिन्नाभिन्नात्मक वस्तु को मानने का कथन भाट्ट जैनमत का आश्रय लेकर कह रहा है ।

दृश्य और प्राप्य रूप आकार से भेद और वस्तु रूप से अभेद मानना चाहिए और उसमें विरोध आदि दोषों का उत्सारण–निवारण चित्र ज्ञान के दृष्टांत से कर ही दिया है अर्थात् एक ही वस्तु भिन्न रूप भी है और अभिन्न रूप भी है इस मान्यता में तो परस्पर विरोध है इत्यादि, इन दोषों का परिहार चित्र ज्ञान को एकानेक सिद्ध करके पहले ही कर दिया है । दृश्य-देखने योग्य जल और प्राप्य-स्नान पानादि से प्रवृत्ति योग्य अर्थ में सर्वथा भेद मानने पर तो हे सौगत ! पूर्व का जल ज्ञान और उत्तर में स्नान, पान आदि प्रवृत्ति रूप ज्ञान में सर्वथा भेद प्रतिपादन करने पर तो पुनः प्रत्यक्ष अपनी प्रवृत्ति के विषय का उपदर्शक—बतलाने वाला भी नहीं हो सकेगा । अतः कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद रूप वाली वस्तु ही स्वीकार करना उचित है ।

सर्वथा भेद रूप क्षणिक वस्तु को अथवा सर्वथा अभेद रूप नित्य वस्तु को सांवृत्त-काल्पनिक मानने पर उसमें सर्वथा ही अर्थक्रिया का विरोध आता है । अर्थात् द्रव्यवादी सांख्य भेद को कल्पित मानता है

१ प्रतीति । २ दृश्यप्राप्ययोरर्थयोः सर्वथा भेदे । ३ हे सौगत पूर्वजलज्ञानोत्तरस्नानपानप्रवृत्तिज्ञानयोः सर्वथा भेदप्रतिपादने तावत्प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकं न स्याद्यतः । ४ भवद्भिः सौगतैः । ५ विरोधादेर्दोषस्य चित्रज्ञानदृष्टान्तेन निराकृतत्वात् । ६ क्षणिकस्य । ७ नित्यस्य । ८ काल्पनिकत्वे सति (असत्यत्वे) द्रव्यवादी सांख्यो भेदं सङ्कल्पितं मनुते । पर्यायवादी बौद्धोऽभेदं सङ्कल्पितं मनुते । एवमुभयोः कल्पितत्वे वस्तुनः सर्वथापि नार्थक्रिया घटते ।

(1) तत्प्रतीतिर्वास्ति यतः । (2) स एव भाट्टः प्राह । (3) प्रवर्तकत्वं नाम स्वविषयोपदर्शकत्वं । (4) दृश्यप्राप्याकारेण भेदो वस्तुत्वेनाभेदः । (5) जलादि । (6) भेदाभेदात्मकत्वेन वस्तुनः प्रतीतिसिद्धत्वे च । (7) अवस्थायाः ।

भाविन्या अपि शक्तिरूपेण पुरुषस्य सतः[१] कथञ्चिदभिन्नाया [1]शब्दज्ञाने तदैव[२] प्रतिभासनेपि न नियोगो निष्फलः स्यात् [३]प्रत्यक्षतः सलिलादौ प्रवृत्तिवत् । [४]तत्र हि सलिलादेरर्थक्रिया-[५]योग्यताप्रतिभासनेपि व्यक्तयर्थक्रियानुभवाभावात्तदर्थप्रवर्त्तनं प्रतिपत्तुः[2] सफलतामियर्त्ति नान्यथा[६] । [७]एवं शब्दादात्मनः[८] [९]कार्यव्यापृततायोग्यताप्रतिपत्तावपि [१०]व्यक्तकार्यव्यापृततानुभवाभावात् [3]पुरुषस्य [११]नियोगः सफलतामियात्—तथा [१२]प्रतीतेरेव चाध्यक्षत्वसिद्धेः । [१३]ततो

और पर्यायवादी बौद्ध अभेद को कल्पित कहता है। इन दोनों को कल्पित रूप मानने पर वस्तु में सर्वथा ही अर्थक्रिया घटित नहीं होती है और भेदाभेदात्मक रूप से वस्तु की सिद्धि हो जाने पर उसी प्रकार वह अर्थ क्रिया शब्द से कार्य में व्यापृत है। व्यक्ति रूप से भाविनी-भविष्य में होने वाली होते हुए भी शक्ति रूप से विद्यमान पुरुष से कथंचित् अभिन्न ही है। वह अर्थक्रिया (यज्ञ) शब्द ज्ञान में "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि शब्दोच्चारण के काल में प्रतिभासित होने पर भी नियोग निष्फल नहीं हो सकता है, जैसे प्रत्यक्ष से जलादि में प्रवृत्ति निष्फल नहीं है उसी प्रकार शब्द से नियोग भी निष्फल नहीं है।

उस प्रत्यक्ष में जलादि की अर्थक्रिया की योग्यता—सामर्थ्य का प्रतिभासन होने पर भी व्यक्ति रूप अर्थ क्रिया का अनुभव नहीं है अतएव उस व्यक्ति रूप अर्थक्रिया की प्रवृत्ति के लिए उस विषय में प्रवृत्त होना मनुष्य का सफलीभूत ही रहता है अन्यथा—प्रवृत्ति के विना अर्थक्रिया का अनुभव नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रत्यक्ष से जल देखा, उस समय उस जल में स्नान पान आदि की योग्यता है यह वात शक्ति रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान में झलक गयी पुनः स्पष्टतया स्नान पान आदि अर्थ क्रिया तो आगे होती है अतः स्नान पानादि की प्रवृत्ति के लिए उस प्रत्यक्ष ज्ञान से गृहीत जल में स्नानादि से प्रवृत्ति करता है क्योंकि प्रवृत्ति किये विना अर्थक्रिया का अनुभव नहीं होता है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान सफलीभूत है।

इसी प्रकार शब्द से पुरुष की याग लक्षण कार्य-व्यापार की योग्यता के जान लेने पर भी व्यक्त-प्रकट रूप याग लक्षण कार्य रूप व्यापार का अनुभव नहीं होने से पुरुष का नियोग सफल ही है क्योंकि उस प्रकार से प्रतीति भी होती है और वह प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है अतः जैसे प्रत्यक्ष से वाह्य पदार्थों की प्रतीति

१ स्वतः इति पाठान्तरम् । २ स्वर्गकामोग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिवाक्योच्चारणकाले । ३ यथा प्रत्यक्षाज्जलादौ प्रवृत्तिर्निष्फला न स्यात्तथा शब्दान्नियोगो निष्फलो न स्यात् । ४ प्रत्यक्षे । ५ सामर्थ्ये । ६ प्रवर्त्तनमन्तरेणार्थ-क्रियानुभवो न स्यात्। व्यक्तार्थक्रियानुभवे सति जलक्रियार्थ प्रवर्त्तनं पुरुषस्य सफलतां न प्राप्नोति। ७ प्रत्यक्षप्रकारेण (भाट्टः) । ८ पुरुषस्य । ९ यागलक्षण । १० यागलक्षण । ११ कर्तृभूतः । १२ प्रतीतेरेवाऽवाध्यत्वसिद्धेरिति पाठा-न्तरम् । १३ प्रत्यक्षादिव शब्दाद्वहिरर्थप्रतिपत्तिसिद्धिर्यतः प्रयोज्यप्रयोजकप्रतीतिश्च सत्या प्रतिपादिता यतः ।

(1) शब्दज्ञाने इति पा.। (2) तदर्थ प्रवर्तनं। (3) पुरुषस्य तदर्थो नियोगः इति पा.।

न विवक्षारूढ एव शब्दस्यार्थः प्रमाणबलादवलम्बितुं युक्तः सन्मात्रविधिवत् ।

[कारकभेदेन क्रियायाः भेदाभेदविचारः]

[1]यदप्युक्तम् ।—नियोगो यदि शब्दभावनारूपो वाक्यार्थस्तथा सति देवदत्तः [1]पचेदिति कर्त्तुरनभिधाना[2]त्कर्तृकरणयो[2]स्तृतीयेति [3]तृतीया प्राप्नोति[3] । कर्त्तुरभिधाने [4]त्वनभिहिताधिकारात्तिङैव[5] चोक्तत्वान्न[4] [5]भवतीति । [6]तदप्ययुक्त[6]——[7]भावनाविशेषणत्वेन

होती है उसके समान ही शब्द से वाह्य अर्थ का ज्ञान सिद्ध है क्योंकि प्रयोज्य और प्रयोजक–पुरुष एवं शब्द की प्रतीति सत्य ही है इसलिए विवक्षा में आरुढ़ ज्ञान में प्रतिभासित होना ही शब्द का अर्थ है ऐसा प्रमाण के वल से अवलंवन--स्वीकार करना युक्त नहीं है जैसे कि वेदवाक्य का अर्थ सन्मात्र विधि है यह कथन ठीक नहीं है ।

भावार्थ—जव भाट्ट ने प्रत्यक्ष के विषय को निरालंव—शून्य सिद्ध किया तव तो विज्ञानाद्वैतवादी वौद्ध को अवकाश मिल गया और उसने कहा कि वास्तव में प्रत्यक्ष भी प्रवर्तक नहीं है क्योंकि "स्वरूप का ज्ञान स्वयं ही होता है" अतएव वाह्य पदार्थ कोई चीज ही नहीं है केवल ज्ञानमात्र ही तत्त्व है। इस पर भाट्ट ने कहा कि फिर आप वेदांतियों के ब्रह्माद्वैत को भी मानों । यदि कहो नित्य, एक परम पुरुष दिखता नहीं है तव क्या निरंश, क्षणिक एक रूप ज्ञान किसी को दिखता है ? अतः सौगत के द्वारा मान्य सर्वथा भेदवाद भी गलत ही है । मतलव दृश्य-जल और प्राप्य--पीने के लिए जल का ग्रहण आदि रूप भविष्यत् में होने वाली अर्थक्रिया ये दोनों यदि सर्वथा भिन्न हैं फिर जो शब्द से जल को सुनकर जल को देखेगा वही मनुष्य उस जल को पीने, लाने या उसमें नहाने की प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा । अतः यह स्नानपानादि अर्थक्रिया शब्द से यज्ञ कार्य रूप व्यापार में है, व्यक्त-स्पष्ट रूप से भविष्य में होने वाली है फिर भी शक्ति रूप से पुरुष से अभिन्न है और शब्द के ज्ञान में झलक रही है फिर भी नियोग निष्फल नहीं है ।

[कारकों के भेद से क्रिया में भेदाभेद का विचार]

और जो आपने कहा है कि शब्द भावना रूप नियोग वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा होने पर तो "देवदत्तः पचेत्" इस प्रकार से कर्ता का कथन नहीं होने से अप्रधान कर्ता और करण में तृतीया होती है

१ भाट्टो वदति । (प्रज्ञाकरेण स्वग्रन्थे) । २ अप्रधानयोः । ३ विभक्ति । ४ कर्त्तुः । ५ तृतीया । ६ भाट्टः । ७ अर्थभावना ।

(1) शब्दभावनारूपस्य नियोगस्य । (2) देवदत्तः पचेदिति वाक्यं यदि शब्दभावना रूपं नियोगं प्रतिपादयति तदा कर्ता अनुक्तो भवति । पचेदिति क्रिया कर्तारं न प्रतिपादयति नियोगप्रतिपादनपरत्वात्तस्याः । (3) अनभिहिताधिकारात्तृतीया भवति अभिहिते कर्तरि तृतीया न भवति तिङोक्तत्वात् । (4) अनभिहिते कर्तरि । (5) पचेदिति । (6) नियोगस्य तच्छेपत्वादप्रधानत्वादवाक्यार्थत्वमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणास्य मुख्यवृत्त्या वाक्यार्थत्वाभावं मन्वानस्तत्रोक्तदोषमपरिहरन्मुख्यवृत्त्या वाक्यार्थभूतार्थभावनायामेव तं परिहरन्नाह । उक्तदोषस्य तत्राप्यनुषंगात् । (1)

कर्त्तुः प्रतिपादनात् । [१]भावना हि करोत्यर्थः । [२]स च देवदत्ताकर्त्तृकः प्रतिभाति । पचेद् देवदत्तः पाकं कुर्यादिति पाकावच्छिन्नायाः करणक्रियाया देवदत्तकर्त्तृकायाः प्रतीतेः—[३]सकृदेव विशेषणविशेष्ययोः प्रतिभासाविरोधात् नीलोत्पलादिवत् । [४]ततो नेदं प्रज्ञाकरवचश्चारु ।

"[५]क्रमप्रतीतेरेवं[1] स्यात् प्रथमं भावनागतिः । तत्सामर्थ्यात्पुन[६]: पश्चाद्यतः[2] कर्त्ता प्रतीयते[3] ॥"

इति यदभ्यधायि[७] [८]द्विवचन[4]बहुवचने च [5]प्राप्नुतः—एकत्वाद्व्यापारस्य[6] । [7]अथ [8]कारक-

इस कथन से तृतीया विभक्ति प्राप्त होती है एवं कर्ता का कथन करने में अभिहित का अधिकार न होने से लिङ्ग के द्वारा ही कर्ता को कह देने से तृतीया नहीं होती है अर्थात् "देवदत्तः पचेत्" देवदत्त पकाता है यह वाक्य यदि शब्द भावना रूप नियोग का प्रतिपादन करता है तब कर्ता अनुक्त होता है । "पचेत्" पकाता है यह क्रिया कर्त्ता का प्रतिपादन नहीं करती है क्योंकि यह क्रिया नियोग के प्रतिपादन करने में तत्पर है एवं अभिहित अधिकार के न होने से तृतीया होती है किन्तु कर्ता के अभिहित-कथन कर देने पर तृतीया नहीं होती है क्योंकि तिङ् प्रत्यय के द्वारा ही कथन हो जाता है ।

यह सब आपका कथन भी अयुक्त ही है । अर्थ भावना रूप विशेषण से कर्ता का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि "करोत्यर्थः" ही भावना का लक्षण है और करोति क्रिया का अर्थ देवदत्त कर्त्ता रूप प्रतिभासित होता है ।

"पचेत् देवदत्तः=पाकं कुर्यात्" इस प्रकार से पाक से अवच्छिन्न देवदत्त कर्तृक, करण, क्रिया की प्रतीति हो रही है क्योंकि युगपत् ही विशेषण और विशेष्य का प्रतिभास विरुद्ध नहीं है जैसे कि नीलोत्पल में नील विशेषण और कमल विशेष्य एक साथ ही अनुभव में आते हैं । इसलिए आप प्रज्ञाकर बौद्ध के ये वचन चारु-सुन्दर नहीं हैं अर्थात् विशेषण और विशेष्य की युगपत प्रतीति होती है कहा भी है—

श्लोकार्थ :—एवं इस प्रकार क्रम से प्रतीति होने से पहले भावना का ज्ञान होता है पुनः उसकी सामर्थ्य से कर्ता और भावना में विशेषण विशेष्य भाव के प्रकार से पश्चात्—बाद में कर्ता प्रतीति में आता है ।

ऐसा जो आप सौगत ने कहा है कि क्रिया लक्षण भावना में द्विवचन और बहुवचन नहीं प्राप्त होता है क्योंकि भाट्ट की स्वीकृति अनुसार व्यापार एक है यह आप सौगत का कथन भी असत्य ही है ।

---

१ भावनायाः किं लक्षणमित्युक्ते आह । २ करोत्यर्थः । ३ यदि भावनाविशेषणत्वेन कर्त्ता तथापि तयोः क्रमप्रतीतिसम्भवेन पूर्वं कर्त्तुः प्रतिभासाभावात्तृतीया प्राप्नोतीत्याशङ्कायामाह । ४ भट्टोवदति ।—यत एवं तत इदमग्रेतनकारिकादौ वक्ष्यमाणं सौगतवचनं मनोज्ञं न स्यात् । ५ क्रमप्रतीतिरेवं स्यादिति खपुस्तकपाठः । ६ कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रकारेण । स्युरेवंतुपुनरेवेत्यवधारणवाचका इति वचनात् । ७ भट्टो वदति ।—यदवादि सौगतेन तदप्यसत्यमितिपर्यन्तं सम्बन्धः । ८ क्रियालक्षणाया भावनायाः ।

---

(1) कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रकारेण । (2) वाक्यात् । (3) भवदभ्युपगमप्रकारेण । (4) पचेता । (5) च न प्राप्नुतः इति पा० । तच्छुद्धं प्रतिभाति । (6) पुरुषसंबंधिक्रियारूपकरणलक्षणस्य भाट्टस्याभ्युपगमप्रकारेण । (7) यदि । (8) कर्त्रादि ।

भेदात् [1]स्वव्यापारभेदो भविष्यति [१]क्रियते कटो [२]देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिति महदसमञ्जसं[2] स्यात् । तथा हि ।—

एकत्वात्कर्मणः[3] प्राप्तं क्रियैकत्वं तथाभिदः[४] । [५]कर्तृ[६]भेदादितीत्थं[3] च किं [७]कर्त्तव्यं विचक्षणैः ॥ इति ।

[८]तदप्यसत्यम्—[९]प्रतीतिविरोधात् । प्रतीयते हि धात्वर्थस्य भेदादेकवचनं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामास्यते[१०] । स च धात्वर्थो न नियोगः—नियोगस्य[4] प्रत्ययार्थत्वात्[११] । [१२]स च [१३]धात्वर्थातिरिक्तः कर्तृसाध्यः । [१४]तस्य कर्तृभेदाद्भेद इति । [१५]ततः कटं कुरुत[१६] इति द्विवचनम् । धात्वर्थस्तु शुद्धो न कारकभेदाद्भेदी[१७] ।

यदि कहो कि कारक के भेद से अपने व्यापार में भेद हो जावेगा तब तो देवदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा कट (चटाई) किया जाता है यह कथन भी बहुत ही असमंजस युक्त हो जावेगा । तथाहि—

श्लोकार्थ :—कट लक्षण कर्म का एक रूप है अतः क्रिया में एकत्व प्राप्त हुआ है क्योंकि कर्त्ता में भेद देखा जाता है अतः कर्त्ता के निमित्त से क्रिया भी दो प्रकार की हो जाती हैं । इस प्रकार से क्रिया में भी एकत्व अनेकत्व प्रकार हो जाने से भेद हो जाता है तो विचक्षण पुरुष क्या कर सकते हैं ? अर्थात् वे कुछ भी नहीं कर सकते हैं ॥

इस प्रकार का आप बौद्धों का कथन भी असत्य है क्योंकि प्रत्यक्ष से प्रतीति में विरोध आता है "देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां आस्यते" ऐसे भाव वाक्य में धात्वर्थ के अभेद से एक वचन ही प्रतीति में आता है और वह धातु का अर्थ नियोग नहीं है क्योंकि नियोग तो प्रत्यय का अर्थ है वह धात्वर्थ से भिन्न है और वह पुरुष का व्यापार धात्वर्थ क्रिया से अतिरिक्त—भिन्न कर्त्ता से साध्य है । उस प्रत्यय के अर्थ में कर्त्ता के भेद से भेद होता है । इसलिए "कटं कुरुतः" इसमें द्विवचन होता है किन्तु भाव रूप—शुद्ध धात्वर्थ, कारक के भेद से भेद रूप नहीं होता है ।

विशेषार्थ—व्याकरण में जिसमें प्रत्यय (विभक्ति) लगकर क्रिया बन जाती है उन्हें धातु कहते हैं जैसे भू पच् आदि । वे धातु दो प्रकार की होती हैं सकर्मक और अकर्मक ।

---

१ तर्हि । २ उदाहरणम् । ३ कटलक्षणस्य । ४ भेदात् । ५ तथाभिदा, कर्तृभेद इतीत्थं चेति पाठान्तरम् । कर्त्रऽपेक्षया क्रियाया द्वैविध्यं जातम् । ६ क्रियाया एकत्वानेकत्वप्रकारेण । ७ न किमपि (काकुः) । ८ भट्टः (सौगतोक्तमसत्यम्) । ९ प्रत्यक्ष । १० भावे । ११ प्रत्ययार्थो धात्वर्थाद्भिन्नः । १२ पुरुषव्यापारः । १३ क्रियातः । १४ प्रत्ययार्थस्य । १५ कर्तृसाध्यप्रत्ययत्वात् (भाट्टः) । १६ देवदत्तयज्ञदत्तौ । १७ भावरूपो धात्वर्थः ।

---

(1) व्यापारभेदो इति पा. । (2) कारकभेदे क्रियावचनभेदो न जायेत । (3) कर्तुर्भेद इतीत्थं इति पा. (4) क्तवति क्रियारूपस्य ।

श्लोक—क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं, व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षां।
सकर्मकं तं सुधियो वदंति, शेषस्ततो धातुरकर्मकः स्यात् ॥१॥
सन्मात्रं भावलिंगं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः।
धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते ॥२॥

अर्थ—जो कर्त्तापद से युक्त क्रियापद "क्या" इस प्रकार के कर्म की अपेक्षा रखते हैं विद्वान् जन उन क्रियापदों को सकर्मक कहते हैं एवं उनसे बची हुई धातुयें अकर्मक कही जाती हैं ॥१॥

जो सन्मात्र रूप भावलिङ्ग है, कारकों के सम्बन्ध से रहित है, केवल शुद्ध धात्वर्थ है उसे भाव वाची कहते हैं ॥२॥

यहाँ वे धातु लज्जा, सत्ता, स्थिति, जागरण, वृद्धि, क्षय, भय, जीवन, मरण, शयन, क्रीडा, रुचि और दीप्ति अर्थ वाले धातु अकर्मक कहलाते हैं क्योंकि इनमें कर्म की अपेक्षा नहीं है। इन सकर्मक और अकर्मक धातुओं में विभक्ति के लग जाने से ये तिङंत अथवा मिङंत कहलाते हैं एवं दस प्रकार से लकारों से प्रयुक्त किए जाते हैं। सकर्मक क्रियायें भी कर्त्तरि प्रयोग और कर्मणि प्रयोग से दो प्रकार की मानी गयी हैं एवं अकर्मक क्रियायें कर्त्तरि प्रयोग और भाव प्रयोग के भेद से दो प्रकार की होती हैं सकर्मक क्रियाओं के कर्त्तरि प्रयोग के उदाहरण—

अहं जिनालयं गच्छामि—मैं जिनालय को जाता हूँ।

आवां अष्टसहस्रीमध्येवः—हम दो जने अष्टसहस्री का अध्ययन करते हैं।

सर्वे जिनपूजां कुर्वंति—सभी जिन पूजा करते हैं।

देवदत्तः ओदनं पचति—देवदत्त भात को पकाता है।

इन वाक्यों में जाने वाला, पढ़ने वाला और पकाने वाला कर्त्ता प्रधान—स्वतंत्र है अतः इन वाक्यों को कर्त्तरि प्रयोग कहते हैं। इन वाक्यों में कर्त्ता के अनुसार एक वचन, द्विवचन, और बहुवचन रूप क्रिया हो जाती हैं। अकर्मक धातुओं के कर्तरि प्रयोग के उदाहरण —

सः शेते—वह सोता है। जंबूद्वीपे सूर्यौ प्रकाशेते—जम्बूद्वीप में दो सूर्य चमकते हैं। वृक्षाः वर्धंते-अनेक वृक्ष बढ़ते हैं।

इन अकर्मक धातुओं में कर्म है ही नहीं, अतः क्रिया का सभी भार कर्त्ता पर ही है। सोने वाले, प्रकाशित होने वाले एवं बढ़ने वाले कर्त्ता सर्वतः प्रधान हैं अतः ये वाक्य अकर्मक कर्तृ प्रयोग हैं इनमें भी कर्त्ता के अनुसार ही क्रिया एकवचन, द्विवचन, बहुवचन रूप हो जाती है।

सकर्मक धातुओं से कर्मणि प्रयोग के उदाहरण—

देवदत्तेन अष्टसहस्री पठ्यते—देवदत्त के द्वारा अष्टसहस्री पढ़ी जाती है।

मया व्याकरणं पठ्यते—मेरे द्वारा व्याकरण पढ़ी जाती है।

युवाभ्यां जिनपूजा क्रियते—तुम दोनों के द्वारा जिन पूजा की जाती है।

अस्माभिः गुरुः सेव्यते—हम सभी के द्वारा गुरु की सेवा की जाती है।

देवदत्तेन कटौ क्रियेते—देवदत्त के द्वारा दो चटाई वनाई जाती हैं।

मया न्यायव्याकरणसिद्धांतशास्त्राणि पठ्यंते—मेरे द्वारा न्याय, व्याकरण और सिद्धांत शास्त्र पढ़े जाते हैं।

इन वाक्यों के प्रयोग में कर्म प्रधान है और कर्त्ता अप्रधान है अतः कर्त्ता में तृतीया हो जाती है, और कर्म में प्रथमा ही रहती है। तथा कर्म के एक वचन, द्विवचन और वहुवचन के अनुसार ही क्रिया में एक वचन, द्विवचन और वहुवचन हो जाते हैं।

अकर्मक क्रियाओं के भाव प्रयोग के उदाहरण—

देवदत्तेन शय्यते—देवदत्त के द्वारा सोया जाता है।

आवाभ्यां आस्यते—हम दोनों के द्वारा वैठा जाता है।

जंतुभिः जन्यते—वहुत से प्राणियों के द्वारा जन्म लिया जाता है।

इन अकर्मक धातुओं के भाव प्रयोग में कर्त्ता में तृतीया होती है एवं भाव के अर्थ में धात्वर्थ क्रिया में एक वचन ही रहता है। इन वाक्यों के प्रयोग में कर्त्ता अप्रधान है और धात्वर्थ क्रिया ही प्रधान है क्योंकि यहां कर्म का अभाव है।

यहां पर भाट्ट का ऐसा कहना है कि प्रज्ञाकर बौद्ध ने अपने ग्रन्थों में जो ऐसा कहा है कि यदि शब्द-भावना रूप नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ है—"देवदत्त पकाता है" ऐसा वाक्य यदि शब्दभावना रूप नियोग का ही प्रतिपादन करता है तव कर्त्ता अनुक्त—नहीं कहा जाता है। "पकाता है" यह क्रिया अपने कर्त्ता का प्रतिपादन नहीं करती है क्योंकि वह क्रिया तो नियोग अर्थ का प्रतिपादन करती है, और जव कर्त्ता अप्रधान है तव यहां पर कर्त्ता में तृतीया होनी चाहिए थी किन्तु यहाँ कर्ता का कथन होने से तृतीया नहीं हुई है।

इस पर भाट्ट का कहना है कि यह सव आपका कथन अयुक्त है क्योंकि हमने अर्थभावना रूप विशेषण के द्वारा कर्त्ता का प्रतिपादन कर ही दिया है एवं करोति क्रिया का जो अर्थ है वही भावना है वह भावना देवदत्त कर्त्ता रूप से ही प्रतिभासित होती है। अर्थभावना तो विशेषण है और कर्त्ता देवदत्त विशेष्य है एवं विशेषण विशेष्य का ज्ञान एक साथ होता है क्रम से नहीं होता है इसलिए कारक के भेद से उसके व्यापार रूप क्रिया में भेद ही होवे ऐसा एकांत नहीं है।

"देवदत्त और यज्ञदत्त इन दोनों के द्वारा एक चटाई वनाई जाती है" इसमें कर्मणि प्रयोग में कर्त्ता अप्रधान होने से उसमें तृतीया का द्विवचन है किन्तु कर्म रूप चटाई प्रधान है और उसमें एक वचन होने से "क्रियते" क्रिया में एकवचन ही है।

इसलिए कर्मणि प्रयोग में कर्म के अनुसार ही क्रिया होती है तथा इसी का कर्त्तरि प्रयोग करनेपर देवदत्तयज्ञदत्तौ कटं कुरुतः—देवदत्त और यज्ञदत्त चटाई को वनाते हैं यहां कर्ता की प्रधानता से क्रिया

[शब्दभावनारूपनियोगोऽर्थभावनाया विशेषणमस्य विचारः]

स्यादाकूतम्[१] ।—

सम्बन्धाद्यदि[२] तद्भेदो[३] [४]धात्वर्थस्याप्यसौ[५] भवेत्(1) । सोपि [६]निर्वर्त्य [७]एवेति [८]तद्भेदेनैव भिद्यताम् ॥

[९]अस्माकं तु ।—

[१०]विवक्षापरतन्त्रत्वाद्भेदाभेद[११]व्यवस्थितेः । [१२]लाभिधानात्कारकस्य[१३] सर्वमे[१४]तत्समञ्जसम् ॥

में भी द्विवचन हो जाते हैं ।

किन्तु बौद्ध का यदि ऐसा कहना है कि कर्त्ता के भेद से क्रिया में भेद होवे ही होवे सो ठीक नहीं है क्योंकि अकर्मक धातु से कर्त्ता में भेद होने पर भी धात्वर्थ शुद्ध क्रिया में एकवचन ही रहता है एवं प्रत्यय का अर्थ नियोग माना गया है अतः धातु का अर्थ नियोग नहीं है और धात्वर्थ शुद्ध है कारक के भेद से भी उसमें भेद नहीं होता है उसमें केवल सर्वत्र एकवचन का ही प्रयोग होता है ऐसा समझना चाहिए ।

[शब्दभावना रूप नियोग अर्थभावना का विशेषण है इस पर विचार]

श्लोकार्थ—योगाचार बौद्ध कहता है कि—यदि सम्बन्ध से उस प्रत्यय रूप नियोग में कर्त्ता सम्बन्धी कारक के भेद से भेद है तो पुनः "आस्यते" इस सत्ता रूप धात्वर्थ में भी प्रत्यय भेद होवे । वह भी पुरुष के द्वारा ही निर्वर्त्य–निष्पाद्य है उस कारक–कर्त्ता के भेद से ही उसमें भेद हो जावे ॥

अर्थात् "जिनदत्तगुरुदत्तयज्ञदत्तैरास्यते" जिनदत्त, गुरुदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा बैठा जाता है । इस भाव रूप क्रिया में एकवचन ही होता है किन्तु अर्थ के भेद से भाव रूप धातु के अर्थ में भेद नहीं होता है । इस प्रकार से जो आरोप है कि यदि कारक के भेद से प्रत्यय में भेद है तो यहाँ भी आस्यते क्रिया में बहुवचन होना चाहिए किन्तु हम लोगों के यहां तो—

श्लोकार्थ—विवक्षा–कल्पना के आधीन होने से कारक व्यापार में भेदाभेद की व्यवस्था है । दस लकार के कथन से कारक में–प्रत्यय रूप नियोग में भेद और अभेद होते हैं इसलिए एक वचनादिक सभी समंजस–ठीक ही हैं ॥

भाव में उत्पन्न हुई लकार नाम की क्रिया कर्त्ता और कर्म से भेद रूप से ही विवक्षित की गई है जब वह क्रिया लकार इत्यादि प्रत्यय से कही जाती है तब वह कर्त्ता नहीं है तब कर्त्ता के अप्रधान में तृतीया

---

१ योगाचारस्य । २ तस्य प्रत्ययरूपनियोगस्य ३ कर्तृसम्बन्धात्कारकभेदाद्यदि प्रत्ययभेदस्तदा । ४ सत्तारूपस्य आस्यते इत्यस्य । ५ प्रत्ययभेदः । ६ पुरुषेण निष्पाद्यः । ७ हेतोः । ८ कारक । कर्तृ । प्रत्यय । ९ योगाचाराणाम् (सौगतानाम्) । १० कल्पना । ११ व्यापारस्य कारकस्य । १२ दशलकारेण । १३ प्रत्ययरूपनियोगस्य भेदाभेदौ भवतः । १४ एकवचनादिकम् ।

---

(1) भावरूपस्य देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्तैरास्यते एतदेकमेव भवति नार्थभेदाद् भावरूपस्य धात्वर्थस्य भेदः ।

[1]क्रिया[1] हि कर्त्तुः [2]कर्मणश्च भेदेन हि विवक्ष्यते [3]सा यदा [4]लकारेणाभिधीयते, न कर्त्ता तदा [5]कर्त्तरि तृतीया भवति। यदा कर्त्ताभिधीयते तदा प्रथमार्थत्वात्प्रथमा भवति। [6]क्रियते महात्मना, करोति महात्मेति, [7]तदेतदपि पक्षपातमात्रम् सौगतस्य। भेदाभेदयोर्वस्तुरूपयोः प्रतीतिसिद्धत्वेन तद्विवक्षावशात् तथा व्यवहारस्य पारमार्थिकत्वोपपत्तेः। [8]ततो युक्ता शब्दव्यापाररूपा शब्दभावना, पुरुषव्यापाररूपाऽर्थभावना च। तत्र हि कर्त्तृव्यापारस्तिङा[9] प्रतिपाद्यते। [10]स एव च भावना[11]। [12]तथा चाह।—भावार्थाः[13] [14]कर्मशब्दाः। भावनं भावो [15]ण्यन्ताद्घञ्प्रत्ययः। तथा च सति भावनैवासौ। भावना च[2] कर्त्तृव्यापारः स[16] चोदितः[3] [17]स्वव्यापारे प्रवर्त्तते[18] इति। [4]नियोग्यस्य[19] च [20]तच्छेषत्वादप्रधानत्वा-

---

होती है जब कर्ता कहा जाता है तब प्रथमार्थ का अर्थ होने से प्रथमा होती है जैसे क्रियते महात्मना—महात्मा के द्वारा किया जाता है इसमें भाव में क्रिया होने से कर्त्ता में भेद है क्योंकि कर्त्ता महात्मा यहां स्वाधीन नहीं है। "करोति महात्मा"—महात्मा करता है। यहां प्रथमान्त कर्त्ता है। यहां कर्त्ता प्रधान है।

भाट्ट—यह आपका कथन भी पक्षपात मात्र ही है आप सौगत के यहाँ तो वस्तुरूप–वास्तविक भेद और अभेद की प्रतीति सिद्ध होने से उसकी विवक्षा के निमित्त से उस प्रकार का व्यवहार पारमार्थिक हो जावेगा और उस प्रकार से "करोत्यर्थ" देवदत्त कर्तृक होता है अतः शब्द व्यापार रूप ही शब्द भावना युक्त है एवं पुरुष के व्यापार रूप अर्थ भावना भी युक्त है। वहाँ ही कर्ता का व्यापार तिङ् प्रत्यय–आख्यात से प्रतिपादित किया जाता है और वह कर्ता का व्यापार ही अर्थ भावना है। उसी को कहते हैं–कर्म शब्द, भाव अर्थ वाले हैं। अर्थात् क्रियावाचक शब्द भी भाव अर्थ वाले हैं। भावनं भावो ण्यंत्–प्रेरणार्थक से घञ् प्रत्यय हुआ है और उस प्रकार से व्युत्पत्ति करने पर वह भावना ही है और भावना ही कर्त्ता का व्यापार है अर्थात् भाव्यनिष्ठ जो भावक का व्यापार है वही भावना है। वह पुरुष "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" इत्यादि वेदवाक्य से प्रेरित होता हुआ याग लक्षण अपने

---

१ भावे समुत्पन्ना लकाराभिधेया। २ का (पञ्चमी)। ३ क्रिया। ४ त्यादिप्रत्ययेन। ५ अप्रधाने। ६ भावे क्रियायाः कर्त्तुः सकाशादत्र भेदः। ७ भाट्टः। ८ देवदत्तकर्त्तृकः करोत्यर्थो भवति यतः। ९ आख्यातेन। १० कर्त्तृव्यापारः। ११ अर्थभावना। १२ कर्तृव्यापारस्य भावनात्वेन। १३ भाव एव अर्थो येषां ते। १४ कर्मशब्दा (क्रियावाचकाः) इत्यत्र कर्मशब्दा एव भावार्था इत्येवकारो द्रष्टव्यः। १५ ण्यन्तस्य घञिति पाठान्तरम्। १६ स पुरुषोऽग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवेदवाक्येन प्रेरितः सन्। १७ यागे। १८ पुरुषः। १९ नियोगस्येति पाठान्तरम्। नियोगशब्देन शब्दभावना। (शब्दव्यापाररूपप्रेरणस्य)। २० अर्थभावनाया विशेषणत्वात्।

---

(1) क्रिया इति पा. (2) भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना। (3) शब्दभावनया प्रेरितः। (4) शब्दव्यापाररूपप्रेरणस्य। शब्दभावनाया अप्रधानत्वं मयाप्यंगीकृतं गौणत्वेन वाक्यार्थत्वं भवतु प्रधानत्वं अर्थभावनाया एव वाक्यार्थत्वं तर्हि कर्तुस्तृतीया प्राप्नोतीति शंकामग्रे निराकरोति।

[1]दवाक्यार्थत्वम्[1]। नियोगविशिष्टत्वाच्च भावनायास्तथा[2] प्रतिपादने [3]नियमेन प्रवर्त्तते। [4]कथं चासौ कर्त्ता स्वव्यापारं प्रतीयन्नेव प्रवर्त्तते। [5]अन्यथा स्वव्यापारे एव न [6]चोदितो भवेत्।

व्यापार में प्रवृत्त होता है। और नियोग तत् शेष होने से अप्रधान है अतः वह वेदवाक्य का अर्थ नहीं है। अर्थात् नियोग शब्द से शब्द भावना लेना वह शब्द भावना अर्थ भावना का विशेषण है वह अप्रधान होने से मुख्यतया वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकती है। "इदं कुरु" इस प्रकार से भावना नियोग से विशिष्ट है ऐसा प्रतिपादन करने से नियम से प्रवृत्त होता है अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव परस्पर में अविनाभावी हैं।

यदि प्रेरित किया जाने पर भी प्रवृत्त नहीं होता है ऐसा मानों तो यह कर्त्ता अपने व्यापार का अनुभव करता हुआ ही कैसे प्रवृत्ति करेगा अन्यथा—यदि स्वव्यापार की प्रतीति न मानो तो अपने व्यापार में भी वह पुरुष प्रेरित नहीं हो सकेगा।

भावार्थ—प्रभाकर नियोग को प्रत्यय (विभक्ति) के अर्थ रूप ही मानता है अतः "देवदत्तायज्ञदत्तौ कटं कुरूतः" देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों चटाई को वनाते हैं। इसमें कारक के भेद से प्रत्यय "कुरुतः" क्रिया में भेद हो गया है इसी प्रकार से "आस्यते" यह सत्ता रूप धात्वर्थ क्रिया है किसी ने कहा कि "देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्तैः आस्यते" देवदत्त, जिनदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा वैठा जाता है।

इस वाक्य में भी कारक तीन पुरुष हैं और बैठने रूप क्रिया का तीनों से सम्बन्ध है अतः यहाँ भी कारक के भेद से क्रिया के प्रत्यय में भेद होना चाहिए—एकवचन रूप क्रिया न होकर बहुवचन होना चाहिए क्योंकि यह बैठने रूप क्रिया भी तो पुरुष के द्वारा ही निष्पाद्य—करने योग्य है। हम योगाचार बौद्धों के यहाँ तो ये दोष नहीं आते हैं क्योंकि हम लोग विवक्षा के निमित्त से ही कारक के व्यापार रूप क्रिया में भेद और अभेद की कल्पना करते हैं। इस पर भाट्ट ने उत्तर दिया कि आप बौद्धों का कथन श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि वास्तविक रूप से भेद और अभेद का व्यवहार नहीं है यदि मानोगे तव तो भेद और अभेद की विवक्षा से उस प्रकार का भेद-अभेद रूप व्यवहार भी सत्य ही मानना पड़ेगा। "पुनः करोति" क्रिया का अर्थ देवदत्तकर्तृक ही है, वही शब्द का व्यापार है, उसे ही तो हम शब्द भावना कहते हैं और कर्ता रूप पुरुष के व्यापार को अर्थ भावना कहते हैं क्योंकि पुरुष ही "अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्ग कामः" ऐसे वाक्य से प्रेरित होता हुआ यज्ञ करने रूप अपने व्यापार में प्रवृत्ति करताहै। अतः नियोग ही शब्द भावना है जो कि पुरुष के व्यापार रूप अर्थ भावना का विशेषण है अतः शब्द भावना अप्रधान है

---

१ मुख्यत्वेनेति शेषः। गुणवृत्त्या चेदस्ति तर्हि कथम्? २ इदं कुर्विति नियोगनिष्ठत्वेन। ३ विशेषणविशेष्यनान्तरीयकत्वादिति भावः। ४ प्रेर्यमाणोपि न प्रवर्त्तते चेत्। ५ स्वव्यापाराप्रतीयमानत्वे। ६ पुरुषः।

---

(1) स चोदितः कथं स्वव्यापारे प्रवर्तत इति।

[वेदवाक्येन यज्ञकार्ये प्रवर्त्तमानः पुरुषः स्वर्गादि फलमपश्यन् कथं प्रवर्तेत इति शंकायां भाट्टस्य प्रत्युत्तरं]

[1]स्यान्मतम् ।—

व्यापार[2] एष मम [3]किमवश्यमिति मन्यते । फलं विनैव नैवं[4] चेत् सफलाधिगमः [5]कुतः ।। इति ।

[6]तदप्यसमीक्षिताभिधानम्—अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवेदवाक्यसामर्थ्यादेव पुरुषेण [7]तदा मम एष व्यापार इति प्रत्येतुं शक्यत्वात् । ममेदं[8] कर्त्तव्यमिति फलमपश्यन् कथं [1]प्रत्येतीति चेत् प्रत्यक्षतः[9] कथं प्रत्येति ? [10]फलयोग्यतायाः प्रतीतेरिति चेद्वाक्यादपि [11]तत एव तथा प्रत्येतु । [12]फलस्यातीन्द्रियत्वात्कथं तद्योग्यता

अर्थ भावना प्रधान है इस प्रकार से हमने वेदवाक्य का अर्थ भावना किया है जो कि नियोग से विशिष्ट है और विशेषण विशेष्य भाव परस्पर में अविनाभावी हैं अतएव वेदवाक्य से प्रेरित होने पर पुरुष अपने यज्ञ रूप व्यापार में प्रवृत्ति करता है यह अर्थ हुआ ।

[वेदवाक्य से यज्ञकार्य में प्रवृत्त हुआ पुरुष स्वर्ग रूप फल को देखे विना कैसे प्रवृत्त होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर]

बौद्ध—श्लोकार्थ—पुनः यह व्यापार मेरा अवश्य करणीय है इस प्रकार से ही कैसे मानता है अर्थात् वेद के द्वारा कहा गया यागादि लक्षण व्यापार अवश्य ही मेरा है यह वात पुरुष स्वर्गादि फल को देखे विना जानता है या फल को देखकर के ? यदि वाक्य के उच्चारण काल में स्वर्गादि फल का अभाव है तो मेरा व्यापार है यह वात कैसे मानता है ?

यदि फल को देखे विना नहीं मानता है तो ज्ञान और प्रवृत्ति की सफलता कैसे होगी ?

भाट्ट—यह आपका कथन भी अविचारित ही है । क्योंकि "अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्ग कामः" इत्यादि वेदवाक्य की सामर्थ्य से तो पुरुष के द्वारा उस वाक्य के उच्चारण काल में यह मेरा व्यापार है ऐसा निश्चय करना शक्य है ।

सौगत—यह मेरा कर्त्तव्य है इस प्रकार से फल को (स्वर्ग को) नहीं देखते हुए पुरुष कैसे निश्चय करेगा ?

भाट्ट—ऐसा कहो तो आप सौगत भी फल के विना (स्नान पान आदि फल को देखे विना) प्रत्यक्ष प्रमाण से यह "जल" है इस प्रकार से कैसे जानते हो क्योंकि स्नानादि फल तो वहाँ भी प्रत्यक्ष ज्ञान में देखा नहीं जाता है ।

१ सौगतस्य । २ वेदेनोक्तो यागादिलक्षणो व्यापारोऽवश्यं ममेदं स्वर्गादिफलं विना पुरुषोऽवेति न वा । ३ वाक्योच्चारणकाले फलाभावश्चेन्ममैष व्यापारः कथं मन्यते । ४ फलं विनापि मन्यते चेत् । ५ प्राप्तिरवगतिश्च । ६ भाट्टः ७ वाक्योच्चारणकाले । ८ सौगतः । ९ भट्टो वदति । सौगतं फलं विना प्रत्यक्षप्रमाणादिदं जलमिति कथं जानाति स्नानादिफलमपश्यन् भवान् कथं प्रत्येति । १० सौगतः । (स्नानपानादि) । ११ फलयोग्यतायाः प्रतीतेरेव । १२ फलस्य स्वर्गादेः ।

(1) स्नानपानादिफलमपश्यन् ।

स्वव्यापारस्य [1]कर्त्रा प्रतीयते इति चेत् [2]प्रत्यक्षविषयस्य कथम् ? प्रतिपत्तुरभ्याससामर्थ्यात्प्रत्यक्षस्य [3]विषये फलयोग्यतानिश्चय इति चेत् [4]तत एव च [5]कर्त्तुः [6]स्वव्यापारे [7]तद्योग्यतानिश्चयोस्तु—सर्वथा विशेषाभावात् ।

[बौद्धो भेदं काल्पनिकं वक्ति, किंतु भाट्टो वास्तविकं मन्यते]

[8]यदप्यवादि प्रज्ञाकरेण

सौगत—फल की योग्यता अनुभव में आती है ।

भाट्ट—पुनः वेदवाक्य से भी उसी प्रकार से—फल की योग्यता के अनुभव से ज्ञान हो जावे क्या बाधा है ?

सौगत—स्वर्गादि फल तो अतीन्द्रिय हैं—इन्द्रियों से नहीं जाने जाते हैं अतः अपने यागादि लक्षण व्यापार की यह योग्यता है इस प्रकार से यज्ञकर्ता को कैसे अनुभव आयेगा ?

भाट्ट—प्रत्यक्ष के विषय की योग्यता का अनुभव कैसे आता है अर्थात् प्रत्यक्ष से जलादि को देख लेने पर तत्क्षण ही इस जल में स्नान पान आदि की योग्यता है सभी को ऐसा कैसे मालूम होता है ?

बौद्ध—जानने वाले के अभ्यास की सामर्थ्य से प्रत्यक्ष के विषय जलादि में फल-स्नान-पानादि की योग्यता का निश्चय हो जाता है ।

भाट्ट—उसी प्रकार से शाँतिक, पौष्टिक आचरण रूप फल के अभ्यास से यज्ञकर्ता को याग लक्षण अपने व्यापार में उस फल की योग्यता का निश्चय हो जावे, दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।

भावार्थ—बौद्ध ने भाट्ट के सामने यह समस्या रखी है कि जिस समय "अग्निष्टोमेन यजेत" ऐसा वेदवाक्य सुना और उसका अर्थ यह समझा कि यज्ञ रूप कार्य मेरा अवश्य करणीय कर्त्तव्य है, क्या उस समय उस समझने वाले पुरुष को उस यज्ञ के फल स्वर्गादि दीखते हैं ? यदि नहीं दिखते हैं तो फल को देखे बिना, समझे बिना वह पुरुष यज्ञ को करने में प्रवृत्ति कैसे करेगा ?

और यदि करेगा तो भी उसकी यज्ञ क्रिया की सफलता भी कैसे मानी जावेगी ? इस पर भाट्ट ने बौद्धों को समझाया है कि भाई ! आप बौद्ध भी तो प्रत्यक्ष से जब जल को देखते हो तो क्या उस जल का स्नान पान आदि फल आपको दिख रहा है ? यदि फल के नहीं दीखने पर भी आप उस फल को योग्यता का अनुभव करके प्रत्यक्ष से हुए जल के ज्ञान को सत्य मानते हो और उसमें प्रवृत्ति करते-कराते हो तब तो हमारे वेद वाक्यों से भी यज्ञ कार्य में प्रवृत्ति मान लो क्योंकि उसका फल स्वर्ग है, इस प्रकार से फल की योग्यता वेदवाक्य के श्रवण के समय अनुभव में आ जाती है जैसे कि जल को प्रत्यक्ष से देखने से उस जल से प्यास बुझाना, स्नान करके स्वच्छ-शुद्ध होना आदि रूप फल की योग्यता

---

१ यज्ञकर्त्रा । २ (भट्टः) तर्हि प्रत्यक्षस्य सलिलादेः पुरुषेण स्वव्यापारस्य स्नानपानादिक्रियायोग्यता कथं निश्चीयते ? ३ जलादौ । ४ शान्तिकपौष्टिकाचरणफलाभ्यासात् । (ऐहिकामुत्रिकेपि) । ५ यज्ञकर्त्तुः । ६ यागलक्षणे । ७ फलयोग्यतानिश्चयः । ८ भट्ट आह ।—यदपि वक्ष्यमाणमवादि प्रज्ञाकरेण । (तदपि न परीक्षाक्षममिति सम्बन्धः) ।

"यजते पचतीत्यत्र भावना[1] न प्रतीयते। [2]यज्याद्यर्थातिरेकेण[१] तस्या वाक्यार्थता कुतः?
पाकं करोति यागं च यदि भेदः प्रतीयते। एवं सत्यनवस्था स्यादसमञ्जसताकरी"[3] ॥

[२]करोति यागं स्वव्यापारं निष्पादयति यागनिष्पत्तिं निर्वर्त्तयति [३]व्यपदेशा एते [४]यथाकथञ्चिद्भेदपरिकल्पनपुरस्सराः[५]। [६]नैतेभ्योस्ति [७]पदार्थतत्त्व[८]व्यवस्थेति। शिलापुत्र-[९]कस्य शरीरमिति भेदव्यवहारो भेदमन्तरेणापि दृश्यते।

"यथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते। ततः [१०]परापुनर्दृष्टा करोतीति न हि क्रिया॥
यजि क्रिया च [११]द्रव्यास्या [१२]विशेषादपरा न हि[१३]। [१४]सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतेः॥ इति॥"

तदपि न परीक्षाक्षमम्।

अनुभव में आ रही है। अतः पुरुष के द्वारा किया गया यज्ञ स्वर्गादि फल सहित है निष्फल नहीं है।

[बौद्ध भेद को काल्पनिक सिद्ध करना चाहता है किन्तु भाट्ट भेद को वास्तविक मान रहा है]

प्रज्ञाकर बौद्ध—श्लोकार्थ—यजते, पचति इसमें भावना का अनुभव नहीं आता है क्योंकि यज्ञादि अर्थ के अतिरिक्त उस भावना की वाक्यार्थता कैसे होगी ? ॥१॥

श्लोकार्थ—यदि "पाकं करोति", "यागं करोति" पकाता है, यज्ञ करता है ऐसा भेद प्रतीति में आता ह ऐसा मानोगे तव तो असमंजसता को करने वाली अनवस्था आ जावेगी ॥२॥

याग को करता है, अपने यज्ञरूप व्यापार को निष्पन्न करता है, याग की निष्पत्ति को वनाता है ये शब्द यथाकथंचित्—प्रकृति प्रत्ययादि भेद विना भी भेद की कल्पना पूर्वक होते हैं। इन व्यपदेशों से भी पदार्थ-तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती है क्योंकि शिला पुत्रक-केतु का यह शरीर है ऐसे भेद का व्यवहार विना भेद के भी देखा जाता है।

श्लोकार्थ—"जिस प्रकार से द्विज—ब्राह्मण का व्यापार याग—यज्ञ है ऐसा कहा जाता है पुनः उससे भिन्न करोति यह क्रिया नहीं देखी जाती है" ॥१॥

श्लोकार्थ—"यजि क्रिया—यज्ञ की क्रिया द्रव्य-पुरुष के विशेषण से भिन्न नहीं है क्योंकि समाना-धिकरण होने से देवदत्त रूप से ज्ञान होता है" ॥२॥ अर्थात् देवदत्त के द्वारा ही वह क्रिया प्राप्त की

---

१ अतिरेको नामाऽऽधिक्यम्। २ कथमनवस्थेत्याशङ्कयाह। ३ शब्दाः। ४ प्रकृतिप्रत्ययादिभेदमन्तरेणापि। ५ वर्त्तन्ते इति शेषः। ६ व्यपदेशेभ्यः। ७ यदि यागं करोतीत्यत्र भावनाख्यपदार्थतत्त्वव्यवस्था तदा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यत्रापि भावनान्तराणां व्यवस्था भविष्यतीति भावः। (यजते यागं करोतीति भेदव्यवहारे सत्यपि तदभिधेयतत्त्व (भावनाख्य) स्य कथं भेदेऽनवस्था न स्यादित्याशङ्कायामाह)। ८ यजते यागं करोतीत्यत्राभेदेपि भेदस्त्वया दर्शितो यजनार्थस्त्वेक एवेत्यभेदं दर्शयन्नाह। ९ केतोः। १० यागात्। यागस्य व्यापाररूपत्वात्ततो भिन्ना करोतीति क्रिया न दृश्यते इति भावः। ११ पुरुषस्य। १२ विशेषणात्। १३ देवदत्तत्वेन प्रापणात्। १४ केन कृत्वा प्रापणमित्याह सामानाधिकरण्येति।

---

(1) करोतीत्यर्थः। (2) पचन। यज्ञाद्यर्थस्य इति वा पाठः क्वचित् लभ्यते। (3) वितथ।

"यजतेपचतीत्यत्र भावनायाः[1] प्रतीतितः[2] । यजाद्यर्थातिरेकेण युक्ता वाक्यार्थता ततः ।।
पाकं करोति यागं चेत्येवं भेदेऽवभासिते । काऽनवस्था भवेत्तत्र तत्प्रतीत्यनुसारिणाम्[१] " ।।

यजते यागं करोतीति हि यथा [3]प्रतिपत्तिस्तथा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यपि सैव प्रतिपत्तिः– स्वव्यापारशब्देन यागस्याभिधानात्–निष्पादयतीत्यनेन तु करोतीति प्रतीतेः । यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयतीति नार्थभेदः । यागनिष्पत्तिं निर्वर्त्तयतीत्यत्रापि यागनिष्पत्तिर्याग एव । निर्वर्त्तनं करणमेव । ततो यागं करोतीति प्रतीतं स्यात् । [२] ततो नैते व्यपदेशा[३] यथाकथञ्चिद्भेदपरिकल्पनपुरस्सराः–प्रतीयमानकरोत्यर्थविषयत्वात् । यागं करोति विदधात्येवमादिव्यपदेशवत् । ततो युक्तैवैतेभ्यः[४] पदार्थतत्त्वव्यवस्था अनवस्थानवतारात्[५] ।

जाती है ।

भाट्ट— यह सब आप प्रज्ञाकर बौद्ध का कथन भी परीक्षा को सहन करने में समर्थ नहीं है क्योंकि—

श्लोकार्थ—"यजते, पचति" यहाँ पर भावना की प्रतीति होने से यज्ञादि अर्थ से अतिरिक्त—भिन्न वाक्यार्थता युक्त है ।

श्लोकार्थ—पाकं करोति, यागं च, इस प्रकार से भेद के अवभासित होने पर उस प्रतीति का अनुसरण –अनुभव करने वालों को अनवस्था कैसे आयेगी ? जिस प्रकार से "यजते पाकं करोति" यज्ञ करता है, पाक को करता है इत्यादि ज्ञान होता है उसी प्रकार से अपने व्यापार को निष्पादित करता है इस प्रकार से भी उसी का ज्ञान होता है, क्योंकि "स्व व्यापार" शब्द से यज्ञ का कथन किया जाता है और "निष्पादयति" इस शब्द से करोति इस क्रिया की प्रतीति होती है । यागं करोति, स्वव्यापारं निष्पादयति– यज्ञ को करता है, अपने व्यापार को निष्पादित करता है इसमें अर्थ भेद नहीं है ।

"यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयति" इसमें भी याग निष्पत्ति का अर्थ याग ही है और निर्वर्त्तन का अर्थ करना ही है । इसलिए इसमें यागं करोति ऐसा ज्ञान होता है अतः इनमें एकार्थता होने से ये व्यपदेश-शब्द यथा कथंचित—अर्थ भेद के विना भेद की कल्पना पुरस्सर-पूर्वक होते हैं क्योंकि प्रतीति में आने हुए करोत्यर्थ के विषय हैं । जैसे यागं करोति, विदधाति, इत्यादि व्यपदेश-शब्द भेद के विना ही होते हैं इसलिए "यागं करोति, स्वव्यापारं निष्पादयति, यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयति" इन वचन व्यवहारों से पदार्थ-तत्त्व-भावनातत्त्व की वास्तविक व्यवस्था होती है । अनवस्था दोष नहीं आता है अर्थात् ये सभी वचन भेद, "करोति" क्रिया रूप अर्थ भावना की ही व्यवस्था करते हैं ।

[पुनरपि बौद्ध भेद कल्पना के मानने में अनवस्था दोष देता है, भाट्ट उसका परिहार करता है]

---

१ व्यपदेशानाम् । २ एकार्थता यतः । ३ अर्थ विना । ४ यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयति यागं निर्वर्त्तयतीत्ये-तेभ्यो वाग्व्यवहारेभ्यः (भट्टः संविदद्वैतवादिनं प्रत्याह) । ५ एते व्यपदेशभेदाः सर्वेपि करोतिनिष्पादनार्थभावनामेव व्यवस्थापयन्ति—अर्थभेदेनाऽनवस्थाभावादिति भावः ।

---

(1) करोति क्रियारूपायाः । (2) प्रतीतिरस्ति यतः । (3) प्रतीतिस्तथा इति पा. ।

[पुनरपि बौद्धो भेदकल्पनायामनवस्थां दर्शयति भाट्टश्च निराकरोति]

[१]अथ यजते यागं करोति यागक्रियां करोतीत्येवमनवस्थोच्यते[२] [३]तर्हि स्वरूपं[४] संवेदयते स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यप्यनवस्था[५] स्यात्। अथ स्वरूपं संवेदयते इत्यनेनैव स्वरूपसंवेदनप्रतिपत्तेः स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यादि निरर्थकत्वादयुक्तं [६]तर्हि यागं करोतीत्यनेनैव [1]यागावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्तेर्यागक्रियां करोतीत्यादिवचनमनर्थकमेव [७]व्यवच्छेद्याभावात्[2]। यजते इत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतीतेर्यागं करोतीत्यपि वचनमनर्थकमिति चेत्सत्यं[८] यदि तद्वचनादेव तथा प्रत्येति। यस्तु न प्रत्येति तं प्रति विशेषणविशेष्यभेदकथनपरत्वात् तथाभिधानस्य नानर्थक्यम्। शिलापुत्रकस्य[3] शरीरं राहोः शिर इत्यादिभेदव्यवहारा अपि न कथञ्चिद्भेदमन्तरेण

प्रज्ञाकर बौद्ध—"यजते, यागं करोति, यागक्रियां करोति", इस प्रकार से अनवस्था दोष आता ही है।

भाट्ट—तब तो आपके यहाँ "स्वरूपं संवेदयते"—स्वरूप का संवेदन करता है। स्वरूपसंवेदनं संवेदयते—स्वरूप संवेदन का संवेदन करता है। इस कथन में भी अनवस्था हो जावेगी। यदि आप कहें कि "स्वरूपं वेदयते" इस कथन से ही स्वरूप संवेदन का ज्ञान हो जाने से "स्वरूपसंवेदनं संवेदयते" इत्यादि वाक्य निरर्थक हैं अतः अयुक्त हैं। तब तो "यागं करोति" इस वाक्य से ही यागावच्छिन्न क्रिया-यज्ञ से सहित क्रिया का ज्ञान हो जाने से "यागक्रियां करोति" इत्यादि वचन अनर्थक ही हैं, क्योंकि परिहार करने योग्य का अभाव है।

बौद्ध—पुनः "यजते" इस पद से ही यागावच्छिन्न—यज्ञ से सहित क्रिया की प्रतीति होने से "यागं करोति" यह वचन भी अनर्थक हो जावेगा ?

भाट्ट - आपका कहना सत्य है यदि उस 'यजते', वचन से ही वैसा ज्ञान हो जाता है तो वे 'यागं करोति' वचन व्यर्थ ही हैं किन्तु जो उतने मात्र से नहीं समझता है उसके लिए विशेषण, विशेष्य भेद को कहने वाले वाक्य प्रयुक्त किये जाते हैं इसलिए वैसा कथन अनर्थक नहीं है यह शिलापुत्रक का शरीर है, यह राहु का शिर है इत्यादि भेद व्यवहार भी कथंचित् भेद के विना नहीं होते हैं अन्यथा इन्हें गौणपने का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् कथंचित् भेद के विना भी यदि भेद व्यवहार प्रवृत्त होते हैं तव तो भेद व्यवहार गौण हो जावेंगे, किन्तु इनको औपचारिक—गौण तो माना नहीं है क्योंकि भेद वास्तविक है इसका आगे ही वर्णन किया है।

शिलापुत्रक का, राहु का, इतना कहने पर 'क्या' इस प्रकार का संदेह हो जाता है और उस

१ प्रज्ञाकरः। २ यदि त्वया सौगतेनेति शेषः। ३ भट्टः। ४ कर्तृ। ५ सौगतस्येति शेषः। ६ भट्टः। ७ परिहार्यं। ८ भट्टः।

(1) विशिष्ट। (2) विशेषितुं योग्यस्य। (3) केतोः ग्रहस्य।

प्रवर्त्तन्ते- [१]गौणत्वप्रसङ्गात्[२] । शिलापुत्रकस्य, राहोरित्युच्यमाने हि किमिह[३] सन्देहः । तद्व्यवच्छित्तये शरीरं, शिर इत्यभिधानमन्यस्य कार्यादिर्व्यवच्छेदकमुपपन्नम्[४] । तस्मिंश्च[५] सति कस्येति संशयः स्यात् । तद्व्यपोहनाय शिलापुत्रकस्य राहोरित्यभिधानं श्रेयः—अवस्थातद्वतोः[६] [७]कथञ्चिद्भेदात् । शरीरं हि शिलापुत्रकस्यावस्था [८]अवयवोपचयलक्षणावस्थान्तर[९]व्यावृत्ता । शिलापुत्रकः पुनरवस्थाता[१०]—[११]खण्डाद्यवस्थान्तरेष्वपि प्रतीतेः । एतेन राहुरवस्थाता शिरोवस्थायाः [१२]ख्यातः[1]।

[अवस्थामंतरेणावस्थावान् कश्चिन्नास्ति इति बौद्धेन मन्यमाने भाट्टः प्रत्युत्तरयति]

[१३]सांवृतोऽवस्थाता—अवस्थाव्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेन्न—[१४]उभयासत्त्वात् । अवस्था-

---

संदेह की व्यवच्छित्ति–दूर करने के लिए शरीर, शिर, इस प्रकार का उत्तर रूप कथन होता है, अतः अन्य कार्यादि का व्यवच्छेदक होना सुघटित है अर्थात् अन्य योग का व्यवच्छेद न करने पर संदेह बना ही रहता है और शरीर एवं शिर के कहने पर "किसके हैं" ऐसा संशय होता है। उस संशय को दूर करने के लिए शिलापुत्रक का, राहु का, ऐसा कथन करना भी श्रेयस्कर है क्योंकि अवस्था और अवस्थावान्– शरीर और शरीरवान् में कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है। शरीरवान् तो एक जीव विशेष है और शरीर पुद्गल की पर्याय है, बहुत ही अंतर है। शरीर यह शिलापुत्रक की अवस्था है और वह अवयवों के उपचय–परिपूर्णता लक्षण वाला है एवं अवस्थांतर से व्यावृत्त है—ऊर्ध्व स्थिति खण्ड आदि भिन्न २ अवस्था से रहित हैं किन्तु शिलापुत्रक स्थितिमान् है और खण्डादि अवस्थांतरों—भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भी प्रतीत होता है।

इसी कथन से राहु अवस्थावान् है शिर अवस्था है ऐसा कथन सिद्ध हो गया। अर्थात् राहु अवयवी है और शिर आदि उसके अवयव है।

[अवस्था को छोड़कर अवस्थावान् कोई चीज नहीं है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर भाट्ट के द्वारा समाधान]

बौद्ध—अवस्थावान्–स्थितिमान् काल्पनिक है क्योंकि अवस्था को छोड़कर उसकी उपलब्धि नहीं होती है।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना, अन्यथा अवस्था और अवस्थावान् इन दोनों का ही अभाव हो जावेगा।

---

१ कथञ्चिद्भेदमन्तरेणापि भेदव्यवहाराः प्रवर्त्तन्ते चेत्तदा भेदव्यवहाराणां गौणत्वं स्यात् । २ औपचारिकं चैतन्येष्टम्—तात्त्विकभेदस्यानन्तरं निरूपितत्वात् । ३ किमिति सन्देह इति पाठान्तरम् । ४ अन्ययोगव्यवच्छेदाभावे सन्देहविच्छित्तिर्न स्यात् । ५ शरीरे शिरसि चोच्यमाने सति । ६ शरीरशरीरवतोः । ७ अवस्थापेक्षया । ८ सर्वावयवसम्पूर्णता । ९ ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि । १० स्थितिमान् । ११ ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि । १२ व्याख्यात इत्यपि पाठः । १३ (बौद्धः) कल्पितः । १४ अवस्थावस्थावतोः ।

(1) व्याख्यातः इति पा. ।

तुरसत्त्वे सांवृतत्वे वावस्थायाः सत्त्वाऽसांवृतत्वविरोधात् [१]खपुष्पसौरभवत् कृत्रिमफणिफटादिवच्च । [२]ततो वस्तुस्वभावाश्रय[३] एव यागं करोतीति [४]व्यपदेशः—सत्यप्रतीतिकत्वात् । संविदमनुभवतीत्यादि व्यपदेशवत्[1] ।

तथा[५] द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते । ततः परा च निर्बाधा करोतीति क्रियोच्यते ।।
यजि क्रियापि [2]भावस्याऽ[६]विशेषादपरैव[७] [८]हि । [3]सामानाधिकरण्येन[3] देवदत्ततया[९] गतेः ।।

[करोतिक्रिया सामान्यं यज्यादिक्रिया विशेषाः तयोः सामान्यविशेषयोःभेदोऽस्ति इति भाट्टेनोच्यमाने बौद्धो दोषानारोपयति]

द्विजो हि व्यापृतेतरावस्थानुयायी[4] [5]स [6]एवायमित्येकत्वप्रत्यवमर्षवशान्निश्चितात्मा[१०]

अर्थात् स्थितिमान् का अभाव मान लेने पर अथवा उसे काल्पनिक मान लेने पर अवस्था का भी सत्त्व, वास्तविकत्व विरुद्ध हो जावेगा । जैसे आकाश पुष्प का अभाव कहने पर अथवा उसे काल्पनिक मान लेने पर उसकी सुगन्धि का सत्त्व और वास्तविकत्व विरुद्ध है मतलब न आकाश पुष्प ही है न सुगन्धि ही है । एवं कृत्रिम फणि के फटाटोप के समान व्यर्थ है । अर्थात् जैसे कागज या मिट्टी का बनाया हुआ सर्प फण को उठाकर डरा नहीं सकता है वैसे ही स्थितिमान् वस्तु को काल्पनिक कहने पर उसके अवयव आदि भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे । इसलिए 'यागं करोति' यह व्यपदेश वस्तु स्वभाव का ही आश्रय लेने वाला है क्योंकि सत्य प्रतीति आ रही है अर्थात् यागकृति—यज्ञक्रिया लक्षण पदार्थ अपने स्वरूप के आश्रित ही है, भावना लक्षण जो वस्तु है वह स्वभावाश्रित ही है अर्थ शून्य नहीं है । जैसे "संविदं अनुभवति"— ज्ञान का अनुभव करता है इत्यादि कथन पाये जाते हैं । और दूसरी बात यह है कि —

श्लोकार्थ—द्विज—ब्राह्मण का व्यापार यज्ञ है ऐसा कहा जाता है । और उससे भिन्न बाधारहित "करोति" यह क्रिया स्वीकार की गई है ।

श्लोकार्थ—यजि क्रिया भी द्विज लक्षण भाव (पुरुष) से अभेद रूप होने से भिन्न है अथवा यज्ञ क्रिया भी द्विज–पुरुष से भिन्न होने से भिन्न ही है । ऐसा भी अर्थ टिप्पणी के आधार से होता है क्योंकि देवदत्त के साथ ज्ञान का समानाधिकरण है, सर्वथा ऐक्यरूप समानाधिकरण नहीं है ।।

१ खपुष्पस्यासत्त्वे सांवृतत्वे च सौरभस्य सत्त्वमसांवृतत्वं च विरुद्धयते यथा । २ शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादि व्यवहारः कथञ्चिद्भेदमन्तरेण घटते यतः । ३ यागकृतिलक्षणः पदार्थ आत्मस्वरूपाश्रय एव । ४ भावनालक्षणं यद्वस्तु तत्स्वभावाश्रय इत्युक्तेऽर्थशून्यत्वं नेत्यर्थः । ५ किञ्च । ६ द्विजलक्षणस्य द्रव्यस्य । ७ अभेदात् । ८ यजि क्रिया च द्रव्यस्य विशेषादपरा नहीति च पाठः । ९ सहार्थे तृतीया । १० प्रत्यभिज्ञान ।

(1) कर्तृकर्मरूपमत्रवस्तु । यथा एकस्य संवेदनस्य कर्तृत्वं कर्मत्वं । (2) भावस्य विशेषात् इति पा. । विशेषात्—भेदात् । (3) सर्वथा ऐक्ये सामानाधिकरण्यं नास्ति यतः । (4) यो द्विजः पूर्वं यागं कुर्वन् स्थितः स एवायं यागमकृत्वा स्थित इति । (5) व्यापृतावस्थाव्यापी । (6) अव्यापृतावस्थाव्यापी ।

परमार्थात्सन्नेक:[1]। यागस्तु तद्व्यापार: प्रागभूत्त्वा भवन् पुनरप[2]गच्छन्ननित्यतामात्मसा-सात्कुर्वन् भेदप्रत्ययविषयस्ततोऽपर[3] एव—[4]कथञ्चिद्विरुद्ध[5]धर्माध्यासात्[6]। [7]तथा [8]यागेतर-व्यापारव्यापिनी[1] करोतीति [9]क्रियानुस्यूतप्रत्ययवेद्या [10]तद्विपरीतात्मनो यागादर्थान्तरभूता सर्वथाप्यप्रतिक्षेपा[11]र्हानुभूयते—[12]यजते यागं करोति देवदत्त इति [13]समानाधिकरणतया देवदत्तेन [14]सहावगते:। [15]सर्वथा तदैक्ये तद्विरोधात् पटतत्स्वात्मवत्। [16]किं करोति देवदत्त: ?

[करोति क्रिया सामान्य रूप है और यजनपचनादि क्रियायें विशेष रूप हैं। इनमें भेद हैं, ऐसा भाट्ट के कहने पर वौद्ध के द्वारा दोष आरोपित किये जाते हैं]

यहाँ द्विज, व्यापार और अव्यापार दोनों ही अवस्था का अनुयायी—"यह वही है" इस प्रकार से एकत्व के प्रत्यवमर्ष–प्रत्यभिज्ञान से निश्चित स्वरूप वाला है और वह द्विज परमार्थ से सत् रूप एक है अर्थात् जो ब्राह्मण पहले यज्ञ को करते हुए स्थित था यह वही यज्ञ को न करते हुए स्थित है।" किन्तु याग उसका व्यापार है वह प्राग्—पहले नहीं होकर वर्तमान में होता हुआ पुन: नष्ट होता हुआ अनित्य-पने को आत्मसात् करता हुआ भेद के ज्ञान का विषय है इसलिए उस द्विजपुरुष से वह याग लक्षण व्यापार भिन्न ही है क्योंकि कथंचित्–उत्पाद विनाश की अपेक्षा से विरुद्ध धर्माध्यास देखा जाता है।

तथा द्विज से याग लक्षण भिन्न है एवं याग और पचन व्यापार में व्याप्त होकर रहने वाली "करोति" यह क्रिया अनुस्यूतप्रत्यय—अन्वय रूप ज्ञान से वेद्य है—यजन पचन आदि में करोति के अर्थ का सद्भाव होने से अनुगत प्रत्यय से जानी जाती है और करोति क्रिया से विपरीत स्वरूप याग से अर्थांतरभूत–भिन्न सर्वथा भी निराकरण नहीं करने योग्य यह करोति क्रिया अनुभव में आती है। "यजते, यागं करोति देवदत्त:" इस प्रकार से देवदत्त के साथ याग का समानाधिकरण है। यदि सर्वथा इन दोनों में एकत्व मानोगे तो उसमें विरोध आ जावेगा क्योंकि जैसे वस्त्र और उसके स्वरूप में एकता है वैसी यहाँ नहीं है किसी ने कहा—किं करोति देवदत्त: ? इस प्रश्न के होने पर "यजते पचति" इस प्रकार से निश्चित हो जाने पर भी यज्यादिकों में संदेह देखा जाता है। तथाहि—

१ परमार्थ: सन्नेक: इति पाठान्तरम्। २ नश्यन्। ३ द्विजात्तद्व्यापारो यागरूपो भिन्न एव। ४ उत्पादविनाशापेक्षया। ५ द्विजात्। ६ अनित्यत्वलक्षण। ७ द्विजाद्यागलक्षणक्रिया भिन्ना यथा। ८ पचन। ९ यजनपचनादौ करोत्यर्थसद्भावे-नानुगतप्रत्ययवेद्या। १० करोत्यर्थविपरीतात्मकाद्यजनात् करोतीति क्रियार्थान्तरभूतास्ति। ११ अनिराकरणीया। १२ यागस्तु तद्व्यापारस्ततो देवदत्तादपर एवेति करोतीति क्रिया यागादर्थान्तरभूतेत्यनन्तरोक्तसाध्यद्वये यथाक्रमं यजने यागं करोति देवदत्त: यजतिपचतीत्यादिना च साधनद्वयमुपदर्शयन् यजते इत्याह। १३ देवदत्तस्य करोतेश्च समानाधि-करणता। १४ यागस्य। १५ भो बौद्ध। तयो: करोतीतिक्रियायागयो: देवदत्तेन सह सर्वथैकत्वे तत्सामानाधिकरण्यं विरुद्ध्येत यथा पटपटस्वरूपयो: सर्वथैक्ये सामानाधिकरण्यं विरुद्ध्यते (न तु कथञ्चिदैक्ये)। १६ यागादन्या क्रियेति साधनद्रव्येण स्थापयति।

(1) अव्यापकव्यापकभेदात् कथंचिद् भेद:।

यजति पचतीति प्रश्नोत्तरदर्शनात् करोतीति निश्चितेपि यज्यादिषु [१]सन्देहाच्च । तथा हि ।— [२]यस्मिन्निश्चीयमानेपि यन्न निश्चीयते तत्ततः कथञ्चिदन्यत् । यथान्यदेहे निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमाना बुद्धिः । करोतीति निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमानश्च यज्यादिरिति । [३]स्यान्मतम् ।—

करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ[1] विभिन्नौ यदि तत्त्वतः । अन्यत्सन्दिग्धमन्यस्य [2]कथने दुर्घटः[3] क्रमः[4] ॥

न हि करोतीति क्रियातो विभिन्नायां यज्यादिक्रियायां सन्देहे [४]ततोन्यत्र करोत्यर्थे निश्चिते प्रश्नः श्रेयान्— [५]अनिश्चिते एव प्रश्नस्य साधीयस्त्वात् । ततः करोत्यर्थयज्याद्य-

---

जिसके निश्चित हो जाने पर भी जो निश्चित नहीं किया जाता है वह उससे कथंचित् भिन्न है, जैसे अन्य का शरीर निश्चित हो जाने पर भी उसकी बुद्धि निश्चित नहीं है। "करोति" इस क्रिया के निश्चित हो जाने पर भी यज्यादिक निश्चित नहीं होते हैं इसलिए करोति क्रिया से यजनादिक क्रियायें भिन्न ही हैं।

बौद्ध—श्लोकार्थ—"करोति" क्रिया का अर्थ और यजनादि क्रिया का अर्थ ये दोनों यदि वास्तव में भिन्न-भिन्न हैं तव तो एक के संदिग्ध होने से दूसरे का कथन करने में क्रम दुर्घट हो जावेगा ॥

करोति इस क्रिया से भिन्न यज्यादि क्रिया से अन्यत्र—करोति अर्थ के निश्चित हो जाने पर प्रश्न श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि सामान्य की अपेक्षा से अनिश्चित में ही प्रश्न करना श्रेयस्कर है। इसलिए करोति क्रिया के अर्थ में और यज्यादि क्रिया के अर्थ में तादात्म्य ही मानना चाहिए। वहीं पर प्रश्नोत्तर देखे जाते हैं करोति अर्थ और यज्यादि अर्थ यदि वास्तव में सामान्य-विशेष होने से भिन्न हैं तव तो जव यज्यादि अर्थ संदिग्ध होगा तव करोति क्रिया के अर्थ का कथन करने में यह क्रम नहीं वन सकेगा। एवं किसी ने प्रश्न किया कि गौ कैसी है? उत्तर मिला कि सफेद है। इस उदाहरण से ऐसा समझना कि तादात्म्य में ही प्रश्नोत्तर देखे जाते हैं।

[जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट उत्तर देता है]

भाट्ट—आपका यह कथन भी सुघटित नहीं है क्योंकि करोति क्रिया का अर्थ सामान्य रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप हैं तथा सामान्य और विशेष में कथंचित्—सामान्य की अपेक्षा से अभेद स्वी-

---

१ समानाधिकरणताविरोधः। २ यज्यादिः करोत्यर्थाद्भिन्नः—तस्मिन्निश्चीयमानेपि तस्याऽनिश्चीयमानत्वात्। ३ बौद्ध आह। करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ सामान्यविशेषौ तत्त्वस्वरूपेण यदि भिन्नौ तदान्यो यज्याद्यर्थःसन्दिग्धः अन्यस्य करोत्यर्थस्य कथने प्रश्नोत्तरे तदायं क्रमो दुर्घटः। ४ यज्यादिक्रियातः। ५ सामान्यापेक्षयाऽनिश्चितेर्थे।

---

(1) करोत्यर्थयजत्यर्थौ इति पा.। (2) प्रश्ने। (3) अन्यथा देवदत्ते निश्चिते यज्ञदत्ते संदेहापत्तिः। (4) प्रश्नोत्तरक्रमः।

र्थयोस्तादात्म्यमेषितव्यम्—[1] तत्रैव प्रश्नोत्तरदर्शनादिति । [१]तदेतदनुपपन्नम्— करोत्यर्थस्य सामान्यरूपत्वात्—तद्विशेषरूपत्वाच्च यज्यादेः । सामान्यविशेषयोश्च [2]कथञ्चिदभेदोपगमात् । [२]सन्दिग्धस्यैव [३]कथनात् । प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वाघटनात्[४] । [५]तदभेदैकान्ते एव तस्य दुर्घटत्वात् । स्यादाकूतं ते[६] ।—

[७]न सामान्यं विशेषेण विना [3]किञ्चित्प्रतीयते[८] । सामान्याक्षिप्य[९]माणस्य[4] न हि [१०]नामाऽप्रतीतता ॥

[११]केवलसामान्यप्रतीतौ हि विशेषांशे सन्देह [१२]इत्ययुक्तम्—[१३]तस्याऽप्रतीतत्वात् । [5]घटप्रतीतौ हिमवदादिवत्[6] । [१४]अथ [१५]सामान्येन विशेष[१६] आक्षिप्यते । तथा [१७]सति सोपि

कार किया गया है।

संदिग्ध—यज्यादि अर्थ में ही प्रश्न देखे जाते हैं। अतः प्रश्नोत्तर का क्रम दुर्घट नहीं होता है। अर्थात् सामान्य विशेष में कथंचित् सामान्य की अपेक्षा से अभेद के स्वीकार करने से एकतर - दो में से एक रूप के संदिग्ध का कथन होने से प्रश्नोत्तर का क्रम बन जाता है। उन सामान्य विशेष में सर्वथा-एकांत से अभेद स्वीकार करने पर ही वह क्रम दुर्घट है।

बौद्ध (प्रज्ञाकर)—श्लोकार्थ—"विशेष के बिना सामान्य कुछ भी प्रतीति में नहीं आता है विशेष युक्त ही प्रतीति में आता है। एवं जो सामान्य से स्वीकृत की गई है उसकी निश्चय से अप्रतीति नहीं होती है।" केवल सामान्य की प्रतीति के हो जाने पर विशेषांश में संदेह होता है आप भाट्ट के यहां जो ऐसा कथन है वह अयुक्त है क्योंकि वह विशेष प्रतीति नहीं होता है जैसे घट की प्रतीति में हिमवन् आदि प्रतीत नहीं होते हैं।

भाट्ट—सामान्य (करोति) अर्थ से विशेष (यज्यादि) अर्थ ग्रहण किये जाते हैं। उस सामान्य के प्रतीत होने पर वह विशेष भी प्रतीत होता ही है अतः संशय कैसे हो सकेगा ? क्योंकि प्रतीति को छोड़ कर और अन्य कोई स्वीकृति है ही क्या ?

वह सामान्य—करोति अर्थ से प्रतीत ही है किन्तु विशेष—यज्यादि अर्थ रूप से नहीं है क्योंकि वह विशेष सामान्य रूप से ही जान लिया जाता है।

बौद्ध—वह सामान्य ही आक्षेपक—ज्ञापक—बतलाने वाला हो और वही आक्षेप्य—ज्ञाप्य—बत-

---

१ आह भट्टः। — सामान्यविशेषयोर्वस्तुस्वरूपयोः सर्वथैक्यमित्येतद्वचो बौद्धस्य प्रमाणविरुद्धम्। २ यज्याद्यर्थस्य। ३ प्रश्नात्। ४ सामान्यविशेषयोः कथञ्चित्सामान्यापेक्षया अभेदोपगमादेकतरस्य सन्दिग्धस्य कथनात् प्रश्नोत्तरक्रमो घटते। ५ तयोः सामान्यविशेषयोः सर्वथाऽभेदे सत्येव तस्य प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वं स्यात्। ६ प्रज्ञाकरस्य। ७ भट्टेन यदि सामान्यविशेषयोः कथञ्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते तदा न सामान्यमित्यादि। ८ विशेषयुक्तमेव प्रतीयते इत्यर्थः। ९ सामान्येन स्वीक्रियमाणस्य (ज्ञाप्यमानस्य)। १० निश्चयेन। ११ कारिकायाः पूर्वार्धस्य सुगमत्वादुत्तरार्द्धं व्याचष्टे। १२ भट्टवचनम् १३ विशेषस्य। १४ भट्टः। १५ करोत्यर्थेन। १६ यज्याद्यर्थः। १७ (बौद्धः) सामान्ये प्रतीते सति।

---

(1) गौः कीदृशीति प्रश्ने धवलेति उत्तरमुदाहरणं। (2) सामान्यापेक्षया। (3) ततः कथं विशेषे संदेहः। (4) विशेषस्य प्रतीतस्य। (5) सामान्यविशेषयोः सर्वथा भेदविवक्षायां वक्ति। (6) संदेहः स्यान्न च तथा।

प्रतीत एवेति कथं संशयः ? न हि प्रतीतत्वादपर [१]आक्षेपः । अथ प्रतीत एवासौ [२]सामान्येन न तु [३]विशेषेण—तस्य सामान्यरूपेणाक्षेपात्[४] । [५]ननु तदेव सामान्यमाक्षेपकं[६] तदेवाक्षेप्यमिति कथमेतत् ? न च सामान्यादपरं सामान्यमाक्षेप्यम् । [७]तथा सति ततोप्यपरं ततोप्यपरमित्यनवस्था(1) । [८]ननु सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषा(2)ऽप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयो युक्त [९]एव, न(3) त्वनुपलम्भादभाव(4) एव(5) युक्तः (6)सामान्येनानुपलम्भप्रमाणवादिनः[१०] । [११]अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भादभावे(7) नानुपलब्धिमात्रात् (8)तथा[१२]नुपलब्धेरेव[१३] संशयः [१४]व्यर्थमेतत्सामान्यप्रत्यक्षादिति । यदि सामान्यप्रत्यक्षतायामप्युपलब्धि[१५]लक्षणप्राप्तानुपलब्धिर्न[१६] [१७]स्यात् । [१८]स्यात्संशयः[१९] । [२०]अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरेव न सम्भवति सामान्यप्रत्यक्षतायाम् ।

लाने योग्य हो यह कैसे हो सकेगा ? एवं सामान्य से भिन्न कोई सामान्य तो आक्षेप्य है नहीं । यदि अपर सामान्य मानोगे तो उससे भी भिन्न अपर सामान्य पुनः उससे भी भिन्न अपर सामान्य इत्यादि रूप से अनवस्था आ जावेगी ।

भाट्ट—सामान्य का प्रत्यक्ष होने से तथा विशेष का प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति के होने से संशय होना युक्त ही है किन्तु अनुपलंभ होने से अभाव ही है ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि हम भाट्ट सामान्य अनुपलंभ प्रमाणवादी हैं । अर्थात् दृश्यानुपलंभ और अदृश्यानुलंभ के विभाग विना अनुपलम्भमात्र से अभाव कहना ठीक नहीं है ।

उपलब्धि लक्षण प्राप्त वस्तु का अनुपलब्धि से अभाव होता है अनुपलब्धिमात्र से नहीं ।

प्रज्ञाकर—उस प्रकार से अनुपलब्धि से अभाव होता है इसलिए "सामान्यप्रत्यक्षात्" यह कथन व्यर्थ है । यदि सामान्य की प्रत्यक्षता हो जाने पर उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि नहीं होवे तब तो संशय हो सकता है ।

भाट्ट—सामान्य की प्रत्यक्षता में तो उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि ही संभव नहीं है ।

---

१ स्वीकारः । २ करोत्यर्थेन । ३यज्याद्यर्थेन । ४ परिज्ञानात् । ५ बौद्धः । ६ ज्ञापकम् । ७ अपरस्मिन् सामान्ये सति । ८ भाट्टः । ९ दृश्यमानानुपलम्भाऽदृश्यमानानुपलम्भविकल्पद्वयं परिहृत्य सामान्यमेवानुपलम्भप्रमाणं यो वदति तस्यानुपलम्भादभाव एव घटते, न तु संशयः । १० भाट्टस्य । ११ भाट्टः प्राह । १२ उत्तरमाह प्रज्ञाकरः । १३ अनुपलब्धिमात्रादेव । १४ यतस्ततः । १५ यज्यादि । १६ किन्त्वनुपलब्धिमात्रं स्यात् । १७ तर्हि । १८ नास्ति च तथा ततश्च भाव एवेति भावः । १९ तथाऽनुपलब्धिलक्षणरूपायाः पिशाचादीनामनुपलब्धेः संशयो युक्तः । २० भाट्टः ।

---

(1) विशेषं विना सामान्यं न प्रतीयते सामान्ये विशेषस्याक्षेपात् तर्हि विशेषः प्रतीयते एवेत्यादि ग्रंथपरावर्तः । (2) अदर्शनात् । (3) नन्वनुपलंभात् इति पा. । प्रज्ञाकरः । (4) विशेषस्य । (5) न तु संशयः । (6) दृश्यादृश्यानुपलंभविभागं विना । (7) अभावो इति पा. । (8) तथा सत्यप्यनुपलब्धेरेव इति पा. ।

एवं [1]तर्हि सैवानुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः संशयहेतुरिति प्राप्तं; विशेषस्मृतेरिति च [1]व्यर्थम्। न हि विशेषस्मृतिव्यतिरेकेणापरः संशयः—[2]उभयांशावलम्बिस्मृतिरूपत्वात्संशयस्य। दृश्यते च कन्याकुब्जादिषु[3] सामान्यप्रत्यक्षतामन्तरेणापि[4] प्रथमतरमेव स्मरणात् संशयः। [5]तस्मात्करोतीति[6] तदेव [7]यज्यादिकमनियमेन प्रतीयमानं [8]सामान्यतो [9]दृष्टानुमानात्सामान्यम्।

[बौद्धेनारोपितसंशयदोषो भाट्टेन निराक्रियते]

तदेतदपि प्रज्ञापराधविजृम्भितं प्रज्ञाकरस्य—करोत्यर्थसामान्यस्याध्यवसाये[10] यज्याद्यर्थविशेषानवगतावेव [11]तत्संशयोपगमात्। न च सामान्येध्यवसिते ततोन्यत्र–विशेबेनध्यवसिते[2]

बौद्ध—यदि ऐसा है तो वही अनुपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि संशय का हेतु है यह बात सिद्ध हो गई है पुनः "विशेष की स्मृति होने से" यह कथन व्यर्थ ही है।

विशेष स्मृति को छोड़कर संशय नाम की और कोई चीज ही नहीं है। क्योंकि संशय तो "यजति, पचति" उभय अंश का अवलंबन करने वाली जो स्मृति है उस रूप है। कान्य कुब्जादि ब्राह्मणों में सामान्य प्रत्यक्षता के विना भी प्रथमतर के स्मरण से ही संशय होता है। इसलिए करोति इस प्रकार का कथन है वही यज्यादि विशेष रूप है और अनियम से—विना नियम के प्रतीत होता हुआ सामान्य (एक रूप से) दृष्टानुमान से सामान्य है।

[बौद्ध के द्वारा आरोपित संशय दोष का भाट्ट के द्वारा निराकरण किया जाता है।]

भाट्ट—यह सब आप प्रज्ञाकर का कथन भी प्रज्ञा के अपराध से विजृंभित ही है। क्योंकि करोति क्रिया के अर्थ सामान्य का निश्चय हो जाने पर एवं यज्यादि अर्थ विशेष का ज्ञान न होने पर ही विशेष में संशय घटित होता है। सामान्य के निश्चित होने पर और उससे अन्यत्र विशेष का निश्चय न होने पर संशय होता है ऐसा मानने से तो अति प्रसंग दोष आ जावेगा। क्योंकि सामान्य और विशेष में कथंचित् अभेद स्वीकार किया गया है। किन्तु हिमवन पर्वत एवं घटादिकों में तो परस्पर में अत्यंत भेद देखा जाता है।

१ तर्हि वैयर्थ्यं भवतु का नो हानिरित्युक्ते आह। २ यजतिपचति। ३ नागरेषु कान्यकुब्जादिषु इति खपाठः। ४ सामान्ये संशयस्यान्वयव्यतिरेकौ न स्तः। अनुपलब्धिमात्रे स्तः। ततश्च सामान्यप्रत्यक्षादिति विशेषणं व्यर्थम्। ५ संशयो न घटते यतः। ६ उल्लेखनम्। ७ विशेषरूपं न तु करोतीति क्रियारूपम्। ८ एकत्वेन। ९ दृष्ट इति भावप्रधानोयं निर्देशः। ततश्च सामान्यतो दृष्टात् सामान्यरूपेण दृश्यमानत्वाल्लिङ्गाज्जातमनुमानं तस्माद्यज्यादिकं सामान्यम्—तथैव दृश्यमानत्वात्। यद्यथा दृश्यते तत्तथैव भवति यथा नीलं नीलतया। इत्यनुमानम्। (भट्टः) यज्यादिकं सामान्यं न भवति—तद्व्यतिरिक्तकरोतिसामान्यासम्भवात्। सत्त्वसामान्यासम्भवे घटादिवत्। इत्युक्ते सौगतः प्राह।—यज्यादिकं स्वव्यतिरिक्तकरोतिसामान्यासम्भवेपि सामान्यं भवति परापरसामान्येषु सामान्यान्तराऽभावेपि सामान्यं सामान्यमिति प्रतीतिलक्षणानुमानसद्भावादिति भावः। १० निश्चये। ११ विशेषे संशयो घटते।

(1) पूर्वोक्तानुपलब्धिमात्ररूपा। (2) विशेषेऽनवसिते इति वा क्वचित् पाठः।

संशीतावतिप्रसङ्गः—सामान्यविशेषयोः [1]कथञ्चिदभेदात् ।—हिमवद्घटादीनां तु परस्परमत्यन्तभेदात् । [2]एकत्र निश्चयेपि [3]नानवगततदन्यतमे(1) संशीतिर्यतोतिप्रसङ्गः स्यात् । नापि सामान्येनाक्षिप्ते(2) (3)तद्विशेषसंशयो(4)पगमोस्ति(5) (6)यतस्तदाक्षेपपक्षनिक्षिप्तदोषो(7)पक्षेपः[4] । न (8)चैवमनभिमततद्विशेषेष्वविशेषेण संशयोनुषङ्गी—स्मरणविषये एव विशेषेनेकत्र(9) [5]संशयप्रतीतेः ।

[संशयलक्षणस्य विचारः]

सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशय इति वचनात् । सामान्ये ह्युपलभ्यमाने [6]तदविनाभाविनो विशेषस्यानुपलम्भेपि नाभावः सिद्ध्यति—तदभावे तस्याप्यभावप्रसङ्गात्[7] । तदुक्तम् ।—

एकत्र—घट का निश्चय होने पर भी हिमवन् पर्वत आदि के नहीं जानने पर संशय नहीं हो सकता है कि जिससे अति प्रसंग दोष आ सके अर्थात् नहीं आ सकता है । एवं सामान्य से स्वीकृत में उस विशेष का संशय भी नहीं है, कि जिससे उस आक्षेप पक्ष में निक्षिप्त दोषों का प्रसंग हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है । मतलव हमारे स्वीकार किये गये पक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग नहीं हो सकता है और इस प्रकार से अनभिमत उन विशेषों में सामान्य रूप से संशय का प्रसंग नहीं है क्योंकि स्मरण के विषयभूत अनेक विशेष में ही संशय होता है । अर्थात् विवक्षित वस्तु में सामान्य के साथ अविनाभावी वहुत से विशेषों के होने पर एक स्मरण के विषयभूत विशेष में संशय घटित होता है अनभिमत अविवक्षित वस्तु के उन विशेषों में संशय नहीं होता है ।

[संशय के लक्षण का विचार]

क्योंकि "सामान्य का प्रत्यक्ष होने से और विशेष का प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति के होने से संशय होता है" ऐसा हमने कहा है । सामान्य के उपलभ्यमान होने पर उस सामान्य से अविनाभावी विशेष की अनुपलब्धि में भी अभाव सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि उस विशेष के अभाव में तो सामान्य के भी अभाव का प्रसंग आ जावेगा । कहा भी है—

श्लोकार्थ—निर्विशेष सामान्य खरगोश की सींग के समान है और सामान्य रहित विशेष भी उसी प्रकार से—शश विषाण के समान ही है । इस प्रकार से विशेष में अदृश्यानुपलब्धि के होने से ही संशय

---

१ क्रियान्वयलक्षणसामान्यरूपेण । २ घटे । ३ हिमवदादौ । ४ अपि तु न । ५ विवक्षितवस्तुसामान्याविनाभाविविशेषेपु वहुपु सत्स्वेकस्मिन् स्मरणगोचरे विशेषे संशयो घटते । अनभिमतस्याविवक्षितस्य वस्तुनस्तेषु विशेषेपु संशयो नास्ति । ६ सामान्य । ७ विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावप्रसङ्गात् ।

---

(1) तदन्यतमसंशीतिः इति पा. । (2) ज्ञाते । (3) तद्विशेषे इति पा. । (4) सामान्यरूप । विशेषमात्रे इत्यर्थः । (5) कथंचिदभिन्ने । ( ) भासः विशेपस्य । (7) अनवस्थादि प्राप्तिः । (8) सामान्येनाक्षिप्ते तद्विशेषे संशयानुपगमप्रकारेण । विवक्षितविशेषप्रकारेण । अविवक्षितं । (९) विशेषे अनेकत्र ।

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥

[1]न [2]चैवं विशेषेऽदृश्यानुपलब्धेरेव संशयः—स्मृतिनिरपेक्षत्वप्रसङ्गात् । विशेषस्मृतिरेव संशय इति चेन्न—साध्यसाधनव्याप्तिस्मृतेरपि संशयत्वप्रसङ्गात् । सर्वसाधनानां [3]संशयितसाध्यव्याप्तिकत्वापत्तेस्तत्स्मृतेरचलितत्वान्न संशयत्वमिति चेत्तर्हि चलिता[4] [5]प्रतीतिः संशयः । सा[1]चोभयविशेषस्मृत्युत्तरकालभाविनी—[6]तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् । न [2]पुनर्विशेषस्मृति-

है ऐसा भी नहीं कहना, अन्यथा—वह स्मृति से निरपेक्ष हो जावेगा ।

विशेषार्थ—यहां पर भाट्ट ने संशय का लक्षण किया है कि "सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से, और विशेष धर्म के प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति होने से संशय होता है ।" एवं जैनाचार्यों के संशय का लक्षण इस प्रकार है "विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानं संशयः" यथा स्थाणुर्वा पुरुषोवेति । स्थाणुपुरुषसाधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य वक्रकोटरशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणाभावादनेककोटयवलंवित्वं ज्ञानस्य । अर्थात् विरुद्ध "अनेक पक्षों के अवलंवन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं" । जैसे—यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष ? यहां स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव पुरुषत्व और पुरुषत्वाभाव इन चार अथवा स्थाणुत्व और पुरुषत्व इन दो पक्षों का अवगाहन होता है । प्रायः संध्या आदि के समय मंद प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाणु और पुरुष दोनों में सामान्य रूप से रहने वाले ऊंचाई आदि साधारण धर्मों के देखने से और स्थाणुगत टेढ़ापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर पैर आदि विशेष धर्मों के साधक प्रमाणों का अभाव होने से नाना कोटियों का अवलंवन करने वाला यह संशय ज्ञान होता है । मतलव चलायमान ज्ञान को संशय कहते हैं, यह ऐसा है या ऐसा ? इत्यादि । यहां पर भाट्ट द्वारा मान्य लक्षण भी प्रायः मिलता जुलता है । इस पर वौद्ध की अनेक कल्पनायें हैं "विशेष की अदृश्यानुपलब्धि रूप अभाव से संशय होता है" या विशेष की स्मृति से संशय होता है इत्यादि मान्यतायें ठीक नहीं है ।

शंका—विशेष की स्मृति होना ही संशय है ।

भाट्ट—ऐसा भी नहीं कहना । अन्यथा साध्य साधन की व्याप्ति का स्मरण भी संशय हो जावेगा । पुनः सभी हेतुओं को संशयित साध्य से व्याप्त मानना होगा । यदि आप कहें कि उन हेतुओं की स्मृति अचलित है अतः उनसे संशय नहीं होता है तव तो चलित प्रतीति ही संशय है यह वात सिद्ध हो गई । और वह चलित प्रतीति उभय (यजन और पचन रूप उभय) विशेष स्मृति के उत्तर काल में होती है क्योंकि उसका अन्वय व्यतिरेक माना गया है । किन्तु सामान्य की उपलब्धि के समान विशेष की स्मृति

१ (भट्टः) विशेषाणामनुपलम्भादभावासिद्धप्रकारेण । २ एवं विशेषे सामान्याविनाभाविनि सति अदृश्यानुपलब्धेः सकाशात्संशयो न भवति किन्तु दृश्यानुपलब्धेरेव संशयः । अदृश्यानुपलब्धौ स्मृतेर्निरपेक्षत्वं भवति किन्तु दृश्यानुपलब्धौ नापेक्षा स्मृतिः । ३ संशयिता संशयप्राप्ता साध्ये व्याप्तिर्येषां तानि संशयितसाध्यव्याप्तिकानि तेषां भाव इत्यादि । ४ अनिश्चिता ५ प्रतिपत्तिरिति पाठान्तरम् । ६ संशयस्य ।

(1) यजनपचनयोः । (2) तर्हि चलिता प्रतिपत्तिः संशयो न पुनर्विशेषे स्मृतिरेवेति संबंधो दृष्टव्यः ।

रेव[१] सामान्योपलब्धिवत् । तदुभयांशावलम्बिनी स्मृतिः संशीतिरित्यपि [२]फल्गुप्रायम्—[३]तदविचलनेपि संशीति प्रसङ्गात् । [४]सामान्याप्रत्यक्षतायामपि कन्याकुब्जादिषु प्रथमतरमेव [1]स्मरणात् संशयदर्शनान्न सामान्योपलम्भः संशयहेतुरिति चेन्न—असिद्धत्वात् । तत्रापि हि [५]प्रासादादिसन्निवेशविशेषविषयः[2] संशयः कन्याकुब्जनगरसामान्योपलम्भन [६]पुरस्सर एव—[७]सर्वथानुपलम्भे संशयविरोधात् सर्वथोपलम्भवत्[3] । योपि [८]तद्भावाभावविषयः[4] संशयः सोपि नगरादिसामान्योपलम्भपूर्वक एव । नगरादिकं सामान्यतस्तावत्प्रसिद्धम् । कन्याकुब्जादि नामकं तु [5]तदस्ति किं वा नास्तीत्युभयांशावलम्बिनः प्रत्ययस्योत्पत्तेर्न च नगरत्वं[6] नाम न किञ्चिदिति वक्तुं शक्यम्—

ही संशय नहीं है।

उन उभय अंशों का अवलंबन लेने वाली स्मृति संशय है यह आप बौद्ध का कथन भी फल्गु प्रायः है क्योंकि ऐसा मानने पर तो साध्य-साधन रूप उभय अंशावलंवी निश्चल भूत में भी—अविचलन में भी संशय का प्रसंग आ जावेगा।

बौद्ध—सामान्य की प्रत्यक्षता के न होने पर भी कान्यकुब्जादिकों में प्रथमतर ही स्मरण होने से संशय देखा जाता है अतः सामान्य का प्रत्यक्ष होना संशय में हेतु है यह कथन ठीक नहीं है।

भाट्ट—नहीं। क्योंकि आपका यह कथन असिद्ध है। वहाँ पर भी प्रासादादि रचना विशेष को विषय करने वाला संशय है और वह कन्याकुब्ज नगर सामान्य की उपलब्धि पूर्वक ही है। क्योंकि सामान्य रूप से भी विशेष की अनुपलब्धि होने पर अर्थात् सर्वथा अनुलब्धि होने पर संशय का विरोध है सर्वथा उपलब्धि के समान।

जो भी सामान्य के भाव और विशेष के अभाव रूप—भावाभाव का विषयभूत संशय है वह नगरादि-सामान्य की उपलब्धि पूर्वक ही है। सामान्य से नगरादि तो प्रसिद्ध ही है किन्तु कान्यकुब्जादि नाम वाले हैं या नहीं ? इस प्रकार से उभयांशावलंवी ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु नगर का नाम कुछ नहीं है ऐसा कहना तो शक्य नहीं है। प्रत्यासत्ति विशेष होने से प्रासादादि के समूह को ही नगर कह दिया जाता है। वहाँ "नगरं नगरं" इत्यादि रूप से अनुस्यूत ज्ञान का हेतु होने से नगर सामान्य सिद्ध है। उस नगर सामान्य की उपलब्धि पूर्वक उन महलादि विशेष में संशय उत्पन्न होता है यह बात विरुद्ध

---

१ संशय इति शेषः। २ बौद्धोक्तम्। ३ साध्यसाधनेत्युभयांशाविचलनेपि (निश्चलभूतेपि)। ४ बौद्धः। ५ रचना-विशेष। ६ पूर्वक एव। ७ सामान्यरूपेणापि विशेषस्यानुपलम्भे। ८ सामान्यस्य भावः विशेषस्याभावस्तयोर्विषयः। संशय।

---

(1) विशेष। (2) स्वस्तिक सर्वतोभद्रादि। (3) सामान्यविशेषप्रकारेण। (4) कन्याकुब्जादिनगरम्। कन्याकुब्जादि नगरम् भवति न वा। (5) भवति। (6) नगरं इति पा.।

प्रत्यासत्तिविशेषस्य[1] प्रासादादिसमूहस्य नगरत्वोपवर्णनात् । [१]तत्रानुस्यूतप्रत्ययहेतोर्नगरत्वसामान्यस्य सिद्धेस्तदुपलम्भपूर्वकस्तद्विशेषे[२] संशयो न विरुध्यत एव । ततः करोत्यर्थसामान्योपलम्भात्तद्विशेष[३]यज्याद्यर्थस्यानुपलब्धेरनेक[2]विशेषस्मरणाच्च[४] युक्तस्तत्र [५]सन्देहः । न हि तदेव यज्यादिकमनियमेन[६] [७]करोतीत्युपलब्धुं शक्यम् । [८]करोत्यर्थसामान्यासम्भवे[3] सत्त्वसामान्यासम्भवे घटादिकमिवास्तीत्यनियमेन[4] [९]पराऽपरसामान्येषु[5] पुनः सामान्यमित्यनियमेनोपलम्भो गौण एव—सामान्येषु सामान्यान्तरासम्भवात् । तत्सम्भवे वानवस्थाप्रसङ्गात् । न चैवं[१०] [११]सर्वत्र सामान्यमन्तरेणैवानियतप्रत्ययो[१२] गौण इति वक्तुं [१३]शक्यम्—[१४]मुख्याभावे गौणस्यानुपपत्तेः । [१५]विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः [१६]सामान्याकारो मुख्यः [१७]स्वलक्षणेषु

नहीं है ।

इसलिए करोति क्रिया के अर्थ सामान्य की उपलब्धि होने से यजति पचति रूप विशेष यज्यादि अर्थ की अनुपलब्धि होने से एवं यजते, पचति इत्यादि अनेक विशेषों का स्मरण होने से वहाँ संदेह होना युक्त ही है । क्योंकि वे ही यज्यादिक क्रियायें बिना नियम से करोति इस क्रिया के अर्थ को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं ।

बौद्ध—करोति क्रिया का अर्थ सामान्य न होने पर सत्त्व सामान्य के असंभव में वह घटादि के समान है । इस प्रकार के अनियम से पर सामान्य—महासत्ता और अपर सामान्य - यजति पचति इत्यादि उस विशेष भाव रूप विशेष सत्ता हैं । पुनः यह सामान्य है इस प्रकार की उपलब्धि गौण ही है क्योंकि सामान्य में भिन्न सामान्य असंभव है । अथवा यदि सामान्य में भी सामान्यांतर मानो तो अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा ।

भाट्ट—इस प्रकार से परापर सामान्यों में सामान्य की उपलब्धि को गौणता से सभी वस्तुओं में सामान्य के बिना ही अनियत—सामान्य प्रत्यय गौण है ऐसा आप सौगत का कहना शक्य नहीं है । क्योंकि मुख्य सामान्य के अभाव में गौण हो ही नहीं सकता है ।

---

१ नगरं नगरमिति । २ प्रासादादौ । ३ यजति पचतीत्यादि । ४ नगरेऽनुगतज्ञानकारणात् । ५ तस्मादित्युपसंहारग्रन्थं निराकुर्वन्नाह भाट्टः । ६ अभेदेन सामर्थ्येन । ७ करोत्यर्थेन । ८ सौगतः । ९ ननु परापरेषु सामान्येषु परं सामान्यं महासत्ता अपरं करोति पचति यजतीत्यादि तद्विशेषस्वभाव एव तदभावेपि (सामान्यभावे) इदं सामान्यमिदं सामान्यमिति सामान्यमन्तरेणापि सामान्यमुपलब्धुं शक्यत एवेत्युक्ते आह । १० परापरसामान्येषु सामान्योपलम्भस्य गौणत्वप्रकारेण । ११ वस्तुषु । १२ सामान्यप्रत्ययः । १३ हे सौगत ! १४ मुख्यसामान्यस्य । १५ सौगतः । १६ [illegible] बहिर्न्यः (सत्याकार इति पाठान्तरम् ।) १७ अणुक्षणिकेषु ।

---

(1) वस्तुः । संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वलक्षण । (2) यजते पचतीत्यादि । (3) पूर्वपक्षानुमाने हेतुविन्दः प्रतिज्ञा [illegible] । हेतुगर्भितं विशेषणं । (4) सामान्येन । (5) बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति ।

पुनरारोप्यमाणो गौण इति [1]चेन्न—विशेषाकारस्यापि[2] [3]तत्र गौणत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम्—प्रत्यक्षबुद्धौ[4] प्रतिभासमानो विशेषाकारो [5]मुख्यो, बहिः स्वलक्षणेषु स एवाध्यारोप्यमाणो गौण इति । नन्वेवमपि[6] ज्ञानविशेषाः [7]परमार्थतः सन्तः सिद्धाः ? वहिरर्थविशेषास्तु न वास्तवा इति [8]विज्ञानवादिमतमायातं [9]तर्हि[1]—विज्ञानसामान्यं वस्तुभूतं न बहिरर्थसामान्यमिति [10]सामान्यविशेषात्मकं विज्ञानं परमार्थसदायातं [11]न [2]क्षणिकविज्ञानस्वलक्षणवादि-

सौगत—विकल्प बुद्धि में प्रतिभास मान सामान्याकार—(अन्यापोह वाह्यार्थ) मुख्य है पुनः अणु-क्षणिक रूप स्वलक्षणों में आरोपित किया गया सामान्य गौण है।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना। अन्यथा—उन अणु क्षणिकों में विशेषाकार—स्वलक्षण गौण हो जावेगा। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष बुद्धि—निर्विकल्प ज्ञान में प्रतिभास मान विशेषाकार मुख्य है, क्योंकि वह निर्विकल्प ज्ञान का ही विशेषाकार है वाह्य पदार्थ का नहीं है, वाह्य स्वलक्षणों में "यह वही है" ऐसा अध्यारोपित किया गया आकार गौण है।

सौत्रान्तिक बौद्ध—इस प्रकार से भी सामान्य और विशेष का वाह्य में सत्त्व न होने से ज्ञान विशेष परमार्थ सत् सिद्ध है किन्तु वाह्य अर्थ विशेष वास्तविक नहीं है।

इस प्रकार से विज्ञानवादियों का मत आ जाता है जो हमें इष्ट नहीं है।

भाट्ट—तव तो विज्ञान सामान्य ही वास्तविक है किंतु वाह्य अर्थ सामान्य वस्तु भूत नहीं है इस प्रकार से सामान्य विशेष ज्ञान ही पारमार्थिक सत् है किन्तु क्षणिकविज्ञान स्वलक्षणवादी सौत्रांतिक का मत सिद्ध नहीं होता है अर्थात् ज्ञान में पूर्व में सामान्य को स्वतः स्वीकार किया है। विकल्प बुद्धि में प्रतिभास मान सामान्याकार मुख्य है इसलिए परमार्थसत् है यह वात सिद्ध हो जाती है—क्योंकि विकल्प ज्ञान में सामान्य का आकार स्वीकृत किया है निर्विकल्प में नहीं माना है अतः कोई दोष नहीं है ऐसा भी नहीं मानना, विकल्प ज्ञान के स्वरूप में निर्विकल्प रूप से वाह्य सामान्याकार भी मुख्यत्व रूप से स्वीकृत किया गया होने से परमार्थ से सामान्य विशेषात्मक ज्ञान सिद्ध हो गया इसलिए अंतर्वाह्य वस्तु के सिद्ध न होने से सौत्रांतिक का मत सिद्ध नहीं होता है।

सौगत—विकल्प ज्ञान में भी होने वाले सामान्याकार—घट पटादि आकार वास्तविक नहीं हैं

१ भाट्टः । २ स्वलक्षणक्षणस्य । ३ अणुक्षणिकेषु । ४ निर्विकल्पकज्ञाने । ५ निर्विकल्पज्ञानस्यैव विशेषाकारो न तु वहिरर्थस्य । ६ (सौत्रान्तिकः) सामान्यविशेषयोर्वहिरसत्त्वप्रकारेण । ७ परमार्थसन्त इति पाठान्तरम् । ८ योगाचारमतम् । ९ भाट्टः । १० ज्ञाने पूर्वं सामान्यस्य स्वयमभ्युपगतत्वात् विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः सामान्याकारो मुख्य इति परमार्थसदायातम्—विकल्पज्ञाने सामान्याकारस्याभ्युपगमात् निर्विकल्पके तदनभ्युपगमाददोष इति न मन्तव्यम्—विकल्पज्ञानस्य स्वरूपे निर्विकल्पकत्वेन वहिः सामान्याकारस्यापि मुख्यत्वाभ्युपगमेन परमार्थतः सामान्यविशेषात्मनो ज्ञानस्य समायातत्वात् । ११ सौत्रान्तिकस्य ।

(1) सौत्रांतिकमतमाशंक्य भट्टेनोच्यते। (2) स्वलक्षण।

मतम्[१]। [२]विकल्पविज्ञानेपि न वास्तवः [३]सामान्याकारः—तस्याऽनाद्यविद्योपपादितत्वात्। संवेदनस्वरूपस्यैवासाधारणस्य[1] परमार्थसत्त्वादिति [४]चेन्न—विपर्ययस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात्। संवेदनेपि नासाधारणाकारः पारमार्थिकः—तस्यानाद्यविद्योदयनिबन्धनत्वात् [५]संवेदनसामान्यस्यैव वास्तवत्वादिति [६]वदतोऽन्यस्यापि निवारयितुमशक्यत्वात्[७]। [८]न वस्तुभूतं संवित्सामान्यम्[2]—[९]वृत्तिविकल्पान[3]वस्थादिदोषानुषङ्गात् बहिरर्थसामान्यवत्[4] इति चेत्तर्हि[१०] न संविद्विशेषः परमार्थः सन्—[5]विचार्यमाण[११]योगाद्बहिरर्थविशेष[6]वदित्यप्यन्यो ब्रूयात्[१२]। तथा च [१३]सत्याऽऽश्रयासिद्धो हेतुरित्युभयत्र[१४] समानं दूषणम्। साध्य[१५]साधनविकलं

क्योंकि वे सामान्याकार अनादि अविद्या से उपकल्पित हैं। किंतु असाधारण संवेदन स्वरूप ही परमार्थ सत् है।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि इससे विपरीत कल्पित करना भी शक्य है। संवेदन में भी असाधारणाकार पारमार्थिक नहीं हैं वे अनादि अविद्या के निमित्त से ही हैं, अतः संवेदन सामान्य निर्विकल्प ज्ञान ही वास्तविक है ऐसा कहने वाले हम भाट्ट का भी आप सौगत निवारण नहीं कर सकते हैं।

सौगत—संवित् (ज्ञान) सामान्य वस्तुभूत नहीं है। क्योंकि वृत्ति, विकल्प अनवस्था आदि अनेक दोषों का प्रसंग आ जाता है। जैसे कि बाह्यार्थ सामान्य को स्वीकार करने पर अनेक दोष आ जाते हैं।

भाट्ट—तब तो संवित् विशेष भी परमार्थ सत् सिद्ध नहीं होगा क्योंकि विचार करने पर बाह्य पदार्थ के समान उसका भी अभाव हो सिद्ध होगा। इस प्रकार से संवित्सामान्यवादी भी कह सकते हैं और ऐसा कहने पर तो आपका हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता है। इस प्रकार से संवितसामान्य और संवित्विशेष दोनों में दूषण समान ही हैं। और हमारा जो "बहिरर्थवत्" दृष्टांत है वह साधन शून्य है ऐसा भी आप नहीं कह सकते हैं क्योंकि वह भी समान ही है।

सौगत—संवित् स्वलक्षण—विशेष अद्वैत को स्वीकार करने से माध्यमिक के प्रति सिद्ध साधन

१ सौत्रान्तिकवादिमतम्। २ सौगतः प्राह। ३ घटपटाद्याकारः। ४ भाट्टः। ५ निर्विकल्पकज्ञानं। ६ भाट्टस्य। ७ सौगतेनेति शेषः। ८ सौगतः। ९ एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्यादिकारिकाव्याख्याने चतुर्थपरिच्छेदे निरूपितत्वात्। १० भाट्टः। ११ यद्यसत्सर्वथा कार्यमित्यादिकारिकाव्याख्याने तृतीयपरिच्छेदे विचार्यमाणस्यायोगात्। १२ संवित्सामान्यवादी भाट्टः। १३ संवित्सामान्यं प्रमाणसिद्धमसिद्धं वा? प्रमाणसिद्धं चेन्न—वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषङ्गात्। अप्रमाणसिद्धं चेत्तर्हि आश्रयासिद्धो हेतुः। एवं संविद्विशेषः प्रमाणसिद्धोऽप्रमाणसिद्धोवेत्यत्रापि योज्यम्। १४ संवित्सामान्यसंविद्विशेषयोः। १५ सौगत आह—हे भट्ट बहिरर्थविशेषवदिति त्वयोक्तो दृष्टान्तः साध्यसाधनविकल इति। भट्टो वदति—इत्यपि सौगतेन न चोद्यम्—तवापि बहिरर्थसामान्यवदिति दृष्टान्ते तुल्यदूषणत्वात्।

(1) विशेषस्य। (2) ईप्। (3) सामान्यस्य व्यक्तिरहितप्रदेशे सत्त्वं। (4) घटादि। (5) ना। (6) भवन्मते यथा बहिरर्थः परमार्थसन्न भवति।

निदर्शनमित्यपि न चोद्यम्—समानत्वात्। 'संवित्स्वलक्षणा[2]द्वैतोपगमात्[3] सिद्धसाधनमिति[4] चेत् [5]संवित्सामान्याद्वैतोपगमात्परस्यापि[6] सिद्धसाधनं कुतो न भवेत् ? [7]संवित्सामान्याद्वैतं प्रतीतिविरुद्धम्—विशेषसंविदभावे जातुचिदसंवेदनादिति चेत् [8]संवित्स्वलक्षणाद्वैतमपि तर्हि प्रतीतिविरुद्धमेव—संवित्सामान्यसंवेदनाभावे तद्विशेषसंवेदनस्य [9]सकृदप्यभावात्। सर्वाक्षेपसमाधीनां समानत्वात्। [10]ततो [11]निर्बाधप्रतीतिबलाद्भेदव्यवस्थायां सामान्यव्यवस्थाऽस्तु[12] सुघटै[13]व। [14]अन्तःसंवेदनेषु तद्वद्बहिरर्थेषु च सामान्यविशेषव्यवस्थोररीकर्त्तु[15] युक्ता—निर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वाविशेषात्। एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं धर्मकीर्त्तिना—

[16]अतद्रूपपरावृत्त[17]वस्तुमात्रप्रवेदनात्। सामान्यविषयं प्रोक्तं [18]लिङ्गं [19]भेदाप्रतिष्ठितेः॥ इति।

ही है।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो संवित् सामान्य को स्वीकार करने वाले संवित् सामान्यवादी भाट्ट को भी सिद्ध साधन क्यों नहीं हो जावेगा।

सौगत—संवित् सामान्याद्वैत तो प्रतीति से विरुद्ध है क्योंकि विशेष संवेदन के अभाव में कदाचित् भी संवेदन नहीं होता है।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो संवित् स्वलक्षणाद्वैत भी तो प्रतीति से विरुद्ध ही है क्योंकि संवित सामान्य के संवेदन का अभाव होने पर तो संवित् विशेष का संवेदन सर्वथा—एक बार भी संभव नहीं है अर्थात् ज्ञान सामान्य का अनुभव न होने पर ज्ञान विशेष का भी अनुभव नहीं हो सकता है। अतः आप दोनों संवेदन वादी के यहाँ आक्षेप और समाधान तो समान ही हैं। इसलिए सामान्य के अभाव में विशेष का भी अभाव हो जाता है अतः निर्बाध प्रतीति के वल से भेद व्यवस्था-विशेषावस्था के सिद्ध हो जाने पर सामान्य व्यवस्था भी सुघटित ही है अर्थात् जैसे भेद व्यवस्था में विशेष प्रतिभासित होता है वैसे ही अंतः संवेदन में सामान्य आभासित होता है।

अतः अंतः—संवेदन में और उसी के समान वाह्य पदार्थों में सामान्य विशेष व्यवस्था स्वीकार करना आप सौगत को युक्त ही है क्योंकि निर्वाध प्रतीति से सिद्ध होना दोनों जगह समान है।

इसी कथन से उसका भी निरसन हो जाता है जो कि धर्म कीर्ति आचार्य ने कहा है कि—

श्लोकार्थ—"अतद्रूप से परावृत—अन्य रूप से व्यावृत्त वस्तुमात्र का प्रवेदन होने से सामान्य विषयक ही अनुमान कहा गया है क्योंकि अनुमान से भेद का ग्रहण नहीं होता"॥

---

१ सौगतः। २ विशेष। ३ मध्यक्षणिकाभ्युपगमात् (मध्यमक्षणिकाभ्युपगमात्)। ४ माध्यमिकं प्रति। ५ भाट्टः। ६ विधिवादिनो भट्टस्य। ७ सौगतः। ८ भाट्टः। ९ सर्वथा। १० भाट्टः (सामान्याभावे विशेषस्याप्यभावो यतः)। ११ विशेषावस्थायाम्। १२ सामान्यव्यवस्था तु इति पाठान्तरम्। १३ प्रतिभासते विशेषो भेदव्यवस्थायां यथा तथान्तःसंवेदनेषु सामान्यमाभासते। १४ अत इति पाठान्तरम्। १५ सौगतैः। १६ अन्यरूपेण। १७ अन्यापोह। १८ लिङ्गजनितत्वाल्लिङ्गमनुमानम्। १९ भेदस्याग्निस्वलक्षणस्यानुमानेनाग्रहणात्।

[1]तद्रूपानुवृत्तस्य[2] वस्तुमात्रस्य निर्बाधबोधाधिरूढस्य[3] [1]सिद्धं भेदमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वात्[4]—सर्वदा बहिरन्तश्च[5] भेदाभेदात्मनो[6] वस्तुनः प्रतिभासनात् ।

[भेदाभेदौ विवक्षावशवर्तिनौ इति बौद्धस्य मान्यताया निराकरणं]

[7]न चैतौ भेदाभेदौ विवक्षामात्रवशवर्त्तिनौ—[8]सर्वत्र तत्सङ्करप्रसङ्गात्[2] [3]येनात्मना[9] भेदव्यवस्था तेनैवाभेदव्यवस्थितिः स्यात्—तद्विवक्षाया[4] निरंकुश त्वात् । [10]पूर्ववासना[5]प्रतिनियमाद्विवक्षायाः प्रतिनियमसिद्धेर्न तद्वशाद्भेदाभेदव्यवस्थितौ सङ्करप्रसङ्ग इति चेत्[11]कुतस्त[12]द्वासनाप्रतिनियमः ? [13]प्रबोधकप्रत्ययप्रतिनियमादिति चेन्न—[14]तदनियमे तदनियमप्रसङ्गात् । पूर्वस्ववासनाप्रतिनियमात्प्रकृतवासनाप्रतिनियम इति चेन्न—[15]तस्याः संविदव्यभिचारे [6]वस्तु-

---

अतएव तद्रूप से अनुवृत्त—युक्त वस्तु मात्र निर्बाध ज्ञान से अधिरुढ़ है—सामान्य-विशेष विपयक ही सिद्ध है किंतु सामान्य निरपेक्ष विशेष रूप भेद मात्र वस्तु व्यवस्थित नहीं है। क्योंकि सर्वदा वाह्य घटादि और अंतर्ज्ञान रूप वाह्याभ्यंतर वस्तु भेदा-भेदात्मक-सामान्य विशेषात्मक ही प्रतिभासित होती हैं।

[भेद और अभेद को विवक्षा के आश्रित मानने रूप बौद्ध की मान्यता का निराकरण]

ये दोनों भेदाभेद विवक्षा के वशवर्ती भी नहीं हैं। अन्यथा-सर्वत्र संकर दोष का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् जिस स्वरूप से भेद व्यवस्था है उसी स्वरूप से अभेद व्यवस्था भी हो जावेगी क्योंकि वह विवक्षा तो निरङ्कुश है अतः भेदाभेद विवक्षा के वशवर्ती नहीं हैं।

सौगत—पूर्व की वासना के प्रतिनियम से विवक्षा का प्रतिनियम सिद्ध है अतः उसके निमित्त से भेदाभेद की व्यवस्था में संकर दोष का प्रसंग नहीं आता है।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो उस वासना का प्रतिनियम किस प्रकार से है ?

सौगत—प्रवोधक-निर्विकल्प ज्ञान के प्रतिनियम से उस वासना का प्रतिनियम सिद्ध है।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना। अन्यथा उस प्रवोधक प्रत्यय में पूर्व वासना का प्रतिनियम न करने पर प्रवोधक प्रत्यय का भी प्रतिनियम नहीं वन सकेगा।

सौगत—पूर्व स्ववासना के प्रतिनियम से प्रकृत वासना का प्रतिनियम वन जाता है।

---

१ नन्वभेद एव नास्ति ततो भेदाभेदात्मकं कुत इत्याशङ्कायां स्याद्वादमाश्रित्य भट्टो वदति । २ युक्तस्य । ३ सामान्यविशेषरूपस्य विपयस्य । ४ सामान्यनिरपेक्षस्य विशेपस्य । ५ वहिर्घटादिरन्तर्वस्तुज्ञानम् । ६ सामान्यविशेपात्मकस्य । ७ सौगत आह अभेदवद्भेदोपि विवक्षावशवर्त्येव—सर्वविकल्पातीतत्वादस्येति । ८ भा (तृतीया) । ९ कथञ्चनयाहि । १० सौगतः । ११ भाट्टः । १२ पूर्व । १३ प्रकट निर्विकल्पकज्ञान । १४ प्रवोधकप्रत्यये पूर्ववासनाया अनियमे प्रवोधकप्रत्ययस्यानियमत्वप्रसङ्गात् । १५ निर्विकल्पकज्ञानेन सह तस्या वासनाया व्यभिचारोऽव्यभिचारो वेति विकल्पद्वयं करोति भाट्टः ।

---

(1) बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति । (2) कथं । (3) स्वरूपेण । (4) ईदृगवाह्यार्थाभावात् । (5) संस्कार । (6) वासनायाः वस्तुत्वं नांगीकरोपि ।

[1]स्वभावतापत्तेः। कदाचित्तद्व्यभिचारे[2] भेदाभेदव्यवस्थितेरपि[3] व्यभिचारप्रसक्तेः कुतो न तत्सङ्करप्रसक्तिः ? सुदूरमपि गत्वा [1]वस्तुस्वभावावलम्बनादेव तत्परिहारमिच्छता वस्तुस्वभावावेव [4]भेदाभेदौ [5]परेणाभ्युपगन्तव्यौ। [6]ततो यदभिन्नं [7]साधारणं वस्तुस्वरूपं तदेव सामान्यं सिद्धम्। न पुनरन्यापोहमात्रं[8] [9]विकल्पबुद्धिपरिनिष्ठितम्—यतः करोति— सामान्यं यज्यादिविशेषव्यापि वास्तवं न भवेत्। तदुपलम्भेपि च विशेषे सन्देहोनुपलभ्यमानेपि स्मृतिविषये न [10]स्यात्।

[बुद्धिभेदमंतरेण पदार्थस्य भेदव्यवस्था न भवतीति बौद्धमान्यताया निराकरणं]

[11]ननु च स्थाणुपुरुष[12]विविक्तमपरमूर्ध्वतासामान्यं यज्यादिविशेष[13]व्यतिरिक्तं च

भाट्ट—नहीं ! हम ऐसा प्रश्न करेगें कि निर्विकल्प ज्ञान के साथ वह वासना व्यभिचरित है या नहीं ? यदि उस वासना को निर्विकल्प ज्ञान से व्यभिचारित नहीं कहोगे तब तो वह वस्तु का स्वभाव हो जावेगी। अर्थात् जो जिससे अभिन्न है वह उस स्वरूप है इस तरह वासना को वस्तु स्वभाव मान लेने पर बौद्धमत का व्याघात हो जावेगा। यदि कदाचित् ज्ञान के साथ उस वासना को व्यभिचार-भिन्न मानोगे, तब तो भेदाभेद की व्यवस्था से भी व्यभिचार का प्रसंग आ जावेगा पुनः उनमें संकर दोष कैसे नहीं आवेगा ?

बहुत दूर जाकर भी वस्तु स्वभाव का अवलंबन लेकर ही उन दोषों का परिहार करने की इच्छा रखते हुए आप सौगत को भेदाभेद - विशेष सामान्य इन दोनों को वस्तु का स्वभाव ही स्वीकार करना चाहिए। इसलिए जो अभिन्न रूप है, सभी वस्तुओं में साधारण वस्तु का स्वरूप है वही सामान्य है यह बात सिद्ध हो गयी। किन्तु अन्यापोह मात्र अवस्तु विकल्प बुद्धि से परिनिष्ठित नहीं हैं कि जिससे "करोति" यह सामान्य पद यज्यादि विशेष में व्यापी और वास्तविक न हो सके, अर्थात् वास्तविक ही सिद्ध होता है और जिससे कि उस विशेष के उपलब्ध होने पर भी एवं स्मृति के विषय की उपलब्धि न होने पर भी संदेह न हो सके, अर्थात संदेह होगा ही होगा।

[बुद्धि भेद के बिना पदार्थ में भेद की व्यवस्था नहीं हो सकती है इस बौद्ध की मान्यता का निराकरण किया जाता है]

सौगत—स्थाणु और पुरुष के विशेष से रहित अपर ऊर्ध्वता-सामान्य और यज्यादि विशेष से भिन्न करोति सामान्य वास्तविक नहीं है क्योंकि बुद्धि से अभेद होता है अर्थात् सामान्य को ग्रहण करने वाली

---

१ यद्यस्मादभिन्नं तत्तदात्मकम्। वस्तुस्वरूपा वासना यदि तर्हि बौद्धमतव्याघातः वस्तुस्वभावतापत्तेर्वासनायाः। २ भिन्नत्वे। ३ पञ्चम्येकवचनम्। ४ विशेषसामान्ये। ५ सौगतेन। ६ वाह्यवस्तुस्वभावालम्बनादेव—सङ्करपरिहारो यतः। ७ सकलपदार्थेषु साधारणम्। ८ अवस्तुमात्रम्। ९ सामान्यं नेति विकल्पबुद्धिपरिगृहीतम्। १० वक्रोक्त्या वाच्यम्। ११ सौगतः। १२ विशेषौ। १३ भिन्नम्।

---

(1) वाह्य।

[१]करोतिसामान्यं न वास्तवमस्ति—[1]बुद्ध्यभेदात्। न हि बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थभेदव्यवस्थितिः—[२]अतिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

न [2]भेदाद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः[३]। [3]बुद्ध्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता। इति॥

तदेतदसदेव[४] — [५]सामान्यभेदयोर्बुद्धिभेदस्य सिद्धत्वात्। सामान्यबुद्धिर्हि तावदनुगताकारा[६] विशेषबुद्धिः [७]पुनर्व्यावृत्ताकारानुभूयते? दूरादूर्ध्वतासामान्यमेव च प्रतिभाति न स्थाणुपुरुषविशेषौ—तत्र सन्देहात्[८]। तद्विशेषपरिहारेण प्रतिभासनमेव [९]सामान्यस्य [१०]ततो व्यतिरेकावभासनम्—एतावन्मात्रलक्षणत्वात्तद्व्यतिरेकस्य यदप्युक्तम्[११]—

[१२]ताभ्यां [१३]तद्व्यतिरेकश्चेत् किन्न[4] दूरेवभासनम्। दूरेवभासमानस्य[१४] सन्निधानेति[१५]भासनम्।

"करोति" क्रिया और विशेष को ग्रहण करने वाली "यज्यादि" क्रिया है, इस प्रकार की बुद्धि का अभाव है। और बुद्धि में भेद के विना पदार्थ के भेद की व्यवस्था नहीं हो सकती है। अन्यथा—अति प्रसंग दोष आ जावेगा। अर्थात् एक घट ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जावेगा अथवा एक घट ज्ञान से सभी घटों की प्रतीति का प्रसंग आ जावेगा। कहा भी है—

श्लोकार्थ—भेद से भिन्न अन्य कोई सामान्य नहीं है क्योंकि बुद्धि से अभेद है। एवं बुद्धयाकार के भेद से ही पदार्थ का भेद देखा जाता है। अर्थात् यह बुद्धि सामान्य को ग्रहण करने वाली है एवं यह विशेष को ग्रहण करने वाली है इस प्रकार से बुद्धि में भेद का अभाव है।

भाट्ट—आपका यह सब कथन असत् रूप ही है। क्योंकि सामान्य और विशेष में बुद्धि का भेद सिद्ध ही है। "इदं सत् इदं सत्" इस प्रकार के अनुगताकार को सामान्य ज्ञान कहते हैं। एवं "इदं न इदं न" इस प्रकार से व्यावृत्ताकार को विशेष ज्ञान कहते हैं ये दोनों ज्ञान अनुभव सिद्ध हैं, दूर से ऊर्ध्वता सामान्य ही प्रतिभासित किन्तु स्थाणु और पुरुष विशेष प्रतिभासित नहीं होते हैं क्योंकि वहाँ संदेह देखा जाता है। और विशेष का परिहार करके सामान्य का प्रतिभासन ही उस सामान्य से व्यतिरेक का अवभासन है और इतना मात्र ही उस व्यतिरेक का लक्षण है जो कि आपके यहां धर्मकीर्ति ने कहा है—

श्लोकार्थ—स्थाणु और पुरुष में जो भेद है वही व्यतिरेक है यदि ऐसा कहो तो निकट में अवभासन

१ करोतिः सामान्यग्राहिका यज्यादिविशेषग्राहिकेति प्रकारेण बुद्ध्यभावात्। २ एकेन घटज्ञानेनान्येषां ज्ञानं स्यात्। अथवा एकेन घटज्ञानेन सर्वेषां घटानां प्रतीतिप्रसङ्गात्। ३ इयं सामान्यग्राहिकेयं विशेषग्राहिकेत्यनेन प्रकारेण बुद्धेर्भेदाभावात्। ४ भाट्टः। ५ सामान्यविशेषयोः (ईप्) (सप्तमी)। ६ इदं सदिदं सदिति। ७ नेदं नेदमिति। ८ दूरादूर्ध्वतासामान्यस्यैव प्रतिभासनं भवतु। एतावता तस्यास्ततो (विशेषात्) व्यतिरेकावभासनं कुत इत्याह। ९ व्यतिरेकस्य। १० सामान्यात्। ११ धर्मकीर्तिना। १२ स्थाणुपुरुषाभ्याम्। १३ भेदः। १४ सामान्यस्य। १५ विभेदतया प्रतिभासनम्।

(1) विशेषग्राहिका सामान्यग्राहिकेति अनेन प्रकारेण बुद्धेर्भेदाभावात्। (2) विशेषात्। (3) [illegible]। (4) किन्नादूरे इति पा.।

इत्येतदप्ययुक्तं[१]—विशेषेपि समानत्वात् । सोपि हि यदि [२]सामान्याद्व्यतिरिक्तस्तदा दूरे वस्तुनः स्वरूपे [1]सामान्ये प्रतिभासमाने किन्न प्रतिभासते ? न हीन्द्रधनुषि नीले[३] रूपे प्रतिचकासति[2] पीतादिरूपं दूरान्न प्रतिचकास्ति । [४]अथ निकटदेशसामग्री विशेषप्रतिभासस्य जनिका न दूरदेशवर्त्तिनां प्रतिपत्तृणामिति न विशेषप्रतिभासनं[3], [५]तर्हि [६]सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री काचिन्निकटदेशवर्त्तिनां नास्ति । ततो न निकटे तत्प्रतिभासनमिति समः समाधिः । अस्ति[4] च निकटे सामान्यस्य[७] प्रतिभासनं स्पष्टं विशेषप्रतिभासनवत् । यादृशं तु दूरे तस्यास्पष्टं प्रतिभासनं तादृशं न निकटे विशेषप्रतिभासनवदेव विशेषो[5] हि यथा दूरादस्पष्टः प्रतिभाति न तथा [८]सन्निधाने— [९]स्वसामग्र्यभावात्[१०] । [११]अत एव च न

क्यों नहीं होता है क्योंकि दूर में अवभासित सामान्य का सन्निधान होने पर विशेष रूप से प्रतिभासन होता है । यह आपका कथन भी विशेष में समान ही है अतः अयुक्त है ।

वह भी यदि ऊर्ध्वता लक्षण सामान्य से भिन्न है तब तो दूर में वस्तु का स्वरूप प्रतिभासित होने पर वह (विशेष) प्रतिभासित क्यों नहीं होता है ? इन्द्र धनुष में सामान्य नील रूप के प्रतिभासित होने पर पीतादि रूप दूर से प्रतिभासित नहीं होते हैं ऐसा तो है नहीं ।

सौगत – निकट देशरूप सामग्री विशेष प्रतिभास को उत्पन्न करती है किन्तु दूरदेशवर्ती पुरुषों को विशेष प्रतिभास उत्पन्न नहीं करती है इसलिए विशेष का प्रतिभास नहीं होता है ।

भाट्ट—तब तो ऊर्ध्वता लक्षण सामान्य प्रतिभास को उत्पन्न करने वाली कोई दूरदेशवर्ती सामग्री निकट देशवर्ती जनों को नहीं है । इसलिए निकट में उसका प्रतिभास नहीं होता है । इस प्रकार से समान ही समाधान है । एवं निकट में ऊर्ध्वताकार सामान्य का प्रतिभासन स्पष्ट देखा जाता है जैसे कि विशेष का प्रतिभासन स्पष्ट है ।

किन्तु दूर में जैसा उसका अस्पष्ट प्रतिभासन है वैसा निकट में नहीं है, विशेष प्रतिभासन के समान । और जिस प्रकार से विशेष दूर से अस्पष्ट प्रतिभासित होता है उस प्रकार से निकट में नहीं होता है किन्तु स्पष्ट ही प्रतिभासित होता है क्योंकि अपने अस्पष्ट प्रतिभासन की सामग्री का

---

१ भाट्टः । २ ऊर्द्ध्वतालक्षणात् । ३ सामान्ये । ४ सौगतः । ५ भाट्टः । ६ ऊर्ध्वतालक्षण । ७ ऊर्ध्वताकारस्य । ८ किन्तु स्पष्ट एव । ९ स्वस्यास्पष्टप्रतिभासनस्य । १० सामान्यवद्विशेषेप्यस्पष्टप्रतिभासनमेव को दोष इत्युक्ते आह । ११ सामान्यविशेषयोर्दूरादस्पष्टतया प्रतिभासनादेव ।

---

(1) ऊर्ध्वताकारे । (2) सति । (3) प्रतिभासः इति पा. । (4) किं च । (5) अत्र विशेषो हि प्रतिनियतदेशत्वादि ग्राह्यो न तु स्थाणुपुरुषादिरन्यथा संशयोत्पत्तिविरोधात्तथा वक्ष्यमाणत्वाच्च ।

सामान्यस्य प्रतिभासने विशेषेष्वप्रतिभासमानेष्व[१]स्पष्टप्रतिभास[1]व्यवहारः[२]—प्रतिभासमानरूपे[2] एव सामान्ये[३] विशेषे वा अस्पष्टव्यवहारदर्शनात् । न ह्यप्रतिभासितान्य[४]प्रतिभासिता वा [५]कस्यचिदस्पष्टप्रतिभासिता[६] । किं तर्हि ?

[स्पष्टास्पष्टव्यवहारौ ज्ञानस्य धर्मौ स्तः न च पदार्थस्य । स्पष्टज्ञानवच्च अस्पष्टज्ञानमपि सत्यमेव]

कुतश्चि[७]द्दृष्टा[3]दृष्टकारणकलापादस्पष्टज्ञानस्योत्पत्तिरर्थेष्व[८]स्पष्टता[4]—विषयिधर्मस्य विषयेषूपचारात् । संवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता धर्मः स्पष्टतावत् । [९]तस्या विषयधर्मत्वे [१०]सर्वदा [११]तथाप्रतिभासप्रसङ्गात् [१२]कुतः प्रतिभास[5]परावृत्तिः [१३]स्यात् ? न [१४]चास्पष्टं संवेदनं निर्विषयमेव—[१५]संवादकत्वात् [१६]स्पष्टसंवेदनवत् । [१७]क्वचिद्विसंवाददर्शनात् सर्वत्र विसंवादे—स्पष्ट-

---

अभाव है।

अतएव सामान्य और विशेष का दूर से अस्पष्ट प्रतिभासन होने से ही सामान्य का प्रतिभास होने पर और विशेषों के प्रतिभासित न होने पर अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार नहीं है, क्योंकि प्रतिभासमान स्वरूप सामान्य अथवा विशेष ज्ञान में ही अस्पष्ट व्यवहार देखा जाता है। सामान्य और विशेष में से किसी एक की अप्रतिभासिता अथवा अन्य की प्रतिभासिता किसी सामान्य अथवा विशेष की अस्पष्ट प्रतिभासिता नहीं है।

शंका—तो क्या है ?

[स्पष्टता और अस्पष्टता ज्ञान के धर्म हैं पदार्थ के नहीं। एवं स्पष्ट ज्ञान के समान अस्पष्ट ज्ञान भी प्रमाण है]

समाधान– किसी दृष्ट कारण–देशकालादि और अदृष्ट कारण–मति ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष रूप कारण कलाप से अर्थ में-पदार्थ में अस्पष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होना ही अस्पष्टता है क्योंकि विषयी धर्म का विषयों में उपचार किया जाता है। अतः अस्पष्टता संवेदन –ज्ञान का ही धर्म है जैसे कि स्पष्टता संवेदन का धर्म है।

और उस अस्पष्टता को विषय का धर्म मानने पर तो सर्वदा अन्धकार अवस्था में भी तथा—उद्योत अवस्था के समान प्रतिभास का प्रसंग आ जावेगा। एवं स्पष्टता ही सर्वथा वस्तु का धर्म है ऐसा स्वीकार करने पर पुनः प्रतिभास की परावृत्ति कैसे हो सकेगी ?

---

१ सर्वथा। २ सर्वदा। ३ सामान्यज्ञाने विशेषज्ञाने वा। ४ सामान्यविशेषयोर्मध्ये एकस्य। ५ सामान्यस्य विशेषस्य वा। ६ अस्पष्टस्पष्टप्रतिभासिताभेदेपि ज्ञानाश्रिते स्तो न तु वस्त्वाश्रिते। ७ दृष्टकारणं देशकालादि अदृष्टं कारणं मतिज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। ८ भवति। ९ अस्पष्टतायाः। १० अन्धकारावस्थायामपि। ११ उद्द्योतावस्थायामिव। १२ वस्तुनः स्पष्टताधर्मस्य सर्वदा प्रतिभासस्याङ्गीकारे दूषणमाह। १३ बौद्धाभिप्रायमनूद्य वक्ति। १४ (भाट्टः) सविकल्पकम्। १५ सत्यत्वात्। १६ निर्विकल्पकवत्। १७ अस्पष्टज्ञाने।

---

(1) नैयायिकोक्तः। (2) प्रतिभासमानस्वरूपे। इति पा.। (3) दृष्ट—चक्षुरादि। अदृष्ट—पुण्यपापादि।
(4) ईषत्प्रतिभासनं सूक्ष्मवस्त्राच्छादितवस्तुवत्। (5) निवृत्तिः।

संवेदनेपि तत्प्रसङ्गात् । [1]ततो [2]नैतत्साधु—

बुद्धिरेवातदाकारा[3] [4]तत उत्पद्यते [5]यदा । तदास्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मतः ॥

इति—[1]चन्द्रद्वयादिप्रतिभासे[6] तद्व्यवहारप्रसक्तेः । [7]न च मीमांसकानां सामान्यं विशेषेभ्यो[8] भिन्नमेव वाऽभिन्नमेव[9] वा—तस्य [2]कथञ्चित्ततो भिन्नाभिन्नात्मनः प्रतीतेः । प्रमाणसिद्धे च सामान्यविशेषात्मनिजात्यन्तरे वस्तुनि तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मकत्वोपपत्तेर्न काचिद्बुद्धिरविशेषाकारा[10] सर्वथास्ति, नाप्यसामान्याकारा सर्वदोभयाकारायास्तस्याः प्रतीतेः । न चार्थाकारा[11] बुद्धिः—तस्या निराकारत्वात् तत्र[12] प्रतिभासमानस्याकारस्यार्थधर्मत्वात् । न[13] च[3] निराकारत्वे संवेदनस्य [4]प्रतिकर्मव्यवस्था ततो विरुध्यते—

एवं अस्पष्ट संवेदन—सविकल्पज्ञान निर्विषयक ही है ऐसा भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि स्पष्ट संवेदन—निर्विकल्प संवेदन के समान वह अस्पष्ट संवेदन भी संवादक है—सत्य है।

यदि अस्पष्ट प्रतिभास (अविशदज्ञान) में कहीं पर विसंवाद दिख जाने से सर्वत्र विसंवाद स्वीकार करोगे तब तो स्पष्ट संवेदन में भी वही प्रसंग आ जावेगा। अतः अस्पष्ट संवेदन भी विषय को ग्रहण करने वाला है निर्विषयक नहीं है यह वात सिद्ध हो गई। अतएव आपका यह कथन भी सम्यक् नहीं है कि—

श्लोकार्थ—अतदाकार (अस्वलक्षणाकार, अविशेषाकार, वहिःस्वलक्षणाकार) बुद्धि ही जव स्वलक्षण अर्थ से उत्पन्न होती है तभी जगत्मान्य अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार होता है। इस प्रकार से तो तैमिरिक रोग वाले के चंद्रद्वयादि के प्रतिभास में वह व्यवहार हो जावेगा।

मीमांसकों के यहाँ स्थाणु पुरुषादि विशेषों से सामान्य सर्वथा भिन्न ही हो अथवा अभिन्न ही हो, ऐसा तो है नहीं क्योंकि वह सामान्य उन विशेषों से कथंचित् भिन्नाभिन्नात्मक रूप से ही प्रतीति में आ रहा है।

इस प्रकार से सामान्य विशेषात्मक, जात्यंतर वस्तु की प्रमाण से सिद्धि हो जाने पर उसको ग्रहण करने वाला ज्ञान भी सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हो जाता है। अतः विशेषाकार से व्यावृत्त अविशेषा-

---

१ अस्पष्टसंवेदनं सविषयं यतः । २ वक्ष्यमाणम् । ३ अस्वलक्षणाकारा, अविशेषाकारा, वहिःस्वलक्षणाकारा । ४ स्वलक्षणलक्षणादर्थात् । ५ यदा तु प्रतिभासते तदेत्यादि पाठान्तरम् । ६ जाततैमिरिकस्य । ७ तर्हि भवतां मीमांसकानां भेदाभेदे सतीदं दूषणं समानं तत्र किम् ? इति प्रश्ने आह । ८ स्थाणुपुरुषादिभ्यः । ९ अत एवास्पष्टता लक्षणं निर्विषयलक्षणं दूषणं न । १० विशेषाकाराद्व्यावृत्ताविशेषाकारा । ११ सौगताभ्युपगताद्रूप्यसहिता न भवतीत्यर्थः । १२ विषये । बुद्धेर्निराकारत्वं तर्हि आकारः कथं प्रतिभासते इत्युक्ते आह । १३ हे सौगत ।

---

(1) एकस्माच्चन्द्रादुत्पन्ना अतदाकारा चंद्रद्वयाकाररूपा बुद्धिरस्पष्टप्रतिभासा भवतु । न च तथास्ति । (2) अशक्यविवेचनं । (3) बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति । (4) प्रतिनियतविषयः ।

प्रतिनियत [1]सामग्रीवशात्[१] प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकतया[२] तस्योत्पत्तेः प्रतिकर्मव्यवस्थानसिद्धेः[2] साकारज्ञानवादिनामपि[३] तथाभ्यु[४]पगमस्यावश्यम्भावित्वात्। [५]अन्यथा सकलसमानाकार-[3]व्यवस्थापकत्वा[4]नापत्तेः[६]संवेदनस्य [७]तदसिद्धेः। [८]ततोऽसामान्याकारा बुद्धिः सामान्यावभासिनी [९]कुतश्चिदस्पष्टा कस्मिंश्चिद्वस्तुन्यविशेषाकारा[१०] च विशेषावभासिनीति दूरे सामान्यस्य प्रतिभासोऽस्पष्टः स्याद्विशेषस्य च [5]कस्यचित्—[११]सकलविशेषरहितस्य सामान्यस्य प्रतिभासासंभवात्। [१२]न चोर्ध्वतासामान्ये विशेषे च [१३]प्रतिनियतदेशत्वादौ प्रति-

---

कार रूप कोई ज्ञान सर्वथा नहीं है। तथैव असामान्याकार भी नहीं है किन्तु सर्वदा उभयात्मक रूप ही ज्ञान अनुभव में आता है।

एवं अर्थाकार—सौगताभ्युपगत ताद्रूप सहित ज्ञान भी नहीं है क्योंकि ज्ञान को हमने निराकार माना है तथा उस विषय में प्रतिभासमान आकार पदार्थ के धर्म हैं। हम यदि ज्ञान को निराकार मानते हैं तो प्रतिकर्म व्यवस्था विरुद्ध हो जावेगी ऐसा भी आप सौगत नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत पदार्थ को ग्रहण करने रूप से वह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः प्रतिकर्म की व्यवस्था सिद्ध है। साकारज्ञानवादी सौत्रांतिक के यहाँ भी उस प्रकार से ज्ञान को निराकार रूप स्वीकार करना अवश्यंभावी है। अर्थात् बौद्ध ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न होने वाला मानते हैं एवं पदार्थ के आकार को धारण करके ही वह ज्ञान पदार्थ को जानता है ऐसा कहते हैं किन्तु भाट्ट इस तदुत्पत्ति और तदाकारता का खण्डन कर देते हैं। अन्यथा प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत व्यवच्छेदक का अभाव मानने पर सम्पूर्ण नील पीतादिज्ञानों में तुल्याकार प्राप्त हो जाता है। अतः सकल समानाकार की व्यवस्था कर देने की आपत्ति आ जावेगी पुनः संवेदन में वह प्रति कर्म व्यवस्था असिद्ध हो जावेगी।

इसलिए असामान्याकार ज्ञान सामान्यावभासी किसी दृष्टअदृष्ट कारण समूह से अस्पष्ट है और किसी वस्तु में अविशेषाकार—सामान्याकार ज्ञानविशेषावभासी किसी दृष्टादृष्ट कारण कलाप से अस्पष्ट है। इस प्रकार से दूर में सामान्य का प्रतिभास अस्पष्ट है और किसी विशेष का प्रतिभास भी अस्पष्ट है क्योंकि सकल विशेष से रहित सामान्य प्रतिभासित ही नहीं होता है।

---

१ भाट्टः। २ ग्राहकतया। ३ सौत्रान्तिकानाम्। ४ प्रतिनियतसामग्रीवशात्प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकस्य ज्ञानस्याद्गीकारस्य। ५ प्रतिनियतसामग्रीवशात् प्रतिनियतव्यवच्छेदकत्वाभावे सकलनीलपीतादिनिर्भासानां तुल्याकारत्वमापद्यते संवेदनस्य (विवक्षितनीलाकारवदशेषनीलाकारग्रहणप्रसक्तेः)। ६ व्यवस्थापकत्वापत्तेरिति पाठान्तरम्। ७ प्रतिकर्मव्यवस्थापनस्य सिद्धिर्न स्यात्। ८ योग्यतावशात्प्रतिनियतार्थव्यवस्था यतः। ९ दृष्टादृष्टकारणकलापात्। १० सामान्याकारा। ११ कोपि विशेषो दूरे न प्रतिभासते इत्युक्ते आह। १२ सौगताभिप्रायमनूद्याह। १३ समागतपुरुषोचितदेशः। आदिशब्दात्प्रकाशान्धकारकलुषवेलाश्च गृह्यन्ते।

(1) अदृष्टादि। (2) ता। (3) ज्ञानस्य समस्तसदृशघटानां। (4) तदङ्गीकारे निराकारोऽपि भाट्टः। (5) पुरुषस्य।

संवेदनेपि तत्प्रसङ्गात्। [1]ततो [2]नैतत्साधु—

बुद्धिरेवातदाकारा[3] [4]तत उत्पद्यते [5]यदा। तदाऽस्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मतः ॥

इति—(1)चन्द्रद्वयादिप्रतिभासे[6] तद्व्यवहारप्रसक्तेः। [7]न च मीमांसकानां सामान्यं विशेषेभ्यो[8] भिन्नमेव वाऽभिन्नमेव[9] वा—तस्य (2)कथञ्चित्ततो भिन्नाभिन्नात्मनः प्रतीतेः। प्रमाणसिद्धे च सामान्यविशेषात्मनिजात्यन्तरे वस्तुनि तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मकत्वोपपत्तेर्न काचिद्बुद्धिरविशेषाकारा[10] सर्वथास्ति, नाप्यसामान्याकारा सर्वदोभयाकारायास्तस्याः प्रतीतेः। न चार्थाकारा[11] बुद्धिः—तस्या निराकारत्वात् तत्र[12] प्रतिभासमानस्याकारस्यार्थधर्मत्वात्। न[13] च(3) निराकारत्वे संवेदनस्य (4)प्रतिकर्मव्यवस्था ततो विरुध्यते—

एवं अस्पष्ट संवेदन—सविकल्पज्ञान निर्विषयक ही है ऐसा भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि स्पष्ट संवेदन—निर्विकल्प संवेदन के समान वह अस्पष्ट संवेदन भी संवादक है—सत्य है।

यदि अस्पष्ट प्रतिभास (अविशदज्ञान) में कहीं पर विसंवाद दिख जाने से सर्वत्र विसंवाद स्वीकार करोगे तब तो स्पष्ट संवेदन में भी वही प्रसंग आ जावेगा। अतः अस्पष्ट संवेदन भी विषय को ग्रहण करने वाला है निर्विषयक नहीं है यह बात सिद्ध हो गई। अतएव आपका यह कथन भी सम्यक् नहीं है कि—

श्लोकार्थ—अतदाकार (अस्वलक्षणाकार, अविशेषाकार, बहिःस्वलक्षणाकार) बुद्धि ही जब स्वलक्षण अर्थ से उत्पन्न होती है तभी जगत्मान्य अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार होता है। इस प्रकार से तो तैमिरिक रोग वाले के चंद्रद्वयादि के प्रतिभास में वह व्यवहार हो जावेगा।

मीमांसकों के यहाँ स्थाणु पुरुषादि विशेषों से सामान्य सर्वथा भिन्न ही हो अथवा अभिन्न ही हो, ऐसा तो है नहीं क्योंकि वह सामान्य उन विशेषों से कथंचित् भिन्नाभिन्नात्मक रूप से ही प्रतीति में आ रहा है।

इस प्रकार से सामान्य विशेषात्मक, जात्यंतर वस्तु की प्रमाण से सिद्धि हो जाने पर उसको ग्रहण करने वाला ज्ञान भी सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हो जाता है। अतः विशेषाकार से व्यावृत्त अविशेषा-

१ अस्पष्टसंवेदनं सविषयं यतः। २ वक्ष्यमाणम्। ३ अस्वलक्षणाकारा, अविशेषाकारा, बहिःस्वलक्षणाकारा। ४ स्वलक्षणलक्षणादर्थात्। ५ यदा तु प्रतिभासते तदेत्यादि पाठान्तरम्। ६ जाततैमिरिकस्य। ७ तर्हि भवतां मीमांसकानां भेदाभेदे सतीदं दूषणं समानं तत्र किम्? इति प्रश्ने आह। ८ स्थाणुपुरुषादिभ्यः। ९ अत एवास्पष्टता लक्षणं निर्विषयलक्षणं दूषणं न। १० विशेषाकाराद्व्यावृत्ताविशेषाकारा। ११ सौगताभ्युपगताद्रूप्यसहिता न भवतीत्यर्थः। १२ विषये। बुद्धेर्निराकारत्वं तर्हि आकारः कथं प्रतिभासते इत्युक्ते आह। १३ हे सौगत।

(1) एकस्माच्चन्द्रादुत्पन्ना अतदाकारा चंद्रद्वयाकाररूपा बुद्धिरस्पष्टप्रतिभासा भवतु। न च तथास्ति। (2) अनवयविवेचनं। (3) बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति। (4) प्रतिनियतविषयः।

प्रतिनियत [1]सामग्रीवशात्[1] प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकतया[2] तस्योत्पत्तेः प्रतिकर्मव्यवस्थानसिद्धेः[2] साकारज्ञानवादिनामपि[3] तथाभ्यु[4]पगमस्यावश्यम्भावित्वात् । [5]अन्यथा सकलसमानाकार-[3] व्यवस्थापकत्वा[4]नापत्तेः[6]संवेदनस्य [7]तदसिद्धेः । [8]ततोऽसामान्याकारा बुद्धिः सामान्याव-भासिनी [9]कुतश्चिदस्पष्टा कस्मिंश्चिद्वस्तुन्यविशेषाकारा[10] च विशेषावभासिनीति दूरे सामान्यस्य प्रतिभासोऽस्पष्टः स्याद्विशेषस्य च [5]कस्यचित्—[11]सकलविशेषरहितस्य सामा-न्यस्य प्रतिभासासंभवात् । [12]न चोर्द्ध्वतासामान्ये विशेषे च [13]प्रतिनियतदेशत्वादौ प्रति-

---

कार रूप कोई ज्ञान सर्वथा नहीं है। तथैव असामान्याकार भी नहीं है किन्तु सर्वदा उभयात्मक रूप ही ज्ञान अनुभव में आता है।

एवं अर्थाकार—सौगताभ्युपगत ताद्रूप सहित ज्ञान भी नहीं है क्योंकि ज्ञान को हमने निराकार माना है तथा उस विषय में प्रतिभासमान आकार पदार्थ के धर्म हैं। हम यदि ज्ञान को निराकार मानते हैं तो प्रतिकर्म व्यवस्था विरुद्ध हो जावेगी ऐसा भी आप सौगत नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत पदार्थ को ग्रहण करने रूप से वह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः प्रतिकर्म की व्यवस्था सिद्ध है। साकारज्ञानवादी सौत्रांतिक के यहाँ भी उस प्रकार से ज्ञान को निराकार रूप स्वीकार करना अवश्यंभावी है। अर्थात् बौद्ध ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न होने वाला मानते हैं एवं पदार्थ के आकार को धारण करके ही वह ज्ञान पदार्थ को जानता है ऐसा कहते हैं किन्तु भाट्ट इस तदुत्पत्ति और तदा-कारता का खण्डन कर देते हैं। अन्यथा प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत व्यवच्छेदक का अभाव मानने पर सम्पूर्ण नील पीतादिज्ञानों में तुल्याकार प्राप्त हो जाता है। अतः सकल समानाकार की व्यवस्था कर देने की आपत्ति आ जावेगी पुनः संवेदन में वह प्रति कर्म व्यवस्था असिद्ध हो जावेगी।

इसलिए असामान्याकार ज्ञान सामान्यावभासी किसी दृष्टअदृष्ट कारण समूह से अस्पष्ट है और किसी वस्तु में अविशेषाकार—सामान्याकार ज्ञानविशेषावभासी किसी दृष्टादृष्ट कारण कलाप से अस्पष्ट है। इस प्रकार से दूर में सामान्य का प्रतिभास अस्पष्ट है और किसी विशेष का प्रतिभास भी अस्पष्ट है क्योंकि सकल विशेष से रहित सामान्य प्रतिभासित ही नहीं होता है।

---

१ भाट्टः। २ ग्राहकतया। ३ सौत्रान्तिकानाम् । ४ प्रतिनियतसामग्रीवशात्प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकस्य ज्ञानस्याङ्गी-कारस्य। ५ प्रतिनियतसामग्रीवशात् प्रतिनियतव्यवच्छेदकत्वाभावे सकलनीलपीतादिनिर्भासानां तुल्याकारत्वमापद्यते संवेदनस्य (विवक्षितनीलाकारवदशेषनीलाकारग्रहणप्रसक्तेः) । ६ व्यवस्थापकत्वापत्तेरिति पाठान्तरम् । ७ प्रतिकर्म-व्यवस्थापनस्य सिद्धिर्न स्यात् । ८ योग्यतावशात्प्रतिनियतार्थव्यवस्था यतः । ९ दृष्टादृष्टकारणकलापात् । १० सामान्या-कारा। ११ कोपि विशेषो दूरे न प्रतिभासते इत्युक्ते आह । १२ सौगताभिप्रायमनूद्याह । १३ स्थाणुपुरुषोचितदेशः । आदि-शब्दात्प्रकाशान्धकारकलुषवेलाश्च गृह्यन्ते ।

---

(1) अदृष्टादि । (2) ता । (3) ज्ञानस्य समस्वसदृशघटानां । (4) तथांगीकारे निराकरोति भाट्टः । (5) पुरुषस्य ।

भासमाने स्थाणुपुरुषविशेषयोः सन्देहानुपपत्तिः—तयोरप्रतिभासनात् । [1]तत्प्रतिभासनसामग्र्यभावादनुस्मरणे[1] सति सन्देहघटनात् । [2]तद्वत्पचति यजतीत्यादिक्रियाविशेषाप्रतिभासने करोतीतिक्रियासामान्यस्य प्रतिनियतदेशादिरूपस्य[3] प्रतिभासने युक्तः सन्देहः किं करोतीति । [4]तथा प्रश्ने च पचति यजते इत्यादि प्रतिवचनं न दुर्घटम्—[5]कथञ्चिपृष्टस्यैव प्रतिपादनात् । एवं यजनादिक्रियाविशेषाणां साधारणरूपा करोतीति क्रिया [6]कथञ्चित्ततो[7] [2]व्यतिरेकेणोपलभ्यमाना [8]कर्तृव्यापाररूपार्थभावना विभाव्यते[3] एवशब्दव्यापाररूपशब्दभावनावत्

ऊर्ध्वता सामान्य और विशेष में प्रतिनियत् देश आदि के प्रतिभासमान होने पर अर्थात् स्थाणु पुरुषोचित देश में प्रकाश और अंधकार से कलुषित समय में उन सामान्य और विशेष दोनों के दिखने पर स्थाणु और पुरुष विशेष में संदेह नहीं होवे, ऐसा नहीं है क्योंकि वे दोनों प्रतिभासित नहीं होते हैं। अत: उस प्रतिभासन की सामग्री-देश की निकटता का अभाव होने से और अनुस्मरण के होने पर संदेह हो जाता है। उसी प्रकार से—"सामान्य के प्रत्यक्ष से तथा विशेष के अप्रत्यक्ष से और विशेष की स्मृति होने से संदेह होना युक्ति युक्त ही है" इस लक्षण के सिद्ध हो जाने से "पचति यजति" इत्यादि क्रिया विशेष के प्रतिभासित न होने पर "करोति" इस प्रकार की प्रतिनियत देशादि रूप क्रिया सामान्य के प्रतिभासित होने पर "किं करोति" ऐसा संदेह होना युक्त ही है। एवं "किं करोति" ऐसे प्रश्न के होने पर "पचति यजते" इत्यादि प्रत्युत्तर दुर्घट नहीं हैं, क्योंकि कथंचित् पूछा गया पुरुष ही उत्तर देता है।

इस प्रकार से यजनादि क्रिया विशेषों में साधारणरूप "करोति" यह क्रिया कथंचित्—शक्य विवेचन रूप से उन यजनादि क्रिया विशेषों से भिन्न ही उपलब्ध होती हुई "करोति" अर्थ लक्षण वाली कर्ता के व्यापार रूप है, एवं उस क्रिया को ही अर्थ भावना कहते हैं क्योंकि वह शब्द व्यापाररूप शब्द-भावना के समान सकल बाधाओं से रहित है ऐसा निर्णय सिद्ध है।

और वही वेदवाक्य का अर्थ है किंतु अन्यापोहादि के समान नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं है। इसलिए हम भावनावादी भाट्टों का संप्रदाय ही संवादक सिद्ध होता है यह निश्चित हो गया। क्योंकि सत्यरूप कार्य और भावनालक्षण अर्थ में वेदवाक्य प्रमाण है उसी प्रकार से स्वरूप (विधि) में वे प्रमाण नहीं हैं अर्थात् लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय से युक्त वेदवाक्य भावनाअर्थ में ही प्रमाण है विधिवाद अर्थ में प्रमाण नहीं हैं कारण वहाँ बाधा का सद्भाव है। इस प्रकार से सभी वेदांतवाद का निराकरण कर देने

१ देशनैकट्यम् । २ सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च सन्देहो युक्त इत्युक्तवत् । ३ विशेषालिङ्गितस्य । आदिशब्देनातिप्रकाशान्धकारः । ४ किं करोतीति । ५ पृष्ट एव पुमानुत्तरं प्रतिपादयतीत्यर्थः । ६ शक्यविवेचनत्वेन । ७ यजनादिक्रियाविशेषेभ्यो भिन्नत्वेन । ८ करोत्यर्थलक्षणा ।

(1) अथ कथं तयोः अप्रतिभासने संदेह इत्याह । (2) भेदेन । (3) निश्चीयते एव ।

सकलबाधकरहितत्वनिर्णयात् । सैव च [१]वाक्यार्थो न पुनर्नियोगोऽन्यापोहादिवत् । इति [1]भट्टसम्प्रदाय एव संवादक:सिद्धः । [२]कार्ये [३]चार्थे चोदनायाः[2] प्रामाण्यं तत एव न [४]स्वरूपे—तत्र बाधकसद्भावात् । सर्ववेदान्तवाद[3]निराकरणान्न भट्टस्य कश्चिदपि प्रतिघात इति [५]कश्चित् ।

[अत्रत्यात् जैनाचार्याः भाट्टस्य भावनावादमपि निराकुर्वंति]

अत्र प्रतिविधीयते[६] । यत्तावदुक्तं[७], शब्दव्यापारः शब्दभावनेति । तत्र शब्दात्तद्व्यापारोनर्थान्तरभूतोर्थान्तरभूतो वा स्यात् ?

[शब्दात् शब्दव्यापारस्याभिन्नपक्षे दोष प्रतिपादनं]

यद्यनर्थान्तरभूतस्तदा कथमभिधेयः ? शब्दस्य स्वात्मवत् । न[८] ह्येकस्यानंशस्य[९] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो युक्तः ? संवेद्यसंवेदकभाववत् । [१०]स्वेष्ट[११] विपर्यासेन तद्भावापत्तेः—[१२]प्रति[4]नियम[१३]हेत्वभावात् । [१४]तद्भेदपरिकल्पनया प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावे [१५]तस्य [१६]सांवृतत्वप्रस-

---

से हम भाट्टों के यहाँ कोई भी बाधा उपस्थित नहीं हो सकती है ।

यहाँ तक भावनावादी भाट्ट ने अन्य विधिवादी का खण्डन करके अपना पक्ष पुष्ट किया है ।

[अब यहां से जैनाचार्य भावनावादी भाट्ट का खण्डन करते हैं]

जैन—जो आप भाट्टों ने कहा है कि "शब्द व्यापार ही शब्द भावना है" उसमें हम आपसे प्रश्न करते हैं कि शब्द का व्यापार शब्द से अभिन्न है या भिन्न ?

[शब्द से शब्द के व्यापार को अभिन्न मानने में दोष]

यदि अभिन्न है तो वाच्य कैसे होगा ? जैसे कि शब्द का स्वरूप वाच्य नहीं है । क्योंकि एक अनंश-अंश कल्पना रहित में प्रतिपाद्य और प्रतिपादक भाव युक्त नहीं है, जैसेकि एक निरंश ज्ञान में संवेद्य और संवेदक भाव मानना युक्त नहीं है । यदि अनंश में भी प्रतिपाद्य—प्रतिपादक भाव मानोगे तब तो आपके इष्ट से विपरीत भी कहा जा सकेगा अर्थात् आपने शब्द को प्रतिपादक और उसके स्वरूप को प्रतिपाद्य माना है, उससे विपरीत शब्द को प्रतिपाद्य भी कह सकेंगे क्योंकि इस विषय में प्रतिनियत हेतु का अभाव है । यदि शब्द में अंश की कल्पना करके प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव मानोगे तो वह शब्द

---

१ स्फोटादि । २ सत्यरूपः । ३ भावनालक्षणे । ४ विधौ । ५ भट्टमतानुसारी । ६ जैनेन । ७ हे भट्ट त्वया । ८ व्यापारः शब्दस्यार्थो न भवति—ततोनर्थान्तरत्वात् तत्स्वात्मवत् । अत्राशङ्का—ननु शब्दस्य स्वात्मा शब्दाभिधेयो भवतु । को दोषः ? तथा सति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं हेतोरित्युक्ते आह नहीति । ९ शब्दस्य ज्ञानापेक्षया निरंशस्य । १० एकानंशस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वं चेत् । ११ भट्टस्य स्वेष्टं शब्दस्य प्रतिपादकत्वं स्वरूपस्य प्रतिपाद्यत्वमिति । तद्वैपरीत्येन शब्दस्य प्रतिपाद्यत्वेन । १२ कुतः । १३ शब्दः प्रतिपादकः स्वरूपं प्रतिपाद्यमिति प्रतिनियमहेतोरभावात् । १४ शब्दस्य सांशत्वपरिकल्पनया । १५ शब्दस्य । १६ कल्पितत्व ।

---

(1) अन्वय । (2) लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययुक्तस्य चोदनारूपस्य वाक्यस्य । (3) विधिरूपे । (4) एकानंशे नियमाभावात् ।

ङ्गात् । ¹स्वरूपमपि शब्द:[1] श्रोत्रेण गमयति[2] ³वहिरर्थवत्³ स्वव्यापारेण । ³ततस्तस्य⁴ प्रतिपादक इति चेन्न⁵—रूपादीनामपि स्वरूपप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात्⁶ । ⁷तेपि हि स्वं स्वं स्वभावं ⁸चक्षुरादिभिर्गमयन्ति—⁹चक्षुरादीनां स्वातन्त्र्येण ¹⁰तत्र प्रवर्त्तनात् ¹¹तत्प्रयोज्यत्वात् तेषां च रूपादीनां निमित्तभावेन ¹²प्रयोजकत्वात् स्वयमधीयानानां[4] कारीषाग्न्यादिवत् । ¹³अथ रूपादय: प्रकाश्या एव ततोर्थान्तरभूतानां चक्षुरादीनां प्रकाशकादीनां सद्भावादिति मतम् । तथैव¹⁴ शब्दस्वरूपं प्रकाश्यमस्तु—ततोन्यस्य श्रोत्रस्य प्रकाशकस्य भावात् ।

संवृत्ति रूप—कल्पित ही हो जावेगा ।

भाट्ट—शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्र-कर्णेन्द्रिय से वता देता है जैसे कि वह अपने व्यापार से बाह्य पदार्थों को वताता है । इसलिए वह स्वरूप का प्रतिपादक भी है अर्थात् यह शब्द स्वरूप की अपेक्षा से प्रतिपाद्य वन जाता है और वाह्य अर्थ की अपेक्षा से प्रतिपादक वन जाता है । एवं जैसे शब्द स्वव्यापार से बाह्य पदार्थ का ज्ञान कराता है वैसे ही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से पुरुष के स्वरूप को वतला देता है यह भी कैसे ? ऐसा प्रश्न होने पर बतलाते हैं कि पुरुष शब्द के स्वरूप को प्राप्त करता है । और श्रोत्रेन्द्रिय उस पुरुष को प्रेरित करती है पुन: शब्द उस श्रोत्रेन्द्रिय को प्रेरित करता है । इस प्रकार से गम् धातु से प्रेरणार्थ में णिच् प्रत्यय होकर "गमयति" बनता है । जिसका ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । अन्यथा रूपादि भी अपने स्वरूप के प्रतिपादक हो जावेंगे, पुन: वे रूपादि भी भावना वन जावेगें । वे रूपादि भी अपने-अपने स्वभाव को चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा पुरुष को बतला देते हैं क्योंकि वे चक्षु आदि इन्द्रियाँ स्वतंत्र रूप से उन रूपादि विषयों में प्रवृत्ति करती हैं । वे रूपादि प्रयोज्य है और चक्षु आदि–निमित्त भाव से प्रयोजक हैं जैसे कि स्वयं पढ़ने वालों को कारोषादि (कंडे) की अग्नि निमित्त मात्र से प्रयोजक है मुख्य रूप से नहीं ।

भाट्ट—वे रूपादि प्रकाश्य—प्रकाशित होने योग्य ही हैं क्योंकि उनसे भिन्न चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रकाशक रूप से विद्यमान हैं ।

जैन—उसी प्रकार से शब्द का स्वरूप भी प्रकाश्य ही होवे क्योंकि उनसे भिन्न श्रोत्रेन्द्रियां प्रकाशक

१ भाट्ट: । २ यथा शब्द: स्वव्यापारेण वहिरर्थं गमयति । ३ शब्द: श्रोत्रेण स्वरूपं गमयति यत: । ४ स्वरूपस्य । ५ जैन: । ६ ततो रूपादिर्भावना स्यात् । ७ रूपादय: । ८ पुरुषस्य । ९ एतदेव भावयति । १० रूपाद्यवगमे । ११ ते रूपादय: प्रयोज्याश्चक्षुरादय: प्रयोजका: निमित्तमात्रकृतं तत्प्रयोज्यत्वं, न तु मुख्यवृत्त्या । १२ स्वस्वरूपवेदनं प्रति । १३ भाट्ट: । १४ जैन: ।

(1) स्वरूपमपेक्ष्य प्रतिपाद्यत्वं वहिरर्थमपेक्ष्य प्रतिपादकत्वं शब्दस्येति भाव: । (2) यथा । तथा शब्द: श्रोत्रेण पुरुषं स्वरूपं गमयति इत्यत्रापि कथमिति चेत् शब्दस्वरूपं गच्छति पुरुषस्तं पुरुषं श्रोत्रं प्रयुंक्ते तच्च श्रोत्रं शब्द: प्रेरयति इति णिच् इत्यनेन प्रकारेण । पुरुषं । (3)कर्म वहिरर्थं यथा श्रोत्रेण गमयति । (4) अधीयानादीनां इति पा. । स्वयं अध्ययनं कुर्वतां ।

[1]सत्यमेतदिन्द्रिय[2]बुद्धेर्विषयभावमनुभवन् प्रकाश्य एव शब्दो रूपादिवत् । प्रतिपादकस्तु स्वरूपे शाब्दीं बुद्धिमुपजनयन्नभिधीयते इति [3]चेन्न--तत्र वाच्यवाचकभावसम्बन्धाभावात्[1] । तस्य द्विष्ठत्वेनैकत्रानवस्थितेः[4] ।

[शब्दात् शब्दव्यापारस्य भिन्ने मन्यमाने दोषानाह]

यदि पुनरर्थान्तरभूत[5] एव शब्दात्तद्व्यापार इति मतं [6]तदा स शब्देन[2] प्रतिपाद्यमानो[3]

विद्यमान हैं ।

भाट्ट—आपका कहना सत्य है । श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान में विषय भाव का अनुभव करते हुए रूपादि के समान शब्द प्रकाश्य ही हैं । किन्तु वे शब्द स्वरूप में शाब्दिक ज्ञान को उत्पन्न करते हुए प्रतिपादक भी कहे जाते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । वहाँ पर तो वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध का अभाव है । क्योंकि वाच्य-वाचक भावरूप सम्बन्ध द्विष्ठ (दो में स्थित) होने से वह एकत्र-अनंश रूप शब्द में नहीं रह सकता है अर्थात् आपने शब्द को तो अंश रहित माना है पुनः उसमें वाच्य-वाचक रूप दो भाव कैसे बनेंगे ।

भावार्थ—भाट्ट का कहना है कि शब्द अपने स्वरूप को श्रोत्रेन्द्रिय के ज्ञान में अर्पण कर देता है । अतः वह शब्द अपने शब्द भावना के स्वरूप का प्रतिपादक हो जाता है । इस पर आचार्य कहते हैं कि तब तो रूप, रस, गंध और स्पर्श भी अपने-अपने स्वरूपों के प्रतिपादक हो जावेंगे क्योंकि ये रूप रसादि भी अपनी-अपनी चक्षु, रसना, घ्राण और स्पर्शन इन्द्रियों के ज्ञान में अपने स्वरूप का समर्पण करते ही हैं अर्थात् ये रूपरसादि भी चक्षु रसना आदि इन्द्रियों के विषय हैं जैसे कि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है । इस पर भाट्ट कहता है कि शब्द अपने वाच्य अर्थ के प्रतिपादक हैं इसलिए ये शब्द अपने स्वरूप के प्रतिपादक हैं । किन्तु रूप रसादि वैसे नहीं हैं वे तो चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा प्रकाशित होने योग्य हैं और वे चक्षु आदि इन्द्रियाँ उन रूपादि से भिन्न प्रकाशक हैं । आचार्य कहते हैं कि आप भाट्टों का यह कहना अयुक्त ही है क्योंकि शब्द अपने वाच्य का प्रतिपादक रूप स्वयं ही प्रसिद्ध नहीं है । अन्यथा पर के द्वारा उपदेश देना, व्याख्यान करना, अर्थ का समझाना आदि व्यर्थ हो जावेंगे । क्योंकि "मेरा यह प्रतिपाद्य अर्थ है" ऐसा वे शब्द श्रोताओं को स्वयं तो कहते नहीं है । यदि शब्द स्वयं ही कह देंगे तो मूर्ख, बालक आदि भी कठिन कठिन शास्त्रों के अर्थों को स्वयं ही समझ जावेंगे । विद्यालयों में अध्यापकों की कोई भी आवश्यकता नहीं रहेगी । किन्तु ऐसा तो है नहीं ।

---

१ भाट्टः । २ श्रोत्रेन्द्रियस्य । ३ जैनः । ४ अनंशरूपे शब्दे । ५ द्वितीयपक्षे । ६ (जैनः) यथा च छेदकस्य कुठारस्य छेद्यस्य वृक्षस्य तयोरन्तरालेऽवान्तरव्यापारेणोत्पतननिपतनेन भाव्यम् ।

---

(1) निरंशत्वात् । (2) कर्तृ । (3) यदि शब्दव्यापारः शब्देनोत्पाद्यमानस्तदा शब्देन पुरुषव्यापारो भाव्यते इति वचो विरुद्धचेत् ।

[1]व्यापारान्तरेण प्रतिपाद्यते चेत्तर्हि[2] [3]तद्भाव्यः स्यात् । तद् व्यापारान्तरं तु भावनानुषज्यते । [4]तदपि यदि शब्दादर्थान्तरं तदा तद्भाव्यं व्यापारान्तरेण स्यात् । तत्तु भावनेत्यपरापरभाव्यभावनापरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गः ।

[भाट्टः शब्दात्तस्य व्यापारं भिन्नाभिन्नं मन्यते तत्रापि दोषानुद्भावयंति जैनाचार्याः]

[5]अथ [6]वाक्यात्तद्व्यापारः कथञ्चिदनर्थान्तरम् [7]विष्वग्भावेनानुपलभ्यमानत्वात् [8]कुण्डादेर्वदरादिवत् । कथञ्चिदर्थान्तरं च विरुद्धधर्माध्यासात्—[9]तदनुत्पादे[10]प्युत्पादात्तदविनाशेपि[11] च विनाशादाकाशादन्धकारवदिति(1) मतम् । [12]तदाप्युभय[13]दोषानुषङ्गः । [14]स्यान्मतम्—

[शब्द से शब्द के व्यापार को भिन्न मानने में दोष]

यदि पुनः द्वितीय पक्ष लेवें कि शब्द से शब्द का व्यापार भिन्न ही है तब तो वह शब्द के द्वारा प्रतिपाद्यमान व्यापार कारणभूत–व्यापारन्तर से यदि प्रतिपादित किया जाता है तब तो उस शब्द व्यापार से पुरुष का व्यापार संभव हो सकता है । किन्तु वह व्यापारांतर ही भावना कहलायेगा । और यदि उस व्यापारांतर को भी शब्द से भिन्न मानो तब तो वह भी अन्य व्यापार से ही भाव्य होगा, पुनः वह भी भावना कहलायेगा इस प्रकार अपरा पर भाव्य-भावना की कल्पना करते रहने से अनवस्था दोष आ जावेगा ।

[भाट्ट शब्द से उसके व्यापार को भिन्न और अभिन्न दोनों रूप मानता है उस पर भी जैनाचार्य दोषारोपण करते हैं]

भाट्ट—शब्द से उसका व्यापार कथंचित् अभिन्न है क्योंकि विष्वग्भाव पृथक् भाव से उस व्यापार की उपलब्धि नहीं होती है । जैसे कुंडादि से वदरी फल (वेर) पृथक् रूप से उपलब्ध हो रहे हैं अतः वे कथंचित् कुंडादि से अभिन्न नहीं हैं । एवं शब्द से शब्द का व्यापार कथंचित् भिन्न है क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यास देखा जाता है । उस शब्द के उत्पन्न न होने पर भी उसका पृथक् उत्पाद देखा जाता है एवं उस शब्द के विनष्ट न होने पर भी उस व्यापार का विनाश देखा जाता है । जैसे आकाश के उत्पन्न एवं विनष्ट न होने पर भी अन्धकार उत्पन्न होता हुआ और नष्ट होता हुआ देखा जाता है ।

जैन—आपकी ऐसी मान्यता में भी उभय पक्ष में दिये गये सभी दोष आ जाते हैं । क्योंकि आप स्याद्वादी नहीं हैं, आप अपेक्षाकृत कथंचित् का अर्थ नहीं समझते हैं ।

भावार्थ—भाट्ट ने शब्द के व्यापार को शब्द भावना कहा है । इस पर आचार्य ने प्रश्न किया कि

१ कारणभूतेन । २ जैनः । ३ शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते इत्युक्तं पूर्वं तथा तद्वदित्यर्थः । ४ व्यापारान्तरम् । ५ भाट्टः । ६ शब्दात् । ७ पृथग्भावेन । ८ व्यतिरेकदृष्टान्तः । यत्र कथञ्चिदनर्थान्तरत्वं न भवति तत्र विष्वग्भावेनोपलभ्यमानत्वं भवति । यथा कुण्डादेर्वदरादिः । ९ शब्द । १० पृथक् । ११ शब्द यापारस्य । १२ जैनः । १३ अनर्थान्तरार्थान्तरोक्तदोषः स्यात् । १४ भट्टस्य ।

(1) अन्धकारादिवत् इति पा. ।

अग्निष्टोमादिवाक्यमुपलभ्यमानं[१] पुरुषव्यापारस्य [२]साधकमिदमित्यनुभवाद्वाक्यस्थ[1] एव तद्व्यापारो भावना वाक्यस्य विषयतां [३]समश्नुति—तथा प्रतीतेः । अन्यथा[४] [५]सर्वत्र विषयविषयिभावसंभावनाविरोधात् ।

[भाट्टो वदति यत् जैनैर्मान्यं ज्ञानमपि स्वव्यापाराद् भिन्नमभिन्नं भिन्नाभिन्नं वेति त्रिषु पक्षेषु दोषावतारः]

संवेदनमपि[६] हि [७]भवतां [८]स्वव्यापारं विषयी [2]कुर्वन् तदनर्थान्तरभूतमर्थान्तरभूतं

शब्द से उस शब्द का व्यापार अभिन्न है या भिन्न ?

शब्द से उसके व्यापार को अभिन्न मानने में आचार्य ने दोष दिया है कि आप भाट्ट के यहां शब्द अंश कल्पना से रहित हैं पुनः उनमें वाच्य वाचक सम्बन्ध कैसे बनेगा ? यदि शब्द में अंश की कल्पना करके वाच्य-वाचक भाव मानों तो भी अंश कल्पना के काल्पनिक होने से शब्द और उसका अर्थ भी कल्पित ही रहेगा।

यदि शब्द से उसके व्यापार को भिन्न मानोगे तो भी वह शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया गया शब्द का व्यापार उस शब्द से भिन्न होने से यह उस शब्द का व्यापार है ऐसा कैसे कहा जावेगा। एवं यदि वह शब्द का व्यापार भिन्न व्यापार से प्रतिपादित किया जावेगा तो अनवस्था आ जावेगी। इस पर भाट्ट ने शब्द से उसके व्यापार को भिन्नाभिन्न मान लिया। तब आचार्य ने कहा कि दोनों ही पक्ष में दिए गए दोष पुनः आपके ऊपर एक साथ आ जावेंगे क्योंकि आप अपेक्षा कृत भिन्नाभिन्न की व्यवस्था नहीं समझते हैं और यदि अपेक्षा को समझ लेंगे तब तो स्याद्वादी के पक्ष में सामिल हो जावेंगे फिर एकान्तवादी नहीं रहेंगे।

भाट्ट—उपलब्ध होते हुए अग्निष्टोमादि वाक्य पुरुष व्यापार के साधक हैं इस प्रकार से अनुभव आता है अतः शब्द में स्थित ही शब्द का व्यापार भावना है और वही शब्द भावना वेदवाक्य के विषय-पने को प्राप्त करती हैं क्योंकि वैसा ही अनुभव आ रहा है। अन्यथा—ऐसा न मानों तो सर्वत्र-ज्ञान और अर्थ में विषय-विषयिभाव की संभावना ही विरुद्ध हो जावेगी। एवं जैसे आपने हमारे से प्रश्न किए हैं वैसे ही हम आप जैनियों से भी प्रश्न करेंगे कि—

[भाट्ट कहता है कि आप जैनों के द्वारा मान्य ज्ञान भी अपने व्यापार से भिन्न है या अभिन्न या भिन्नाभिन्न है ? इन तीनों पक्षों में दोषारोपण]

आपके यहाँ ज्ञान भी अपने स्वार्थग्रहण लक्षण व्यापार को विषयभूत करता हुआ उस ज्ञान से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है या अभिन्न स्वभाव को अथवा कथंचित् उभय स्वभाव को जानता है ?

---

१ गृह्यमाणम् । २ भावकमिति पाठान्तरम् । ३ प्राप्नोति । ४ भावनाया वाक्यविषयत्वाभावे । ५ ज्ञानार्थयोः । ६ यथास्माकं (भाट्टानां) विकल्पेन पृष्टं तथास्माभिरपि पृच्छ्यते जैनः । ७ जैनानाम् । ८ स्वार्थग्रहणलक्षणम् ।

(1) उल्लेखेन । (2) स्वीकुर्वन् ।

वा कथञ्चिदुभयस्वभावं वा [१]संवेदयेत्— गत्यन्तराभावात् । प्रथमपक्षे न संवेद्यसंवेदकभावः— संवेदनतद्व्यापारयोः सर्वथानर्थान्तरत्वाद्वाक्यतद्व्यापारयोः[२] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाववत् । द्वितीयपक्षेपि न तयोस्तद्भावः—[३]अनवस्थानुषङ्गात्तद्वत् । तृतीयपक्षे तु तदुभयदोषप्रसक्तेस्तद्वदेव कुतः संवेद्यसंवेदकभावः सिध्येत् [४]अथ स्वार्थसंवेदन(1)व्यापारविशिष्टं संवेदनमबाधमनुभूयमानं विकल्पशतेनाप्यशक्यनिराकरणं(2) संवेद्यसंवेदकभावं साधयतीत्यभिधाने[५] [६]परस्यापि शब्दः स्वव्यापारविशिष्टः पुरुषव्यापारं[७] [८]भावयतीत्यबाधप्रतीतिसद्भावाद्वाक्यव्यापारो भावना [९]वाक्यस्य विषयो व्यवतिष्ठते एवेति ।

एवं इन तीन विकल्पों को छोड़कर और तो कोई गति उस ज्ञान की नहीं है । यदि पहला पक्ष लेवो तो संवेद्य—संवेदक भाव उस ज्ञान में नहीं बनेगा, क्योंकि आपने तो ज्ञान और उसके व्यापार में सर्वथा अभेद मान लिया है जैसे कि हमारे यहाँ शब्द और उसके व्यापार में सर्वथा अभेद मानने पर प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नहीं हो सकता है ।

दूसरे पक्ष में भी उन दोषों का सद्भाव संभव ही है पूर्ववत् अनवस्था का प्रसंग आ जाता है, अर्थात् यदि ज्ञान से ज्ञान का व्यापार भिन्न ही है तब वह ज्ञान का व्यापार ज्ञान से अनुभव किया जाता हुआ व्यापारांतर से जाना जायेगा तो व्यापारांतर भाव्य होगा और वह व्यापारांतर भी ज्ञान से भिन्न होगा तो वह भी भिन्न-व्यापार से भाव्य होगा ऐसे अनवस्था आ जावेगी ।

तृतीय पक्ष में भी उन दोनों पक्षों में दिये गये दोष आ ही जावेंगे पुनः उसी प्रकार से संवेद्य—संवेदक भाव—ज्ञेय-ज्ञान भाव कैसे सिद्ध हो सकेगा ?

यदि आप जैन ऐसा कहें कि—

"स्वार्थसंवेदन व्यापार से विशिष्ट, अनुभूयमान ज्ञान बाधा रहित है, सैंकड़ों विकल्पों के द्वारा उसका निराकरण करना शक्य नहीं है अतः वह ज्ञान संवेद्य संवेदक भाव को सिद्ध कर देता है ।" ऐसा आपके द्वारा मानने पर तो हम भाट्टों का भी शब्द अपने व्यापार से विशिष्ट होता हुआ यागलक्षण पुरुष व्यापार को भावित करता है । इस प्रकार से बाधा रहित प्रतीति का सद्भाव होने से शब्द का व्यापार ही भावना है वह पुरुष के व्यापार को कराती है अतः वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है

१ स्वार्थग्रहणलक्षणम् । २ ज्ञेयवस्तुग्रहणलक्षणो व्यापारः । ३ यदि पुनरर्थान्तरभूत एव संवेदनात्संवेदनव्यापार इति मतं तदा स संवेदनव्यापारः संवेदनेन संवेद्यमानो व्यापारान्तरेण संवेद्यते चेत्तर्हि व्यापारान्तरभाव्यः स्यात् । व्यापारान्तरं तु यदि संवेदनादर्थान्तरं तदा तद्व्यापारान्तरं व्यापारान्तरेण भाव्यमिति सत्यनवस्था । ४ भट्टो वदति । ५ जैनैः । ६ भाट्टस्य । ७ यागलक्षणम् । ८ (प्रेरयति) स्वपरग्राहिकातीन्द्रियशक्तिः करणरूपा । ९ शब्दः पुरुषव्यापारं भावयतीत्यादि वचनम् ।

(1) एव । (2) सत् ।

[भाट्टेनारोपितान् दोषान् जैनाचार्याः निराकुर्वति]

[१]तदनुपपन्नम्—[२]वैषम्यात्[३] । संवेदनेन हि[1] [४]संवेद्यमानः [५]स्वात्माऽर्थो[2] वा [६]तस्य विषयो न पुनः संवेदकः स्वात्मा [७]तत्संवेद्यत्वेन्यस्य[८] [९]संवेदनस्यात्मनः[१०] [3]संवेदकत्वोपपत्ते-[4]राकाङ्क्षा[११]परिक्षयादनवस्थानवतारात्[5] । [१२]वाक्येन[6] तु भाव्यमानः[१३] पुरुषव्यापारो न तस्य

यह बात व्यवस्थित ही है।

[भाट्ट के द्वारा दिये गये दोषों का जैनाचार्य निराकरण करते हैं]

जैन- यह आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि दृष्टाँत और दार्ष्टांत में विषमता है। ज्ञान के द्वारा संवेद्यमान—जाना गया स्वपरग्राहक अतीन्द्रियकरण शक्ति रूप स्वात्मा अथवा पदार्थ उस वाक्य के विषय हैं किन्तु संवेदक स्वात्मा उसका विषय नहीं है। यदि स्वात्मा को भी संवेद्य रूप मान लेओगे तो अन्य संवेदन के स्वरूप को संवेदकपना आ जावेगा पुनः अवांतर व्यापार की आकांक्षा का परिक्षय-अभाव न होने से अनवस्था आ जावेगी।

विशेषार्थ—जैनाचार्यों ने "शब्द से उस शब्द का व्यापार भिन्न है या अभिन्न ?" इत्यादि विकल्प उठाकर भाट्टों पर दोषारोपण किया था। तो भाट्ट भी उसी पद्धति से जैनाचार्य के प्रति दोषारोपण करते हुए कहता है कि आप जैनों के यहाँ ज्ञान स्वपर को जानने वाला प्रसिद्ध है पुनः जब ज्ञान अपने स्वरूप को जानता है तब वह ज्ञान अपने से अभिन्न अपने स्वरूप को जानता है या अपने से भिन्न अपने स्वरूप को जानता है या अपने से भिन्नाभिन्न अपने स्वरूप को जानता है ?

इन तीन विकल्पों के सिवा चौथा विकल्प संभव ही नहीं है। यदि ज्ञान अपने से अभिन्न स्वरूप को जानता है तो वह ज्ञान ज्ञेय—जानने योग्य और ज्ञापक—जानने वाला इन दोनों रूप कैसे हो सकेगा क्योंकि ज्ञान और उसका स्वरूप सर्वथा अभिन्न रूप ही है। जब दूसरा भिन्न पक्ष लेवोगे तो अनवस्था आ जावेगी। एवं तृतीय पक्ष में दोनों पक्षों के दोष आ जाते हैं। यदि आप जैन कहें कि हमारे यहाँ ज्ञान

---

१ जैनः। २ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः। ३ वैषम्यं भावयति। ४ स्वात्मा तु न संवेदकः किन्तु संवेद्य एव। ५ स्वपर-ग्राहिकातीन्द्रियशक्तिः करणरूपा स्वात्मा। ६ तस्य वाक्यस्य। ७ स्वात्मनः। ८ करणरूपस्य। ९ विषयरूपतया ग्राह्यत्वे। १० स्वरूपस्य। ११ अवान्तरव्यापारस्याकाङ्क्षा नास्ति ततो नानवस्था। १२ अन्यत्संवेदनं ह्यात्मानं स्वरूपं परिच्छिनत्ति। अतोन्यत्संवेदनं संवेदकं स्वात्मा तु संवेद्य इत्यायातम्। १३ उत्पाद्यमान।

---

(1) कर्तृ। (2) वाह्यार्थः। (3) येन ज्ञानेन करणं संवेद्यं तस्य ज्ञानस्य संवेदकत्वोपपत्तेः। स्वार्थग्रहणलक्षणस्यापरव्यापार-स्याकांक्षा परिक्षयादनवस्था नास्ति। वैशद्येऽपि परोक्षं मीमांसकस्य करणं ज्ञानं तथा जैनानामनंगीकारात्। (4) स्वार्थग्रहण-लक्षणपरव्यापारस्य। (5) संवेद्यमानः स्वात्मार्थो वा तस्य विषय इति तदेव साध्यं। (6) शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते तदानीमेव पुरुषव्यापार एव शब्दस्य विषयः न तु शब्दव्यापारः तस्य करणत्वात् तथांगीकारात् पर्म्यं शब्दस्य व्यापारो विषयः न तु पुरुषव्यापार इति कारणात्।

विषयः । [१]स्वव्यापारस्तु [२]भावकत्वलक्षणो भावनाख्यो [३]विषयोभ्युपगम्यते इति मनागपि न [1]साम्यम्—तथाप्रतीत्यभावाच्च[2] । न हि कश्चिद्वाक्यश्रवणादेवं[४] प्रत्येति '[५]स्वव्यापारोनेन[3] वाक्येन मम प्रतिपादित[4] इति। किं तर्हि ? '[६]जात्यादिविशिष्टोर्थः [७]क्रियाख्योनेन[८]

स्वपर को जानने वाला अनुभव से सिद्ध है अतः सैंकड़ों विकल्पों से उसमें दोषारोपण करना शक्य नहीं है। तव तो हम भाट्टों के यहाँ भी शब्द अपने व्यापार से सहित होता हुआ पुरुष के यज्ञ रूप व्यापार को भावित कराता है। इसमें भी वाधा रहित अनुभव आ रहा है अतः शब्द का व्यापार ही शब्द भावना है और वह पुरुष के व्यापार को करा देती है इत्यादि। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! हमारे ज्ञान में भिन्न, अभिन्न आदि रूप से दोष नहीं आते हैं क्योंकि हम अपेक्षा से ज्ञान को उसके जानने रूप व्यापार से भिन्न भी मानते हैं और अभिन्न भी मानते हैं। हमारे यहाँ ज्ञान शब्द व्याकरण से व्युत्पत्ति अर्थ में तीन प्रकार से सिद्ध होता है। यथा—कर्तरि प्रयोग में "जानातीति ज्ञानं आत्मा"। जो जानता है वह ज्ञान है इस अर्थ में ज्ञान और आत्मा अभिन्न—एक रूप हो जाते हैं "ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं"। इस करण साधन में जिसके द्वारा जाना जावे वह ज्ञान है ऐसा अर्थ करने से ज्ञान और आत्मा में करण और कर्त्ता की अपेक्षा से कथंचित् भेद भी हो जाता है। एवं "ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानं"। कहने से जानना मात्र क्रिया ही ज्ञान है ऐसा सिद्ध हो जाता है। यहां पर ज्ञान को करण रूप से विवक्षित कर लेने से आपके द्वारा आरोपित दोषों का उन्मूलन हो जाता है। ज्ञान के द्वारा स्व और पर का ज्ञान होता है। मतलव 'स्व' शब्द से यहाँ ज्ञान रूप करण शक्ति से सहित आत्मा, और पर शब्द से सभी जीव-अजीव आदि पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। जव ज्ञान स्वपर को जानने वाला है तव वह ज्ञान संवेद्य—जानने योग्य नहीं है क्यों कि ज्ञान तो जानने वाला सिद्ध है। अतः ज्ञान करण शक्ति रूप से संवेद्य नहीं है किन्तु संवेदक है अतः हमारे यहां ज्ञान कथंचित् अपने से अभिन्न स्वभाव वाली आत्मा को जानता है। कथंचित् कर्त्ता करण में भेद की विवक्षा से अपने से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है एवं क्रम से भिन्नाभिन्न की विवक्षा करने से सप्तभंगी के तृतीय भंग रूप कथंचित्—भिन्नाभिन्न रूप अपने आत्म स्वभाव को जानता है।

वाक्य के द्वारा भाव्यमान—उत्पन्न कराया गया पुरुष का व्यापार उसका विषय नहीं है। किन्तु स्वव्यापार भावक-लक्षण उस शब्द का भावना-नाम का विषय है ऐसा आपने स्वीकार किया है इसलिए किंचित् भी उदाहरण में साम्य नहीं है। कारण उस प्रकार की प्रतीति नहीं आ रही है। कोई भी मनुष्य "अग्निष्टोमेन यजेत" इत्यादि शब्द के सुनने मात्र से ही इस प्रकार से नहीं समझता है कि "इस वाक्य ने मेरा व्यापार प्रतिपादित किया है" इत्यादि।

---

१ तर्हि भाट्टाभिहितविषयः क इत्युक्ते आह। २ उत्पादकत्वलक्षणः। ३ तस्य वाक्यस्य। ४ अग्निष्टोमेन यजेतेत्यादि। ५ पुरुषव्यापारः। ६ आदिशब्दाद् गुणद्रव्ये। ७ यजेत आलभेतेत्यादि। ८ अनेन वाक्येन।

---

(1) वैधर्म्यादित्यनेन संबंधः। (2) न केवलं वैधर्म्यात्। (3) वाक्यस्य। (4) प्रकाशित।

प्रकाशित इति प्रतीतिः—सर्वेण वाक्येन क्रियाया एव कर्मादिविशेषणविशिष्टायाः प्रकाशनात्। देवदत्त गामभ्याज [१]शुक्लां [२]दण्डेनेत्यादिवत्। [३]सैवाभ्याजनादिव्यवच्छिन्ना[1] क्रिया भावना अभ्याज अभ्याजनं कुर्विति प्रतीतिरिति चेन्न[४]—तस्याः पुरुषस्थत्वेन सम्प्रत्ययाच्छब्दात्म[2]भावनारूपत्वायोगात्। [५]तथा च कथमिदमवतिष्ठते—"शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव[६] लिङादय" इति।

[अत्रपर्यंतं शब्दभावनां निराकृत्य इदानीमर्थभावनामपाकुर्वंति जैनाचार्याः]

[७]यदप्युक्तम्—अर्थभावना पुरुषव्यापारलक्षणा[८] वाक्यार्थ इति तदप्ययुक्तम्—नियो-

---

शंका—तो शब्द क्या प्रतिपादित करता है ?

जैन- जाति आदि से विशिष्ट अर्थ "यजेत" इत्यादि क्रिया नाम से इस वाक्य के द्वारा प्रकाशित किया गया है ऐसा अनुभव आता है क्योंकि सभी वाक्य कर्मादि विशेषण से विशिष्ट क्रिया को ही प्रकाशित करते हैं। जैसे "हे देवदत्त ! इस श्वेत गाय को डंडे के द्वारा भगावो" इत्यादि वाक्य जाति, गुण, द्रव्य से विशिष्ट ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—तथैव।

भाट्ट- वही अभ्याजन आदि से अवच्छिन्न क्रिया ही तो भावना है क्योंकि "अभ्याज, अभ्याजनं कुरु"—भगाओ, भगाने की क्रिया करो इस प्रकार से प्रतीति आ रही है।

जैन—नहीं। वह प्रतीति तो पुरुष में स्थित रूप से जानी जाती है। शब्दभावना और अर्थभावना रूप से नहीं जानी जाती है। और उस प्रकार से यह बात भी कैसे व्यवस्थित होगी कि "लिङादि लकार शब्दभावना और आत्मभावना को अर्थभावना से भिन्न ही कहते हैं" अर्थात् यह कथन ठीक नहीं है।

[शब्दभावना का निराकरण करके अब यहाँ से आचार्य अर्थभावना का निराकरण करते हैं]

जैनाचार्य—और जो आपने कहा है कि "पुरुष व्यापार लक्षण अर्थभावना वेदवाक्य का अर्थ है" यह कथन भी अयुक्त है, अन्यथा नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावेगा क्योंकि "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन यागादौ" मैं इस वेद वाक्य के द्वारा यज्ञादि कर्म में नियुक्त हुआ हूं। इस प्रकार से ज्ञाता को अनुभव हो रहा है।

भाट्ट—इस प्रकार से शब्द व्यापार रूप से शब्दभावना ही सिद्ध होती है अतः ऐसा शब्दभावना रूप नियोग हमें इष्ट है हमने तो शुद्ध कार्यादिरूप ही नियोग का निराकरण किया है।

---

१ गुणः। २ द्रव्यम्। ३ भाट्टः। ४ जैनः। ५ लिङादीनां शब्दव्यापारविषयत्वाभावे सति। ६ अर्थभावनातः। ७ इदानीमर्थभावनां निराकर्तुमुपक्रमते। ८ देवदत्तः करोतीत्यादिलक्षणा।

(1) विशिष्टः। (2) स्वरूप।

गस्य वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् । नियुक्तोहमनेन वाक्येन यागादाविति प्रतिपत्तुः प्रतीतेः । [१]इष्टस्तादृशो नियोगो [२]भावनास्वभावः [1]शुद्धकार्यादिरूपस्यैव नियोगस्य निराकरणादिति [३]चेन्न तस्यापि प्रधानभावार्पितस्य[४] करोत्यर्थादिविशेषणस्य[५] वाक्यार्थत्वोपपत्तेः । निरपेक्षस्य[2] तु करोत्यर्थस्यापि वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः । न च करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इति युक्तम्—[3]यज्याद्यर्थस्यापि वाक्यार्थतयानुभवात् ।

[भाट्टाः करोति सामान्यक्रियामेव वाक्यस्यार्थं मन्यंते, किंतु जैनाचार्याः भवति क्रियां सामान्यरूपां सर्वव्यापिनीं मत्वा दोषारोपणं कुर्वंति]

[६]करोतिसामान्यस्य [19]सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वम्-नित्याः[७] शब्दार्थसम्बन्धा इति वचनात् । न पुनर्यज्यादिक्रियाविशेषास्तेषामनित्यत्वाच्छ[८]ब्दा[20]र्थत्वाऽवे-

---

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि "करोति इस अर्थआदि विशेषण से विशिष्ट, प्रधान भाव से विवक्षित वह नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जाता है किन्तु निरपेक्ष करोति क्रिया का अर्थ भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकता है एवं "करोति" अर्थ ही वेद वाक्य का अर्थ है, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि यज्यादि अर्थ भी वेदवाक्य के अर्थरूप से अनुभव में आते हैं ।

[भाट्ट ने करोति क्रिया को सामान्य मानकर उसे ही वेदवाक्य का अर्थ माना है । उस पर जैनाचार्य "भवति" क्रिया को सर्वव्यापी मानकर उसे वेद का अर्थ सिद्ध करते हैं]

भाट्ट - सकल यज्यादि क्रिया विशेष में व्यापी "करोति" सामान्य नित्य है अतः वह शब्द का अर्थ है । क्योंकि "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः" ऐसा वाक्य पाया जाता है किन्तु यज्यादि क्रिया विशेष वेद के अर्थ नहीं हैं क्योंकि वे अनित्य हैं वे वेदवाक्य के अर्थ घटित नहीं होते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कहना—क्योंकि सकल यज्यादि क्रिया विशेषों में व्यापी यज्यादिक्रिया-सामान्य नित्य है वह भी वेदवाक्य का अर्थ हो सकता है इसमें कोई विरोध नहीं है ।

भाट्ट—सभी क्रियाओं में व्यापी होने से "करोति" सामान्य ही शब्द का अर्थ है न कि यज्यादि विशेष ।

जैन यदि ऐसा मानते हो तो भवन-क्रिया-रूप "सत्ता-सामान्य" भी शब्द—वेदवाक्य का अर्थ हो जावे क्या बाधा है ? करोति क्रिया में भी उसका सद्भाव है । क्योंकि महाक्रिया में सामान्य-

---

१ भाट्ट आह "भो जैन" २ शब्दव्यापार इत्युक्ते शब्दभावनैवेति भावनास्वभावः । ३ जैनः । ४ विवक्षितस्य । ५ वसः । ६ भाट्टो वदति । ७ "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभि । सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः" । ८ वाक्यार्थता ।

---

(1) यागमात्र । (2) विशेषणे । (3) पचनादि । (4) सूत्राम्नाता महर्षिभिः सूत्राणां सानुतंत्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः । तंत्राणां—विषमपदव्याख्यानमनुतंत्रं तेन सह वर्तन्ते यानि सूत्राणि तानि सानुतंत्राणि तेषां । (5) शब्दार्थत्वाघटनात् इति पा. ।

[1]दनात्। इति चेन्न[2]—[1]यज्यादिक्रियासामान्यस्य[3] सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वाविरोधात्, [4]सर्वक्रियाव्यापित्वात्करोतिसामान्यं शब्दार्थ इति चेत्तर्हि[5] सत्तासामान्यं[6] [7]शब्दार्थोस्तु, करोतावपि तस्य सद्भावात्। [8]महाक्रियासामान्य[2]व्यवस्थितिरूपत्वात्[9]। यथैव हि पचति पाकं करोति, यजते यागं करोतीति प्रतीतिस्तथा पचति पाचको भवति, यजते याजको भवति, करोतीति कारको भवतीत्यपि प्रत्ययोस्ति। ततः करोतीत[10]रार्थव्यापित्वाद्भव[11]त्यर्थस्यैव शब्दार्थत्वं[12] युक्तमुत्पश्यामः[13]।

[निष्क्रियवस्तुनि अपि भवत्यर्थो विद्यतेऽतः क्रियास्वभावो नास्तीति भाट्टेनोच्यमाने जैनाचार्या निराकुर्वंति]

स्यान्मतं "निर्व्यापारेपि[14] वस्तुनि भवत्यर्थस्य प्रतीतेर्न क्रियास्वभावत्वं, [15]निष्क्रियेषु गुणादिषु [16]भवनाऽभावप्रसङ्गात्" इति चेन्न, करोत्यर्थेपि समानत्वात्। [17]परिस्पन्दात्मक-

---

व्यवस्थितरूप ही है। अर्थात् सत्ता-सामान्य सर्वत्र व्यवस्थित ही रहता है।

जिस प्रकार से "पचति—पाकं करोति, यजते—यागं करोति" यह प्रतीति आ रही है उसी प्रकार से "पचति, पाको भवति, यजते, याजको भवति, करोतीति कारको भवति" यह ज्ञान भी हो रहा है। इसलिए "भवति" यह क्रिया इतर पचन आदि अर्थ में भी व्यापी होने से हम "जैन भवति" इस क्रिया के अर्थ को ही वेद—वाक्य का अर्थ युक्त समझते हैं किन्तु 'करोति' अर्थ को नहीं।

[निष्क्रिय वस्तु में भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है अतः वह क्रिया स्वभाव नहीं है ऐसी भाट्ट की मान्यता का निराकरण]

भाट्ट—निर्व्यापार—निष्क्रिय—वस्तु में भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है इसलिए वह क्रिया स्वभाव नहीं है अन्यथा निष्क्रिय गुणादिकों में सत्त्व के अभाव का प्रसंग आ जावेगा।

जैन—ऐसा भी नहीं कहना। क्योंकि यह बात तो करोति क्रिया के अर्थ में भी समान ही है। देखिये ! परिष्पंदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ विद्यमान है "तिष्ठति, स्थानं करोति," ठहरता है, स्थान करता है। ऐसी प्रतीति आती है और दूसरी बात यह भी है कि गुणादिकों में करोति अर्थ का अभाव होने पर सर्वथा उनमें कारकपने का भी अभाव हो जावेगा पुनः वे गुणादि अवस्तु हो जावेंगे। इसीलिए वह करोत्यर्थ भी व्यापक है क्योंकि विद्यमान वस्तु में उसका सद्भाव है। अन्यथा वह कारक न होने से अवस्तु हो जावेगा पुनः उसका सत्त्व नहीं रहेगा। एवं महासत्ता रूप भवन क्रिया है इत्यादि रूप से व्यवहार भी देखा

---

१ अघटनात्। २ जैनः। ३ करोत्यर्थविशेषस्य। ४ भाट्टः। ५ जैनः। ६ भवनक्रिया। ७ वाक्यार्थः। ८ महाक्रिया सत्तालक्षणा सैव सामान्यं तदेव रूपं यस्याः करोतिक्रियायाः। ९ सत्तासामान्यस्य। १० इतरः=पचनादिः। ११ न पुनः करोत्यर्थस्य। १२ वाक्यार्थत्वम्। १३ वयं जैनाः। १४ निष्क्रिये। १५ अन्यथा। १६ सत्त्वस्य विनाशाद्गुणादीनामभाव आयातः। १७ [परः प्राह] क्रिया द्विविधा परिस्पन्दात्मिका (चलनात्मिका) भाववती च।

---

(1) यजतिसामान्यपचतिसामान्यादेः। (2) महाक्रिया सामान्यरूपत्वात्।

व्यापाररहितेपि करोत्यर्थस्य भावात्, तिष्ठति स्थानं करोतीति प्रतीतेः, गुणादिषु [१]च करोत्यर्थाभावे सर्वथा [1]कारकत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः। [२]तत एव करोत्यर्थो व्यापकः, [३]सति सर्वत्र भावात्। अन्यथा[४] तस्याकारकत्वेनावस्तुत्वात् सत्त्वविरोधात्। [५]भवनक्रियेत्या[2]-दिव्यवहारदर्शनाच्च[६] सत्ता करोत्यर्थविशेषणमेव। करोत्यर्थस्यैव सर्वत्र प्राधान्याद्वाक्यार्थ-त्वम्। इति चेन्न[७], [८]तस्य नित्यस्यैकस्यानंशस्य सर्वगतस्य सर्वथा विचार्यमाणस्यासम्भवात्।

जाता है। इसलिए 'सत्ता' करोति क्रिया के अर्थ का विशेषण ही है।

भावार्थ—भाट्ट का कहना है कि "करोति–करता है" इस क्रिया का अर्थ सभी क्रियाओं में व्याप्त है। अतः यह करोति क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है। जैसे——यजते, यागं करोति, गच्छति गमनं करोति इत्यादि। यज्ञ करता है, यज्ञ को करता है, जाता है गमन को करता है, यह करने रूप क्रिया सर्वत्र व्याप्त होने से ही नित्य है और वही वेद वाक्य का अर्थ है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार से तो भू धातु सत्ता अर्थ में है और अस् धातु भी सत्ता अर्थ में है "भवति, अस्ति" क्रियायें तो वास्तव में सर्वत्र व्याप्त हैं। "यजते, याजको भवति, पचति, पाचको भवति"। यज्ञ करता है याजक होता है, पकाता है पाचक होता है। इत्यादि रूप से भू धातु की भवति क्रिया को भी सर्वत्र व्याप्त होने से वेदवाक्य का अर्थ मान लो क्योंकि यह भवति क्रिया तो करोति में भी व्याप्त है जैसे—करोति, कारको भवति। तव भाट्ट ने कहा कि यह 'भवति' निष्क्रिय वस्तु गुण आदि में भी पाई जाती है यथा "आकाशोऽस्ति, रूपादयः संति।" आकाश है, रूपादि हैं इत्यादि। अतः यह वेदवाक्य का अर्थ नहीं होगी क्योंकि वेदवाक्य का अर्थ तो यज्ञ को करने की क्रिया रूप है। इस पर जैनाचार्य पुनरपि कहते हैं कि इस प्रकार से तो परिष्पंदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ पाया जाता है जैसे—— तिष्ठति, स्थानं करोति। ठहरता है स्थान करता है इन अकर्मक धातुओं में भी करोति क्रिया चली गई। इसलिए सर्वव्यापी महा सत्ता रूप भवति क्रिया ही वेद वाक्य का अर्थ हो जावे। तव उसने कहा कि यह "भवति" क्रिया तो "करोति" क्रिया के अर्थ का विशेषण है। अतः करोति क्रिया ही विशेष्य रूप होने से एवं सर्वत्र प्रधान रूप होने से वेद वाक्य का अर्थ है। इस पर और भी आगे ऊहापोह चलता है।

भाट्ट—करोति क्रिया का अर्थ ही सर्वत्र प्रधान होने से वेदवाक्य का अर्थ है।

जैन—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि आपके द्वारा मान्य वह करोति क्रिया सामान्य, नित्य, एक, अनंश और सर्वगत है इस पर विचार करने से सर्वथा ही वह करोति सामान्य, असंभव ही है अर्थात् भाट्ट करोति क्रिया को सामान्य, नित्य, एक, निरंश और सर्वगत मानते हैं आगे क्रमशः इन मान्यताओं का खण्डन किया गया है।

---

१ किञ्च। २ पर एव। ३ विद्यमाने वस्तुनि। ४ असति सर्वत्रभावे। ५ महासत्ता। ६ हेत्वन्तरमिदम्। ७ जैन आह। ८ करोतिसामान्यस्य।

---

(1) क्रियां कुर्वद्धि कारकं। (2) करण।

[करोत्यर्थसामान्यं नित्यमस्ति इति भाट्टेन मन्यमाने जैनाचार्यास्तस्य निराकरणं कुर्वंति]

[1]नित्यं करोत्यर्थसामान्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्छब्दवदिति [2]चेन्न, हेतोर्विरुद्धत्वात्, कथञ्चिन्नित्यस्येष्ट[3]विरुद्धस्य साधनात्, सर्वथा नित्यस्य प्रत्यभिज्ञानायोगात्, तदेवेदमिति पूर्वोत्तरपर्यायव्यापिन्येकत्र[4] प्रत्ययस्योत्पत्तेः, [5]पौर्वापर्यरहितस्य[1] [2]पूर्वापरप्रत्यय[6]विषयत्वासम्भवात्। [7]धर्माविव[3] पूर्वापरभूतौ, न धर्मसामान्यमिति चेत् [8]कथं तदेवेद[9]मित्यभेदप्रतीतिः[4] ? पूर्वापरस्वरूपयोरतीतवर्त्तमानयोस्तदित्यतीतपरामर्शिना स्मरणेनेदमिति वर्त्तमानोल्लेखिना प्रत्यक्षेण च विषयीक्रियमाणयोः परस्परं [10]भेदात्। [11]करोतिसामान्यादेकस्मात्तयोः कथञ्चि-

[करोति क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है ऐसा भाट्ट के द्वारा कहने पर जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं]

भाट्ट—'करोति' क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है शब्द के समान।

जैन—नहीं। आपका हेतु विरुद्ध है यह "प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्" हेतु आपके इष्ट सर्वथा नित्य से विरूद्ध कथंचित् नित्य को सिद्ध करता है क्योंकि सर्वथा नित्य का प्रत्यभिज्ञान होना ही असंभव है। "तदेवेदं" यह वही है इस प्रकार से पूर्वोत्तर पर्याय में व्यापी एक वस्तु में वह प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, एवं पौर्वापिर्य से रहित वस्तु पूर्वापर ज्ञान--प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं हो सकती है।

भाट्ट—पूर्व और अपर ये दो धर्म ही हैं, धर्मी सामान्य नहीं हैं।

जैन---यदि ऐसा कहो तो "तदेवेदं" यह अभेद प्रतीति कैसे होती है ? अर्थात् जिस सामान्य को मैंने यजनादि में प्राप्त किया था वही पचनादि में करोति अर्थ का सामान्य है क्योंकि 'तत्' इस प्रकार से अतीत के परामर्शी स्मरण से और 'इदं' इस प्रकार से वर्तमानोल्लेखी प्रत्यक्ष से विषय किए गये अतीत और वर्तमान पूर्वापर स्वरूप में परस्पर में भेद है इसलिए इस प्रत्यभिज्ञान में अभेद प्रतीति नहीं है।

भाट्ट—एक करोति सामान्य से उन पूर्वापर में कथंचित् भेदाभेद की प्रतीति आती है। अथवा कथंचित् भेद से अभेद की प्रतीति आती है ऐसा भी टिप्पणीकार का कहना है।

---

१ (भाट्ट आह) घटादौ व्यभिचारश्चेत्तर्हि "सर्वथा" पदं हातव्यम्। २ जैनः। ३ भाट्टमते करोत्यर्थस्य सामान्यं सर्वथा नित्यमिति। ४ वस्तुनि। ५ ज्ञानमेव पूर्वापरीभूतं नार्थ इत्याशङ्कायामाह। ६ प्रत्ययो ज्ञानम्। ७ भाट्टः। ८ जैनः। ९ यदेव मया यजनादावुपलब्धं तदेव पचनादौ करोत्यर्थस्य सामान्यम्। १० ततो नाभेदप्रतीतिः। ११ भाट्टः।

---

(1) अर्थस्य। (2) स्मरणप्रत्यक्ष। (3) पूर्वापरप्रत्ययहेतू। (4) पूर्वापरभूतधर्मयोः। ईप् द्विः।

द्भेदा[1]भेदप्रतीतिरिति चेत् [1]सिद्धं तस्य कथञ्चिदनित्यत्वम्, अनित्यस्वधर्माव्यतिरेकात्[2]। [3]न ह्यनित्यादभिन्नं नित्यमेव युक्तमनित्यस्वात्मवत्[2], सर्वथा नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ-क्रियाविरोधाच्च । तदनित्यं सामान्यं, [4]विशेषादेशाच्छब्दवत् । तत एवानेकं तद्वत् ।

[करोति क्रिया एकास्तीति भाट्टो वदति तस्य परिहारः]

[5]करोतीति [3]स्वप्रत्ययाविशेषादेकं करोतिसामान्यं सदिति स्वप्रत्ययाविशेषादेकसत्तासा-मान्यवदिति चेन्न, सर्वथा स्वप्रत्ययाविशेषस्या[6]सिद्धत्वात्[7] । प्रतिकरोत्यर्थ[8]व्यक्ति करो-तीति=प्रत्ययस्य[9] विशेषात्[10] प्रतिसद्व्यक्ति सदितिप्रत्ययवत् । तद्व्यक्तिविषयो विशेषप्रत्यय[11]

जैन—यदि ऐसा कहो तो उस प्रत्यभिज्ञान को कथंचित्—अनित्यत्व सिद्ध ही हो गया। क्योंकि वह अनित्य रूप अपने धर्म से अभिन्न है। और अनित्य से अभिन्न होकर नित्य ही है ऐसा कहना युक्त नहीं है, अनित्य के स्वरूप के समान। क्योंकि सर्वथा नित्य में क्रम अथवा युगपत् से अर्थ क्रिया का विरोध है।

इसलिए वह सामान्य अनित्य है क्योंकि उसमें विशेषादेश—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भेद का कथन होता है, शब्द के समान। और उसी प्रकार से शब्द के समान वह सामान्य अनेक भी है।

[करोति क्रिया एक है ऐसा भाट्ट कहता है उसका परिहार]

भाट्ट—"करोति" इस प्रकार से स्वप्रत्यय-अपने ज्ञान से समान होने से करोति सामान्य एक है जैसे "सत्" इस अपने ज्ञान सामान्य से सत्ता सामान्य एक है।

जैन—नहीं। सर्वथा स्वप्रत्यय से समानता असिद्ध है अर्थात् पर्यायार्थिक नय से भेद का कथन भी देखा जाता है। करोति अर्थ के व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति को—'प्रतिकरोति अर्थव्यक्ति' कहते हैं अर्थात् करोति अर्थ के व्यक्ति व्यक्ति के प्रति करता है। इस प्रकार से ज्ञान विशेष होने से (घटकरण पट करणादि ज्ञान) भेद हैं जैसे 'सत्' 'सत्' इस प्रकार से व्यक्ति—व्यक्ति के प्रति सत् ज्ञान में भेद देखा जाता है।

भाट्ट—उन व्यक्ति को विषय करने वाला तो विशेष ज्ञान है।

जैन—ऐसा कहो तो यदि वे घटपटादि रूप व्यक्तियाँ—भिन्न २ वस्तुएं करोति सामान्य से सर्वथा भिन्न प्रतिपादित की गई हैं तब तो आप मीमांसक यौगमत में प्रवेश कर जावेंगे। यदि आप कहो कि वे व्यक्तियाँ करोति सामान्य से कथंचित् अभिन्न हैं तब तो सामान्य विशेष ज्ञान को विषय करता है यह

---

१ जैनः। २ अव्यतिरेकःअभेदः। ३ सन्दिग्धा नैकान्तिकत्वे सत्याह जैनः। ४ पर्यायार्थिकनयाद्भेदकथनात्। ५ घटं करोति पटं करोतीत्यादौ। ६ हेतोः। ७ पर्यायार्थिकनयेन भेदस्यापि कथनात् ८ करोत्यर्थस्य व्यक्ति प्रतीति प्रतिकरोत्यर्थ-व्यक्ति। ९ घटकरणपटकरणादिप्रत्ययस्य। १० भेदात्। ११ घटकरणं पटकरणमिति।

---

(1) भेदादभेद प्रतीतिः इति पा.। (2) स्वस्वरूपवत्। (3) अभेदात्।

इति चेत्तर्हि[1] ता व्यक्तयः[2] [3]सामान्यात्सर्वथा यदि भिन्नाः प्रतिपाद्यन्ते तदा यौगमतप्रवेशो मीमांसकस्य । [4]अथ कथञ्चिदभिन्नास्तदा[5] सिद्धं सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वं विशेषप्रत्ययविषयेभ्यो विशेषेभ्यः कथञ्चिदभिन्नस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वोपपत्तेर्विशेषस्वात्मवत् । ततोऽनेकमेव[6] करोतिसामान्यं सत्तासामान्यवत् ।

[करोति क्रियानंशेति मन्यमाने दोषानाह]

नाप्यनंशं[7], कथञ्चित्सांशत्वप्रतीतेः सांशेभ्यो[8] [9]विशेषेभ्योनर्थान्तरभूतस्य[10] सांशत्वोपपत्तेस्तत्स्वात्मवत् ।

[तत्सामान्यं सर्वगतमिति मन्यमाने दोषानाहुराचार्याः]

[11]तथा न सर्वगतं तत्सामान्यं, व्यक्त्यन्तरालेनुपलभ्यमानत्वात् । [12]तत्रानभिव्यक्तत्वात्तस्या-

---

बात सिद्ध हो गई ।

क्योंकि विशेष ज्ञान के विषय भूत विशेषों से कथंचित् अभिन्न सामान्य ही विशेषज्ञान का विषय हो सकता है जैसे कि विशेष का स्वरूप कथंचित् अभिन्न होने से विशेषज्ञान का विषय है। इसलिए करोति सामान्य अनेक ही है सत्ता सामान्य के समान। अर्थात् जितने विशेष हैं उतने ही सामान्य हैं न कि एकसामान्य ।

[करोति सामान्य निरंश है ऐसा भाट्ट का कहना है उसका जैनाचार्य परिहार करते हैं]

वह करोति सामान्य अनंश भी नहीं है क्योंकि कथंचित् अंशसहित ही प्रतीति में आ रहा है। अंशसहित—अवयवसहित घट पटादि विशेषभेद लक्षणों से अभिन्न सामान्य अंशसहित देखा जाता है जैसे कि उसका स्वरूप ।

[वह सामान्य सर्वगत है ऐसा कहने पर जैनाचार्य दूषण दिखलाते हैं]

उसी प्रकार से वह सामान्य—सर्वगत भी नहीं हैं क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के अंतरालों में उपलब्ध नहीं होता है ।

भावार्थ—यह भाट्ट करोति क्रिया सामान्य को महासत्ता रूप मानता है और कहता है कि यह करोतिक्रिया नित्य है, एक है, निरंश है और सर्वव्यापी है इन चारों विशेषणों का जैनाचार्य ने क्रम-क्रम से निराकरण किया है। पहले भाट्ट ने करोतिक्रिया को नित्य सिद्ध करने के लिए "प्रत्यभिज्ञान होता है" ऐसा हेतु दिया है। उस पर जैनाचार्य ने कहा कि यह "प्रत्यभिज्ञायमान" हेतु कथंचित् नित्य को सिद्ध करता है, सर्वथा नित्य को नहीं। क्योंकि "तदेवेदं" यह वही है इस प्रकार पूर्व के स्मरण और वर्तमान

---

१ जैनः । २ घटपटादिरूपाः । ३ करोतिसामान्यात् । ४ भाट्टः । ५ सामान्यात् । ६ यावन्तो विशेषास्तावन्ति सामान्यानि न त्वेकमित्यर्थः । ७ करोतिसामान्यम् । ८ सावयवेभ्यो घटपटादिभ्यः । ९ भेदलक्षणेभ्यः । १० सामान्यस्य । ११ जैनः । १२ भाट्टः ।

नुपलम्भ इति चेत्तत[1] एव व्यक्तिस्वात्मनोपि[2] तत्रानुपलम्भोस्तु। तस्य तत्र सद्भावावेदकप्रमाणाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भ इति चेत् सामान्यस्यापि (1)विशेषाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भोस्तु, व्यक्त्यन्तराले तस्यापि सद्भावावेदकप्रमाणाभावात् प्रत्यक्षतस्तथा[3]ननुभवात् खरविषा-

---

के प्रत्यक्ष इन दोनों के जोड़ रूप में यह प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है जैसे—जिस करोति क्रिया सामान्य के अर्थ को मैंने यजन आदि क्रिया में पूर्व में देखा था वही इस समय पचन आदि क्रिया में करोति अर्थ पाया जा रहा है। यह प्रत्यभिज्ञान कथंचित् नित्यानित्य वस्तु में ही होता है क्योंकि सर्वथा नित्य में क्रम से या युगपद् अर्थ क्रिया का ही अभाव है। पुनः भाट्ट कहता है कि "करोति" इस प्रकार का ज्ञान सभी जगह समान है अतः यह करोति क्रिया सामान्य एक है जैसे—सत् अपने सत् रूप सामान्य ज्ञान से सत्ता सामान्य एक ही है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हमारे यहाँ "सत् सामान्य" भी व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति अनन्त भेद रूप है।

जैन सिद्धांत में सत्ता को अनन्त पर्यायात्मक माना है। उसी प्रकार से करोति क्रिया भी व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति भेद रूप है, जैसे—याग करोति, पाकं करोति, गमनं करोति। इन सभी करोति क्रियाओं में भिन्न-भिन्न पुरुष की अपेक्षा से भेद स्पष्ट है जो यज्ञ करता है वह पकाता नहीं है और वह गमन नहीं कर रहा है इन तीनों क्रियाओं को करने वाले तीन व्यक्ति पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं। अतः करोति सामान्य अनेक रूप ही है। उसी प्रकार से वह करोति सामान्य अंश रहित भी नहीं है क्योंकि घट पटादि अवएव सहित पदार्थों में वह करोति सामान्य पाया जाता है तथैव करोति सामान्य सर्वगत भी नहीं है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के अंतरालों में दिखता ही नहीं है। इस प्रकार से जैनाचार्य ने करोति सामान्य को अनित्य, अनेक, अंश सहित और असर्वगत सिद्ध कर दिया है।

भाट्ट—उस अंतराल में वह करोति सामान्य अभिव्यक्त नहीं है इसलिए उसकी अंतराल में उपलब्धि नहीं है।

जैन—उसी हेतु से व्यक्ति का स्वरूप भी वहां अंतराल में अनुपलब्ध हो जावे पुनः व्यक्तियों को भी सर्वगत मान लो क्या बाधा है? किन्तु आप तो ऐसा मानने को तैयार नहीं हैं।

भाट्ट—व्यक्ति विशेष के सद्भाव को अंतराल में सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है अतः उसकी अंतराल में अनुपलब्धि है।

जैन—यदि ऐसा मानो तो सामान्य के भी सद्भाव का आवेदक कोई प्रमाण न होने से उसका

---

१ जैनः। २ ततश्च व्यक्तीनामपि सर्वगतत्वं समायातम्। न च तथा स्वीक्रियते। ३ व्यक्तयन्तराले सत्त्वरूपेण।

---

(1) सद्भावावेदकप्रमाणाभावस्य।

णादिवत् । [1]व्यक्तचन्तरालेस्ति सामान्यं, [2]युगपद्भिन्नदेश[3]स्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वाद्वंशादि[4]-वदित्यनुमानात्तत्र तत्सद्भावसिद्धिरिति [5]चेन्न, हेतोःप्रतिवाद्यसिद्धत्वात् [6] । न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं यथा स्थूणादिषु [7]वंशादिरिति प्रतीयते, यतो युगपद्भिन्नदेशस्वाधार[1]-वृत्तित्वे सत्येकत्वं[8] तस्य[9] सिध्यत् स्वाधारान्तरालेस्तित्वं साधयेत्, प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणा-मलक्षणस्य सामान्यस्य भेदाद्विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत् । [10]यथैव हि [11]काचिद्व्यक्ति-रुपलभ्यमाना [12]व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा[13] विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणाम-दर्शनात्किञ्चित्केन[14]चित्समानमवसीयते[15] इति निर्बाधमेव, तेनायं समानः सोनेन समान इति

भी अंतराल में असत्त्व होने से ही अनुपलब्धि होवे क्या बाधा है ? क्योंकि व्यक्ति के अंतराल में उस सामान्य के भी सद्भाव का आवेदक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष से व्यक्ति के अंतराल में सत्त्वरूप का अनुभव नहीं आता है जैसे कि खर विषाणादि का कहीं पर अनुभव नहीं आता है।

भाट्ट—व्यक्ति विशेष के अंतराल में भी सामान्य रहता है। क्योंकि युगपत् भिन्न देश और स्वाधार में रहने में एक रूप है, बांसादि के समान"। इस अनुमान से वहां उस सामान्य का सद्भाव सिद्ध है।

जैन—नहीं। आपका हेतु प्रतिवादी को असिद्ध है। क्योंकि भिन्न-भिन्न देश के विशेषों में सामान्य एक है जैसे "स्थूणादि में बांसादि"। ऐसा प्रतीति में नहीं आता है कि जिससे युगपत् भिन्न देश एवं स्वाधार वृत्तित्व के होने पर उस सामान्य में एकत्व हेतु सिद्ध होता हुआ अपने आधार के अंतराल में अस्तित्व को सिद्ध कर सके। अर्थात् नहीं कर सकता है। प्रतिव्यक्ति (विशेष-विशेष के प्रति) सदृश परिणाम लक्षण सामान्य भिन्न-भिन्न है जैसे विसदृश परिणाम लक्षण विशेष प्रत्येक भिन्न-भिन्न वस्तु में भिन्न-भिन्न है।

जिस प्रकार से कोई घट पटादि लक्षण विशेष उपलब्ध होता हुआ व्यक्त्यंतर-मुकुटलक्षणादि विशेष से भिन्न होता हुआ विसदृश परिणाम के देखने से निश्चित होता है उसी प्रकार से सदृश परिणाम के देखे जाने से कोई वस्तु किसी वस्तु के समान निश्चित की जाती है यह बात बाधा रहित सिद्ध ही है "यह उसके समान है, वह इसके समान है" इस प्रकार से समान ज्ञान देखा जाता है।

१ भाट्टः । २ सामान्यं व्यक्तचन्तरालेस्ति—एकत्वादित्येवास्तु इत्युक्ते देवदत्तेन व्यभिचारस्ततस्तन्निहारार्थं स्वाधा-रवृत्तित्वविशेषणम् । तथा प्येकविष्टरोपविष्टेन तेनैव व्यभिचारो मा भूदिति भिन्नदेशविशेषणम् । तथापि क्रमेणाने-कासनासीनेन तेन व्यभिचारः स्यात् । तत्परिहारार्थं युगपद्विशेषणं कृतमनुमानेस्मिन् । ३ भिन्नदेशश्चासौ स्वाधारश्च । ४ स्थूणादिषु वंशादिवदित्यर्थः । ५ जैनः । ६ सामान्यस्यैकत्वं नाङ्गीक्रियते जैनैः । ७ प्रतीयते यथा । ८ हेतुः । ९ सामान्यस्य । १० एतदेव भावयति । ११ घटपटादिलक्षणा । १२ मकुटादिलक्षणात् । १३ भिन्ना: । १४ वस्तु । १५ निश्चीयते ।

(१) तथापि क्रमशस्तथा वृत्तिमता देवदत्तेन व्यभिचारस्ततो युगपदिति विशेषणं ।

समानप्रत्ययात् ।(1) [1]ननु पूर्वमननुभूतव्यक्त्यन्त[2]रस्यैकव्यक्तिदर्शने समानप्रत्ययः कस्मान्न भवति ? तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्तवापि विशिष्टप्रतीतिः[3] कस्मान्न भवति ? वैसादृश्यस्य[4] भावात् । [5]परापेक्षत्वाद्विशिष्टप्रतीतेरिति चेत्तत एव [6]तत्र समानप्रत्ययोपि[7] मा भूत् । न हि स परापेक्षो न भवति, परापेक्षामन्तरेण क्वचित्कदाचिदप्यभावाद् [8]द्वित्वादिप्रत्ययद्दूयवरत्वादिप्रत्ययवद्वा । द्विविधो हि वस्तुधर्मः परापेक्षः परानपेक्षश्च [9]वर्णादिवत् स्थौल्यादिवच्च । [10]ननु च [11]सादृश्ये सामान्ये स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं शवलं[12] दृष्ट्वा धवलं पश्यतो घटेतेति [13]चेदेकत्वोपचारादिति ब्रूमः[14] ।

भाट्ट—पूर्व में जिसने भिन्न-भिन्न विशेष का अनुभव नहीं किया है उस पुरुष को एक विशेष के देखने के समान प्रत्यय क्यों नहीं होगा ? क्योंकि वहाँ पर सदृश परिणाम देखा जाता है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो आपको भी एक विशेष के देखने में विशेष प्रतीति क्यों नहीं होती है ? क्योंकि भिन्न प्रतीति रूप विशेष में वैसादृश्य परिणाम भी देखे जाते हैं ।

भाट्ट—वह भिन्न प्रतीति पर की अपेक्षा रखती है ।

जैन—उसी प्रकार से वहां-एक विशेष के देखने में समान ज्ञान भी मत होवे । अर्थात् यह उसके समान हैं एवं वह इसके समान है इसमें भी तो पर की अपेक्षा है और वह परापेक्ष नहीं है ऐसा तो आप कह नहीं सकते । पर की अपेक्षा के विना कहीं पर किसी काल में भी वह सामान्य हो नहीं सकेगा जैसे—द्वित्वादि ज्ञान अथवा दूरत्वादि ज्ञान पर की अपेक्षा के विना हो नहीं सकते हैं । अर्थात् द्वित्वादि ज्ञान एकत्वादि से निष्ठ हैं अतः पर की अपेक्षा के विना नहीं होते हैं एवं दूरत्व आदि ज्ञान भी निकट की अपेक्षा के विना नहीं होते हैं ।

वस्तु का धर्म दो प्रकार का है पर की अपेक्षा रखने वाला और पर की अपेक्षा नहीं रखने वाला । जैसे वर्णादि-श्वेत पीतादि पर की अपेक्षा नहीं रखते हैं एवं स्थूलता, सूक्ष्मतादि एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं ।

भाट्ट—सादृश्य सामान्य में "यह वही गौ है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वह ज्ञान शवल-चितकबरी गाय को देख कर श्वेत गाय को देखते हुए मनुष्य को "यह वही गौ है" ऐसा ज्ञान कैसे होगा ?

---

१ भाट्टः । २ पुंसः । ३ एकव्यक्तिदर्शने । ४ विशिष्टप्रतीतौ विशेषे । ५ भाट्टः । ६ एकव्यक्तिदर्शने । ७ अनेन देवदत्तेन समानोयं जिनदत्तो, जिनदत्तेन समानो देवदत्तो वेत्यत्रापि परापेक्षत्वं यतः । ८ द्वित्वादिप्रत्ययः एकत्वादिनिष्ठां परापेक्षां विना नोपपद्यन्ते । ९ श्वेतपीतादिवत् । १० भाट्टः । ११ सास्नादिमत्त्वे गोत्वे । १२ शवलं गां दृष्ट्वा धवलं गां पश्यतः पुंसः स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं घटते ? १३ शवलेन सदृशो धवल इत्येकत्वोपचारात् । १४ जैनाः ।

---

(1) व्यक्तौ ।

[एकत्वं द्विधा मुख्यमुपचरितं चेति विभज्य स्पष्टीकरणं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

द्विविधं ह्येकत्वं मुख्यमुपचरितं चेति । मुख्यमात्मादिद्रव्ये[1] । सादृश्ये तूपचरितमिति । मुख्ये [१]तु तत्रै[२]कत्वे [३]तेन [2]समानोयमिति प्रत्ययः कथमुपपद्येत[3] ? [३]तयोरेक[४]सामान्ययोगादिति [५]चेन्न—[4]सामान्यवन्तावेताविति प्रत्ययप्रसङ्गात्[६] । अभेदोपचारे[७] तु सामान्यतद्वतोः [5]सामान्यमिति [6]प्रत्ययः स्यात् । न तेन समानोयमिति । यष्टिसहचरितः पुरुषो यष्टिरिति यथा, यष्टिपुरुषयोरभेदोपचारात्[८] । [९]मृन्मये गवि सत्यगवयसदृशे गोसादृश्यस्य सामान्यस्य भावाद्गोत्वजातिप्रसङ्ग इति [१०]चेन्न, [११]सत्यगवयव्यवहारहेतोः[7] सादृश्यस्य [१२]तत्राभावात् तद्भावे तस्य सत्यत्वप्रसङ्गात् । [१३]भावगवादिभिः[8] स्थापनागवादेः[१४] सादृश्यमात्रं तु

जैन—इसमें भी एकत्व का उपचार होने से "यह वही है" ऐसा ज्ञान हो जाता है अर्थात् सबल के सदृश धवल गाय है इस प्रकार से एकत्व का उपचार हो जाता है। एकत्व के दो भेद हैं—मुख्य और उपचरित।

आत्मा आदि द्रव्यों में तो मुख्य एकत्व होता है जैसे कि जो आत्मा नरक पर्याय में था यह वही आत्मा मनुष्य पर्याय में दिख रहा है। जो आत्मा बचपन में था वही इस जवानी और बुढ़ापे में है इत्यादि में मुख्य एकत्व ज्ञान है। और सादृश्य वस्तु में उपचरित एकत्व होता है जैसे कि काटने के बाद पुनः उत्पन्न हुये नख और केश। किन्तु वहाँ मुख्य गोत्व लक्षण एकत्व में उस गौ के समान यह गौ है ऐसा ज्ञान कैसे हो सकेगा ?

भाट्ट—उस श्वेत और चितकबरे में गोत्व लक्षण एक सामान्य का योग होने से वहाँ वैसा ज्ञान होता है।

जैन—ऐसा नहीं कहना। अन्यथा ये दोनों सामान्यवान् हैं ऐसा ज्ञान हो जावेगा। पुनः यह उसके समान है ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा और अभेदोपचार के स्वीकार करने पर तो सामान्य और सामान्यवान् में "यह सामान्य है" ऐसा ज्ञान हो जावेगा। किन्तु यह उसके समान-सदृश है ऐसा नहीं हो सकेगा। जैसे यष्टि से सहचरित पुरुष को यष्टि कह देते हैं क्योंकि वहाँ यष्टि और पुरुष में अभेद का उपचार किया गया है। किंतु यह पुरुष यष्टि के समान है ऐसा ज्ञान तो नहीं होता है।

---

१ मुख्ये गोत्वलक्षणे इत्यर्थः। तत्र=शवलधवलयोः। २ गवा। ३ परः (शवलधवलयोः)। ४ एकं गोत्वमित्यर्थः। ५ जैन आह। ६ न तु तेन समानोयमिति प्रत्ययः स्यात्। ७ (जैनः प्राह) अङ्गीक्रियमाणे। ८ न यष्ट्या समानः पुरुष इति प्रत्ययो भवति। ९ परः। १० जनः। ११ चैतन्यदोहनादेः। १२ मृन्मये। १३ भावः सत्यः। १४ साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम्। सोयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते॥

---

(1) यो नारकपर्यायः स एवायं मनुष्यपर्याय आत्मा। (2) यद्युपचरितं न भवेत्। (3) स एवायं प्रत्ययो घटात् यतः। (4) यथा द्वौ पुरुषौ एकराज्ययोगादेकराज्यवंतौ। (5) शवलधवलयोः। (6) न प्रत्ययः इति पा.। (7) सत्यगोव्यवहारहेतोः इति वा क्वचित् पाठः। (8) तत्कालपर्यायाक्रांतं वस्तु भावोऽभिधीयते। सह।

[1]गवादिमात्रव्यवहारकारणं तदेकजातित्व[2]निबन्धनमनुरुध्यते[3] एव सत्त्वादिसादृश्यवत् ।

भाट्ट—वास्तविक गवय के सदृश मिट्टी की गाय में गोत्व सादृश्य-सामान्य मौजूद है वहाँ भी गोत्व जाति का प्रसंग आ जावेगा।

जैन—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि वास्तविक गवय व्यवहार का हेतु सादृश्य सामान्य वहाँ—मिट्टी की गाय में नहीं है यदि वह वहाँ है तो उसे सत्य मानना पड़ेगा। स्थापना रूप गो आदि में भाव—वास्तविक गो आदि के द्वारा जो सादृश्य मात्र सामान्य है वह लांगूल - पूंछ, ककुद विषाणादि रूप, गवादि-मात्र से व्यवहार का कारण है इसलिए उसमें एक जातित्व कारण जैनियों ने माना ही है जैसे सत्त्वादि सामान्य।

भावार्थ—भाट्ट "करोति सामान्य" को सर्वगत मानता है, किन्तु आचार्य उसकी मान्यता का निराकरण करते हुए कहते हैं कि जो विशेष—व्यक्ति रूप संख्यातों क्रियायें हैं जैसे—भुंक्ते, भुनक्ति, गच्छति यजते, पचति आदि। खाता है, भोगता है, जाता है, यज्ञ करता है, पकाता है इत्यादि क्रियाओं में करोति, सामान्य व्याप्त है। आप भाट्ट की मान्यता के अनुसार "करता है" यह करोतिसामान्य तो नित्य है और यज्ञ करता है इत्यादि विशेष क्रियायें अनित्य हैं जब अनित्य क्रियायें नष्ट होती हैं या उत्पन्न होती हैं तब यह "करता है" यह सामान्य उनके साथ विनष्ट या उत्पन्न होता है या नहीं ? एवं गच्छति, पचति आदि क्रियाओं के अंतराल में भी करोतिसामान्य दिखता नहीं है जैसे कि आप उसे सर्वगत मानकर अंतराल में भी उसका अस्तित्व मान रहे हैं। इस पर भाट्ट ने कहा कि वह अन्तरालों में अप्रगट है। तब जैनाचार्य ने कहा कि वैसे ही भिन्न-भिन्न क्रियाओं का भी अंतरालों में अप्रगट रूप से अस्तित्व मानकर उन विशेषों को भी सर्वगत मान लो क्या बाधा है? तब भाट्ट ने कहा कि विशेषों को सर्वगत मानकर उन्हें अंतरालों में सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। इस पर जैनाचार्यों ने पूछा कि करोतिसामान्य को अंतरालों में सिद्ध करने वाला प्रमाण भी कहाँ है ? इस प्रश्न पर तुरन्त ही उस भाट्ट ने अनुमान प्रमाण को उपस्थित कर दिया। यह 'करोति सामान्य' गमन करता है, भोजन करता है, यज्ञ करता है, इत्यादि विशेषों में भी व्याप्त है और इनके अंतरालों में भी व्याप्त है, क्योंकि एक साथ यह करोति सामान्य भिन्न-भिन्न देश में और अपने आधार में 'करता है' इस प्रकार से एक रूप ही है, जैसे कि स्थूण आदि में वाँसादि। इस अनुमान से "करोतिसामान्य" सर्वत्र व्याप्त है। इस पर जैनाचार्य बोले कि आपका हेतु हम जैनों को असिद्ध है। क्योंकि भिन्न-भिन्न क्रियाओं के प्रति होता हुआ सदृश परिणाम रूप सामान्य पृथक्-पृथक् है जैसे कि विसदृश परिणाम लक्षण विशेष सभी के भिन्न-भिन्न ही हैं। देखिये ! जैसे "यजते" क्रिया से भिन्न गच्छति क्रिया का विशेष है वैसे ही दोनों क्रियाओं का करोति सामान्य यद्यपि

१ लाङ्गूलककुदविषाणादिरूपेण। २ तेन भावगवादिनैका जातिर्यस्य स्थापनागवादेस्तस्य भावस्तदेकजातित्वम्। तस्य निबन्धनम्। ३ (जैनैरनुगृह्यते) भावगव्यपि मृन्मयेन सह सत्त्वसादृश्यं यथास्ति।

ततो न मीमांसकाभ्युप[१]गतस्वभावं करोतिसामान्यमुपपद्यते[२]यत्सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिकर्तृ व्यापाररूपभावनाख्यां प्रतिपद्यमानं वाक्येन[३] विषयीक्रियेत[1]। प्रतिनियतक्रियागतस्य[४] तु करोतिसामान्यस्य शब्दविषयत्वे[2] यज्यादिसामान्यस्य[५] कथं [६]तद्विनिवार्येत; येन [७]तदपि वाक्यार्थो न स्यात् । तदेवं भावना वाक्यार्थसम्प्रदायो न श्रेयान्, बाधकसद्भावान्नि[3]योगादिवाक्यार्थसम्प्रदायवत् ।

सदृश परिणाम वाला है फिर भी भिन्न-भिन्न ही है। इस पर भाट्ट ने कहा कि विसदृश परिणाम तो पर की अपेक्षा रखता है किन्तु सदृश परिणाम रूप सामान्य पर की अपेक्षा नहीं रखता है। आचार्य कहते हैं कि सदृश परिणाम भी पर की अपेक्षा के विना असम्भव है। सदृश शब्द के कहते ही 'यह इसके सदृश हैं' इस प्रकार से बिना अपेक्षा के सदृश परिणाम भी कहाँ रहा ?

आगे चलकर जैनाचार्य ने एकत्व के दो भेद कर दिये हैं एक मुख्य दूसरा उपचरित। यह वही आत्मा है जो नरक पर्याय, देव पर्याय आदि में थी, यह एकत्व मुख्य है। एवं जैसे चितकवरी गाय में गोत्व सामान्य है वैसे ही श्वेत गाय में भी है यह उपचरित एकत्व है। इस प्रकार से करोति सामान्य को सर्वगत मानने में अनेक दोष आ जाते हैं।

इसलिए मीमांसक के द्वारा स्वीकृत यह 'करोति सामान्य' नित्य, निरंश, एक, और सर्वगत स्वभाव रूप हो नहीं सकता है, जो कि संपूर्ण यज्यादि क्रिया विशेषों में व्यापी कर्त्ता के व्यापार रूप 'भावना' इस नाम को प्राप्त करते हुए वेद वाक्य के द्वारा विषय किया जा सके। अर्थात् ऐसी भावना वेदवाक्य का विषय नहीं हो सकता प्रतिनियत क्रिया में रहने वाले करोतिसामान्य को शब्द का विषय मानने पर तो यज्यादि सामान्य को भी आप शब्द का विषय क्यों नहीं मानते हैं— उसका निवारण क्यों करते हैं, जिससे कि वह यजन सामान्य भी वेदवाक्य का अर्थ न हो सके। अर्थात् है ही है। इसलिए 'भावना' वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा भावनावादी भाट्ट का संप्रदाय श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि नियोग, विधि आदि रूप से वेदवाक्य का अर्थ करने पर जैसे वाधायें आती हैं वैसे ही इस भावनावाद में भी अनेक वाधायें आ जाती हैं।

विशेषार्थ— जगत के संपूर्ण पदार्थ सामान्य-विशेपात्मक होते हैं। और ऐसे ही पदार्थों को प्रमाण जानता है। प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है इस वात को सिद्ध करने के लिए समर्थ हेतु उपस्थित है।

"अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥२॥

"यह वही है" ऐसे ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं "यह वह नहीं है" ऐसे ज्ञान को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं।

प्रत्येक वस्तु अनुवृत्त ज्ञान और व्यावृत्त ज्ञान के विषयभूत है। एवं पदार्थ के पूर्व आकार का विनाश

---

१ नित्यनिरंशैकसर्वगतस्वभावम्। २ यदिति काकुः। ३ वेदवाक्येन। ४ करोतिक्रियाविशेषगतस्य स्वव्यक्तिसर्वगतस्येत्यर्थः। ५ देवयजनगुरुयजनादियजनसामान्यस्य। ६ शब्दविषयत्वम् (वाक्यार्थत्वमित्यर्थः)। ७ यजनसामान्यम्।

---

(1) वाक्यार्थः कथं स्यात्। (2) वाक्यार्थत्वे। (3) विधि।

उत्तर आकार का प्रादुर्भाव इन दोनों अवस्थाओं में ध्रौव्य रूप से स्थिति का रहना, इन तीनों सहित अवस्था विशेष को परिणाम कहते हैं। इस परिणमन स्वभाव से ही वस्तु में अर्थ क्रिया होती है अतः प्रत्येक वस्तु में सत् आदि रूप से समानता के होने से अनुवृत्त ज्ञान एवं विसदृशता के होने से व्यावृत्त ज्ञान पाया जाता है। अनुवृत्तज्ञान को सामान्य एवं व्यावृत्त ज्ञान को विशेष कहते हैं। उस सामान्य के दो भेद हैं—तिर्यक् सामान्य, ऊर्ध्वता सामान्य। "सदृश परिणामस्तिर्यक्खंडमुण्डादिषु गोत्ववत्।" समान परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं जैसे काली, चितकवरी, खाँडी, मुण्डी आदि सभी गायों में गोत्व सामान्य विद्यमान है। "परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।" पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं जैसे—स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायों में मिट्टी व्याप्त रहती है, यहाँ मिट्टी रूप द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है। अथवा महा सत्ता और अवांतर सत्ता के भेद से भी सत् सामान्य के २ भेद हैं।

"सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥ पंचास्तिकाय गाथा ८॥

अर्थ—सत्ता एक है, वह सब पदार्थों में वर्तमान है, विश्व रूप है, अनन्त पर्याय वाली है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है और अपने प्रतिपक्षी से सहित है।

इस प्रकार से समस्त पदार्थों में रहने वाली सत्ता को महासत्ता कहते हैं और प्रत्येक वस्तु की पृथक्-पृथक् सत्ता अवांतर सत्ता कहलाती है। मतलब यह है कि जब हम सत्सामान्य को व्यापक दृष्टिकोण से देखते हैं तब सभी पदार्थ सत् रूप ही प्रतीत होते हैं यही महासत्ता है। जब प्रतिनियत वस्तु के अस्तित्व को देखते हैं तब यह सत्ता अवांतर सत्ता कहलाती हैं,

विशेष के भी दो भेद हैं—"पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥"

पर्याय और व्यतिरेक।

पर्याय विशेष का लक्षण—

"एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत्" ॥८॥

अर्थ—एक ही द्रव्य में क्रम से होने से परिणामों को पर्याय कहते हैं। जैसे कि आत्मा में हर्ष और विषाद आदि परिणाम। व्यतिरेक का लक्षण—

"अर्थांतरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्" ॥ ९ ॥

अर्थ—एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं जैसे कि गो से महिष में एक विलक्षण -भिन्न ही परिणमन देखा जाता है।

यहाँ तक जैनों की मान्यता रखी गयी है अब इन सामान्य और विशेष में जो अन्य मतावलंबी बौद्ध, नैयायिक और मीमांसक (भाट्ट) विसंवाद करते हैं उन पर विचार किया जा रहा है।

बौद्ध वस्तु में सामान्य धर्म को नहीं मानते हैं उनका कहना है कि सामान्य और विशेष दोनों एक

ही इन्द्रिय से जाने जाते हैं अतः इनमें अभेद है। सामान्य काल्पनिक—संवृत्ति सत्य है, अनुमानका विषय है, आरोपित धर्म मात्र है और विशेष वास्तविक है, निर्विकल्प बुद्धि में झलकता है, वह क्षणवर्ती पर्यायमात्र है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि यदि एक इन्द्रिय से गम्य होने से सामान्य और विशेष में अभेद मानोगे तब तो वायु और आतप भी एक स्पर्शन इन्द्रिय से गम्य हैं इन्हें भी एक ही मानो। देखो ! दूर से वस्तु का सामान्य धर्म ही झलकता है। किसी पुरुष या स्थाणु विशेष को दूर से देखने पर उसकी ऊंचाई मात्र से सामान्य ही झलकता है। विशेष रूप वक्र कोटर आदि या शिर, हाथ, पैर आदि नहीं झलकते हैं। वैसे ही निकट में भी "यह भी गो है, यह भी गो है"। इस प्रकार से ५० गायों में भी एक गोत्व सामान्य दिख रहा है। सभी गायों में या सभी पुस्तकों में गोत्व या पुस्तकत्व सामान्य रूप से जो अन्वय ज्ञान है वह सामान्य के बिना नहीं हो सकता है। उसी प्रकार से यह राजवार्तिक है, श्लोकवार्तिक या अष्टसहस्री नहीं है, यह व्यावृत्त ज्ञान भी विशेष धर्म को माने बिना असंभव है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में विशेष मात्र झलकता है यह बात प्रतीति विरुद्ध है। क्योंकि न निर्विकल्प ज्ञान ही सिद्ध है और न एक क्षणवर्ती पर्याय रूप आप बौद्धों का माना हुआ विशेष ही सिद्ध है। किन्तु सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही ज्ञान का विषय है।

नैयायिकों के द्वारा मान्य सामान्य नित्य एवं सर्वगत है तथा निरंश है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि पहली बात तो यह है कि सर्वथा नित्य सामान्य में अर्थक्रिया असंभव है। दूसरी बात यह है कि यदि सामान्य सर्वगत है तो व्यक्ति-व्यक्ति—विशेष-विशेष में पृथक्-पृथक् कैसे रहेगा ? वह सामान्य तो उन अंतरालों में भी दीखना चाहिए। तथा यदि वह सामान्य एक है तो एक गो के मर जाने पर उसका गोत्व सामान्य कहाँ जावेगा, क्या नष्ट हो जावेगा ? अनेक आपत्तियाँ आ जावेंगी। यदि सामान्य सर्वगत है तो अकेला ही सर्वत्र अन्वय रूप अपना ज्ञान करायेगा अथवा व्यक्ति कर सहित होकर करावेगा ? यदि अकेला ही करायेगा तो व्यक्तियों के अंतराल में भी "गो है, गो है" ऐसा अनुगत ज्ञान होना चाहिए। यदि व्यक्ति सहित सामान्य, अन्वय ज्ञान करायेगा तब तो सभी व्यक्तियों को जान लेने पर उनका ज्ञान करायेगा या बिना जाने ही ? यदि जान कर कहो तो असंभव है क्योंकि असर्वज्ञ जनों को संपूर्ण अनंत विशेषों का ज्ञान होना शक्य ही नहीं है। यदि बिना जाने कहो तो एक व्यक्ति को जानते ही उसमें "यह गाय-है, यह गाय है" ऐसा अन्वय होना चाहिए किन्तु होता नहीं है। जब गोत्व एक है तब एक गाय में तो हो और बीच में न होकर दूर खड़ी हुई दूसरी गाय में भी हो, इस प्रकार अनेकों गायों में अंतरालों को छोड़कर वह गोत्व सामान्य होवे फिर भी एक ही माना जावे यह बात असंभव है। अतः एक अकेला सामान्य सर्वगत है निष्क्रिय है। पुनः एक को छोड़कर जब दूसरे में जाने लगेगा तो पहली गो सामान्य रहित हो जावेगी तथा वह सामान्य निष्क्रिय न होकर क्रियाशील हो जावेगा। इसलिए नैयायिक का सामान्य एक, सर्वगत, नित्य और निष्क्रिय रूप सिद्ध नहीं होता है।

मीमांसक भाट्ट सामान्य-विशेष में सर्वथा तादात्म्य मानते हैं किन्तु यह मान्यता भी असंभव है यदि

दोनों का सर्वथा तादात्म्य होगा तव तो एक विशेष रूप व्यक्ति के नष्ट होने पर सामान्य भी नष्ट हो जावेगा पुन: वह सामान्य असाधारण नहीं रहेगा। आप भाट्ट भी नैयायिक के समान ही सामान्य को एक, निरंश, नित्य और सर्वगत स्वीकार करते हो तव तो सवसे वड़ी आपत्ति यह है कि आपका निरंश सामान्य कहीं जा नहीं सकता। पहले के पकड़े हुए विशेष अंश को छोड़ता नहीं, कहीं से आता नहीं, पहले से रहता नहीं, ऐसा विचित्र सामान्य क्या वस्तु है ? समझ में नहीं आता है। यहाँ मध्य में ही उद्योतकर नामक आचार्य कहते हैं कि गायों में गोत्व ज्ञान गोपिंडसे न होकर किसी भिन्न ही नित्य, सर्वगत सामान्य से होता है। यह गोत्वादि सामान्य गायों से भिन्न ही है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि यह मान्यता विल्कुल गलत है देखो ! अनेक गायों में गोत्व सामान्य ज्ञान सदृश परिणाम निमित्तक ही है। वह गायों से भिन्न नहीं है क्योंकि सामान्य और विशेष दोनों ही धर्म वस्तु में ही पाये जाते हैं। वृक्षों में वृक्षत्व सामान्य है वह अनंत वृक्षों में व्याप्त है एवं आम, नीम, अशोक आदि विशेष धर्म हैं वे विशेष धर्म एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को पृथक् करा देते हैं अन्यथा अशोक की छाल लेकर औषधि वनाने वाला व्यक्ति आम की छाल को ले आवेगा, किन्तु ऐसा है नहीं। अत: सामान्य विशेष एक तादात्म्य रूप भी नहीं हैं। इसका और विशेष स्पष्टीकरण "प्रमेयकमल मार्तंड" से समझ लेना चाहिए। निष्कर्ष यह निकला कि भाट्टों के द्वारा मान्य "करोतिसामान्य" अनित्य, अनेक, असर्वगत और सांश—अवयवों से सहित है। जैसे कि यजन, पचन आदि विशेष उसी भाट्ट के द्वारा मान्य अनित्य, अनेक, असर्वगत, अंश सहित हैं उसी प्रकार से करोति सामान्य भी एक आदि रूप सिद्ध न होने से वेदवाक्य का अर्थ नहीं है। जिसको आप भावनावाद के नाम से स्वीकार करते हैं वह आपका सिद्धांत सिद्ध नहीं होता है।

भावनावाद के खण्डन का सारांश

भावनावादी भाट्ट कहते हैं कि सर्वत्र भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति में आ रहा है भावना के २ भेद हैं-शव्द भावना और अर्थ भावना। शव्द के व्यापार को शव्द भावना कहते हैं "अग्निष्टोमेन" इत्यादि के द्वारा पुरुष का व्यापार होता है। उस पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है और उससे फल होता है अर्थात् पुरुष के व्यापार में शव्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ में पुरुष का व्यापार है वही भावना है, धातु का शुद्ध अर्थ भावना नहीं है अन्यथा विधि ही अर्थ हो जावेगा।

क्योंकि "धात्वर्थ: केवल: शुद्धो भाव: इत्यभिधीयते" सत्ता को धातु अर्थ कहने पर वह सत्ता ही परब्रह्म स्वरूप है नियोगवादी ने इस विधिवाद का खण्डन कर ही दिया है अत: वह सन्मात्र अर्थ प्रतीति में नहीं आता है। किन्तु सकल व्यापिनी "करोति" क्रिया लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओं में संभव है वही सर्वव्यापिनी क्रिया भावना है "पचति, पपाच, पक्ष्यति" इन क्रियाओं में भी 'पाकं करोति' इत्यादि अर्थ ही व्याप्त है अत: "करोति" क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है। वह "करोति" क्रिया का अर्थ सामान्य

रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप हैं यह सामान्य क्रिया कर्त्ता के व्यापार रूप है इसे ही अर्थ भावना कहते हैं, शब्द का व्यापार भावना है वह पुरुष के व्यापार को कराती है अतः वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि—यदि शब्द का व्यापार ही शब्द भावना है तो शब्द से उसका व्यापार भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो वाच्य कैसे होगा ? एक अनंश में वाच्य-वाचक भाव संभव नहीं हैं यदि कहो कि शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्रेन्द्रिय से बता देता है जैसे कि वह अपने व्यापार से बाह्य पदार्थ को बताता है तब तो रूपादि भी अपने विषय को बताने वाले होने से भावना बन जावेंगे।

यदि शब्द से उसका व्यापार भिन्न मानों तो शब्द के साथ उसका सम्बन्ध कैसे होगा ? एवं पुरुष व्यापार लक्षण अर्थ भावना भी मानना ठीक नहीं है अन्यथा "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन" इस प्रकार से नियोग वेदवाक्य का अर्थ सिद्ध हो जावेगा वह भी पुरुष के व्यापार रूप है। यदि आप कहो "सकल यज्यादि क्रिया विशेष" में व्यापी "करोति" सामान्य नित्य है वही शब्द का अर्थ है। क्योंकि "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः" ऐसा वाक्य पाया जाता है किन्तु यज्यादि क्रिया विशेष वेद के अर्थ नहीं हैं क्योंकि वे अनित्य हैं। यदि ऐसा कहो तब तो भवन क्रिया रूप सत्ता सामान्य भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावे क्योंकि वह तो करोति क्रिया में भी व्यापक है वह महा क्रिया सामान्य है क्योंकि "पचति, पाचको भवति" इत्यादि से भवति क्रिया ही सर्वव्यापक है।

भाट्ट—निर्व्यापार, निष्क्रिय वस्तु में भी 'भवति' क्रिया का अर्थ देखा जाता है इसलिए वह क्रिया स्वभाव नहीं है अन्यथा निष्क्रिय गुणादिकों में सत्त्व का अभाव हो जावेगा।

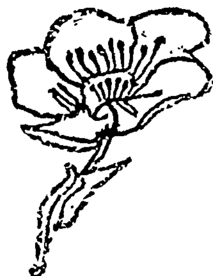
जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि परिस्पंदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ विद्यमान है 'तिष्ठति, स्थानं करोति' ऐसी प्रतीति आती है अतः करोति क्रिया सामान्य, नित्य, निरंश एक और सर्वगत है यह बात असंभव है, आप कहें कि 'करोतिसामान्य' नित्य है क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है। किन्तु यह प्रत्यभिज्ञान हेतु तो कथंचित् नित्य को ही सिद्ध करता है सर्वथा नित्य को नहीं, एवं वह करोति सामान्य एक न होकर अनेक है क्योंकि वह 'करोति' अर्थ व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति व्याप्त होने से अनेक हैं। अनंश भी नहीं है क्योंकि अंश सहित रूप प्रतीति है, तथा सर्वगत भी नहीं है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के अंतरालों में दिखता नहीं है। अतः आप भाट्ट के द्वारा स्वीकृत नित्य, निरंश, एक सर्वगत स्वभाव रूप 'करोति सामान्य' हो नहीं सकता जो कि सम्पूर्ण यज्यादि क्रियाओं में व्यापी कर्त्ता के व्यापार रूप 'भावना' इस नाम को प्राप्त कर सके और वेदवाक्य का अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है। अतः भावनावादी की मान्यता भी श्रेयस्कर नहीं है।



विशेष सूचना

पृष्ठ २१ से १६७ तक नियोगवाद, विधिवाद एवं भावनावाद
का विषय अतीव क्लिष्ट एवं नीरस होते हुए भी
भावार्थ-विशेषार्थ के द्वारा सरल बनाने का
पूर्ण प्रयत्न किया गया।

अब आगे पृष्ठ १६९ से अपौरुषेय वेद खंडन, चार्वाक मत
खंडन आदि का सरल एवं मधुर प्रकरण
प्रारम्भ हो रहा है।



[अत्रपर्यंतं जैनाचार्यैर्भावनावादो निराकृतोऽधुना वेदस्यापौरुषेयत्वं निराक्रियते]

इति [१]श्रुति[1]सम्प्रदायावलम्बिनां मतेऽत **एव[2] न कश्चित्सर्वज्ञ [२]इत्ययुक्तं, श्रुतेरविशेषादप्रमा[३]णतापत्तेः** । इति सूक्तं " [४]यथैव हि सुगतादयः परस्परविरुद्धक्षणिकनित्याद्येकान्तसमयाभिधायिनः सर्वे न सर्वदर्शिन इति न कश्चित्सर्वज्ञस्तथा श्रुतयोपि [3]परस्परविरुद्धकार्यार्थ[५]स्वरूपा[६]द्यर्थाभिधायिन्यः सर्वा न प्रमाणभूताः" । [७]इति न काचिदपि श्रुतिः प्रमाणं स्यात् । न हि कार्येर्थे श्रुतिरपौरुषेयी[८], न पुनः [९]स्वरूपे, येनापौरुषेयत्वात्तदन्यतर-[4]श्रुतिजनितमेव ज्ञानं प्रमाणं दोषवर्जितैः [5]कारणैर्जनितत्वादुपपद्येत । [6]बाध[१०]वर्जितत्वं[११] तु [१२]नैकत्राप्यस्ति हिंसाद्यभिधायिनः "श्वेतमजमालभेत[7] भूतिकामः[8]" [१३]इत्यादेः[9] "सधनं

[जैनाचार्य वेद को अपौरुषेय एवं प्रमाण मानने का खण्डन करते हैं]

मीमांसक—इस प्रकार से श्रुति—वेद संप्रदाय का अवलंबन लेने वालों के मत–सिद्धांतों में **इसीलिए सर्वज्ञ नहीं है अर्थात् तीर्थंकरत्व लक्षण हेतु सुगत आदिकों में चला जाने से अनैकांतिक है इस कारण ही कोई सर्वज्ञ नहीं है ।**

जैन—यह आप मीमांसक का कथन सर्वथा ही अयुक्त है क्योंकि वेद भी परस्पर विरुद्ध अर्थ को कहने वाले होने से अप्रमाण ही हैं ।* इसलिए बिल्कुल ठीक ही कहा है कि—

"जिस प्रकार से सुगत आदि परस्पर विरुद्ध क्षणिक, नित्यादि एकांत समय—मत को कहने वाले हैं अतः वे सभी सर्वदर्शी–सर्वज्ञ नहीं है इसलिए कोई सर्वज्ञ नहीं है । उसी प्रकार से वेद भी परस्पर विरुद्ध कार्य स्वरूप—नियोग, विधि आदि अर्थ को कहने वाले होने से वे भी सभी प्रमाणभूत नहीं हैं ।"

इसलिए कोई भी वेद प्रमाणीक नहीं हैं ।उसी का और भी स्पष्टीकरण करते हैं ।

'कार्य अर्थ में श्रुति अपौरुषेय है, किन्तु ब्रह्म स्वरूप में नहीं है' ऐसा भी आप नहीं कह सकते कि जिससे "अपौरुषेय होने से" इस हेतु से किसी एक वेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही दोषों से रहित कारणों से अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होने से प्रमाण हो सके, अर्थात् नहीं हो सकता है । हिंसादि का कथन करने वाले वेदवाक्यों में से किसी एक वेद वाक्य में भी "बाधा से रहितपना रूप हेतु" नहीं है । "श्वेतमजमालभेत भूतिकामः" विभूति की इच्छा करता हुआ मनुष्य श्वेत बकरे को मारे "इत्यादि वेदवाक्य"

१ इतः कारिकार्थमाहुराचार्याः । २ मीमांसकेनोक्तम् । ३ परस्परविरुद्धार्थाभिधायित्वेन । ४ सूक्तं भावयति । ५ स्वरूपो नियोगः । ६ आदिना विध्यादिग्रहः । ७ हेतोः । ८ अपौरुषेयवाक्यैः : ९ ब्रह्मस्वरूपे । १० तदेव दर्शयति । ११ श्रुतेः । १२ वचसि (कार्येर्थेस्वरूपे वा) । १३ वाक्यस्य ।

(1) वेद । (2) तीर्थकरत्वलक्षणस्य साधनस्य सुगतादिभिरनैकांतिकत्वं यतः । (3) परस्परविरुद्धकार्यस्वरूपाद्यर्था-टनि पा. । (4) प्रतिपादक । (5) अपौरुषेयवाक्यैः । (6) तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं । अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतं ॥ (7) हन्यात् । (8) ऐश्वर्यं । (9) अपौरुषेयवाक्यस्य ।

हन्यात्[1] "इत्यादेरिव [2] धर्मे [3]प्रमाणत्वानुपपत्तेः, १पुरुषाद्वैताभिधायिनश्च "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

"सधनं हन्यात्" धन सहित को मारे। इत्यादि वचन के समान ही होने से धर्म में प्रमाण नहीं हैं। अर्थात् "सधनं हन्यात्" यह खारपटिक जनों का सिद्धांत है वह प्रमाण नहीं है इसका विशेष विवरण श्लोकवार्तिकालंकार में है।

विशेषार्थ—अन्य लोगों के प्रमाण का लक्षण है कि—"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसंमतं॥"

इस प्रमाण के लक्षण में "बाधा से रहित होना" "अदुष्टकारणों से उत्पन्न होना" आदि जो हेतु दिये गये हैं वे घटित नहीं होते हैं। ऐसा श्लोक वार्तिक ग्रंथ प्रथम खण्ड पेज ११४ में कहा है। यथा "खरपट मत" के शास्त्रों में लिखा है कि स्वर्ग का प्रलोभन देकर जीवित ही धनवान को मार डालना चाहिए। एतदर्थ काशीकरवत, गंगा प्रवाह, सतीदाह आदि कुत्सित क्रियायें उनके मत में प्रकृष्ट मानी गई हैं। किन्तु हम और आप मीमांसक लोग उक्त खरपट के शास्त्रों को रागी, द्वेषी अज्ञानी वक्ता रूप दुष्टकारणों से जन्य मानते हैं अतः वे अप्रमाण हैं। "नाग्निहोत्रं स्वर्ग साधनं हिंसा हेतुत्वात् सधनवधवत्। सधनवधो वा न स्वर्गसाधनस्तत एव अग्निहोत्रवत्।" आप मीमांसक के यहाँ अग्नि होत्र-यज्ञ स्वर्ग का साधन नहीं है क्योंकि हिंसा का हेतु है जैसे कि खारपटिक मत में धनवान का वध कर देना स्वर्ग का हेतु माना गया है। अथवा धनसहित का वध स्वर्ग को देने वाला नहीं है क्योंकि वह हिंसा का हेतु है जैसे कि अग्नि होत्र-यज्ञ। जैनाचार्य के इस कथन पर मीमांसक कहता है कि "विधिपूर्वकस्य पश्वादिवधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात् असिद्धो हेतुरिति चेत्, तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनवधस्य खारपटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वं मा भूदिति सधनवधात् स्वर्गो भवतीति वचनं प्रमाणमस्तु"। अर्थात् क्रियाकाण्ड विधान करने वाले शास्त्रों में लिखी गई वैदिक विधि के अनुसार किया गया पशुओं का वध तो शास्त्रोक्त क्रियाओं का ही अनुष्ठान है वह लौकिक हिंसा का कारण होकर पाप को पैदा करने वाला नही है अतः आप जैनों का "हिंसाहेतुत्वात्" हेतु असिद्ध है हमारे अग्निहोत्र रूप पक्ष में नहीं जाता है। यदि मीमांसक का ऐसा कहना है तो इस पर पुनः जैन कहते हैं कि खरपट मतानुसायायियों ने धनवान को विधिवत् मार डालने का विधान भी शास्त्रोक्त क्रिया का अनुष्ठान माना है अतः विधिवत् धनी का मार डालना भी हिंसा का हेतु न होवे और पुनः सधनवध के प्रतिपादक शास्त्र भी आप मीमांसकों को प्रमाणीक मानना चाहिए।

अनेक पुरुषों का ऐसा भी कहना है कि संसार में प्रायः धनवान पुरुष ही अधिक अनर्थ करते हैं हिंसा झूठ आदि पाप, जुआ मांस आदि दुर्व्यसन करते हैं, विधवा अनाथ, दीन गरीब आदि को दुःखी

१ [जैनो नैकत्रापि बाधवर्जितत्वं प्रदर्शयितुं हेत्वन्तरमाह]।

(1) लौकिकवाक्यस्य। (2) खारपटिकमित्यस्यायं प्रसंगः श्लोकवार्तिकालंकारे दृष्टव्यः। (3) कार्येर्थे दूषण।

इत्यादेः[1] "सर्वं [१]प्रधानमेव" इत्यादेरिव स्वविषये प्रमाणत्वायोगात् । [२]अपूर्वार्थत्वं[2] पुनः

करते हैं, धन के मद में अंधे होकर अनेकों कुकृत्य कर डालते हैं अतः उनके मार देने से लोक के अनेक पापाचार दूर हो जावेंगे एवं सज्जनों के वचे रहने से वात्सल्य प्रेम आदि वढ़ेगें अतः धनिकों का वध भी कर्त्तव्य रूप है जैसे कि होम में पशुओं को हवन करना कर्त्तव्य रूप है इन दोनों में कोई अंतर नहीं है। इस पर पुनः मीमांसक कहता है कि वेद में लिखी हुई हिंसा को करने से या युद्ध में मरने से अवश्य ही स्वर्ग मिलता है, किन्तु खरपट के यहा कही गई हिंसा से स्वर्ग नहीं मिलता है। आचार्य कहते हैं इस प्रकार से आप के कहने में कोई प्रमाण नहीं हैं, दोनों ही समान रूप से हिंसा के कारण हैं अतः या तो दोनों ही प्रमाण होंगे, अथवा दोनों के ही कथन अप्रमाण हो जावेंगे। इस पर पुनः मीमांसक कहता है कि कल्याण की इच्छा करने वालों के द्वारा यज्ञ किए जाते हैं अतः वे यज्ञ श्रेयस्कर हैं किंतु सधनवध उससे विपरीत होने से श्रेयस्कर नहीं है। एवं 'यज्ञ' धर्म शव्द से कहा जाता है जो यज्ञ करता है वह "धार्मिक" कहलाता है। आचार्य कहते हैं आपका यज्ञ भी सुगत जैन आदिकों के द्वारा अधर्म शव्द से भी कहा जाता है। एवं सधन वध भी खारपटिक और हिंसक जनों के द्वारा धर्म कहा जाता है। एवं लोक गर्हितपना दोनों में भी समान है अतः सधन वध और अग्नि होत्र दोनों ही समान हैं। वाध वर्जित हेतु से रहित हैं, अतः अप्रमाण हैं। ऐसा समझना चाहिए। इसका विशेष स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिकालंकार प्रथम पुस्तक में देखिये।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में अमृतचंद सूरि ने भी कहा है कि—

> "धनलवलपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयितां ।
> झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानां ॥८८॥

अर्थ—थोड़े से धन के प्यासे और शिष्यों को विश्वास करने के लिए दिखलाने वाले शीघ्र ही घड़े के फूटने से चिड़ियों के मोक्ष के समान मोक्ष का श्रद्धान नहीं करना चाहिए। कत्थे के रंग के कपड़े पहनने वाले एक प्रकार के सन्यासी खारपटिक हैं वे लोग घट के फूटने से चिड़ियों के उड़ जाने के समान ही शरीर के छूट जाने को ही मोक्ष कहते हैं। अतएव इन लोगों ने सधनवध आदि कारणों से शरीर के नष्ट हो जाने से सुख की प्राप्ति मान ली है ऐसा मालूम पड़ता है।

और पुरुषाद्वैत को कहने वाले "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य "सर्वं प्रधानमेव" इत्यादि के समान ही अपने विषय को वतलाने में प्रमाण नहीं हैं।

अर्थात् जैसे सांख्य कहता है कि सभी जगत प्रधान रूप है वैसे ही वेदवाक्य कहते हैं कि सभी जगत परम ब्रह्म रूप ही है जैसे आप सांख्य के कथन को अप्रमाणीक कहते हो तथैव आपके वेद वचन भी

---

१ साङ्ख्यमते सर्वं प्रधानमेव। २ अपूर्वार्थग्राहित्वम्।

---

(1) संप्रदायस्य। (2) धर्मादौ परब्रह्मादौ प्रत्यक्षादिकं न प्रवर्तते अतएव श्रुतेरनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं। भट्टप्रतिपादितं।

अप्रमाणीक ही हो जाते हैं।

विशेषार्थ—सांख्य ने मूल में दो तत्त्व माने हैं एक प्रकृति दूसरा पुरुष। प्रकृति को वे अचेतन या जड़ मानते हैं और पुरुष को चेतन। प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है। (सृष्टि से लेकर प्रलय काल तक स्थिर रहने वाली बुद्धि को महान् कहते हैं) महान् से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से सोलह गण पैदा होते हैं (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच ज्ञानेन्द्रियां, वचन, हस्त, पाद पायु—मल द्वार और उपस्थ—मूत्रद्वार ये पांच कर्मेन्द्रियां, मन तथा स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये पांच तन्मात्रायें ये सोलह गण कहलाते हैं) इन सोलह गण के अन्तर्गत जो पांच तन्मात्रायें हैं उनसे पंचभूत उत्पन्न होते हैं।

अर्थात् शब्द से आकाश उत्पन्न होता है अतः उसमें एक शब्द गुण पाया जाता है। शब्द सहित स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है अतः वायु में शब्द और स्पर्श पाये जाते हैं। शब्द, स्पर्श से सहित रूप से अग्नि उत्पन्न होती हैं अतः उस अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण पाये जाते हैं। शब्द, स्पर्श और रूप से सहित रस से जल बनता है। अतः जल में ये चारों गुण पाये जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप और रस से सहित गंध से पृथिवी उत्पन्न होती है अतः पृथ्वी में ये पाँचों गुण पाये जाते हैं। प्रकृति से लेकर पंचभूत तक ये २४ तत्त्व अचेतन हैं एवं एक पुरुष तत्त्व चेतन है। प्रकृति इस संपूर्ण सृष्टि को करने वाली है और पुरुष उसका भोक्ता है। इस प्रकृति का दूसरा नाम प्रधान भी है। सृष्टि के प्रारम्भ काल में प्रधान अपने भीतर से ही सारे संसार को उत्पन्न करता है और प्रलय काल में सारे संसार को अपने भीतर ही प्रलय रूप से समाविष्ट कर लेता है। यह प्रधान स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होता है अतः अजन्मा है। इसका मूल स्वरूप किसी के दृष्टिगोचर नहीं है अतः यह अव्यक्त है और इसके कार्य दृष्टि गोचर होते हैं अतः इसे ही व्यक्त भी कहते हैं। पुरुष को छोड़कर शेष समस्त तत्त्वों को (विश्वको) उत्पन्न करने में यह प्रमुख कारण है अतएव यह प्रधान कहलाता है। पुरुष इससे विपरीत स्वभाव वाला है सत्त्व, रज, तम आदि तीन गुणों से रहित है, अन्य-प्रधान को विषय करने वाला चेतन है, प्रधान तो एक है, किन्तु पुरुष अनेक हैं।

प्रधान अचेतन है, सामान्य है। पुरुष चेतन है, कूटस्थ नित्य है, चेतना गुण का अनुभव करने वाला है, ज्ञान से शून्य है, ज्ञान तो प्रधान का धर्म है। जब तक पुरुष के साथ प्रधान का संसर्ग है तभी तक वह पुरुष ज्ञानी दीखता है।

कार्यों के एक रूप अन्वय देखे जाने से तथा महत् आदि भेदों का परिणाम पाये जाने से उन कार्यों का एक प्रधान कारण से उत्पन्न होना सिद्ध है जैसे घट, घटी, सराव, उदञ्चन आदि में मिट्टी एक अन्वय रूप से मौजूद है उसी प्रकार से महान् अहंकार आदि कार्यों में—सारे सृष्टि रूप जगत में एक प्रधान का ही अन्वय पाया जाता है अतः यह सारा जगत प्रधानात्मक ही है। सांख्य ने उत्पाद और विनाश को भी नहीं माना है क्योंकि यह कूटस्थ नित्यैकान्तवादी है। उसका कहना है कि वस्तु में जो उत्पाद, विनाश

सर्वस्याः श्रुतेरविशिष्टं, [1]प्रमाणान्तराप्रतिपन्ने धर्मादौ परब्रह्मादौ च प्रवृत्तेः।

दिखता है वह केवल आविर्भाव, तिरोभाव रूप है न कोई वस्तु नष्ट हुई है, न उत्पन्न हुई है, मृत्पिंड से घड़ा नहीं बना है किन्तु मिट्टी में घड़ा सदैव विद्यमान था कुम्हार चाक आदि व्यञ्जक कारणों से मिट्टी में घट प्रकट हो गया है, पहले मिट्टी में तिरोभूत था। अतएव यह साँख्य प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव को भी नहीं मानता है जिसका आगे कारिका १० वीं ११ वीं में अच्छा निराकरण किया गया है। अतः यहाँ जैनाचार्यों का यही कथन है कि जैसे आप "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" कहते हो वैसे ही सांख्य सारे विश्व को प्रधानात्मक कहते हैं पुनः आप उनके भी सिद्धांत को प्रमाण क्यों नहीं मानते हैं? आप जिन-जिन हेतुओं से उनके प्रधान तत्त्व को दूषित करेंगे हम जैन भी उन्हीं-उन्हीं हेतुओं से आपके ब्रह्मवाद को भी दूषित कर देंगे। यदि आप आगम प्रमाण से अपनी मान्यता सिद्ध करेंगे तो वे साँख्य भी अपने आगम को प्रमाण मानकर अपनी मान्यता पुष्ट करेंगे। अतः या तो आप और साँख्य इन दोनों के वचन भी प्रमाणिक माने जाने चाहिएं या तो दोनों के वचनों को अप्रमाणिक कहना चाहिएं क्योंकि और तो कोई उपाय है नहीं।

मीमांसक—पुनः सभी वेद अपूर्वार्थ को ही विषय करते हैं अतः समान हैं प्रमाणांतर से नहीं जाने गये धर्मादि और पर-ब्रह्मादि में उनकी प्रवृत्ति है। अर्थात् धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को और परम-ब्रह्म को अन्य प्रमाण नहीं बता सकते हैं ये वेदवाक्य ही इनका ज्ञान कराते हैं अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों की धर्मादि में एवं ब्रह्मा आदि में प्रवृत्ति नहीं होती है। इसीलिए ये वेद "अनधिगत"—पूर्व में नहीं जाने गये अर्थ का ज्ञान कराने वाले होने से प्रमाण हैं क्योंकि भाट्ट ने प्रमाण का लक्षण यही माना है।

विशेषार्थ—"अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणं" (न्यायदीपिका पृ. १२३) इस प्रकार से भाट्टों ने प्रमाण का लक्षण माना है वे कहते हैं कि यह लक्षण मीमांसक के एक भेद रूप हम भाट्टों के यहां अपौरुषेय वेद में पाया जाता है क्योंकि धर्मअधर्म और परमब्रह्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण नहीं बता सकते हैं किन्तु ये वेद उनको भी बता देते हैं अतः हमारे वेद पूर्व में नहीं जाने गये अपूर्वार्थ को ही विषय करने वाले हैं और ये वेद अपौरुषेय होने से प्रमाण हैं। ऐसा सर्वज्ञ का अभाव करने वाले मीमाँसक स्वीकार करते हैं। इस कथन पर जैनाचार्यों ने इस भाट्ट द्वारा मान्य प्रमाण के लक्षण का न्यायदीपिका में सुन्दर खण्डन किया है आचार्य कहते हैं कि आप भाट्ट—मीमांसकों का यह प्रमाण का लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है क्योंकि आपके द्वारा ही प्रमाण रूप से मान्य धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थ ग्राही नहीं है। "यह घट है, यह घट है, यह घट है" इत्यादि रूप से जाने हुए को जानते बैठना धारावाहिक ज्ञान का लक्षण है। भाट्ट कहता है कि धारावाहिकज्ञान भी अगले-अगले क्षण से सहित अर्थ को ही विषय करते हैं अतः अपूर्वार्थ विषयक ही हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि क्षण

(1) प्रत्यक्षादि।

[कानिचित् वेदवाक्यानि स्वयं स्वस्यार्थं न प्रतिपादयंत्यतः वेदस्य प्रामाण्यं न सिद्ध्यति]

[1]न च काचिच्छ्रुतिः[2] स्वयं स्वार्थं प्रतिपादयत्यन्य[1]व्यवच्छेदेन कार्ये एवार्थे [3] अहं प्रमाणं न स्वरूपे; स्वरूपे एव वा न कार्येऽर्थे सर्वथेत्यविशेषः सिद्धः[2]। [4]ननु [3] च "पदानि[4]

अत्यन्त सूक्ष्म हैं उनको लक्षित करना—जानना संभव नहीं है अतः धारावाहिकज्ञानों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति निश्चित है।

[कोई भी वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः वेद की प्रमाणता सिद्ध नहीं होती है]

जैन—कोई वेद चाहे विधि अर्थ ग्राही हों चाहे नियोग या भावना अर्थ ग्राही हों वे वेद स्वयं अन्य का व्यवच्छेद करके अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

"कार्य-नियोग" अर्थ में ही मैं—वेद प्रमाण हूँ स्वरूप में नहीं, अथवा स्वरूप अर्थ में ही मैं प्रमाण हूँ कार्य अर्थ में सर्वथा नहीं। इस प्रकार से वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः सभी की मान्यता में वे अविशेष-समान रूप से सिद्ध हैं।

विशेषार्थ—वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में प्रमेयरत्न माला में भी बहुत ही सरल एवं सुन्दर विवेचन है। "प्रवाहनित्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वं" मीमांसकों ने प्रवाह की नित्यता से वेद को अपौरुषेय माना है। इस पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि आप मीमांसक सभी शब्दों को अनादि नित्य मानते हो या कुछ वेद विशिष्ट शब्दों को ही अनादि नित्य मानते हो यदि सभी को अनादि नित्य कहो तो जो शब्द लौकिक हैं वे ही वैदिक हैं,पुनः वेद ही अपौरुषेय हैं, लौकिक या कृत्रिम शास्त्रादि के शब्द अपौरुषेय नहीं हैं यह आपने कैसे कहा ? आप तो अपनी मान्यतानुसार संसार के सभी सच्चे झूठे जैन, बौद्धआदि शास्त्रों को अपौरुषेय मानकर सच्चे कहो। यदि आप यह पक्ष न लेकर विशिष्ट आनुपूर्वी से आये हुए विशिष्ट वैदिक शब्दों को ही अनादि नित्य कहो, तब तो हम पुनः प्रश्न करते हैं कि जिन शब्दों का अर्थ जान लिया है उनको अनादिता है या जिनका अर्थ नहीं जाना है उनको ? इसमें यदि दूसरा पक्ष लेवो तब तो आपको अज्ञान रूप अप्रमाणता ही रही। यदि प्रथम पक्ष लेवो, तब हम पुनः प्रश्न करते हैं कि उन वेदों के व्याख्यान करने वाले अल्पज्ञ हैं या सर्वज्ञ ? सर्वज्ञ रूप दूसरा पक्ष तो आपको अनिष्ट ही है एवं अल्पज्ञ को वेद का व्याख्याता मानने से तो अन्यथा विपरीत अर्थ की भी संभावना हो सकती है।

अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदंति न। कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः॥

अर्थ—"मेरा यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है" इस प्रकार से शब्द तो स्वयं बोलते नहीं हैं। शब्दों का यह अर्थ तो पुरुषों के द्वारा ही कल्पित किया जाता है। और पुरुष रागादि दोषों से दूषित होते हैं

१ पराभिप्रायं निराकरोति जैनः। २ विधिग्राहिणी नियोगग्राहिणी वा। ३ श्रुतिः। ४ मीमांसकः।

(1) स्वरूप। (2) श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्तेरित्यत्र भाष्येऽविशेषपदं व्याख्यातं। (3) श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनं युक्तमित्याह परः। यथा घटशब्दः पटस्य व्यवच्छेदने पृथुबुध्नोदराकारे घटस्वरूपे प्रवर्तते तथा वेदवाक्यमिति शंकामनूद्य वदति। (4) पचति भवतीत्यादीनि।

तावल्लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि तेष्वेव वेदे, तेषामध्या[1]हारादिभिर[2]र्थस्यापरिकल्पनीयत्वादपरिभाषितव्यत्वाच्च[3]। सति [4]सम्भवे लौकिकपदार्थज्ञश्च विद्वानश्रुतपूर्वं काव्यादिवाक्यार्थमवबुध्य-

---

अतः वे रागद्वेष के वशीभूत होकर अन्यथा भी अर्थ कर सकते हैं ।।

दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञ पुरुष के द्वारा व्याख्यान किए गये अर्थ विशेष से "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यस्य खादेच्छ्वमाँसम् इत्यपि वाक्यार्थः किं न स्यात् ।

(प्रमेयरत्नमाला पृ. २२०)

टिप्पणी—अग्निं हंतीति अग्निहा श्वा तस्यात्रं मांसं जुहुयात्खादेत् । अथवा अगति गच्छति इत्यग्निःस्वा, हूयतेऽद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं माँसं । अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्रं श्वमाँसं तज्जुहुयात् खादेत् स्वर्गकामः पुमान् द्विजः ।

अर्थ – "स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्र करे—हवन करे" इस वाक्य का अर्थ "कुत्ते का मांस खावे" ऐसा भी अर्थ क्यों न संभव मान लिया जावे ?

अल्पज्ञ पुरुष रागादि के वशीभूत होकर उक्त वेद वाक्य का ऐसा अर्थ कर सकता है कि अग्नि को जो हने वह "अग्निहा" अर्थात् कुत्ता है, उसका 'अत्र' जो मांस उसे 'जुहुयात्' अर्थात् खावे । अथवा "अगति गच्छति" इस निरुक्ति के अनुसार जो चले उसे 'अग्नि' अर्थात् कुत्ता कहते हैं । "हूयते अद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं" इस निरुक्ति के अनुसार 'होत्र' का अर्थ मांस है। अग्नि अर्थात् कुत्ते के माँस को खावे, इस प्रकार भी वही अर्थ निकल आता है । किन्तु ऐसा अर्थ आपको भी मान्य नहीं होगा, अतः अल्पज्ञ व्याख्याता का मानना ठीक नहीं है । थोड़ी देर के लिए आप वेद का अर्थ अनादिकाल से चली आ रही व्याख्यान परंपरा द्वारा आया हुआ मान भी लेवें, तो भी किसी वक्ता के द्वारा गुरु से गृहीत अर्थ का विस्मरण हो जाने से या वचन बोलने की चतुराई न होने से अथवा दुष्ट अभिप्राय से गलत अर्थ का प्रतिपादन भी हो सकता है । आजकल भी ऐसे लोग देखे जाते हैं जो ज्योतिष आदि शास्त्रों के रहस्य को अच्छी तरह जान करके भी दुष्ट अभिप्राय से गलत बता देते हैं या प्रतिपादन की शैली न होने से अथवा कितने ही व्याख्याता वाक्यार्थ का सम्बन्ध भूल जाने से उल्टा सुल्टा अर्थ भी कर देते हैं । अतः वेद अपौरुषेय होने से प्रमाण नहीं हैं ।

---

१ वेदगतपदानाम् । २ आदिना प्रकरणादिग्रहः । ३ गण्डकाश्चतुरो गुञ्जा इत्यादि-गणितपरिभाषावद्व्यवहारकालात्पूर्वमस्य शब्दस्यायमर्थ इति सङ्केतस्योत्तरकालं व्यवहारनिमित्तस्य कारणं परिभाषणं तस्याविषयत्वाच्चेत्यर्थः । ४ येष्वर्थेषु लौकिकपदानां सम्भवस्तेष्वेवार्थेषु वैदिकपदानां सम्भवे सति ।

---

(1) प्रकरणं—"प्रस्तावादथवौचित्याद्देशकालविभागतः । शब्दैरर्थाः प्रतीयंते न शब्दादेव केवलात् ।" प्रस्तावे—भोजनप्रस्तावे सैंधवमानीयतामित्युक्ते लवणमेव न तु सिंधुदेशीयोश्वः । औचित्ये—मातंगगामिनी गच्छतीत्युक्ते हस्तिनी न तु चांडालः । देशे—अयोध्यायां रामलक्ष्मणौ इत्युक्ते दशरथसुतौ न तु शुकसारसौ । काले—रात्रौ पतंगो भ्रमतीत्युक्ते खद्योत एव न तु सूर्यः ।

मानो दृष्टः । [1]तद्वच्छ्रुतिवाक्यार्थमपि कश्चित्स्वयमेवाश्रुतपूर्वमवबोद्धुमर्हतीति युक्तं श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनम्" इति कश्चित्[2] सोपि न परीक्षाचतुरः, सर्वस्याः श्रुतेस्तथा[3]भावाविशेषात् । [4]न च भावनैव नियोग एव वा लौकिकवाक्यस्यार्थः शक्यः [1]प्रतिष्ठापयितुं, येन वैदिकवाक्यस्यापि स एवार्थः स्यात् । नापि सन्मात्रविधिरेव कस्यचिद् वाक्यस्यार्थः शक्यप्रतिष्ठो, येन श्रुतिवाक्यस्यापि स एवार्थोऽन्ययोगव्यवच्छेदेन स्यात्, [5]तत्रानेकबाधकोपन्यासात् । ततः सुगतादिवच्छ्रुतयोपि न प्रमाणमित्यायातम् ।

मीमांसक—लोक में जिन अर्थों में पद प्रसिद्ध हैं उन्हीं अर्थों में ही वे पद वेद में हैं । उन वेदगत पदों का अध्याहारादि-प्रकरण आदि से अर्थ परिकल्पित नहीं किया जा सकता है और न वे परिभाषितव्य ही हैं अर्थात् वेदवाक्य परिभाषण के विषय नहीं हैं । जिन अर्थों में लौकिक पदों का अर्थ संभव है उन्हीं अर्थों में वैदिक पदों के अर्थ भी संभव हैं जिस प्रकार से लौकिक पद के अर्थ को जानने वाला विद्वान् अश्रुतपूर्व काव्यादि वाक्यों के अर्थ को समझता हुआ देखा जाता है । उसी प्रकार से कोई मनुष्य स्वयं ही अश्रुतपूर्व वेदवाक्य के अर्थ को भी समझने में समर्थ हो सकता है । इसलिए वेद स्वयमेव अन्य का व्यवच्छेद करके अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हैं यह कथन युक्त ही है ।

जैन—ऐसा कहने वाले आप मीमांसक भी मीमाँसा-परीक्षा करने में कुशल नहीं हैं । क्योंकि सभी वेदों में तथाभाव-लौकिक वाक्यार्थ के अनुसार अर्थ का प्रतिपादन करना समान ही है । लौकिक वाक्य का अर्थ भावना ही है अथवा नियोग ही है, ऐसा अर्थ व्यवस्थापित करना शक्य नहीं है कि जिससे वैदिक वाक्य का भी वही अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है एवं किसी वेद वाक्य का अर्थ सन्मात्र विधि ही है ऐसा भी कहना शक्य नहीं है कि जिससे वैदिक वाक्य का भी अन्य का व्यवच्छेद करके वही अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता क्योंकि उन वेद वाक्यों में तो अनेक बाधायें दी गई हैं । इसलिये सुगत आदि के समान वेद भी प्रमाण नहीं हैं यह बात सिद्ध हो गई ।

विशेषार्थ—श्लोकवार्तिक में इस अपौरुषेय वेद के खण्डन में विशेष रूप से विचार किया गया है । मीमाँसक ने अनादिनिधन अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होना माना है वे सर्वज्ञ को तो मानते नहीं हैं । इस पर जैनाचार्य ने प्रश्न किया कि तुम्हारे वेदवाक्यों का व्याख्याता रागी है या वीतरागी ? तब उन्होंने बताया कि हमारे वेद के अर्थ के व्याख्यान करने वाले मनु, याज्ञवल्क, व्यास आदि ऋषियों को उस वेद के अर्थ का पूर्ण ज्ञान था अतः उनको वेद के विषय में रागद्वेष का अभाव था । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! यदि आप मूल में सर्वज्ञ मान लेवें तब तो ठीक है अन्यथा

---

१ लौकिककाव्यादिवाक्यार्थमिव । २ मीमांसकः । ३ लौकिकवाक्यार्थानुसारेणार्थस्य प्रतिपादकत्वभावाविशेषात् । ४ एतदेव भावयति जैनः । ५ सर्वश्रुतिषु ।

---

(1) घटशब्दस्य यथा घटार्थो न तथा भावनानियोगावर्थः ।

तो अन्ध-परंपरा न्याय ही लागू होता है। इस अंध परम्परा से तो वेद के अर्थ का निर्णय होना वनता नहीं है। एक अंधे ने दूसरे अंधे का हाथ पकड़ा, दूसरे ने तीसरे का, तीसरे ने चौथे का इत्यादि रूप से करोड़ों भी अंधों की पंक्ति लगा दी जावे तो क्या सबको दीखने लग जावेगा ? हाँ ! उन पंक्तियों में यदि एक प्रधान चक्षुष्मान्-आंख सहित व्यक्ति को जोड़ दीजिए तो वह सबको भी इच्छित स्थान पर पहुँचा सकता है। तथैव मूल में आप सब एक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी मान लीजिए। उसी सर्वज्ञ की मान्यता से उनके वचनों से भी सभी छद्मस्थों को आज तक भी अर्थ का निर्णय हो जावेगा। किन्तु मीमांसक सर्वज्ञ को न मानकर केवल अपने वेद को ही प्रामाणिक सिद्ध करने में लगा हुआ है। उसका कहना है कि व्याकरण, कोष और व्यवहार आदि से शब्दों का वाच्य अर्थ जाना जाता है जो विद्वान् पुरुष व्याकरण, न्याय आदि के अभ्यास से लोक में वोले जाने वाले घट, पट, आत्मा आदि पदों के अर्थ का निश्चय कर लेते हैं। उसी के समान-लौकिक पदों के अर्थ के समान ही वेदों में भी "अग्निमीडे पुरोहितं यजेत" आदि पद पाये जाते हैं। अतः वेद के पदों का अर्थ भी व्युत्पन्न विद्वान् को अपने आप ही हो जावेगा और पदों के अर्थ का निश्चय कर लेने पर वाक्य के अर्थ का निश्चय भी हो जावेगा। जैसे कि कोई विद्वान् चन्द्रप्रभ, गद्यचिंतामणि आदि काव्य ग्रन्थों के पढ़ लेने पर अश्रुतपूर्व-महा-पुराण, धर्मशर्माभ्युदय आदि काव्यों का अर्थ स्वयं कर लेता है या अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों को गुरु मुख से पढ़ लेने पर न्यायकुमुदचंद्रोदय, प्रमेयकमलमार्तड आदि न्यायग्रन्थों का अर्थ भी स्वयमेव समझकर समझा सकता है या गणित के नियमों को जानकर नवीन-नवीन गणितके प्रश्नों का उत्तर झट दे देता है। इसी तरह से व्याकरण आदि के विशेषज्ञान से वेद का अर्थ भी समझ लिया जावेगा, अतः अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के लिए सर्वज्ञ की कोई आवश्यकता भी नहीं है और वेद के अर्थ का निश्चय करने में सर्वथा वीतरागी की भी आवश्यकता नहीं है और हमारे यहाँ अंधपरंपरा भी नहीं है।

लोक में आजकल हम लोगों से वोले हुए पद और वेद में लिखे हुए पद यद्यपि एक ही हैं। किन्तु उन पदों के अनेक अर्थ भी व्यवस्थित हो सकते हैं। अतः एक अर्थ को छोड़ कर दूसरे इष्टअर्थ में ही कारण वताकर उसकी व्याख्या करनी चाहिए, अन्य अर्थ में नहीं, इस प्रकार शब्दों के अर्थ का निश्चय करना अशक्य है।

टिप्पणीकार श्री लघुसमंतभद्र स्वामी ने भी कहा है कि प्रकरण आदि से अनेक अर्थ देखे जाते हैं—

"प्रस्तावादथवौचित्याद्देश-काल-विभागतः। शब्दैरर्थाः प्रतीयंते न शब्दादेव केवलात्" ॥

अर्थ—प्रकरण से अथवा उचितरूप से या देश और काल के निमित्त से शब्दों के द्वारा अर्थ का वोध किया जाता है, किन्तु केवल शब्द मात्र से ही अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रकरण से—भोजन के समय किसी ने कहा कि—"सैंधवमानीयतां" सैंधव लावो तो सैंधव शब्द से यहाँ नमक ही लाया जाता है, किन्तु सिन्धु देशीय घोड़ा नहीं लाया जाता है।

औचित्य अर्थ में—"मातंगगामिनी गच्छति" मातंग गामिनी जाती है इतना कहने पर हस्तिनी जा रही है यह अर्थ होता है न कि चाँडाल की स्त्री।

देश के प्रसंग में—"अयोध्यायां रामलक्षणौ" ऐसा कहने पर दशरथ के पुत्र ही समझा जाता है न कि शुक और सारस पक्षी। अर्थात् राम लक्ष्मण का अर्थ शुक, सारस भी होता है किन्तु 'अयोध्या में' ऐसा देश शब्द का प्रयोग करने पर शुक सारस नहीं समझा जाता है।

काल अर्थ में—"रात्रौ पतंगो भ्रमति" रात्रि में पतंग भ्रमण करता है। इतना कहने पर रात्रि शब्द काल वाची होने से पतंग का अर्थ खद्योत ही करना चाहिए न कि सूर्य। यद्यपि पतंग का अर्थ सूर्य है फिर भी रात्रि में सूर्य नहीं रहता है। इत्यादि रूप से प्रकरण से भी शब्द से अर्थ का निश्चय किया जाता है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि कहीं-कहीं प्रकरण से भी अनेक प्रकार के अर्थ उपयोगी दीखते हैं जैसे कोई राजकुमार सज्जीभूत होकर बाहर जाने के लिए तैयार बैठा है और ककड़ी खा रहा है ऐसी दशा में "सैंधवलावो" कहने पर सैंधव शब्द के उस समय घोड़ा और नमक दोनों ही अर्थ प्रकरण प्राप्त हैं। 'द्विसंधान' काव्य में एक साथ ही प्रत्येक शब्द के पांडव और रामचन्द्र के चरित्र पर घटित होने वाले दो दो अर्थ किए गये हैं। अतः अल्पज्ञ, लौकिक विद्वान, प्रकरण आदि के द्वारा अनेक अर्थों को प्रतिपादन करने वाले वेद के शब्दों की ठीक, ठीक एक ही अर्थ में व्यवस्था नहीं कर सकेंगे और यदि एक ही अर्थ व्यवस्थित होता तो यह प्रभाकर, भाट्ट और ब्रह्माद्वैतवादी जनों का इतना विसंवाद भी क्यों होता ? देखो ! कोई तो कामधेनु के समान उन वेदवाक्यों से कर्मकाण्ड अर्थ निकालते हैं, कोई चार्वाक "अन्नाद्वै पुरुषः" आदि श्रुतियों से अपना जड़वाद पुष्ट करते हैं, कोई अद्वैतवादी उन मंत्रों से ब्रह्मवाद सिद्ध करते हैं। आप मीमांसक भी नियोग और भावना रूप अर्थ में परस्पर में विवाद कर रहे हैं। यदि वेद का अर्थ पहले से ही निर्णीत होता तो इतने हिंसापोषक या हिंसा के निषेधक तथा केवल जड़वाद या केवल आत्मवाद रूप विरुद्ध व्याख्यानों के द्वारा परस्पर में झगड़े क्यों देखे जाते हैं ? यदि आप कहें कि वेद के अर्थों को जानने वालों का ज्ञान मंद है अतः झगड़े देखे जाते हैं किन्तु प्रतिभाशाली मनु आदि ऋषि एक ही अर्थ करते हैं वे सातिशय प्रज्ञाशाली हैं। वेदों के अर्थों को स्मरण रखने की पूर्ण रूप से विशेषता उनमें है। पुनः जैन प्रश्न करते हैं कि उन मनु, याज्ञवल्क आदि ऋषियों की वुद्धि में विशेषता कैसे आई है ? तब मीमांसक ने कहा कि उन ऋषियों ने पूर्व जन्म में श्रुत का अभ्यास किया है। तब प्रश्न यह होता है कि इन मनु आदिकों ने पूर्व जन्म में श्रुत का अभ्यास स्वयं किया है या गुरु की सहायता से ? यदि स्वतः कहो तो सभी ही पूर्व जन्म में स्वतः वेद का अभ्यास कर सकते हैं। यदि गुरु से कहो तो गुरु कौन है ? चतुर्मुख ब्रह्मा को कहो तो भी ब्रह्मा को भी अनादि कालीन वेदों का ज्ञान कैसे हुआ ? क्योंकि आप ब्रह्मा को भी अनादि कालीन सर्वज्ञ नहीं मानते हैं। फिर भी मीमांसक बोलता ही जाता है कि यद्यपि वेद एक है किन्तु उसकी हजारों शाखायें हैं, स्वर्ग में ब्रह्मा बहुत दिनों तक वेद को पढ़ते हैं

[अत्रत्यात् चार्वाकः सर्वज्ञस्याभावं साधयति तस्य निराकरणं]

[1]तथेष्टत्वाददोष [2]इत्येकेषामप्रमाणिकवेष्टिः[3]*।[1]न कश्चित्तीर्थकरः प्रमाणं, नापि [2]समयो वेदोन्यो [3]वा [4]तर्कः, [5]परस्परविरोधात् ।

फिर वहां से अवतार लेकर वे मनुष्य लोक में मनु आदि ऋषियों के लिए वेद का प्रकाशन करते हैं फिर ब्रह्मा स्वर्ग को चले जाते हैं और वहाँ हजारों वर्ष तक वेद का स्मरण, चिंतन, अभ्यास करते रहते हैं। पुनः स्वर्ग से उतर कर मर्त्य लोक में आकर उन्हीं मनु आदि ऋषियों को वेद के ज्ञान का प्रकाशन करते हैं और वे मनु आदि ऋषीश्वर उस समय में अनेक जीवों को वेद का ज्ञान करा देते हैं। इस प्रकार से ब्रह्मा और मनु आदि की परंपरा भी अनादि काल से चली आ रही है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आपका कथन "वदतो व्याघातः" नाम के दोष से दूषित है। जैसे कोई पुरुष जोर-जोर से कहे कि "मैं मौनव्रती हूँ" यह वचन स्व वचन बाधित है। क्योंकि आप मीमाँसकों ने सभी ही पुरुषों को अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान से रहित ही माना है। ब्रह्मा, मनु, वृहस्पति, जैमिनी आदि को भी सूक्ष्म परमाणु, आकाश, पुण्य-पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कहना शक्य नहीं है। पुनः ब्रह्मा ने भी स्वर्ग में क्या पढा, किससे पढ़ा ? इत्यादि प्रश्न उठते ही चले जावेंगे।

एक किंवदंती है कि "ढेकी स्वर्ग में चली जाय तो भी धान ही कूटेगी ?" अतः तुम्हारा कथन सिद्ध नहीं हो पाता है कि वेद "अपौरुषेय" होने से प्रमाण है।

वेद की प्रमाणता के खण्डन का सारांश

सुगत आदि सभी परस्पर में विरुद्ध अर्थ का कथन करने वाले होने से सभी सर्वदर्शी, सर्वज्ञ नहीं हैं अतः कोई भी सर्वज्ञ नहीं है ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि आपके अपौरुषेय वेद भी प्रमाण नहीं है जैसे आपने "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" कहा है वैसे ही सांख्य ने कहा है कि "प्रधानमेव सर्वं" सभी जगत प्रधान रूप है। तथा कोई भी वेद चाहे विधि अर्थ ग्राही हों चाहे नियोग एवं भावना अर्थ ग्राही हों वे स्वयं अन्य का परिहार करके अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं "नियोग अर्थ में हो मैं प्रमाण हूं, विधि में नहीं या भावना में ही मैं प्रमाण हूँ नियोग में नहीं" इत्यादि एवं कोई भी मनुष्य अश्रुत-पूर्व—पहले नहीं सुने हुए वेद वाक्य के अर्थ को समझने में समर्थ नहीं हो सकता है अतः सुगत आदि के समान आपके वेद भी अप्रमाण ही हैं। क्योंकि परस्पर में विरोधी हैं।

[चार्वाक सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करना चाहता है उसका निराकरण]

चार्वाक—हमें वैसा ही इष्ट है अतः कोई दोष नहीं है। अर्थात् कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, यही बात हमें इष्ट है इस मान्यता में तो कोई भी दोष नहीं है।

१ इतश्चार्वाकमतप्रसङ्गः। २ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिच्छन्ति एके चार्वाकास्तेषाम्। ३ प्रमाणरहिता। ४ तर्कोनुमानम्। ५ सर्वथा नित्यत्वानित्यत्वादिसमर्थनार्थं सौगतकापिलादिप्रयुक्तानुमानानां परस्परविरोधात्तर्कस्य परस्परविरोधः।

(1) मूलं व्याख्याति। (2) आगमः। (3) सुगतादि।

[1]"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो [2]विभिन्ना [1]नैको [3]मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
[4]धर्मस्य तत्त्वं [2]निहितं गुहायां [3]महाजनो [5]येन गतः स पन्थाः" ।। इति वचनात्

कश्चिद्[4] देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिर्भवेत् [6]संवादकः, प्रत्यक्षसिद्धपृथिव्यादितत्त्वोपदेशात्। इति[7] प्रत्यक्षमेकमिच्छन्ति ये तेषां लौकायतिकानामिष्टिरप्रमाणिकैव, प्रत्यक्षतस्तद्[8]-व्यवस्थापनासम्भवात् । **न खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्त[9]राभावविषयम् अतिप्रसङ्गात्*** । [10]सर्वज्ञस्य हि मुनेः प्रमाणान्तरस्य च वेदाद्यागमस्यानुमानस्य च तर्काख्यस्याभावं यदि [5]किञ्चिद्"[11]व्यवस्थापयेत्, [12]तत्राप्रवर्त्तमानत्वात्, तदा[13]पुरुषान्तरादिप्रत्यक्षान्तराणामप्यभावं

जैन—यह आपकी मान्यता भी प्रमाण रहित ही है।*

चार्वाक—हमारे यहाँ ऐसा वचन है कि—

कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं है, न कोई आगम है, न वेद हैं, अथवा न कोई तर्क–अनुमान ही प्रमाण है। बस ! हम एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं। क्योंकि तीर्थकर आदि सब में परस्पर में विरोध देखा जाता है क्योंकि कहा भी है—

श्लोकार्थ—तर्क—अनुमान अव्यवस्थित हैं, शास्त्र नाना अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, सुगत, कपिल अथवा जिन कोई एक भी भगवान–तीर्थकर नहीं हैं कि जिनके वचन प्रमाण हो सकें। इसलिए धर्म का स्वरूप गुफा में रखा हुआ है जिस मार्ग से महापुरुष गये हुए हैं वही मार्ग है ।।

अतः कोई देवता रूप वृहस्पति गुरु ही संवादक-प्रमाण भूत हो सकता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष से सिद्ध पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय का उपदेश देता है। अतः हम चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं। टिप्पणी में ऐसा भी पाठ है कि कोई अदेवता रूप–असवज्ञ रूप वृहस्पति नामक गुरु हैं वही प्रमाणभूत है इत्यादि।

जैन इस प्रकार से आप एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकार करते हैं अतः आप "लौकायतिक" इस सार्थक नाम वाले हैं किन्तु आपकी मान्यता भी अप्रमाणीक ही है। क्योंकि प्रत्यक्ष से आपके सिद्धान्त की भी व्यवस्था करना संभव नहीं है।

आपका वह प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ एवं प्रमाणांतर के अभाव को विषय करने वाला नहीं है, अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा।*

सर्वज्ञ-मुनि और प्रमाणाँतर अर्थात् वेदादि आगम, अनुमान एवं तर्क इनके अभाव को यदि कोई

---

१ अव्यवस्थितः। २ नानार्थप्रतिपादकत्वेन। ३ सुगतः कपिलो जिनो वा। ४ ततश्च। ५ पथा। ६ प्रमाणभूतः। ७ इतो जैन आह। ८ सर्वज्ञादिपरोक्षार्थाभावस्य प्रमाणस्य। ९ ताद्भिः (सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभावः)। १० अतिप्रसङ्गमेव विवृणोति। ११ चार्वाकाभिमतम्। १२ प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभावं व्यवस्थापयति—तत्राप्रवर्त्तमानत्वात्। यद्यत्राप्रवर्त्तमानं तत्तस्याभावं व्यवस्थापयति खरविषाणादिवत्। १३ देशान्तरकालान्तरवर्त्ती पुरुषोत्र ग्राह्यः।

---

(1) नासौ मुनिः इति पा.। (2) अप्रयोजकत्वात्। (3) गोपालादि। (4) कश्चिददेवतारूपो इति पा.। अदेवतारूपः—असर्वज्ञतारूप इत्यर्थो भवति। (5) किंचित् प्रत्यक्षं व्यवस्थापयेत् इति पा.।

तदेव गमयेत् तद्विषयाणां च [१]क्ष्मादीनाम् । इत्यतिप्रसङ्गः स्वयमिष्टस्य वृहस्पत्यादिप्रत्यक्षस्यापि [1]विषयस्याभावसिद्धेः ।

[चावार्कः कथयति अस्मदीयवृहस्पतिगुरोः प्रत्यक्षं स्वस्य पृथिव्यादिचतुष्टयस्य ज्ञानं कारयति इति मान्यतायां जैनानां प्रत्युत्तरं वर्तते]

[२]अथ प्रत्यक्षान्तरं स्वयमात्मानं[३] व्यवस्थापयति पृथिव्यादिस्वविषयं च, तत्र प्रवर्त्तनात् । अतो न तदभावप्रसङ्ग इति मतं [४]तर्हि सर्वज्ञोपि स्वसंवेदनादात्मानं स्वर्गापूर्वादिविषयं[५] च व्यवस्थापयतीति कथं तदभावसिद्धिः[६] ? [७]प्रमाणान्तरस्य च तद्वचनस्य [८]हेतुवाद-

प्रत्यक्ष व्यवस्थापित करे तो वहाँ उन विषयों में उस प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं है । अन्यथा पुरुषांतरादि—देशांतर, कालांतरवर्ती पुरुषों के प्रत्यक्षांतर के अभाव को वही प्रत्यक्ष वतला देगा और उनके विषय पृथ्वी आदि विषयों को भी वही प्रत्यक्ष वतला देगा ।

पुनः स्वयं इष्ट वृहस्पति आदि के प्रत्यक्ष के भी स्वविषय का अभाव सिद्ध हो जाने से अति प्रसंग आ जावेगा ।

[चार्वाक कहता है कि हमारे वृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व और पृथ्वी आदि चतुष्टय को वतलाता है । अतः सर्वज्ञ कोई नहीं है—इस पर जैनाचार्य का उत्तर]

चार्वाक—प्रत्यक्षांतर—वृहस्पति का प्रत्यक्ष स्वयं अपने स्वरूप को और पृथ्वी आदि स्वविषयों को व्यवस्थापित करता है क्योंकि वह उन विषयों में प्रवृत्ति करता है । इसलिए उस प्रत्यक्ष के अभाव का प्रसंग नहीं आता है ।

जैन— सर्वज्ञ भगवान भी स्वसंवेदन से अपने को एवं स्वर्गादि, अपूर्व—धर्माधर्मादि विषयों को व्यवस्थापित करता है इसलिए उस सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

एवं वही सर्वज्ञ, प्रमाणांतर—तर्क, उसके वचन हेतुवाद रूप— अनुमान रूप तथा अहेतुवाद रूप—आगम प्रमाण की व्यवस्था कर देता है । इसलिए भिन्न प्रमाणों का अभाव भी कैसे सिद्ध होगा ?

चार्वाक—आपका सर्वज्ञ स्वपर का व्यवस्थापक है इस विषय को सिद्ध करने के लिए कौन सा प्रमाण है ?

जैन—पुनः आप स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण मानने वाले चार्वाक के यहाँ भी प्रत्यक्षांतर-वृहस्पति का प्रत्यक्ष स्वपर को विषय करने वाला है इसमें भी क्या प्रमाण है ?

चार्वाक—उस प्रकार से प्रसिद्धि है अर्थात् वृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व पर को ग्रहण करने वाला है

१ वृहस्पतिप्रत्यक्षान्तरगोचराणाम् । २ चार्वाकः । ३ स्वयं स्वस्वरूपम् । ४ जैनः । ५ अपूर्व धर्माधर्मादि । ६ तस्य सर्वज्ञस्य । ७ तर्करूपस्य । ८ हेतुवादरूपस्यानुमानस्येत्यर्थः । अहेतुवादरूपस्य आगमस्येत्यर्थः ।

(1) सविपयस्य इति पा. । स्वविपयस्येति वा प्रतिभाति ।

रूपस्याहेतुवादरूपस्य[1] च स एव व्यवस्थापकः स्यादिति [१]कुतस्तदभावसिद्धिः ? [२]सर्वज्ञः स्वपरव्यवस्थापकोऽस्तीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत् [३]स्वप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः[४] प्रत्यक्षान्तरं[५] स्वपरविषयमस्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ? [६]तथा प्रसिद्धिरन्यत्रापीति न प्रत्यक्षं तदभावावेदकम्, [७]अतिप्रसङ्गस्य दुष्परिहारत्वात् । [८]**नानुमानम्, असिद्धेः*** । [९]प्रत्यक्षमेकमेव[2] प्रमाणम्[१०], [११]अगौणत्वात्प्रमाणस्य[१२] अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः । [१३]सामान्ये सिद्धसाधनाद्[१४] विशेषेनुगमाभावात् [१५]सर्वत्र विरुद्धाव्यभिचारिणः[१६] संभवात् । इति स्वयमनुमानं निराकुर्वन्ननुमानादेव सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावं व्यवस्थापयतीति कथमनुन्मत्तः ? प्रतिपत्तुः[१७] प्रसिद्धं हि प्रमाणं

इस प्रकार से हमारे यहाँ गुरु परम्परा से प्रख्याति है।

जैन—यदि ऐसा कहो तो अन्यत्र-हमारे यहाँ भी सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में भी ऐसी गुरु परम्परा से प्रसिद्धि है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण उस सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला नहीं है। अन्यथा-अतिप्रसंग का परिहार करना कठिन हो जावेगा। एवं **अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता है क्योंकि आपके यहां असिद्ध है अर्थात् आपने अनुमान प्रमाण को माना ही नहीं है*** ।

आपने कहा है कि "प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं" अतः वही प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुख्य है पुनः अनुमान से इस प्रत्यक्ष के विषय भूत अर्थ का निश्चय कैसे होगा ? अर्थात् होना दुर्लभ ही है। हे चार्वाक ! आपने तो अनुमान का निराकरण करने के लिए कहा है कि—"अनुमान सामान्य को सिद्ध करता है या विशेष को ?" यदि सामान्य को कहो तो सिद्ध साधन ही है क्योंकि व्याप्ति के निश्चय के काल में ही सामान्य सिद्ध हो चुका है।

एवं दूसरा पक्ष लेवो तो विशेष पर्वतादि साध्य में "जहां धूम है वहां पर्वताग्नि हैं" ऐसा अनुगम-अन्वय ज्ञान नहीं है अतः सभी जगह अनुमान में विरुद्धादि दोष आते हैं।

इस प्रकार से आप स्वयं अनुमान का निराकरण करते हुए भी अनुमान से ही सर्वज्ञ और अनुमान,

---

१ प्रमाणान्तराभावसिद्धिः । २ चार्वाकः । ३ जैनः । ४ चार्वाकस्य । ५ वृहस्पतिप्रत्यक्षम् । ६ चार्वाको वदति—वृहस्पतिप्रत्यक्षं स्वपरग्राहकमित्यस्माकं गुरुपरम्परया प्रख्यातिरस्तीति चेत्तदन्यत्रापि सर्वज्ञप्रत्यक्षेप्येवं भवतु । ७ अन्यथा । ८ चार्वाक आह—अहमनुमानेन सर्वज्ञाभावं साधये । पर आह—भवन्मतेनुमानं नास्ति सिद्धेरघटनात् । ९ चार्वाकः । १० "प्रमाणं तर्हि गौणत्वात्" इत्यादि पाठान्तरम् । ११ अमुख्या (अनुमानतः) न्मुख्यप्रत्यक्षप्रमाणस्यार्थनिश्चयो दुर्लभः । १२ प्रत्यक्षस्य । १३ हे चार्वाक अनुमाननिराकरणार्थं त्वमेवं वदसि । एवं किम् ? अनुमानं सामान्यं साधयति विशेष वा ? सामान्यं चेत्सामान्ये सिद्धसाधनादित्यादि । १४ व्याप्तिनिश्चयकाले एव सामान्यस्य सिद्धत्वात् । विशेषे पर्वतादौ साध्ये यत्र धूमस्तत्र पर्वताग्निरित्यनुगमाभावः । १५ अनुमाने । १६ विरुद्धस्येत्यर्थः हेतोरित्यर्थः । १७ चार्वाकस्य ।

---

(1) तर्कशास्त्रस्य, परमागमस्य । (2) ननु अनुमानाद्यसिद्धावपि सर्वज्ञाद्यभावो भविष्यतीत्याशंक्य कथमनुन्मत्त इत्याद्यारभ्य योज्यं ।

स्वप्रमेयस्य निश्चायकं, नाप्रसिद्धम्,[1] अतिप्रसङ्गादेव ।

तर्क आदि भिन्न प्रमाणों के अभाव को व्यवस्थापित करते हैं इसलिए आप अनुनमत्त कैसे हैं ? अर्थात् आप उन्मत्त सदृश ही हैं ।

क्योंकि जानने वाले प्रतिपत्ता के यहाँ प्रसिद्ध ही प्रमाण अपने प्रमेय का निश्चय कराता है किन्तु अप्रसिद्ध प्रमाण नहीं कराता है अन्यथा अति प्रसंग आ जाता है अर्थात् खरविषाणादि भी प्रमेय की व्यवस्था करने लग जावेंगे ।

भावार्थ --चार्वाक पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप भूत चतुष्टय को मानता है और इन्हीं के संयोग से चैतन्य स्वरूप आत्मा का प्रादुर्भाव भी मान लेता है और जीव के मरने के वाद उस चैतन्य की भी समाप्ति कहता है । आत्मा नाम के तत्त्व को वह चार्वाक नहीं मानता है अतएव ईश्वर के अस्तित्व को भी वह स्वीकार नहीं करता है । तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय अनुमान, आगम एवं तर्क नाम के प्रमाण भी उसके सिद्धान्त में नहीं हैं, न सर्वज्ञ का अस्तित्व ही है क्योंकि आत्म तत्त्व को माने विना सर्वज्ञ को मानना तो कथमपि शक्य नहीं है जैसे वाँस के विना वांसुरी नहीं वजती है । इन नास्तिक वादी चार्वाक जनों को जो कुछ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से दिखता है वही विद्यमान हैं इन्द्रिय ज्ञान से परे जो वस्तुएं हैं वे सव अप्रमाण हैं । क्या पता—यदि चार्वाक के घर में वालक जन्मे और उसके पिता या पितामह का वाहर में ही मरण हो जावे तव वह वालक शायद वड़ा होकर अपने पिता और पितामह आदि के अस्तित्व को भी नहीं मानेगा । इतना सव कुछ होने पर भी वह चार्वाक एक वृहस्पति नाम के अपने गुरु को मान रहा है जवकि वे गुरु भी हम और आपको इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो रहे हैं । अतः जैनाचार्यों ने उस चार्वाक से यह प्रश्न किया कि भाई ! तुम किस प्रकार से वृहस्पति गुरु देव का अस्तित्व मानते हो और किस प्रमाण से सर्वज्ञ, अनुमान, तर्क और आगम तथा आत्म तत्त्व का अभाव सिद्ध करते हो ? क्योंकि तुम्हारा मान्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो न वृहस्पति को देख सकता है और न अनुमानादि के या सर्वज्ञ के अभाव को ही कर सकता है कारण जव वस्तु—घट एक वार प्रत्यक्ष दीखे और पुनः न दीखे तव हम या आप "उस घट का अभाव है" ऐसा कह सकते हैं । अतः तुम चार्वाक तो प्रत्यक्ष प्रमाण से इन वातों को अभाव रूप कैसे कहोगे और अपने गुरु के अस्तित्व को भी कैसे मानोगे ? तव उसने कहा कि हम गुरु के अस्तित्व को तो गुरु परम्परा से ही मान लेते हैं । वस ! आचार्य ने कह दिया कि ऐसे ही परंपरा से हमारे द्वारा मान्य सर्वज्ञ भी आप क्यों नहीं मान लेते हो क्योंकि हमारे यहां भी परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रामाणिक मानी गयी है । दूसरी वात यह है कि आप चार्वाक अनुमान, तर्क आदि प्रमाण को माने विना केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ के अभाव को कैसे कहेंगे ? क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा तो सभी पुरुष न देखे जा सकते हैं न जाने जा सकते हैं पुनः सभी पुरुषों में "विश्व में कोई भी

---

१ खरविषाणादिकं व्यवस्थापयेदप्रसिद्धानुमानमित्यर्थः ।

[चार्वाको ब्रूतेऽहं भवद्‌भिर्मान्येनानुमानेन स्वप्रत्यक्षप्रमाणमंतरेण सर्वज्ञस्य भिन्नप्रमाणानां च अभावं साधयामीति मान्यतायां जैनाः प्रतिबोधयंति]

[1]परप्रसिद्धमनुमानं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावग्राहकमिति चेत् तत् [2]परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणमन्तरेण वा ? **यदि: प्रमाणत सिद्धं नाऽनात्मसिद्धं नाम,*** परस्येवात्मनोपि[3] वादिनः सिद्धत्वात् [4]प्रमाणसिद्धस्य [1]सर्वेषामविप्रतिपत्तिविषयत्वाद्[5], अन्यथातिप्रसङ्गात्, [6] प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणसिद्धस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वापत्तेरनात्मसिद्धत्वप्रसङ्गात् [7]। ततो यत्परस्य[8] प्रमाणतः सिद्धं तच्चार्वाकस्यात्मसिद्धम् । यथा प्रत्यक्षम् । प्रमाणसिद्धं च परस्यानुमानम् ।

सर्वज्ञ नहीं है" यह कहना सर्वथा असम्भव है । एवं अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ के अभाव को कहते हुए भी आप चार्वाक अनुमान प्रमाण को मानने को तैयार नहीं है तो शायद आप उन्मत्त-पागल ही हो रहे हैं ऐसा मालूम पड़ता है क्योंकि जिस प्रमाण से आप अपने जिस नास्तित्व सिद्धान्त की व्यवस्था करते हैं उस अनुमान को तो आपको पहले मानना पड़ेगा । असत्यभाषी—झूठे व्यक्ति की साक्षी से किसी को अपराधी—झूठा सावित करना अशक्य ही है ।

[चार्वाक कहता है कि हम आप लोगों के द्वारा मान्य अनुमान को लेकर उससे सर्वज्ञ को और प्रत्यक्ष के सिवाय भिन्न सभी प्रमाणों का अभाव सिद्ध कर देते हैं । इस पर जैनाचार्य उसे समझाते हैं ।]

चार्वाक—आप जैनादि के यहाँ जो प्रसिद्ध अनुमान है वही सर्वज्ञ और प्रमाणाँतरों के अभाव को ग्रहण करने वाला है ।

जैन—यदि ऐसा है कि वह अनुमान प्रमाण जैनादिकों के यहाँ प्रसिद्ध है तो प्रश्न यह होता है कि अनुमान उनको प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के विना सिद्ध है ? "यदि प्रमाण से सिद्ध है तो वह अनात्म सिद्ध नहीं है" पर के समान आप चार्वाक वादी को भी स्वयं सिद्ध है क्योंकि जो प्रमाण से सिद्ध है वह सभी के संवाद का विषय है अर्थात् उस प्रमाण से सिद्ध में किसी को भी विसंवाद नहीं हो सकता है । अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा । यदि प्रमाण से सिद्ध प्रत्यक्ष भी विसंवाद का विषय हो जावे तो वह अनात्म सिद्ध हो जावेगा, अर्थात् आत्म सिद्ध चार्वाक के द्वारा मान्य प्रत्यक्ष भी असिद्ध हो जावेगा ।

इसलिए जो पर—हम जैनादिकों को प्रमाण से सिद्ध है वह चार्वाक को भी आत्मसिद्ध है । जैसे प्रत्यक्ष और पर का अनुमान प्रमाण सिद्ध है इसलिए अनात्म सिद्ध नहीं है । **अन्यथा—प्रमाण के बिना हम जैनादि को भी सिद्ध नहीं होगा*** । क्योंकि अति प्रसंग ही आता है । तथाहि ।

"जो प्रमाण के विना सिद्ध है वह पर—हम जैनादिकों को भी सिद्ध नहीं है जैसे उसका अनभिमत

---

१ चार्वाक आह—जैनादिप्रसिद्धम् । २ जैनादेः । ३ चार्वाकस्यापि । ४ कुतः ? यतः । ५ यथा प्रत्यक्षम् । ६ अतिप्रसङ्गं विवृणोति । ७ आत्मसिद्धस्य चार्वाकस्वीकृतस्य प्रत्यक्षस्याप्यसिद्धत्वं घटेतेत्यर्थः ८ जैनादेः ।

---

(1) वादिप्रतिवादिनां ।

तस्मान्नानात्मसिद्धम् । [1]**अन्यथा परस्यापि**[2] **न सिद्धयेत्,*** अतिप्रसङ्गादेव । तथा हि ।— यत् प्रमाणमन्तरेण सिद्धं तत्परस्यापि न सिद्धम् । यथा तदनभिमततत्त्वम् । प्रमाणमन्तरेण सिद्धं च परस्यानुमानम् । [1]तन्न सिद्धं [3]स्वयमनभिमततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्[4] ।

[चार्वाक: इन्द्रियप्रत्यक्षेण सर्वत्र सर्वज्ञाभावं कथं साधयेत् ? अस्य विचार: क्रियते ।]

[5]तदिमे स्वयमेकेन प्रमाणेन[6] **सर्वं सर्वज्ञरहितं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं**[7] **निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्,**[2]* अतिप्रसङ्गादेव । [8]स्वयमनिष्टं ह्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमेषां[9]स्यात्, [10]इन्द्रियप्रत्यक्षेण

तत्त्व । और पर का अनुमान, प्रमाण के विना सिद्ध है इसलिए सिद्ध नहीं हैं अन्यथा स्वयं को अनभिमत तत्त्व की सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् चार्वाक के लिये अनभिमत तत्त्व अनुमान और पर लोकादि हैं उनकी भी सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा ।

भावार्थ—यहाँ चार्वाक ने कहा कि हम स्वयं अनुमान तो मानते नहीं हैं किन्तु बौद्ध, वैशेषिक आदिकों ने तो अनुमान प्रमाण माना ही है हम उन्हीं के अनुमान को उनसे लेकर शस्त्र बनाकर उन्हीं लोगों के मान्य अनुमान, तर्क, आगम आदि प्रमाणों को और सर्वज्ञ, ईश्वर, कपिल, बुद्ध के अस्तित्व को धराशायी कर देते हैं अत: हमारे ऊपर कोई दोषारोपण नहीं कर सकता है । तब जैनों ने प्रश्न किया कि भाई ! आप हम लोगों के द्वारा स्वीकृत अनुमान को ही लेकर यदि सर्वज्ञ आदि का अभाव कर रहे हो तब यह तो बताओ कि वह अनुमान हम और आप लोगों को प्रमाणीक है या नहीं ? यदि प्रमाणीक है तब तो प्रमाणीक वस्तु जैसे हमें प्रमाणीक है वैसे तुम्हें भी उसे प्रमाणीक ही मानना पड़ेगा क्योंकि मिश्री को मिश्री अमृत को अमृत जैसे हम कहते हैं वैसे ही आप भी तो कहते हैं और आपको भी उसका मधुर ही स्वाद आता है । यदि आप कहें कि वह अनुमान प्रमाण के विना ही सिद्ध है अर्थात् अप्रमाणीक है तब तो हम लोग भी उसे प्रमाण की कोटि में कैसे रखेगें और आप हमारे द्वारा मान्य समझ कर उसे लेकर उसी से सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेंगे ? अत: भाई ! यदि आप स्वयं अनुमान को स्वीकार न करते हुए भी उस अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव करते हैं तब तो आपको परलोक, आत्मतत्व, सर्वज्ञ आदि भी यद्यपि इष्ट नहीं है तो भी अनुमान के समान इन्हें भी मान लेना चाहिए पुन: आप नास्तिकवादी नहीं रहेंगे आस्तिकवादी ही बन जावेंगे ।

[चार्वाक इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सभी जगह सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेगा ? इस पर विचार किया जाता है]

इस प्रकार से ये चार्वाक स्वयं एक इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सभी पुरुष समूह को सर्वज्ञ रहित समझते हुए–जानते हुए ही अपना–इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप एक प्रमाणवादी के स्वरूप का ही निरसन कर देते

१ प्रमाणमन्तरेण २ जैनस्य । ३ अन्यथा । ४ चार्वाकेणानभिमतं तत्त्वमनुमानं परलोकादिश्च तस्य सिद्धिप्रसङ्गात् । ५ चार्वाका: । ६ इन्द्रियप्रत्यक्षेण । ७ इन्द्रियप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिस्वरूपम् । ८ स्वयमस्वीकृतमनभिप्रेतं वा । ९ चार्वाकाणाम् । १० अन्यथा ।

(1) तस्मात् । (2) विरुद्धं ।

सर्वज्ञरहितस्य पुरुषसमूहस्य [1]संवेदनानुपपत्तेः [2]प्रमाणान्तराभावस्येव प्रमाणान्तरमन्तरेण । इति सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञत्वाभावं प्रत्यक्षतः संविदन् स्वयं सर्वज्ञः स्यात् । तथा सति व्याहतमेतत् [3]सर्वज्ञप्रमाणान्तराभाववचनं चार्वाकस्य । प्रत्यक्षैकप्रमाणैषणं[4] वा व्याहत-

---

हैं इसलिए यह सिद्धान्त विरुद्ध ही है * एवं अति प्रसंग दोष आ जाता है। क्योंकि स्वयं अनिष्ट-अस्वीकृत अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान ही पुनः आप चार्वाक लोगों को हो जावेगा।

अन्यथा—इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा तो 'सभी पुरुष सर्वज्ञ रहित हैं' यह ज्ञान हो नहीं सकता है, जैसे प्रमाणांतर-तर्क, अनुमान, आगम आदि के बिना प्रमाणांतर के अभाव का भी ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के बिना मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हो नहीं सकता है।

इस प्रकार से सर्वत्र—सभी जगह, सर्वदा—सभी काल में सभी के सर्वज्ञपने के अभाव को प्रत्यक्ष से जानते हुए वे चार्वाक स्वयं ही सर्वज्ञ हो जावेंगे। पुनः ऐसा होने पर सर्वज्ञ और भिन्न प्रमाणों के अभाव को कहने वाले आप चार्वाक के वचन विरुद्ध ही हो जाते हैं।

भावार्थ—जैनाचार्य चार्वाक से प्रश्न करते हैं कि—आप चार्वाक महोदय ! सारे विश्व के सभी पुरुषों को इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ रहित सिद्ध करते हैं या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ? अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो आप मानते ही नहीं। एवं इन्द्रिय प्रत्यक्ष से कहो तो आप और हम सभी का इन्द्रिय प्रत्यक्ष विश्व के सभी पुरुषों को देखने में समर्थ ही नहीं है और यदि जबरदस्ती समर्थ मानों तब तो पहले आप अपने प्रत्यक्ष से सारे विश्व के कोने-कोने को देखकर सारे पुरुषों के ज्ञान को प्रत्यक्ष करके आवो और निर्णय देवों कि यहां विश्व भर में कहीं पर कोई भी सर्वज्ञ नहीं है। और तब सारे विश्व को देख लेने से एवं जान लेने से आप ही तो सर्वज्ञ बन गये पुनः आप सर्वज्ञ का अभाव कैसे कह रहे हैं। अपने आप अपने अस्तित्व को समाप्त करना, अपने आप अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना तो आपको उचित नहीं है। इसी प्रकार से आपका इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान, आगम, तर्क परलोकादि को भी नहीं जान सकता है पुनः उन सबको जाने बिना उनका अभाव भी कैसे कर सकेगा ? यदि आप कहें कि जो वस्तु प्रत्यक्ष गम्य नहीं है उसी का हम अभाव करते हैं तब तो आपके दादा, पड़दादा आदि पुराने पुरुष (पुरखाजन) दिखते तो हैं नहीं उनका भी अभाव मानना पड़ेगा। और बाप, दादा की परंपरा माने बिना आप की उत्पत्ति भी कैसे हो सकेगी ? अत सर्वज्ञ भगवान्, अनुमान, तर्क, आगम आदि प्रमाण एवं परलोकादि का अस्तित्व आपको प्रेम से मान लेना चाहिये और अपनी एवं सभी की आत्मा के अस्तित्व को भी मान लेना चाहिये। बस ! आप आस्तिक्यवादी बन जावेंगे झगड़ा समाप्त हो जावेगा।

अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसी इच्छा भी आपकी विरुद्ध ही है क्योंकि देश, कालवर्ती

---

१ संवेदनं ज्ञानम्। २ अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण विना इन्द्रियप्रत्यक्षेणैव प्रमाणान्तराभावस्य संवेदनानुपपत्तिर्यथा। ३ ताद्विः। ४ वाञ्छनम्।

मस्य देशकालनरान्तरप्रत्यक्षाणां स्वयं प्रत्यक्षतः प्रामाण्यस्य साधने सर्वसाक्षात्कारित्वप्रसंगात्, संवादकत्वादिलिङ्गजनितानुमानात्तत्साधने अनुमानप्रामाण्यसिद्धिप्रसक्तेः[1], परस्य[१] प्रसिद्धेनानुमानेन तत्प्रमाणताव्यवस्थापने [२]स्वस्यापि तत्सिद्धेरनिवार्यत्वात् । अन्यथा[३] परस्यापि तदप्रसिद्धेः कुतः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं न [2]पुनरन्यदिति व्यवस्था स्यात् ?

नरान्तर-भिन्न देश कालवर्ती मनुष्यों के प्रत्यक्ष को स्वयं प्रत्यक्ष से प्रमाणभूत सिद्ध करने पर सभी को साक्षात्कार करने का प्रसंग आ ही जाता है। संवादक आदि हेतु से उत्पन्न अनुमान से उनको सिद्ध करने पर अनुमान को प्रमाणता की सिद्धि का प्रसंग आ जाता है।

हम जैनादिकों के यहाँ प्रसिद्ध अनुमान से उनको प्रमाण व्यवस्थापित करने में आप चार्वाक भी अनुमान को प्रमाणता की सिद्धि का निवारण नहीं कर सकते हैं अन्यथा हम जैनादिकों के यहाँ भी उसकी प्रसिद्धि न होने से प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, किंतु अन्य कोई प्रमाण नहीं है यह व्यवस्था भी कैसे हो सकेगी ? अर्थात् कुछ भी व्यवस्था नहीं बनेगी।

चार्वाक मत के खंडन का सारांश

चार्वाक—हमारे यहाँ ऐसा कथन है कि कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं है, न कोई आगम है, न वेद है अथवा न कोई तर्क, अनुमान आदि ही प्रमाण हैं। वस ! एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है कहा भी है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः॥

अतः एक देवता रूप वृहस्पति-गुरु ही प्रमाणभूत हैं क्योंकि वही प्रत्यक्ष से सिद्ध पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय का उपदेश देता है।

जैन—आपका यह कथन भी अप्रमाणीक ही है क्योंकि आपका प्रत्यक्ष सर्वज्ञ के अभाव को तथा अन्य आगम, अनुमान आदि के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता है। तथा आप स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण मानते हैं अतः आपके यहाँ स्वपर को ग्रहण करने वाला वृहस्पति-गुरू का ज्ञान प्रत्यक्ष है इसमें क्या प्रमाण है ? यदि आप कहो कि यह गुरू परंपरा से सिद्ध है तो हमारा भी सिद्धांत गुरू परंपरा से सिद्ध है क्या वाधा है ? तथा अनुमान को तो आपने माना ही नहीं है जो कि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध कर सके। आप कहें कि जैनादिकों के प्रसिद्ध अनुमान से हम सर्वज्ञादि का अभाव करेंगे तो यह वताओ कि प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण से असिद्ध ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो सभी के संवाद का विषय होगा क्योंकि प्रमाण से सिद्ध हैं अतः आप चार्वाक को भी प्रमाण मानना होगा। हम जैनादिकों को प्रमाण से सिद्ध आप चार्वाक को भी प्रमाणीक मानना होगा। यदि प्रमाण से असिद्ध कहो तो हम जैनादिकों को भी सिद्ध नहीं रहा। तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सभी पुरुष सर्वज्ञ रहित हैं यह ज्ञान तो हो नहीं सकता यदि आप चार्वाक "सर्वत्र सभी काल में कोई

---

१ जैनादेः। २ चार्वाकस्यापि। ३ (प्रमाणमन्तरेण प्रसिद्धेऽनुमाने सति जैनादेरपि। तत्प्रसिद्धिर्न स्यात् ततः)।

(1) प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी व्याहतः। (2) अतींद्रियप्रत्यक्षानुमानादिकं।

[1]**तथेष्टत्वाददोष** **[1]इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः** * । एके हि तत्त्वोपप्लववादिनः सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं [2]चोपप्लुतमेवेच्छन्ति । तेषां प्रमाणरहितैव तथेष्टिः [3]सर्वमनुपप्लुतमेवेतीष्टेर्न[2] विशिष्यते[4] । न[5] खलु प्रत्यक्षं [3]सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयम्, अतिप्रसंगात् । नानुमानम्, असिद्धेः । [6]सर्वं हि [4]प्रत्यक्षमनुमेयमत्यन्तपरोक्षं[7] च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानि प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेषाः । तेषामभावं [5]स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वा कथं व्यवस्थापयेद्यतस्तद्विषयं स्यात् ? तथा[6] सति सर्वं प्रमाणं

पुरुष सर्वज्ञ नहीं हैं" ऐसा कहेंगे तो आप स्वयं ही सभी देश, काल और पुरुष को जानने वाले होने से सर्वज्ञ हो गये क्योंकि "सर्वं जानातीति सर्वज्ञः" अतएव आप चार्वाक सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

[तत्त्वोपप्लववादी का खंडन]

जो शून्यवादी ऐसा कहते हैं कि ऐसा ही हमें इष्ट है अर्थात् हम कुछ भी प्रमाणादि नहीं मानते हैं इसीलिये कोई दोष नहीं है यह उनकी मान्यता भी अप्रमाणीक ही है।*

तत्वोपप्लववादी—सभी प्रत्यक्षादि प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व उपप्लुत—अभाव रूप ही हैं ऐसा हम स्वीकार करते हैं।

जैन—आपकी यह मान्यता प्रमाण से रहित ही है। "सभी तत्त्व उपप्लुत हैं" इस प्रकार की मान्यता "सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही हैं" इस मान्यता से विशिष्ट भिन्न नहीं है। जिस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी का "सभी तत्त्व उपप्लुत ही हैं" यह तत्त्व वचन मात्र से सिद्ध है उसी प्रकार से अन्य अतत्त्वोपप्लववादी जैनादिकों का "सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही हैं" यह तत्त्व भी वचन मात्र से सिद्ध ही है क्योंकि प्रमाणता या अप्रमाणता दोनों जगह समान ही है।

प्रत्यक्ष प्रमाण तो सर्वज्ञ और प्रमाणांतर के अभाव को विषय नहीं करता है, अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा।

अनुमान भी विषय नहीं करता क्योंकि वह असिद्ध है। "सभी—प्रत्यक्ष, अनुमेय और अत्यंत-परोक्ष वस्तु को जो जानते हैं वे सर्वज्ञ अर्थात् भिन्न प्रमाण कहलाते हैं वे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण विशेष हैं मतलब प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण विषय करता है, अनुमेय को अनुमान एवं अत्यंत

---

१ एकं शून्यमिच्छन्तीत्येकेपस्तेषामेकेषाम् (सांख्याभिप्रायेण जैनो ब्रूते)। २ इत्यपि वक्तुं शक्यत्वान्न विशिष्यते। यथा हि तत्त्वोपप्लववादिनां सर्वमुपप्लुतमेवेति वचनामात्रात् सिद्धं तथान्येषामतत्त्वोपप्लववादिनां सर्वमनुपप्लुतमेवेत्यपि वचनमात्रात् सिद्धं भवतु—अप्रामाण्यस्योभयत्र समानत्वात्। ३ सर्वज्ञानि च तानि प्रमाणान्तराणि तेषामभावः। ४ प्रत्यक्षविषयम्। ५ (स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वेति कर्तृपदम्)। ६ (अतिप्रसङ्गादिति) भाष्यपदं व्याख्याति) तदभावविषयत्वे सति ।

---

(1) प्रत्यक्षानुमानयोर्निराकरणेन। (2) वाचितं। (3) सांख्याभ्युपगतं। (4) यतः। इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। (5) तत्त्वोपप्लववादिनं प्रति वदति तव सर्वं शून्यं केन प्रमाणेन सिद्धं न तावत् प्रत्यक्षात् नाप्यनुमानात्तयोरनंगीकारात्। (6) प्रत्यक्षानुमानयोरसिद्धावपि किमिति सर्वज्ञप्रमाणांतराभावविषयतेत्याह। देशकालनरांतर। (7) स्वर्गादि।

सर्वस्य[1] स्वेष्टतत्त्वविषयं[2] भवेदिति कुतस्तत्त्वोपप्लवः ?

[परैर्मान्येन प्रमाणेन सर्वस्य तत्त्वस्याभावं करोति तत्त्वोपप्लववादी तस्य निराकरणं]

[3]परस्य सिद्धं प्रमाणं तदभावविषयमिति चेत्[4] तत् [5]परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाण-

परोक्ष को आगम प्रमाण विषय करता है अतः ये तीनों प्रमाण सर्वज्ञ कहलाते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण अपने प्रत्यक्षभूत विषय को पूर्णतया जानता है, अनुमान प्रमाण अपने अनुमेय विषय को पूर्णतया विषय करता है एवं आगम प्रमाण अत्यंत परोक्ष श्रुतज्ञान के विषय को पूर्णतया विषय करता है। अपने-अपने विषय में ये पूर्णतया ज्ञान कर लेते हैं अतएव ये तीनों प्रमाण यहाँ सर्वज्ञ कह दिये गये हैं। "सर्वं हि प्रत्यक्षमनुमेयमत्यंतपरोक्षं च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानि प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेषाः"।

आप शून्यवादियों के यहाँ स्वयं ही असिद्ध, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण इन तीनों प्रमाणों के अभाव को कैसे व्यवस्थापित करेंगे कि जिससे वे उस अभाव को विषय कर सकें ? अर्थात् नहीं कर सकते हैं। मतलब कोई भी प्रमाण जब अभाव को विषय ही नहीं कर सकता है तब वह प्रमाण तत्त्वों के अभाव को कैसे कर सकेगा ?

इस प्रकार से मानने पर सभी प्रमाण सभी जैनादि के अपने-अपने इष्ट तत्त्व को विषय करने वाले हो जावेंगे पुनः तत्त्व का उपप्लव कैसे हो सकेगा ?

विशेषार्थ—इस अष्टसहस्री ग्रंथ में आचार्य श्री विद्यानन्द महोदय ने तत्त्वोपप्लववादी का खंडन विशेष रूप में किया है। इसी प्रकार इन्होंने श्री श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में भी इसका खंडन किया है। स्थूल रूप से तो शून्यवाद और तत्त्वोपप्लववाद समान ही मालूम पड़ते हैं, किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर दोनों में कुछ अंतर झलकता है। इसी बात को स्वयं विद्यानन्द स्वामी ने श्लोकवार्तिक में प्रकट किया है। यथा—पदार्थों को सर्वथा नहीं मानना, विचार के पीछे-पीछे सबको शून्य कहते जाना शून्यवाद है और विचार से पहले व्यवहार रूप से सत्य मानकर विचार होने पर प्रमाण, प्रमेय आदि सभी पदार्थों को स्वीकार न करना तत्त्वोपप्लववाद है।

यह तत्त्वोपप्लववादी स्वयं स्वसंवेदन को भी प्रमाण स्वरूप से इष्ट होने का निर्णय नहीं करता है, तत्त्वों का समूल चूल अभाव कहने वाला उपप्लववादी एक तत्त्व को भी इष्ट नहीं करता है। केवल दूसरों के माने हुए तत्त्वों में कुप्रश्न उठाकर उनके खंडन करने में ही तत्पर रहता है। स्वयं अपनी गांठ का मत कुछ भी नहीं रखता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि अपने प्रमाण का कुछ भी निर्णय किये बिना दूसरे वादियों के तत्त्वों का खंडन करने के लिये केवल प्रश्नों की भरमार या आक्षेप उठाना भी तो नहीं बन सकेगा। जिसके यहाँ स्वयं कोई भी इष्ट तत्त्व निर्णीत नहीं किया गया है उसको कहीं भी संशय करना नहीं बन सकता है। भू भवन में जन्म लेकर वहीं पाला गया मनुष्य तो ठूंठ या पुरुष का अथवा चांदी या सीप का संशय नहीं कर पाता है।

१ जैनादेः। २ स्वकीयस्वकीयमतानुसारितत्त्वग्राहकम्। ३ आह तत्त्वोपप्लववादी। ४ जैनः। ५ जैनस्य।

मन्तरेण वा ? यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम, प्रमाणसिद्धस्य नानात्मनां वादि-प्रतिवादिनां सिद्धत्वाविशेषात् । [1]अन्यथा परस्यापि[2] न सिद्धचेत्, प्रमाणमन्तरेण सिद्ध-स्यासिद्धत्वाविशेषात् । तदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा सकलतत्त्वपरिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं[1] सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं[3] निरस्यन्तीति [2]व्याहतमेतत्—तथा[4] तत्त्वोपप्लववादित्वव्याघातात् ।

[उपप्लववादी तत्त्ववादिनं दूषयति]

[5]ननु चानुपप्लुततत्त्ववादिनोपि[6] [7]प्रमाणतत्त्वं च प्रमेयतत्त्वं प्रमाणतः सिद्धचेत् प्रमाण-

---

[तत्त्वोपप्लववादी जैनादिकों के द्वारा मान्य प्रमाण को लेकर उन्हीं के तत्त्वों का अभाव सिद्ध कर रहा है, उसका निराकरण]

तत्त्वोपप्लववादी—पर—जैनादि के यहाँ सिद्ध प्रमाण से हम उन सभी वस्तुओं के अभाव को विषय कर लेंगे।

जैन—यदि ऐसा कहो तो वे पर के यहां सिद्ध प्रमाण, प्रमाण से सिद्ध हैं या प्रमाण के विना ही सिद्ध हैं ?

यदि प्रमाण से सिद्ध हैं तब तो नाना आत्माओं को सिद्ध हैं, क्योंकि जो प्रमाण से सिद्ध है वह नाना आत्माओं को-वादी, प्रतिवादी सभी को ही सिद्ध है, कोई अंतर नहीं है। नानात्म शब्द से 'सभी जनों को' ऐसा अर्थ कर सकते हैं अथवा "अनात्म सिद्ध नहीं है" मतलब सभी आत्माओं को सिद्ध है। अन्यथा यदि कहो प्रमाण विना प्रमाण के ही सिद्ध है तव तो वह जैन के यहाँ भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि जो प्रमाण के विना सिद्ध है वह असिद्ध के समान ही हैं। उसे जैनादि भी कैसे मानेंगे ?

इस प्रकार से आप तत्त्वोपप्लववादी स्वयं किसी भी एक प्रमाण से अथवा स्व प्रसिद्धि मात्र से सकल तत्त्वों को बतलाने— जानने वाले प्रमाणों से रहित सभी पुरुषों के समूह को जानते हुए स्वयं अपने आपका ही खंडन कर देते हैं, इसलिये यह कथन व्याहत—विरुद्ध ही है। अर्थात् "सभी पुरुषों का समुदाय सभी तत्त्वों के ग्राहक प्रमाण से रहित है" इस प्रकार से जिसके द्वारा जान लिया गया वही तो प्रमाण है अतएव उसका भी खण्डन करता हुआ अपना ही विघात कर लेता है।

और यदि आप प्रमाण को स्वीकार करें तब तो तत्त्वोपप्लववादी हो नहीं रहेंगे, किन्तु प्रमाण को मान लेने से आस्तिकवादी ही हो जावेंगे।

[उपप्लववादी तत्त्ववादियों को दोष दे रहे हैं]

तत्त्वोपप्लववादी- अनुपप्लुत तत्त्ववादी आप जैनादिकों का भी प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व

---

१ प्रमाणं प्रमाणमन्तरेणसिद्धं चेत्। २ जैनस्य। ३ पुरुषसमूहः सकलतत्त्वविरहित इत्येवं येनावबुद्धं तदेव प्रमाणम् अत एवात्मानं निरस्यन्तीति। ४प्रमाणाङ्गीकारे। ५ तत्त्वोपप्लववादी प्राह। ६ जैनादेः। ७ "प्रमाणत्वं प्रमेयत्वम्" इति पाठान्तरम्।

---

(1) भेद। (2) विरुद्धं।

मन्तरेण वा ? प्रमाणतश्चेत्तदपि प्रमाणान्तरतः सिद्धयेदित्यनवस्थानात्कुतः प्रमाणतत्त्व-व्यवस्था ? यदि पुनः प्रथमं प्रमाणं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते तदेत-रेतराश्रयणान्नैकस्यापि व्यवस्था । [1]स्वतः प्रमाणस्य प्रामाण्यव्यवस्थितेरयमदोष इति चेन्न—सर्वप्रवादिनां तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । कुतश्चित्प्रमाणात्तद्विप्रतिपत्तिनिराकरणे तत्रापि प्रमाणान्तराद् विप्रतिपत्तिनिराकरणेन भाव्यमित्यनवस्थानमप्रतिहतप्रसरमेव । [2]परस्परं विप्रतिपत्तिनिराकरणे चान्योन्यसंश्रयणं दुरुत्तरम् । प्रमाणमन्तरेण तु प्रमाणादि-तत्त्वं यदि सिद्धयेत्तदा तदुपप्लवव्यवस्थापि तथा दुःशक्या निराकर्त्तुम् । [1]स्यान्मतम्[1] ।

प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के विना सिद्ध है ? यदि कहो कि प्रमाण से सिद्ध है तब तो वह प्रमाण भी प्रमाणांतर से सिद्ध होगा इस प्रकार से अनवस्था के आ जाने से प्रमाणतत्त्व की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ?

यदि आप कहें कि प्रथम प्रमाण द्वितीय प्रमाण का व्यवस्थापक होगा और द्वितीय प्रमाण प्रथम की व्यवस्था कर देगा तब तो इतरेतराश्रय दोष आ जाने से एक की भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी । अर्थात् प्रमाण ज्ञान सच्चा है इसको वतलाने वाला दूसरा प्रमाण आया और वह दूसरा भी सच्चा है इस वात को वतलाने वाला तीसरा इत्यादि से अनवस्था होती है और यदि दूसरे ने पहले को सच्चा सिद्ध किया एवं दूसरे को पहले ने सच्चा कहा तव तो भाई ! दोनों मित्र एक दूसरे को सच्चा कह रहे हैं, किन्तु ये दोनों सच बोलते हैं यह वात हम कैसे मान लेवें ? यदि आप कहें कि प्रमाण की प्रमाणता स्वतः ही व्यवस्थित है अतः कोई दोष नहीं है, किन्तु आप ऐसा भी नहीं कहना अन्यथा सभी प्रवादियों को भी विसंवाद का अभाव हो जावेगा अर्थात् सभी के सभी इष्ट तत्त्व स्वतः ही सिद्ध हो जावेंगे ।

यदि आप कहें कि किसी एक प्रमाण से उस विसंवाद को दूर करेंगे तो वहां भी प्रमाणांतर ने विसंवाद को दूर करने के लिये भी प्रमाण चाहिए इस तरह से अनवस्था का प्रसार विना रोक टोक के ही हो जाता है ।

एवं प्रथम का द्वितीय से और द्वितीय का प्रथम प्रमाण से विसंवाद दूर करना मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, उसका निवारण भी आप नहीं कर सकते हैं ।

और यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि प्रमाण के बिना प्रमाणादि तत्त्व सिद्ध होते हैं, तव तो तत्त्वो-पप्लव की व्यवस्था का निराकरण करना भी शक्य नहीं है वह प्रमाण के बिना सिद्ध है ऐसा हम मानते हैं ।

१ (जैनपक्षमुपपाद्य तत्त्वोपप्लववादी इति चेन्नेत्यनेन खण्डयति) । २ प्रथमं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते । ३ जैनादेः ।

(1) परः मीमांसकादीनामभिप्रायमनूद्य दूषयति ।

"विचारोत्तरकालं प्रमाणादितत्त्वव्यवस्थितिः । विचारस्तु [1]यथाकथञ्चित्क्रियमाणो [2]नोपालम्भार्हः—सर्वथा[3] वचनाभावप्रसङ्गात्" इति । [4]एवं तर्हि तत्त्वोपप्लववादिनामपि विचारादुत्तरकालं तत्त्वोपप्लवव्यवस्था तथैवास्तु सर्वथा विशेषाभावात् ।

[तत्त्वोपप्लववादी आस्तिक्यवादिनां प्रमाणतत्त्वं दूषयति]

एवं च[1] तत्र [2]प्रमाणतत्त्वमेव तावद्विचार्यते[5] ।—कथं प्रमाणस्य प्रामाण्यम् ? [6]किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, बाधारहितत्वेन[7], [8]प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा[9] वा ?

[प्रथमस्य निर्दोषकारणजन्यत्व हेतोर्निराकरणं]

[10]यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन तदा सैव कारकाणामदुष्टता कुतोवसीयते ? न

यदि आप जैन ऐसा कहें कि "विचार के अनन्तर—उत्तरकाल में प्रमाणादि तत्त्व की व्यवस्था है और यथा कथंचित् प्रमाण से अथवा प्रमाण के विना हम लोगों के द्वारा स्वीकृत तत्त्व व्यवस्था उलाहना के योग्य नहीं है। अन्यथा सर्वथा वचनों के अभाव का ही प्रसंग आ जावेगा।" ऐसा कहने पर तो हम तत्त्वोपप्लवादी जनों के यहां भी विचार से उत्तरकाल में तत्त्वोपप्लव व्यवस्था उसी प्रकार से हो जावे सर्वथा दोनों में कोई अंतर नहीं है। अर्थात् जब हम विचार करते हैं तब प्रमाणादि तत्त्व हमें दिखाई देने लगते हैं ऐसा जैनादिकों की तरफ स्वयं तत्त्वोपप्लववादी ने समाधान किया है और पुनः उसमें दोषारोपण करने लगा कि इस प्रकार से तो हमारे यहाँ भी विचार करने के अनन्तर तत्त्वों का अभाव दिख रहा है उसे ही मान लीजिये क्या बाधा है ?

[अब तत्त्वोपप्लववादी आस्तिक्य वादियों के प्रमाण तत्त्व को दूषित करने की चेष्टा करता है]

तत्त्वोपप्लववादी— इस प्रकार से अब आपके प्रमाण तत्त्व का विचार किया जाता है। हम आप जैन लोगों से प्रश्न करते हैं कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे सिद्ध है ? अदुष्टकारक संदोह के द्वारा उत्पन्न होने से, बाधा रहित होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अन्यथा और किसी प्रकार से ?

[निर्दोष कारणजन्यत्व हेतु का खण्डन]

यदि निर्दोष चक्षु आदि की निर्मलता आदि कारक समूह के द्वारा प्रमाण में प्रमाणता उत्पन्न होती है, ऐसा आप कहो तब तो आपने उन कारकों की निर्दोषता कैसे जानी है, प्रत्यक्ष से या अनुमान से ?

प्रत्यक्ष से तो आप कह नहीं सकते क्योंकि नेत्रों की निर्मलतादि ज्ञान के कारण अतींन्द्रिय हैं। वह

---

१ प्रमाणेन प्रमाणमन्तरेण वा। २ जैनादिकृतः। ३ अन्यथा। ४ तत्त्वोपप्लववादी। ५ प्रमेयतत्त्वं च तिष्ठतु। ६ अदोषः चक्षुरादिनैर्मल्यम्। ७ एतत्पर्यन्तं विकल्पद्वयमिदं मीमाँसकापेक्षया। ८ अयं तृतीयविकल्पो नैयायिकमतापेक्षया। ९ अन्यथा—अविसंवादकत्वेनेत्ययं चतुर्थो विकल्पः सौगतमतापेक्षया। १० तत्त्वोपप्लववादिमतमालम्ब्य जैनः प्राह।

---

(1) च प्रमाणतत्त्वं इति पा.। (2) न प्रमेयतत्त्वं।

तावत्प्रत्यक्षान्नयन[1]कुशलादे:[१] संवेदनकारणस्यातीन्द्रियस्यादुष्टताया: प्रत्यक्षीकर्तु मशक्ते: । नानुमानात्, [2]तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । विज्ञानं[२] तत्कार्यं लिङ्गमिति चेन्न[३], [3]विज्ञान-

प्रत्यक्ष ज्ञान उनकी निर्दोषता को प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है । अनुमान से भी वह निर्दोपता ग्रहण नहीं की जाती है क्योंकि उसके अविनाभावी लिंग का अभाव है अर्थात् इंद्रियों से जिसे देख नहीं सकते उसका इसके साथ सम्वन्ध है इत्यादि कैसे निर्णय करेंगे और हेतु किसे वनायेंगे ?

विशेषार्थ—तत्त्वोपप्लववादी स्वयं कुछ तो मानता नहीं है फिर भी वैठे-वैठे जैन, मीमांसक आदि तत्त्ववादियों से कुतर्क कर रहा है । इसी वात को श्लोकवार्तिक ग्रंथ में श्री विद्यानन्द स्वामी ने अच्छो तरह से वतलाया है । यथा—"कथमव्यभिचारित्वं वेदनस्य निश्चीयते ? किमदुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वेन वाधारहितत्वेन प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वेति प्रमाणतत्त्वे पर्यनुयोगा: संशयपूर्वकास्तदभावे तदसंभवात्, किमयं स्थाणु: किं वा पुरुष इत्यादे: पर्यनुयोगवत् । संशयश्च तत्र कदाचित् क्वचिन्निर्णयपूर्वक: स्थाण्वादिसंशयवत् । तत्र यस्य क्वचित् कदाचिददुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वादिना प्रमाणत्वनिर्णयो नास्त्येव तस्य कथं तत्पूर्वक: संशय:, तदभावे कुत: पर्यनुयोगा: प्रवर्तेरन्निति न परपर्यनुयोगपराणि वृहस्पते: सूत्राणि स्यु: ।"

उपप्लववादी जन अंतरंग वहिरंग प्रमाण, प्रमेयतत्त्वों को मानने वाले जैन, मीमांसक, नैयायिक आदि के प्रति उपाय, उपेयतत्त्वों का खंडन करने के लिए इस प्रकार से कुप्रश्न उठाते हैं कि आप जैनादि अव्यभिचारी (मिथ्याज्ञान से भिन्न सच्चे) ज्ञान को प्रमाण मानते हैं । पुन: यह वतलाइये कि इस ज्ञान की सचाई का निर्णय आप लोग कैसे करते हैं ? क्या निर्दोष कारणों के समुदाय से ज्ञान वनाया गया है, इस कारण प्रमाण है या वाधाओं से रहित है अत: प्रमाण है ? अथवा जिसको जाने, उसमें प्रवृत्ति करे और उसी ज्ञेय रूप फल को प्राप्त करे या उस ज्ञान का सहायक दूसरा ज्ञान पैदा कर लें, इस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से वह ज्ञान प्रमाण है ? अथवा दूसरे प्रकारों से अविसंवादी आदि रूप से वह प्रमाण है ? आखिर प्रमाण को प्रमाणता का निश्चय आप लोग इन चार कारणों के सिवा तो कर नहीं सकते हैं अत: वतलाइये क्या वात है ?

इन चार प्रश्नों में प्रथम के दो प्रश्न तो मीमांसक के प्रति हैं क्योंकि मीमांसक ही इन दो वातों से प्रमाण की प्रमाणता मानता है अत: इसी मीमांसक और उपप्लववादी के कुछ देर तक प्रश्नोत्तर चलते रहेंगे ।

१ कौशलं नैर्मल्यम् । २ मीमांसक: । ३ तत्त्वोपप्लववादिमतमालम्ब्य जैन: प्राह् ।

(1)भावेन्द्रियरूप । द्वंद्व: । पुण्यादे: । (2) अदुष्टकारक । (3) शुक्तिकायां रजतज्ञानं कार्यलिङ्गं [illegible] व्यभिचार: ।

तीसरा प्रश्न नैयायिकों की मान्यता को लक्ष्य में रख कर किया गया है। एवं चौथा प्रश्न बौद्धों पर लागू हो जाता है। क्रमशः इन सभी पर विचार विमर्श करके उत्तर देने वाले वे लोग स्वयं ही उपस्थित हो जाते हैं। उपप्लववादी सभी की वात को समाप्त कर देता है। तव जैनाचार्य इन चारों प्रश्नों को महत्त्व न देकर अपना पक्ष रख देते हैं। खैर ! यहाँ पर तो आचार्य मुख्य रूप से इसी बात को वता रहे हैं कि आप उपप्लववादी के ये सभी प्रश्न उठाना संशय पूर्वक ही हो सकते हैं क्योंकि संशय के विना ये प्रश्न उठाना ही असंभव है। जैसे कि यह स्थाणु है या पुरुप ? और जहाँ कहीं भी किसी पदार्थ का आश्रय लेकर किसी को संशय होता है उस पदार्थ में पहले कभी न कभी किसी स्थल पर निर्णय अवश्य ही कर लिया गया है। जिस मनुष्य ने कहीं भी स्थाणु और पुरुप का ठीक-ठीकपूर्व में निश्चय कर लिया है वही मनुष्य कदाचित् सायंकाल के समय दूसरे ठूंठ को देखकर उसमें मनुष्य की ऊंचाई आदि के साधारण धर्मों को देखकर और विशेष धर्मों को न देखकर प्रत्युत स्मरण करके संशय कर लेता है। मतलव यह है कि जिसको कहीं भी कभी संशय होगा उसे किसी का पहले निर्णय अवश्य होना चाहिये और आप शून्यवादी या उपप्लववादी तो कुछ भी प्रमाण आदि का निर्णय ही नहीं मान रहे हैं पुनः यह प्रमाण निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है या वाधा रहित है इत्यादि रूप से हम लोगों के प्रति आपको संशय उठाने का भी क्या अधिकार है ? मतलव पूर्व में अपने कुछ तत्त्व या निर्णय को माने विना आप संशय भी नहीं कर सकते हैं। वस ! इतना ही कहते चलिये कि "प्रमाण नहीं है, प्रमाण नहीं है" इत्यादि।

इस प्रकार दूसरे आस्तिकों के इष्ट किये गये प्रमाण, प्रमेय को खंडन करने के लिये वृहस्पति के सूत्र दूसरे मतों के ऊपर कुप्रश्न करने के लिये तत्पर नहीं हो सकते हैं। यहाँ संभवतः वृहस्पति ने चार्वाक दर्शन का पोषण करके पीछे से सर्व तत्त्वों का उपप्लव स्वीकार किया है ऐसा मालूम पड़ता है एवं जव प्रमाण, प्रमेयतत्त्व, प्रश्न करना, संशय करना आदि व्यवस्थायें आपके यहां असंभव हैं तव तो यों ही पोल चलती जावेगी, सभी लोग अपने-अपने मतों को पुष्ट करते हुये मनमानी करते रहेंगे। पुनः आप यह भी नहीं कह सकेंगे कि सारा जगत् शून्य रूप है और देखिये !

"शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विना स्थितिः।
स्वयं क्वचिदशून्यस्य स्वीकृतेरनुपप्लुते ॥ १४७ ॥
शून्यातायां हि शून्यत्वं जातुचिन्नोपगम्यते।
तथोपप्लवनं तत्त्वोपप्लवेऽपीतरत्र तत् ॥ १४७ ॥ [श्लोकवार्तिक]

अर्थ— शून्यवाद और उपप्लववाद का सिद्ध करना विना अनेकांत के नहीं हो सकता है क्योंकि स्वयं के शून्यवाद का समर्थन और अशून्यवाद—आस्तिकवाद का खंडन तो आप करेंगे ही करेंगे। वस ! स्वपक्षसाधन और परपक्ष दूपण यही तो अनेकांत है और अनेकांत है क्या ? दूसरी वात और है कि आप अपने शून्य तत्त्व को अशून्य—सच्चा मानेंगे ही नहीं अन्यथा शून्य का शून्य होकर तो क्या वचेगा ? सोचिये !

सामान्यस्य तदव्यभिचारित्वाभावात्[१]। [२]प्रमाणभूतं [1]विज्ञानं तल्लिङ्गमिति चेत् [३]कुतस्तस्य प्रमाणभूततावसाय: ? [2]तददुष्टकारणारब्धत्वादिति चेत् सोयमन्योन्याश्रय: । सिद्धे विज्ञानस्य प्रमाणभूतत्वे निर्दोषकारणारब्धत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च प्रमाणभूतत्वसिद्धिरिति । [४]किञ्च

भाई ! यदि आप शून्यवाद को अशून्य न कहकर शून्य कह देंगे तब तो सभी तत्त्व व्यवस्था सच्ची हो जावेगी।

और शून्यवाद को अशून्य कहेंगे तो अनेकांत होकर भी कुछ तत्त्व व्यवस्था बन जाने से सर्वथा शून्यवाद नहीं रहेगा। वैसे ही उपप्लव को उपप्लव रहित मानने से ही आपकी इष्ट सिद्धि होगी अन्यथा उपप्लववाद का प्रलय होकर सभी तत्त्व सच्चे सिद्ध हो जावेंगे।

देखिये ! यदि झूठ बोलना झूठ सिद्ध हो जावे तो सत्यता का निर्णय हो जाता है। शत्रु का शत्रु अपना मित्र ही सिद्ध होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि इस उपप्लववादी का कर्त्तव्य जैन, मीमांसक आदिकों से प्रश्न करने का नहीं था फिर भी वह कर रहा है क्योंकि "उलटा चोर कोतवाल को डांटे" इस लोकोक्ति के अनुसार वह धृष्ट है। अच्छा ! अब प्रश्नोत्तर के ढंग को पढ़ते चलिये।

मीमांसक—विज्ञान उसका कार्य है वही हेतु है। बस ! हेतु से अनुमान बन जावेगा और अनुमान से हम कारणों की निर्दोषता जान लेते हैं।

तत्वोपप्लववादी—नहीं ! विज्ञान सामान्य उससे अव्यभिचारी नहीं है अर्थात् शुक्तिका में रजत—ज्ञान कार्य लिंग है वह कारण के दोष को सिद्ध करता है अत: व्यभिचारी है क्योंकि जो विज्ञान सामान्य है वह दुष्टता—सदोष ज्ञान में भी पाया जाता है।

मीमांसक—प्रमाणभूत विज्ञान उसका हेतु है सदोष ज्ञान नहीं।

तत्वोपप्लववादी—वह विज्ञान प्रमाणभूत है यह निश्चय किससे होगा ? यदि कहो निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से यह विज्ञान प्रमाण है ऐसा निश्चय होता है तब तो अन्योन्याश्रयदोष आ जाता है। विज्ञान के प्रमाणभूत सिद्ध हो जाने पर यह निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है यह बात सिद्ध होगी और निर्दोष कारणों से उत्पत्ति की सिद्धि होने पर ज्ञान प्रमाणभूत सिद्ध होगा। मतलब एक दूसरे के आश्रित होने से दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

दूसरी बात यह है कि चक्षु आदि कारणों को गुण और दोषों का आश्रय स्वीकार करने पर उसने

---

१ शुक्तिकायां रजतज्ञानं कार्यलिङ्गं कारणदुष्टतां साधयतीति व्यभिचारो, यतो विज्ञानसामान्यं दुष्टतायामपि वर्तते। २ मीमांसक:। ३ तत्त्वोपप्लववादी। ४ दूषणान्तरं तत्त्वोपप्लववादी (शून्यवादी) प्राह।

---

(1) विशेष:। (2) अदुष्टकारकारब्धत्वात् इति पा.।

चक्षुरादिकारणानां गुणदोषाश्रयत्वे[1] तदुपजनितसंवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तिर्न स्यात् गुणदोषाश्रयपुरुषवचनजनितवेदनवत् । गुणाश्रयतयैव[2] तन्निश्चये तदुत्थविज्ञाने [1]दोषाशङ्कानिवृत्तौ पुंसोपि कस्यचिद्गुणाश्रयत्वेनैव निर्णये तद्वचनजनितवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तेः[2] किमपौरुषेयशब्दसमर्थनायासेन[3]? अथ[4] पुरुषस्य गुणाधिकरणत्वमेवाशक्यनिश्चयं, परचेतोवृत्तीनां [5]दुरन्वयत्वात् तद्व्यापारादेः साङ्कर्यदर्शनात्,निर्गुणस्यापि[6]गुणवत इव[3] व्यापारादिसंभवादुपवर्ण्यते [7]तर्हि चक्षुरादीनामप्यतीन्द्रियत्वात्तत्कार्यसाङ्कर्योपलब्धेः कुतो [8]गुणाश्रयत्वनियमनिश्चयः

उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषों की आशंका निवृत्त नहीं हो सकेगी जैसे गुण और दोष के आश्रित पुरुषों के वचन से उत्पन्न हुये ज्ञान में शंका की निवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् किसी पुरुष में गुण और दोष दोनों ही हैं पुनः उसके वचन निर्दोष हैं यह बात कैसे बनेगी ? उसके वचनों में दोषों की शंका बनी ही रहेगी।

यदि आप चक्षु आदि में गुणों का ही निश्चय मानोगे तो उससे उत्पन्न हुये विज्ञान में दोष की आशंका निकल जावेगी और तब किसी पुरुष के भी गुणों का आश्रय निश्चित होने पर उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषों की आशंका नहीं रहेगी पुनः आप मीमांसक को अपौरुषेय शब्द—वेद के समर्थन के प्रयास से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

मीमांसक—पुरुष को गुणों का आधार निश्चित करना अशक्य है पर के मन की प्रवृत्तियों को जानना बहुत ही कठिन है उनके कार्य तथा व्यापारादि में संकर देखा जाता है। निर्गुणी में भी गुणवानों के समान व्यापारादि संभव हैं ऐसा कहा जाता है। अर्थात् पुरुष गुणों का आधार है उसमें गुण ही पाये जाते हैं यह कहना ठीक नहीं है। किसी निर्दोष पुरुष के व्यवहार सदोष पुरुष के समान दिख जाते हैं और किसी सदोष पुरुष के भी व्यवहार निर्दोष पुरुष के समान दिखते हैं पुनः पुरुष को भी गुणी निश्चित करना असंभव ही है।

शून्यवादी (तत्त्वोपप्लववादी)— तब तो चक्षु आदि भी अतींद्रिय हैं। उनके भी कार्य में संकर दोष उपलब्ध होने से चक्षु आदि इंद्रियों में गुणों के आश्रितत्त्व नियम का निश्चय करना कैसे शक्य होगा ? किसी अपौरुषेय भी ग्रहोपरागादि को शुक्ल वस्त्रादि में पीत ज्ञान का हेतु मानना उपलक्षण है। अपौरुषेय वेद में भी मिथ्या ज्ञानत्व हेतु की संभावना करने पर आप याज्ञिक— मीमांसकों को उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय निःशंक रूप से कैसे होगा ? इसलिये निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से किसी प्रमाण को प्रमाणता है यह कहना शक्य नहीं है अर्थात् यदि आप ऐसा कहें कि वेद अपौरुषेय हैं

---

१ अङ्गीकृते। २ भो मीमांसक चक्षुरादीनां गुणाश्रयतयैव। ३ मीमांसकस्य। ४ मीमांसकः। ५ दुरधिगमत्वात्। ६ कुतः ? यतः। ७ तत्त्वोपप्लववादी। ८ चक्षुरादीनाम्।

---

(1) अंगीक्रियमाणायां सत्यां। (2) हेतोः। (3) व्याहारं।

शक्यः कर्त्तुम् ? [1]कस्यचिदपौरुषेयस्यापि च ग्रहोपरागादेः[1] शुक्लवस्त्रादौ पीतज्ञानहेतोरुपलक्षणाद्वे[2]दस्यापौरुषेयस्यापि मिथ्याज्ञानहेतुत्वसंभावनायां कथमिव[3] निःशङ्कं याज्ञिकानां तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयः ? ततो नादुष्टकारकजन्यत्वेन कस्यचित्प्रमाणता ।

अतः प्रमाण हैं तब तो ग्रहोपरागादि (चंद्रमा के परिवेष आदि) भी विना पुरुष कृत अपौरुषेय ही हैं किंतु उन उपरागादि के निमित्त से श्वेतवस्त्रादि में पीत का ज्ञान हो जाता है अतः अपौरुषेयवेद में भी मिथ्याज्ञान की संभावना हो सकती है।

विशेषार्थ—मीमाँसक ज्ञान की प्रमाणता—सचाई का निर्णय कई कारणों से मानता है। निर्दोष कारणों से उत्पन्न होना और वाधा का न होना। यहाँ पर इन दो वातों पर तत्त्वोपप्लववादी ने वड़ी आपत्ति उठाई है। श्लोकवार्तिकालंकार में भी ग्रंथकार ने इसी विषय में स्पष्टीकरण किया है। तथाहि—

अदुष्टकारणारब्धमित्येतच्च विशेषणम्।
प्रमाणस्य न साफल्यं प्रयात्यव्यभिचारतः ।।७७।।

मीमांसक—मीमांसक ने प्रमाण के लक्षण में "निर्दोष कारणों से उत्पन्न होना" यह विशेषण दिया है, वह विशेषण उसके प्रमाण को निर्दोष सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकता है। जो ज्ञान दुष्ट कारणों से उत्पन्न होता है उसके द्वारा स्व और अर्थ का निर्णय होना ही असंभव है, अतः विद्यानंदस्वामी प्रमाण का लक्षण "स्वार्थव्यवसायात्मकं" स्व, अर्थ का निश्चायक इतना ही पर्याप्त मानते हैं, किन्तु मीमांसकों का कथन है कि—

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं वाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्ध प्रमाणं लोकसम्मतम् ।।"

अर्थात्—जो अपूर्व अर्थ को ग्रहण करने वाला है, निश्चित है, वाधा से रहित है, निर्दोष कारणों से जन्य है और लोक सम्मत है वही प्रमाण है।

इस प्रकार की मान्यता के कहने पर तो श्री विद्यानंद स्वामी स्वयं श्लोकवार्तिक में इन सभी विशेषणों को सदोष सिद्ध करते हुये अपने सम्यग्ज्ञान के लक्षण को निर्दोष सिद्ध करते हैं।

"तत्स्वार्थव्यवसायात्म ज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद् विशेषणम् ।।७८।।
गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ।।७९।।"

अर्थ—स्व और अर्थ को निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है इस प्रकार से इतने ही लक्षण से सभी

---

१ अपौरुषेयत्वाददुष्टकारणं वेदवाक्यम्। अतस्तज्जनितवेदने प्रामाण्-निश्चयो भविष्यतीत्याशंकायामाह।

---

(1) विग्रहो इति पा.। विग्रहो—युद्धं, उपरागो—ग्रहो राहुग्रस्ते त्विदौ पूष्णि चन्द्रः। (2) [illegible]। (3) वाक्यालंकारे।

प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। अन्य—सर्वथा अपूर्व अर्थ का ग्राहक होना, वाधा से रहित होना, लोक सम्मत होना, निर्दोषकारणों से जन्य होना इत्यादि विशेषण व्यर्थ ही हैं। जो ज्ञान गृहीत अथवा अगृहीत भी अपना और अर्थ का यदि निश्चय करता है तो वह ज्ञान लोक में और शास्त्रों में भी प्रमाणपने को नहीं छोड़ता है।

यहाँ इस वात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये कि आचार्य विद्यानंद महोदय "अपूर्वार्थ" विशेषण को महत्त्व न देकर केवल 'स्वार्थ' विशेषण को ही महत्त्व दे रहे हैं, फिर भी स्वयं आचार्य ने इसी ग्रंथ में स्थान-स्थान पर केवलज्ञान को भी अपूर्वार्थग्राही सिद्ध कर दिया है।

किसी ने कहा कि केवलज्ञान गृहीतग्राही होने से अप्रमाण है तब आचार्य ने कहा कि नहीं सभी ज्ञान सुनयों की अपेक्षा से अपूर्वार्थ ग्राही हैं और भी देखिये—

"तत्रापि केवलज्ञानं नाप्रमाणं प्रसज्यते।
साद्यपर्यवसानस्य तस्यापूर्वार्थतास्थितेः ॥९०॥
प्रादुर्भूतिक्षणादूर्ध्वं परिणामित्वविच्युतिः।
केवलस्यैकरूपित्वादिति चोद्यं न युक्तिमत् ॥९१॥
परापरेण कालेन संबंधात्परिणामि च।
संबंधिपरिणामित्वे ज्ञातृत्वे नैकमेव हि ॥

अर्थ—अपूर्वार्थ को जानने वाले उन ज्ञानों में केवलज्ञान अप्रमाण नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरण के पूर्ण क्षय से विवक्षित काल में उत्पन्न हुये सादि और अनंतकाल तक स्थित रहने वाले उस केवलज्ञान को अपूर्वार्थ का ग्राहक होना सिद्ध है। मतलव विशेषणों की अत्यल्प परावृत्ति हो जाने से उनको जानने वाले ज्ञान अपूर्वार्थ ग्राहक हो जाते हैं। थोड़ा विचार तो करो कि संसार में अपूर्व अर्थ कौन समझे जाते हैं? सभी द्रव्य पूर्वार्थ ही हैं, किंतु फिर भी सौन्दर्य, अधिक धनवत्ता, रूपवत्ता, प्रतिभा, विलक्षण तपश्चर्या, अद्भुत शक्ति, विशेष चमत्कार आदि धर्मों को धारण कर लेने से वे यथार्थ अपूर्वार्थ मान लिये जाते हैं। सूक्ष्म विचार करने पर तो अत्यंत छोटे अंश को भी नवीनता धारण करने पर पदार्थ को अपूर्वार्थता आ जाती है। जितनी जहाँ अपूर्वार्थ संभवती है उस पर संतोष करना चाहिये। अन्यथा, भक्ष्य, अभक्ष्य विचार, पतिव्रतापन, अचौर्य आदिक लोक व्यवहार सभी समाप्त हो जावेंगे। कोई कुतर्क कर रहा है कि "केवलज्ञान अपनी उत्पत्ति क्षण के अनन्तर परिणामी नहीं होता है ज्यों का त्यों रहता है क्योंकि त्रिकाल त्रिलोकवर्ती संपूर्ण पदार्थों को एक साथ जानकर पुनः एक रूप ही वना रहता है अतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणामित्व लक्षण वहाँ अघटित है पुनः अपूर्वार्थग्राही कैसे रहा? आचार्य कहते हैं कि यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि उत्तर-उत्तरवर्ती काल के साथ संवंध हो जाने से उत्पाद और व्ययरूप परिणाम घटित हो जाते हैं। केवलज्ञान की पूर्व समयवर्ती पर्याय का नाश हो जाता है और उत्तरकाल में नवीन

[द्वितीयस्य बाधारहितत्वहेतोः खंडनं]

नापि बाधानुत्पत्त्या, [1]मिथ्याज्ञानेपि [2]स्वकारणवैकल्या[1]द्बाधकस्यानुत्पत्तिसंभवात्[3]

पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार से संबंध विशिष्ट और परिणाम सहित होने से भी केवलज्ञानी ज्ञाता रूप से एक है यही ध्रुवता है एवं परिणमनशील ज्ञेय द्रव्यों के परिणमन से भी ज्ञान परिणामी होता है अतः अपूर्वार्थग्राही सिद्ध है।

एवं आचार्य श्री माणिक्यनंदी ने "परीक्षामुख सूत्र" में कहा है कि 'अपूर्वार्थ' विशेषण भी निष्फल नहीं है क्योंकि धारावाहिक ज्ञानों से अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पाती है अतः धारावाहिक ज्ञान को व्यावृत्ति करना ही उसका फल है। यों तो वह विशेषण केवल स्वरूप के निरूपण करने में तत्पर है फिर भी परस्पर विरोध दोष नहीं है।

यहाँ पर "निर्दोष कारणजन्यत्व" का निराकरण करते हैं। यदि ज्ञान के उत्पादक कारणों की निर्दोषता अन्य ज्ञान से जानी जाती है तब तो उस अन्य ज्ञान की निर्दोषता भीअन्य ज्ञान से जानी जावेगी पुनः यही धारा असंख्य ज्ञानों तक चलते-चलते बहुत बड़ी अनवस्था आकाश पर्यंत फैल जावेगी। यदि आप मीमांसक प्रथम ज्ञान के उत्पादक कारणों की निर्दोषता द्वितीय ज्ञान से जानेंगे और द्वितीय ज्ञान की निर्दोषता प्रथम ज्ञान से जानेंगे तब तो अन्योन्याश्रय दोप तैयार खड़ा है। अतः ज्ञान के उत्पादक चक्षु आदि इंद्रियों की निर्दोषता—निर्मलता आदि को न कोई प्रत्यक्ष (इंद्रिय-प्रत्यक्ष) से जान सकते हैं न अनुमान ज्ञान से।

दूसरी बात यह है कि अनेक भ्राँत ज्ञानों को उत्पन्न करने वाले कारणों को भी लोग निर्दोष समझ बैठे हैं। इसीलिये अनुमान से भी इस प्रकार संपूर्ण ज्ञानों की निर्दोषकारणों से उत्पत्ति होना नहीं जान सकते हैं क्योंकि उस अनुमान की भी निर्दोष कारणों से उत्पत्ति हुई है इस बात को भी जानना कठिन है। व्याप्ति ज्ञान की निर्दोषता का ज्ञान तो और भी कठिन है। चक्षु आदिक अतींद्रिय इंद्रियों की निर्दोषता जानना कठिन है। बाहर से किसी की निर्दोष चक्षु भी सदोप सदृश दीखती है और दूषित भी चक्षु निर्दोष सदृश दिख जाती है।

बौद्धादि भिन्न २ दार्शनिक सत्त्व हेतु से पदार्थो को क्षणिक, नित्य आदि सिद्ध करते हैं और जैनाचार्य इसी सत्त्व हेतु से सभी पदार्थों को "नित्यानित्य" सिद्ध कर देते हैं क्योंकि जैनों ने सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य माना है। तथा कामधेनु के समान इच्छित अर्थ को कहने वाले वेदवाक्यों ने ब्रह्मवादी अद्वैत को, कर्मकांडी क्रियाकांड को, हिंसा पोषकजन यज्ञ को आदि २ रूप से अनेक विद्वानों ने अपने २ मत पुष्ट कर लिये हैं। ये सभी अपने २ आगम ज्ञान के कारणों को निर्दोष मान बैठे हैं। अतः प्रत्यक्ष अनुमान, आगम ज्ञान के कारणों की निर्दोषता को समझना कठिन समस्या है।

---

१ मरीचिकायां जलज्ञाने। २ तद्देशोपसर्पणं स्वकारणं बाधककारणमित्यर्थः। ३ नेदं जलमिति।

---

(1) बाधस्य इति पा.।

प्रमाणत्वप्रसक्तेः । अथ[१] [1]यथार्थग्रहणनिवन्धना बाधानुत्पत्तिरप्रमाणाऽसंभविनी प्रमाणत्वसाधिनीति मतं, [२]कुतस्तस्याः[३] सत्यार्थग्रहणनिवन्धनत्वनिश्चयः ? [४]संविदः प्रमाणत्वनिश्चयादिति चेत् [५]परस्पराश्रयः । सति प्रमाणत्वनिश्चये संवेदनस्य यथार्थग्रहणनिवन्धनबाधानुत्पत्तिनिर्णयस्तस्मिंश्च सति प्रमाणत्वनिश्चय इति । [६]अन्यतः प्रमाणत्वनिश्चये किमेतया बाधानुत्पत्त्या ? [७]न च बाधानुत्पत्तेर्यथार्थग्रहणनिवन्धनत्वं स्वत एव निश्चीयते, [८]सन्देहाभावप्रसङ्गात् । दृश्यते च सन्देहः, किं [2]यथार्थग्रहणान्नोत्र[९] बाधानुत्पत्तिराहोस्वि-

पुनः यदि आप प्रश्न करें कि आप जैन प्रमाण की प्रमाणता कैसे मानते हैं तो इस पर ग्रंथकार स्वयं आगे समाधान करेंगे कि प्रमाण की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः है और अनभ्यास दशा में पर से होती है।

[बाधा रहितत्व हेतु का खंडन]

यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि "बाधा की उत्पत्ति न होने से प्रमाण में प्रमाणता आती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। मरीचिका में जल रूप मिथ्याज्ञान में भी अपने बाधक कारणों की विकलता–न्यूनता होने से "यह जल नहीं है" इस प्रकार से बाधक की उत्पत्ति असंभव होने से प्रमाणता का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् जैसे किसी ने दूर चमकती हुई बालू का ढेर देखा और वहाँ जाकर स्नान, पान आदि के लिये पानी का निर्णय नहीं किया अपने काम में लग गया। उसे बाधा की उत्पत्ति तो नहीं हुई कि "यह जल नहीं है" पुनः यह मिथ्याज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा किन्तु ऐसी बात तो है नहीं।

मीमांसक यथार्थ को ग्रहण करने में कारणभूत अप्रमाण में असंभवि अर्थात् प्रमाण में संभव रूप बाधा का उत्पन्न न होना ही प्रमाणता को सिद्ध करता है।

शून्यवादी- यदि ऐसा आपका मत है तब तो वह बाधा की अनुत्पत्ति सत्यार्थ को ग्रहण करने में कारणभूत है यह निश्चय भी कैसे होगा ?

मीमांसक ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय होने से हो जावेगा।

शून्यवादी—ऐसा मानने पर तो परस्पराश्रय दोष आता है प्रमाणता का निश्चय होने पर ज्ञान में यथार्थ ग्रहण निमित्तक बाधा की उत्पत्ति नहीं है ऐसा निर्णय होगा और बाधा की उत्पत्ति नहीं हैं इस बात का निश्चय हो जाने पर प्रमाणता का निश्चय होगा। इस प्रकार से दोनों की सिद्धि नहीं हो सकेगी। यदि अन्य प्रमाणांतर से प्रमाणता का निश्चय होना कहो तो पुनः इस बाधा की अनुत्पत्ति से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अर्थात् आपने बाधा की उत्पत्ति न होना इसी से ज्ञान को वास्तविक माना

१ मीमांसकः । २ तत्त्वोपप्लववादी । ३ तर्हीति शेषः । ४ मीमांसकः । ५ तत्त्वोपप्लववादी । ६ प्रमाणान्तरात् । ७ मीमांसकाभिप्रायं निराकुर्वन्नाह तत्त्वोपप्लववादी । ८ अन्यथा । ९ नः अस्माकम् ।

(1) ननु स्वकारणवैकल्पनिवंधना। (2) अन्यथा। न चैवं।

त्स्व[1]कारणवैकल्यादित्युभयसंस्पर्शिप्रत्ययोत्पत्तेः । [1]क्वचिद्दूरे मरीचिकायां जलज्ञाने स्वकारणवैकल्याद्बाधकप्रत्ययानुत्पत्तिप्रसिद्धेरभ्यासदेशे[2] तत्कारणसाकल्याद्बाधकज्ञानोत्पादात् ।

[अर्थज्ञानानंतरमेव बाधानुत्पत्तिः ज्ञानस्य प्रमाणतां ज्ञापयति सर्वदा वा ?]

[3]किञ्चार्थसंवेदनानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिस्तत्प्रामाण्यं व्यवस्थापयेत् सर्वदा वा ? न तावत्प्रथम-

---

है । अब ज्ञान में यथार्थता को ग्रहण करने से बाधा की उत्पत्ति नहीं है इस बात का निर्णय आप अन्य प्रमाण से मान रहे हैं । पुनः ज्ञान वास्तविक है इस बात को आप अन्य प्रमाण से ही क्यों न मान लीजिये, तब तो बाधा की अनुत्पत्ति हेतु से क्या कार्य सिद्ध होगा ? अर्थात् इससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा क्योंकि बाधा की उत्पत्ति न होने से यथार्थ ग्रहण निबंधनत्व स्वतः ही निश्चित नहीं होता है । अन्यथा संदेह का ही अभाव हो जावेगा, किन्तु संदेह तो देखा जाता है । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

हम लोगों को इस विषय में यथार्थ ग्रहण करने से क्या बाधा की उत्पत्ति नहीं है ? अथवा अपने बाधक कारणों की विकलता से बाधा की उत्पत्ति नहीं है ? इस प्रकार से उभय संस्पर्शि—संशय ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है । कहीं दूर स्थान पर मरीचिका में जल ज्ञान के होने पर अपने बाधक कारणों की विकलता से बाधक ज्ञान की उत्पत्ति न होना प्रसिद्ध है और समीप देश में अपने बाधक कारणों की सकलता—पूर्णता होने से बाधक ज्ञान उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है । जैसे किसी ने दूर से चमकती रेत को देखकर उसे जल समझ लिया किंतु वहाँ से पानी मंगाने का, स्नान आदि करने का उसे प्रसंग नहीं आया अतः उसमें बाधक कारण न मिलने से उस मिथ्याज्ञान में भी बाधा नहीं आती है और कोई मनुष्य निकट के तालाब के एक तरफ सूखी हुई चमकती रेत देख कर उसमें पानी भरने के लिये चल पड़ा, गया तो लज्जित होकर वापस आया, खिन्न होकर सोचने लगा कि मेरा जल ज्ञान गलत निकल गया । अतः इस व्यक्ति को निकट में बाधा के उत्पन्न हो जाने से जल ज्ञान में सचाई नहीं रही अतः हम लोगों को "बाधा की अनुत्पत्ति" में संशय बना ही रहता है ।

[बाधा की अनुत्पत्ति पदार्थ के ज्ञान के अनंतर ही ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है या हमेशा ही ? पुनरपि तत्त्वोपप्लववादी दूसरी तरह से प्रश्न कर रहे हैं]

दूसरी बात यह है कि अर्थ ज्ञान के अनंतर ही बाधा का न होना उस ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करता है अथवा सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति का न होना ? प्रथम विकल्प तो संभव नहीं है क्योंकि किसी मिथ्याज्ञान में भी अनंतर ही बाधा की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है । किसी ने सीप को चांदी समझा और तत्काल ही उसे गलाने, जेवर आदि बनाने का प्रसंग नहीं आया तो भी उस मिथ्याज्ञान को सच्चा नहीं माना जाता है ।

---

1 तद्देशोपसर्पणरूपबाधककारणस्य । 2 समीपे । 3 तत्त्वोपप्लववादी ।

---

(1) स्वकारणवैकल्यावस्थानं प्रदर्शयति ।

विकल्पः संभवति, मिथ्याज्ञानेपि क्वचिदनंतरं बाधानुत्पत्तिदर्शनात् । सर्वदा बाधानुत्पत्तेः संविदि प्रामाण्यनिश्चयश्चेन्न[1], [2]तस्याः प्रत्येतुमशक्यत्वात्, संवत्सरादि[3] विकल्पेनापि [1]बाधोत्पत्तिदर्शनात् । चिरतरकालं बाधस्यानुत्पत्तावपि स्वकारणवैकल्यात् कालान्तरेप्यसौ[4] नोत्पत्स्यते इति कुतो [5]निश्चयनीयः[2] ? क्वचित्तु मिथ्याज्ञाने [3]तज्जन्मन्यपि बाधा नोपजायते, [6]स्वहेतुवैकल्यात् । न [7]चैतावता [8]तत्प्रामाण्यम् ।

यदि दूसरा विकल्प लेवो कि सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति न होने से ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय होता है तब तो यह कथन भी ठीक नहीं है। सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति का नहीं होना यह समझना ही अशक्य है। संवत्सर-वर्ष आदिकों के भेद से भी बाधा की उत्पत्ति देखी जाती है। बहुत काल तक बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी अपने कारणों की विकलता होने से कालांतर में भी वह "बाधा का न होना" नहीं हो सकेगा—बाधा का न होना असंभव है। यह बात भी आप मीमांसक किस प्रमाण से निश्चित करेंगे ? अर्थात् सीप में चांदी का ज्ञान हो गया और यह कल्पना बहुत दिनों तक बनी रही। यह सीप है इस प्रकार की प्रतीति कराने वाला कारण नहीं मिल सका तो बाधा की उत्पत्ति नहीं भी होती है और बाधक कारण मिलने पर बाधा उत्पन्न हो भी जाती है। कहीं पर मिथ्याज्ञान में तो उस जन्म में भी बाधा उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि अपने हेतु की विकलता है। अर्थात् बाधक कारण नहीं भी मिलते हैं। एतावन्मात्र से—हमेशा बाधा की उत्पत्ति न होने मात्र से वह अर्थ ज्ञान प्रमाण हो जावे ऐसी बात भी नहीं है।

[एक देश में स्थित मनुष्य के ज्ञान में बाधा की अनुत्पत्ति प्रमाणता का हेतु है या सर्वत्र बाधा की उत्पत्ति न होना प्रमाणता का हेतु है ?]

दूसरी तरह से पुनः हम प्रश्न करते हैं कि किसी देश में स्थित ज्ञाता—मनुष्य को बाधा की उत्पत्ति न होना अर्थ ज्ञान में प्रमाणता का कारण है ? या सभी स्थान में रहने वाले पुरुषों की बाधानुत्पत्ति अर्थ ज्ञान में प्रमाणता का कारण है ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है अन्यथा किसी मिथ्याज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है कहीं दूर में ठहरे हुए पुरुष को बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी समीप में बाधा की उत्पत्ति देखी जाती है। सर्वत्र स्थित सभी देशों में रहने वालों को बाधा की उत्पत्ति नहीं है इसमें संदेह है क्योंकि समीप में बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी दूर में बाधा की उत्पत्ति संभव है।

१ तत्त्वोपप्लववादी। २ बाधानुत्पत्तेः। ३ भेदेन। ४ बाधानुत्पत्तिः। ५ तत्त्वोपप्लववादी मीमांसकं प्रत्याह—हे मीमांसक त्वया कुतः प्रमाणान्निश्चयनीयो द्वितीयोपि विकल्पः ?। ६ हेतुः बाधककारणम्। ७ सर्वदा बाधानुत्पत्त्या। ८ अर्थवेदनस्य।

(1) स्वकारणसाकल्यात्। शुक्तिकायां रजतज्ञाने। (2) असर्वविदेदं प्रत्येतुमशक्यमिति भावः (3) विवक्षितभवे ।

[एकस्मिन् देशे स्थितस्य मनुष्यस्य ज्ञाने बाधानुत्पत्तिः प्रामाण्यहेतुः सर्वत्र वा ?]

किञ्च क्वचिद्देशे स्थितस्य बाधानुत्पत्तिः प्रतिपत्तुः [१]सर्वत्र वार्थसंविदि प्रामाण्यहेतुः ? न तावत्प्रथमः पक्षः—[२]कस्यचिन्मिथ्यावबोधस्यापि [३]प्रमाणत्वापत्तेः । नापि द्वितीयः, कस्यचिद्दूरे स्थितस्य [1]बाधानुत्पत्तावपि समीपे बाधोत्पत्तिप्रतीतेः सर्वत्र स्थितस्य बाधानुत्पत्तिसन्देहात् । समीपे [2]बाधानुत्पत्तावपि दूरे बाधोत्पत्तिसंभावनाच्च ।

[कस्यचित् मनुष्यस्य बाधानुत्पत्तिः सर्वस्य वा ?]

किञ्च [3]कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः सर्वस्य वा ? न तावत्कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः[4] संविदि

दूसरा प्रश्न यह है कि—

[किसी को बाधा का उत्पन्न न होना ज्ञान में प्रमाणता का हेतु है या सभी को बाधा का न होना प्रमाणता का हेतु है ?]

किसी को बाधा की उत्पति नहीं है या सभी को ? किसी को बाधा की उत्पत्ति नहीं है यह बात ज्ञान में प्रमाणता का हेतु नहीं हो सकती है क्योंकि विपर्यय ज्ञान में भी यह बात मौजूद है। मरीचिकादि के जलज्ञान में देशांतर के गमन आदि से बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी प्रमाणता का अभाव है।

यदि दूसरा विकल्प लेवो की सभी को बाधा की उत्पत्ति का न होना ही अर्थज्ञान में प्रमाणता का हेतु है यह पक्ष भी ठीक नहीं है "सभी को बाधा को उत्पत्ति नहीं है" इस बात को अल्पज्ञ जनों के द्वारा जानना शक्य नहीं है अथवा शक्य मानों तो जो जानेगा वही मनुष्य सर्वज्ञ हो जावेगा। पुनः सभी के सर्वज्ञ हो जाने से "यह असर्वज्ञ (अल्पज्ञ) है।" यह व्यवहार ही समाप्त हो जावेगा क्योंकि सभी देश, कालवर्ती पुरुष की अपेक्षा से बाधकाभाव के निर्णय की सर्वज्ञ के साथ अन्यथानुपपत्ति है। इसलिए बाधा से रहित होने से ज्ञान प्रमाण है यह कथन ठीक नहीं है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी ने मीमांसक से प्रश्न किया कि आप ज्ञान को सच्चा कैसे मानते हैं ? तब मीमांसक ने कहा कि ज्ञान में बाधा की उत्पति नहीं होती है इसलिए उस ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध है। तब तत्त्वोपप्लववादी अनेकों प्रश्न उठा रहा है। पहले उसने कहा कि मिथ्याज्ञान में भी कभी-कभी बाधा की उत्पत्ति नहीं होती है तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो जावेगा ? देखिये ! कोई मनुष्य सीप को चाँदी समझकर उसे तिजोरी में रख देता है बहुत दिनों तक उसे चांदी ही मान रहा है तो क्या यह ज्ञान प्रमाण है ? यदि कहो कि बाधा का न होना—मतलब जैसे को तैसा ग्रहण करना, तब तो यह बात भी आप कैसे समझेंगे ?

यदि कहो ज्ञान में प्रमाणता है इस बात के निश्चय से हम समझ लेंगे कि यह सत्यार्थ को ग्रहण

---

१ दूरे समीपे च स्थितस्य प्रतिपत्तुर्बाधानुत्पत्तिः । २ पुंसः । ३ बाधककारणवैकल्यात् ।

(1) मरीचिकायां । (2) आसन्नतैमिरिकस्य (3) संविदि प्रामाण्यहेतुः (4) संविदि प्रामाण्यहेतुः ।

प्रामाण्यहेतुः, [1]विपर्ययेपि भावात् । मरीचिकादौ तोयज्ञाने [2]देशान्तरगमनादिना बाधानुत्पत्तावपि प्रमाणत्वाभावात् । सर्वस्य[१] बाधानुत्पत्तिरर्थसंवेदने प्रामाण्यकारणमिति चेन्न, तस्याः किञ्चिज्ज्ञैर्ज्ञातुमशक्तेः, शक्तौ वा तस्य सर्वज्ञत्वापत्तेरसर्वज्ञव्यवहाराभावप्रसङ्गात्[२] [3]सर्वदेशकालपुरुषापेक्षया[4] बाधकाभावनिर्णयस्यान्यथानुपपत्तेः[5] । इति न बाधारहितत्वेन संवेदनस्य प्रामाण्यम् ।

करने वाला है तो भी ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय,बाधा के न होने से है और बाधा का न होना ज्ञान की प्रमाणता से है मतलब अन्योन्याश्रय दोष आ गया। यदि ज्ञान की प्रमाणता बाधा के उत्पन्न होने से है और बाधा का न होना सत्यार्थ ग्रहण से है पुनः सत्यार्थ ग्रहण का निर्णय अन्य प्रमाण से है तब तो अनवस्था, चक्रक दोष आते ही रहेंगे ।

प्रश्न ऐसा भी होता है कि चांदी को चांदी और सीप को सीप रूप से ग्रहण करने से बाधा की उत्पत्ति नहीं है अथवा बाधक कारण नहीं मिलने से बाधा नहीं है ?

यह चांदी को चांदी ही समझ रहा है यह निर्णय भी कौन देवे ? यदि कहो बाधक कारण नहीं मिले हैं तब तो किसी ने सीप को चांदी मानकर बहुत दिनों तक पेटी में रख रखा, उसका उपयोग करने का अवसर नहीं मिला, बाधक कारण नहीं बनें फिर भी वह ज्ञान प्रमाणीक नहीं है ।

ऐसा भी प्रश्न होता है कि किसी पदार्थ को देखते ही जो ज्ञान होता है उसमें उसी क्षण बाधा उत्पन्न नहीं हुई इसलिए प्रमाणीक है या उसमें कभी भी बाधा उत्पन्न होगी ही नहीं इसलिये प्रमाणीक है ?

इस पर समाधान यह है कि किसी ने पुरुष को कुछ अंधेरे में ठूंठ समझा, उसी क्षण वा कुछ क्षण तक उसे उस ज्ञान में बाधा नहीं दिखी तो क्या वह ज्ञान सच्चा माना जावेगा ? अथवा किसी नें अपने शरीर और कुटुम्बियों को जीवन भर अपना मान रखा है तो क्या यह ज्ञान सच्चा है ?

दूसरी बात यह भी है कि कभी भी बाधा उत्पन्न नहीं होगी यह निर्णय कौन देवे ? हो सकता है कुछ दिन बाद उसे पुत्र की स्वार्थपरता देखकर वैराग्य हो जावे अतः मिथ्याज्ञान में कभी बाधा की उत्पत्ति हो भी जातो है और कभी नहीं भी होती है। कभी किसी को मिथ्याज्ञान में जन्म भर बाधा उत्पन्न ही नहीं होती है। सीप को चांदी ही समझता रहता है, किन्तु इतने मात्र से—बाधा के न होने मात्र से वह ज्ञान प्रमाणीक नहीं है ?

पुनः प्रश्न होता है कि कलकत्ते आदि किसी एक देश में रहने वाले मनुष्य को उस ज्ञान में बाधा नहीं है या सर्वत्र दिल्ली, बम्बई आदि में भी रहने वाले को उस ज्ञान में बाधा नहीं है ? इसका भी बड़ा मजेदार ही उत्तर है। कलकत्ते के मनुष्य ने सीप को चांदी समझा उसमें उसे बाधा नहीं दिखी तो क्या

---

१ द्वितीयविकल्पः । २ सर्वे सर्वज्ञा भवेयुरिति ।

---

(1) मिथ्याज्ञाने । (2) मरीचिकादेशतोऽन्यदेशांतरं । (3) निराकृतहेतूनां संग्रहो दर्शितः (4) पुरुषापेक्षबाधकाः इति पा. । (5) सर्वज्ञमन्तरेण

[तृतीयेन प्रवृत्तिसामर्थ्यहेतुना ज्ञानस्य प्रमाणत्वनिराकरणं]

[1]नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येन, [2]अनवस्थाप्रसक्तेः । [3]प्रवृत्तिसामर्थ्यं हि [4]फलेनाभिसम्बन्धः[5] [6]सजातीयज्ञानोत्पत्तिर्वा ? [7]यदि फलेनाभिसम्बन्धः सोवगतोनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत् ? न तावदनवगतः, अतिप्रसङ्गात्[8] । सोवगतश्चेत् [1]तत एव प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्तत एव, परस्पराश्रयानुषङ्गात्[2] सति फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमे[3] [9]तस्य प्रमाणा-

---

वह ज्ञान प्रमाण हो गया ? अथवा सर्वत्र भ्रमणशील मनुष्य ने या वहुत से जनों ने सीप को चांदी माना और सच्चानिर्णय नहीं कर सके, कुछ दिन वाधा नहीं आई, तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो गया ?

पुनरपि प्रश्न होता है कि एक व्यक्ति को किसी ज्ञान में वाधा नहीं आई, तो क्या इतने मात्र से वह ज्ञान प्रमाण हो गया या सभी को उसमें वाधा नहीं आई ?

यदि एक व्यक्ति के संवंध में वात है तो वही सीप में चांदी के विपर्यय ज्ञान में उसे वाधा नहीं दिखी तो क्या वह ज्ञान प्रमाण है ? यदि सभी को वाधा नहीं है ऐसा कहो तव तो आप मीमांसक पहले सर्वज्ञ वनो, सारे विश्व में सभी को देखो, फिर निर्णय दो । यदि आपको यह वात स्वीकार नहीं है तव तो आप अल्पज्ञ "सभी को इस ज्ञान में वाधा नहीं है" ऐसा निर्णय कैसे करोगे ? इस प्रकार से "वाधा की उत्पत्ति न होने से" ज्ञान में प्रमाणता आती है यह वात प्रमाण की कोटि में नहीं उतरती है इसप्रकार से तत्त्वो-पप्लववादी के मुख से जैनाचार्यों ने मीमांसक का खंडन कराया है ।

अव जैनाचार्य इस वात का निश्चय कराते हैं कि जहां पर "स्वार्थ निश्चायक ज्ञान" है वहां पर कोई भी वाधा नहीं आती है, वही ज्ञान प्रमाण है और जहां स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान का लक्षण नहीं है वहां पर वाधायें नहीं होते हुए भी ज्ञान प्रमाण नहीं है अप्रमाण ही है । इसलिये ज्ञान की प्रमाणता को वाधानुत्पत्ति से मानना ठीक नहीं है ।

[नैयायिक प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान की प्रमाणता मानते हैं उनका खंडन]

यदि आप नैयायिक तीसरा पक्ष मान्य करें कि प्रवृत्ति की सामर्थ्य से प्रमाण में प्रमाणता है तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनवस्था का प्रसंग आता है । अच्छा आप यह तो वताइये कि वह प्रवृत्ति की सामर्थ्य है क्या ? फल (स्नानपानादि रूप) से अभिसंवंध होना या पुरुष को सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति का होना ?

यदि फल से अभिसंवंध कहो तो वह अवगत—जानी गई होकर ज्ञान की प्रमाणता को वतलाती है

---

१ प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति नैयायिको ब्रूते । तं प्रत्याह तत्त्वोपप्लववादी । २ [illegible] । ३ तत्त्वोपप्लववादी काणादं प्रति पृच्छति । ४ सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्ध इति [illegible] । ५ स्नानपाना-दिना । ६ पुंसः । ७ तत्त्वोपप्लववादी । ८ पर्वतादौ धूमापरिज्ञानेप्यग्निनिश्चयप्रसङ्गात् । ९ विज्ञानस्य ।

---

(1) विवक्षितात् (2) अपरस्परानुषंगात् इति पा. । (3) प्रकृतमाने ।

त्वनिश्चयात् तस्मिंश्च सति [१]तेन [२]तदवगमात्। अन्यतः प्रमाणात्सोवगत इति [1]चेत्तदन्यत्प्रमाणं कुत; प्रामाण्यव्यवस्थामास्तिघ्नुते[३] ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति [2]चेत् तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोऽनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेदित्यादि पुनरावर्त्तत इति [४]चक्रकप्रसङ्गः । [3]एतेन[५] सजातीयज्ञानोत्पत्तिः प्रवृत्तिसामर्थ्यं संवित्प्रामाण्यस्यागमकं प्रतिपादितं, सजातीयज्ञानस्य प्रथमज्ञानात्प्रामाण्यनिश्चये परस्पराश्रयणस्याविशेषात्, [६]प्रमाणान्तरात्तत्प्रमाण्यनिर्णयेनवस्थानुषङ्गात् ।

या अनवगत–नहीं जानी गई को ? अनवगत (अज्ञात) तो आप कह नहीं सकते अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा अर्थात् पर्वतादि पर धूम को नहीं देखकर भी अग्नि का निश्चय हो जावेगा।

यदि कहो कि जो फल से अभिसंबंधित-जाना हुआ होकर ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध करता है तो वह उसी प्रमाण से अवगत–ज्ञात है या अन्य प्रमाण से ? उसी से ज्ञात तो आप कह नहीं सकते अन्यथा परस्पराश्रय दोष आ जावेगा। फल से अभिसंबंध का ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होगा और उसमें प्रमाणता का निश्चय होने से उस ज्ञान से फल के अभिसंबंध का निश्चय होगा। दूसरा पक्ष लेवो कि अन्य प्रमाण से वह जाना गया है तो वह अन्य प्रमाण भी किस प्रमाण से प्रमाणता को प्राप्त करता है ? यदि आप कहें कि प्रवृत्ति की सामर्थ्य से, तो पुनः वह प्रवृत्ति की सामर्थ्य भी यदि फल से अभिसंबंधित है तो वह अवगत होकर ज्ञान की प्रमाणता को कराती है या अनवगत–अज्ञात रहकर ? इत्यादि रूप से पुनः-पुनः उन प्रश्नों की आवृति होने से चक्रक दोष का प्रसंग आता है।

दो बार की आवृत्ति को परस्पराश्रय दोष एवं तीन बार की आवृति को चक्रक दोष कहते हैं।

इसी उक्त कथन से "सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति रूप प्रवृत्ति की सामर्थ्य ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है" इस कथन का भी निराकरण कर दिया है क्योंकि सजातीय ज्ञान में प्रथम ज्ञान से प्रमाणता का निश्चय मानने पर परस्पराश्रयदोष समान ही है। तथा उस सजातीय ज्ञान की प्रमाणान्तर-अन्य ज्ञान से प्रमाणता का निश्चय करने पर अनवस्था का प्रसंग दुर्निवार है।

---

१ विज्ञानेन। २ फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमात्। ३ प्राप्नोति। ४ चक्रकं विवृणोति।—तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदा सोवगतोनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत् ? यद्यनवगतस्तदातिप्रसङ्गः। सोवगतश्चेत्तत एवं प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्तत एवं परस्पराश्रयानुषङ्गात्। अन्यतः प्रमाणात्सोवगत इति चेत्तदन्यत्प्रमाणं कुतः प्रामाण्यव्यवस्थामास्तिघ्नुते ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत्तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोनवगतो वेत्यादिप्रकारेण वारत्रयमावर्त्तने चक्रकं दूषणं भवति। ५ प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य फलेनाभिसम्बन्धस्य निराकरणद्वारेण। ६ तत्र सजातीयज्ञाने।

---

(1) चेत्तदा तदन्यत्प्रमाणं इति पा.। (2) चेत्तत्प्रवृत्ति इति पा.। (3) फलाभिसंबंधलक्षणप्रवृत्तिसामर्थ्यनिराकरणपरेण ग्रंथेन।

[प्रवृत्तिशब्दस्य कोऽर्थ इति तत्त्वोपप्लववादी नैयायिकं पृच्छति]

[1]प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुः प्रमेयदेशोपसर्पणं प्रमेयस्य प्रतिपत्तौ स्यादप्रतिपत्तौ वा ? न तावदप्रतिपत्तौ, [2]सर्वत्र सर्वस्य(1) प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । [3]तत्प्रतिपत्तौ [4]चेन्निश्चितप्रामाण्यात्(2) संवेदनात्तत्प्रतिपत्तिरनिश्चितप्रामाण्याद्वा ? प्रथमपक्षे परस्पराश्रयणमेव, सति प्रवर्त्तकस्य(3) संवेदनस्य प्रामाण्यनिश्चये ततः प्रमेयप्रतिपत्तिः, सत्यां च प्रमेयप्रतिपत्तौ प्रवृत्तेः सामर्थ्यात्तत्प्रामाण्यनिश्चयात् । [5]प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ प्रथमसंवेदनस्य वैयर्थ्यं, स एव च [6]पर्यनुयोगोनवस्थापत्तिकरः । [7]द्वितीयपक्षे तु प्रामाण्यनिश्चयानर्थक्यं, स्वयमनिश्चितप्रामाण्यादेव संवेदनात्प्रमेयप्रतिपत्तिप्रवृत्तिसिद्धेः । [8]संशयात्प्रवृत्तिदर्शनाददोष इति चेत् [9]किमर्थमिदानीं

[प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी नैयायिक से प्रश्न करता है ।]

अच्छा ! आप यह तो बतलाइये कि प्रवृत्ति शब्द का अर्थ क्या है ?

नैयायिक– ज्ञाता मनुष्य का प्रमेय–जानने योग्य देश को प्राप्त करना प्रवृत्ति है ।

तत्त्वोपप्लववादी—तब तो वह ज्ञाता की प्रवृत्ति प्रमेय का ज्ञान होने पर प्रमेय देश को प्राप्त करती है या प्रमेय का ज्ञान नहीं होने पर ?

द्वितीय पक्ष लेवो तो सभी प्रमेयों (जानने योग्य पदार्थों) में सभी की प्रवृत्ति हो जावेगी । यदि प्रथम पक्ष लेवो कि प्रवृत्ति प्रमेय को जान कर उसमें प्रवृत्ति करती है तो प्रमाणभूत संवेदन से–सच्चे ज्ञान से उस प्रमेय का ज्ञान हुआ या अनिश्चित है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से ?

प्रथम पक्ष में तो परस्पराश्रय ही है । प्रवर्तक ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होने पर उससे प्रमेय का ज्ञान होगा और प्रमेय का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उसकी प्रमाणता का निश्चय होगा। मतलब दोनों में से एक भी सिद्ध नहीं होंगे ।

यदि आप नैयायिक प्रमाणांतर से उसका ज्ञान मानें तो प्रथम ज्ञान व्यर्थ ही हो जावेगा एवं वे ही पूर्वोक्त प्रश्न उठते रहने से अनवस्था आ जावेगी । द्वितीय पक्ष लेवो कि अनिश्चित है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से निश्चय होता है तो प्रमाणता का निश्चय करना ही व्यर्थ हो जावेगा क्योंकि आपने स्वयं अनिश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से ही प्रमेय ज्ञान में प्रवृत्ति स्वीकार कर ली है ।

नैयायिक—संशय ज्ञान से भी तो प्रवृत्ति देखी जाती है अतः कोई दोष नहीं है ।

शून्यवादी—पुनः किसलिये यहां प्रमाण की परीक्षा करना है, जबकि सच्चे और झूठे-संशयादि

---

१ तत्त्वोपप्लववादी इतः परं प्रवृत्तिं विचारयति । २ प्रमेये । ३ नैयायिकः । ४ तत्त्वोपप्लववादी । ५ भो नैयायिक । ६ प्रमाणान्तरस्यापि । प्रामाण्यप्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुरित्यादिग्रन्थावतारः । ७ अनिश्चित प्रामाण्यादिति । ८ नैयायिकः । ९ तत्त्वोपप्लववादी ।

---

(1) सर्वत्र स्थितस्य पुंसः । (2) वसः । (3) प्रवृत्तिहेतुत्वात् ।

प्रमाणपरीक्षणम् ? [१]लोकवृत्तानुवादार्थमिति[२] चेत्तर्हि[३] लोकवृत्तं[४] [५]कुतो निर्विवादं प्रसिद्धं यस्यानुवादार्थं प्रमाणशास्त्रप्रणयनम् ? न तावत्स्वत[६] एव, [1]प्रमाणतोर्थप्रतिपत्तौ[2] प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमिति[3] परतः [4]प्रामाण्यानुवादविरोधात् । [७]स्वतः प्रसिद्धं हि[८] प्रमाणप्रमेयरूपं लोकवृत्तं तथैवानुवदितु [९]युक्तं [१०]नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । [११]यथानूद्यतेस्माभिस्तथैव[१२] लोकवृत्तं प्रसिद्धं [१३]स्वत इति चेन्न, स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमित्य[१४]न्यैर्लोकवृत्तस्यानुवादात् [१५]तथैव प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । [१६]स मिथ्यानुवाद इति चेत् तवापि[१७] मिथ्यानुवादः कुतो न भवेत् ? [१८]तथा लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वादिति चेत् [१९]परोप्येवं ब्रूयात् । [5]तथैव

सभी ज्ञान प्रवृत्ति करा देते हैं।

नैयायिक—लोक की प्रवृत्ति को सार्थक करने के लिये ही प्रमाण की परीक्षा है । मतलब प्रवृत्ति तो सच्चे और झूठे-संशयादि सभी ज्ञानों से होती रहती है फिर भी लोक व्यवहार के लिये प्रमाण की परीक्षा की जाती है।

शून्यवादी—तब तो प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार भी किस प्रकार से निर्विवाद सिद्ध हैं जिसका अनुवाद—जिसको सार्थक करने के लिये प्रमाण शास्त्र की रचना की जावे। यदि आप कहें कि स्वतः है तो यह कथन भी आप कह नहीं सकते, क्योंकि प्रमाण से अर्थ का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अर्थवान् प्रमाण है इस प्रकार सिद्ध हो जाने से तो आपके सिद्धान्तानुसार ज्ञान में पर से प्रमाणता का मानना विरुद्ध हो जावेगा, क्योंकि स्वरूप से स्वतः ही प्रसिद्ध प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप लोक व्यवहार को उसी प्रकार से आपके प्रमाण शास्त्र में कहना युक्त है अन्यथा पर से प्रमाणता कहना युक्त नहीं होगा, क्योंकि अति प्रसंग आ जाता है।

नैयायिक - जिस प्रकार से (पर से प्रमाणता प्रकार से) हम लोग कहते हैं उसी प्रकार से ही लोक व्यवहार प्रसिद्ध है स्वतः नहीं है।

शून्यवादी—ऐसा नहीं कहना अन्यथा स्वतः ही सभी प्रमाणों में प्रमाणता आती है। इस प्रकार से अन्य मीमाँसक जनों ने जो लोक व्यवहार स्वीकार किया है उसी प्रकार से उसकी भी सिद्धि का प्रसंग

१ नैयायिकः । २ सार्थकम् । ३ तत्त्वोपप्लववादी । ४ प्रमाणप्रमेयरूपो व्यवहारो लोकवृत्तम् । ५ स्वतो वा परतो वा । ६ स्वरूपतः । ७ तत्त्वोपप्लववादी । ८ परतः प्रामाण्यानुवादविरोधं विवृणोति तत्त्वोपप्लववादी । ९ भवदीये प्रमाणशास्त्रे । १० परतः प्रकारेण । ११ नैयायिकः । १२ परतः प्रकारेण । १३ "नस्वतः" इति भाति । १४ मीमांसकैः । १५ सर्वप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यमिति प्रसिद्धिप्रसङ्गात् १६ स्वतोनुवादः । १७ नैयायिकस्य । १८ नैयायिकः । परतः प्रामाण्यप्रकारेण । १९ मीमांसकः ।

(1) प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणमितीदं नैयायिकप्रसिद्धं परतः प्रामाण्यापादकं वचनं । (2) सत्यां । (3) निश्चितप्रामाण्यं । (4) नैयायिकस्य । (5) परपरिकल्पितप्रकारेण ।

लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वे तथानुवादस्य सत्यत्वं, तत्सत्यत्वाच्च तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वमितीतरेतराश्रयत्वमप्युभयोः[1] समानम् । [2]तथा [3]लोकवृत्तान्तरात्तस्य[4] प्रसिद्धौ पुनरनवस्था दुर्निवारैव । इति न प्रवृत्तिसामर्थ्यात्संविदः प्रामाण्यनिश्चयानुवादो[5] युक्तः । ततो न प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यं व्यवतिष्ठते ।

आ जावेगा ।

नैयायिक - प्रमाणों की प्रमाणता स्वतः मानना मिथ्या है ।

शून्यवादी—आप नैयायिक की मान्यता (प्रमाणों की प्रमाणता पर से मानना) भी मिथ्या क्यों नहीं हो जावे ?

नैयायिक—नहीं ! क्योंकि पर से ही प्रमाण में प्रमाणता आती है यह लोक व्यवहार प्रसिद्ध है ।

शून्यवादी—तब तो मीमांसक भी इसी प्रकार से कह सकता है कि स्वतः ही प्रमाण की प्रमाणता प्रसिद्ध है । इस प्रकार सेआप दोनों—नैयायिक और मीमांसक समान ही हैं । दोनों ही अपनी-अपनी बात को सत्य कह रहे हैं ।पुनः पर से या स्वतः प्रमाण की प्रमाणता रूप से प्रमाण-प्रमेय रूप लोक व्यवहार के प्रसिद्ध हो जाने पर उसका वैसा ही कथन करना सत्य होगा और उसका वैसा ही कथन करना सत्य सिद्ध होने से उस प्रकार का प्रमाण-प्रमेय रूप लोक व्यवहार सिद्ध होगा । इस प्रकार से इतरेतराश्रय दोष तो नैयायिक और मीमांसक दोनों के यहां समान ही है ।

यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि प्रमाण-प्रमेय रूप लोकव्यवहार पर से निर्विवाद प्रसिद्ध है तब तो यह लोक व्यवहार अन्य लोक व्यवहार से सिद्ध होगा पुनः उसका कथन अन्य लोक व्यवहार से, इस प्रकार अनवस्था दुर्निवार ही है । इसलिये प्रवृति की सामर्थ्य से ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय सिद्ध नहीं हो सकता अतः प्रवृत्ति सामर्थ्य से प्रमाणता की व्यवस्था कथमपि शक्य नहीं है ।

भावार्थ—नैयायिक और वैशेषिक ज्ञान की प्रमाणता को प्रवृत्ति की सामर्थ्य से मानते हैं । उनका कहना है कि "प्रमाणतोऽर्थप्रतीतौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणं" अर्थात् ज्ञान से जलादि अर्थ को जानकर उसमें स्नान, पान, अवगाहन आदि रूप से प्रवृत्ति हो जाने की सामर्थ्य से प्रमाण ज्ञान अर्थवान्—प्रयोजनभूत प्रमाणीक है, किन्तु यहां तत्त्वोपप्लववादी उसकी इस मान्यता में अनेक दोष दिखाता है । नैयायिक का अभिप्राय है कि 'तालाब में जल है' इस प्रकार से ज्ञान हुआ अब यह ज्ञान सच्चा है या नहीं, इसका निर्णय कौन देवे ? उस तालाब के जल में प्रवृत्ति की सामर्थ्य है या नहीं अर्थात् स्नान पानादि क्रियायें हो सकती हैं या नहीं ? यदि हो सकती हैं तब तो उस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ही वह जलज्ञान सच्चा सिद्ध हुआ है अन्यथा नहीं, यदि उस जल में स्नानादि क्रियायें नहीं हो सकती हैं मतलब वहां जल न होकर चमकता हुआ बालू का ढेर है अतः वह ज्ञान झूठा सिद्ध है । इस प्रकार से यह नैयायिक

---

१ नैयायिकमीमांसकयोः । २ परतः प्रामाण्यप्रकारेण (द्वितीयविकल्पः) । ३ अन्यस्माल्लोकवृत्तात्तस्य । प्रकृतलोकवृत्तस्य ४ अनुवादस्य । ५ अनुकथनम् ।

प्रमाण की प्रमाणता को सर्वथा पर से ही मानता है।

इस विषय में जैनाचार्यों का तो इतना ही अभिप्राय है कि अभ्यस्त दशा में जलादि पदार्थों के ज्ञान की प्रमाणता स्वतः होती है और अनभ्यस्त दशा में पर से होती है।

यहां पर जैनाचार्यों ने तत्त्वोपप्लववादी के मुख से नैयायिक की मान्यता का खंडन कराया है। पहले प्रश्न यह हुआ है कि यह प्रवृत्ति की सामर्थ्य है क्या ? जल के ज्ञान में स्नान पानादि रूप फल से संबंधित होना या जल ज्ञान में सजातीय ज्ञान का होना ?

यदि स्नानादि रूप फल से संबंध होने को प्रवृत्ति की सामर्थ्य कहो तब तो वह जल ज्ञान से फल का सम्बन्ध जाना गया है या नहीं ? यदि अज्ञात कहो तो प्रवृति होना असंभव है। यदि कहो कि फल से सम्बन्धित प्रवृति की सामर्थ्य ज्ञात रूप होकर ज्ञान की प्रमाणता में हेतु है तब तो वह प्रवृति की सामर्थ्य किस ज्ञान से जानी गई है ? उसी ज्ञान से कहो तो अन्योन्याश्रय आयेगा और अन्य ज्ञान से कहो तो अनवस्था। यदि सजातीय ज्ञान का उत्पन्न होना प्रवृत्ति की सामर्थ्य है अर्थात् जलज्ञान की दृढ़ता को बतलाने के लिये जलज्ञान के समान दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति हो जाना सामर्थ्य है तब तो इसमें भी अनवस्था दोष आ जाता है क्योंकि सजातीयज्ञान रूप प्रवृत्ति सामर्थ्य की प्रमाणता अन्य सजातीय ज्ञान से होगी, पुनः उसकी प्रमाणता अन्य से, क्योंकि जब तक प्रवृत्ति सामर्थ्य के विज्ञान में प्रमाणता का निर्णय न होगा तब तक उस प्रवृति की सामर्थ्य से प्रथम ज्ञान की प्रमाणता भी सिद्ध नहीं होगी और अन्य ज्ञानों से प्रवृत्ति सामर्थ्य के ज्ञान में प्रमाणता मानने पर अनवस्था तैयार खड़ी है।

पुनरपि यह प्रश्न होता है कि प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? तब नैयायिक ने कहा कि मनुष्य जानने योग्य—जल के स्थान को प्राप्त कर लेवे इसका नाम प्रवृत्ति है, तब यह भी प्रश्न उठता है कि मनुष्य उस प्रमेय (जलाशय स्थानादि) को जानकर वहां जाता है या बिना जाने ? यदि बिना जाने कहो तब तो सभी के लिए सभी स्थान को प्राप्त करना प्रवृत्ति हो जावेगी। यदि जानकर कहो तो भी उस मनुष्य ने प्रामाणिक ज्ञान से उस प्रवृत्ति के प्रमेय—जल को जाना है या अप्रमाणीक ज्ञान से ? प्रथम पक्ष में अन्योन्याश्रय है। पहले ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध हो तब उससे जल का ज्ञान होगा और जल का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उस ज्ञान की प्रमाणता होगी और अन्य ज्ञान से प्रवृत्ति के ज्ञान की प्रमाणता मानने पर तो अनवस्था आ ही जाती है और अप्रमाणीक ज्ञान से जलादि प्रमेय ज्ञान में प्रवृति मानने पर तो ज्ञान को प्रमाणीक सिद्ध करना व्यर्थ ही है, तब नैयायिक ने यह बात भी मंजूर करली है उसने कहा कि हम संशयज्ञान से भी प्रवृति मानते हैं। केवल प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार बताने के लिये प्रमाणता का विचार करते हैं। इसी बात को श्लोकवार्तिक में भी कहा है यथा—

"अविज्ञातप्रमाणत्वात् प्रवृत्तिश्चेद् वृथा भवेत्।
प्रामाण्यवेदनं वृत्ते क्षौरे नक्षत्रपृष्टिवत् ॥१२०॥
अर्थसंशयतो वृत्तिरनेनैव निवारिता।
अनर्थसंशयाद्वापि निवृत्तिर्विदुषामिव ॥१२१॥"

[सौगतः अविसंवादित्वेन ज्ञानस्य प्रमाणतां मन्यते तस्य निराकरणं]

[१]नाप्यविसंवादित्वेन, [२]तदविसंवादस्यार्थक्रियास्थिति[३]लक्षणस्यानवगतस्य[1] प्रामाण्यव्यवस्था—हेतुत्वायोगात् । तस्यावगतस्य तद्धेतुत्वे [2]कुतस्तदवगमस्य प्रामाण्यम् ? संवादान्तरा-

अर्थ—नहीं जानी गई है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से यदि प्रवृत्ति होना माना जावे तो सर्वत्र प्रमाणता का निश्चय होना व्यर्थ है जैसे कि बालक का मुंडन कराकर फिर नक्षत्र पूछना व्यर्थ है। यदि नैयायिक कहे कि संशय ज्ञानों से भी प्रवृत्ति देखी जाती है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यदि संशय-ज्ञान से ही प्रवृत्ति होने लगे तो प्रमाण ज्ञान को कौन खोजेगा ? अतः जैसे अनर्थ के संशय (संभावना) से भी विद्वानों की अनुचित कार्यों से निवृत्ति हो जाती है वैसे ही इष्ट अर्थ के संशय से पदार्थों में प्रवृत्ति हो जानी चाहिए किन्तु ऐसा तो है नहीं। प्रेक्षापूर्वकारी-समझदार पुरुष संशय से प्रवृत्ति नहीं करते हैं। और तो क्या घास खोदने वाला मनुष्य भी विचार कर अपने इष्ट कार्य में प्रवृति करता है। अतः संशय आदि ज्ञान प्रवृत्ति को कराने वाले नहीं हैं, किन्तु नैयायिक की ऐसी विचारधारा है कि परलोकार्थ नित्य नैमित्तिककर्म, दीक्षा, तपश्चर्या आदि क्रियाओं के अनुष्ठान करने में निश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से प्रवृत्ति होती है और महायात्रा, संघ चलाना, विवाह, प्रतिष्ठादि कार्यों में अनिश्चित प्रमाणता वाले संदेह ज्ञान से प्रवृत्ति होती है। यद्यपि लौकिक और पारलौकिक दोनों ही कार्यों में क्लेश की बहुलता और धन का खर्च समान है तो भी प्रामाणिक ज्ञान और अप्रमाणीक ज्ञान की अपेक्षा अंतर है। नैयायिक की इस मान्यता में भी आचार्यों ने यही समझाया है कि परलोकार्थ निश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से प्रवृत्ति मानने में तो अन्योन्याश्रय दोष आता है और अनिश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से लौकिक कार्यों में प्रवृत्ति हो जाने पर तो ज्ञानों में प्रमाणता का ढूंढना ही व्यर्थ हो जाता है। संसार में जीव दो प्रकार के होते हैं। विचार कर प्रवृत्ति करने वाले पुरुष प्रेक्षावान्—बुद्धिमान् कहलाते हैं और बिना विचारे प्रवृति करने वाले पुरुष अप्रेक्षावान्—मूर्ख कहलाते हैं। इसलिए प्रमाणीक सच्चे ज्ञान की अपेक्षा, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानों में अंतर है ये ज्ञान मिथ्या कहलाते हैं इसका विशेष विवरण श्लोकवार्तिक से देखना चाहिये।

नैयायिक और मीमांसक के प्रमाणतत्त्व का विचार करके अब तत्त्वोपप्लववादी सौगत के प्रमाण तत्त्व का विचार करता है।

[सौगत अविसंवादित्व होने से ज्ञान की प्रमाणता मानता है उसका खंडन]

प्रारंभ में प्रमाणतत्त्व की विचारणा में चार प्रश्नों में अंतिम प्रश्न है कि क्या अन्यथा-अविसंवादी

---

१ मीमांसकनैयायिकयोर्मतस्य प्रमाणतत्त्वं विचार्येदानीं सौगतप्रमाणतत्त्वं विचारयन्ति ग्रन्थकृतः। २ यसः (कर्मधारयः) ३ अर्थक्रियासद्भावलक्षणस्य।

---

(1) प्रमाणस्वरूपेण। (2) अविसंवादावगमस्य।

दिति चेन्न, तदवगमस्यापि संवादान्तरात्प्रामाण्यनिर्णयेनवस्थाप्रसङ्गात् । [१]अथार्थक्रियास्थिति-[1]लक्षणाविसंवादज्ञानस्याभ्यासदशायां स्वतः प्रामाण्यसिद्धेरदोषः ।

[अभ्यासदशायां अविसवादज्ञानस्य प्रमाणता स्वतः सिद्धयति इति बौद्धः मन्यते तस्य निराकरणं]

[२]कोयमभ्यासो नाम ? भूयः संवेदने[2] संवादानुभवनमिति चेत् [३]तज्जातीयेऽतज्जातीये[४] वा ? तत्रातज्जातीये[५] न तावदेकत्र[६] संवेदने भूयः संवादानुभवनं संभवति [७]क्षणिकवादिनः ।

रूप से प्रमाण की प्रमाणता मानी जाती है । तो उस पक्ष को बौद्ध के द्वारा स्वीकार कर लेने पर तत्त्वोपप्लववादी कहते हैं कि यह मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ क्रिया का सद्भाव लक्षण (अर्थक्रिया को करने में समर्थ) जो अविसंवाद है वह ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करने में हेतु नहीं हो सकता है क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह अर्थक्रिया लक्षण अविसंवाद अज्ञात रूप — नहीं जाना गया रूप है या ज्ञात-जाना गया रूप है ? यदि कहो कि अविसंवाद नहीं जाना गया है तव तो वह ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध नहीं कर सकेगा ।

यदि कहो कि वह अविसंवाद अवगत (ज्ञात) होकर प्रमाणता की व्यवस्था में कारण है तव तो यह बताओ कि उस अवगत अविसंवाद ज्ञान को प्रमाणता किससे है ? यदि कहो भिन्न संवाद से है तव तो उस अवगम (अविसंवादज्ञान) की भी भिन्न संवाद से प्रमाणता निश्चित होने से अनवस्था आ जाती है ।

बौद्ध—अर्थ क्रिया के सद्भाव रूप अविसंवाद ज्ञान की अभ्यास दशा में स्वतः प्रमाणता सिद्ध है अतः कोई दोष नहीं है ।

[अभ्यास दशा में अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता स्वतः सिद्ध है इस प्रकार से बौद्ध मानता है उसका निराकरण]

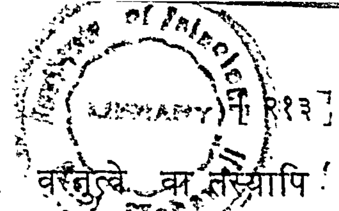
शून्यवादी—तव तो आप बौद्धों के यहां यह अभ्यास क्या वला है ? यदि आप कहें कि ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव होना अभ्यास है तव तो वह संवाद तज्जातीय सत्यरूप सामान्य ज्ञान में होता है या अतज्जातीय रूप विशेष में ? उसमें अतज्जातीय ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव मानने पर तो स्वलक्षण रूप एक क्षणवर्ती एक संवेदन में पुनः पुनः संवाद का अनुभव संभव ही नहीं है क्योंकि आप क्षणिक वादियों के यहां तो ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है अर्थात् आपके वहां एक क्षणवर्ती पर्याय को स्वलक्षण विशेष कहा है उसे जानकर ज्ञान उसी क्षण में समाप्त हो जाता है, क्योंकि वह वस्तु ही क्षणिक है पुनः उसमें वार-वार अनुभव कैसे वनेगा ?

बौद्ध—संतान की अपेक्षा से पुनः-पुनः अनुभव संभव है । अर्थात् बौद्ध वासना-संस्कार को सन्तान कहता है और वासना की अपेक्षा से तो पुनः-पुनः अनुभव शक्य है ।

शून्यवादी—ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि आपने तो स्वयं ही सन्तान को अवस्तु माना है अतः

१ बौद्धः । २ तत्त्वोपप्लववादी । ३ सत्यरूपे सामान्यरूपे । ४ विशेषरूपे । ५ संवेदने । ६ स्वलक्षणे । ७ उत्पन्नविनष्टत्वात् ।

(1) अर्थक्रियास्थितिलक्षणश्चासावविसंवादश्च । (2) जायमाने ।



[1]संतानापेक्षया[1] संभवतीति चेन्न, संतानस्यावस्तुत्वादपेक्षानुपपत्तेः। वस्तुत्वे वा तस्यापि क्षणिकत्वसिद्धेः कुतस्तदपेक्षया सोभ्यासः ? [2]सन्तानस्याक्षणिकत्वे वा यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति न सिद्धयेत्[2]। [3]तज्जातीये भूयः [4]संवादानुभवनमिति [5]चेन्न, [6]जातिनिराकरणवादिनः[7] [8]क्वचित्तज्जातीयत्वानुपपत्तेः। [9]अन्यापोहलक्षणया जात्या [10]क्वचित्तज्जातीयत्वमुपपन्नमेवेति [11]चेन्न, अन्यापोहस्यावस्तुरूपत्वात्, तस्य वस्तुरूपत्वे वा [12]जातित्वविरोधात् स्वलक्षणस्यासाधारणस्य[13] वस्तुत्वोपगमात्[14]। तदेवं[15] सामान्यतः प्रमाणलक्षणानुपपत्तौ विशेषेणापि प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपपत्तेर्न प्रमाणतत्त्वं विचार्यमाणं व्यवतिष्ठते। तदव्यवस्थितौ

उसकी (काल्पनिक की) अपेक्षा ठीक नहीं है अथवा उस सन्तान को वास्तविक मान भी लेवें तो वह संतान भी क्षणिक रूप ही सिद्ध हो जावेगी।

पुनः उस सन्तान की अपेक्षा से यह अभ्यास कैसे हो सकेगा अथवा यदि आप संतान को नित्य मान लेवें तो "यत् सत्तत् सर्वं क्षणिकं" यह प्रतिज्ञा वाक्य कैसे सिद्ध होगा ?

बौद्ध—तज्जातीयज्ञान में पुनः पुनः सत्यरूप संवाद का अनुभव होता है।

शून्यवादी—ऐसा नहीं कहना। आप जातिसामान्य का निराकरण करने वाले हैं अर्थात् अन्वयरूप द्रव्य का निषेध करने वाले हैं अतः आपके यहां कहीं पर भी अन्वय रूप से जातीय—सामान्य सिद्ध नहीं हो सकता है।

बौद्ध—अन्यापोह लक्षण जाति से किसी स्थिर, स्थूल आदि वस्तु में जातीयत्व वन ही जाता है।

शून्यवादी—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अन्यापोह तो अवस्तु है अथवा उसको वस्तु रूप मान लेने पर जाति का विरोध हो जावेगा क्योंकि आपने असाधारण—विशेषरूप स्वलक्षण को ही वस्तु रूप माना है।

भावार्थ—बौद्ध के यहां प्रमाण का लक्षण है "अविसंवादिज्ञानं प्रमाणं" उसी प्रकार से बौद्ध ने ज्ञान की प्रमाणता को अविसंवादी होने से सिद्ध किया है और अविसंवाद का अर्थ है अर्थक्रिया का सद्भाव। जैसे जल की अर्थक्रिया स्नानपानादि है। न्यायदीपिका में भी बौद्धों के द्वारा प्रमाण ज्ञान को अविसंवादी मानने में दोषारोपण किया गया है यथा "जो ज्ञान विसंवाद रहित है वह प्रमाण है" बौद्ध की इस मान्यता में

---

१ बौद्धः। २ हे बौद्ध। ३ बौद्धः। संवेदने। ४ सत्यरूपस्य संवादस्य। ५ तत्त्वोपप्लववादी। ६ सामान्यनिराकरणवादिनः। ७ अन्वयरूपद्रव्यनिषेधवादिनस्तव सौगतस्य क्वचिद्वस्तुनि अन्वयरूपता नोपपद्यते। ८ घटत्वपटत्वादिरूपेण। ९ बौद्धः। १० स्थिरस्थूलवस्तुनि। ११ तत्त्वोपप्लववादी १२ (जातिविरोधादिति पाठान्तरम्)। १३ विशेषस्य। १४ तव सौगतस्य मते। १५ पूर्वोक्तविकल्पचतुष्टयप्रकारेण।

---

(1) अपरामृष्टभेदानां पूर्वोत्तरक्षणानां मेलनं संतानः। (2) संतानेनानैकांतिकत्वमिति भावः।

असंभव दोष आता है क्योंकि बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं उनके यहां न्यायबिंदु में कहा है "द्विविधं सम्यग्ज्ञानं, प्रत्यक्षमनुमानञ्च" [न्याय बिन्दु पृ० १०] उसमें प्रत्यक्ष में तो अविसंवादीपना संभव नहीं है क्योंकि वह निर्विकल्प होने से अपने विषय का निश्चायक नहीं है अतः संशयादि रूप समारोपों का निराकरण नहीं कर सकता है और न उनके मान्य अनुमान में अविसंवादीपना संभव है। उनके मतानुसार वह अनुमान भी अवास्तविक सामान्य को विषय करने वाला है इस तरह से बौद्धों के प्रमाण का लक्षण असंभव दोष से दूषित होने से सम्यक् लक्षण नहीं है।

यहां तत्त्वोपप्लववादी यह प्रश्न कर सकता है कि जो अर्थक्रिया रूप अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता में कारण है वह अविसंवाद तुम्हें ज्ञात है या नहीं? यदि वह अविसंवाद अज्ञात रूप है तब तो वह ज्ञान की प्रमाणता को कैसे बतलायेगा? यदि कहो वह ज्ञात रूप है तो भी उस जाने गये अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता किससे है? यदि भिन्न संवादक ज्ञान से कहो तब तो अनवस्था आ जाती है। बौद्ध कहता है कि अर्थक्रियारूप जलज्ञान में स्नान, अवगाहन आदि का जो ज्ञान है वह अविसंवाद ज्ञान है और अभ्यास दशा में इसकी प्रमाणता स्वतः सिद्ध है तब तो प्रश्न यह हो जाता है कि अभ्यास का लक्षण आप बौद्ध क्या करते हैं? यदि कहो कि ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव होना अभ्यास है तो इस मान्यता में भी अनेकों दोष आ जाते हैं क्योंकि प्रश्न ये होंगे कि वह पुनः पुनः अनुभव ज्ञान सामान्यज्ञान में हो रहा है या स्वलक्षणभूत एक क्षणवर्ती विशेष में?

प्रथम पक्ष में तो आपके द्वारा मान्य सामान्य अवास्तविक है. उसमें पुनः पुनः अनुभव मानना अवास्तविक ही होगा। यदि द्वितीयपक्ष लेवो तो भी एकक्षणवर्ती पर्याय के ज्ञान में बार-बार क्या अनुभव आयेगा? यदि आवेगा तो वह ज्ञान स्थिर—नित्य हो जावेगा क्षणिक नहीं रहेगा। श्लोकवार्तिक में भी इसका खंडन किया है। "निश्चय करने की शक्ति को उत्पन्न न करते हुए ही अर्थ का अनुभव प्रमाण है क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान में अभ्यास की पटुता है" इस प्रकार से बौद्ध के कहने पर आचार्य कहते हैं कि इस मान्यता से तुम्हारी "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इस नियम में विरोध आता है। अर्थात् निर्विकल्पज्ञान जिस विषय में इस निश्चय रूप सविकल्प बुद्धि को उत्पन्न करा देगा उस ही विषय में यह निर्विकल्प ज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा। जैसे कि घट का प्रत्यक्ष हो जाने पर पीछे से उसके रूप, स्पर्श आदि में निश्चय ज्ञान उत्पन्न हो गया है अतः रूप और स्पर्श को जानने में निर्विकल्पज्ञान प्रमाण माना गया है किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तुभूत क्षणिकत्व को जान लेने पर भी पीछे से क्षणिकपने का निश्चय नहीं हुआ है अतः क्षणिक को जानने में प्रत्यक्ष की प्रमाणता नहीं है और यदि निश्चय को उत्पन्न नहीं करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रमाण मान लिया जावे तो "यत्रैव जनयेदेनां" इस ग्रंथ से विरोध आ जावेगा। "कश्चायमभ्यासो नाम? पुनः पुनरनुभवस्य भाव इति चेत् क्षणक्षयादौ तत्प्रमाणत्वापत्तिस्तत्र सर्वदा सर्वार्थेषु दर्शनस्य भावात् परमाभ्याससिद्धेः"। हम बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि आपके द्वारा मान्य अभ्यास क्या चीज है? विद्यार्थी कई बार बोल बोल कर घोषणा करते हुए पाठ याद करते हैं, मल्ल

कुतः प्रमेयतत्त्वव्यवस्थेति विचारात्तत्त्वोपप्लवव्यवस्थितिः ।

[अधुना जैनाचार्याः तत्त्वोपप्लववादं निरस्य स्वमतेन प्रमाणस्य प्रमाणतां साधयंति]

इत्येतदपि [1]सर्वमसारं, तत्त्वोपप्लवस्यापि [2]विचार्यमाणस्यैवमव्यवस्थितेरनुपप्लुत[3]तत्त्वसिद्धिनिराकरणायोगात्[4] । अथ[5] "तत्त्वोपप्लवः[6] सर्वथा न विचार्यः, तस्योपप्लुतत्वादेव[7] [1]विचारासहत्वादन्यथानुपप्लुततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्[8] । केवलं[9] तत्त्ववादिभिरभ्युपगतस्य प्रमाण-

व्यायाम का अभ्यास करते हैं। इसी प्रकार आपके प्रत्यक्षज्ञान का अभ्यास क्या है ? यदि पुनः पुनः प्रत्यक्ष रूप अनुभव की उत्पत्ति हो जाना तो क्षणिकत्व आदि में यह निर्विकल्पज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा क्योंकि संपूर्ण अर्थों में तदात्मक हो रहे उस क्षणिक रूप विषय में निर्विकल्प ज्ञान सदा होते रहते हैं। स्वलक्षणों से क्षणिकपन अभिन्न है। अतः क्षणिकत्व में तो बहुत बढ़िया अभ्यास सिद्ध हो रहा है किन्तु आप बौद्धों को तो ऐसा इष्ट नहीं है।

अंत में निष्कर्ष यह निकला है कि बौद्ध के यहां प्रमाण की प्रमाणता को अविसंवादीपने से स्वीकार करना ठीक नहीं है।

बौद्ध लोग प्रमाण की प्रमाणता स्वतः मानते हैं, नैयायिक प्रमाण की प्रमाणता पर से मानते हैं। मीमांसक उत्पत्ति और निश्चय दोनों ही अवस्थाओं में प्रमाणता स्वतः और अप्रमाणता पर से मानते हैं। सांख्य प्रमाणता को पर से और अप्रमाणता को स्वतः मानते हैं। इन विभिन्न मतावलंबियों का आचार्यों ने अन्यत्र प्रमेयरत्नमाला आदि में विशेषरूप से खंडन किया है और इस बात को सिद्ध कर दिया है कि ज्ञान में प्रमाणता की उत्पत्ति तो पर से ही होती है किन्तु प्रमाण में प्रमाणता का निश्चय तो अभ्यास दशा में स्वतः होता है एवं अनभ्यास दशा में पर से होता है ऐसा समझना चाहिये।

उपर्युक्त प्रकार से चारों प्रश्नों के उत्तर असिद्ध हो जाने पर तो सामान्य से प्रमाण का लक्षण सिद्ध न होने पर विशेष रूप से भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकते हैं अतः विचार करने पर प्रमाण तत्त्व की व्यवस्था करना कथमपि शक्य नहीं है और प्रमाण तत्त्व की व्यवस्था न होने पर प्रमेय तत्त्व की व्यवस्था भी कैसे हो सकेगी क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय कहाँ रहेगा ? इसलिये विचार करने पर तो सभी तत्त्वों का उपप्लव-प्रलय ही हो जाता है इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी ने अपना पूर्वपक्ष रखा है अब आचार्य उसका खंडन करते हैं।

[अब जैनाचार्य तत्त्वोपप्लववाद का खंडन करके अपने मत में मान्य ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध करते हैं]

जैन—आप शून्यवादी का यह सभी कथन असार (शून्यवत्) ही है। आपका तत्त्वोपप्लववाद भी विचार करने पर व्यवस्थित नहीं हो सकता है इसलिये आप अनुपप्लुत अबाधिततत्त्व की सिद्धि-निराकरण नहीं कर सकते हैं।

१जैनो वक्ति। २ वक्ष्यमाणप्रकारेण। ३ उपप्लुतो बाधितः। ४ तत्त्वोपप्लववादिनः। ५ परः। ६ शून्यवादः। ७ अभावरूपत्वादेव। ८ भो जैन। ९ तथापि विचारासहत्वे तत्त्वोपप्लवसिद्धिः कथमिति जैनेनोक्ते स आह।

(1) तत्त्वोपप्लवलक्षणं। तत्त्वशब्दस्यैव प्रतिपदमिदं न तु अनुपप्लुतशब्दस्य।

प्रमेयतत्त्वस्य विचाराक्षमत्त्वात्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः" इति मतं तदपि[१] फल्गुप्रायं, [२]यथातत्त्वमविचारितत्वात्[३] । न ह्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन[1] संवेदनस्य प्रमाणत्वं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, [2]बाधारहितत्वमात्रेण वा । नापि [3]प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा[४] [4]वा, प्रतिपादितदोषोपनिपातात् । किं तर्हि ? [५]सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेन । [६]न चेदं स्वार्थव्यवसायात्मनो ज्ञानस्य [७]दुरवबोधम् ।

[प्रमाणस्य प्रामाण्यमभ्यस्तविषये स्वतोऽनभ्यस्तविषये परतः इति मन्यमानेऽनवस्था परस्पराश्रयो वा न संभवति]

[5]सकलदेशकालपुरुषापेक्षया[6] सुष्ठु निश्चितमसम्भवद्बाधकत्वं हि प्रमाणस्याभ्यस्तविषये

शून्यवादी—हमारा तत्त्वोपप्लव सर्वथा विचार करने योग्य नहीं है क्योंकि उपप्लुत—वाधित—अभावरूप होने से ही परीक्षा को सहन करने में असमर्थ है अन्यथा अनुपप्लुत-सद्भाव रूप तत्त्व की सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा। केवल तत्त्ववादी—आप जैनों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण और प्रमेयतत्त्व विचार—परीक्षा को सहन नहीं कर सकता है अतः हमारे द्वारा मान्य तत्त्वोपप्लववाद ही सिद्ध होता है।

जैन—आप शून्यवादी का यह कथन फल्गुप्राय—व्यर्थ ही है क्योंकि यथातत्त्व—तत्त्व के अनुरूप आपने परीक्षा नहीं की है। हम स्याद्वादी जन ज्ञान की प्रमाणता का विचार उपर्युक्त चार विकल्पों से नहीं मानते हैं। अर्थात् अदुष्ट कारक संदोह से उत्पन्न होने से, वाधा रहित मात्र से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अविसंवादित्वादि प्रकार से हम जैन ज्ञान की प्रमाणता नहीं मानते हैं। अतः आपके द्वारा प्रतिपादित दोषों के प्रसंग हमारे यहाँ नहीं आते हैं।

शून्यवादी—तो फिर आप जैन किस तरह से ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध करते हैं।

जैन—हम जैन सुनिश्चितासंभवद्वाधक रूप से प्रमाण की प्रमाणता व्यवस्थापित करते हैं क्योंकि स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को इस प्रमाण से जानना कठिन नहीं है।

[प्रमाण की प्रमाणता अभ्यस्त दशा में स्वतः एवं अनभ्यस्त दशा में पर से है ऐसी मान्यता में अनवस्था अथवा परस्पराश्रय दोष नहीं आता है।]

कारण कि संपूर्ण देश काल के पुरुषों की अपेक्षा से प्रमाण का "सुष्ठु निश्चितमसंभवद्बाधकत्व" अभ्यस्त विषय में स्वतः ही निश्चित किया जाता है। जैसे स्वरूप का निश्चय स्वतः ही होता है और अनभ्यस्त विषय में पर से प्रमाणता आती है इस प्रकार से अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग

---

१ आह जैनः। २ तत्त्वमनतिक्रम्येत्युवते किं तत्त्वमुल्लङ्घ्य विचारितमित्यर्थः। ३ अविचारितत्वमग्रे दर्शयति। ४ अविसंवादित्वादिना। ५ प्रमाणस्य प्रामाण्यं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते इति शेषः। [६] जैनः पराभिप्रायं निराकरोति। ७ किन्तु सुघटमेवेत्यर्थः।

---

(1) मीमांसकाभ्युपगतेन। (2) न व.धा इति पा.। (3) नैयायिकाभ्युपगतेन। (4) अविसंवादित्वेन वा किमिति न प्रदिपादितं प्रमाणनिर्णये प्रतिपादितत्वात्। अन्यथा वा कथनं। (5) ईप्। (6) वर्तमान।

स्वत एवावसीयते स्वरूपवत्[1]। अनभ्यस्तविषये तु परत इति नानवस्थेतरेतराश्रयदोषोपनिपातः। स्वार्थव्यवसा[१]यात्मकत्वमेव हि सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वम्। तच्चाभ्यासदशायां न परतः प्रमाणात्साध्यते, येनानवस्था स्यात्, परस्पराश्रयो वा, तस्य स्वत एव सिद्धत्वात्। तथानभ्यासदशायामपि परतः[२] स्वयंसिद्धप्रामाण्याद्वेदनात् पूर्वस्य [३]तथाभावसिद्धेः कुतोनवस्थादिदोषावकाशः ?

[नित्यानित्यात्मन्यात्मनि अभ्यासानभ्यासौ उभौ अपि संभवतः]

[४]क्वचिदभ्यासानभ्यासौ[५] तु [2]प्रतिपत्तुरदृष्ट[६]विशेषवशाद्देशकालादिविशेषवशाच्च[3] भवन्तौ [७]सम्प्रतीतावेव, [८]यथावरणक्षयोपशममात्मनः सकृदसकृद्वा स्वार्थसंवेदनेऽभ्यासो-

नहीं आता है क्योंकि स्वार्थव्यवसायात्मकत्व ही सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व है अर्थात् व्यवसायात्मक पद से संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय का व्यवच्छेद हो जाता है और वह अभ्यास दशा में पर प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जाता है कि जिससे अनवस्था आ सके अथवा परस्पराश्रय दोष आ सके अर्थात् ये दोनों दोष नहीं आ सकते हैं क्योंकि वह असंभवद्बाधकत्व स्वतः ही सिद्ध है उसी प्रकार से अनभ्यास दशा में भी स्वयं सिद्ध प्रमाणता वाले ज्ञानरूप अन्य प्रमाण से पूर्व को तथाभाव–प्रमाणता सिद्ध है पुनः अनवस्था आदि दोषों को अवकाश कैसे मिल सकता है ? अर्थात् पर से प्रमाणता में वह पर प्रमाण स्वतः प्रमाणांतर रूप है अतः उसके लिये तृतीय की आवश्यकता न होने से अनवस्था असंभव ही है।

[कथंचित् नित्यानित्यात्मक आत्मा में अभ्यास–अनभ्यास दोनों ही संभव हैं।]

किसी विषय में अभ्यास और अनभ्यास ज्ञाता—पुरुष के अदृष्ट विशेष—भाग्य विशेष के निमित्त से और देश, कालादि की विशेषता से विद्यमान रूप प्रतीति में आ रहे हैं। अर्थात् ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव होना अभ्यास है और न होना अनभ्यास है। वे दोनों दृष्ट—देश, कालादि और अदृष्ट—भाग्य के निमित्त की विचित्रता से प्राणियों में देखे जाते हैं।

[अभ्यास और अनभ्यास का लक्षण]

आत्मा के स्वार्थ संवेदन में अपने-अपने आवरणों का क्षयोपशम एकवार या पुनः-पुनः होना अभ्यास कहलाता है। अथवा स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानावरण कर्म के उदय में ज्ञान के नहीं होने पर अथवा एक वार ज्ञान के होने पर या पुनः-पुनः ज्ञान के होने पर भी अनभ्यास देखा जाता है। अर्थात् मतिज्ञान में जो चौथा भेद है उसका नाम धारणा है, उस धारणा से संस्कार वने रहते हैं, शीघ्र विस्मरण नहीं होता है उसी का नाम अभ्यास है। एवं एकेन्द्रिय आदि जीवों के ज्ञानावरण कर्म का उदय विशेष-

१ व्यवसायात्मकत्वपदेन संशयविपर्ययानध्यवसायव्यवच्छेदः। २ अन्यप्रमाणात्। ३ प्रामाण्यसिद्धेः। ४ विषये। ५ ज्ञाने भूयः संवादानुभवनमभ्यासस्तदभावोनभ्यासः। दृष्टादृष्टनिमित्तानां वैचित्र्यादिह देहिनाम्। जायते क्वचिदभ्यासोनभ्यासो वा कथञ्चन। ६ अदृष्टःपुण्यादिर्ज्ञानावरणादिश्च। ७ बहुधानुभवविषयत्वं नीतावित्यर्थः। ८ क्रियाविशेषणम्।

(1) प्रमाण। (2) दृष्टादृष्टनिमितानां वैचित्र्यादिह देहिनां। जायते क्वचिदभ्यासोऽनभ्यासो वा कथंचन। (3)बाह्याद।

पपत्तेः । [1]स्वार्थव्यवसायावरणोदये[2] वाऽसंवेदने सकृत्संवेदने वा संवेदनपौनःपुन्येपि वाऽनभ्यासघटनात् । [3]पूर्वापरं (1)स्वभावत्यागोपादाना(2)न्वितस्वभावस्थितिलक्षणत्वेनात्मनः(3) [4]परिणामिनोभ्यासानभ्यासाविरोधात् । सर्वथा क्षणिकस्य नित्यस्य वा [5]प्रतिपत्तुस्तदनुपपत्तेरभीष्टत्वात्[6] । [7]नन्विदं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वं संवेदनस्य कथमसर्वज्ञो ज्ञातुं समर्थ इति चेत् [8]सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वं संवेदनमसुनिश्चितासम्भवद्बाधकमित्यप्यसकलज्ञः कथं जानीयात् ?

रूप से देखा जाता है अतः वे ज्ञान शून्य के सदृश मालूम पड़ते हैं, तथैव किसी को एक बार ज्ञान होना मतलब अवग्रह, ईहा, अवाय तक ज्ञान हो गया, धारणा नहीं बनी या बार-बार ज्ञान होने पर भी धारणा नहीं बनने से संस्कार दृढ़ नहीं हो सकते हैं इसी का नाम अनभ्यास है ।

तथा हम आत्मा को सर्वथा नित्य नहीं मानते हैं अतः एक ही आत्मा में अभ्यास और अनभ्यास दोनों ही संभव हैं । पूर्व स्वभाव का त्याग और अपर स्वभाव का उपादान उन दोनों में अन्वितस्वभाव की स्थिति इन तीन लक्षणों से नित्यानित्य रूप—परिणमन शील आत्मा में अभ्यास और अनभ्यास विरुद्ध नहीं हैं—अविरोध रूप से सिद्ध हैं । सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक रूप आत्मा में वे अभ्यास, अनभ्यास दोनों ही असंभव हैं ऐसा हमें अभीष्ट ही है क्योंकि सर्वथा नित्य या क्षणिक में अनभ्यासात्मक ज्ञान का परिहार करके अभ्यासात्मक ज्ञान को प्राप्त करने में विरोध ही है ।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी ने आस्तिक्य वादियों के प्रमाणतत्त्व की परीक्षा करने के लिये चार प्रश्न रखे थे कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे है निर्दोष कारणों से जन्य होने से ? इत्यादि । इन प्रश्नों को उठाकर उसने स्वयं सभी को दूषित कर दिया तब जैनाचार्य कहते हैं कि यदि हम इन कारणों से प्रमाण की प्रमाणता मानें तो ये उपर्युक्त दोष आवेंगे किंतु हम तो प्रमाण की प्रमाणता में अन्य ही कारण मानते हैं । वह अन्य कारण क्या है ? तब आचार्य ने कहा कि "जिसमें बाधा का न होना सुनिश्चित है ऐसे "सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व" से हम प्रमाण की प्रमाणता मानते हैं एवं प्रमाण का लक्षण विद्यानंद स्वामी ने "स्वार्थव्यवसायात्मक" किया है, जिसका अर्थ है स्व और अर्थ को निश्चय कराने वाला ज्ञान ही प्रमाण है । आचार्य अभ्यस्त-परिचित दशा में ज्ञान की प्रमाणता स्वतः मानते हैं एवं अनभ्यस्त—अपरिचित दशा में पर से मानते हैं । आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने पर अभ्यास और अनभ्यास बन नहीं सकते हैं, एवं सर्वथा नित्य मान्यता में भी अभ्यास, अनभ्यास असंभव है क्योंकि एक अवस्था का त्याग करके दूसरी अवस्था को ग्रहण करना सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक

---

१ पूर्वस्यैव हेत्वन्तरम् । २ व्यवसायो ज्ञानं, तस्य । ३ ननु भो जैन नित्यस्यात्मनोभ्यासानभ्यासौ कथं स्यातामित्युक्ते जैनः प्राह । ४ नित्यानित्यरूपस्य । ५ आत्मनः । ६ जैनस्य (अनभ्यासात्मकज्ञानपरिहारेणाभ्यासात्मकज्ञानप्राप्तिविरोधात् क्षणिकस्य नित्यस्य वा) ७ तत्त्वोपप्लववादी । ८ जैनः ।

---

(1) पूर्वापरस्वभाव इति पा. । (2) ईप् द्विः । (3) वसः ।

[तत्त्वोपप्लववादी संशयं कृत्वा प्रमाणस्य प्रलयं कर्तुमिच्छति तस्य निराकरणं]

तत[१] एव संशयोस्त्विति चेत् सोपि[२] तथाभावेतरविषयः सर्वस्य[1] सर्वदा सर्वत्रेति[2] कथमसर्वज्ञः[३] शक्तोवबोद्धुम् ? स्वसंवेदने [४]तथावबोधात्सर्वत्र[3] तथावबोध इति चेत् [५]तर्ह्य-नुमानमायातं, विवादाध्यासितं संवेदनं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धं, संवेदन-त्वादस्मत्संवेदनवदिति । [६]तच्च [७]यदि सुनिश्चितासंभवद्बाधकं सिद्धं तदा तेनैव साधनस्य व्यभिचारः । [८]अथ न तथा सिद्धं, [९]कथं साध्यसिद्धिनिबन्धनम् ? अतिप्रसङ्गात् । स्वसंवेदनं च प्रतिपत्तुः [१०]किञ्चित् क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासम्भव द्बाधकं [११]किञ्चित्तद्विपरीतं

में असंभव है।

शून्यवादी—असर्वज्ञ मनुष्य ज्ञान के इस सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व को जानने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

जैन—यदि आप ऐसा कहो तो, सभी जगह सर्वदा सभी जीवों का सभी ज्ञान सुनिश्चितासंभवद्-बाधक नहीं है इस बात को भी असर्वज्ञ—अल्पज्ञ कैसे जान सकेंगे ?

[तत्त्वोपप्लववादी संशय को करके प्रमाण का प्रलय करना चाहता है उसका निराकरण,]

शून्यवादी—इसीलिये दोनों में संशय होने से दोनों के ही पक्ष असिद्ध हैं।

जैन—तथाभाव-बाधा से रहित और अतथाभाव—बाधा से सहित को विषय करने वाला संशय सभी जीव को, सर्व काल में सर्वत्र है इस बात को भी अल्पज्ञ कैसे जान सकेगा ?

शून्यवादी—स्वसंवेदन में सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व और असुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व के द्वारा संदिग्ध प्रकार से सर्वत्र वैसा ही ज्ञान होता है।

जैन—तब तो अनुमान ही आ गया। "विवाद की कोटि में आया हुआ संवेदन सुनिश्चितासंभवद् बाधकत्व और इतर के द्वारा संदिग्ध है क्योंकि संवेदन है जैसे हम अल्पज्ञ लोगों का संवेदन।" और वह यदि सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व सिद्ध है तब तो उसी से ही हेतु व्यभिचरित हो जाता है। यदि वैसा नहीं है अर्थात् सुनिश्चितासंभवद्बाधक सिद्ध नहीं है तब तो साध्य की सिद्धि में कारण ही हो जाता है, अन्यथा अतिप्रसंग आ जाता है।

और प्रतिपत्ता का कोई स्वसंवेदन ज्ञान क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासंभवद्बाधक रूप से प्रसिद्ध

---

१ (तत्त्वोपप्लववादी) उभयपक्षासिद्धेः। २ जैन आह। ३ तत्त्वोपप्लववाद्यादिः। ४ सुनिश्चितासम्भवद्बा-धकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धत्वप्रकारेण। ५ जैनः प्राह। ६ जैनः। ७ संवेदनसाधनं सिद्धमसिद्धं वा ? यदि सिद्धं तदा तेनैव सन्दिग्धं न साध्यते अतः साधनस्य व्यभिचारः। अथ न सिद्धं तदा स्वयमसिद्धं साधनकारणम्। यद्यसिद्धमपि साधनं साध्यं साधयति तदातिप्रसङ्ग इति भावः। ८ असुनिश्चितासम्भवद्बाधकं चेदित्यर्थः। ९ तर्हीति शेषः। १० संवेदनम्। ११ असुनिश्चितासंभवद्बाधकम्।

---

(1) ज्ञानस्य। (2) विषये। (3) ज्ञाने।

प्रसिद्धं न वा ? यदि न [1]प्रसिद्धं, कथं सन्देहः[2] ? [3]क्वचिदप्रसिद्धोभय[१]विशेषस्य[4] [5]तत्सामान्य[२] दर्शनेनैव तत्परामर्शिप्रत्ययस्य सन्देहस्यासम्भवाद्भूभवनसंवर्द्धितोत्थितमात्रस्य तादृशः स्थाणुपुरुषविषयसन्देहवत्[३] । [४]यदि [५]पुनस्तदुभयं प्रसिद्धं [६]तदा स्वतः परतो वा ? अभ्यासदशायां स्वतोनभ्यासदशायां परत एवेति चेत् सिद्धमकलङ्कशासनं, [6]सर्वस्य संवेदनस्य [७]स्यात्स्वतः स्यात्परतः[7] प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्व्यवस्थानात्, [८]अन्यथा [8]क्वचिद्व्यवस्थातुमशक्तेः ।

है अथवा किंचित् उससे विपरीत—असुनिश्चितासंभवद्बाधक रूप से प्रसिद्ध नहीं है क्या ? यदि प्रसिद्ध नहीं है तो संदेह कैसे होगा ? जिसको किसी वस्तु में उभय—स्थाणु और पुरुष दोनों की विशेषता अप्रसिद्ध है उसे उनके सामान्य को देखने से ही उसको परामर्श करने वाला संदेह ज्ञान असंभव है जैसे भूभवन संवर्द्धित—तलघर में पलकर बड़ा हुआ पुरुष उससे निकलते मात्र ही उस प्रकार के स्थाणु और पुरुष उभय विषय को देखकर संशय नहीं कर सकता है ।

यदि आप शून्यवादी कहें कि स्थाणु और पुरुष दोनों ही प्रसिद्ध हैं । तब तो हम आप से पूछते हैं कि वे दोनों स्वतः प्रसिद्ध हैं या पर से ? यदि आप कहें कि अभ्यास दशा में स्वतः प्रसिद्ध हैं और अनभ्यास दशा में पर से प्रसिद्ध हैं तब तो अकलंकशासन—निर्दोष शासन सिद्ध हो गया अथवा अकलंक देव का न्याय शासन सिद्ध हो गया । सभी ज्ञान में कथंचित् स्वतः और कथंचित् पर से प्रामाण्य और अप्रामाण्य की व्यवस्था मानी गई है । अन्यथा केवल स्वतः अथवा केवल पर से व्यवस्था करना अशक्य है ।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी का कहना है कि साधारण अल्पज्ञ मनुष्य यह कैसे समझेंगे कि यह ज्ञान निश्चित रूप से बाधा रहित है । तब जैनाचार्यों ने कहा कि भाई अल्पज्ञजन इस बात को भी कैसे जानेंगे कि सभी का ज्ञान बाधा से रहित है यह बात अनिश्चित है । बस ! उपप्लववादी को मौका मिला उसने कहा इसलिये ज्ञान में सर्वत्र संदेह देखा जाने से ही हम ज्ञान तत्त्व का प्रलय कह रहे हैं । तब आचार्य ने कहा कि सभी को सर्वत्र ज्ञान में संदेह ही है यह बात भी अल्पज्ञ कैसे जान सकते है ? फिर दूसरी बात यह है कि जिस विषय में जिसको संदेह होता है उस विषय का पहले कभी उसे निश्चय अवश्य ही होना चाहिये था जैसे पहले जिसने ठूंठ और मनुष्य को देखा है वही अकस्मात् किसी एक चीज को देखकर दूसरे का

---

१ क्वचिद्वस्तुनि । अज्ञातस्थाणुपुरुषत्वादेः । २ तत्सामान्यादर्शिन इव इति पाठान्तरम् । सामान्यादर्शिनो विशेषोपलम्भे सति सन्देहस्यानुपपत्तिर्यथा तथा प्रकृतेपि । अथात्र दृष्टान्तोऽप्रसिद्ध इति न मन्तव्यं, भूभवनेत्यादिलौकिकोदाहरणप्रदर्शनात् । ३ तादृशो नरस्य यथा तत्र सन्देहो नोदेति । ४ तत्त्वोपप्लववादी । ५ स्थाणुपुरुषत्वे । ६ जैन । ७ कथञ्चित्विवक्षितप्रकारेणाभ्यासदशापेक्षयेत्यर्थः । ८ केवलं स्वत एव परत एव वेति स्वीकारे ।

---

(1) तर्हि । (2) संदेहानुपपत्तिं दर्शयति । (3) ज्ञाने । (4) वसः । (5) नुः । (6) अकलंकशासनसिद्धिं प्रदर्शयति । (7) अनभ्यासावस्थापेक्षया । (8) ज्ञाने ।

[उपप्लववादी कश्चित् तत्त्वनिर्णयमनाश्रित्य परस्य तत्त्वस्य कथमुपप्लवं करोति संदेहो वा कथं विधत्ते ?]

एतेन तत्त्वोपप्लववादिनः किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन बाधकानुत्पत्त्या प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा [1]वेत्यादिविकल्पसन्दोहहेतुकप्रश्नानुपपत्तिः[2] प्रकाशिता, [3]स्वयमन्यत्रान्यदा [1]कथञ्चिदप्रतिपन्नतद्विकल्पस्य[2] पुनः [4]क्वचित्तत्परामर्शिसंशयप्रत्ययायोगात् । [5]क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादिविशेषप्रतिपत्तौ तु [6]कुतस्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः ? [3]पराभ्युपगमात्तत्प्रतिपत्तेरदोष इति चेत् स [4]तर्हि पराभ्युपगमो यदि प्रमाणात्प्रतिपन्नः [5]स्वयं तदा कथं [7]प्रमाणप्रमेयतत्त्वोपप्लवः ? पराभ्युपगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ तदपि पराभ्युपगमान्तरमन्यस्मात् [8]पराभ्युपगमान्तरात्प्रतिपत्तव्यमित्यनवस्था ।

स्मरण करके संशय कर सकता है सर्वथा अज्ञात वस्तु में या गधे के सींग, आकाश के फूल में क्या संदेह होगा ? अतएव ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यास दशा में पर से होती है। तथैव ज्ञान की अप्रमाणता भी अभ्यास दशा में स्वतः अनभ्यासदशा में पर से होती है, यह बात सुनिश्चित सिद्ध है।

[उपप्लववादी कुछ भी तत्त्व का निर्णय न करके पर के तत्त्वों का उपप्लव या पर के तत्त्व में संदेह कैसे कर सकता है ?]

इस कथन से तत्त्वोपप्लववादी के जो प्रश्न हुए थे "ज्ञान की प्रमाणता अदुष्टकारक समूह से उत्पन्न होती है या बाधक की अनुत्पत्ति से या प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अन्यथा अविसंवादित्वादि प्रकार से होती है ? इत्यादि प्रश्न विकल्पों की व्यवस्था कथमपि शक्य नहीं—यह बात प्रकाशित कर दी गई है।

स्वयं अन्यत्र, अन्यकाल में कथंचित् जिसने उन विकल्पों को नहीं जाना है उसको तत्परामर्शि संशय ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। कहीं पर कदाचित् अदुष्ट कारक समूह से उत्पन्न होना आदि विशेष का ज्ञान हो जाता है ऐसा कहो तो आप शून्यवादी के यहां तत्त्वोपप्लव की सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

शून्यवादी—पर की स्वीकृति मात्र से उसका ज्ञान मानने से हमें कोई दोष नहीं है।

जैन—यदि वह पर की स्वीकृति प्रमाण से स्वयं जानी गई है तो प्रमाण और प्रमेयतत्त्व का उपप्लव कैसे होगा ? यदि कहो कि वह पर की स्वीकृति अन्य पर की स्वीकृति से जानी जाती है तव तो वह पर की स्वीकृति भी अन्य पर की स्वीकृति की अपेक्षा रखेगी इस प्रकार से अनवस्था ही आ जावेगी।

---

१ अनधिगतवस्तुविकल्पस्य पुरुषस्य क्वचित्प्रदेशे वस्तुविचारे संशयो न घटते इति । २ तत्त्वोपप्लववादिनः ।३ तत्त्वोपप्लववादी प्राह । ४ जैनः । ५ तत्त्वोपप्लववादिना ।

---

(1) वसः । (2) यसः । (3) ज्ञाने । (4) ज्ञाने । (5) ज्ञाने । (6) विकल्पचतुष्टयं प्रमेयं तद्ग्राहकं च विज्ञानं प्रमाणं । (7) पराभ्युपगमस्य ग्राहकं प्रमाणं । (8) पराभ्युपगमात् इति पा. ।

[अधुनोपप्लववादिनः मतस्योपप्लवं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

पराभ्युपगमं [1]च स्वयं प्रतीयन्नेव न प्रत्येमीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? [१]स्वयमप्रतीयंस्तु पराभ्युपगमं [२]ततः [2]किञ्चित्प्रत्येतीति[३] दुरवबोधं—सोयं[४] किञ्चिदपि[3] स्वयं निर्णीतमनाश्रयन् [4]क्वचिद्विचारणायां व्याप्रियत इति[5] न.[6]बुध्यामहे, किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारस्यानिर्णीतेर्थे प्रवृत्तेः । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिद्विचारणानवतारात् । तदुक्तं **"किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोन्यत्र[६] वर्त्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा"*** इति । [7]ततः सूक्तं, तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा विचारोत्तरकालमपि प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतिः[8] ।

[अब जैनाचार्य उपप्लववादी के मत का ही उपप्लव कर रहे हैं ।]

इस प्रकार से पर की स्वीकृति को स्वयं अनुभव करते हुये ही आप "मैं अनुभव नहीं करता हूँ" इस प्रकार बोलते हुये स्वस्थ कैसे हैं ? अर्थात् अस्वस्थ ही हैं । तथा यदि आप स्वयं पर की स्वीकृति को विषय न करते हुए भी "कोई उस पर स्वीकृति से किंचित् वस्तु मात्र का अनुभव करता है" इस प्रकार से कहते हैं तब तो यह बात अत्यन्त दुष्कर ही है ।

इस प्रकार से आप शून्यवादी कुछ भी स्वयं निश्चित (गाँठ के तत्त्व) का आश्रय न लेते हुये किसी भी विषय की परीक्षा में प्रवृत्त होते हैं यह बात हमारी समझ में नहीं आती है । अर्थात् आप शून्यवादी के यहां कुछ प्रमाणादि की प्रसिद्धि हुये बिना अन्य हम लोगों के यहां परीक्षा और संदेह करना कदापि शक्य नहीं है क्योंकि किंचित् भी निश्चित् का आश्रय लेकर अनिर्णीत विषय में परीक्षा होती है किन्तु सभी जगह विसंवाद हो जाने पर तो कहीं पर परीक्षा भी नहीं हो सकती है अथवा अक्षर ज्ञान से शून्य मूर्ख क्या शास्त्रीय परीक्षा में बैठे हुये विद्यार्थियों की परीक्षा कर सकता है ? कहा भी है—**कहीं कुछ निश्चित का आश्रय लेकर अन्यत्र—अनिश्चित अर्थ में विचार—परीक्षा होती है और यदि सभी जगह विसंवाद हो जावे तो कहीं पर भी परीक्षा नहीं हो सकती है*** ।

इसलिये यह ठीक ही कहा है कि ये तत्त्वोपप्लववादी स्वयं स्वप्रसिद्ध एक प्रमाण से अथवा पर प्रसिद्ध एक प्रमाण से विचार—परीक्षा के उत्तरकाल में भी प्रमाण तत्त्व और प्रमेयतत्त्व को उपप्लुत—नष्ट—प्रलय—अभाव—शून्यरूप जानते हुये अपनी आत्मा का ही अभाव कर लेते हैं । आपकी इस बात से

---

१ अप्रतिपत्तिविषयीकुर्वन् । २ पराभ्युपगमात् । ३ वस्तुमात्रम् । ४ तत्त्वोपप्लववादी । ५ शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्र विचारः सन्देहश्च न प्राप्नोतीत्यर्थः । ६ अनिर्णीतेर्थे ।

---

(1) किं च । (2) विकल्पचतुष्टयविशेषं । (3) वस्तुमात्रं । (4) ज्ञानप्रामाण्ये । (5) च न इति पा. । (6) तत्स्वरूपं । (7) शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्रविचारः संदेहश्च न प्राप्नोति यतः । (8) व्याहतमेतदिति इति पा. ।

यह शून्यवाद नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी का कहना है कि सभी प्रमाण तत्त्व एवं प्रमेयतत्त्व अभाव रूप ही हैं क्योंकि किंचित् भी तत्त्व न तो प्रमाण से सिद्ध है न अनुमान से। इत्यादि प्रकार से तत्त्वों का अभाव करके वह कहता है कि हम आस्तिकवादी लोगों के द्वारा मान्य प्रमाण तत्त्व पर विचार करते हैं कि आप सभी जन प्रमाण की प्रमाणता को किस प्रकार से सिद्ध करते हैं निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से या बाधा के उत्पन्न न होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अविसंवादी पने से ? इन चारों हेतुओं से ज्ञान में प्रमाणता नहीं आ सकती है । अतः ज्ञान की प्रमाणता की सिद्धि न होने से प्रमेयतत्त्व-ज्ञेय पदार्थ भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ज्ञान के विना ज्ञेय पदार्थ कहां से सिद्ध होंगे ? पुनः उसने इस वात को भी सिद्ध किया कि हम शून्यवादियों का तत्त्व सर्वथा ही परीक्षा करने योग्य नहीं है क्योंकि वह अभाव—शून्य रूप है, हम तो तत्त्ववादी जैनादिकों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण, प्रमेयतत्त्व की परीक्षा करके उसका अभाव सिद्ध कर देते हैं उसी से ही हमारे शून्यवाद की सिद्धि हो जाती है।

इस पर जैनाचार्यों ने उत्तर दिया है कि हम लोग निर्दोषकारक जन्य आदि हेतुओं से प्रमाण की प्रमाणता नहीं मानते हैं किंतु सुनिश्चितासंभवद्वाधकरूप स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यासदशा में पर से मानते हैं अतः प्रमाणतत्त्व भी सिद्ध है एवं प्रमेयतत्त्व भी षड्द्रव्यरूप अखिल जगत्रूप से सिद्ध ही है क्योंकि "प्रतीतेरपलापः कर्त्तुं न शक्यते कैश्चित्" इस सूक्तिके अनुसार जो स्पष्ट रूप सेअनुभव में आ रहा है उसका लोप करना शक्य नहीं है। एवं जो शून्यवादी किसी वस्तु को मानने को ही तैयार नहीं हैं तो उन्हें किसी भी विषय में परीक्षा करने का भी अधिकार नहीं है क्योंकि जो स्वयं अपने आपके ही अस्तित्व को नहीं मानते हैं वे किसी भी विषय में अस्ति-नास्ति की परीक्षा भी कैसे कर सकेंगे ? यदि जवरदस्ती करेंगे तो फिर वन्ध्या का पुत्र भी आकाश के फूलों की सुगंधि या दुर्गंधि की परीक्षा कराते बैठेगा या वह आकाशपुष्प भी किसी के गले का हार वनेगा और किसी के सिर पर चढ़ने का प्रयत्न कर डालेगा किंतु ऐसा तो संभव नहीं है अतः शून्यवादी जन भी अपना शून्यवाद स्थापन करते हैं यह कथन हास्यास्पद ही है।



तत्त्वोपप्लववादी के खंडन का सारांश

तत्त्वोपप्लववादी—हम प्रमाण प्रमेयादि कुछ भी तत्त्व नहीं मानते हैं क्योंकि सभी तत्त्व उपप्लुत-नष्ट-अभाव रूप ही हैं।

जैन–"सभी तत्त्व उपप्लुत हैं" यह कथन प्रमाण के विना केवल वचनमात्र से ही सिद्ध है तथैव "सभी तत्त्व अनुपप्लुत हैं" यह वात भी वचन मात्र से ही क्यों न सिद्ध हो जावे ? आप शून्यवादी के यहां कोई प्रमाण तो है नहीं। प्रत्यक्ष को विषय करने वाला प्रत्यक्ष, अनुमेय को विषय करने वाला अनुमान और अत्यंत परोक्ष को विषय करने वाला आगम ये तीनों प्रमाण—सर्वज्ञ कहलाते हैं। यदि आप कहें कि पर के यहाँ प्रसिद्ध प्रमाण से हम अभाव–शून्यवाद सिद्ध कर देंगे तो वह पर के यहां प्रसिद्ध प्रमाण प्रमाण से सिद्ध है या नहीं ? यदि सिद्ध है तो वादी प्रतिवादी सभी को सिद्ध है अन्यथा—असिद्ध है तो सभी को असिद्ध है क्योंकि विना प्रमाण के सिद्ध हम जैनों को कुछ भी मान्य नहीं है। इस प्रकार से आप शून्यवादी सकल तत्त्वों के जानने वाले प्रमाणों से रहित सभी पुरुषों को जानते हुए स्वयं आपका ही खंडन कर लेते हैं क्योंकि "सभी पुरुष तत्त्वों के ग्राहक प्रमाण से रहित हैं" ऐसा जिसने जान लिया वही तो प्रमाण–सर्वज्ञ सिद्ध हो गया और यदि आप प्रमाण को स्वीकार कर लेवें तव तो तत्त्वोपप्लव ही समाप्त हो जावेगा।

यदि आप कहें कि प्रमाण की प्रमाणता स्वत: व्यवस्थित है तो सभी के इष्ट तत्त्व सिद्ध हो जावेंगे। अच्छा ! हम शून्यवादी आप जैनों से पूछते हैं कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे जानी जाती है ? निर्दोषकारक से जन्य होने से, वाधा की उत्पत्ति न होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से या अविसंवादी पने से ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो कारकों की निर्दोषता कैसे जानी ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से तो अतींद्रिय निर्दोषता का ग्रहण नहीं है एवं अविनाभावी लिंग न होने से अनुमान भी नहीं वता सकता। दूसरा पक्ष लेवो तो मरीचिका में भी "यह जल नहीं है" ऐसा वाधक कारण न होने से प्रमाणता आ जावेगी।

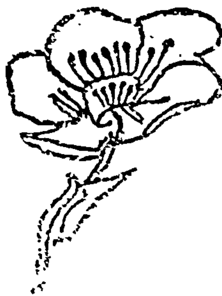
प्रवृत्ति की सामथ्य से ज्ञान में प्रमाणता मानने से भी अनवस्था आती है तथा चतुर्थ पक्ष भी वाधित ही है। यहाँ पूर्व के दो पक्ष मीमांसक की अपेक्षा हैं। तीसरा पक्ष नैयायिक से संवंधित है एवं चौथा पक्ष वौद्धों के खंडन के लिये है।

मीमांसक प्रमाण की प्रमाणता स्वत: मानता है, नैयायिक पर से मानता है एवं वौद्ध अर्थक्रिया सद्भाव लक्षण अविसंवाद ज्ञान को अभ्यास दशा में स्वत: प्रमाण कहता है किन्तु वौद्ध के यहां उत्पन्न होते ही ज्ञान उसी क्षण में नष्ट हो जाता है अत: अभ्यास असम्भव है, यदि सन्तान से कहो तो वह अवस्तु है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आप शून्यवादी का कथन शून्यरूप व्यर्थ ही है। हम स्याद्वादी ज्ञान की प्रमाणता "अदुष्टकारकसंदोहजन्य" इत्यादि चार कारणों से नहीं मानते हैं। हम तो "सुनि-

श्चिता संभवद्बाधक प्रमाण" से प्रमाण की प्रमाणता सिद्ध करते हैं क्योंकि "ज्ञान स्वार्थव्यवसायात्मक है" वह उपर्युक्त हेतु से सिद्ध है। तथा हमारे यहां अभ्यस्त विषय में स्वतः और अनभ्यस्त विषय में पर से प्रमाणता आती है तथा असंभवद्बाधकत्व" स्वतः सिद्ध है इसलिये अनवस्था एवं इतरेतराश्रय दोष संभव नहीं हैं। पर से प्रमाणता मानने में वह पर प्रमाण स्वतः प्रमाण रूप है इसलिये भी अनवस्था नहीं आती है।

आत्मा का स्वार्थ संवेदन में अपने २ आवरणों का क्षयोपशम एक बार या पुनः पुनः होना अभ्यास है इससे विपरीत अनभ्यास है। हम आत्मा को कथंचित् नित्यानित्य मानते हैं अतः अभ्यास-अनभ्यास दोनों ही संभव हैं। पूर्व स्वभाव का त्याग और अपर स्वभाव का उपादान तथा दोनों में अन्वित स्वभाव स्थिति इन तीनों लक्षणों में नित्यानित्य आत्मा में अभ्यास अनभ्यास दोनों ही संभव हैं। अतः आप शून्य-वादी कुछ भी स्वयं निश्चित तत्त्व का आश्रय न लेते हुये भी हम जैनों के यहां तत्त्व में परीक्षा या संदेह करते हैं या नहीं मानकर शून्य कहते हैं यह कथमपि शक्य नहीं है क्योंकि कहीं अपने यहां कुछ निश्चय का आश्रय लेकर ही अन्यत्र अनिश्चित विषय में परीक्षा होती है। इसलिये सभी प्रमाण प्रमेय तत्त्व को उपप्लुत—बाधित या प्रलयरूप कहते हुये आप अपनी आत्मा का ही घात कर लेते हैं। अतः तत्त्वोपप्लववादैकांत श्रेयस्कर नहीं है।



[जैनमतमंतरेण सर्वेऽपि मतावलंबिनस्तीर्थच्छेदसंप्रदाया भवंतीति साध्यते जैनाचार्यैः]

[१]तदेवं कारिकाव्याख्यानमनवद्यमवतिष्ठते । [२]**तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां तथा सर्वमवगत-मिच्छतामाप्तता[1] नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात्, एकानेकप्रमाणवादिनां [2]स्वप्रमाव्यावृत्ते[3]रिति[4]*** । [5]एकप्रमाणवादिनो हि संवेदनाद्वैतावलम्बिनश्चित्राद्वैताश्रयिणः परब्रह्मशब्दाद्वैतभाषिणश्च सुगतादयो यथा तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदन्तोपि चार्वाकाः, परमागमनिराकरणसमयत्वात्[३] । यथा च कपिलादयोनेकप्रमाणवादिन-

[सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि में विसंवाद करने वाले मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादियों के यहाँ आत्मा के सद्भाव को सिद्ध करके इस समय उस सर्वज्ञ विशेष में विसंवाद करने वाले सौगत, सांख्यादि के प्रति सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करते हैं। एवं जैनमत के सिवाय अन्य सभी मतावलंबी जन तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं इस बात को जैनाचार्य सिद्ध करते हैं।]

उपर्युक्त प्रकार से कारिका का व्याख्यान निर्दोष सिद्ध हो जाता है।

"तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले तथा सभी को सर्वज्ञ मानने वालों के आप्तता नहीं है क्योंकि उनके कथन परस्पर में विरुद्ध हैं तथा एक और अनेक प्रमाणवादियों के यहां अपने प्रमा-ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है।*

[एक ही प्रमाण को मानने वाले कौन-कौन हैं ?]

संवेदनाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, परमब्रह्माद्वैतवादी और शब्दाद्वैतवादी बौद्ध आदि एक प्रमाणवादी हैं। जैसे ये एक प्रमाण मानने वाले तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं वैसे ही प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण है ऐसा कहने वाले चार्वाक भी तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं क्योंकि वे परमागम के समय-संप्रदाय का निराकरण करने वाले हैं।

[अनेक प्रमाण को मानने वाले कौन कौन हैं ?]

जैसे कपिल आदि अनेक प्रमाणवादी तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं वैसे ही तत्त्वोपप्लववादी भी हैं क्योंकि उन लोगों ने एक भी प्रमाण नहीं माना है। "नैक प्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिनः" ऐसा व्याख्यान है। अर्थात् "न एक प्रमाणं अनेकप्रमाणं" ऐसा नञ् समास करने पर यहां प्रसज्यप्रतिषेध अर्थ लेना अर्थात् सर्वथा ही निषेध अर्थ होता है।

तथा सभी आप्त, आगम और पदार्थ के समूह को स्वीकार करने की इच्छा करते हुए भी अनेक प्रमाणवादी वैनयिकजन तीर्थच्छेदसंप्रदाय वाले हैं। उन सभी में आप्तपना नहीं है क्योंकि वे सभी

१ वक्ष्यमाणप्रकारेण । २ सर्वज्ञसामान्ये विप्रतिपत्तिमतां मीमांसकचार्वाकतत्त्वोपप्लववादिनामात्मत्वसद्भावं प्रसाध्येदानीं तद्विशेषविप्रतिपत्तिमतां सौगतादीनां निर्वचनं साधयति तीर्थेत्यादिना । ३ समयः सम्प्रदायः ।

(1) कारिकास्थितस्य सर्वेषामिति पदस्य विवरणमिदं, सर्वमिच्छंतीति सर्वेषस्तेषामिति निर्वचनात् । (2) स्वेन स्वकीयपरिच्छित्त्यभावात् । (3) प्रमितिः । (4) विघटनात् । (5) एकतत्त्ववादिनः ।

स्तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्त्वोपप्लववादिनोपि, तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात्, [1]नैक-प्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिन इति व्याख्यानात् । तथा [2]सर्वमाप्तागमपदार्थ[1]जातमवगत-मिच्छन्तोप्यनेकप्रमाणवादिनो[3] वैनयिकास्तीर्थच्छेदसम्प्रदायाः । तेषामशेषाणामाप्तता[4] नास्ति, परस्परविरुद्धयोरर्थयोरभिधानात् ।

परस्पर विरुद्ध दो अर्थों का कथन करने वाले हैं।

भावार्थ—विश्व में दो प्रकार के दर्शन प्रचलित हैं। १. आस्तिक २. नास्तिक। आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले सभी आस्तिक कहलाते हैं एवं जो आत्मा का अस्तित्व तथा परलोक आदि नहीं मानते हैं वे नास्तिक कहलाते हैं। इस व्याख्या से चार्वाक भूतचतुष्टयवादी होने से आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते हैं अतः नास्तिक हैं तथा तत्त्वोपप्लववादी तो आत्मा, परमात्मा, स्वयं की आत्मा एवं जड़ पदार्थ आदि किसी का भी अस्तित्व नहीं मानते हैं अतः ये भी नास्तिक हैं इन दोनों के यहां सर्वज्ञ मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है किन्तु वैदिक संप्रदाय में एक मीमांसक संप्रदाय वाले हैं जो किसी भी पुरुष को अतीन्द्रिय सर्वज्ञ मानने को तैयार नहीं हैं। ये तीनों सर्वथा ही सर्वज्ञ के अभाव को करने वाले हैं और बौद्ध सांख्य एवं वैशेषिक ये लोग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तो मानते हैं किन्तु इनकी मान्यतायें सुघटित नहीं है, इनके द्वारा मान्य बुद्ध भगवान् महेश्वर आदि सच्चे सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं। इसलिए इन सभी के सिद्धांत-धर्मतीर्थ का विनाश करने वाले होने से ये सभी लोग तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले कहे गये हैं। ब्रह्माद्वैतवादी आदि सभी अद्वैतवादी एक अद्वैत रूप ही जगत् मानते हैं कोई ब्रह्मरूप, कोई शब्दरूप एवं कोई ज्ञानरूप इत्यादि। इसलिए ये सभी अद्वैतवादी एक प्रमाणवादी कहलाते हैं इसी प्रकार चार्वाक भी एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है क्योंकि उसके यहां पांच इन्द्रियों के ज्ञान के सिवाय कोई बात प्रमाणीक है ही नहीं अतः यह चार्वाक भी एक प्रमाणवादी है।

बौद्ध, सांख्य, मीमांसक आदि दो, तीन, चार आदि प्रमाण मानते हैं इसलिए ये सभी अनेक प्रमाण-वादी हैं। यहां पर तत्त्वोपप्लववादी को अनेक प्रमाणवादी कहने का मतलब यह है कि वह एक भी प्रमाण नहीं मानता है इसलिए व्याकरण के नञ् समास के अनुसार ही यह व्याख्या है जैसे "न उदरं यस्या असौ अनुदरा कन्या" जिसके उदर नहीं है वह अनुदरा है मतलब जिसका पेट छोटा है यहां पर नञ् का अर्थ किंचित् रूप है और ऊपर अनेक प्रमाणवादी में नञ् का अर्थ सर्वथा निषेध रूप है। अतः "अनेक" शब्द का बहुत वाची अर्थ न "एक भी नहीं" ऐसा अर्थ हो जाता है। यह लक्षण मात्र तत्त्वोपप्लववादी के लिये ही घटित करना है।

---

१ तथापि तत्त्वोपप्लववादिनामनेकप्रमाणत्वं कथमित्यत आह नैकेति। प्रसज्यप्रतिषेधोत्र। २ समूहम्। ३ अभ्युपगतम्। स्वीकृतमित्यर्थः। ४ सत्यता संवादकता।

---

(1) अभ्युपगतं। सर्वं विद्यते सर्वसमीचीनमस्तीति भावः।

[सर्वेषामद्वैतवादिनां निराकरणं]

तत्र संवेदनाद्वैतानुसारिणः[1] स्वपक्षसाधनस्य परपक्षदूषणस्य [2]वा संविदद्वैतविरुद्धस्याभिधानं[3], [१]तथा[4] द्वैतप्रसिद्धेः। संवृत्या[२] तदुपगमे न परमार्थतः संविदद्वैतसिद्धिः, [5]अतिप्रसङ्गात्। एतेन चित्राद्वैतपरब्रह्माद्यवलम्बिनां परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिवर्णितम्।

एक वैनयिक मतवाले हैं जो कि सभी के भगवान् को सभी के गुरु और आगम को मानते हैं तथा सभी के मान्य पदार्थ भी स्वीकार कर लेते हैं और सभी की विनय भक्ति करते हैं किन्तु ये भी तीर्थ का विनाश करने वाले हैं क्योंकि प्रायः सभी के मत परस्पर में एक दूसरे के विपरीत ही हैं अतः सभी को तो सर्वज्ञ माना नहीं जा सकता है।

[अद्वैतवादियों का खण्डन]

संवेदनाद्वैतवादी के यहां स्वपक्ष साधन अथवा परपक्षदूषण वचन संवेदनाद्वैत से विरुद्ध ही है क्योंकि उस प्रकार मानने पर तो द्वैत का ही प्रसंग आ जाता है और संवृति से उसे स्वीकार करने पर परमार्थ से संवेदनाद्वैत सिद्ध नहीं होगा अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा। अर्थात् स्वपक्ष साधन अथवा परपक्ष दूषण के होने पर द्वैत का प्रसंग आता है। इस दोष को दूर करते हुये यदि आप बौद्ध कल्पना से द्वैत को स्वीकार करें तब तो संवेदनाद्वैत की सिद्धि भी कल्पना से ही होगी न कि निश्चय से।

इसी कथन से चित्राद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी के यहाँ भी परस्पर विरुद्ध कथन पाया जाता है उसका भी निराकरण कर दिया है।

विशेषार्थ—जो एक रूप ही सारे विश्व को मान लेते हैं वे एक प्रमाणवादी कहलाते है। ये सभी अद्वैतवादी हैं, इनमें पाँच भेद हैं—विज्ञानाद्वैतवाद, चित्राद्वैतवाद, शून्याद्वैतवाद, ब्रह्माद्वैतवाद और शब्दाद्वैतवाद। यहाँ संक्षेप से इनका वर्णन करते हैं यथा—

[विज्ञानाद्वैतवाद का खंडन]

विज्ञानाद्वैतवादी का कहना है कि अविभागी एक बुद्धि मात्र को छोड़कर जगत् में और कोई पदार्थ है ही नहीं, इसलिये एक विज्ञानमात्र तत्त्व ही मानना चाहिये। ऐसे एक विज्ञानमात्र तत्त्व को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। उसका कहना है कि हम अर्थ का अभाव होने से ज्ञान मात्र तत्त्व मानें ऐसी बात नहीं है, किन्तु अर्थ और ज्ञान एकत्र उपलब्ध होते हैं अतः इनमें अभेद माना है। "जो प्रतिभासित होता है वह ज्ञान है क्योंकि प्रतीति में आ रहा है जैसे सुखादि और नीलादि प्रतीत हो रहे हैं अतः वे भी ज्ञान ही हैं" इस अनुमान के द्वारा समस्त पदार्थ एक ज्ञानरूप सिद्ध हो जाते हैं।

१ तथा सति। २ स्वपक्षसाधने परपक्षदूषणे वा सति द्वैतप्रसङ्गं निराकुर्वन् यदि कल्पनया द्वैतमङ्गीकुर्यात्तदा संविदद्वैतसिद्धिरपि कल्पनयैव सिद्ध्येन्न निश्चयेनेत्यर्थः।

(1) ता। (2) वा स्थाने च इति पाठांतरं ब्यावरपुस्तके। (3) विद्यते। एकानेकप्रमाणवादिनां स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति संबंधः। (4) प्रमाणप्रमेयभेदेन। (5) कल्पितात्कस्यचित् सिद्धा वितरस्यापि तत्त्वस्य कल्पितात्सिद्धिप्रसंगः।

आप द्वैतवादी—जैन आदि लोग "अहं प्रत्यय" से आत्मा को सिद्ध करते हैं, किन्तु वह अहं प्रत्यय क्या है ? गृहीत है या अगृहीत, निर्व्यापार है या व्यापार सहित, निराकार है या साकार ? इत्यादि रूप से अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं।

यदि आप जैन कहें कि "अहं प्रत्यय" गृहीत है तो भी प्रश्न उठेगा कि स्वगृहीत है या पर से ? इत्यादि प्रश्नमालाओं का विराम नहीं हो सकेगा।

विज्ञानाद्वैतवादी के इस सिद्धान्त को सुनकर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि भाई ! आप ज्ञानमात्र ही तत्त्व मानते हो तो केवल वचन मात्र से ही मानते हो या प्रमाण से ? यदि वचन मात्र से कहो तो सभी अपने-अपने वचनों से अपने-अपने तत्त्वों की मान्यता को सच्ची कह रहे हैं, पुनः सारा विश्व एक विज्ञान रूप ही कहां रहा ? यदि कहो कि प्रमाण से हम एक विज्ञान तत्त्व को सिद्ध करते हैं तब तो प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष प्रमाण से तो आप सम्पूर्ण पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष तो बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को ही सिद्ध कर रहा है न कि बाह्य पदार्थों के अभाव को। अनुमान से भी आप अंतरंग, बहिरंग पदार्थों (चेतनाचेतन) को समाप्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष से बाधित है। यदि अनुमान उसमें प्रवृत्ति करेगा तो बाधित पक्षवाला अनुमानाभास हो जावेगा।

आपने जो कहा कि पदार्थ और ज्ञान एक साथ उपलब्ध हो रहे हैं अतः एक हैं यह मान्यता भी गलत है क्योंकि जो पदार्थ एक साथ हों वे एक ही हों यह नियम बन नहीं सकता है। रूप और प्रकाश एक साथ हैं किन्तु एक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त ! बाह्य पदार्थ न होते हुये भी अंतरंग में सुखादि का अस्तित्व पाया जाता है। सामने महल भोजन आदि समान होते हुये भी उनका ज्ञान पाया जाता है। तथा सर्वज्ञ का ज्ञान और ज्ञेय एक साथ होने से क्या एकमेक हो जावेंगे ? अर्थात् नहीं। आपने जो "अहं प्रत्यय" का खंडन किया है वह भी गलत है "मैं ज्ञानमात्र तत्त्व को जानता हूं" इस आपकी मान्यता में तो "अहं—मैं" शब्द आ ही गया है फिर आपने जो प्रश्न उठाये हैं वे भी कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं। देखिये ! आपने जो प्रथमतः प्रश्न किया है कि अहं प्रत्यय गृहीत है या अगृहीत ? सो अहं प्रत्यय स्वयं ही सबको गृहीत है "मैं जानता हूं, मैं जाता हूं, मैं खाता हूं, मैं पढ़ता हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं" इत्यादि से सभी को मैं शब्द का अनुभव स्वयं ही आ रहा है एवं अपने को और पर को जानने वाला होने से यह "अह प्रत्यय" व्यापार सहित है इत्यादि।

दूसरी बात यह है कि एक ज्ञान मात्र ही तत्त्व को मानने पर तो सबसे बड़ी आपत्ति यह आती है कि वही ज्ञान ग्राह्य और ग्राहक रूप से दो रूप सिद्ध हो जाता है पुनः अद्वैतवाद सिद्ध न होकर द्वैत सिद्ध हो जाता है। तथा एक यह भी बाधा आती है कि ज्ञान ही जब ग्राह्य और ग्राहक बन गया तब बाह्य पदार्थों में उठाना, रखना, फोड़ना, पकड़ना आदि जो कार्य देखा जाता है वह कैसे संभव होगा ? ज्ञान मात्र में लड्डू के झलकने से किसी को आज तक उसका स्वाद नहीं आया है। जब सभी पदार्थों के आकार

ज्ञानमात्र में ही हैं तव तो पदार्थ के अभाव में अनेकों क्रियायें संभव नहीं हो सकेंगी।

इस पर बौद्ध ने कहा है कि भाई! जितने भी कार्य दिख रहे हैं वे सब कल्पना मात्र हैं केवल संवृत्ति से ही दिख रहे हैं। तब तो भाई! आप का विज्ञान तत्त्व भी कल्पना मात्र ही रहा। यदि एक ज्ञान तत्त्व को वास्तविक कहोगे और सभी को कल्पना मात्र कहोगे तब भाई! कहने वाले आप और सुनने वाले हम सभी कल्पित ही रहेंगे तो आपका तत्त्व प्रतिपादन एवं उसकी व्यवस्था भी कल्पित हो सिद्ध होगी। इसलिये जगत् को चेतन अचेतन से अंतरंग, बहिरंग तत्त्व रूप मानना ही पड़ेगा और विज्ञान मात्र तत्त्व को कल्पित सिद्ध करके वास्तविक द्वैत की सिद्धि ही निर्बाध सिद्ध हो जावेगी।

"चित्राद्वैतवाद"

बौद्धों के यहां विज्ञानाद्वैतवाद के समान ही चित्राद्वैतवाद भी है। इन दोनों में भेद इतना ही है कि विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान में होने वाले नीलादि, घटपटादि आकारों को भ्रांत–कल्पित–झूंठ मानते हैं और चित्राद्वैतवादी उन आकारों को सत्य मानता है, किंतु दोनों के यहाँ अद्वैत का साम्राज्य है।

चित्राद्वैतवादी का कहना है कि अनेक नीलादि आकार को धारण करने वाली एक बुद्धि ही एक-मात्र तत्त्व है। संसार में और कुछ भी तत्त्व नहीं है।

इस मान्यता पर जैनाचार्यों का कहना है कि भाई! चित्र ज्ञान भी कहो और एक ज्ञान भी कहो यह बात तो परस्पर विरुद्ध ही है। जब चित्रज्ञान है तब उसमें अनेकों आकार पाये जाते हैं। पुनः आप उसे अद्वैत नहीं कह सकते हैं। यदि चित्रज्ञान के अनेक आकारों को संवृत्तिरूप कहो तब तो आपका अद्वैत भी संवृत्ति रूप ही सिद्ध होगा। इसलिये क्रम तथा अक्रम से नीलादि अनेक पदार्थ के आकार को ग्रहण करने वाले ज्ञान से युक्त एक आत्मा का ही अस्तित्व मान लो, साथ ही साथ बाह्य पदार्थों को भी वास्तविक मानकर द्वैत सिद्धांत में आ जाओ, क्योंकि चित्राद्वैत की सिद्धि होना कथमपि शक्य नहीं है।

"शून्याद्वैतवाद"

बौद्ध के चार भेदों में से एक माध्यमिक है, यह सकल जगत् को शून्यरूप ही मानता है इसका कहना है कि जगत् में चेतनाचेतन आदि सभी पदार्थ काल्पनिक हैं, इन्द्रजाल के समान हैं अतएव यह सारा जगत् शून्यरूप ही है। यह शून्यवादी एक ज्ञान में अनेक आकार भी नहीं मानता है।

इस पर जैनाचार्य ने समझाया है कि भाई! यदि एक ज्ञान में अनेक आकार नहीं मानोगे तो नील कमल के एक अंश का ग्राहक ज्ञान उसी कमल के दूसरे अंश को ग्रहण नहीं कर सकेगा अन्यथा एक ज्ञान में अंश की अपेक्षा अनेक आकार आ जावेंगे और यदि एक ज्ञान एक समय में कमल के एक ही अंश को ग्रहण करेगा तो अन्य सभी अंशों को ग्रहण न कर सकने से उस कमल का अस्तित्व नहीं सिद्ध होगा और न कमल दीखेगा एवं प्रमाण जिसे ग्रहण नहीं करेगा वह प्रमेय रूप भी कैसे होगा, और जब प्रमेय का अस्तित्व नहीं मानोगे तो ये ग्राम, नगर, बगीचे, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो दिख रहे हैं उनका लोप आप कैसे करेंगे? संसार में प्रतीति के बल से सभी वस्तुओं का अस्तित्व प्रायः सभी वादी प्रतिवादी मान

लेते हैं आप दिखते हुये सारे विश्व को शून्य रूप कहते हुये तो पहले आप अपने आपको समाप्त कर लेंगे एवं शून्यवाद का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि शून्यवाद का अस्तित्त्व मानोगे तब तो सर्वथा इसका खंडन तो अभावैकांत का निरसन करते समय आचार्य स्वयं ही बहुत ही सुंदर ढंग से करेंगे।

"ब्रह्माद्वैतवाद"

ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व एक परमब्रह्मस्वरूप ही है। जगत् में जो कुछ भी प्रतिभासित हो रहा है वह सब परमब्रह्म की पर्याय है। सभी वस्तुएं सत् रूप हैं बस! इस सत् का जो प्रतिभास है वही परमब्रह्म है। इस ब्रह्मवाद का खंडन आगे चलकर अद्वैतवाद के खंडन में स्वयं आचार्य ने बहुत ही विशेष रूप से किया है यहां पर केवल संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

ब्रह्मवादी का कहना है कि "ये सभी चेतन अचेतन पदार्थ प्रतिभासस्वरूप परमब्रह्म में ही अंतः-प्रविष्ट हैं क्योंकि प्रतिभासित हो रहे हैं जैसे कि परमब्रह्म का स्वरूप उसी के अंतः प्रविष्ट है। सारे जगत् के पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हैं अतः वे परमब्रह्म के ही अंतः प्रविष्ट हैं।"

इस पर जैनाचार्यों का कथन है कि ये जो चेतन अचेतनादि अनेक पदार्थ दिखाई दे रहे हैं ये सर्वथा असत्य—काल्पनिक नहीं हैं क्योंकि जैसे स्वप्न के राज्य से सुख नहीं मिलता है, स्वप्न में भोजन करने से पेट नहीं भरता है वैसी बात तो साक्षात् राज्य का उपभोग करने में या भोजन करने में नहीं है प्रत्युत वास्तविकता दृष्टिगोचर होती है अतएव सर्वथा इन सभी व्यवहारों को अविद्या का विलास कहना उचित नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि आप अपने ब्रह्मवाद को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि तो मानोगे ही फिर भला सर्वथा अद्वैत कहां रहा? यदि इन प्रमाणों को भी काल्पनिक कहोगे तो काल्पनिक उपायों से परमब्रह्म की सिद्धि भी काल्पनिक होगी न कि वास्तविक, क्योंकि झूंठ बोलने वाला व्यक्ति किसी बात को झूंठी ही कहेगा न कि सत्य, यदि सत्य भी कहेगा तो वह असत्यभाषी नहीं कहलायेगा। इसलिये अविद्या से आपका परमब्रह्म भी अविद्या का ही विलास रह जाता है।

"शब्दाद्वैतवाद"

शब्दाद्वैतवादी का कहना है कि यह सारा जगत् शब्दब्रह्म स्वरूप है, यह शब्दब्रह्म तो अनादिनिधन है और अक्षरादि उसके विवर्त हैं। जितने चेतनाचेतन पदार्थ हैं वे सभी इसी शब्द ब्रह्म के भेद प्रभेद हैं। ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही पदार्थ का निश्चय कराता है। मतलब जगत् में जितना भी ज्ञान है वह शब्द के द्वारा ही होता है। उनके यहां शब्द के चार भेद माने हैं। वैखरीवाक्, मध्यमावाक्, पश्यंतीवाक् और सूक्ष्मावाक्। कहा भी है—

"वैखरी शब्दनिष्पत्तिः मध्यमा श्रुतिगोचरी।
द्योतितार्था च पश्यंती सूक्ष्मावागनपायिनी॥"

अर्थ—वक्ता के कंठ, तालु आदि स्थानों से प्राणवायु के सहारे जो ककारादि वर्ण या स्वर उत्पन्न होते हैं उसे वैखरीवाक् कहते हैं।

अंतरंग में जो जल्परूप वचन हैं वे मध्यमावाक् हैं। जो ककारादि के क्रम से रहित हैं तथा ज्ञान-रूप हैं जिसमें वाच्य, वाचक का विभाग नहीं होता है वे पश्यंतीवाक् हैं।

परम ज्योतीस्वरूप, अत्यंत दुर्लक्ष्य, कालआदि भेद से रहित ऐसी सूक्ष्मावाक् है। इसी सूक्ष्मावाक् से सारा विश्व व्याप्त है। यदि ज्ञान शब्द ब्रह्म की वचनरूपता का उलंघन करे तब तो कुछ भी ज्ञान का प्रकाश ही नहीं रहेगा।

इस शब्दाद्वैतवाद का प्रमेयकमलमार्तण्ड में श्री प्रभाचंद्राचार्य ने बड़े ही सुन्दर ढंग से खंडन कर दिया है। आचार्य ने कहा है कि यह सारा जगत् शब्दमय है ऐसा अनुभव कहाँ होता है ? सारे ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही होते हैं यह बात भी नहीं दिख रही है। नेत्रादि इंद्रियों से जो ज्ञान होता है उसमें शब्द का संबंध है ही नहीं। एक कर्ण ज्ञान को छोड़कर किसी भी ज्ञान में शब्द का संबंध नहीं है फिर भी यदि जबरदस्ती ही मानो तब तो हम आपसे प्रश्न करते हैं कि ज्ञान से शब्द का संबंध आपको कैसे हो रहा है, प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से ? प्रत्यक्ष से कहो तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नेत्र के द्वारा जो भी नीलादि पदार्थों का प्रतिभास है वह शब्द से रहित है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी शब्द को विषय नहीं करता है।

उपर्युक्त यह सब दोषारोपण देखकर शब्दाद्वैतवादी कहता है कि शब्द का संबंध पदार्थ से है अर्थात् सभी चेतनाचेतन पदार्थ शब्द से अनुविद्ध हैं। इस पर भी यह प्रश्न होता है कि पदार्थ का स्थान और शब्द का स्थान एक है क्या ? यदि एक कहो तो बहुत बड़ी आपत्ति आ जावेगी। अग्नि, जल आदि पदार्थ और शब्द एकमेक होने से अग्नि शब्द के सुनते ही कान जल जावेंगे एवं जल शब्द से कान में पानी भर जावेगा तब तो कान से कुछ सुनाई भी नहीं देगा, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है अतः शब्द और पदार्थ का तादात्म्य संबंध नहीं है क्योंकि पदार्थ और शब्द भिन्न २ इंद्रियों से ग्रहण किये जाते हैं शब्द केवल कर्णेन्द्रिय गम्य है।

दूसरी बात यह है कि यदि आप जगत् को शब्द रूप मानते हो तब तो यह भी प्रश्न होता है कि यह शब्दब्रह्म जगत् रूप परिणत होता है तब अपने स्वभाव को छोड़कर होता है या बिना छोड़े ? यदि छोड़ कर कहो तो शब्दब्रह्म अनादि निधन कहाँ रहा ? यदि शब्द अपने स्वभाव को छोड़े बिना भी जगत् रूप होता है तब तो बहिरे को, एकेन्द्रिय आदि को, और तो क्या पत्थर को भी सुनाई देना चाहिए क्योंकि सभी चेतन अचेतन पदार्थ शब्द से तन्मय ही तो हैं, किन्तु ऐसा दिखता तो है नहीं। पुनरपि एक प्रश्न उठता है कि आपके शब्द ब्रह्म से यह जगत् रूप पर्याय भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्ष लेवो तो अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो ये नानाभेद क्यों दिखाई देते हैं ?

[प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिचार्वाकस्य निराकरणं क्रियते जैनैः]

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदतां[1] [1]प्रमाणेतरसामान्यव्यवस्थापनस्य[2] [3]संवादेतरस्वभावलिङ्गजानुमाननिबन्धनस्य[3] परचित्तावबोधस्य च व्यापारादिकार्यलिङ्गोत्थानुमान[4]निमित्तस्य परलोकादिप्रतिषेधस्य चानुपलब्धिलिङ्गोद्भूतानुमानहेतुकस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणविरुद्ध-

इस प्रकार से जैनाचार्यों के द्वारा दिये गये इन सभी दोषों से घबराकर उस शब्दाद्वैतवादी ने कहा कि भाई ! हमारे यहाँ ये कुछ भी दोष नहीं आते हैं क्योंकि हमारी मान्यता है कि शब्दब्रह्म से भिन्न जो नाना पदार्थ दिखाई दे रहे हैं यह केवल अविद्या का ही विलास है। हमारे यहाँ योगीजन तो शब्द ब्रह्म को नाना रूप से न देखकर एक रूप ही देखते हैं तब प्रश्न यह होता है कि वह अविद्या शब्दब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो द्वैत हो गया और यदि अभिन्न है तो आपका शब्दब्रह्म अविद्या रूप ही रहा।

और दूसरी आपत्ति यह आती है कि यदि आपकी मान्यता के अनुसार पदार्थ शब्दमय हैं तब तो 'गिरि' शब्द तो इतना छोटा है और 'गिरि' शब्द का वाच्य पहाड़ कितना बड़ा दिख रहा है ऐसा क्यों ? शब्दमय गिरि पदार्थ कहां रहा ? किसी भी पदार्थ के वाचक शब्द क्या उस वस्तु के बराबर बड़े हो सकते हैं अणु शब्द और आकाश, मेरू आदि के वाचक शब्द अपने वाच्य के बराबर हो जावें फिर क्या होगा ? तथा यदि शब्दमय पदार्थ हैं तो संकेतादि के बिना भी प्रत्येक बालक, मूर्ख आदि को उसका ज्ञान होना चाहिये, किंतु ऐसा होता नहीं है बाल्यकाल से ही बालकों को हजारों बार पदार्थों में संकेत कराया जाता है। देखो बालक ! "यह पुस्तक है, यह पेंसिल है" इत्यादि प्रत्येक वस्तु में बार-बार संकेत के सुनने से बालक उस नाम से उस पदार्थ को जानने लगता है। इन बातों से यह निश्चित हो जाता है कि आपका शब्दाद्वैतवाद प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है, इसका दुराग्रह छोड़ देना चाहिये।

[चार्वाक का खण्डन]

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसा कहने वाले चार्वाक के यहां संवाद और विसंवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान के निमित्त से होने वाली प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था और वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान के निमित्त से होने वाला पर के चित-चैतन्य का ज्ञान तथा अनुपलब्धि हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान हेतुक परलोकादि का निषेध है ऐसा कथन प्रत्यक्षैक प्रमाण के विरुद्ध है ऐसा समझना चाहिये और इनके मानने पर तो प्रमाणांतर—अनुमान प्रमाण सिद्ध हो जाता है। अर्थात् चार्वाक प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था को संवाद और विसंवाद से ही मानता है बस ! यही स्वभाव हेतु है। उसी प्रकार से दूसरों की बुद्धि का ज्ञान उसके वचन बोलने आदि कार्य हेतु से होता है तथैव परलोकादि का निषेध अनुपलब्धि हेतु से होता है अतः इन तीन हेतुओं से उत्पन्न हुये अनुमान को मान लेने से यह चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है यह बात नहीं बन सकती है।

१ चार्वाकाणाम्। २ इतरत्=असत्यम्। ३ इतरः=विसंवादः।

(1) अप्रमाणमनुमानादिकं। (2) समर्थनस्य। (3) बसः। (4) बसः।

स्याभिधानं[1] प्रतिपत्तव्यं, ¹तथा ²प्रमाणान्तरसिद्धेः³। परोपगमात्तत्स्वीकरणे ³स्वयं प्रमाणे-तरसामान्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः कुतः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादः³, ⁴अतिप्रसङ्गात् ।

यदि आप कहें कि पर की स्वीकृति से हम प्रमाणांतर को स्वीकार करके निषेध करते हैं तब तो स्वयं प्रमाण और प्रमाणाभास रूप सामान्य की व्यवस्था नहीं हो सकने से आपके यहाँ प्रत्यक्ष रूप ही एकप्रमाणवाद कैसे सिद्ध होगा ? अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा। अर्थात् अनुमान के सद्भाव में भी एकप्रमाणवाद को यदि चार्वाक मानें तब तो अनेक प्रमाणवादी वैशेषिकादिकों को भी एकप्रमाणवादिता का प्रसंग आ जावेगा।

भावार्थ—चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानता है उसके प्रति आचार्य कहते हैं कि—

प्रमाणेतरसामान्य स्थितेरन्यधियो गतेः ।
प्रमाणांतरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥

अर्थ—प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति होने से शिष्यादि की बुद्धि के ज्ञान से और परलोकादि के प्रतिषेध से प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाणरूप अनुमान का सद्भाव सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि अनुमान प्रमाण के माने बिना न तो प्रमाण सामान्य ही सिद्ध हो सकता है और न अप्रमाण सामान्य ही, क्योंकि किसी भी ज्ञान सामान्य को प्रमाण सिद्ध करने में उसका अविसंवादी होना आवश्यक है तथैव मिथ्याज्ञान का विसंवाद के साथ अविनाभाव संबंध है। अतः प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण का मानना आवश्यक ही हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि यह चार्वाक "एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" इस प्रकार जब दूसरों को समझावेगा तब अन्य पुरुष के वचन चातुर्य आदि के द्वारा उसकी बुद्धि रूप कार्य का अनुमान करके ही तो समझावेगा क्योंकि वचन चातुर्य आदि बुद्धि के कार्य हैं तथैव पुण्य, पाप परलोकादि का निषेध करने के लिए उस चार्वाक को अनुपलब्धि रूप हेतु का आश्रय लेना ही पड़ेगा। अर्थात् प्रमाण और अप्रमाण सामान्य की व्यवस्था संवाद और विसंवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान से होती है तथा वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुआ जो अनुमान है उस अनुमान से पर की बुद्धि आत्मा आदि का ज्ञान होता है पुनः उसको समझाया जाता है एवं अनुपलब्धि हेतुक अनुमान से परलोक, पुण्य, पापादि का निषेध किया जाता है अतः चार्वाक के यहां अनुमान प्रमाण बिना माने ही जबरदस्ती आ जाता है। चार्वाक उसका निषेध नहीं कर सकते हैं और यदि करते हैं तो उनके यहां प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

---

१ तथा सति। २ 'प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः। प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्" इति वचनात्। ३ अन्यथा। ४ अनुमानसद्भावेप्येकप्रमाणवादिता चार्वाकस्य यदि स्यात्तदानेकप्रमाणवादिनां वैशेषिकादीनामप्येकप्रमाणवादिताप्रसङ्गात् ।

---

(1) अस्तीति। (2) अनुमान। (3) स्वस्य।

[तर्केण विनानेकप्रमाणवादिनां प्रमाणव्यवस्थापि न तत्त्वव्यवस्थां कर्त्तुं क्षमा]

तथानेकप्रमाणवादिनां [1]कपिल[2]कणभक्षाक्षपाद[3]जैमिनिमतानुसारिणां[4] स्वोपगतप्रमाण-संख्यानियमविरुद्धस्य सामस्त्येन साध्यसाधनसम्बन्धज्ञानस्याभिधानं[5] बोद्धव्यं, प्रमाणान्तरस्योहस्य सिद्धेः। यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति प्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यं, [6]तस्य सन्निहितविषयप्रतिपत्तिफलत्वात्। नाप्यनुमानस्य[7], अनवस्थानात्, तद्व्याप्तेरप्यपरानुमानगम्यत्वात्। इति वैशेषिकस्योहः [8]प्रमाणान्तरमनिच्छतोप्यायातम्। [9]एतेन सौगतस्य प्रमाणान्तरमापादितम्[10]। तथागमस्यापि व्याप्तिग्रहणेऽन-

[तर्क प्रमाण के न मानने से हानि]

तथा अनेक प्रमाणवादी कपिल—सांख्य, कणभक्ष—वैशेषिक, अक्षपाद—नैयायिक, जैमिनि—प्रभाकरभट्ट के मत का अनुसरण करने वालों को अपने द्वारा स्वीकृत प्रमाण की संख्या के नियम से विरुद्ध समस्त रीति से साध्य साधन के सम्बन्ध का ज्ञान रूप तर्क नाम का प्रमाण अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये। वह भिन्न प्रमाण रूप ऊह नाम से प्रसिद्ध ही है। अर्थात् इन सभी ने दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि रूप से प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव रूप जो प्रमाण मानें हैं उनमें तर्क प्रमाण न होने से साध्य साधन के अविनाभाव को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है, एक तर्क ही ऐसा प्रमाण है जो व्याप्ति को विषय कर सकता है। इसीलिये आचार्य उस तर्क को पृथक् प्रमाण सिद्ध करते हैं।

जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से उत्पन्न हुआ है अथवा अनग्नि से उत्पन्न नहीं हुआ है इस प्रकार के ज्ञान को कराने में प्रत्यक्ष की सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष सन्निहित–वर्तमान विषय के ज्ञान का फलस्वरूप है। अनुमान भी उस व्याप्ति को जानने में समर्थ नहीं है, क्योंकि अनवस्था आ जाती है कारण यह है कि वह व्याप्ति भी अन्य अनुमान से गम्य होगी। इस प्रकार से वैशेषिक के यहां तर्क नाम का प्रमाण स्वीकार न करने पर भी आ ही जाता है।

इसी कथन से सौगत के यहां भी तर्क नाम का भिन्न प्रमाण आ ही जाता है।

तथा आगम भी व्याप्ति को ग्रहण करने का अधिकारी नहीं है अतः कपिल–सांख्य को तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा एवं व्याप्ति को ग्रहण करने में उपमान प्रमाण भी असमर्थ है अतः आप नैयायिक को भी इस तर्क को मानना ही होगा। प्रभाकर के यहां भी अनुमान के समान अर्थापत्ति से व्याप्ति का ज्ञान न होने से तथा भट्टमतानुसारी को मान्य अभाव प्रमाण भी उसे नहीं जान सकता है अतएव इन प्रभाकर

१ कपिलः=साङ्ख्यः। २ कणभक्षो=वैशेषिकः। ३ अक्षपादो=नैयायिकः। ४ जैमिनिः=प्रभाकरभट्टः। ५ ऊहाख्यस्य। ६ प्रत्यक्षस्य। ७ ऊहपरिज्ञाने सामर्थ्यम्। ८ अनिष्टम्। ९ वैशेषिकस्य प्रमाणान्तरप्रतिपादनेन। १० सौगतेनापि प्रत्यक्षानुमानाख्यप्रमाणद्वयस्याभ्युपगमात्।

धिकारात्कापिलस्योहः प्रमाणं नैयायिकस्य च [1]तत्रोपमानस्याप्यसमर्थत्वात् [2]प्राभाकरस्य चार्थापत्तेरप्यनुमानवत्तत्राव्यापाराद्भट्टमतानुसारिणश्चाभावस्यापि तत्रानधिकृतत्वात्[1] । तथैकमपि प्रमाणमनभ्युपगच्छतां तत्त्वोपप्लवावलम्बिनामनेकप्रमाणवादिनां तत्त्वोपप्लवोपगमस्य प्रमाणसिद्ध्यविनाभाविनः सकलतत्त्वोपप्लवविरुद्ध[3]स्याभिधानमवगन्तव्यम् ।

[परस्परविरोधदोषस्य स्पष्टीकरणं]

वैनयिकानां तु सर्वमवगतमिच्छतां परस्परविरुद्धाभिधानं विरुद्धसंवेदनं प्रसिद्धमेव, [4]सुगतमतोपगमे [2]कपिलादिमतस्य विरोधात् । ततः सिद्धो हेतुः परस्परविरोधत इति

और भाट्ट को भी तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा अर्थात् चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है, बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान ये चार प्रमाण मानते हैं। इन्हीं चार प्रमाणों में अर्थापत्ति मिलाकर प्रभाकर पांच प्रमाण मानता है एव मीमांसक और जैमिनीय इन्हीं पांच प्रमाणों में एक अभाव प्रमाण मिलाकर छह प्रमाण मानते हैं।

तथा एक भी प्रमाण को न स्वीकार करते हुए तत्त्वोपप्लववादी अनेक प्रमाणवादी हो जाते हैं "न एकः अनेकः" से जहां एक नहीं वहां अनेक सिद्ध हो जाता है। उनकी तत्त्वोपप्लव–शून्यवाद की स्वीकृति प्रमाणसिद्धि से अविनाभावी है वह संपूर्णतत्त्वोपप्लव से विरुद्ध–तत्त्व के सद्भाव का ही कथन कर देती है ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् तत्त्वोपप्लवग्राही प्रमाण सत्यभूत सिद्ध हो जाता है एवं तत्त्वोपप्लव रूप प्रमेय भी सत्य रूप सिद्ध हो जाता है। अतः सम्पूर्ण तत्त्व के अभाव का कथन ही विरुद्ध हो जाता है।

[परस्पर विरोध दोष का स्पष्टीकरण]

सभी को अवगत रूप–मान्य रूप स्वीकार करते हुये वैनयिकों का परस्पर विरुद्ध कथन करने वाला विरुद्ध ज्ञान प्रसिद्ध ही है क्योंकि सुगत मत की स्वीकृति में सांख्य के द्वारा स्वीकृत मत विरुद्ध हो जाता है।

इसलिये "परस्पर विरोधतः" यह हेतु सिद्ध ही है और यह सभी तीर्थंकृत् संप्रदायों में आप्त के

१ ऊहग्रहणे। २ प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः॥ जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः। साङ्ख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः॥ श्लोकानुक्तमपि प्रभाकरस्य पञ्च प्रमाणानीति ज्ञेयम्। ३ यतस्तत्त्वोपप्लवग्राहि प्रमाणं सत्यभूतमायातं तत्त्वोपप्लवरूपः प्रमेयश्च ततः सकलतत्त्वोपप्लवकथनस्य विरोधः। ४ कुतः?

(1) अनधिकरणात्। अत्रोपयोगिश्लोकद्वयमिदं। प्रत्यक्षं चानुमानञ्च शाब्दं चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः॥ १ ॥ जैमिने षट्प्रमाणानि चत्वारि न्यायवेदिनः। सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः॥ २ ॥ प्राभाकरस्य पंचप्रमाणानीति श्लोकानुक्तमपि ज्ञातव्यं। (2) कपिलादिगतोगमस्य इति पा.।

अभाव को सिद्ध कर देता है।

विशेषार्थ—ब्रह्माद्वैतवादी और चार्वाक ये दोनों परस्पर सर्वथा विपरीत बातों को लिये हुए हैं। ब्रह्माद्वैतवादी तो चेतन अचेतन सभी पदार्थों को ब्रह्म की ही पर्याय मानता है और चार्वाक सम्पूर्ण चेतन अचेतन पदार्थों को भूतचतुष्टय रूप जड़ के ही गुण धर्म मानता है। अद्वैतवादी कहता है कि पदार्थों में जन्म, मरण, उत्पाद, व्यय आदि जो भी परिणमन पाया जाता है वह सब अविद्या का विलास है। सभी पर्यायें अंत में ब्रह्म में ही विलीन हो जाती हैं किन्तु चार्वाक सर्वथा इससे विपरीत जीव के प्रति जन्म मरण के अस्तित्व को न मानकर जड़ से ही चेतन की उत्पत्ति मानता है और मरण के अनन्तर चैतन्य का सर्वथा अभाव मानकर भूतचतुष्टय में ही चैतन्य की परिसमाप्ति मान लेता है। ब्रह्माद्वैतवादी चेतन स्वरूप एक परमब्रह्म से ही चेतन की एवं विजातीय स्वरूप अचेतन की भी उत्पत्ति मान रहा है तथैव चार्वाक अचेतन रूप पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टयों से अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति मानकर पुनरपि इन्हीं भूतचतुष्टयों से चेतन स्वरूप विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति मान रहा है।

इसी प्रकार से सांख्य और बौद्ध सिद्धांत भी सर्वथा परस्पर विरुद्ध हैं। सांख्य सभी चेतनअचेतन पदार्थों को सर्वथा कूटस्थ नित्य अपरिणामी मानता है, बौद्ध सभी चेतनअचेतन पदार्थों को प्रतिक्षणध्वंसी, सर्वथा क्षणिक मान लेता है, साँख्य पर्यायों को भी नित्य कह रहा है और बौद्ध द्रव्य को भी उत्पाद, व्यय रूप कह रहा है।

सांख्य सत्कार्यवादी है उसका कहना है कि कारण में कार्य सर्वथा विद्यमान है केवल तिरोभूत है, निमित्त कारणों से उस कार्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। यथा—मिट्टी में घट विद्यमान है कुँभकार, दंड, चाक आदि कारणों से प्रकट हो जाता है न कि उत्पन्न, किन्तु बौद्ध सर्वथा इससे विपरीत असत्कार्यवादी है। वह कहता है कि कारण तो उसी क्षण जड़ मूल से विनष्ट हो जाता है पुनः कार्य उत्पन्न होता है। जैसे—मृत्पिड का सर्वथा विनाश होकर ही घट का उत्पाद हुआ है, विनष्ट हुये कारण से कार्य को उत्पन्न हुआ मानने वाला यह बौद्ध तो अपनी बुद्धिमत्ता की ही डींग मार रहा है। सांख्य आविर्भाव और तिरोभाव मानकर के किसी भी वस्तु में उत्पाद-व्यय नहीं मानता है तो बौद्ध द्रव्य में भी स्थिर—ध्रौव्यावस्था को न मान कर के सर्वथा द्रव्य का प्रतिक्षण जड़ मूल से नाश मान रहा है और वासना—संस्कार से सभी वस्तुओं की व्यवस्था स्मृति आदि व्यवहार मानता है।

निरीश्वरवादी सांख्य प्रकृति रूप अचेतन के द्वारा ही सारे संसार का उत्पाद मानता है तो वैशेषिक एक सदाशिव स्वरूप महेश्वर के द्वारा इस सृष्टि का उत्पाद मानते हैं मतलब सांख्य ने जड़ को सृष्टि का कर्त्ता माना है तो वैशेषिक महेश्वर चेतन भगवान् को सृष्टि का कर्त्ता मान रहे हैं। इन सभी सिद्धांतों में परस्पर में विरोध वैसे ही पाया जाता है जैसे कि हिंदू—मुस्लिम में देखा जाता है। यदि हिंदू संप्रदाय वाले शिर पर शिखा रूप चोटी रखना धर्म कहते हैं तो मुसलमान चोटी कटाकर धर्म मानते हैं। हिंदू दिन में भोजन करना व्रत समझते हैं तो मुसलमान रात्रि में रोजा खोलते हैं। हिन्दू सूर्य को अर्घ चढ़ाते हैं तो मुसलमान चन्द्र को मानकर व्रत करते हैं, इत्यादि।

[1]तीर्थकृत्समयानां सर्वेषामाप्तत्वाऽभावं साधयति । [1]यदि पुनः संविदद्वैतादीनां[2] [3]स्वतः प्रमितिसिद्धेः [2]प्रमाणान्तरतः स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनाभावान्न परस्परविरुद्धाभिधानं स्वसंवेदनैकप्रमाणवादिनां, [4]नापीन्द्रियजप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनां, प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षत एव सिद्धेः, अनुमानादिप्रामाण्याभावस्यापि तत एव प्रसिद्धेः प्रमाणान्तराप्रसङ्गात्, तथानेकप्रमाणवादिनामपि स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमस्य स्वत एव सिद्धेः प्रमाणान्तरस्योहस्याप्रसङ्गान्न विरुद्धाभिधानं संभवतीति मतं [5]तदापि न तेषामाप्ततास्ति, **स्वप्रमाव्यावृत्ते[4]रन्यथा[6]नैकान्तिकत्वात्[5] ।***

यहां पर कहने का मतलव यह है कि यदि वैनयिक संप्रदाय वाले सभी मतों को प्रमाण मानेंगे तो क्या होगा ? क्योंकि सभी में परस्पर में विशेष रूप से विरोध दिख रहा है। इसलिये वैनयिक भी तीर्थ विनाश संप्रदाय वाले ही सिद्ध हो जाते हैं।

संवेदनाद्वैतवादी आदि चारों अद्वैतवादी कहते हैं कि संवेदनाद्वैत आदि का ज्ञान स्वतः सिद्ध है, प्रमाणांतर से स्वपक्ष साधन, परपक्ष दूषण रूप वचनों का अभाव है इसलिये स्वसंवेदन रूप एक प्रमाण मानने वालों का कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है। इंद्रिय से उत्पन्न होने वाला ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा मानने वालों का भी कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रमाणता तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। अनुमानादि की प्रमाणता का अभाव भी प्रत्यक्ष से ही प्रसिद्ध है क्योंकि प्रमाणांतर का प्रसंग नहीं है।

तथैव अनेक प्रमाणवादी लोगों की भी स्व स्व स्वीकृतप्रमाण की संख्या का नियम स्वतः ही सिद्ध है। ऊह नाम के भिन्न प्रमाण का प्रसंग नहीं आता है अतः परस्पर विरुद्ध कथन संभव नहीं है ऐसा जिन लोगों का मत है उन लोगों में भी आप्तता नहीं है **क्योंकि उनके यहां स्वप्रमा की (अपने ज्ञान की) व्यावृत्ति हो जाती है। "अन्यथा अनैकांतिक दोष आ जावेगा* ।**

---

१ संवेदनाद्वैतादयो वदन्ति स्याद्वादिनं प्रति ।—हे स्याद्वादिन् यत्त्वयास्माकं परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिपादितं स्वस्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमविरोधश्च प्रतिपादितस्तद्द्वयमपि नास्त्यस्माकमिति । अस्योत्तरमाह स्याद्वादी 'तथापि तेषामाप्तता नास्ति, स्वप्रमाणफलज्ञानलक्षणायाः प्रमाया अभावात्' इति । २ चतुर्णामद्वैतवादिनाम् । ३ आत्मनः संवेदनात् स्वस्मात्प्रमितिः प्रमाणस्य साध्यं फलं सिद्धयतीत्यर्थः । ४ परस्परविरुद्धाभिधानमिति सम्बन्धो योजनीयः । ५ तथापीत्यर्थः । ६ अन्यथा प्रमाऽभावाभावे अनैकान्तिकत्वमायाति ।

---

(1) वसः । (2) संविदद्वैतमेव साध्वर्थसंविद इहोपलंभनियमात् । चित्राभासापि एकैव बुद्धिः श्रेयसी तस्याः बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् सर्वे भावाः शब्दमया एव एतेषां तदाकारानुस्यूतत्वात् यथा घटसरावादयो मृद्विकारा मृदाकारानुस्यूता मृन्मयत्वेन प्रसिद्धास्तथा सर्वे भावा इत्यादेः प्रमाणांतरतः । (3) प्रमितिः । (4) स्वेन स्वकीयरूपपरिच्छित्यभावात् । (5) अनकधर्मसहितत्वात् ।

[अन्यसिद्धांतेषु स्वयं स्वस्यैव ज्ञानं न संभवति]

न हि संविदद्वैतेन्यत्र[1] वा स्वस्य स्वेनैव प्रमा संभवति, [2]निरंशत्वात्प्रमातृप्रमाणप्रमेय-स्वभावव्यावृत्तौ प्रमाया [3]व्यावृत्तेस्तदव्यावृत्तौ प्रमात्रादिस्वभावाव्यावृत्तेरैकान्तिकत्वाभावात्[4] प्रमात्राद्यनेकस्वभावस्यैकसंवेदनस्यानेकान्तात्मनोनुमननात्[5], संवित् स्वयं स्वेन स्वं संवेदयत इति प्रतीतेः ।

[अन्य सिद्धांतों में स्वयं को स्वयं का ज्ञान संभव नहीं है]

विज्ञानाद्वैत में अथवा अन्य अद्वैतों में स्वयं का स्वयं के द्वारा ही ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि बौद्धों की अपेक्षा तो वह ज्ञान निरंश है—अनेक धर्मों से रहित है और दूसरी बात यह भी है कि प्रमाता—आत्मा प्रमाण और प्रमेय स्वभाव की व्यावृत्ति मानने पर तो प्रमा—ज्ञप्ति की भी व्यावृत्ति हो जाती है और उस प्रमा—ज्ञप्ति की व्यावृत्ति न मानने पर प्रमाता आदि स्वभाव की भी व्यावृत्ति नहीं होने से तो एकांत का अभाव हो जाता है एवं अनेकांत की ही सिद्धि हो जाती है क्योंकि प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति आदि अनेक स्वभाव रूप एक ज्ञान अनेकांतात्मक ही स्वीकार किया गया है । अतएव हम जैनों के यहां ज्ञान स्वयं स्वयं के द्वारा स्वयं का संवेदन करता है ऐसी प्रतीति हो रही है ।

भावार्थ- प्रमाण शब्द व्याकरण के अनुसार जैन सिद्धांत में तीन तरह से सिद्ध होता है । जब कर्तृ-साधन में कर्त्ता—आत्मा प्रधान रहता है उस समय "यः प्रमिमिणोति सः प्रमाणं" जो जानता है वह प्रमाण है । जब करणसाधन में आत्मा अप्रधान है तब "प्रमीयते अनेन इति प्रमाणं" यहां पर आत्मा जिसके द्वारा जानता है वह प्रमाण है एवं भाव साधन में 'प्रमिति मात्रं प्रमाणं" के अनुसार जानना मात्र प्रमाण है । यहां पर चार बातें हैं प्रमाता - आत्मा, प्रमाण ज्ञान, प्रमेय –ज्ञेयपदार्थ और प्रमा—जानना मात्र । जैनसिद्धांत में आत्मा को इन चारों रूप से सिद्ध किया है यथा आत्मा ही प्रमाता—जानने वाला है, आत्मा ही ज्ञान रूप है, आत्मा ही स्वयं ज्ञान के द्वारा जाना जाता है अतः प्रमेय—ज्ञेय रूप भी है तथैव आत्मा ही भाव साधन में प्रमा मात्र—जानना मात्र रूप से प्रमा रूप भी है । जो बौद्ध आदि लोग ज्ञान को एक निरंश मानते हैं उनके यहाँ स्वयं का ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि जब ज्ञप्ति स्वयं ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से रहित है तब स्वयं की आत्मा (ज्ञाता) का ज्ञान कैसे करावेगी एवं जब स्वयं को स्वयं का ज्ञान नहीं हो सकेगा तब वह व्यक्ति किसी का ज्ञान भी कैसे कर सकेगा ? ये सब दूषण ज्ञान को अंश रहित एक रूप मानने से ही आते हैं । हम जैनों के यहां तो एक ज्ञान को ही कर्त्ता की अपेक्षा ज्ञाता, करण की अपेक्षा से ज्ञानरूप माना है एवं उसी को ज्ञेय और ज्ञप्ति रूप से भी माना है । अतः कुछ भी बाधा नहीं आती है क्योंकि ज्ञान स्वयं ही स्वयं के द्वारा स्वयं का वेदन—अनुभव कर रहा है और ऐसा अनुभव से सिद्ध है ।

---

१ अद्वैतान्तरे । २ अनेकधर्मरहितत्वात् (बौद्धमतापेक्षया) । ३ तस्याः प्रमाया भावे सति । ४ स्याद्वादसिद्धेरित्यर्थः । ५ कुतः ? यतः ।

[चार्वाकादिमते ज्ञानं स्वसंविदितं नास्ति अतः प्रमाणस्य व्यवस्था तेषां न घटते]

नापीन्द्रियजप्रत्यक्षे स्वप्रमा घटते, [१]भूतवादिभिस्तस्यास्वसंविदितत्वोपगमात्[1]। इति सिद्धा [२]तत्र स्वप्रमाया व्यावृत्तिः। ततो न प्रत्यक्षत एव प्रमाणेतरसामान्यस्थित्यादिः। तदव्यावृत्तौ वा स्वार्थव्यवसायात्मकत्वसिद्धेः स्याद्वादाश्रयणादैकान्तिकत्वाभावादनैकान्तिकत्वम्[2]। [३]एतेनानेकप्रमाणवादिनामनेकस्मिन् प्रमाणे स्वप्रमाव्यावृत्तिर्व्याख्याता। तदव्यावृत्तौ वानैकान्तिकत्वप्रसक्तिः, [४]अनेकशक्त्यात्मकस्वार्थव्यवसायात्मकानेकप्रमाणसिद्धेः[५]। तत्त्वोपप्लववादिनां तु तत्त्वोपप्लवे स्वप्रमाया व्यावृत्तिः सिद्धैव। तदव्यावृत्तौ [3]तत्त्वोपप्लवैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तिश्च[६]। ततो नैतेषामाप्तता। किञ्च[७] [८]**सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरितरथा**[९]

[चार्वाक आदि के मत में ज्ञान स्वसंविदित नहीं है अतः उनके यहां प्रमाण की व्यवस्था नहीं बनती है]

इन्द्रियज प्रत्यक्ष में भी अपने को अपना ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि भूतचतुष्टयवादी चार्वाकों ने उस ज्ञान को अस्वसंविदित स्वीकार किया है। अतः उस प्रत्यक्ष प्रमाण में अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) सिद्ध ही है अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रमाण और अप्रमाण सामान्य की स्थिति आदि नहीं हो सकती है। अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण में ज्ञान की व्यावृत्ति न मानने पर तो ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक सिद्ध हो जाता है पुनः स्याद्वाद का आश्रय ले लेने से एकांत का अभाव होकर अनेकांत ही सिद्ध हो जाता है।

इसी कथन से अनेक प्रमाणवादियों के अनेक प्रमाणों में अपने-अपने ज्ञान की व्यावृत्ति सिद्ध ही है ऐसा व्याख्यान किया गया है अथवा यदि ज्ञान की व्यावृत्ति न मानो तो अनेकाँत का प्रसंग आ ही जाता है क्योंकि अनेक शक्त्यात्मक रूप से स्वार्थव्यवसायात्मक स्वरूप अनेक प्रमाण सिद्ध हैं। अर्थात् ज्ञान को स्वार्थ निश्चायक माने बिना किसी के यहाँ ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

तत्त्वोपप्लववादी के यहां संपूर्ण तत्त्व का उपप्लव—नाश मान लेने पर तो अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) सिद्ध ही है। यदि अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) न मानो तो तत्त्वोपप्लवरूप एकांत का ही अभाव हो जायेगा। अर्थात् अपने ज्ञान का सद्भाव मानने पर पुनः अपना ज्ञान ही तो प्रमाण प्रमेयरूप सिद्ध हो जाता है पुनः शून्यवाद कहां रहा ?

---

१ चार्वाकैः। २ प्रत्यक्षे। ३ बौद्धापेक्षया निरंशत्वात् प्रमात्रादिव्यावृत्तौ प्रमाया व्यावृत्तेरित्याद्युक्तप्रकारेण। अन्येषामपेक्षया अस्वसंविदिततत्त्वोपगमादित्याद्युक्तप्रकारेण च। ४ एताः शक्तयः कारणरूपाः। ५ एतत्कार्यरूपम्। ६ स्वप्रमायाः सद्भावे स्वप्रमाया एव प्रमाणप्रमेयरूपत्वात्। ७ पूर्वं तु परस्य प्रमाणमभ्युपगम्य दूषणमुक्तमिदानीं तदपि निराकरोति। ८ सूत्रे परस्परविरोधत इत्येतदुपलक्षणम्। तेन सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरित्यादेरपि ग्रहणम्। ९ कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन।

---

(1) कुतो स्वसंविदितत्वं। भूतचतुष्टयोत्पन्नत्वात्। भूतचतुष्टयमस्वसंविदितमचेतनत्वात् कारणगुणा हि कार्यगुणानारभंते। (2) स्वार्थव्यवसायरूपसांशत्वं। (3) तत्त्वमुपप्लुतमेवेतिनियमाभावः।

संप्रतिपत्तेः ।* ये[1] तावदेकं नित्यं[2] प्रमाणं स्वभावभेदा[3]भावाद्वदन्ति तेषां सर्वप्रमाणविनिवृत्तिः [4]येप्यनेकमनित्यं प्रतिक्षणं स्वभावभेदादाचक्षते [5]तेषामपि, प्रत्यक्षादिप्रमाणानां [1]नित्यैकान्ता[6]च्चेत[7]रेणैव[8] प्रकारेण कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन संप्रतिपत्तेः । ततो नैतेषां नित्यानित्यैकान्तप्रमाणवादिनां तीर्थकृत्समयानामाप्तता ।

[आवरणरहितज्ञानवतः सर्वज्ञस्य वागादिव्यापारा असाधारणाः संति न तु साधारणाः]

किञ्च [9]**वागक्षबुद्धीच्छापुरुषत्वादिकं**[10] [11]**क्वचिदनाविलज्ञानं**[2] **निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु**[12] **तथेति** [13]**परमगहनमेतत् ।*** तथाहि । [3]तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथैकान्तवा-

---

इसलिये इन सभी में आप्तता नहीं है **क्योंकि इन सभी के यहाँ सभी प्रमाणों की विनिवृत्ति (अभाव) हो जाती है पुनः अन्यथा—कथंचित् नित्यानित्यात्मक रूप से ही सिद्धि हो जावेगी ।***

जो नित्यैकांतवादी सांख्य और ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि वस्तु में स्वभाव भेद का अभाव होने से एक नित्य ही प्रमाण है, उनके यहां भी सभी प्रमाणों का अभाव हो जाता है ।

और जो अनित्यवादी सौगत प्रतिक्षण स्वभाव के भेद से एक अनित्य प्रमाण को कहते हैं उनके यहां भी सभी प्रमाणों का अभाव हो जाता है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ज्ञान नित्यैकांत और अनित्यैकांत से भिन्न ही कथंचित् प्रकार से कथंचित्-नित्यानित्यात्मक रूप से देखा जाता है। इसलिए इन नित्यानित्यैकांत प्रमाणवादियों के तीर्थकृत्—तीर्थविनाश संप्रदायों में आप्तता नहीं है ।

[आवरण रहित ज्ञान वाले सर्वज्ञ के वचन आदि व्यापार असाधारण हैं, साधारण नहीं हैं ।]

दूसरी बात यह है कि **वचन, इन्द्रिय, बुद्धि, इच्छा पुरुषत्वादि किन्हीं—सुगत, कपिलादि एकांतवादियों में ही अनाविल—निरावरण ज्ञान का निराकरण करते हैं,** किन्तु **उनके प्रतिषेधवादियों—जैनों में उस प्रकार से निरावरण ज्ञान का निषेध नहीं है इस प्रकार से यह समझना बहुत ही गहन है ।***

तथाहि—"तीर्थच्छेदसंप्रदाय वाले उस प्रकार से एकांतवादी ही हैं वे निरावरणज्ञानधारी नहीं हैं क्योंकि वे एकांतवादी अविशिष्ट वचन—सामान्य वचन इन्द्रियज्ञान, इच्छादिमान् हैं अथवा अविशिष्ट-सामान्य पुरुष आदि हैं जैसे रथ्या पुरुष" । इसलिए इन लोगों में आप्तता नहीं है ।

---

१ नित्यवादिनः सांख्याः ब्रह्माद्वैतवादिनश्च । २ ब्रह्मादेरुपादानकारणस्य नित्यत्वे एकत्वे चोपादेयस्यापि नित्यत्वमेकत्वं चेति भावः । ३ युगपत्क्रमेण वा । ४ अनित्यवादिनः सौगताः । ५ सर्वप्रमाणविनिवृत्तिरिति सम्बन्धः । ६ सकाशात् । ७ चकारेणानित्यैकान्तग्रहणम् । ८ कथञ्चित्प्रकारेण । ९ मीमांसकेनाभिधीयमानस्य न क्वचिदनाविलज्ञानमिति दूषणस्य परिहारद्वारेणैव परेषां सुगतादीनामाप्तता नास्ति परं त्वस्माकं त्वस्तीति वक्तुकामा वागक्षेत्याद्याहुराचार्याः । १० कर्तृपदम् । ११ सुगतकपिलादावेकान्तवादिषु । १२ जैनेषु । १३ दुरवबोधम् ।

---

(1) नित्यैकांतादनित्यैकांताच्चैतरेणैव इति पा. । (2) निर्दुष्टज्ञानं । (3) सुगतादयः ।

दिनो[1] नाऽनाविलज्ञाना[१] अविशिष्टवागक्षबुद्धीच्छादिमत्त्वादविशिष्टपुरुषत्वादेर्वा रथ्यापुरुषवत् । इति नैतेषामाप्तता । [२]तत्प्रतिषेधवादिनां पुनः स्याद्वादिनां नातः[2] कश्चिदविशिष्टवागादिमानविशिष्टपुरुषो वा[3], तस्य युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेनाभ्युपगतत्वात्[३], [४]करणक्रम[५]-व्यवधाना[4]द्यतिवर्तिबुद्धित्वात् [६]इच्छारहितत्वाद्वि[७]शुद्धपुरुषातिशयत्वादिति । [८]यथा वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं न तथा स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिष्टूयमाने [5]भगवतीति परममगहनमेतत्, [९]अयुक्तिशास्त्रविदामगोचरत्वाद[१०]कलङ्कधिषणाधिगम्यत्वात्[6] । इत्थं सिद्धं

उन अविशिष्ट वचन आदि का प्रतिषेध करने वाले स्याद्वादियों में इस प्रकार से कोई सर्वज्ञ अविशिष्ट—सामान्य वचनादिमान् अथवा अविशिष्ट—सामान्य पुरुष नहीं है क्योंकि वे सर्वज्ञ युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं ऐसा स्वीकार किया गया है। वे इन्द्रियों के क्रम और व्यवधान से रहित ज्ञान वाले हैं, इच्छा से रहित हैं एवं विशुद्ध अतिशयशाली पुरुष हैं। जिस प्रकार से सुगतादिकों के वचन आदि निर्दोष ज्ञान के निराकरण में समर्थ हैं उस प्रकार के वचन आदि स्याद्वादन्यायवेदी हम जैनियों के द्वारा स्तुति किये जाने वाले भगवान् में नहीं हैं यह परम गहन—दुष्कर ही है।

भावार्थ—मीमांसक कहता है कि "कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता है क्योंकि वह वक्ता है, इन्द्रियज्ञान से सहित है, इच्छावान् है, एवं पुरुष है। जैसे कि हम लोग वक्ता हैं, इन्द्रियज्ञान सहित हैं, इच्छावान् हैं एवं पुरुष हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि ये वक्तृत्व आदि जैसे हम और आप में पाये जाते हैं वैसे ही साधारण रूप से हम जैनों के द्वारा मान्य सर्वज्ञ में नहीं पाये जाते हैं। हमारे सर्वज्ञ भगवान् के जो वचन आदि व्यापार हैं वे साधारण लोगों में असंभवी—विशेष रूप ही हैं। सर्वज्ञ भगवान् के वचन युक्ति और आगम से अविरोधी हैं, दिव्यध्वनि से उत्पन्न द्वादशांग वाणी रूप हैं। यद्यपि सर्वज्ञ भगवान् की भाषा अनक्षरी है फिर भी श्रोताओं के कान में प्रविष्ट होकर सातसौ अठारह भाषा रूप अथवा संख्यातों भाषा रूप परिणत हो जाती है। ज्ञानावरण का पूर्णतया नाश हुये विना साधारण छद्मस्थ जीवों में ऐसे वचन असम्भव ही हैं।

सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इंद्रियों से उत्पन्न हुआ क्षयोपशम ज्ञान रूप नहीं है किंतु अतीन्द्रिय ज्ञान है। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा न होने से वह केवलज्ञान क्रम की अपेक्षा नहीं रखता है युगपत् ही सारे

१ निरावरणज्ञानाः। २ अविशिष्टवागादिप्रतिषेधवादिनाम्। ३ अविशिष्टवाक्त्वं निराकृतमनेन। ४ अक्षबुद्धिनिराकरणमनेन। ५ आदिना देशकालद्रव्यादिव्यवधानग्रहः। ६ इच्छावत्त्वं निराकृतमनेन। ७ अविशिष्टपुरुषत्वमनेन निराकृतम्। ८ सुगतादिषु। ९ युक्तिर्न्यायः। शास्त्रमागमः। १० निष्कलङ्कबुद्धिः, पक्षेऽकलङ्कदेवानां बुद्धिः।

(1) नित्यादि। (2) नाप्तः इति पा.। (3) कुतः (4) व्यवधानातिवर्ति इति पा.। द्वंद्वः। द्रव्यादिना। (5) वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं। (6) तीर्थच्छेदसंप्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति यतः।

सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वम् । [1]तेन कः परमात्मा चिदेव [2]लब्ध्युपयोगसंस्काराणामावरणनिबन्धनानामत्यये[3] भवभृतां[4] प्रभुः ।* सकलस्याद्वादन्यायविद्विषा[5]माप्तप्रतिक्षेपप्रकारेण[1] हि स्याद्वादिन एवाप्तस्याप्रतिक्षेपार्हत्वेन सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सिद्धयति ।

[अर्हद् भगवानेव सर्वज्ञो न चान्य इति साधनं]

तेनैवं[2] कारिकायास्तुरीयपादो व्याख्यायते । कः परमात्मा, पराऽऽत्यन्तिकी मा लक्ष्मी-

---

पदार्थों को एक साथ जान लेता है और तो क्या केवली भगवान् के ज्ञानावरण, दर्शनावरण दोनों ही कर्मों का विनाश हो जाने से ज्ञान और दर्शन भी एक साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये इस ज्ञान में किसी भी प्रकार अंतराल भी नहीं पड़ता है। सर्वज्ञ भगवान् के मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश हो जाने से मोह की पर्याय स्वरूप इच्छा का भी अभाव हो गया है। अतएव वीतराग भगवान् की वाणी इच्छा रहित है यथा—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शात् मुरजः किमपेक्षते ।।

इसी प्रकार से वे भगवान् हम और आप जैसे साधारण पुरुष भी नहीं हैं, परमौदारिक दिव्य शरीर के धारक महान् पुरुष हैं। अतएव हमारे सर्वज्ञ भगवान् में आप आवरण रहित—पूर्ण ज्ञान का निषेध नहीं कर सकते हैं। हां ! इतना जरूर है कि अन्य बुद्ध, कपिल, महेश्वर आदि में ये असाधारण वचन, इंद्रियजन्य ज्ञान (क्षयोपशम ज्ञान) से रहित क्षायिक ज्ञान, इच्छा का अभाव, असाधारण पुरुषत्व आदि बातें नहीं पाई जाती हैं अतः इनमें ही निरावरण ज्ञान का अभाव है ऐसा समझना चाहिये।

जो युक्ति—तर्क और शास्त्र के ज्ञानी नहीं हैं वे सर्वज्ञ उनके अगोचर हैं वे केवल अकलंक—निर्दोष बुद्धि के ही गम्य हैं अथवा भट्टाकलंकदेव की बुद्धि के ही गम्य हैं। **इस प्रकार से सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्व हेतु सिद्ध हो गया।**

जिस कारण से सभी तीर्थच्छेद संप्रदायवादियों में आप्तता नहीं है उसी कारणसे "कः—परमात्मा चित्—चैतन्य पुरुष एव—ही आवरण निमित्तक लब्धि और उपयोग के संस्कारों के नाश हो जाने पर संसारी प्राणियों के गुरु हैं।*

संपूर्ण स्याद्वादन्याय के विद्वेषियों में आप्त का खंडन कर देने से स्याद्वादियों के यहां आप्त का निराकरण करना शक्य नहीं है इस प्रकार से सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण सिद्ध हो जाता है।

[अर्हंत भगवान् ही सर्वज्ञ हैं अन्य कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।]

इस प्रकार से अब कारिका के चतुर्थ पाद का व्याख्यान करते हैं। "कः—परमात्मा, परा आत्यंतिकी

---

१ येन कारणेन तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति तेन कारणेन । २ इन्द्रियानिन्द्रियान्यतमावरणक्षयोपशमो लब्धिः । अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः । तयोः संस्कारास्तेषाम् । ३ आवरणं निबन्धनं येषां ते तेषाम् । ४ भवं यन्तीति क्विपि भवेतो भवभृतस्तेषां गुरुः प्रभुर्भवेद्गुरुरिति कारिकापदस्य व्युत्पादनम् । ५ सुगतादीनाम् ।

---

(1) आप्तत्वप्रति इति पा. । (2) कारणेन ।

र्यस्येति विग्रहात्। चिदेव[१] ज्ञ[२] एव[1] न पुनः कथञ्चिदप्यज्ञः, चिदिति शब्दस्य मुख्यवृत्त्या-श्रयणात् कथञ्चिदचित्यपि[३] चिच्छब्दस्य प्रवृत्तौ गौणत्वप्रसङ्गात्[2]।

[सर्वज्ञः इंद्रियज्ञानेन सर्वं जानात्यतींद्रियज्ञानेन वा ?]

ननु[४] च 'परमात्मा साक्षाद्वस्तु[3] जानन्निन्द्रियसंस्कारानुरोधत[4] एव जानीयान्नान्यथा [५]तद्वेदनस्य [5]प्रत्यक्षत्वविरोधात्। न चेन्द्रियसंस्काराः सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलं, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात् "सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" इति वचनात्।

मा—लक्ष्मीर्यस्येति"। कः अर्थात् परमात्मा, पर अर्थात् आत्यंतिकी, मा—लक्ष्मी है जिनको; उन्हें परमात्मा कहते हैं ऐसा विग्रह होता है। "चेतयते इति चित्—चित् ही ज्ञ ही सर्वज्ञ है, किन्तु कथंचित् भी अज्ञ सर्वज्ञ नहीं है। चित् यह शब्द मुख्य वृत्ति का आश्रय लेता है कथंचित् अचित्—अचेतन स्वरूप अर्हत, सिद्ध, साधु आदि के प्रतिबिंबादि में भी चित् शब्द की प्रवृत्ति होने पर गौण का प्रसंग आ जाता है। अर्थात् अचेतन स्वरूप जो जिन प्रतिमा आदि हैं उन्हें गौण रूप से यहां भगवान् परमात्मा कहा गया है।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि सब तीर्थ का विनाश करने वाले हैं, सभी के आगम और आम्नाय परस्पर में विरोधी हैं अतः कोई भी सर्वज्ञ परमात्मा हो ही नहीं सकता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। कारिका के चतुर्थ पाद "कश्चिदेव भवेद्गुरुः" के अनुसार कोई न कोई चित् चैतन्य स्वरूप भगवान् परमात्मा हैं जो कि सभी संसारी प्राणियों के स्वामी हैं। 'चित्' शब्द से चैतन्य स्वरूप आत्मा एवं अर्हंत, सिद्ध, साधु आदिकों की प्रतिमायें भी ग्रहण की जाती हैं, किन्तु यहां कारिका के अर्थ में मुख्य रूप से जीवन्मुक्त अर्हत परमात्मा को ही मुख्यवृत्ति से लेने का उपदेश है और गौण रूप से अचित् स्वरूप से प्रतिमादिकों को भी ले सकते हैं परन्तु यहां प्रधानता साक्षात् अर्हत भगवान् की है ऐसा समझना चाहिये।

[सर्वज्ञ भगवान् इन्द्रियज्ञान से सभी पदार्थों को जानते हैं या अतीन्द्रिय ज्ञान से ?]

मीमांसक—परमात्मा साक्षात् सभी पदार्थों को जानते हुये इंद्रिय संस्कार के अनुरोध-अनुग्रह से ही जानते हैं अन्यथा नहीं जानते हैं क्योंकि अन्यथाज्ञान-अतीन्द्रियज्ञान का होना ही प्रत्यक्ष से विरुद्ध है और इंद्रिय संस्कार एक साथ सभी पदार्थों में ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि वे इंद्रियां संबद्ध वर्तमान पदार्थ को ही विषय करती हैं "सम्वद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" ऐसा वचन है इसलिये ज्ञ—सर्वज्ञ ही नहीं है क्योंकि भविष्यत् और अतीत से असंबंधित पदार्थ के ज्ञान का अभाव होने से अल्पज्ञ

---

१ चेतयते इति चित्। २ सर्वज्ञः। ३ प्रतिविम्बादौ। ४ मीमांसकः। ५ अन्यथावेदनस्य।

---

(1) अन्ययोगव्यवच्छेदार्थं। (2) प्रतिविवादौ। (3) ता वहुः। (4) अर्थग्रहणोन्मुखता। (5) प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्ष-मित्यभिधानात्।

ततो न ज्ञ एव, भाव्यतीतासम्बद्धार्थज्ञानाभावादज्ञत्वस्यापि भावात्' इति न [1]मन्तव्यं, लब्ध्युपयोगसंस्काराणामत्यये इति वचनात् । लब्ध्युपयोगौ [1]हीन्द्रियं, "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" इति वचनात्[2] । [3]तयोः संस्काराः [4]स्वार्थधारणाः । तेषामत्यये सति ज्ञ एव स्यात् ।

[सर्वज्ञस्य भावेन्द्रियवत् द्रव्येन्द्रियाणां विनाशो कथं न भवति ?]

'कुतः पुनर्भावेन्द्रियसंस्काराणामत्यये सति ज्ञ एव स्यान्न तु [2]द्रव्येन्द्रियाणामत्यये, अतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽशेषार्थसाक्षात्कारित्वोपगमात्' इत्यपि न शङ्कनीयं [5]भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात् । कात्स्न्र्यतो ज्ञानावरणसंक्षये हि[6] भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्धः । [7]न च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां संभवः—[8]कारणाभावे [9]कार्यानु-

ही सिद्ध होते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि "लब्धि और उपयोग के संस्कारों का नाश हो जाने पर" ऐसा हमने वचन दिया है । एवं लब्धि और उपयोग को इंद्रिय कहते हैं "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" ऐसा सूत्र है । उन दोनों का संस्कार स्वार्थ धारणा रूप है । अर्थात् लब्धि और उपयोग का प्रकर्ष संस्कार अपने ग्राह्य-ग्रहण करने योग्य का ग्राहक परिमित रूप ही होता है । उन लब्धि और उपयोग के संस्कार–क्षयोपशम ज्ञान का नाश हो जाने पर सर्वज्ञ होता है ।

[सर्वज्ञ भगवान् के भावेन्द्रियों के समान द्रव्येन्द्रियों का विनाश क्यों नहीं हो जाता है ?]

शंका—भावेन्द्रिय संस्कार के नाश होने पर ही सर्वज्ञ होता है किन्तु द्रव्येन्द्रियों के नाश से नहीं—यह बात कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि आपने तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से अशेष पदार्थ का साक्षात्कार होना स्वीकार किया है ।

समाधान—ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि भावेन्द्रियां तो आवरण के निमित्त से होती हैं किन्तु द्रव्येन्द्रियां आवरण निमित्तक नहीं हैं क्योंकि वे अंगोपांग नाम कर्म के निमित्त से होती हैं । अतः संपूर्णतया ज्ञानावरण का क्षय हो जाने पर ही भगवान् अतींद्रियप्रत्यक्षज्ञानी सिद्ध हैं । अर्थात् सर्वज्ञ में अष्ट कर्म का नाश कारण नहीं है ज्ञानावरण, दर्शनावरण का अभाव ही कारण है । इसलिये संपूर्ण आवरण का नाश हो जाने पर आवरण निमित्तक भावेन्द्रियां संभव नहीं हैं क्योंकि कारण के अभाव में कार्य

१ स्याद्वाद्याह । २ तत्त्वार्थाधिगमवचनात् । ३ लब्ध्युपयोगयोः प्रकर्षाः (संस्काराः) स्वग्राह्यार्थग्राहकाः परिमितरूपा भवन्ति । ४ धारणाज्ञानरूपा न तु स्वरूपार्थग्रहणोन्मुखता संस्कारे, उपयोगसंस्कारयोरेकत्वप्रसङ्गात् । ५ न तु द्रव्येन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वं तेषामङ्गोपाङ्गनामकर्मनिबन्धनत्वात् । ६ एवार्थे । न तु तत्राष्टकर्मविनाशः कारणम् आवरणापायस्यैव कारणत्वोपगमात् । ७ ज्ञानावरणसंक्षये भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाग्भवत्येतावता भावेन्द्रियाणामभावादेवेति कथमित्याशङ्कायामाह । ८ कारणानामावरणाभावरूपाणाम् । ९ कार्यस्य=भावेन्द्रियरूपस्य ।

(1) ज्ञानावरणसंक्षये भगवानतींद्रियप्रत्यक्षभाग्भवेत् एतावता भावेंद्रियाणामभावः कथमित्याशंकायामाह । (2) द्रव्येंद्रियाणामप्यपायः कुतो न शक्यते स्याद्वादिभिः सर्वज्ञस्यातींद्रियप्रत्यक्षतोपगमादिति पराशंका ।

पपत्तेः । ¹ननु चावरणक्षयोपशमनिबन्धनत्वाद्भावेन्द्रियाणां कथमावरणनिबन्धनत्वमिति

हो नहीं सकता है ।

भावार्थ—इन्द्रियों के २ भेद हैं—द्रव्येंद्रिय और भावेन्द्रिय । तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में "निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्" और "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" के अनुसार दोनों ही इन्द्रियों का लक्षण किया गया है । निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । निर्वृत्ति—नाम कर्म के उदय से होने वाली रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं । निर्वृत्ति के २ भेद हैं—आभ्यंतरनिर्वृत्ति और बाह्यनिर्वृत्ति । आत्मा के प्रदेशों का इंद्रियाकार होना आभ्यंतर निर्वृत्ति कहलाती है । पुद्गल के परमाणुओं का इंद्रियाकार होना बाह्य निर्वृत्ति कहलाती है । उपकरण—निर्वृति के सहायक-उपकारक को उपकरण कहते हैं । उपकरण के दो भेद हैं आभ्यंतर और बाह्य । जैसे—नेत्रों में जो काला और सफेद मंडल है वह आभ्यंतर उपकरण है और पलकें तथा रोम वगैरह बाह्य उपकरण हैं । इसी प्रकार से शेष इंद्रियों में भी जानना चाहिये । लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं । लब्धि—ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं । उपयोग—लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं । अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो जानने की शक्ति प्रकट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा का ज्ञेयपदार्थ की ओर अभिमुख होना उपयोग कहलाता है । लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थ का ज्ञान होता है ।

इसलिये इन द्रव्येन्द्रियों की रचना नाम कर्म के भेद में अंगोपांग नामक नाम कर्म के उदय से होती है और मतिज्ञानावरण कर्म के स्पर्शनेंद्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशम विशेष से भावेन्द्रियां होती हैं । केवली भगवान् के ज्ञानावरण कर्म का पूर्णतया नाश हो जाने से भावेन्द्रियां और भावमन नहीं पाये जाते हैं किंतु परमौदारिक दिव्य शरीर का अस्तित्व आयु नाम कर्म आदि अघातिया कर्म के शेष रहने तक चौदहवें गुणस्थान के अंत तक पाया जाता है अतः अर्हंत के द्रव्येंद्रियां मौजूद हैं । सिद्धों में शरीर और अंगोपांग आदि नाम कर्म के अभाव से यद्यपि शरीर नहीं है फिर भी अंतिम शरीर से किंचित् न्यून सिद्धों के आत्म प्रदेशों का आकार—पुरुषाकार तो रहता ही है अतः वहां पर भी द्रव्येन्द्रियों का आकार विद्यमान है ।

शंका—भावेन्द्रियां तो आवरण के क्षयोपशम के निमित्त से होती हैं पुनः उन्हें आवरण निमित्तक ही कैसे कह दिया ?

जैन—यदि ऐसा कहो तो देशघाति ज्ञानावरण कर्म के स्पर्धकों का उदय होने पर एवं सर्वघाति ज्ञानावरण के स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने पर तथा उन्हीं सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्था रूप उपशम होने से वे भावेन्द्रियां होती हैं अतः उनके आवरण निमित्तकत्त्व सिद्ध ही है इसलिये यहां ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है । अर्थात् ज्ञानावरण के स्पर्धकों में कुछ का उदय, कुछ का उदयाभावी क्षय और कुछ का

१ आह कश्चित्स्वमतवर्त्ती ।

चेद् [1]देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकोदये[2] सति [3]सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकाना[4]मुदयाभावे[5] [6]सदवस्थायां च तेषां भावादावरणनिबन्धनत्वसिद्धेरचोद्यमेतत् ।

[अर्हद् भगवान् सर्वसंसारिजीवानां प्रभुरतोऽस्मादृशो नास्तीति प्रतिपादनं]

[7]न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा संभाव्यते इत्यपि न शङ्का श्रेयसी, तस्य भवभृतां प्रभुत्वात् । न हि (1)भवभृत्साम्ये दृष्टो धर्मः (2)सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्यः, [8]तस्य संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्वात्(3) ।

[मीमांसको ब्रूते-प्रत्यक्षादि प्रमाणैः सर्वज्ञो न सिद्धयत्यतो नास्त्येव ।]

[9]ननु च सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्तथाविधो भवभृतां प्रभुः साध्यते । [10]तच्चा-

---

सत्ता की अवस्था में उपशम होने से भावेंद्रियां होती है अतः इन्हें आवरण के निमित्त से होने वाली कहने से कोई बाधा नहीं है ।

[आपके सर्वज्ञ में अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे है एवं सभी संसारी जीवों के वे प्रभु कैसे हैं ?]

मीमांसक—कोई संसारी प्राणी अतींद्रियज्ञान वाला उपलब्ध नहीं है अर्थात् देखा नहीं जाता है कि जिससे आपके भगवान् अतींद्रिय ज्ञानी हो सकें अर्थात् नहीं हो सकते हैं ।

जैन—यह शंका भी श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि वे भगवान् तो संसारी जीवों के प्रभु–स्वामी हैं । संसारी जीव के सदृश में देखा गया धर्म सकल संसारी जीवों के स्वामी में संभावित करना—घटित करना शक्य नहीं है क्योंकि सकल संसारी जीवों के स्वामी संसारी जीवों के स्वभाव का उलंघन कर चुके हैं ।

[मीमाँसक कहता है कि प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है अतः सर्वज्ञ नहीं है]

मीमांसक—सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण से उस प्रकार से अर्हंत भगवान् को आप संसारी जीवों के स्वामी सिद्ध करते हो किन्तु आपका हेतु असिद्ध है क्योंकि उसको वाधित करने वाला "सुनिश्चिता-

---

१ णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं । णवणोकसायविग्घं छव्वीसा देसघादीओ ।। [ज्ञानावरणचतुष्कं त्रिदर्शनं सम्यक्त्वं चतुःसंज्वलनम् । नवनोकषायाः विघ्नः षड्विंशतिर्देशघातीयाः] । देशं [आत्मगुणस्यैकदेशं] घ्नन्तीति देशघातिन इति व्युत्पत्तिः । देशघातिनश्च ते ज्ञानावरणाश्च ते स्पर्द्धकाश्चेति देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकास्तेषामुदये । २ वर्गः शक्तिसमूहोऽणोरणूनां (शक्ति समूहः) वर्गणोदिता । वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकः स्पर्द्धकापहैः ।। इत्युक्तलक्षणो बहूनां कर्मत्वमापन्नानां पौद्गलिकवर्गणानां समूहः स्पर्द्धको ज्ञेयः । ३ सर्वमात्मगुणं घ्नन्तीति सर्वघातिनः । केवलणाणा-वरणं केवलदंसं कसायवारसयं । मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अवंधेहिं(अवंधह्मि) ।। [केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं कषायद्वादशकम् [अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानां प्रत्येकं चतुष्कमिति द्वादश] । मिथ्यात्वं च सर्वघातिनः सम्यग्मि-थ्यात्वमबन्धैः (जिनैः)] । इत्युक्तलक्षणःसर्वघाती, आत्मगुणानां सामस्त्येन घातनात् । ४ वर्तमानकाले उदययोग्या-नामित्यर्थः । ५ उदयाभावरूपे क्षये फलमदत्त्वैव तेषां निर्जरणे इत्यर्थः । ६ सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकानामेवोदेष्य-माणानां सदवस्थायाम् । आत्मनि कर्मत्वरूपेण सम्बन्धे विद्यमाने सतीत्यर्थः । ७ मीमांसकशङ्का । ८ सकलभवभृत्प्रभोः । ९ पुनश्च मीमांसकः । १० हेतुः ।

---

(1) भवभृत्सामान्ये इति पा. । (2) ता बहुः । (3) अतिक्रांतत्वात् ।

सिद्धं, सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वस्य तद्बाधकस्य सद्भावात् । न हि [१]तत्साधकं प्रत्यक्षम्[1] । नाप्यनुमानं, तदेकदेशस्य लिङ्गस्यादर्शनात्[2] । तदुक्तं—

सर्वज्ञो दृश्यते [3]तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । दृष्टो न चैकदेशोस्ति लिंगं वा [2]योनुमापयेत् ।

इति । आगमोपि न तावन्नित्यः सर्वज्ञस्य प्रतिपादकोस्ति, तस्य [३]कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात् स्वरूपेपि[4] प्रामाण्येतिप्रसङ्गात्[४] । स[५] सर्ववित् लोकविदित्यादेर्हिरण्यगर्भः सर्वज्ञ इत्यादेश्चागमस्य नित्यस्य [६]कर्मार्थवादप्रधानत्वात् । [७]तात्पर्यासंभवा[5]दन्यार्थ[८]प्रधानैर्वचनैरन्यस्य सर्वज्ञस्य विधाना-

---

संभवद्साधक प्रमाणत्व मौजूद है। अर्थात् सुनिश्चित रूप से असंभव है सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला साधक प्रमाण जिसमें उसे "सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण" कहते हैं मतलव सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला कोई भी साधक प्रमाण संभव नहीं है अतएव सर्वज्ञ नहीं है। तथाहि-सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं एवं अनुमान भी नहीं है क्योंकि उसका एक देश रूप हेतु दिखता नहीं है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—"हम लोगों के द्वारा इस समय सर्वज्ञ देखा नहीं जाता है और उस सर्वज्ञ को एकदेश भी देखा नहीं जाता है कि जिसको हेतु वनाकर उस सर्वज्ञ का अनुमान कर लेवें।" नित्य आगम भी उस सर्वज्ञ का प्रदिपादक नहीं है वह तो कार्य (यज्ञादि) अर्थ में ही प्रमाण है उसकी स्वरूप में भी प्रमाणता मानने पर तो अति प्रसंग आ जाता है। अर्थात् अलाबू डूब रहे हैं, पत्थर तैर रहे हैं इन वाक्यों में भी प्रमाणता आ जावेगी और वेद में "आपः पवित्रं" इत्यादि स्वरूप का निरुपण करने वाले वाक्य हैं वे सभी प्रमाण हो जावेंगे।

जो याग को करता है वह सर्ववित् है, वह लोकवित् है इत्यादि, हिरण्य गर्भः सर्वज्ञः इत्यादि रूप से जो नित्य आगम है वह कर्मार्थवाद में—क्रियाकांड में प्रधान है। उससे सर्वज्ञ रूप अर्थ में तात्पर्य—अर्थ निकालना असंभव है, अन्यार्थ प्रधान वचनों से स्तुति अर्थ को कहने वाले वचनों से अन्य कोई सर्वज्ञ का विधान करना असंभव ही है। पूर्व में किसी प्रमाण से अप्रसिद्ध स्वरूप सर्वज्ञ का उन आगम के वाक्यों से अनुवाद—कथन नहीं किया जा सकता है एवं अनादि आगम आदिमान् सर्वज्ञ का प्रतिपादन कर सके यह बात विरुद्ध ही है। तथा अनित्य—वनाया हुआ आगम भी सर्वज्ञ का प्रतिपादन नहीं कर सकता है क्योंकि उस सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत ही आगम उस सर्वज्ञ का प्रकाशक होवे यह कथन युक्त नहीं है अन्यथा परस्पराश्रय दोष आ जाता है। एवं नरांतर—भिन्न साधारण मनुष्य का प्रणीत आगम प्रमाणभूत सिद्ध नहीं

---

१ सर्वज्ञसाधकम् । २ लिङ्गं भूत्वा य एकदेशः सर्वज्ञमनुमापयेदित्यर्थः । ३ योगे । ४ अलाबूनि निमज्जन्ति ग्रावाणः प्लवन्त इत्यत्रापि वेदे स्वरूपनिरूपकस्य आपः पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । ५ यो यागं करोति । ६ कर्मार्थवादः = यागप्रशंसावादः तत्स्तुतिकथनं वा । ७ सर्वज्ञरूपेर्थे । ८ स्तुत्यर्थकथनपरैः ।

---

(1) प्रत्यक्षं संभवति इति पा. । संबंधवर्तमानग्राहित्वात् । (2) गृहीतसंबंधस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानमिति वचनादेकदेशदर्शने सत्यैवानुमानोदयात् । मीमांसकानुमानलक्षणमिदं । (3) सर्वज्ञं । (4) वेदेऽपि सर्वज्ञप्रतिपादकं वाक्यमस्तीति शंकामनूद्यनिराकरोति । (5) च ।

संभवात् । पूर्वं[१] [२]कुतश्चिदप्रसिद्धस्य तैरनुवादायोगात् । अनादेरागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादनविरोधाच्च[३] । नाप्यनित्यस्तत्प्रणीत एवागमस्तस्य प्रकाशको युक्तः, परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । नरान्तरप्रणीतस्तु न प्रमाणभूतः सिद्धो यतः सर्वज्ञप्रतिपत्तिः स्यात् । असर्वज्ञप्रणीताच्च वचनान्मूल[४]वर्जितात् सर्वज्ञप्रतिपत्तौ स्ववचनात्किन्न तत्प्रतिपत्तिरविशेषात् । तदुक्तं—

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः [1]सर्वज्ञबोधनः । न च [2]मन्त्रार्थवादानां[५] तात्पर्यमवकल्प्यते ॥१॥
[६]न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते । न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैर[७]बोधितः ॥२॥
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् । कृत्रिमेण त्वसत्येन[८] स कथं प्रतिपाद्यते ॥३॥
अथ [९]तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः[3] प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥४॥
[१०]सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन[११] तदस्तिता । कथं तदुभयं सिद्ध्येत् [१२]सिद्धमूलान्तरादृते ॥५॥

है कि जिससे सर्वज्ञ का ज्ञान हो सके । मूल से रहित—प्रमाणता से रहित असर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम से सर्वज्ञ का ज्ञान मानने पर तो अपने वचनों से ही उस सर्वज्ञ का ज्ञान क्यों न मान लीजिये क्योंकि दोनों ही मान्यताओं में कोई अंतर नहीं है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—कोई नित्य आगम सर्वज्ञ का ज्ञान कराने वाला नहीं है और मंत्रार्थवाद-स्तुतिकथनादिवाद, तात्पर्य—वास्तविक भी नहीं माना जा सकता है ॥ १ ॥

अन्यार्थ प्रधान वचनों से—स्तुति आदि परक अथवा क्रियाकांड प्रधान वचनों से सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं कहा जा सकता है एवं पूर्व में अन्य प्रमाणों से नहीं जाने गये सर्वज्ञ का अनुवाद-कथन करना भी शक्य नहीं है ॥ २ ॥

अनादि आगम भी आदिमान् सर्वज्ञ को नहीं कह सकता है एवं आदिमान्-कृत्रिम आगम असत्य है अतः उस असत्य से सर्वज्ञ कैसे कहा जावेगा ? ॥ ३ ॥

यदि आप कहें कि सर्वज्ञ के वचनों से ही अल्पज्ञजन सर्वज्ञ को जान लेते हैं तो यह कथन भी कैसे बनेगा क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है ॥ ४ ॥

सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया होने से वचन (आगम) सत्य सिद्ध होगा और उस आगम से उस सर्वज्ञ

---

१ आगमेन सर्वज्ञ स्यानुवादो भवतीत्युक्ते आह । २ प्रमाणात् । ३ आदिमत्सर्वज्ञं प्रतिपादयति यदा तदा सर्वज्ञोऽभूद्भविष्यति भवतीति त्रिरूपेणापि प्रतिपादने विरोधः । ४ मूलं प्रामाण्यम् । ५ स्तुत्यादि (चोदनादि)वादानां तत्परत्वं नावगम्यते । विशेषेण स्पष्टीकरणं त्वस्य भावनाविवेकनाम्नि ग्रन्थे कृतम् । ६ न वाक्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तीति वा पाठः । ७ प्रमाणैः । ८ कृत्रिमत्वादेवासत्यत्वम् । ९ सर्वज्ञवचनेन । १० अन्योन्याश्रयं भावयति । ११ वाक्येन । १२ सिद्धं च तन्मूलान्तरं (प्रमाणान्तरं) च तत्तस्मात् ।

---

(1) सर्वज्ञबोधकः इति पा. । (2) अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इति मंत्रवाक्यं । स सर्ववित् स लोकविदिति अर्थवादः ।
(3) सर्वज्ञोऽन्यैः इति पा. । जैनैः ।

असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्तः[1] स्ववाक्यात्किं न जानते ॥६॥"

इति । नोपमानमपि सर्वज्ञस्य साधकं, [१]तत्सदृशस्य जगति कस्यचिदप्यभावात् । तथोक्तं,—

सर्वज्ञ सदृशं कञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति । उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो[2] वयम्" ॥

इति । नार्थापत्तिरपि सर्वज्ञस्य साधिका, [२]तदुत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपद्यमानस्याभावात् । धर्माद्युपदेशस्य [३]वहुजनपरिगृहीतस्यान्यथाभावात्[3] । तथा चोक्तम्—

"उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः । [४]अन्यथाप्युपपद्येत[५] सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥१॥
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां [4]वेदादसम्भवः । उपदेशः [5]कृतोतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥२॥

का अस्तित्त्व सिद्ध होगा पुनः प्रसिद्ध मूलांतर के विना—प्रमाणता के विना वे उभय भी कैसे सिद्ध हो सकेंगे ? ॥ ५ ॥

एवं प्रमाण वर्जित—असर्वज्ञ प्रणीत आगम से सर्वज्ञ को स्वीकार करते हुये आपको अपने वाक्यों से ही सर्वज्ञ की सिद्धि क्यों नहीं हो जाती है ॥ ६ ॥

तथा उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ की सिद्धि करने वाला नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के सदृश कोई भी जगत में नहीं है जिसकी उपमा सर्वज्ञ को दे सकें । कहा भी है कि—

श्लोकार्थ—यदि सर्वज्ञ के सदृश किसी को इस समय हम देखें तव तो उपमान प्रमाण के द्वारा हम उसको जान सकें ।

अर्थापत्ति भी सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाली नहीं है क्योंकि उस अर्थापत्ति को उत्पन्न करने वाले पदार्थ में अन्यथानुपपद्यमान का अभाव है । वहुजनपरिगृहीत धर्मादि का उपदेश अन्यथा भी हो सकता है अर्थात् सर्वज्ञ के अभाव में भी धर्म अधर्म आदि का उपदेश संभव है क्योंकि वह वहुत जनों के द्वारा परिगृहीत है इसलिये धर्मादि का उपदेश सर्वज्ञ के साथ अविनाभाव रूप नहीं है कि जिससे वह सर्वज्ञ को सिद्ध कर सके ? कहा भी है—

श्लोकार्थ—वुद्ध, कपिल आदि का उपदेश धर्म-अधर्म आदि को विषय करने वाला है क्योंकि यदि सर्वज्ञ न होवे तो अन्यथा-सर्वज्ञ के अभाव में भी वह हो सकता है ॥ १ ॥

वुद्धादि वेद के जानने वाले नहीं हैं अतः उनका उपदेश वेद से असंभव है फिर भी उन लोगों ने जो उपदेश दिया है वह केवल व्यामोह से ही किया है ॥ २ ॥

---

१ सर्वज्ञसदृशस्य । २ अर्थापत्त्युत्थापकस्य । ३ सर्वज्ञाभावेपि धर्माद्युपदेशः संभवति वहुजनपरिगृहीतत्वात् । ततो धर्माद्युपदेशो नान्यथानुपपद्यमानो यतः सर्वज्ञं साधयेत् । ४ सर्वज्ञाभावे । ५ अन्यथा नोपपद्येत इति पाठान्तरम् । यद्येवं पाठस्तदा काकुरूपेण ध्येयः ।

---

(1) अवगच्छंतीति पा. । (2) सादृश्यात् । (3) अन्यथापि भावात् इति पा. । (4) वसः । (5) वेदादसंभवो यतः ।

ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्[१]। [२]त्रयीविदाश्रित[३]ग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः[1] ॥३॥

इति । न[2] च प्रमाणान्तरं [४]सदुपलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति ।

[अत्र भरतक्षेत्रे, दुःषमकाले सर्वज्ञो नास्तीति; मा भूत् किंतु अन्यत्र विदेहादिदेशे चतुर्थकाले वा सर्वज्ञः सिद्धयति न वेति विचारः क्रियते]

मा भूदत्रत्येदानीन्तनानामस्मदादिजनानां सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तर-कालान्तरवर्त्तिनां केषाञ्चिद्भविष्यतीति चायुक्तं ।

"[५]यज्जातीयैः[3] प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् । दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेप्यभूत्"

इति वचनात् । तथा हि । विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणमत्रत्येदा-

---

त्रयीविदों में प्रधानता से जो मन्वादि ऋषि सिद्ध हैं उन त्रयीविदों के द्वारा किये गये ग्रंथ उनके आश्रित हैं वे वेद से उत्पन्न हुये हैं । अर्थात् ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ये तीन वेद हैं इन तीनों वेदों के आश्रित जो कथन है वह त्रयीविदाश्रित है अतः मन्वादि रचित ग्रन्थ त्रयीविदाश्रित कहलाते हैं ॥ ३ ॥

इसलिये और कोई भी सदुपलंभक-सत्ता को ग्रहण करने वाला प्रमाण नहीं है जो कि सर्वज्ञ के सद्-भाव को ग्रहण कर सके ।

[इस भरतक्षेत्र में और इस पंचम काल में सर्वज्ञ नहीं है तो न सही किन्तु विदेहादिक्षेत्र में और चतुर्थ आदि काल में सर्वज्ञ सिद्ध है या नहीं ? इस पर विचार किया है ।]

यदि आप कहें कि यहां पर इस समय जन्म लेने वाले हम लोगों के पास सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षादि में से कोई भी एक प्रमाण भले ही न हो किन्तु देशांतर-कालांतरवर्ती किसी न किसी मनुष्य को सर्वज्ञ के अस्तित्त्व को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षादि में से कोई न कोई प्रमाण होगा ही । अर्थात् देशां-तर-विदेह क्षेत्र आदि देश एवं कालांतर-चतुर्थ काल आदि काल में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा किसी न किसी पुरुष को सर्वज्ञ का ज्ञान होता ही होगा । आप जैनादि का यह कथन भी अयुक्त है ।

श्लोकार्थ—"जिस जातीय—दूरादि नियत अर्थ को विषय करने वाले प्रमाणों से जिस जातीय पदार्थों को इस समय लोक—सभी जन देखते हैं । उस प्रकार का प्रत्यक्षादि ज्ञान ही देशांतर और कालां-तर में भी होगा ॥" ऐसा वचन देखा जाता है । तथाहि "विवादाध्यासित देश—विदेहादि और काल—

---

१ मध्ये । २ "स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी" इत्यमरः । ३ त्रयीविद्भिराश्रिताः (व्याख्याताः) स्मृतिरूपा ग्रन्था येस्मृतिग्रन्थास्ते त्रयीविदाश्रितग्रन्थाः । त्रयीवित्प्रधानमन्वादिकृताः स्मृतिसाधारणास्त्रयीविद आश्रयन्तीति भावः । ४ सत्त्वं सर्वज्ञास्तित्वम् । ५ दूरादिनियतार्थगोचरैः ।

---

(1) वसः । (2) किंच । (3) येषां देशांतरादिस्थानां सजातीयैस्तत्सदृशैरित्यर्थः ।

नीन्तनप्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थग्राहकं भवति तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् ।

[अत्र जैनमतमाश्रित्य कश्चित् शंकते]

[1]ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तादृशं साध्यतेऽन्यथाभूतं वा ? तथाभूतं चेत् सिद्धसाधनम् । अन्यथा[2]-भूतं चेदप्रयोजको हि हेतुः जगतो बुद्धिमत्कारणकत्वे(1) साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्ववत्(2) । इति चेत्तदसत्, तथाभूतस्यैव तथा साधनात् सिद्धसाधनस्याप्यभावात्(3), (4)अन्यादृशप्रत्यक्षाद्यभावात्(5) । तथा हि । [3]विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति,

चतुर्थ कालादि (भिन्न देश, काल) में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण भी इस समय में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण करने योग्य सजातीय अर्थ को ग्रहण करने वाले के सदृश ही होते हैं अथवा उससे विजातीय सर्वज्ञादि अर्थ के ग्राहक नहीं होते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं यहाँ पर आजकल होने वाले हम और आप जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान" । अर्थात् विवाद की कोटी में आये हुए विदेहादि क्षेत्र एवं चतुर्थ आदि काल में होने वाले जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण हैं वे वैसे ही हैं जैसे कि आजकल के हम लोगों के प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण हैं । अतः जैसे आजकल हम लोग प्रत्यक्षादि के द्वारा सर्वज्ञ को जान नहीं सकते हैं वैसे ही अन्यक्षेत्र और अन्यकाल में किसी भी प्रत्यक्षादि के द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है ।

[यहां जैनमत का आश्रय लेकर कोई शंका करता है]

जिस प्रकार इन्द्रियादि से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण सर्वज्ञादि को साधक—सिद्ध करने वाले नहीं देखे जाते हैं । देशांतर और कालांतर में तथाभूत—उसी प्रकार के प्रत्यक्षादि प्रमाण को आप सिद्ध करते हैं या अन्यथाभूत प्रमाण को ?

यदि तथाभूत कहो तो सिद्ध साधन दोष ही है अर्थात् हम जैन भी हम और आप जैसे के प्रत्यक्षादि ज्ञान से सर्वज्ञ का ग्रहण नहीं मानते हैं ।

यदि अन्यथाभूत—अतींद्रिय प्रत्यक्ष कहो तो आपका हेतु अप्रयोजक (अहेतु) है जैसे जगत को

१ सिद्धान्त (जैन) पक्षमादाय वादी शङ्कते । २ अतीन्द्रियजातं प्रत्यक्षम् । ३ तथाभूतस्यैव तथासाधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह ।

(1) बुद्धिमत्कारणत्वे इति पा. । (2) यथाहि बुद्धिमत्पूर्वं जगदेतत्प्रसाधयेत्तथा बुद्धिमतो हेतोरनेकत्वं प्रसाधयेत शरीरित्वात् । (3) तथाभूतस्यैव तथा साधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह । (4) अतींद्रिय । (5) प्रत्यक्षस्याप्यभावात् इति पा. ।

प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत्[१]। न [२]गृद्ध्रवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा [३]नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वालोकानपेक्षिणानेकान्तः, [४]कात्यायनाद्यनु-[५]मानातिशयेन जैमिन्याद्यागमाद्यतिशयेन[६] वा । तस्यापीन्द्रियादि[७]प्रणिधानसामग्रीविशेष-मन्तरेणासंभवात् [८]स्वार्थाति[1]लङ्घनाभावाद[2]तीन्द्रिया[९]ननुमेयाद्यर्थाविषयत्वाच्च ।

बुद्धिमत्कारणक सिद्ध करने में 'सन्निवेशविशिष्ट' हेतु अप्रयोजक है। अर्थात् प्रयोजनीभूत नहीं है।

मीमांसक—आपका यह कथन असत् है। तथाभूत—इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि को ही हम उस प्रकार से (सर्वज्ञ को ग्रहण करने वाला) सिद्ध करते हैं एवं उसमें सिद्ध साधन दोष का भी अभाव है क्योंकि अन्य प्रकार के—अतींद्रिय प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं ही नहीं। तथाहि—

"विवाद में आये हुए प्रत्यक्षादि प्रमाण इन्द्रियादि सामग्री विशेष से अनपेक्ष—अपेक्षा रहित नहीं होते हैं क्योंकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं जैसे कि हम लोगों के प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण।" एवं सन्निहित देश विशेष की अपेक्षा न करने वाले गृद्ध, वराह, पिपीलिकादि के प्रत्यक्ष से अथवा आलोक की अपेक्षा न रखने वाले नक्तंचर—बिल्ली, घूक—उल्लू, मूषक आदि के प्रत्यक्ष से अनेकांत दोष भी नहीं है। अर्थात् गृद्ध पक्षी को सन्निहित—निकट चीज की अपेक्षा न होने पर भी चक्षु का ज्ञान हो जाता है, सूकर को सन्निहित की अपेक्षा बिना श्रोत्रेन्द्रिय का ज्ञान हो जाता है तथा पिपीलिका—चिउंटी को सन्निहित—निकट वस्तु के बिना भी घ्राणेन्द्रिय से सुगंधि आदि का ज्ञान हो जाता है तथा बिल्ली, उल्लू आदि को बिना प्रकाश के भी ज्ञान हो जाता है किंतु इनके प्रत्यक्ष से हमारा "प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्" हेतु अनैकांतिक नहीं है।

और कात्यायन—वररुचि आदि के अनुमानातिशय से—व्याप्ति और स्मरण के बिना उत्पन्न अनुमान से अथवा जैमिनी आदि के आगम के अतिशय से—संकेत स्मरण के बिना होने वाले आगम से भी हेतु अनैकांतिक नहीं है क्योंकि वे भी इन्द्रियादि के प्रणिधान—एकाग्रता रूप सामग्री विशेष के बिना असंभव हैं एवं अपने विषय का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं तथा वे अतींद्रिय और अननुमेय—इन्द्रिय और अनुमान के विषय से रहित पदार्थों को विषय नहीं करते हैं।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि जैसे हम लोगों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है उसी प्रकार से सभी जीवों का प्रत्यक्ष इन्द्रियों की और मन की सहायता रखता ही है बिना

---

१ एतदनुमानस्य खण्डनमत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकानपेक्षा इति भाष्यव्याख्यानावसरे प्रोक्तं द्रष्टव्यम्। २ गृध्रस्य चाक्षुषं वराहस्य श्रौत्रं पिपीलिकायास्तु घ्राणजम्। ३ बिडालघूकमूषकादयो नक्तञ्चराः। ४ कात्यायनो=वररुचिः। ५ व्याप्तिस्मरणमन्तरेणोत्पन्नत्वलक्षणेन। ६ सङ्केतस्मरणमन्तरेण। ७ एकाग्रता। ८ स्वार्थो नियतविषयः। ९ अतीन्द्रियं च तदननुमेयं चेति द्वन्द्वः।

---

(1) रूपादि। (2) उक्तं एव भावयति अतीन्द्रियाननुमेयेत्यादिना।

[इन्द्रियाणि स्वविषयानेव गृण्हंति न तु परविषयानतः इन्द्रियज्ञानेन कश्चित्सर्वज्ञो भवितुं नार्हति]

तथा चोक्तं—

"यत्राप्यतिशयो[1] दृष्टः स स्वार्थानतिलंङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ[2] स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता[1] ॥१॥
[3]येपि [2]सातिशया दृष्टाः[3] [4]प्रज्ञामेधादिभिर्नराः । स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात्[5] ॥२॥
प्राज्ञोपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोपि सन् । [4]स्वजातीरनतिक्राम[6]न्नतिशेते[7] परान्नरान् ॥३॥

इन्द्रिय, मन की सहायता के प्रत्यक्ष ज्ञान असंभव है। जिन जिन जीवों के इन्द्रिय ज्ञानों में विशेषता पाई जाती है वह विशेषता भी अपने-अपने विषय में ही पाई जाती है। जैसे कि गृद्ध पक्षी को निकट की अपेक्षा न करके भी चक्षु इन्द्रिय से रूपी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, सूकर को अतिदूर से कर्णेन्द्रिय से सुनाई दे देता है, चिउंटी को बहुत दूर की भी सुगंधि-दुर्गन्धि आ जाती है। यद्यपि इनके ज्ञानों में विशेषता पाई जाती है फिर भी चक्षु इन्द्रिय से देखने का ही ज्ञान होता है न कि सुनने और चखने का। तथैव नक्तं-चर उल्लू आदि को विना प्रकाश के भी अंधेरे में ज्ञान हो जाता है तो भी चक्षु इन्द्रिय से देखने का ही ज्ञान होता है न कि सूंघने आदि का। अतएव इन्द्रियजन्य ज्ञान में कितनी भी विशेषता क्यों न आ जावे वह ज्ञान अपने विषय में ही होता है। पुनः इन्द्रिय ज्ञान के सिवाय अतींद्रिय ज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ ही है।

[इंद्रियां अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं पर के विषय को नहीं, अतः इंद्रियज्ञान से कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है]

कहा भी है—

श्लोकार्थ— जिस इन्द्रिय में अतिशय देखा जाता है वह अपने विषय का उलंघन नहीं कर सकती है दूरवर्ती और सूक्ष्मादि रूप देखने में श्रोत्रेन्द्रिय का व्यापार नहीं हो सकता है ॥१॥

जो मनुष्य प्रज्ञा, मेधा आदि से भी अतिशयवान् देखे जाते हैं वे सूक्ष्म और उससे भी सूक्ष्मतर आदि को जानने से ही अतिशयशाली हैं किंतु अतींद्रिय पदार्थ को देखने रूप अतिशय वाले नहीं हैं ॥२॥

बुद्धिमान मनुष्य सूक्ष्म पदार्थों को देखने में समर्थ होता हुआ भी तत्तत् विषयक—उस उस विषय में अपनी जाति को उलंघन न करते हुये ही अन्य मनुष्यों का उलंघन करके उनसें विशेष कहा जाता है ॥३॥

---

१ इन्द्रिये। २ क्रियमाणायाम्। ३ ननु च प्रज्ञा स्मृत्यादिशक्तीनां प्रतिपुरुषमतिशयदर्शनात्सिद्धं कस्यचित्काष्ठामापद्यमानं धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिप्रत्यक्षमित्यारेकायामाह। ४ तत्तद्विषयाणाम्।

---

(1) श्रोत्रवृत्तितः इति पा.। (2) ननु च प्रज्ञामेधाश्रुतिस्मृतिऊहापोहप्रबोधशक्तीनां प्रतिपुरुषमतिशयदर्शनात्कस्यचित्प्रत्यक्षं सातिशयं सिद्धयत्परां काष्ठामापद्यमानं धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारि संभाव्यत एवेत्यारेकायामाह। (3) ते इति अध्याहाराः। (4) त्रिकालविषया प्रज्ञा, मेधा धीर्धारणावती, वर्तमानार्थग्राहिणी। (5) ननु कश्चित् प्रज्ञावान्पुरुषः शास्त्रविषयान् सूक्ष्मान् अर्थान् उपलब्धुं प्रभुरुपलभ्यते तद्वत् प्रत्यक्षतोऽपि धर्मादिसूक्ष्मानर्थान् साक्षात्कर्तुं क्षमः किमिति न संभाव्यते ज्ञानातिशयानां नियमयितुमशक्तेरित्याशंकायामाह। (6) कर्तृ। (7) अतिशयेन।

एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेतिशयो महान् । न तु शास्त्रान्तरज्ञानं [1]तन्मात्रेणैव लभ्यते ।।४।।
ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः । प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ।।५।।
ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु । न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं[1] ज्ञातुमर्हति ।।६।।
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि[2] । न स्वर्गदेवता [3]ऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ।।७।।
[2]दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनमसौ गन्तुं शक्तोभ्यासशतैरपि ।।८।। इति

[अतीन्द्रियज्ञानमपि असंभाव्यमेव]

न [3]दृष्टप्रत्यक्षादि[4]विजातीया[4]तीन्द्रियप्रत्यक्षादिसंभावना यतः [5]संभाव्यव्यभिचारिता[5]

जिसका एक शास्त्र के विचार में महान् अतिशयशाली ज्ञान देखा जाता है वह मनुष्य एक शास्त्र के ज्ञान मात्र से ही दूसरे शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है ।।४।।

व्याकरण शास्त्र को जान करके ज्ञान शब्द और अपशब्द में दूर तक वृद्धिगत हो जाता है अर्थात् यह शब्द व्याकरण से शुद्ध है यह अशुद्ध है इत्यादि जान लेता है किंतु वही ज्ञान नक्षत्र तिथि आदि के निर्णय में प्रस्फुट नहीं हो सकता है ।।५।।

उसी प्रकार से चंद्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदिकों में विशेष प्रकृष्ट भी ज्योतिर्ज्ञानी मनुष्य "भवति गच्छति" आदि शब्दों को व्युत्पत्ति आदि के द्वारा अच्छी तरह से नहीं जान सकता है ।।६।।

उसी प्रकार से वेद इतिहास आदि ज्ञान के अतिशय वाला भी मनुष्य स्वर्ग, देवता, अपूर्व–पुण्य पाप आदि को प्रत्यक्ष देखने में समर्थ नहीं हो सकता है ।।७।।

जो आकाश में दस हस्त प्रमाण उछल कर जा सकता है वह सैंकड़ों अभ्यास के द्वारा भी योजन पर्यंत जाने में समर्थ नहीं हो सकता है ।।८।।

[अतींद्रिय ज्ञान भी असंभव ही है]

इस प्रकार से कहा गया है, इसलिये देखे गये प्रत्यक्षादि प्रमाण से विजातीय अतींद्रिय प्रत्यक्षादि की संभावना करना शक्य नहीं है कि जिससे "प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्" यह हेतु साध्य के साथ व्यभिचारी हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है ।

---

१ एकशास्त्रज्ञानमात्रेण । २ पुरातननृपादिचरित्रग्रन्थसन्दर्भ इतिहासः । ३ अपूर्वं पुण्यपापे । ४ द्वन्द्वः । ५ संभाव्येनातीन्द्रिय (नेन्द्रिये) प्रत्यक्षादिना व्यभिचारः ।

---

(1) सिद्धि निष्पत्तिमिति यावत् । (2) अथश्रुतज्ञानमनुमानज्ञानंवाऽभ्यस्यमानमभ्याससात्मीभावे तदर्थसाक्षात्कारितया परां दशामासादयतीति सौगतमतमपाकर्तुकामः क्वचिदभ्याससहस्रेणापि ज्ञानस्य विषयपरिच्छित्तौ विषयांतरसंक्रांते-रनुपपत्तिरिति दार्ष्टांतिकं मनसिकृत्य तत्र दृष्टांतमाह । श्रुतज्ञानं-परार्थानुमानरूपश्रुतमयिभावना । अनुमानं—स्वार्थानु-मानरूपचितामयिभावना । साक्षात्कारितया—प्रत्यक्षीकरणतया इत्यर्थः । (3) यतः । (4) ता । (5) अतींद्रि-यप्रत्यक्ष । ता ।

[१]साधनस्य स्यात्। पुरुषविशेषस्य [२]तत्सम्भावनायां [1]संभाव्यव्यभिचारित्वमेवेति चेन्न, [३]तस्यासिद्धत्वात्, साधकाभावात्सर्वपुरुषाणां [2]त्रिविप्रकृष्टार्थसाक्षात्कारित्वानुपपत्तेरिति।

[अधुना मीमांसकाभिमत सर्वज्ञाभावस्य मीमांसां कुर्वति जैनाचार्याः ।]

[४]तदेतत्सर्वमपरीक्षिताभिधानं मीमांसकस्य। **न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः[3] प्राक् सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं सिद्धं येन परः[५] प्रत्यवतिष्ठेत। नापि बाधकासंभवात्परं[६] प्रत्यक्षादेरपि [4]विश्वासनिबन्धनमस्ति, [७]तत्प्र[5]कृतेपि[८] सिद्धं[९]। यदि तत्सत्तां न साधयेत्[१०]**

यदि आप कहें कि पुरुष विशेष में उस अतींद्रिय प्रत्यक्ष की संभावना होने पर वह हेतु संभाव्य से व्यभिचारी ही है, यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि वह पुरुष विशेष असिद्ध ही है। साधक प्रमाण का अभाव होने से सभी पुरुष तीन प्रकार के (देश, काल और स्वभाव से) विप्रकृष्ट–दूरवर्ती अर्थ का साक्षात्कार कर नहीं सकते हैं।

इस प्रकार मीमांसक ने अपना पूर्वपक्ष रखा है।

[अब मीमांसकाभिमत सर्वज्ञ के अभाव के विषय में जैनाचार्य मीमांसा करते हैं]

जैन—आप मीमांसक का यह सभी कथन अपरीक्षित—अविचारित ही है क्योंकि सर्वज्ञ के निराकरण के पहले "सुनिश्चितासंभवद्साधकप्रमाण" सिद्ध नहीं है कि जिससे आप मीमांसक हमारे प्रतिकूल कुछ बोल सकें अर्थात् आप हमारी प्रतिकूलता नहीं कर सकते हैं। "बाधक असंभव है" इससे भिन्न-अन्य कोई भी संवादकत्वादि हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाण में भी विश्वास निमित्तक नहीं है।

वह "बाधकासंभवत्व" प्रकृत—सर्वज्ञ में भी सिद्ध होता हुआ यदि उस सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध न कर सकें, तब तो सर्वत्र भी–सत्यदर्शन और असत्यदर्शन में समान होने से उस "सुनिश्चितासंभवद्-बाधक प्रमाण" के अभाव में दर्शन–प्रत्यक्ष, अदर्शन--प्रत्यक्षाभास का उलंघन नहीं कर सकता क्योंकि कोई विश्वास नहीं है विभ्रम के समान।"*

मीमांसक—सर्वज्ञ के निराकरण के पहले "सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण" सिद्ध नहीं होवे तो न

---

१ प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादिति साधनस्य। २ तस्य अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य। ३ पुरुषविशेषस्य। ४ अत्राह स्याद्वादी। ५ परो मीमांसकःप्रत्यवतिष्ठेत (प्रतिकूलतामवलम्वेत) अपि तु नेत्यर्थः। ६ अन्यत् संवादकत्वादिकम्। ७ बाधकासम्भवत्वम्। ८ सर्वज्ञे। ९ सिद्धं सत्। १० तर्हीति शेषः।

---

(1) भा। (2) देशकालस्वभाव। (3) निराकृते सर्वज्ञे अनिराकृते वा सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं वर्तते इति विकल्पाभिप्रायः (4) ता। 5) सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं।

[१]सर्वत्राप्यविशेषात्तदभावे[२] [३]दर्शनं [1]नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत्[2] । * [४]स्यान्मतं "मा सिधत्सर्वज्ञस्य निराकरणात्पूर्वं सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं[3] [4]स्वप्रत्यक्षस्य सर्वज्ञान्तरप्रत्यक्षस्य च [५]तत्साधकस्य संभवात्, परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षा[६]ऽवितथाऽशे[5]षसूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकतद्वचनविशेषात्मकलिङ्गजनितानुमानस्य च [७]तत्साधकस्य [6]सद्भावादनादिप्रवचनविशेषस्य[7] च तदुद्द्योतितस्य [८]तत्साधकत्वेन सिद्धेः । [8]निराकरणादुत्तरकालं तु सिद्धमेव" इति । [९]तदपि स्वमनोरथमात्रं, सर्वज्ञनिराकृतेरयोगात् सर्वथा बाधकाभावात् ।

सही किन्तु आपका जो कहना है कि स्वप्रत्यक्ष—स्वयं सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष और सर्वज्ञांतर प्रत्यक्ष—भिन्न सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष ज्ञान उस सर्वज्ञ के साधक संभव है। परोपदेश हेतु और इंद्रियों की अपेक्षा से रहित अवितथ—सत्य, अशेष सूक्ष्मादि पदार्थ के प्रतिपादक, उनके वचन विशेषात्मक हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान उस सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले मौजूद हैं और उस सर्वज्ञ से उद्योतित अनादि आगम विशेष भी सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रसिद्ध है। इस प्रकार से सर्वज्ञ की सिद्धि जो आपने की है उस सर्वज्ञ के निराकरण के अनंतर उत्तर काल में वह हमारा "सुनिश्चितासंभवद्साधक प्रमाणत्व" सिद्ध ही है जोकि अभाव प्रमाण रूप है। अर्थात् मीमांसक का कहना है कि आप जैन जो सर्वज्ञ के अस्तित्व को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से सिद्ध करते हो एवं कहते हो कि मीमांसक का "सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण" उस सर्वज्ञ के अस्तित्व का बाधक नहीं है सो बात सिद्ध नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के निराकरण के पहले हमारा सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण भले ही सिद्ध न हो किन्तु सत्ता को ग्रहण करने वाले पांचों प्रमाणों के द्वारा उस सर्वज्ञ का निराकरण कर देने पर हमारा सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण रूप हेतु सिद्ध ही हो जाता है। सुनिश्चित रूप से असंभव है सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण जिसमें उसे "सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण" कहते हैं एवं सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें उसे "सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण" कहते हैं और सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण—अभाव प्रमाण से हम सर्वज्ञ का अभाव कर देते हैं।

जैन—यह कथन भी स्वमनोरथ मात्र ही है क्योंकि सर्वथा बाधक का अभाव होने से सर्वज्ञ के निराकरण का अभाव ही है।

---

१ दर्शने दर्शनाभावे वा (सर्वज्ञस्य) सत्यदर्शने असत्यदर्शने च वा। २ अविशेषात्सर्वत्रापि सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणस्याभावे इत्यर्थः ३ प्रत्यक्षम्। ४ मीमांसकस्य। ५ सर्वज्ञसाधकस्य। ६ अन्तरितदूरमिति। क्रियाविशेषणमेतत्। ७ स सर्वज्ञः। ८ स सर्वज्ञः। ९ सिद्धान्ती।

---

(1) प्रत्यक्षाभासं। (2) भ्रांतिज्ञानवत्। (3) कुतः। (4) सर्वज्ञस्य। (5) अंतरितदूर। (6) संभवादनादि इति पा.। (7) अर्थरूपस्य (8) सर्वस्य।

[मीमांसको ब्रूते—अस्तित्वग्राहकपंचप्रमाणैः सर्वज्ञो ज्ञायते अतोऽभावप्रमाणेन सर्वज्ञस्याभावोऽस्ति किन्तु जैनाचार्याः अभावप्रमाणस्याभावं कृत्वा सर्वज्ञं साधयन्ति ।]

[1]सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिलक्षणं (1)ज्ञापकानुपलम्भनं[2] सर्वज्ञस्य बाधकमिति चेन्न, (2)तस्य [3]स्वसम्बन्धिनः परचेतोवृत्तिविशेषादिना[4] व्यभिचारात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके ।

" (3)स्वसम्बन्धि यदीदं [5]स्याद्व्यभिचारि पयोनिधेः । अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः [6]सद्भिरज्ञायमानकैः[7] ॥१॥ सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं, किञ्चिद्बोधैर्न [8] शक्यते । सर्वबोधोस्ति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥२॥

[मीमांसक कहता है कि अस्तित्व को ग्रहण करने वाले पांचों ही प्रमाणों से सर्वज्ञ नहीं जाना जाता है अतएव अभाव प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव करके सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते हैं ।]

मीमांसक—सत्ता को ग्रहण करने वाले पांच प्रमाणों का अभाव लक्षण, ज्ञापकानुपलब्धि रूप अभाव प्रमाण सर्वज्ञ को बाधित करने वाला है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि हम आपसे ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि वह अभाव स्वसंबंधी है या सर्व सम्बन्धी ? स्वसंबंधी मानों तो परिचित के व्यापार विशेष आदि से व्यभिचार आता है और सर्व संबंधी कहो तो असिद्ध है । उसी को तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में कहा है ।

"यदि अभाव प्रमाण स्वसंबंधी है तो अल्पज्ञों के द्वारा समुद्र के विद्यमान जलकुंभादि की संख्या से व्यभिचारी है । अर्थात् समुद्र के पानी का घड़े आदि से मापने की संख्या का परिमाण तो हो सकता है किन्तु आपको तो यह ज्ञान नहीं है कि पूरे समुद्र में कितने घड़े पानी है अतः समुद्र के पानी में घड़ों की संख्या का परिमाण है किंतु आपके पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है इस कारण आपका हेतु व्यभिचारी है ॥१॥

यदि सर्व संबंधि अभाव कहो तो अल्पज्ञों के द्वारा उसे जानना शक्य नहीं है यदि सभी को जानने वाला कोई ज्ञाता है तो वही सर्वज्ञ है पुनः आप उस सर्वज्ञ का निषेध क्यों करते हैं ? अर्थात् यदि आप कहें कि सभी संसारी जीवों के पास सर्वज्ञ को जानने वाला कोई प्रमाण नहीं है तब तो अल्पज्ञ मनुष्य यह बात कैसे जान सकेगा कि जैन, नैयायिक, वैशेषिक आदि किसी के पास सर्वज्ञ को जानने वाला

---

१ सदुपलम्भकं सग्राहकम् । २ विद्यमानदर्शकप्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाभावस्वरूपमभावप्रमाणम् । ३ सिद्धान्ती तदनुपलम्भनं स्वसम्बन्धि परसम्बन्धि वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति । स्वस्याभावप्रमाणवादिनः सम्बन्धि स्वसम्बन्धि । ४ परचित्तव्यापारविशेषादिना व्यभिचारसम्भवात् । ५ तदेति शेषः । ६ विद्यमानैः । ७ किञ्चिज्ज्ञेन । ८ अतीन्द्रियत्वात् ।

---

(1) अभावप्रमाणं । (2) तदुपलंभनं स्वसंबंधि—सर्वसंबंधि वा इति विकल्पद्वयं कृत्वा दूषयति । स्वसंबंधि—स्वस्याभावप्रमाणवादिनः संबंधियज्ज्ञापकपंचकं (प्रमाणं) तस्यानुपलंभनं तस्य । सर्वसम्बन्धि—सर्वजनस्य (3) तदा ।

सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । न [1]चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥३॥

नानुमानादलिङ्गत्वात्[१]क्वार्थापत्त्युपमागतिः[2] । [२]सर्वज्ञस्यान्यथाभावसादृश्यानुपपत्तितः ॥४॥

सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत्[3] ॥५॥

कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य[४] सम्मतम् । तस्य [५]स्वरूपसत्तायां [६]तन्नै[७]वातिप्रसङ्गतः[७] ॥६॥

प्रमाण नहीं है और यदि जानेगा तव तो सर्वप्राणियों को जानने से वही तो सर्वज्ञ सिद्ध हो जावेगा पुनः आप सर्वज्ञ का निषेध भी कैसे कर सकेंगे ? ॥२॥

दूसरी वात यह है कि सर्व सम्वंधि सर्वज्ञ के ज्ञापकानुपलंभ—अभाव प्रमाण को चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जानना शक्य नहीं है क्योंकि वह अतींद्रिय अदृष्ट के समान है। अर्थात् जैसे पुण्य-पाप आदि इन्द्रिय से नहीं दिखते हैं वैसे ही वह ज्ञापकानुपलंभ नहीं दिखता है ॥३॥

अनुमान से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ अत्यंत परोक्ष है अतः उसके ज्ञापक हेतु का अभाव है एवं उस सर्वज्ञ के अभाव के साथ अन्यथाभाव और सादृश्य का अभाव होने से अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है ॥४॥

सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाले उस "ज्ञापकानुपलंभन" हेतु के जानने में सम्पूर्ण प्रमाता—ज्ञाता सम्वन्धी प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणों का निवारण हो जाने से तो मीमांसकों के यहाँ केवल आगम से उस सर्वज्ञ के अभाव का जानना कैसे सिद्ध हो सकेगा ? ॥५॥

क्योंकि जो मीमाँसक वेदवाक्यों के अर्थ को कार्य—कर्मकांड के प्रतिपादक अर्थ में प्रमाण मानते हैं वे ही उन वेदवाक्यों को स्वरूप की सत्तारूप—परमब्रह्म को कहने वाले अर्थ में प्रमाण नहीं मानते हैं और यदि मानेंगे तो अतिप्रसंग दोष आ जावेगा अर्थात् "अन्नाद्वै पुरुषः" अन्न से पुरुष पैदा होता है ऐसे वेदवाक्यों को भी प्रमाण मानना पड़ेगा। तथा च चार्वाक मत का प्रसंग आ जावेगा अतः कर्मकांड के प्रतिपादक वाक्यों को ही मीमांसक प्रमाण मानते हैं किन्तु ज्ञापकानुपलंभन के सिद्ध करने वाले वेद-वाक्यों को वे प्रमाण नहीं मानते हैं अतः आगम से भी ज्ञापकानुपलंभन की सिद्धि नहीं हुई कि जिनसे सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध किया जा सके ॥६॥

---

१ अत्यन्तपरोक्षत्वेन सर्वज्ञस्य ज्ञापकलिङ्गाभावः। २ सर्वस्यान्यथाभावसादृश्यानुपपत्तित इति वा पाठः। ३ सर्वज्ञज्ञा-पकानुपलम्भनम्। ४ मीमांसकस्य। ५ स्वरूपशब्देन सर्वज्ञः। ६ सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम्। ७ [illegible]त्यादे-रपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्।

---

(1) अतींद्रियत्वात्। (2) भा द्विः। (3) अन्यथा—स सर्ववित् स लोकवित् हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः इत्यादेरपि स्वरूपे प्रामाण्यं स्यात्।

[१]तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणतः। साध्यते चेन्न तस्यापि [२]सर्वत्राप्यप्रवृत्तितः[1] ॥७॥
गृहीत्वा [2]वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम्[3]। मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥८॥
तेषामशेषनृज्ञाने[4] स्मृते[३] [४]तज्ज्ञापके क्षणे। जायेत नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा ॥९॥
न चाशेषनरज्ञानं [5]सकृत्साक्षादुपेयते[५]। न क्रमादन्य[६]सन्तानप्रत्यक्षत्वानभीप्सितः ॥१०॥

सर्वज्ञ को वतलाने वाले प्रमाण की उपलब्धि का अभाव प्रमाण से यदि आप अभाव सिद्ध करते हैं तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वह अभाव प्रमाण भी सर्वत्र प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। अर्थात् सभी पुरुषसंवंधि सर्वज्ञ के अभाव को जानने में वह अभाव प्रमाण समर्थ नहीं हो सकता है ॥७॥

आप मीमांसकों के यहां ही अभाव प्रमाण का ऐसा लक्षण किया है कि वस्तु के सद्भाव को ग्रहण करके और जिसका अभाव सिद्ध किया है उसके प्रतियोगी का स्मरण करके एवं वहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा न करके केवल मन में 'नहीं है' यह ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है। अर्थात् जैसे भूतल में घट का अभाव जाना जाता है। इस समय भूतल का चक्षु से या स्पर्शन इंद्रिय से प्रत्यक्ष है ही और पहले देखे हुये घट का स्मरण है ऐसी दशा में मन इंद्रिय से घटाभाव का ज्ञान हुआ ॥ ८ ॥

पुनः उन मनुष्यों को अशेष मनुष्यों का ज्ञान हो जाने पर तथा सर्वज्ञ ज्ञापक के काल का स्मरण हो जाने पर मन में 'सर्वज्ञ नहीं है' यह ज्ञान उत्पन्न हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता है। अर्थात् हम जैनों के यहां और नैयायिकों के यहां तो अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से हो जाता है किंतु मीमांसक लोग अभाव के जानने में निषेध करने योग्य पदार्थ का स्मरण और निषेध की आधारभूत वस्तु का प्रत्यक्ष करना या दूसरे प्रमाणों से निर्णीत कर लेना आवश्यक मानते हैं। अतः उन मीमांसकों को सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का अभाव रूप नास्तित्व मन और इंद्रियों के द्वारा तभी ज्ञात हो सकेगा जब कि वहां के आधारभूत संपूर्ण मनुष्यों का ज्ञान किया जावे और उस समय सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का स्मरण किया जावे इसके सिवा अन्य प्रकार से सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों की नास्तिता का ज्ञान किसी भी प्रकार से नहीं कर सकेंगे ॥९ ॥

और किसी को भी एक साथ सभी मनुष्यों का ज्ञान हो नहीं सकता है तथा क्रम से भी नहीं हो सकता है क्योंकि अन्य पुरुष के मनोव्यापारादि का प्रत्यक्ष होना किसी को इष्ट नहीं है एवं शक्य भी नहीं है। अर्थात् अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में आधारभूत सभी मनुष्यों का ज्ञान होना आवश्यक है ऐसी आपकी मान्यता है किंतु यह वात शक्य नहीं है ॥१०॥

---

१ प्रभाकरं निराकृत्य भट्टं निराकुर्वन्नाह तज्ज्ञापकेति। २ सर्वपुरुषसम्बन्धिनि ज्ञापकानुपलम्भने ३ सति। ४ सर्वज्ञज्ञापके काले। ५ घटते। ६ अन्यपुरुषमनोव्यापारादिप्रत्यक्षत्वानिष्टेः।

---

(1) सर्वजनसर्वज्ञग्राहकप्रमाणाभावे। ता वद्ध:। (2) घटव्यतिरिक्तं भूतलं। (3) घटं। (4) लक्ष्ये योजयति। (5) युगपत्।

यदा च क्वचिदेकत्र[१] भवेत्तन्नास्तितागतिः[२]। नैवान्यत्र[३] तदा [४]सास्ति क्वैवं सर्वत्र[1] नास्तिता ॥११॥
[५]प्रमाणान्तरतोप्येषां[६] न सर्वपुरुषग्रहः। [७]तल्लिङ्गादेरसिद्धत्वात् [2]सहोदीरितदूषणात्[८] ॥१२॥
[3]तज्ज्ञापकोपलम्भोपि सिद्धः पूर्वं न जातुचित्। [९]यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिताज्ञानमाञ्जसम्[4] ॥१३॥
[१०]परोपगमतः सिद्धः स[११] चेन्नास्तीति साध्यते। [१२]व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेन्योन्यं[5] सिद्धो न सोऽन्यथा ॥१४॥

और जब किसी एक मनुष्य में भी "सर्वज्ञ नहीं है" ऐसा 'नास्तितता का ज्ञान हो जावेगा तब अन्य मनुष्य में वह नास्तितता का ज्ञान तो है नहीं पुनः सर्वत्र सर्वज्ञ नहीं है ऐसा "नास्तितता का ज्ञान" कैसे हो सकता है ? अर्थात् आप जब क्रम-क्रम से सबको जानेंगे तभी तो सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करेंगे और क्रम-क्रम से सभी मनुष्यों को जानना तो तीन काल में भी शक्य नहीं है ॥११॥

आप मीमांसकों के यहां सर्वज्ञ के ज्ञापक-बतलाने वाले प्रमाण के अभाव के आधारभूत संपूर्ण पुरुषों का ग्रहण अन्य अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से भी नहीं हो सकता है क्योंकि उनके अविनाभाव, सादृश्य आदि गुणों को रखने वाले हेतु आदिक सिद्ध नहीं हैं। अनेक पुरुषों को क्रम से जानने में जो दूषण आते हैं वे ही दोष उन पुरुषों को जानने में जो हेतु या सादृश्य दिये जावेंगे उनमें भी साथ साथ ही आवेंगे अर्थात् अनेक पुरुषों के साथ व्याप्ति को रखने वाला कोई निर्दोष हेतु आपके पास नहीं है और न सादृश्य आदि ही हैं ॥१२॥

उस सर्वज्ञ को बताने वाले की उपलब्धि भी पूर्व में कदाचित् सिद्ध नहीं है। जिस ज्ञापकोपलंभ की स्मृति होने पर वास्तव में नास्तितता का ज्ञान हो सके। अर्थात् आपके यहाँ अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में प्रतियोगी का स्मरण भी कारण है और पूर्व में जाने हुये सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का स्मरण हो सकता है परन्तु आपको तो सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण का स्मरण नहीं है ॥१३॥

यदि हम जैनादि की स्वीकृति से वह सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण—सर्वज्ञ को बतलाने वाला प्रमाण सिद्ध है पुनः "नास्ति" इस प्रकार से सिद्ध किया जाता है, तब तो व्याघात—परस्पर विरुद्ध दोष हो जाता है। यदि आप पर की स्वीकृति को प्रमाण मानते हो तो वादी और प्रतिवादी दोनों को ही वह सिद्ध है यदि कहो वह अप्रमाण है तो दोनों के यहां सिद्ध नहीं है। अर्थात् आप यदि हम सर्वज्ञवादी मत को प्रमाण मानते हैं तब तो सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले प्रमाणों का अभाव नहीं कर सकेंगे और यदि सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हो तो हमारी स्वीकृति तुम्हें प्रमाण नहीं रही, मतलब तुम हमारी अप्रमाणीक स्वीकृति में

१ नरे। २ सर्वज्ञनास्तितानिश्चितिः। ३ नरे। ४ नास्तितागतिः। ५ अनुमानादिना। ६ मीमांसकानाम्। ७ अनुमाने लिङ्गस्य, उपमाने सादृश्यस्य, अर्थापत्तौ त्वन्यथाभावस्य चाभावादित्यर्थः। ८ सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धं त्रिभिः न शक्यते इत्यादिना पूर्वमेव नास्तितासिद्धौ प्रयुक्ते तत्र तत्र प्रत्येकप्रमाणे दूषणस्योक्तत्वात्। ९ तज्ज्ञापकोपलम्भस्य स्मृतौ सत्याम्। १० जैनाद्युपगमतः। ११ सर्वज्ञः। १२ कथं व्याघातस्तथाहि।—तस्य परोपगमस्य प्रमाणत्वेन्योन्यं परस्परं (वादिप्रतिवादिनोः) स सिद्धः। अन्यथा (तदप्रमाणत्वे) अन्योन्यं परस्परमुभयोरेव न सिद्ध इति।

(1) नरे। (2) युगपत्। (3) मीमांसकानामसिद्ध एव। (4) पारमार्थिकं (5) विदिप्रतिवादिनोः।

हमारा खंडन कैसे करोगे इसमें तो तुम्हारे यहां "वदतोव्याघात" नाम का दोष आ जाता है ॥१४॥

विशेषार्थ—मीमांसक का कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति रूप पाँचों ही प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है, अतएव अंतिम छठे अभाव प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ का *अभाव ही सिद्ध है इस अभाव प्रमाण का दूसरा नाम है "ज्ञापकानुपलंभन" मतलव वतलाने वाले प्रमाण* का उपलव्ध न होना।

मीमांसक के इस कथन पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि सर्वज्ञ के अस्तित्व को वतलाने वाला प्रमाण केवल आपको ही नहीं है या सभी जीवों के पास सर्वज्ञ को वतलाने वाला प्रमाण नहीं है ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तव तो समुद्र के पूरे पानी में घड़ों की संख्या का परिमाण तो है किंतु आप के पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है अतः आपका हेतु व्यभिचारी हो गया। यदि आप दूसरा पक्ष लेवें कि सभी संसार के जीवों के पास सर्वज्ञ को वताने वाला कोई प्रमाण नहीं है तव तो हम और आप जैसे अल्पज्ञ जनों द्वारा यह वात जानना ही शक्य नहीं है कि सभी जीवों के पास सर्वज्ञ को वताने वाला कोई प्रमाण नहीं है और यदि आप किसी जीव को भी ऐसा सभी को जानने वाला मानते हो कि इन सभी के पास सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण नहीं है तव तो सव को जानने वाले सर्वज्ञ का आप निषेध भी कैसे कर सकते हो ?

यदि आप मीमांसक यह कहें कि "षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञो न वार्यत इति चायुक्तं" प्रत्यक्षादि छहों प्रमाणों से सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ का हम निषेध नहीं करते हैं। अनुमान या अपौरुषेय वेद रूप आगम से अनेक विद्वान्, परोक्ष रूप से संपूर्ण पदार्थों को जान लेते हैं यह कोई कठिन वात नहीं है किंतु "एक अतींद्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा युगपत् संपूर्ण जगत् को जानने वाला कोई सर्वज्ञ है" इस वात का ही हम निषेध करते हैं। मतलव पुण्य, पाप आदि अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद से ही होता है न कि प्रत्यक्ष ज्ञान से।

इस कथन पर भी जैनाचार्य कहते हैं कि "अतींद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से कोई भी मनुष्य अतींद्रिय पदार्थों को नहीं जानता है" यह वात भी आप इंद्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जान सकते हैं यदि जानेंगे तव तो आप ही सर्वज्ञ वन जावेंगे। इसी प्रकार से सर्वज्ञ के अभाव को कहने वाला यह अभाव प्रमाण अनुमान के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता है तथैव उपमान और अर्थापत्ति से भी यह ज्ञापकानुपलंभन हेतु जाना नहीं जा सकता है एवं आप मीमांसक ने कर्मकांड के प्रतिपादक वेदवाक्यों को ही प्रमाण माना है, किंतु सर्वज्ञाभाव के साधने में समर्थ अभाव प्रमाण को सिद्ध करने वाले वेदवाक्यों को प्रमाण नहीं माना है अतः आगम से भी ज्ञापकानुपलंभ हेतु सिद्ध नहीं हो सकता है यदि आप सर्वज्ञ को वतलाने वाले प्रमाणों के अभाव को अभाव प्रमाण से कहो तो भी ठीक नहीं है क्योंकि आपके द्वारा मान्य अभाव प्रमाण की भी सभी जगह प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् सर्वज्ञाभाव के आधारभूत शुद्ध भूतल के सद्भाव को जान करके और जिसका अभाव सिद्ध किया गया है उस सर्वज्ञ का स्मरण करके वहिरंग इंद्रियों की अपेक्षा से रहित जो मन में *"यहां सर्वज्ञ नहीं है" यह ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है* जैसे पहले कभी किसी

मंदिर में सर्वज्ञ को देखा था पुनः कुछ दिन बाद गये तो वहां मंदिर खाली दिखा तब पूर्व में देखे हुये सर्वज्ञ का स्मरण हुआ और मन में ज्ञान हुआ कि "यहां सर्वज्ञ नहीं है" इसे अभाव प्रमाण कहते हैं। आप मीमांसक की अभाव प्रमाण की इस व्याख्या से तो बड़ी आफत आ जाती है क्योंकि पूर्व में देखे गये, जाने गये का ही वर्तमान में स्मरण हो सकता है विना जाने पदार्थ का स्मरण ही असंभव है।

दूसरी तरह से यह भी प्रश्न होता है कि "सभी जीवों के पास सर्वज्ञ को वतलाने वाले प्रमाणों का अभाव है" इस वात को जानने के लिए आप सभी जीवों को एक साथ ही एक समय में जान लेते हो या क्रम से एक-एक को जानते हो ? क्रम-क्रम से अन्य सभी जीवात्माओं को जान लेना आपको इष्ट नहीं है क्योंकि क्रम-क्रम से जानने में तो अनंत काल निकल जावेगा कारण जीवराशि तो अनंतानंत है।

यदि आप कहें कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हम क्रम-क्रम से सभी जीवों को नहीं जानेंगे कि इनके पास सर्वज्ञ ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं है किन्तु अनुमान आदि से जल्दी से जान लेंगे तो आचार्य कहते हैं कि संपूर्ण जीवों के पास सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण नहीं है इस बात को वताने के लिये अनुमान, आगम, उपमान आदि प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे क्योंकि अविनाभावी हेतु सादृश्य आदि का अभावपूर्ववत् ही है।

यदि दूसरा पक्ष लेवो कि एक साथ ही हम सभी जीवों को जान लेंगे कि "इन सभी के पास सर्वज्ञ का ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं है" तब तो आप ही सभी को युगपत् जान लेने से सर्वज्ञ हो जावेंगे। निष्कर्ष यह है कि मीमांसक अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करना चाहता था किन्तु जैनाचार्य ने इस अभाव प्रमाण का ही अभाव करके सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध कर दिया है। मीमांसक ने पुनः एक वात कही है कि आप जैनादि सर्वज्ञ को वताने वाले प्रमाणों को मानते हैं थोड़ी देर के लिए हम उनको लेकर कल्पना से मान लेंगे पुनः अभाव प्रमाण से ज्ञापक प्रमाणों की उपलब्धि का अभाव सिद्ध कर देंगे।

इस पर जैन कहते हैं कि हम लोगों ने जो सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों को माना है उन्हें लेकर पुनः तुम उनका अभाव करना चाहते हो तो पहले यह बताओ कि आप हमारे द्वारा मान्य सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों को सच्चे मानते हो या नहीं ? यदि सच्चे मानते हो तो आप उन प्रमाणों का अभाव नहीं कर सकोगे। अर्थात् सर्वज्ञवादी के मत को प्रमाण मानने पर आप ज्ञापकोपलंभ का अभाव नहीं कर सकते हैं यदि ज्ञापकोपलंभन का अभाव सिद्ध करते हो तो सर्वज्ञवादी के ज्ञापक प्रमाणों को आप प्रमाणीक नहीं मानते हो और यदि आप सर्वज्ञवादी के मन्तव्य को प्रमाण नहीं मानते हो तब तो संपूर्ण आत्माओं का ज्ञान और ज्ञापकोपलंभन रूप सामग्री के न होने से आपके उस अभाव प्रमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। "सैयमुभयतः पाशारज्जुः" रस्सी में दोनों तरफ फांसे हैं इस न्याय से आप मीमांसक को दोनों ही तरफ से सर्वज्ञ मानना पड़ता है। सर्वज्ञ का अभाव यदि अभाव प्रमाण से करते हैं तो भी मानना पड़ता है और यदि सर्वज्ञ का अभाव न करें तब तो वह स्वयं सिद्ध ही है।

नन्वेवं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथम् । सिद्धो निषिध्यते जैनैरिति चोद्यं न धीमताम् ॥१५॥
प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते । को दोषः [१]सुनयैस्तत्रैकान्तोपप्लवसाधने(1) ॥१६॥
[२]अनेकान्ते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम् । तद्विधिस्तन्निषेधश्च(2) मतो [३]नैवान्यथा गतिः ॥१७॥
[४]नैवं सर्वत्र सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम् । सिद्धं (3)तद्दर्शनारोपो[५] येन तत्र निषिध्यते ॥१८॥ इति ।

यदि आप कहें कि इस प्रकार से "सर्वथैकांत" भी पर की स्वीकृति से ही तो सिद्ध है पुनः उसका निषेध भी आप जैनी क्यों करते हैं आपका ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है । अर्थात् सांख्य, बौद्ध आदि के एकांत मंतव्य को आप जैन प्रमाण नहीं मानते हैं पुनः पर की स्वीकृति से ही तो उस एकांत का निषेध कैसे करेंगे ? ॥१५॥

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हमारे यहां अनंत धर्मात्मक, स्वयं अबाधित पदार्थ का अनुभव होने पर सुनयों के द्वारा एकांत का अभाव सिद्ध करने में क्या दोष है ? अर्थात् जीव, पुद्गल आदि सभी पदार्थ अनंतधर्मात्मक अपने आप प्रमाण से सिद्ध हैं पुनः श्रेष्ठ प्रमाण नय की प्रक्रिया एवं सप्तभंगी से उनको जान लेने से एकांत का अभाव स्वयं सिद्ध हो जाता है । जैसे तीव्र आतप से संतप्त पुरुष को छाया में भी स्फुलिंग दीखते हैं किंतु उनका निषेध कर दिया जाता है क्योंकि शुद्ध छाया का प्रत्यक्ष होना ही दृष्टि दोष से हुए अनेक असत् धर्मों का निषेध करना है । वास्तव में वहां निषेध कुछ नहीं केवल शुद्ध छाया का विधान है वैसे ही मिथ्या कल्पित एकांत का निषेध समझना ॥१६॥

अनेकांत में एकांत की उपलब्धि न होना रूप विज्ञान है वही अनेकांत की विधि और एकांत का निषेध है अन्य प्रकार से एकांत के अभाव का ज्ञान नहीं है । अर्थात् अनेक धर्मों का विधान ही एकांत का निषेध है हमारे यहां एकांत के अभाव को सर्वथा तुच्छाभाव रूप नहीं माना है प्रत्युत भावांतर रूप अनेकांत का होना ही माना है ॥१७॥

इस प्रकार से सर्वत्र सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का अभाव सिद्ध नहीं है जिससे कि उस सर्वज्ञ के दर्शन की भ्रांति का वहां निषेध किया जा सके । अर्थात् जैसे हम सभी लोगों को सभी वस्तुओं में अनेकांत की उपलब्धि रूप एकांतों का नहीं दीखना सिद्ध है । यदि किसी को भ्रम वश एकांत की कल्पना हो भी जाती है तो उसका खण्डन कर दिया जाता है । इसी प्रकार से सभी पुरुषों को सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का नहीं दीखना सिद्ध नहीं है कि जिससे आप उनका निषेध कर सकें अर्थात् आप सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण का निषेध नहीं कर सकते हैं ॥१८॥

विशेषार्थ—मीमांसक का कहना है कि जैसे अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करने में आपने अंतिम दोष दिखाया है वैसे तो आप भी दोषी हैं, देखो ! आप जैन सभी वस्तु को अनेकांत रूप मानते हो।

१ सुयुक्तिभिः । २ गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रक्रिया जैनेषु नास्ति ततश्चास्माकं न किञ्चिद्दूषणमित्याहानेकान्ते इति । ३ गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रकारेण । ४ अनेकान्ते हीत्यादिप्रकारेणात्र अनुपलम्भनं स्यादित्युक्ते सिद्धान्त्याह नैवमिति । ५ भ्रान्तिः ।

(1) एकांतोपप्लवबाधने इति पा. । अभाव (2) एव । (3) सर्वज्ञदर्शनसद्भाव ।

आपका कहना है कि कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक आदि रूप है ही नहीं जैसा कि बौद्ध सांख्यादि मानते हैं इस प्रकार से जब आप एकांतों का सर्वथा ही अभाव मानते हो पुनः उन एकांतों का खण्डन भी कैसे करते हो ? क्योंकि एकांतों को माने बिना आप उनका निषेध भी नहीं कर सकेंगे। आपके सिद्धांतानुसार तो जिस वस्तु की विधि है—अस्तित्व है उसी का ही निषेध हो सकता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हम स्याद्वादियों ने सर्वथा एकांतों के निषेध से ही अनेकांत की सिद्धि नहीं मानी है कि जिससे सर्वथा नास्ति रूप और निषेध करने योग्य एकांतों का निषेध न किया जा सके। अर्थात् ऐसी बात नहीं है जो वस्तु सर्वथा है ही नहीं, उसके निषेध करने या विधि करने का किसी प्रमाता के पास अवसर ही नहीं है। हमारे यहां सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कथित सभी वस्तुयें अनंत धर्मात्मक ही हैं यह बात अबाधित रूप से सिद्ध है। ऐसी अवस्था में प्रमाण, नयों की प्रक्रिया को जानने वाले विद्वान् जन सर्वथा एकांत को दूषित कर देते हैं इसमें कोई बाधा ही नहीं आती है। किसी ने कहा कि "मैं सदा सत्य बोलता हूं और झूठ बोलने का मुझे त्याग है" तो इसमें क्या बाधा आई ? हमने कहा कि सभी वस्तु अनेकांत स्वरूप हैं क्योंकि एकांत मान्यता में अनेक दोष आते हैं तो इस बात में कुछ भी बाधा नहीं आती है।

दूसरी बात यह भी है कि मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाली सर्वथा एकांत रूप गलत धारणायें भी कथंचित् विद्यमान अवस्था को लिये हुये हैं वे सभी एकाँत धारणायें अपने-अपने स्वरूप से विद्यमान होने से सत् रूप ही हैं अतः उन मिथ्या धारणाओं का निषेध करना ही तो एकांत का निषेध है क्योंकि जैन सिद्धांत में नैयायिकों के द्वारा मान्य तुच्छाभाव को तो स्वीकार नहीं किया गया है। अतएव एकांतों के न दीखने से सर्वथा एकांतों का अभाव है ऐसा हम नहीं मानते हैं प्रत्युत वस्तुभूत अनंत धर्मात्मक अनेकांत का ज्ञान हो जाना एकांतों का अभाव है।

हमारे यहाँ अनेक धर्मों का जो विधान है वही एकांतों का निषेध है। नैयायिक या मीमांसकों के समान अन्य प्रकार से अभाव का ज्ञान होना हम नहीं मानते हैं। देखिये ! जैसे सब वस्तुओं में अनेकांत की उपलब्धि होने से एकांतों का नहीं दीखना हमें सिद्ध है। पुनः यदि किसी को भ्रमवश एकांत की कल्पना भी हो जाती है तो वह खंडित कर दी जाती है उसी प्रकार से सभी पुरुषों में सर्वज्ञ के बतलाने वाले प्रमाणों का न दीखना आपको सिद्ध नहीं है जिससे कि वहां सभी में आप सर्वज्ञ का वस्तुतः निषेध कर सकें। अर्थात् यदि आप इस प्रकार से निषेध करेंगे तो पूर्ववत् सभी दोष पुनः आपके ऊपर लागू हो जावेंगे। इसी विषय पर श्लोकवार्तिकालंकार में स्वयं श्री विद्यानंद महोदय ने बहुत ही विस्तृत प्रकाश डाला है। जैसे कि—

"आसन् संति भविष्यंति बोद्धारो विश्वदृश्वनः।
मदन्येऽपीति निर्णीतिर्यथा सर्वज्ञवादिनः॥३२॥
किंचिज्ज्ञस्यापि तद्वन्मे तेनैवेति विनिश्चयः।
इत्ययुक्तमशेषज्ञ—साधनोपाय-संभवात् ॥३३॥

[सर्वज्ञस्य साधकं निर्दोषप्रमाणमस्ति ।]

तदेवमसिद्धं ज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य न बाधकमिति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वमेव [1]साधकम् । तथा हि । अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्प्रत्यक्षादिवत् । प्रत्यक्षादेस्तावद्वि[2]श्वासनिबन्धनं बाधकासंभव एव सुनिश्चितः । न ततोऽपरं संवादकत्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यमदुष्टकारणजन्यत्वं वा, [3]तस्य [4]तत्रावश्यं भावादिति । प्रत्यक्षादिप्रमाणमुदाहरणं, वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धत्वात् [1]साध्यसाधनधर्माविकलत्वात् । सुनिश्चि-

---

यथाहमनुमानादेः सर्वज्ञं वेद्मि तत्त्वतः ।
तथान्येऽपि नराः सन्तस्तद्बोद्धारो निरंकुशा ॥३४॥"

अर्थ— संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले जो सर्वज्ञ हैं उनको जानने वाले मुझसे अतिरिक्त दूसरे पुरुष पहले यहां हो चुके हैं, इस समय भी अन्य क्षेत्रों में सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष देखने वाले पुरुष और यहाँ पर भी आगम, अनुमान से सर्वज्ञ को जानने वाले पुरुष विद्यमान हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। इस प्रकार का निर्णय जैसे सर्वज्ञवादी को है उसी प्रकार से मुझ मीमांसक को भी यह निश्चय है कि भूतकाल में भी सभी जन अल्पज्ञ थे, अभी हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे । सर्वज्ञ और सर्वज्ञ का ज्ञाता कोई भी पुरुष न हुआ है, न है और न होगा । संपूर्ण मनुष्य त्रिकाल में अल्पज्ञ अवस्था में ही हैं और अल्पज्ञों को ही जानने वाले हैं इस प्रकार से मीमांसक की बात सुनकर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! आपका कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमाणभूत उपाय संभव हैं । देखिये ! जैसे कि मैं अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से सर्वज्ञ को वास्तविक रूप से जान लेता हूं । तथैव दूसरे विचारशील सज्जन पुरुष भी बाधक प्रमाणों से रहित होकर उस सर्वज्ञ को जान लेते हैं और आज भी प्रेक्षावान्-बुद्धिमान् मनुष्य विद्यमान हैं । इसी प्रकार से आगे स्वयं श्री विद्यानंद स्वामी "सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण" से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे हैं ।

[सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण विद्यमान है]

इस प्रकार से यह ज्ञापकानुलंभन हेतु सर्वज्ञ का बाधक नहीं है इसलिये "सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाण" हेतु ही सर्वज्ञ का साधक सिद्ध है । तथाहि—"सर्वज्ञ है क्योंकि सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण है प्रत्यक्षादि के समान ।"

प्रत्यक्षादि प्रमाण में विश्वास निमित्तक बाधक का न होना ही सुनिश्चित है उससे भिन्न प्रवृत्तिसामर्थ्य अथवा अदुष्ट कारण जन्यत्व हेतु संवादक—विश्वास निमित्तक नहीं हैं क्योंकि वे संवादकत्वादि उस "सुनिश्चितासंभवद्बाधक" में अवश्यंभावी हैं एवं इस अनुमान में "प्रत्यक्षादि प्रमाण" उदाहरण हैं क्योंकि वे वादी और प्रतिवादी दोनों को प्रसिद्ध हैं और साध्य-साधन धर्म से अविकल हैं—रहित नहीं

---

१ सर्वज्ञस्य २ विश्वासस्य प्रतीतेः । ३ संवादकत्वादेः । ४ सुनिश्चित.सम्भवद्बाधके ।

---

(1) अस्तित्व ।

तासंभवद्बाधकप्रमाणश्च[1] स्यादविद्यमानश्चेति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनं न मन्तव्यं, [2]विपक्षे बाधकसद्भावात् । तथा हि । यदसत्तन्न सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणम् । यथा मरीचिकायां तोयं सम्भवद्बाधकप्रमाणं, मेरुमूर्द्धनि मोदकादिकं च [१]सन्दिग्धासंभवद्बाधकम् । सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणश्च सर्वज्ञः । इति प्रकृते सर्वज्ञे सिद्धमपि साधनं यदि सत्तां न [3]साधयेत्तदा [२]दर्शनं नादर्शनमतिशयीत[4], अनाश्वासात् स्वप्नादिविभ्रमवत्, [३]तस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्याभावे[5] सर्वत्र दर्शने दर्शनाभासे च विशेषाभावात् ।

[सर्वज्ञस्य साधकबाधकप्रमाणे स्तोऽतः सर्वज्ञस्य सद्भावे संशयोऽस्तीति मन्यमाने प्रत्युत्तरं]

"[४]साधकबाधकप्रमाण[6]भावात्सर्वज्ञे संशयोस्त्वित्ययुक्तं, यस्मात्साधक[7]बाधकप्रमाणयोर्निर्णयात् [५]भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका[8] स्यात्※ । साधकनिर्णयात्तत्सत्तायामविप्रतिपत्ति-

हैं । अर्थात् अनुमान प्रयोग में दृष्टांत की कोटि में उसे ही रखा जाता है जो वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य हो एवं साध्य के धर्म और साधन के धर्म से भी सहित होवे । यहाँ "प्रत्यक्षादिप्रमाणवत्" यह उदाहरण भी निर्दोष है । "सुनिश्चितासंभवद्बाधक" प्रमाण भी होवे और अविद्यमान भी होवे इस प्रकार से यह हेतु संदिग्ध विपक्षव्यावृत्तिक है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये । अर्थात् विपक्ष से व्यावृत्त होने में संदेह है ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि विपक्ष में बाधक का सद्भाव है । तथाहि—'जो असत् है वह सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण नहीं है, जैसे मरीचिका में जल संभवद् बाधक प्रमाण है, मेरु के शिखर पर लड्डू रखे हुये हैं यह संदिग्धासंभवद् बाधकत्व है । अर्थात् इसमें बाधा न होना संदिग्ध है और सर्वज्ञ सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण स्वरूप है । इस प्रकार से प्रकृत सर्वज्ञ में सिद्ध होता हुआ भी हेतु यदि सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध न करे तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण अप्रत्यक्ष का उलंघन नहीं कर सकेगा क्योंकि उसमें कोई विश्वास नहीं रहेगा स्वप्नादि के भ्रान्तज्ञान के समान ।" क्योंकि वह प्रत्यक्ष सुनिश्तिासंभवद् बाधक प्रमाण के अभाव में सर्वत्र प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास में समान ही है ।

[सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले और बाधित करने वाले दोनों ही प्रमाण पाये जाते हैं अतः सर्वज्ञ है या नहीं ? यह संशय ही बना रहेगा, ऐसी मान्यता का उत्तर]

मीमांसक—साधक और बाधक दोनों ही प्रमाणों का सद्भाव होने से सर्वज्ञ में संशय हो जावेगा ।

१ मेरुमूर्द्धनि मोदकादिसत्ताऽसत्तयोः साध्ययोरुभयत्रापि सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य हेतोः संभवात् । २ प्रत्यक्षम् । ३ प्रत्यक्षस्य । ४ मीमांसकाशङ्का । ५ सर्वज्ञस्य ।

(1)सर्वज्ञ । (2) असति । (30) सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं स्वसाध्यं यदि न साधयेत्तदा विद्यमानमप्यविद्यमान एवेति भावः । (4) दर्शनादर्शनयोर्विश्वासनिबन्धनत्वात् (5) विश्वासनिबंधनत्वाभावस्य । (6) साधकबाधकाभावात् इति पा. (7)साधकप्रमाणस्य निर्णयोऽस्ति अग्न्यादौ बाधकप्रमाणस्य निर्णयोऽस्ति मरुमरीचिकायां जलमिति ।(8)संशीतिर्यस्मात् ।
※ मुद्रित अष्टसहस्री में "साधक से स्यात्" पर्यंत अष्टशती नहीं मानी है किन्तु मुद्रित अष्टशती एवं हस्तलिखित अष्टशती (दि. प्र.) तथा हस्तलिखित अष्टसहस्री ब्यावर प्रति में यह पाठ अष्टशती है ।

बाधकनिर्णयात्त्वसत्तायाम्[1] । उभयनिर्णयस्तु न संभवत्येव क्वचित्[1], [2]व्याघातात् साधक-बाधकाभावनिर्णयवत्[3] । साधकानिर्णयात्पुनः सत्तायामारेका स्याद्बाधकानिर्णयादसत्ताया-मिति विपश्चितामभिमतो[4] न्यायः । ततो भवभृतां प्रभौ सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सत्तायाः साधकं सिध्यत् सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं व्यावर्त्तयत्येव, [5]विरोधात् । [6]नैवमेतत्तत्र[7] सिध्यति येन सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य व्यावर्त्तकं स्यात् । [8]ततः सिद्धो भवभृतां प्रभुः सर्वज्ञ एव ।

अर्थात् सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला भी प्रमाण मौजूद है एवं सर्वज्ञ के नास्तित्व को बतलाने वाला—सर्वज्ञ को बाधित करने वाला प्रमाण भी मौजूद है पुनः सर्वज्ञ है या नहीं ? यह शंका सहज ही बनी रहेगी इसका निवारण कैसे हो सकेगा ?

जैन—यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि **साधक और बाधक प्रमाण का निर्णय होने से तो सर्वज्ञ के सद्भाव और अभाव में विसंवाद है नहीं प्रत्युत इस प्रकार का निर्णय न होने से ही शंका हो सकती थी*** । देखो ! सर्वज्ञ के साधक प्रमाण का निर्णय होने से तो सर्वज्ञ के अस्तित्व में विसंवाद नहीं है एवं सर्वज्ञ के बाधक प्रमाण का निर्णय होने से उस सर्वज्ञ के नास्तित्व में विसंवाद नहीं है किंतु एक साथ दोनों का निर्णय तो किसी भी वस्तु में संभव ही नहीं है क्योंकि साधक और बाधक दोनों का एकत्र रहना विरुद्ध है । जैसे एक ही पदार्थ में साधक और बाधक के अभाव का निर्णय होना विरुद्ध है उसी प्रकार एक ही वस्तु में साधक एवं बाधक का सद्भाव होना भी विरुद्ध है । साधक का निर्णय न होने से सर्वज्ञ की सत्ता में शंका हो सकती है और बाधक का निर्णय न होने से सर्वज्ञ की असत्ता में आशंका होती है, इस प्रकार से विद्वानों का न्याय ही सर्वत्र अभिमत—मान्य है । मतलब दोनों में से कोई एक ही शंका हो सकती है दोनों शंकायें एक साथ असंभव हैं । इसलिये संसारी जीवों के स्वामी में "सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण" सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करता हुआ "सुनिश्चितासंभवद्साधक प्रमाण रूप हेतु" को व्यावृत्त—निराकृत ही कर देता है क्योंकि दोनों का परस्पर में विरोध है । अर्थात् जहां "सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण हेतु है वहां "सुनिश्चितासंभवद्साधकत्व हेतु संभव नहीं है और यह सुनिश्चितासंभवत् साधक" हेतु सर्वज्ञ में सिद्ध भी नहीं है कि जिससे वह सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्व हेतु का व्या-वृत्तक—निवारण करने वाला हो सके । अर्थात् हमारे इस हेतु की व्यावृत्ति नहीं हो सकती है ।

इस प्रकार निर्दोषत्व हेतु से संसारी जीवों का प्रभु सर्वज्ञ ही है यह बात सिद्ध हो गई ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि "बाधा का न होना जिसमें सम्यक् प्रकार से निश्चित है" उसे

---

१ वस्तुनि । २ विरोधात् । ३ यत्र साधकाभावस्तत्र बाधकसद्भावः । यत्र च बाधकाभावस्तत्र साधकसद्भावः । न त्वेकत्र साधकबाधकाभावो यथा तथा तदुभयनिर्णयोपि न । ४ सर्वत्र । ५ सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं यत्र तत्र सुनिश्चतासंभवत्सा-धकत्वं न घटते, अन्योन्यविरोधात् । ६ सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वम् । ७ सर्वज्ञे । ८ निर्दोषत्वाद्धेतोः ।

---

(4) निर्णये त्वसत्तायां इति पा. ।

[मीमांसक आत्मानं ज्ञानस्वभावं न मन्यते तस्योत्तरं]

न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यन्न क्रमेत,[1] १तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्‌* । कुतः

सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण कहते हैं। यदि कोई कहे कि—निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से या प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा विसंवाद न होनें से इन तीन हेतुओं से या तीनों में से किसी एक हेतु से सर्वज्ञ के सद्भाव को प्रमाणभूत सिद्ध कर सकते हो तो इस पर आचार्यों का कहना है कि हमारे यहां "बाधा का न होना जिसमें सुनिश्चित है" ऐसे निर्दोष प्रमाण से ही सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। अदुष्टकारण जन्यत्व, प्रवृत्ति सामर्थ्य और विसंवाद रहितत्व का हमारे यहां कोई भी महत्त्व नहीं है और शून्यवाद के खंडन में इनका खंडन भी कर दिया गया है।

दूसरी बात यह भी है कि जहां हमारा हेतु विपक्ष से व्यावृत्ति रूप है यह बात निस्संदेह सिद्ध है इसमें संदेह भी नहीं है वहां अपने आप विसंवाद रहित आदि अवस्थायें आ जाती हैं क्योंकि जिसमें बाधा नहीं है उसमें संवादकत्व, निर्दोषकारणजन्यत्व तो स्वयं ही विद्यमान हैं। जैसे कि वर्तमान काल के लौकिक—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, अथवा अनुमान आदि में बाधा का न होना सुनिश्चित होने से ही प्रमाणता मानी जाती है उसी प्रकार से हमारे यहाँ भी "सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व" हेतु भी प्रमाणीक ही है क्योंकि सर्वत्र या कहीं भी क्यों न हो, बाधा का न होना जब निश्चित हो जाता है तभी वहाँ उस विषय में विश्वास देखा जाता है किंतु जहाँ बाधा संभव है या बाधा के होने में संदेह है वहां पर विश्वास भी नहीं होता है।

इस पर मीमांसक नें कहा है कि आप जैन तो सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं और हम सर्वज्ञ को बाधित करने वाला प्रमाण दे रहे हैं। अब दोनों में किसकी बात सत्य समझी जावे जबकि साधक-बाधक दोनों ही प्रमाण विद्यमान हैं अतः सर्वज्ञ के अस्तित्व को मानने में तो हमेशा ही संशय बना रहेगा।

जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि एक सिद्धांतवादी हम अथवा आप दोनों को एक साथ मानते नहीं हैं। देखो ! हम तो साधक प्रमाण से अस्तित्व सिद्ध कर देते हैं और आप बाधक से नास्तित्व। इसलिए आपके यहां सर्वज्ञ का अभाव है किन्तु हमारे यहां सद्भाव है, पुनः संशय का होना कैसे रहा ? किसी को भी सर्वज्ञ के साधक प्रमाणों का निर्णय होगा तब वह सर्वज्ञ की सत्ता को मान लेगा और जब बाधक प्रमाण का निर्णय होगा तब वह सर्वज्ञ का अभाव कह देगा किन्तु किसी को भी संशय का प्रसंग नहीं रहेगा। हाँ ! जिस वस्तु को कोई एक सत्य कह रहा है और उसी वस्तु को यदि कोई दूसरा असत्य कह रहा है तब तीसरा कोई आवे तो उसे संशय हो सकता है कि इन दोनों में किसकी बात सत्य है और किसकी असत्य, किन्तु सत्य और असत्य को कहने वाले दोनों में से किसी को भी संशय

१ तत्स्वभावान्तरम्=अज्ञत्वलक्षणम्।

(1) जानीत।

[1]पुनस्तस्याज्ञत्वलक्षणस्वभावान्तरप्रतिषेधः सिद्धो यतोसौ ज्ञस्वभाव एव स्यात् ! सर्वश्चार्थस्तस्य विषयः स्यात् ? ततस्तं [2]क्रमेतैव ? इति चेत् [1]चोदना[3]वलाद्भूताद्य[4]शेषार्थज्ञाना[5]न्यथानुपपत्तेः[6] । सोयं[7] चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषानिति स्वयं प्रतीयन्[8] सकलार्थज्ञानस्वभावतामात्मनो न प्रत्येतीति [2]कथं स्वस्थः ? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव मीमांसकस्य कथञ्चिदभेदोपग[9]मादन्यथा[10] [11]मतान्तरप्रसङ्गात् । ततो नाज्ञस्वभावः पुरुषः क्वचिदपि[12] विषये, सर्वविषये चोदनाज्ञानो-

---

नहीं है क्योंकि एक तो अपनी वस्तु को सत्य मान चुका है और दूसरा असत्य मान चुका है। इसलिये सर्वज्ञवादी और सर्वज्ञाभाववादी सभी जनों के यहां संशय को स्थान नहीं है। अब जो सर्वज्ञ साधक प्रमाणों से निश्चित सिद्ध हो चुके हैं वे सर्वज्ञ भगवान् संसारी प्राणियों के स्वामी हैं ऐसा समझना चाहिये।

[मीमांसक आत्मा को ज्ञान स्वभाव नहीं मानता है उसका उत्तर]

ज्ञान स्वभाव आत्मा के कोई वस्तु अगोचर नहीं है जिसे कि वह सर्वज्ञ न जान सके क्योंकि उस सर्वज्ञ के स्वभावांतर—अज्ञत्व लक्षण का प्रतिषेध है* ।

शंका—उस सर्वज्ञ के अज्ञत्व—अज्ञानावस्था लक्षण स्वभावांतर का प्रतिषेध कैसे सिद्ध है कि जिससे वह ज्ञान स्वभाव ही हो सके और सभी पदार्थ उसके विषय हो सकें एवं उन पदार्थों को वह जान लेवे यह बात कैसे सिद्ध है ?

समाधान—यदि ऐसा कहो तो वेदवाक्य के बल से भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के सभी पदार्थों के ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति होने से आत्मा ज्ञान स्वभाव ही सिद्ध है। "वेदवाक्य ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालवर्ती विप्रकृष्ट—दूरवर्ती इसी प्रकार के पदार्थों को बतलाने में समर्थ है" इस प्रकार से आप मीमांसक पुरुषविशेषों का स्वयं अनुभव करते हुये तथा संपूर्ण पदार्थों को जानने के स्वभाव रूप ज्ञान स्वभाव आत्मा का ही है इस प्रकार श्रद्धा न करते हुये स्वस्थ कैसे हैं ? अर्थात् वेदवाक्य से ही संपूर्ण त्रैकालिक पदार्थों का ज्ञान किसी जीवात्मा को होता है किन्तु आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला नहीं है ऐसा मानते हुये आप स्वस्थ नहीं हैं किन्तु अस्वस्थ ही हैं।

और वह ज्ञान आत्मा से भिन्न ही हो ऐसा नहीं है मीमांसक के यहाँ उसमें कथंचित् अभेद स्वीकार किया गया है अन्यथा यदि आप मीमांसक आत्मा से ज्ञान को सर्वथा भिन्न मानोगे तब तो यौग के मत का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि नैयायिक तो आत्मा से ज्ञान को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं एवं सम-

---

१ सर्वज्ञस्य । २ जानीयात् । ३ जैनः । ४ भविष्यद्वर्तमानावादिपदेन ज्ञेयौ । ५ ज्ञस्वभावत्वाभावे । ६ आत्मा ज्ञस्वभाव एव साध्यः । ७ मीमांसकः । ८ चोदना सकलं जानाति, आत्मा तु न जानातीति वदन् । ९ मीमांसकस्यापि । १० सर्वथा भेदे । ११ मतांन्तरं यौगम् । १२ भूताद्यशेपार्थे ।

---

(1) वेद । (2) सकलविषयं ज्ञानं भवतु ज्ञानस्वभावता तु कथमात्मनः इत्युक्ते आह ।

त्पत्तेर्विकल्पज्ञानोत्पत्तेर्वा[1] सर्वत्र [2]तदनुपपत्तौ [1]विधिप्रतिषेधविचाराघटनात् ।

[यदि आत्मा ज्ञानस्वभावोऽस्ति तर्हि संसारावस्थायामज्ञानादि भावो कथं दृश्यते]

[3]कथमेवं [2]कस्यचित्क्वचिदज्ञानं स्यादिति [4]चेदुच्यते । **चेतनस्य [3]सतः सम्बन्ध्यन्तर[5] [4]मोहोदयकारणकं मदिरादिवत्*** । [6]तत्कुतः सिद्धम् ! [7]विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः[8] सम्बन्ध्यन्तरकारणको मोहोदयत्वान्मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात् । [5]यत्तत्सम्बन्ध्यन्तरं तदात्मनो ज्ञानावरणादि कर्मेति । **तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वमतीतानागतवर्तमानं पश्यति प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात्*** । कथं पुनर्ज्ञानावरणादिसम्बन्ध्यन्तरस्याभावे साकल्येन विरतव्यामोहः स्याद्यतः सर्वमतीतानागतवर्त्तमानानन्तार्थ-

---

वाय से उसका संबन्ध मानते हैं पुनः आप मीमांसक भी वैसे ही हो जाओगे । इसलिये किसी भी भूत, भविष्यत् आदि विषय में पुरुष—आत्मा अज्ञ स्वभाव वाली नहीं है क्योंकि सभी विषय में वेद से ज्ञान उत्पन्न होने से अथवा विकल्प—व्याप्तिज्ञान से ज्ञान उत्पन्न होने से व्याप्ति ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विधि प्रतिषेध विचार ही घटित नहीं हो सकेगा ।

मीमांसक—इस प्रकार से तो किसी भी मनुष्य को कहीं पर—किसी भी विषय में अज्ञान कैसे हो सकेगा ? अर्थात् इस प्रकार से आत्मा को ज्ञान स्वभाव मान लेने पर तो सभी संसारी प्राणी पूर्णज्ञानी ही दिखने चाहिये पुनः अज्ञानी क्यों दीख रहे हैं ?

[यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाली है तब संसारावस्था में उसके अज्ञानादि भाव कैसे दिखते हैं ?]

जैन—**हम इसका स्पष्टीकरण करते हैं। सत् रूप चेतन के सम्बंध्यंतर (संबंधी ज्ञानावरणादि के मध्य में अन्यतम—ज्ञानावरण कर्म) मोह के उदय के निमित्त से होता है, मदिरा आदि के समान*** । अर्थात् संसार में जीव के साथ ज्ञानावरण कर्म और मोहनीय कर्म विद्यमान है अतएव मदिरा को पीकर उन्मत्त हुये के सदृश इस जीव का ज्ञान अल्प और विपरीत हो रहा है ।

मीमांसक—वह ज्ञानावरण कर्म कैसे सिद्ध है ?

जैन—"विवाद की कोटि में आया हुआ जीव का मोहोदय रूप अज्ञानादि भाव ज्ञानावरण के हेतु से हुआ है क्योंकि वह मोहनीय कर्म का उदय है जैसे मदिरा के कारण से होने वाली मोहनीय कर्म के उदयरूप मोहित अवस्था विशेष ।" इस अनुमान से वह ज्ञानावरण कर्म सिद्ध है और जो वह संबंध्यंतर है वह आत्मा का ज्ञानावरणादि कर्म ही है ऐसा समझना चाहिये ।

---

१ विकल्पज्ञानं यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमिति व्याप्तिज्ञानम् । २ व्याप्तिज्ञानानुपपत्तौ । ३ मीमांसकशङ्का । ४ जैनैः । ५ सम्बन्धिनां ज्ञानावरणादीनां मध्ये अन्तरमन्यतमं=ज्ञानावरणमित्यर्थः । ६ मीमांसकः पृच्छति ।—तद् ज्ञानावरणं कर्म कुतः सिध्यति । ७ इति चेदाहुराचार्याः विवादेति । ८ अज्ञानाद्युदयः ।

---

(1) यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीत्यत्र प्रमाणविषये । (2) नुः । (3) विद्यमानस्य । (4) ता । (5) प्रसिद्ध ।

[१]व्यञ्जनपर्यायात्मकं[1] जीवादितत्त्वं साक्षात्कुर्वीतेति [2]चेदिमे[२] ब्रूमहे। [3]यद्यस्मिन् सत्येव भवति तत्तदभावे न भवत्येव। यथाग्नेरभावे धूमः। सम्वन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो [३]व्यामोहस्तस्मात्तदभावे स न भवतीति निश्चीयते।

उस ज्ञानावरण कर्म का अभाव हो जाने पर संपूर्ण रूप से मोहरहित पुरुष सभी अतीतानागत वर्तमान पदार्थों को देख लेता है क्योंकि उस ज्ञान में प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष दोनों ही कारण अकिंचित्कर हैं।*

मीमांसक—ज्ञानावरणादि संवंध्यंतर का अभाव हो जाने पर यह जीवात्मा संपूर्ण रूप से मोहरहित कैसे हो जावेगा कि जिससे यह सभी अतीतानागत वर्तमान स्वरूप अनंत अर्थ पर्याय और अनंत व्यंजन पर्याय रूप जीवादि तत्त्व को साक्षात् कर सके अर्थात् यह जीव न ज्ञानावरण कर्म से रहित हो सकता है न मोह कर्म से रहित ही हो सकता है और न सम्पूर्ण पदार्थों को ही जान सकता है। मतलव मीमांसक ने जीव को सर्वथा अशुद्ध ही माना है कभी भी उसे शुद्ध, कर्मरहित सिद्ध होना नहीं मानते हैं।

जैन—यदि आप ऐसा कहें तो हम आपको वतलाते हैं कि जो जिसके होने पर ही होता है वह उसके अभाव में नहीं होता है। जैसे कि अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है क्योंकि वह धूम अग्नि के होने पर ही होता है उसी प्रकार से संवंध्यंतर—ज्ञानावरण कर्म के होने पर ही आत्मा में व्यामोह—अज्ञानभाव होता है इसलिए उस ज्ञानावरण के अभाव में वह अज्ञान नहीं होता है ऐसा निश्चित हो जाता है। अर्थात् संसार अवस्था में भी जीवों के जैसे जैसे ज्ञानावरण का क्षयोपशम वढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही जोव में ज्ञान भी तरतमता से वढ़ता जाता है। हम देखते हैं कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा दो इंद्रिय आदि में ज्ञान वृद्धिगत हो रहा है तथैव मनुष्यों में भी तरतमता देखी जाती है और जव कारण सामग्री से पूर्णतया ज्ञानावरण का नाश हो जाता है तव पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है।

भावार्थ—जैनाचार्य कहते हैं कि यह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है इसलिये ज्ञान स्वरूप आत्मा युगपत् संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है। इस कथन पर मीमांसक ने घवड़ा कर प्रश्न कर ही दिया कि पुनः हम और आप जैसे सभी संसारी जन अज्ञानी कैसे दिख रहे हैं? क्योंकि मीमांसक ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानता है तथा आत्मा को कभी शुद्ध होना, मुक्त होना भी नहीं मानता है यह सदैव आत्मा को संसारी कर्ममल, अज्ञान आदि से सहित ही मानता है एवं इसका यह भी कहना है कि कोई भी आत्मा अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही भूत भविष्यत् आदि अतींद्रिय पुण्य पाप आदि को जान सकता है। अतींद्रिय

---

१ पर्यायो द्विवार्थव्यञ्जनभेदात्। व्यञ्जनः=स्थूलपर्यायः। सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थपर्यायः। २ प्रत्यक्षीभूता वयं जैनाः। ३ अज्ञानम्।

---

(1) स्थूलो व्यंजनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वरः स्थिरः। सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः॥ (2) प्रश्नद्वये सति। (3) आत्मनो व्यामोहः संवंध्यंतराभावे न भवत्येव तस्मिन् सत्येव भावात्।

[मोहरहितोपि आत्मा विप्रकृष्टपदार्थान् ज्ञातुं न शक्नोति]

[1]देशकालतः [2]प्रत्यासन्नमेव पश्येद्विरतव्यामोहोपि सर्वात्मना, न [3]पुनर्विप्रकृष्ट-

---

प्रत्यक्ष से नहीं। इस पर जैनाचार्य ने कहा कि भैया! जब तुम वेदवाक्यों से किसी आत्मा को अतींद्रिय पदार्थों का जानने वाला मान लेते हो और पुनः आत्मा को ज्ञान स्वभाव नहीं मानते हो तो क्या जब आत्मा में ज्ञान नहीं हुआ है पुनः अचेतन वेदों का ज्ञान उन अचेतन वेदों को है क्या बात है? समझ में नहीं आता कि आप वेदवाक्यों से किसी को सभी पदार्थों का ज्ञान होना भी मान रहे हैं और आत्मा के ज्ञान स्वभाव का निषेध भी कर रहे हैं यह बात आपकी स्वस्थावस्था को नहीं बताती है किंतु आपकी अस्वस्थता को ही बता रही है।

हम जैनों का तो कहना है कि संसार में प्रत्येक आत्मा के साथ ज्ञानावरण आदि कर्म लगे हुये हैं जो कि ज्ञान को ढक रहे हैं-ज्ञान पर आवरण डाल रहे हैं एवं मोहनीय कर्म भी ज्ञान को विपरीत या संशयादि रूप से अज्ञान बना रहा है। जैसे कड़वी तूंबड़ी के संसर्ग से दूध दूषित हो जाता है उसी प्रकार से आत्मा का पूर्ण शुद्ध ज्ञान स्वभाव भी मोह कर्म से अज्ञान रूप एवं ज्ञानावरण से अल्पज्ञान रूप हो रहा है। यह आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला ही है तभी तो वेद या आगमवाक्यों से यह संपूर्ण त्रैकालिक सूक्ष्मादि पदार्थों को भी जान लेता है। केवलज्ञान होने के पहले आत्मा को आगम से पूर्ण श्रुतज्ञान जब हो जाता है। तब वह श्रुतज्ञान के बल से संपूर्ण पदार्थों को जानते हुये श्रुतकेवली कहलाता है यह बात हमारे यहां भी मान्य है। शायद आप श्रुतकेवली तक तो मान रहे हैं किंतु पूर्णज्ञानी (केवली) नहीं मान रहे हैं फिर भी यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला न होता तब श्रुत से भी उसे ज्ञान होना असंभव था जैसे कि चौकी आदि को श्रुतशास्त्र का संसर्ग होने से भी ज्ञान नहीं होता है अतः आपको आत्मा का ज्ञान स्वभाव मान ही लेना चाहिये।

हम जैनों के यहां तो ज्ञान को आत्मा से अभिन्न ही माना है केवल लक्षण आदि से ही उसमें भेद स्थापित किया जा सकता है क्योंकि ज्ञान को छोड़कर तो आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। हाँ! ये कर्म भी अनादि काल से इस जीव के साथ संबंधित हैं अतएव संसार में यह जीव अल्पज्ञानी आदि देखा जाता है। जब पुरुषार्थ से यह ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मों का जड़मूल से विनाश कर देता है तब इस आत्मा में पूर्णज्ञान गुण प्रगट हो जाता है। मोहनीय कर्म का पूर्णतया नाश दसवें गुणस्थान में हो जाता है फिर भी ज्ञानावरण आदि कर्म के निमित्त से यह जीव ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में छद्मस्थ ही कहलाता है। बारहवें गुणस्थान के अंत में जब ज्ञानावरण आदि तीनों घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब तेरहवें गुणस्थान में पूर्णज्ञान प्रकट होकर केवली बन जाता है।

[मोह रहित भी आत्मा तीन विप्रकृष्ट पदार्थों को नहीं जान सकता है]

मीमांसक—मोह रहित भी पुरुष देश और काल से प्रत्यासन्न—निकटवर्ती पदार्थों को ही संपूर्णतया

---

१ मीमांसकशङ्का। २ समीपतामापन्नम्। ३ दूरम्।

मित्ययुक्तं[1], प्रत्यासत्तेर्ज्ञानाकारणत्वाद्विप्रकर्षस्य चाज्ञानानिबन्धनत्वात्, [2]तद्भावेपि ज्ञानाज्ञानयोरभावान्नय[3]नतारकाञ्जनवच्चन्द्रार्कादिवच्च । योग्यतासद्भावेतराभ्यां[1] ज्ञानाज्ञानयोः क्वचिद्भावे[2] [4]योग्यतैव ज्ञानकारणं, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चि[5]त्करत्वात् । सा पुनर्योग्यता देशतः कार्त्स्न्यतो वा व्यामोहविगमस्तत्प्रतिबन्धि[6]कर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणः । इति साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं पश्यत्येव । तदुक्तं—

[7]ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने[3] । दाह्येऽग्निर्दाहको न[8] स्यादसति प्रतिबन्धने[9] ।।१।। इति ।

देखता है, किन्तु दूरवर्ती पदार्थों को नहीं जान सकता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है क्योंकि प्रत्यासत्ति—निकटता ज्ञान का कारण नहीं है एवं विप्रकृष्टता अज्ञान का कारण नहीं है क्योंकि उन प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष के सद्भाव में भी ज्ञान और अज्ञान का अभाव है जैसे नयन तारका का अंजन और चन्द्र सूर्यादि का ज्ञान । अर्थात् नेत्र में अंजन के साथ प्रत्यासत्ति—निकट संबंध होने पर भी अंजन का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु चंद्र सूर्यादि विप्रकृष्ट दूरवर्ती को भी नेत्र जान लेता है । अतः निकट संबन्धरूप प्रत्यासत्ति से ज्ञान का कोई अविनाभाव संबंध नहीं है और जहाँ दूरवर्ती पदार्थ हैं वहां ज्ञान न होवे ऐसा दूरवर्ती पदार्थ से ज्ञान का व्यतिरेक भी नहीं है ।

योग्यता के सद्भाव और अभाव से किसी भाव—पदार्थ के ज्ञान और अज्ञान में ज्ञानावरण के विशेष अभाव रूप योग्यता ही ज्ञान का कारण है क्योंकि प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष दोनों अकिंचित्कर ही हैं । अर्थात् प्रत्यासत्ति के अभाव में विप्रकर्ष का सद्भाव होने पर भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और निकटवर्ती का ज्ञान नहीं भी होता है अतः ये दोनों वातें अकिंचित्कर हैं ।

वह योग्यता एक देश से अथवा संपूर्ण रूप से मोह के अभाव रूप और आत्मा के प्रतिवंधी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और क्षय लक्षण रूप है । इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप से मोह रहित पुरुष सभी को देखते ही हैं । कहा भी है—

श्लोकार्थ—प्रतिबंधक कर्म के न होने पर सर्वज्ञ भगवान् ज्ञेय पदार्थों को जानने में अज्ञानी कैसे रहेंगे ? मणि मंत्रादि प्रतिवंधक—रुकावट डालने वाले कारणों के न होने पर भी अग्नि दाह्य—जलने योग्य पदार्थ को जलाती नहीं है क्या ? अपितु जलाती हुई ही देखी जाती है ।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि किसी आत्मा के मोह और ज्ञानावरण कर्म का भले ही नाश हो जावे किंतु वह आत्मा सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती सभी पदार्थों को कैसे जानेगा ? क्योंकि किसी

१ जैनः । २ तयोः =प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोः । ३ नयनतारकाया अञ्जनेन सह प्रत्यासत्तावपि न ज्ञानोदयोऽञ्जनस्य । चन्द्रार्कादींस्तु विप्रकृष्टानपि जानाति नयनतारका यथा । ४ ज्ञानावरणविशेषाभावरूपा । ५ प्रत्यासत्त्यभावे विप्रकर्षसद्भावेपि ज्ञानोत्पादात् । ६ ता । ७ सर्वज्ञः । ८ कथं न स्यादपि तु स्यादेव । ९ मणिमन्त्रादौ । 'प्रतिवद्धरि' इत्यपि पाठः ।

(1) योग्यता सद्भावे । का द्विः । (2) वस्तुनि । (3) प्रतिवद्धरि इति पा. ।

[सर्वज्ञभगवतो ज्ञानमिंद्रियानपेक्षमतींद्रियमस्त्येव]

अत [1]एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकाऽनपेक्षा* । अत एव । कुत एव ? [1]साकल्येन विरतव्यामोहत्वादेव सर्वदर्शनादेव वा । यो हि देशतो विरतव्यामोहः किञ्चिदेवास्फुटं पश्यति वा तस्यैवाक्षापेक्षा लक्ष्यते न पुनस्तद्विलक्षणस्य प्रक्षीणसकलव्यामोहस्य सर्वदर्शिनः, [2]सर्वज्ञत्वविरोधात् । न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः संभवति साक्षात्परम्परया वा[2]।

को ज्ञान निकटवर्ती पदार्थों का ही होता हुआ देखा जाता है । तब आचार्य ने कहा कि भाई ! निकटवर्ती पदार्थों से ज्ञान का अन्वय एवं दूरवर्ती पदार्थों से ज्ञान का व्यतिरेक नहीं है मतलब पदार्थ निकटवर्ती होवें तभी उनका ज्ञान होवे, वे दूरती होवें तो उनका ज्ञान नहीं होवे ऐसा कोई नियम नहीं है । देखो ! निकटवर्ती आंख में लगे हुए अंजन का ही उस आंख को ज्ञान नहीं हुआ है और दूरवर्ती सूर्य—चंद्र दिख गये । इसलिये ज्ञान के होने में मुख्य कारण है ज्ञानावरण का क्षयोपशम अथवा क्षय । इसी का नाम योग्यता है । आप शास्त्र में जो प्रकरण पढ़ रहे हैं यदि उसमें से एक पंक्ति के विषय में ज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है तो आपको उसका अर्थ नहीं समझेगा । यदि क्षयोपशम हो गया है तो अर्थ बिना बताये भी समझ में आ जावेगा और जब पूर्णतया ज्ञानावरण का अभाव ही हो जाता है तब यह आत्मा संपूर्ण लोकालोक को युगपत् अवलोकित कर लेता है ।

[सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से रहित अतींद्रिय है]

अतएव सर्वज्ञ भगवान् को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है जैसे अञ्जनादि से संस्कृत चक्षु को आलोक—प्रकाश की अपेक्षा नहीं है* । इसी हेतु से वे सर्वज्ञ हैं ।

शंका—किस हेतु से ?

जैन—सम्पूर्णतया मोह से रहित हो जाने से ही, अथवा सर्वदर्शी होने से ही वे सर्वज्ञ हैं क्योंकि जो एक देश से मोहरहित है अथवा कुछ अस्पष्ट को ही देखता है उसको ही इन्द्रियों की अपेक्षा देखी जाती है, किंतु उससे विलक्षण संपूर्ण मोह से रहित सर्वदर्शी को इंद्रियों की अपेक्षा नहीं है अन्यथा इंद्रियों की अपेक्षा मानने पर तो सर्वज्ञ पने का ही विरोध हो जावेगा क्योंकि सभी पदार्थों के साथ युगपत् इंद्रिय का संबंध साक्षात् अथवा परंपरा से संभव नहीं है ।

भावार्थ—"सर्वज्ञ भगवान् को इंद्रियों की अपेक्षा से रहित अतींद्रियज्ञान है क्योंकि वे संपूर्णतया मोह से रहित हैं अथवा सर्वदर्शी हैं ।" इस प्रकार से जैनाचार्यों ने सर्वज्ञ भगवान् को अतींद्रियज्ञानी सिद्ध करने के लिये दो हेतु दिये हैं क्योंकि जिनके एक देश रूप से मोह का अभाव हुआ है और जिनका ज्ञान अविशद—अस्पष्ट है उनका ज्ञान इंद्रियों की सहायता अवश्य रखता है । ये इंद्रियों की सहायता लेने वाले मति और श्रुत रूप दो ज्ञान प्रसिद्ध हैं, जिन्हें सिद्धान्तशास्त्रों में परोक्ष कहा है और यहां न्यायशास्त्रों

१ अर्हत्प्रत्यक्षस्य । २ अन्यथा (अक्षापेक्षत्वे) ।

(1) अर्हतः प्रत्यक्षमक्षानपेक्षं (2) नयनघटयोः साक्षात्तद्गतरूपनयनयोः संबंधः परंपरया संयुक्तसमवेतत्वात् ।

[1]ननु चावधिमनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया ? [2]तदावरणक्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः । न [3]चैवं [1]साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य[2] वानैकान्तिकत्वं शङ्कनीयं, विपक्षेक्षापेक्षे मतिश्रुतज्ञाने [4]तदसंभवात् । अवधिमनःपर्ययज्ञाने तदसंभवात् [5]पक्षाव्यापकत्वादहेतुत्वमिति चेन्न,

में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है। इन्द्रियज्ञान से कोई भी सर्वज्ञ इसलिये नहीं वन सकता है कि इंन्द्रियां वर्तमान कालीन सीमित और रूपी पदार्थों को ही ग्रहण कर सकती हैं। इसी विषय में राजवार्तिक ग्रंथराज में श्री अकलंक देव ने वहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। यथा—

"**इन्द्रियनिमित्तं ज्ञानं प्रत्यक्षं, तद्विपरीतं परोक्षं, इत्यविसंवादिलक्षणमिति चेत्, न; आप्तस्य प्रत्यक्षाभाव प्रसंगात्**" अर्थात् कोई कहता है कि "इन्द्रियव्यापार जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और इन्द्रिय व्यापार की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान को परोक्ष कहना चाहिये। सभी वादी प्रायः इसमें एकमत हैं।" इस आशंका पर जैनाचार्य समाधान करते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने से आप्त—सर्वज्ञ को प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकेगा, सर्वज्ञता का लोप हो जायेगा क्योंकि सर्वज्ञ को इन्द्रिय जन्य ज्ञान नहीं होता है। आगम से अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान मानकर सर्वज्ञता का समर्थन करना तो युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि आगम वीतराग, प्रत्यक्षदर्शी पुरुष के द्वारा प्रणीत होता है। जव अतींद्रिय प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है तव अतींद्रिय पदार्थों में आगम का ज्ञान प्रमाणीक कैसे वन सकेगा ? आगम अपौरुषेय है यह वात तो असिद्ध ही है क्योंकि पुरुष प्रयत्न के बिना उत्पन्न हुआ कोई भी विधायक शब्द प्रमाण नहीं है। अतः हिंसादि का विधान करने वाला वेद प्रमाण नहीं हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतींद्रिय है, इंद्रियजन्य नहीं है।

शंका—पुनः एक देश मोहरहित, असर्वदर्शी, अवधिज्ञानी और मनःपर्यय ज्ञानियों को इंद्रियों की अपेक्षा नहीं है यह बात कैसे जानी जाती है ? अर्थात् सिद्धांत में अवधि-मनःपर्यय ज्ञान को अतींद्रिय कहा है यह कैसे वनेगा ?

समाधान—उन उन—अवधि ज्ञानावरण और मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अतिशय के निमित्त से ये दोनों ही ज्ञान अपने-अपने विषय में प्रस्फुट—स्पष्ट हैं ऐसा हम मानते हैं। इस प्रकार से संपूर्णतया मोहरहित हेतु अथवा सर्वदर्शी हेतु अनैकांतिक हो जाता है ऐसी भी आशंका नहीं करना क्योंकि इंद्रियों की अपेक्षा रखने वाले मति श्रुतज्ञान विपक्ष हैं उन दोनों ज्ञानों में ये दोनों हेतु असंभवी हैं।

१ परः । २ सिद्धान्ती । ३ साकल्येन विरतव्यामोहत्वसर्वदर्शनाभ्यां विनापि अवधिमनः—पर्यययोरक्षानपेक्षत्वप्रकारेण । ४ तस्य=विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः । ५ अवधिमनःपर्यययोरपि पक्षान्तर्भावं ज्ञात्वा साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः पक्षाव्यापकत्वं नाम हेत्वाभासत्वं दोषं समर्थयति परः ।

(1) देशतो विरतव्यामोहत्वस्याक्षानपेक्षत्वव्यभिचारीप्रकारेण (2) हेतोः ।

सकलप्रत्यक्षस्यैव पक्षत्ववचनात्, तत्र चास्य हेतोः सद्भावात्, विकलप्रत्यक्षस्यावधिमनःपर्यया-ख्यस्यापक्षीकरणात् । न चास्मदादिप्रत्यक्षेक्षापेक्षोपलक्षणात्सकल[1]वित्प्रत्यक्षेपि सास्त्ये-

शंका—ये दोनों हेतु अवधि और मनःपर्यय ज्ञान में असंभव हैं अतः ये हेतु पक्ष में अव्यापक होने से अहेतु हैं। अर्थात् अवधि और मनःपर्यय ज्ञान अतींद्रिय प्रत्यक्ष तो हैं परन्तु आपके संपूर्णतया मोह से रहित होना और सर्वदर्शी होना रूप दोनों हेतु इन ज्ञानों में नहीं रहने से ये दोनों हेतु अहेतु हैं।

समाधान—ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि सकल प्रत्यक्ष को ही हमने पक्ष बनाया है और वहां पर उन हेतुओं का सद्भाव है। विकल प्रत्यक्षरूप अवधि मनःपर्यय को हमने पक्ष में नहीं लिया है।

विशेषार्थ—शंकाकार का अभिप्राय यह है कि अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इंद्रियों की अपेक्षा न रखने से अतींद्रिय प्रत्यक्ष हैं फिर भी इनके धारक अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी सर्वज्ञ क्यों नहीं कहलाते हैं और यदि आप इन्हें सर्वज्ञ, प्रत्यक्षदर्शी नहीं मानते हो तब तो इनके ज्ञान को आप इंद्रियजन्य कहिये। इस पर आचार्य कहते हैं कि ये दोनों ही ज्ञान अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा रख कर आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं इनमें इंद्रियों की सहायता नहीं है अतः ये ज्ञान अतींद्रिय हैं फिर भी इनके धारक सर्वज्ञ नहीं होते हैं क्योंकि इनमें ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम कारण है न कि क्षय।

दूसरी बात यह भी है कि अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी जोवों के मोह कर्म का पूर्णतया नाश नहीं हुआ है एक देश ही अभाव हुआ है और ये सर्वदर्शी भी नहीं हैं सीमित पदार्थों को ही देखने वाले हैं। इन दोनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष इसलिये कहा है कि ये अपने विषय का स्पष्ट ज्ञान करते हैं एवं अतींद्रिय इसलिये हैं कि ये इंद्रियों की सहायता के बिना ही उत्पन्न होते हैं। एवं "साकल्येन विरतव्यामोहत्वात्" और "सर्वदर्शनात्" ये दोनों हेतु व्यभिचारी भी नहीं हैं क्योंकि विपक्ष रूप इंद्रिय जन्य परोक्ष मति, श्रुतज्ञान में ये दोनों हेतु नहीं पाये जाते हैं।

किसी ने कहा कि भले ही आपके हेतु व्यभिचारी न हो सकें किंतु पक्ष में पूणतया व्याप्त न होने से अव्यापक रूप से अहेतु अवश्य हैं क्योंकि आप जैनों ने अवधि, मनःपर्ययज्ञान को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अवश्य माना है किन्तु उनमें पूर्णतया मोह का अभाव और सर्वदर्शीपना नहीं है। इस आशंका पर जैनाचार्यों ने कहा कि भाई ! हमने पक्ष में सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान को ही लिया है। इन विकल प्रत्यक्ष रूप दोनों ज्ञानों को पक्ष में नहीं लिया है अतः हमारे हेतु अहेतु नहीं हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष के दो भेद हैं सकल और विकल। सर्वज्ञ भगवान के सकल प्रत्यक्ष पाया जाता है अतः उसी को यहां पक्ष में लिया गया है। अन्यत्र न्यायदीपिका में दूसरी भी शंका देखी जाती है—

कोई कहता है कि केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक है किंतु अवधि और मनःपर्यय को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों एक देश प्रत्यक्ष हैं। इस पर आचार्यों का

(1) केवलज्ञानस्य।

वेति वक्तुं शक्यम्[१], अञ्जनादिभिरसंस्कृतचक्षुषोऽस्मदादेरालोकापेक्षोपलक्षणात्[1] तत्संस्कृतचक्षुषोपि कस्यचिदालोकापेक्षाप्रसङ्गात्[2]। [3]नक्तञ्चराणामालोकापायेपि स्पष्टरूपावलोकनप्रसिद्धेर्नालोको नियतं कारणं [4]प्रत्यक्षस्येति चेत्तर्हि सत्यस्वप्नज्ञानस्ये[२]क्षणिकादिज्ञानस्य च स्पष्टस्य चक्षुराद्यनपेक्षस्य प्रसिद्धेरक्षमपि नियतं प्रत्यक्षकारणं मा भूत्। ततो यथाञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामालोकानपेक्षा स्फुटं रूपेक्षणे तथा साकल्येन विरतव्यामोहस्य सर्वसाक्षात्करणेऽक्षानपेक्षा। इतिकरणक्रमव्यवधानातिवर्त्तिसकलप्रत्यक्षो [5]भवभृतां[३] गुरुः प्रसिध्यत्येव।

कहना है कि सकलपना और विकलपना यहां विषय की अपेक्षा से है स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है क्योंकि केवलज्ञान संपूर्ण द्रव्यों और पर्यायों को विषय करने वाला होने से सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है, किंतु अवधि और मनःपर्यय कुछ पदार्थों को विषय करते हैं इसलिये वे विकल प्रत्यक्ष कहे जाते हैं, परन्तु इतने मात्र से इन दोनों ज्ञानों में पारमार्थिकता की हानि नहीं होती है, क्योंकि पारमार्थिकता का कारण सकल पदार्थों को विषय करना नहीं है अपितु पूर्ण निर्मलता है और वह पूर्ण निर्मलता—स्पष्टता केवल ज्ञान के समान अवधि, मनःपर्यय में भी विद्यमान है अतः ये दोनों ज्ञान पारमार्थिक ही हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि ये दोनों ज्ञान अतीन्द्रिय होकर भी सकलप्रत्यक्ष नहीं हैं विकलप्रत्यक्ष हैं इसलिये सर्वज्ञ के ज्ञान को पक्ष बनाने में ये दोनों ज्ञान नहीं आते हैं।

शंका—हम लोगों के प्रत्यक्ष में इंद्रियों की अपेक्षा देखी जाती है अतः सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में भी वह अपेक्षा होनी ही चाहिये।

समाधान—आपका ऐसा कहना भी शक्य नहीं है, अन्यथा अञ्जनादि से संस्कृत नहीं हुये हम लोगों के नेत्र प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं पुनः किसी के अञ्जनादि से संस्कृत नेत्र भी प्रकाश की अपेक्षा रखने लग जावेंगे तब अंजन गुटिका आदि विद्याओं का क्या महत्व रहेगा ?

शंका—नक्तंचर—उल्लू, बिल्ली आदि जीवों का प्रकाश के अभाव में भी स्पष्टतया, रूप—पदार्थ का देखना प्रसिद्ध है इसलिए प्रकाश प्रत्यक्ष के लिये निश्चित कारण नहीं है।

जैन— तब तो सच्चे स्वप्न का ज्ञान और ईक्षणिकादि ज्ञान चक्षु आदि इंद्रियों की अपेक्षा न करके ही स्पष्ट प्रसिद्ध हैं अतः इंद्रियां भी प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये निश्चित कारण न होवें क्या बाधा है ? इसलिये जैसे अंजनादि से संस्कृत चक्षु को स्पष्टतया रूप को देखने में प्रकाश की अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार से सम्पूर्ण तया मोह रहित पुरुष को सभी का साक्षात्कार करने में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं हैं।

इस प्रकार इन्द्रियों से क्रम से, और व्यवधान से रहित सकलप्रत्यक्षज्ञानी संसारी जीवों के गुरु प्रसिद्ध ही हैं।

१ परेण २ ईक्षणिका—द्व्यक्षरा शाकिनी-ग्राह्या (?)। ३ भवेतामिति पाठान्तरम्।

(1) परिज्ञानात्। (2) तथा लोके नास्ति। (3) जैनेनानिष्टापादानमकारि तत्परिहारमिति मीमांसकः नक्तञ्चरेत्यादिना। (4) किन्त्विंद्रियमेव। (5) प्राणिनां—भवभृतां।

विशेषार्थ—किसी का कहना है कि हम लोगों का ज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा से ही होता है अतः सर्वज्ञ का ज्ञान भी वैसा ही होना चाहिये क्योंकि जैसे हम मनुष्य हैं वैसे ही सर्वज्ञ भी तो मनुष्य ही हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि भाई ! किसी को अंजन गुटिका सिद्ध है उसने उसे आंख में लगा लिया तो उसे अंधेरे में भी दिखने लगता है परन्तु हम और आपको तो अंधेरे में नहीं दीखता है। आपके कथनानुसार अंजनगुटिका सिद्धि वाले को भी अंधेरे में नहीं दिखना चाहिये। तब वह झट बोल पड़ा कि अंधेरे में तो उल्लू बिल्ली आदि को भी दीख जाता है अतः प्रकाश और अंधेरा ज्ञान और अज्ञान में नियम रूप से कारण नहीं हैं। तब आचार्य कहते है कि किसी को स्वप्न में सम्मेदशिखर का पर्वत ज्यों का त्यों दीख गया, आचार्य शांतिसागर जी महाराज के दर्शन हो गये। इस सत्य स्वप्न में इन्द्रियों की अपेक्षा तो नहीं है फिर भी स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान है अतः इन्द्रियों से ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो, यह नियम नहीं रहा। देखिये ! अंजन आदि से संस्कृत आंखें स्पष्टतया अंधेरे में भी सब वस्तुयें देख लेती हैं उसी प्रकार से मोहकर्म, ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन घातिया कर्मों का नाश हो जाने से अर्हंतभगवान् के केवलज्ञान आदि नव-लब्धियां प्रगट हो जाती हैं अतः केवलज्ञान में **न** इन्द्रियों की सहायता है न क्रम-क्रम से होना है क्योंकि केवल ज्ञान और दर्शन दोनों ही युगपत् एक समय में सारे पदार्थों को जान लेते हैं। अतः इस ज्ञान में व्यवधान- अंतर भी नहीं पड़ता है। ऐसे इन्द्रिय से, क्रम और अंतर से रहित केवलज्ञानी भगवान् ही संसारी जीवों के गुरु हैं, स्वामी हैं अतएव सभी के नाथ, तीन लोक के नाथ कहलाते हैं।

सर्वज्ञ के अतींद्रिय ज्ञान की सिद्धि का सारांश

मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी सामान्य से भी सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं एवं सौगत, सांख्य, वैशेषिक आदि सर्वज्ञ विशेष को नहीं मानते हैं।

संवेदनाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी और शब्दाद्वैतवादी ये एक प्रमाणवादी तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं वैसे ही चार्वाक भी प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण मानने वाले तीर्थच्छेद संप्रदाय मानने वाले हैं क्योंकि ये सभी परमागम संप्रदाय का निराकरण करने वाले हैं।

जैसे कपिल, बौद्ध आदि अनेक प्रमाणवादी तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं तथैव तत्त्वोपप्लववादी भी "न एकः प्रमाणं—अनेकः प्रमाणं" के अनुसार अनेक प्रमाणवादी हो गए तथा सभी के आप्त, आगम और वस्तु समूह को स्वीकार करने की इच्छा रखते हुए अनेक प्रमाणवादी वैनयिक तीर्थच्छेद संप्रदायवादी हैं क्योंकि ये सभी परस्पर विरूद्ध कथन करने वाले हैं।

अद्वैतवादियों के यहां स्वपक्षसाधन परपक्षदूषण वचन भी अद्वैत के विरुद्ध हैं यदि संवृत्ति से या अविद्या से कहो तो अद्वैत भी कल्पित ही सिद्ध होता है । चार्वाक के यहां प्रत्यक्ष एक प्रमाण से ही परलोक पुण्य-पापादि का विरोध आ जाता है तथा कपिल, वैशेषिक, नैयायिक, प्रभाकर आदि अनेक प्रमाण मानकर भी तर्क प्रमाण नहीं मानते हैं अतएव तर्क के विना प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि साध्य साधन की व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकते हैं । वैनयिक, सुगत, सांख्य आदि इन सबमें परस्पर में विरोध होने से इनमें से कोई भी आप्त नहीं हो सकता है । तथाहि "तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले एकांतवादी निरावरण ज्ञानधारी नहीं हैं क्योंकि वे अविशिष्ट वचन, इंद्रियज्ञान, और इच्छादि से सहित हैं अथवा सामान्य पुरुष आदि हैं जैसे—रथ्या पुरुष ।"

किंतु हमारे सर्वज्ञ अविशिष्ट वचनादिमान् या अविशिष्ट पुरुष नहीं हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ युक्ति और शास्त्र से अविरोधि वचन वाले हैं इंद्रियों के क्रम व्यवधान से रहित हैं तथा इच्छा से भी रहित हैं अतः कः —परमात्मा चित्-चैतन्य पुरुष ही आवरण का नाश हो जाने से संसारी प्राणियों के गुरु हैं "कः परमात्मा परा आत्यंतिकी, मा—लक्ष्मीर्यस्येति" कः-परमात्मा ही चित् सर्वज्ञ हैं ।

मीमांसक—पदार्थों को जानने वाला परमात्मा अतींद्रिय ज्ञानी नहीं हो सकता है क्योंकि अतींद्रिय ज्ञानी हमें कोई उपलब्ध नहीं होता है तथा इंद्रियों के द्वारा धर्माधर्मादि सभी पदार्थ जाने नहीं जा सकते अतएव कोई भी सर्वज्ञ नहीं है "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" इसलिये भूत और भविष्यत् कालीन पदार्थ के ज्ञान का अभाव होने से कोई भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं है । अनुमानादि से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है । आगम भी अनादि है अतः आदिमान् सर्वज्ञ को कैसे कहेगा ? यदि अनित्य आगम मानें तो वह अल्पज्ञ प्रणीत होने से अप्रमाण है एवं सर्वज्ञ प्रणीत कहो तो परस्पराश्रय दोष दुर्निवार है । सर्वज्ञ के सदृश कोई न होने से उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ ग्राहक नहीं है तथा अर्थापत्ति से भी वह ग्रहण नहीं होगा अतएव सत्ता को ग्रहण करने वाले पांचों प्रमाणों का विषय न होने से वह सर्वज्ञ अभाव प्रमाण का ही विषय है । अतः सर्वज्ञ को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है ।

जैन—यह कथन विना मीमांसा के ही है । लब्धि और उपयोग के संस्कारों का अर्थात् "लब्ध्युपयोगी भावेन्द्रियम्" से भावेन्द्रिय संस्कार रूप क्षयोपशम ज्ञान का नाश हो जाने से सर्वज्ञ होता है ।

तथा द्रव्येंद्रियां तो अंगोपांग नाम कर्म की रचना विशेष हैं । वे आवरण निमित्तक नहीं हैं अतः पूर्णतया ज्ञानावरण, दर्शनावरण के क्षय हो जाने से पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ सिद्ध है वह आगम एवं "सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाण" से सिद्ध है । आप सर्वज्ञ को अभाव प्रमाण से कैसे निषेध करेंगे क्योंकि

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनं ।
मानसं नास्तिता ज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ।।"

जब कोई मनुष्य सभी मनुष्यों को जान लेवे पुनः सर्वज्ञ के ज्ञापक काल का स्मरण करके मन में "सर्वत्र सर्वज्ञ नहीं है" ऐसा ज्ञान करे तब उसका अभाव कहेगा पुनः वह सभी को जान लेने से स्वयं ही

[पूर्वोक्तकारिकात्रयकथितहेतुभिर्भगवान् महान् नास्ति, प्रत्युत दोषावरणरहितत्वादेव महान्]

उत्थानिका—

[1]यतश्चासौ न देवागमादिविभूतिमत्त्वादध्यात्मं बहिरपि दिव्यसत्यविग्रहादिमहोदयाश्रयत्वाद्वा महान्, नापि तीर्थकृत्त्वमात्रात्, [2]यतश्च तीर्थच्छेदसम्प्रदायोपि वैदिको नियोगभाव-

---

सर्वज्ञ बन जाता है तब उसका निषेध कैसे करेगा ? तथा आवरण निमित्तक भावेन्द्रियों के नाश हो जाने से अतीन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है जो कि भूत, भावी सूक्ष्मादि पदार्थों को ग्रहण करने में युगपत ही समर्थ है । यदि आप कहो कि अज्ञान का कारण क्या है ? तो ज्ञानावरण कर्म है एवं ज्ञानावरणादि के कारण मोहनीय आदि कर्मों का उदय है । संपूर्णतया मोह से रहित पुरुष पूर्ण ज्ञानी हो सकते हैं अतः सर्वज्ञ भगवान् को इन्द्रियादिकों की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वे संपूर्णतया मोह से रहित है अथवा सर्वदर्शी हैं । जैसे अंजनादि से संस्कृत चक्षु प्रकाशादि की अपेक्षा नहीं रखते हैं एक देश मोह से रहित, असर्वदर्शी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम से अपने-अपने विषय को स्पष्ट जानते हैं अतः हमारा हेतु सर्वमोह रहित, सर्वदर्शी उनसे अनैकांतिक नहीं है क्योंकि यहां सकल प्रत्यक्ष की विवक्षा है । अतः इन्द्रिय और क्रम के व्यवधान से रहित सकल प्रत्यक्षज्ञानी संसारी जीवों के गुरु प्रसिद्ध ही हैं जो कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं ऐसा समझना चाहिये ।



[पूर्वोक्त तीन कारिकाओं में कथित तीन हेतुओं से भगवान् महान् नहीं हैं किंतु दोष और आवरण से रहित होने से ही भगवान् महान् हैं]

हे भगवन् ! देवागमादि विभूतिमान् होने से अथवा अध्यात्म और वहिरंग दिव्य, सत्य विग्रहादि महोदय के आश्रयीभूत होने से भी आप महान् नहीं हैं एवं तीर्थकृत्त्व मात्र से भी आप महान् नहीं हैं क्योंकि तीर्थ के उच्छेदक—विनाशक संप्रदाय वाले भी वैदिक जन के नियोग, भावना आदि संप्रदाय संवादक (प्रमाणभूत) नहीं हैं । अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण वाले चार्वाक या तत्त्वोपप्लववादी (शून्यवादी)

---

(1) कारणात् । (2) कारणात् ।

नादिसम्प्रदायो न संवादकः[1] प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिसम्प्रदायस्तत्त्वोपप्लववादिसम्प्रदायो वा सर्वाप्तवादो[2] वा न प्रमाणभूतो व्यवतिष्ठते, ततः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणो भगवन् [3]भवानेव भवभृतां [4]प्रभुरात्यन्तिकदोषावरणहान्या साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थत्वेन च मुनिभिः [1]सूत्रकारादिभिरभिष्टूयते । इति समन्तभद्राचार्यैर्निरूपिते सति कुतस्तावदात्यन्तिकी दोषावरणहानिर्मयि[5] विनिश्चितेति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः ।—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्[6] ।
[7]क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

[2]दोषावरणसामान्ययोर्हानिः [9]प्रसिद्धत्वाद्धर्मित्वं न विरुध्यते । तत्प्रसिद्धिः पुनरस्मदादिषु देशतो निर्दोषत्वस्य ज्ञानादेश्च [10]कार्यस्य निश्चयाद्भवत्येव, अन्यथा तदनुपपत्तेः । सा

संप्रदाय वाले या सभी को आप्त मानने वाले वैनयिक मतानुयायी जन प्रमाणभूत नहीं हैं । इसीलिये सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें ऐसे हे भगवन् ! आप ही संसारी जीवों के स्वामी हैं क्योंकि अत्यन्त रूप से दोष एवं आवरण की हानि होने से तथा साक्षात् अशेष तत्त्वों के ज्ञाता होने से सूत्रकार आदि मुनि पुंगवों द्वारा आपकी ही स्तुति की जाती है । इस प्रकार श्री समंतभद्र आचार्य के द्वारा निरुपण करने पर आपने मुझमें किस प्रकार से दोषावरण की हानि आत्यंतिक रूप से निश्चित की है । इस प्रकार से भगवान् के द्वारा प्रश्न किये जाने पर ही मानों आचार्य कहते हैं—

कारिकार्थ—किसी जीव में दोष और आवरण की हानि परिपूर्ण रूप से हो सकती है क्योंकि अन्यत्र उसका अतिशयपना पाया जाता है । जिस प्रकार से अपने हेतुओं के द्वारा कनकपाषाणादि में बाह्य एवं अंतरंग मल का पूर्णतया अभाव पाया जाता है ॥४॥

दोष सामान्य एवं आवरण सामान्य की हानि प्रसिद्ध है अतः इस अनुमान में "धर्मी" असिद्ध नहीं है । उसकी प्रसिद्धि हम लोगों में एक देश रूप निर्दोषपना और ज्ञानादि रूप कार्य के निश्चित होने से होती है अन्यथा दोष, आवरण की हानि के अभाव में हम लोगों में कुछ-कुछ अंशों में निर्दोषता एवं क्षयोपशम जन्य कुछ ज्ञान की प्रकटता रूप कार्य नहीं हो सकेगा और वह हानि किसी न किसी जीव

---

१ प्रमाणभूतः । २ सर्वे आप्ता इति वादो यस्य स सर्वाप्तवादो वैनयिकः । ३ वर्द्धमानः । ४ अन्तमतिक्रान्तः कालोऽत्यन्तः । तस्मै प्रभवतीति आत्यन्तिकी, यस्या हानेः पुनर्नाशो न विद्यते तथेत्यर्थः । ५ अर्हति । ६ तरतमभावेन हीयमानत्वात् । ७ क्वचिच्छब्दः पूर्वार्द्धेपि सम्बन्धनीयः । क्वचिच्छब्देन कनकोपलो दृष्टान्ते अर्हंश्च दार्ष्टान्ते ग्राह्यः । ८ दोषसामान्यमावरणसामान्यं च तयोः । ९ प्रसिद्धो धर्मीति वचनात् । १० दोषावरणयोर्हानेरभावे निर्दोषत्वं ज्ञानादि कार्यं च नोपपद्यते ।

---

(1) उमास्वातिपादैः । (2) दोषः—भावकर्म । आवरणं—द्रव्यकर्म ।

[1]क्वचिन्निश्शेषास्तीति [१]साध्यते, वादिप्रतिवादिनोरत्र[२] विप्रतिपत्तेः । [2]अतिशायनादिति हेतुः । क्वचित्कनकपाषाणादौ किट्टकालिकादिबहिरन्तर्मलक्षयो यथेति दृष्टान्तः, [३]प्रसिद्धत्वात् । स हि कनकपाषाणादौ [४]प्रकृष्यमाणो दृष्टो निश्शेषः । तद्वद्दोषावरणहानिरपि प्रकृष्यमाणाऽस्मदादिषु प्रतीता सती क्वचिन्निश्शेषाऽस्तीति सिद्ध्यति । [3]कः पुनर्दोषो नामावरणाद्भिन्नस्वभाव इति चेदुच्यते[५] । [६]**वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः [७]स्वपर[4]परिणामहेतुः**[*5] । न हि दोष एवावरणमिति प्रतिपादने [6]कारिकाया दोषावरणयोरिति द्विवचनं [८]समर्थम् । ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात्पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्यूह्यते । तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य[९] पूर्वस्वपरिणामश्च ।

विशेष में परिपूर्ण रूप से है यह यहां साध्य है। क्योंकि परिपूर्ण हानिरूप साध्य में वादी और प्रतिवादी दोनों को विवाद है अतः यह साध्य की कोटि में रखा गया है। सभी में हानि की अतिशय रूपता (तरतमता) देखी जाती है यह हेतु वाक्य है। किसी कनकपाषाण में आदि में किट्टरूप बहिरंग तथा कालिमा रूप अन्तरंग मल का क्षय होता है यह दृष्टांत है यह भी प्रसिद्ध ही है क्योंकि वह किट्ट और कालिमा आदि मल का क्षय कनकपाषाण आदि में प्रकृष्यमाण अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होता हुआ दो तीन आदि ताव से लेकर सोलह ताव पर्यंत निःशेष रूप से क्षय को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है।

उसी प्रकार से दोष और आवरण की हानि भी हम लोगों में प्रकर्षता को प्राप्त होती हुई प्रतीति में आ रही है और वह किसी न किसी पुरुष विशेष में निःशेष रूप से है ही है यह सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न—यह दोष क्या है जो कि आवरण से भिन्न स्वभाव वाला है ?

उत्तर—**कारिका गत "दोषावरणयोः" इस द्विवचन की सामर्थ्य से अज्ञानादि स्वरूप दोष आवरण से भिन्न ही हैं और वे स्वपर परिणाम हेतु से होते हैं*** । क्योंकि दोष ही आवरण है ऐसा मानने पर कारिका में द्विवचन नहीं बन सकता था अतः द्विवचन की सामर्थ्य से पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्म रूप आवरण से भिन्न स्वभाव वाले ही अज्ञान, राग-द्वेष आदि दोष कहे जाते हैं ऐसा निर्णय करना चाहिये। उस दोष के कारण पुनः आवरण कर्म हैं और जीव के पूर्व संचित निजी रागादि परिणाम भी हैं।

---

१ इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यमिति वचनात् । २ निःशेषहानौ । ३ प्रसिद्धो दृष्टान्त इति वचनात् । ४ द्वियादिवर्णिकामारभ्य षोडशवर्णिकापर्यन्तं हीयमानम् । ५ जैनैः । ६ दोषावरणयोरिति द्विवचनसामर्थ्यात् । ७ स्वपरौ जीवकर्मणी । ८ सदर्थम् । ९ रागद्वेषादिः ।

---

(1) पुंसि । (2) तारतम्येन । (3) काकुः । (4) जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये । स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः । भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ (5) वसः । (6) कारिकायां इति पा. ।

[बौद्धो दोषान् स्वहेतुकान् सांख्यश्च परहेतुकानेव मन्यते किन्तु जैनाचार्या दोषानुभयहेतुकानेव मन्यते]

[1]स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्तं, तस्य [2]कादाचित्कत्वविरोधाज्जीवत्वादिवत्[3]। [4]परपरिणामहेतुक एवेत्यपि [5]न व्यवतिष्ठते,(1) मुक्तात्मनोपि [6]तत्प्रसङ्गात्, सर्वस्य[7] कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च । तथा च दोषो जीवस्य स्वपरपरिणामहेतुकः, कार्यत्वान्माषपाकवत् ।

[बौद्ध दोषों को स्वहेतुक एवं सांख्य दोषों को परहेतुक ही मानता है किन्तु जैनाचार्य दोषों को उभय हेतुक ही मानते हैं ।]

बौद्ध—अज्ञानादिक दोष स्वपरिणाम हेतुक ही होते हैं ।

जैन—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि "अज्ञानादि दोषों के कादाचित्कपने का विरोध हो जावेगा जीवत्व आदि परिणाम के समान ।

भावार्थ—स्वपरिणाम नित्य होता है क्योंकि परिणाम गुण रूप होता है और वह परिणाम द्रव्य में संपूर्ण रूप से सदा ही पाया जाता है । "सकलपर्यायानुवर्त्तित्वं गुणत्वं" जो द्रव्य की संपूर्ण पर्यायों में अन्वय रूप से रहे उसे गुण कहते हैं इस लक्षण के अनुसार गुण नित्य माने गये हैं और अज्ञानादि दोष तो अनित्य हैं क्योंकि वे सदा काल नहीं पाये जाते हैं मुक्त जीवों में उनका अभाव है परन्तु जीवत्व आदि परिणाम स्वपरिणाम होने से नित्य हैं और सर्वकाल अर्थात् मुक्तावस्था में भी पाये जाते हैं । यदि अज्ञानादि को स्वहेतुक ही माना जावेगा तो सदा ही बने रहने से इस जीव को कभी मुक्ति नहीं हो सकेगी ।

सांख्य—अज्ञानादि परपरिणाम प्रधान के निमित्त से ही हुये हैं ।

जैन—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पर निमित्तक होने से मुक्तात्मा में भी अज्ञानादि दोषों का प्रसंग आ जावेगा । हम जैनों के यहां तो सभी कार्यों की उत्पत्ति उपादान और सहकारी कारण रूप उभय सामग्री से ही मानी गई है और प्रतीति भी उसी प्रकार से ही होती है । इसलिए "दोष जीव के स्वपरिणाम निमित्तक भी हैं एवं परपरिणाम निमित्तक भी हैं क्योंकि वे कार्य है उड़दपाक के समान" जिस प्रकार से उड़द या मूंग में अंतरंग में पकने की योग्यता है और बाहर में अग्नि जलादि के संयोग से पक जाती है किन्तु कोरडू मूंग में पकने की योग्यता न होने से अग्नि जलादिक के संयोग होने से भी नहीं पकती है ।

---

१ सौगतमतम् । २ स्वपरिणामस्तु नित्यः परिणामस्य गुणरूपस्य यावद्द्रव्यभावित्वे सति सकलपर्यायानुवर्तित्वं गुणत्वमिति लक्षणेन नित्यत्वप्रतिपादनात् । अज्ञानादिस्त्वनित्य इत्यतो विरोधः । ३ जीवत्वादिगुणस्य यथा कादाचित्कत्वविरोधोस्य नित्यत्वात् । ४ साङ्ख्यः । ५ जैनः । ६ अज्ञानादिकर्मरेणूनां मुक्तात्मनापि सम्बन्धप्रसङ्गात् । ७ जैनमते एवमभिमतम् ।

---

(1) अन्यथा ।

[कश्चित् कथयति काचिदेका हानिरेव वक्तव्या, किंतु जैनाचार्या प्रत्युत्तरयंति यत् दोषावरणयोर्मिथः कार्यकारणभावोऽस्त्यवत उभये अपि वक्तव्ये स्तः।]

[1]नन्वेवं निश्शेषावरणहानौ दोषहानेः [2]सामर्थ्यसिद्धत्वाद्दोषहानौ [3]वावरणहानेरन्य-

---

भावार्थ—जैनाचार्यों ने यहां इस कारिका में 'आवरण' शब्द से पौद्गलिक द्रव्य कर्म को ग्रहण किया है एवं 'दोष' शब्द से कर्म के उदय से होने वाले राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि भावकर्मों को लिया है और इन दोनों को जीव के रागादि रूप स्वपरिणाम एवं कर्मोदय रूप परपरिणाम के निमित्त से उत्पन्न हुये माना है।

वौद्ध दोषों को स्वपरिणाम निमित्तक मानता है एवं आवरण नाम की चीज को मानता ही नहीं है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि आवरण के बिना दोष कैसे उत्पन्न होंगे और यदि आवरण के बिना भी दोष हो सकते हैं तो सिद्धों में तो आवरण है नहीं उनके भी दोषों को उत्पत्ति होने लगेगी। अथवा जैसे जीव के ज्ञान, दर्शन, जीवत्व, आदि भाव स्वपरिणाम हैं तो उनका कभी भी नाश नहीं होता है तथैव अनादि काल से लगे हुये दोषों का भी कभी नाश नहीं होगा पुनः मुक्ति कैसे हो सकेगी ? परन्तु ऐसा तो है नहीं। अतः दोष आवरण निमित्तक होते हैं और आवरण दोष निमित्तक होते हैं।

सांख्य कहता है कि अज्ञानादि दोष पर अर्थात् प्रधान के निमित्त से ही होते हैं क्योंकि ज्ञान, सुख आदि भी प्रधान के ही धर्म हैं, प्रकृति को ही संसार होता है, प्रकृति को ही जन्म-मरण, सुख-दुःख, वंध-मोक्ष होता है। मतलब सांख्य के यहाँ प्रकृति रूप कर्मबंध प्रकृति के ही होता है पुरुष सर्वथा अकर्त्ता, निर्गुणी, निष्क्रिय माना गया है। आजकल भी कुछ लोगों का सिद्धांत है कि गाय के गले में रस्सी बांधी तो गाय का गला या गाय नहीं बंधी है किन्तु मात्र रस्सी से ही रस्सी बंधी है। यद्यपि यह दृष्टांत सत्य है फिर भी गाय बंधन में अवश्य है। वह अपने इष्ट स्थान पर जा नहीं सकती है एवं यह गाय का दृष्टांत सर्वथा लागू नहीं होता है। वास्तव में कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है एवं आत्मा के रागद्वेष आदि परिणामों से ही पुद्गल वर्गणायें कर्मरूप परिणत होती हैं और कर्म का उदय आने पर ही आत्मा के राग, द्वेष आदि परिणाम होते हैं। अतः इन दोष और आवरणों का परस्पर में कार्यकारण भाव निश्चित है। ये दोनों ही स्व पर के निमित्त से होते हैं। दोषों का स्वनिमित्त आत्मा है परनिमित्त पुद्गल कर्म हैं या विष, सर्प आदि बाह्य सामग्रियां हैं और आवरण के लिये स्वनिमित्त पुद्गल वर्गणायें हैं तथा परनिमित्त जीव के रागादि भाव हैं।

[किसी का कहना है कि दोष या आवरण दोनों में से किसी एक का ही अभाव कहना चाहिये किंतु जैनाचार्य दोष-आवरण में कार्यकारण भाव सिद्ध करके दोनों की हानि मान लेते हैं।]

प्रश्न—इस प्रकार दोष तो आवरण रूप द्रव्य कर्म के कार्य हैं अतः निश्शेष आवरण का अभाव हो

---

१ दोषस्यावरणकार्यत्वप्रतिपादनप्रकारेण। २ कारणनाशे कार्यनाशनियमात्। ३ अत्रापि कारणनाशे कार्यनाशनियमो हेतुः।

तरहानिरेव निश्शेषतः साध्येति चेन्न, दोषावरणयोर्जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थत्वादुभयहाने[1]र्निश्शेषत्व[2]साधनस्य[1]। दोषो हि तावदज्ञानं ज्ञानावरणस्योदये जीवस्य स्याददर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्य, विविधमचारित्रमनेकप्रकारचारित्रमोहस्य, अदानशीलत्वादिर्दानाद्यन्तरायस्येति, [2]तथा ज्ञानदर्शनावरणे [3]तत्प्रदोष-[4]निन्हवमात्स[5]र्यान्त[6]रायाऽऽ[7]सादनोपघातेभ्यो[8] '[9]जीवमास्रवतः[3], केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादा[10]द्दर्शनमोहः,[11] कषायोदयात्तीव्रपरिणामाच्चारित्रमोहः, विघ्नकरणादन्तराय इति

जाने पर दोष की हानि अर्थापत्ति रूप सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि कारण के नाश हो जाने पर कार्य का नाश अवश्यंभावी है। अथवा दोष का पूर्णतया अभाव होने पर आवरण का अभाव स्वयमेव निश्चित है क्योंकि दोष रूप भावकर्म से ही आवरण रूप द्रव्य कर्म बंधते हैं और कारण रूप दोष के नाश होने पर कार्यभूत द्रव्यकर्म रूप आवरण का स्वयमेव ही नाश प्रसिद्ध है। इसलिये दोनों में से किसी एक की हानि ही निःशेषतः सिद्ध करना चाहिये।

[अनादिकाल से दोष आवरणनिमित्तक हैं एवं आवरण दोषनिमित्तक हैं दोनों का परस्पर में कार्य कारण भाव है]

उत्तर – यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जीव और पुद्गल के परिणाम स्वरूप दोष और आवरण में परस्पर में कार्य कारण भाव पाया जाता है अतः परस्पर में दोनों के कार्य कारण भाव को सिद्ध करने के लिए ही दोनों की हानि निःशेष रूप से साध्य (सिद्ध) करना इष्ट है क्योंकि दोष अज्ञान को कहते हैं और वह जीव के ज्ञानावरण कर्म के उदय के होने पर होता है तथा जीव के दर्शनावरण कर्म के उदय होने पर अदर्शन, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय में मिथ्यात्व अनेक भेद रूप चरित्र मोहनीय कर्म के उदय होने पर अनेक प्रकार का अचारित्र—अविरति रूप परिणाम एवं दानादि अंतराय के उदय से अदानशीलत्व-दान नहीं देना आदि रूप दोष पाये जाते हैं।

दोष के प्रति आवरण कारण हैं ऐसा प्रतिपादन करके अब आचार्य यह बताते हैं कि आवरण के लिए दोष कारण हैं।

---

१ अन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थं ह्युभयहानिनिश्शेषत्वसाधनम्। २ दोषं प्रत्यावरणस्य कारणत्वं प्रतिपाद्येदानीमावरणं प्रति दोषस्य कारणत्वमावेदयन्ति। ३ तत्प्रदोषो ज्ञानदर्शनप्रद्वेषः। ४ निन्हवमाच्छादनम्। ५ मात्सर्यं निन्दा तिरस्कारश्च। ६ विघ्नकरणमन्तरायः। ७ आसादनं शास्त्रादेर्विराधनम्। ८ अध्येतॄणां पीडाकरणमुपघातः। ९ एभ्यः कारणेभ्यो ज्ञानदर्शनावरणद्वयं जीवेन सह बन्धं याति। १० हेतुतः। ११ आस्रवतीत्यध्याहार्यं पदम्।

---

(1) हानिनिःशेषत्व इति पा.। (2) साध्य। सिद्धेः। जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यं कार्यकारणभावः सिद्धश्चेत् तज्ज्ञापनार्थमेव तत्साधनस्य युक्तं नान्यथा अतः कथं तत्प्रसिद्धिरित्यारेकायां दोषो हि तावदित्यारभ्य तत्वार्थप्ररूपणादिति पर्यंतं ग्रंथमाहुः। (3) क्रियापदस्य द्विः।

तत्त्वार्थे प्ररूपणात् । समर्थयिष्यते चायं कार्यकारणभावो दोषावरणयोः "कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः" इत्यत्र ।

[बौद्धो दोषानेव संसारस्य कारणं मन्यते किंतु जैनाचार्या उभयौ एव कारणे इति कथयंति]

[1]अथ दोष एवाविद्या[2]तृष्णा[3]लक्षणश्चेत[4]सोनादितद्वासनोद्भूतः संसारहेतुर्नावरणं पौद्ग-

तत्प्रदोष—ज्ञान दर्शन में प्रद्वेष भाव, निन्हव—ज्ञान दर्शन को ढकना, मात्सर्य—निन्दा और तिरस्कार, अंतराय—ज्ञान दर्शन में विघ्न करना, आसादना—शास्त्रादि की विराधना करना, उपघात—उपाध्याय आदि को दोष लगाना या पीड़ा देना आदि कारणों से जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है ।

केवली, शास्त्र, संघ, धर्म एवं देव को झूठा दोष लगाने से दर्शन मोहनीय कर्म का आश्रव होता है। कषायों के उदय की तीव्रता से कलुषित परिणाम के होने से चारित्र मोहनीय कर्म का आश्रव होता है और दान लाभ आदि में विघ्न करने से दानादि अंतराय कर्म का आश्रव होता है। इस प्रकार से "तत्त्वार्थ सूत्र" महाशास्त्र में प्ररूपण किया है और आगे इसी मीमांसा ग्रन्थ में "कामादि प्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः" इत्यादि कारिका नं० ९९ के अर्थ में दोष और आवरण में कार्यकारण भाव का समर्थन करेंगे ।

भावार्थ—यहां यह प्रश्न सहज ही हो सकता है कि जब बीजांकुर न्याय के समान अनादि काल से दोष-आवरण का परस्पर कार्यकारण भाव निश्चित है तब इनका अभाव भी कैसे हो सकेगा ? इसका समाधान यही है कि जब यह जीव कालादि लब्धि को प्राप्त करके सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेता है एवं रागद्वेष को दूर करने के लिए सम्यक् चारित्र का आश्रय ले लेता है तब व्यवहार निश्चय रूप रत्नत्रय के बल से आने वाले कर्मों के रुक जाने से संवर हो जाता है और बंधे हुये कर्मों की निर्जरा होती चली जाती है तब धीरे-धीरे मोहनीय कर्म के नाश से राग, द्वेष, मोह का नाश, ज्ञानावरण आदि के नाश से अनादि-कालीन भावों का अभाव हो जाता है। जैसे कि बीज को जला देने से उससे अंकुर परम्परा समाप्त हो जाने से उस बीज का अंत हो जाता है तथैव इन दोष-आवरणों का अभाव भी हो सकता है कोई बाधा नहीं आती है ।

[बौद्ध दोषों को ही संसार का कारण मानता है आवरण को नहीं, किन्तु जैनाचार्यों ने दोनों को ही संसार का कारण माना है।]

बौद्ध—दोष ही अविद्या—मिथ्याज्ञान एवं तृष्णा भोगों की अभिलाषा लक्षण वाले हैं जो कि चित्त क्षण रूप आत्मा में अनादि काल की वासना से उत्पन्न होते हैं वे ही संसार के लिये कारण हैं, न कि आवरण रूप पौद्गलिक कर्म, क्योंकि मूर्तिमान् कर्म के द्वारा अमूर्तिक आत्मा पर आवरण नहीं हो सकता है ।

१ सौगताशङ्का। २ अविद्या मिथ्याज्ञानम् । ३ भोगाभिलाषस्तृष्णा। ४ चित्तक्षणस्य आत्मन इत्यर्थः ।

लिकं, तेन मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणायोगादिति वदतो बौद्धान्निराकर्तुमावरणग्रहणं, मूर्तिमतापि मदिरादिना चित्तस्यामूर्तस्यावरणदर्शनात्,[1] [1]तत्सम्बन्धाद्विभ्रम[2]संवेदनादन्यथा तदनुपपत्तेः। मदिरादिनेन्द्रियाण्येवाव्रियन्ते इति चेन्न तेषामचेतनत्वे तदावरणासंभवात् [3]स्थाल्यादिवद्विभ्रमायोगात्। [2]चेतनत्वे तेषाममूर्तत्वेपि मूर्तिमतावरणमायात[4]मिति प्रायेणान्यत्र[3] चिन्तितम्। ततो दोषहानिवदावरणहानिरपि निश्शेषा क्वचित्साध्या, [5]तदावरणस्य दोषादन्यस्य मूर्तिमतः प्रसिद्धेः।

जैन— इस प्रकार से कहने वाले बौद्ध का खंडन करने के लिए ही "आवरण" शब्द को ग्रहण किया है क्योंकि मूर्तिमान् मदिरा आदि के द्वारा भी अमूर्तिक आत्मा में आवरण देखा जाता है। उस मदिरा के निमित्त से विभ्रम का अनुभव होता ही है यदि ऐसा न मानो तो मदिरा पीने के बाद मनुष्य की उन्मत्त अवस्था नहीं हो सकेगी।

बौद्ध—मदिरा आदि के द्वारा इंद्रियों पर ही आवरण देखा जाता है अर्थात् इन्द्रियां ही मदिरा से उन्मत्त होती हैं न कि आत्मा।

जैनाचार्य—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों को अचेतन मान लेने पर उन पर मदिरा आदि से आवरण होना संभव नहीं है जैसे कि अचेतन पात्र-शीशी आदि में रखी हुई मदिरा के निमित्त से उनमें उन्मत्तता नहीं आती है वैसे ही यदि इन्द्रियां अचेतन हैं तो वे उन्मत नहीं हो सकेंगी और यदि आप इंद्रियों को चेतन रूप स्वीकार कर लेंगे तब तो उन्हें आत्मा के समान अमूर्तिक भी मानना पड़ेगा पुनः मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा अमूर्तिक पर आवरण सिद्ध ही हो जावेगा क्योंकि जैन सिद्धान्त में कर्म बंध सहित संसारी आत्मा को कथंचित् मूर्तिक भी माना है।

अतः संसारी जीवों का चेतनत्व एवं अमूर्तिकत्व स्वभाव होने पर भी मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा आवरण सिद्ध हो ही जाता है इस विषय का प्रायः श्लोकवार्तिक में विशेष रूप से विचार किया गया है।

दोष के अभाव के समान आवरण का अभाव भी किसी जीव विशेष में निश्शेष रूप से सिद्ध करना ही चाहिए क्योंकि दोष से भिन्न मूर्तिमान् आवरण की प्रसिद्धि है।

भावार्थ—अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिमान् कर्मों से पराजित होना स्पष्ट है इस बात को 'राजवार्तिक ग्रन्थ' में श्री अकलंक देव ने भी कहा है। "अमूर्तित्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेत्; न; तद्वद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत्।"

प्रश्न—चूंकि आत्मा अमूर्त है अतः उसका कर्म पुद्गलों से अभिभव नहीं होना चाहिये ?

---

१ तेन मदिरादिना। २ अभ्युपगते। ३ श्लोकवार्तिके।

---

(1) कुतः। (2) भ्रांतिज्ञान। (3) मदिराभाजनादि। अचेतनत्वात्। (4) तथा च कर्मणा मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणायोगात् इति वचनमयुक्तमिति भावः। (5) पौद्गलिकस्य।

[दोषावरणयोर्हानिः प्रध्वंसाभावरूपोऽस्ति न त्वत्यंताभावरूपा]

[1]अत एव लोष्टादौ निश्शेषदोषा[1]वरणनिवृत्तेः सिद्धसाध्यतेत्यसमीक्षि[2]ताभिधानं,[2]

उत्तर—अनादि कर्मबंधन के कारण उसमें विशेष शक्ति आ जाती है। अनादि पारिणामिक चैतन्यवान् आत्मा की नारकादि, मतिज्ञानादि पर्यायें भी चेतन ही हैं। यह आत्मा अनादिकाल से कार्मण शरीर के कारण मूर्तिमान् हो रहा है और इसीलिए उस पर्याय संबंधी शक्ति के कारण मूर्तिक कर्मों को ग्रहण करता है। आत्मा कर्मबद्ध होने से कथंचित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव को न छोड़ने के कारण अमूर्तिक है। जिस प्रकार मदिरा को पीकर मनुष्य मूर्छित हो जाता है, उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार कर्मोदय से आत्मा के स्वभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते हैं। मदिरा के द्वारा इन्द्रियों में विभ्रम या मूर्च्छा आदि मानना ठीक नहीं है क्योंकि जब इन्द्रियां अचेतन हैं तो अचेतन में बेहोशी आ नहीं सकती अन्यथा जिस पात्र में मदिरा रखी है उसे ही मूर्च्छित हो जाना चाहिए या उन्मत्त चेष्टा करना चाहिये। यदि इन्द्रियों को चेतन कहेंगे तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि बेहोशी चेतन में होती है न कि अचेतन में। इसलिये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संसारी आत्मा मूर्तिक है—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स॥

अर्थ—बंध की दृष्टि से आत्मा और कर्म में एकत्व होने पर भी लक्षण की अपेक्षा से दोनों में भिन्नता है। अतः आत्मा में एकांत से अमूर्तिकपना नहीं है।

इसी बात को श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने भी कहा है कि—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्तिबंधादो॥

अर्थ—पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श निश्चय नय से ये जीव में नहीं हैं इसलिये यह जीव अमूर्तिक है एवं व्यवहार नय से कर्मबंध से सहित होने से यह जीव मूर्तिक है। इसलिये जीव को संसारावस्था में सर्वथा अमूर्तिक मानना गलत है।

[दोष, आवरण की हानि प्रध्वंसाभाव रूप है अत्यंताभाव रूप नहीं है]

प्रश्न—अतएव इसी "अतिशायनात्" हेतु के द्वारा लोष्टादिक (मिट्टी के ढेले आदि) में भी निःशेष रूप से दोष आवरण की निवृत्ति होने से सिद्धसाध्यता नाम का दोष आता है* अर्थात् सिद्ध को ही सिद्ध करना यह पिष्टपेषण के सदृश दोष युक्त ही है।

---

१ अतिशायनादेव। २ बौद्धस्य।

---

(1) कर्म। (2) मीमांसकं निराचष्टे।

साध्यापरिज्ञानात्। प्रध्वंसाभावो हि दोषावरणयोः साध्यो न पुनरत्यन्ताभावः, [1]तस्यानिष्टत्वात्,[१] [२]सदात्मनो मुक्तिप्रसङ्गात्। नापीतरेतराभावः,[३] तस्य[४] प्रसिद्धत्वात्, दोषावरणयोरनात्मत्वादात्मनश्चादोषावरणस्वभावत्वात्। [2]प्रागभावोपि न साध्यस्तत[५] एव, [६]प्रागविद्यमानस्य दोषावरणस्य स्वकारणादात्मनि प्रादुर्भावाभ्युपगमात्। न च लोष्टादौ दोषावरणयोः प्रध्वंसाभावः संभवति, तस्य भूत्वाऽभवनलक्षणत्वात्[७] तयोस्तत्रात्यन्तमभा[८]वात्। तन्न सिद्धसाध्यता।

[शंकाकारो बुद्धेस्तरतमतां दृष्ट्वा अतिशायनहेतुमनैकांतिकं मन्यते किंतु जैनाचार्याः क्वचित् लोष्टादौ बुद्धेरपि अभावं स्वीकृत्य हेतुमनैकांतिकं न मन्यंते]

[3]नन्वेवं, **दोषावरणयोर्हानेरतिशायनान्निश्शेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि**[4] **किन्न परिक्षयः**

उत्तर—आप बौद्ध का यह कहना असमीक्षित है—ठीक नहीं है उसने हमारे साध्य को समझा ही नहीं है*। क्योंकि दोष और आवरण का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव (हानि) ही साध्य है न कि अत्यंताभाव रूप अभाव, क्योंकि अत्यंताभाव रूप अभाव यहां साध्य में हमें इष्ट नहीं है। यदि जीव में दोष और आवरण का अत्यन्ताभाव मानेंगे तो नित्य ही संसार अवस्था में भी जीव के मुक्ति का प्रसंग आ जावेगा। तथा जीव में दोष और आवरण का इतरेतराभाव भी इष्ट नहीं है। वह इतरेतराभाव तो आत्मा में प्रसिद्ध ही है क्योंकि आत्मा और दोष-आवरण एक दूसरे रूप नहीं हो सकते हैं उनकी परस्पर विभिन्नता प्रसिद्ध है।

दोष और आवरण आत्मस्वरूप नहीं है और न आत्मा ही दोष, आवरण स्वभाव वाली है। तथा प्रागभाव भी यहां साध्य नहीं है क्योंकि वह भी प्रसिद्ध ही है। प्राक् (पहले) अविद्यमान रूप दोष आवरणों की अपने कारणों से आत्मा में उत्पत्ति स्वीकार की गई है यह कथन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है।

मिट्टी के ढेले आदि में दोष, आवरण का प्रध्वंसाभाव ही नहीं है। प्रध्वंसाभाव तो "भूत्वाभवनलक्षणत्वात्" घट होकर कपाल होने रूप है। उस मिट्टी के ढेले आदि में दोष आवरण का अत्यन्त ही अभाव है अतः प्रध्वंसाभाव रूप हानि को साध्य करने में सिद्ध साध्यता दोष नहीं है।

---

१ अनिष्टस्य साध्यत्वाभावात्। २ कुतः ? यतः। ३ आत्मा दोषावरणं न तच्चात्मा नेति इतरेतराभावः। ४ इतरेतराभावस्यात्मनि कर्माद्यपेक्षया प्रसिद्धत्वात्। ५ प्रसिद्धत्वादेव। ६ प्रसिद्धत्वे हेतुमाह। ७ घटो भूत्वा कपालभवनमेव प्रध्वंसाभावः। ८ लोष्टादावत्यन्ताभावेन वर्तनात्।

---

(1) दृष्टमबाधितमसिद्धं साध्यमिति वचनात्। (2) कारणसंपातात्पूर्वमभावः प्रागभाव इति लक्षणं। (3) मीमांसकः। (4) बुद्धेरतिशयोऽस्ति।

स्याद्विशेषा[1]भावाद[2]तोनैकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षितं[1], +चेतनादिगुणव्यावृत्ते[3]: सर्वात्मना पृथिव्या[4]देरभि[5]मतत्वात्[6] *। ननु च पृथिव्यादौ सर्वात्मना[7] चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावस्याभावाद्[8]बुद्धिहान्यानैकान्तिकमेवातिशायनमित्यप्यनवबोधविजृम्भितं[9], पृथिव्यादौ पुद्गले पृथिवीकायिकादिभिरात्मभि: शरीरत्वेन [2]गृहीते स्वायुषः क्षयात्त्यक्ते चेतनादिगुणस्य व्यावृत्तेः सर्वात्मना प्रध्वंसाभावरूपत्वेन स्याद्वादिभिरभिमतत्वात्[3], "न हि स कश्चित्पुद्गलोस्ति यो न जीवैरसकृद्भुक्तोज्झितः[4]" इति वचनात्। [5]प्रसिद्धश्च पृथिव्यादौ चेतनादिगुणस्याभावः, [10]अनुपलम्भान्यथानुपपत्तेः।

[शंकाकार बुद्धि की तरतमता देखकर "अतिशायन हेतु" को व्यभिचारी कहता है किन्तु जैनाचार्य कहीं न कहीं बुद्धि का भी अभाव मान लेते हैं।]

शंका—आप दोष और आवरण की हानि को निःशेष रूप से साध्य करने में "अतिशायन" हेतु देते हैं पुनः इसी "अतिशायन" हेतु से किसी न किसी जीव में बुद्धि का भी परिपूर्णतया अभाव क्यों न हो जावेगा ? क्योंकि इन दोनों में कोई अंतर नहीं है। इसलिए आपका हेतु अनैकांतिक है*।

समाधान—यह आपका कथन अशिक्षित रूप ही है क्योंकि पृथ्वी आदिकों में संपूर्ण रूप से चेतनादि गुणों की प्रध्वंसाभाव रूप व्यावृत्ति होना हमें इष्ट ही है*।

शंका—पृथ्वी आदि में सम्पूर्ण रूप से चेतना गुणों का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव नहीं होता है अतः बुद्धि की हानि के साथ यह "अतिशायन" हेतु व्यभिचारी है। अर्थात् बुद्धि की हानि में "अतिशायन" हेतु पाया जाता है फिर भी संपूर्णतया पृथिवी आदि में चेतना गुणों का प्रध्वंसाभाव नहीं है अतः यह हेतु अनैकांतिक है।

समाधान—यह कथन भी अज्ञान के विलास रूप ही है, पृथ्वी आदि रूप से परिणत हुए पुद्गल वर्गणाओं को पृथ्वीकायिक आदि नामकर्म के उदय सहित जीवों ने अपने शरीर रूप से ग्रहण किया पुनः अपनी-अपनी आयु के कर्म के क्षय हो जाने पर उन पुद्गलमय पृथ्वी आदि को छोड़ दिया। उन पृथ्वी आदिकों में चेतनादि गुणों का सम्पूर्णतया प्रध्वंसाभाव रूप से अभाव हो जाता है यह बात हम स्याद्वादियों

---

१ दोषावरणबुद्धीनामतिशायनगुणेन कृत्वा विशेषो यतो नास्ति। २ यतो न हि बुद्धिपरिक्षयः। ३ प्रध्वंसाभावस्य। ४ आदिपदेन शरीरं गृह्यते, उत्तरत्र व्यापारव्याहाव्यावृत्तेरपि वक्ष्यमाणत्वात्। ५—रप्यभिमतत्वादिति पाठान्तरम्। ६ पृथिव्यां चेतनगुणव्यावृत्तिर्वर्तते एवातो नानेकान्तः। ७ सामस्त्येन। ८ चेतनादिगुणस्य तत्रात्यन्ताभावात्। ९ बुद्धिहानेरतिशायित्वेपि सर्वात्मना पृथिव्यादौ चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावो नास्ति, अतोनैकान्तः। १० अन्यथा=चेतनादिगुणसद्भावे तदभावोपलम्भाभावप्रसक्तेः।

---

(1) भा। (2) चैतन्यादुपचारादभिन्नत्वेन। (3) सपक्षे सत्त्वं तत्स्य। (4) पूर्वं भुक्तः पश्चादुज्झितः। शरीरत्वेन। (5) अनुमानतः।

+दिल्ली अष्टशती अ, ब, स प्रति में, मुद्रित अष्टशती में, दिल्ली एवं ब्यावर अष्टसहस्री प्रति में "चेतनादि··· ······मतत्वात् पंक्ति 'अष्टशती' मानी गई है। मुद्रित अष्टसहस्री में अष्टशती नहीं मानी है।

[अदृश्यपदार्थस्याभावं कथं भविष्यतीति शंकायां लौकिकजना अपि अदृश्यस्याभावं मन्यते एवेत्युत्तरं]

[1]अदृश्या[1]नुपलम्भादभावा[2]सिद्धिरित्ययुक्तं, परचैतन्यनिवृत्ता[3]वारेकापत्तेः[2], [3]संस्कर्तृणां पातकित्वप्रसङ्गाद्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि[4] रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्*[5]। [4]स्यान्मतं ते,+व्यापारव्याहाराकारविशेष[5]व्यावृत्ति[6]समयवशात्ता[7]दृशं लोको विवेचयति*।—नास्त्यत्र मृतशरीरे चैतन्यं व्यापारव्याहाराकारविशेषानुपलब्धेः, कार्यविशेषानुपलम्भस्य [8]कारणविशेषाभावाविनाभावित्वात्, चान्दनादिधूमानुपलम्भस्य [6]तत्समर्थचान्दनादिपावकाभावाविनाभावित्ववत्। तथा नास्त्यस्य रोगो ज्वरादिः, स्पर्शादिविशेषानुपलब्धेर्भूतग्रहादिर्वा[9] चेष्टा-

के यहां स्वीकार की गई है क्योंकि "इस जगत में ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है कि जिसको जीवों ने अनेकों बार भोगकर न छोड़ा हो" इस प्रकार वचन पाये जाते हैं। इसलिये पृथ्वी आदि में चेतन आदि गुणों का अभाव प्रसिद्ध ही है क्योंकि अनुपलब्धि की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् मिट्टी के ढेले आदि में चेतनागुण का सद्भाव नहीं पाया जाता है।

[जो पदार्थ दिखते नहीं हैं उनका अभाव कैसे होगा ? इस पर जैनाचार्य का कहना है कि अदृश्य का भी अभाव आबाल गोपाल मानते हैं।]

शंका—आप अदृश्य पदार्थों की अनुपलब्धि से अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अर्थात् इस मकान में भूत नहीं है ऐसा कोई नहीं कह सकते हैं क्योंकि भूत व्यंतर आदि दिखते नहीं हैं वे अदृश्य हैं उनकी उपलब्धि हमें नहीं हो रही है इसलिए वे नहीं हैं यह कहना शक्य नहीं है। जो देखने योग्य दृश्य पदार्थ हैं उन्हीं की ही उपलब्धि या अनुपलब्धि देखकर उनका सद्भाव या अभाव सिद्ध किया जा सकता है।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है अन्यथा दूसरे के शरीर से चैतन्य आत्मा के निकल जाने पर भी शंका बनी ही रहेगी। पुनः उसके संस्कार करने वालों को पातकी कहने का प्रसंग आवेगा। प्रायः करके अप्रत्यक्ष (परोक्ष) भी रोगादि के अभाव का निर्णय किया ही जाता है।*

यदि आप ऐसा कहें कि **व्यापार (क्रिया) वचन, आकार आदि जीवित की चेष्टा विशेष की व्यावृत्ति—अभाव के हो जाने से होने वाले चिन्ह विशेषों से यह शरीर मृतक हो चुका है, इसमें से चेतना निकल चुकी है यह शरीर अब निर्जीव है इस प्रकार से व्यवहारीजन निर्णय कर लेते हैं।***

१ अदृश्यश्चेतनगुणः। २ चेतनादिगुणस्य। ३ अदृश्यानुपलम्भस्याभावासाधकत्वे सति परशरीरगतचैतन्यस्य निवृत्तावप्यारेका स्यात्। ४ खपुस्तके ते इति पदं नास्ति। ५ व्यापारविशेषश्चलनादिः। व्याहारविशेषो वचनविशेषः। आकारविशेषश्च। ६ समयः सङ्केतः। ७ चैतन्याभावविशिष्टम्। ८ कारणं=चैतन्यम्। ९ नास्ति।

(1) मीमांसकमनूद्य दूषयति। (2) चैतन्यसद्भावशंका। (3) दाहकानां। (4) अदृश्यस्य। (5) अभाव (6) चंदनादिधूमजनन।

+ दिल्ली अष्टशती अ, ब, स, प्रति में मुद्रित अ. श. में, दिल्ली एवं व्यावर अ. स. प्रति में 'व्यापार........ विवेचयति' पंक्ति अष्टशती मानी गई है, मुद्रित अ. स. में नहीं मानी है।

विशेषानुपलब्धेः[1] । [2]सम्यग्वैद्यशास्त्रभूततन्त्रादिसमयवशादत्यन्ता[3]भ्यस्तचैतन्यरोगादि[4]कार्यविशेषाणां लोकानां तद्विवेकोपपत्तिः' इति ।

[जैनाचार्या भस्मलोष्ठादीनचेतनान् साधयंति]

[1]तदेतत्पृथिव्यादौ सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तावपि समानम् । नास्त्यत्र भस्मादिपृथिव्यादौ पृथिवीचेतनादिगुणः, +**व्यापार[5]व्याहाराकारविशेषव्यावृत्तेरिति [6]समयवशात्तत्सिद्धान्तविल्लोको विवेचयति*** । स्यादाकूतं [7]ते [2]'व्यापारादिविशेषस्यानुपलब्धेस्त[3]ज्जननसमर्थचेतनादि[8]गुणव्यावृत्तिसिद्धावपि तज्जननासमर्थचेतनादिव्यावृत्त्यसिद्धेर्न सर्वात्मना

यथा—"इस मृतक शरीर में चैतन्य नहीं है क्योंकि व्यापार व्याहार—वचन आकार विशेष की उपलब्धि नहीं हो रही है।" तथा कार्य विशेष की अनुपलब्धि कारण विशेष के अभाव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखती है। जैसे—चन्दन आदि से उत्पन्न हुए सुगंधित धूम की अनुपलब्धि उसके योग्य समर्थ चन्दन आदि की लकड़ी से होने वाली अग्नि के अभाव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध को सिद्ध करती है। अर्थात् सुगन्धितधूम के अभाव में चंदनादि की अग्नि नहीं है ऐसा ज्ञान हो जाता है।

उसी प्रकार दूसरा अनुमान—

"इस मनुष्य में ज्वरादि रोग नहीं है क्योंकि ऊष्णस्पर्श आदि विशेष की उपलब्धि नहीं हो रही है।" अथवा "इस व्यक्ति में भूत पिशाच, ग्रह आदि नहीं हैं क्योंकि उनके चेष्टा विशेष की उपलब्धि नहीं है।"

मीमांसक—सम्यक् प्रकार से वैद्यकशास्त्र एवं भूत तंत्रादि शास्त्र के अतिशय रूप (विशेष रूप) अभ्यास से चैतन्य विशेष या रोगादि विशेष रूप कार्यों का विद्वान् लोग निर्णय कर लेते हैं।

[जैनाचार्य भस्म लोष्ठ आदि पृथ्वी को निर्जीव सिद्ध करते हैं]

जैन—तो इसी प्रकार से पृथ्वी आदि में भी चैतन्य आदि गुणों की संपूर्ण रूप से व्यावृत्ति मानना समान ही है। तथाहि—

इस भस्मादि या पृथ्वी आदि में पथ्वीकायिक आदि चैतन्य गुण नहीं हैं।

---

१ पूर्वोक्त मतम् । २ मीमांसकस्य । ३ तत्=व्यापारव्याहारादि ।

---

(1) इतिविवेचयति । आशंक्य । (2) इदं चैतन्यकार्यमिदं रोगादिकार्यमिति विवेको नास्तीत्याशंकायामाह । (3) सम्यग्ज्ञान । (4) ता । (5) व्याहारस्त्रसशरीरे गृह्यते । (6) संकेत । (7)भाट्टस्य । (8) सर्वे कर्मफलं मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः । स कार्यं चेतयंतेऽस्तप्राणत्वात् ज्ञानमेव च । सा चेतना कर्मफलसकार्यज्ञानचेतना भेदात् त्रेधा यद्येवं तर्हि कः किं प्राधान्येन चेतयते इत्याह । कर्मफलं—अव्यक्तसुखदुःखं । सकार्यं–क्रियते इति कार्यं बुद्धिपूर्वको व्यापारस्तेन सहितं । चेतयंते–अनुभवंति । अस्तप्राणत्वात्–प्राणत्वं अतिक्रांता जीवा व्यहारेण जीवन्मुक्ताः परमार्थेन परममुक्ताश्च ।

+दिल्ली अष्टशती अ, ब, स प्रति में, मु. अ. श. प्र. में, दिल्ली एवं व्यावर अ. स. प्र. में 'व्यापार व्याहार······ विवेचयति' पंक्ति अष्टशती मानी गई एवं मु. अ. स. प्र. में नहीं मानी है।

तद्व्यावृत्तिसिद्धि:' इति, तदसमञ्जसं, व्यापाराद्यशेषकार्यजननासमर्थस्य शरीरिणां [1]चेतनादेरसम्भवात्, संभवे वा [2]शरीरित्वविरोधात्[१]। ततः [२]कार्यविशेषानुपलब्धेः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेः सिध्यत्येव, मृतशरीरादेः[3] परचैतन्यरोगादिनिवृत्तिवत्। **यदि पुनरयं[३] निर्बन्धः[4]सर्वत्र विप्रकर्षि[४]णामभावा[५]सिद्धे [६]स्तदा कृतकत्वधूमादेर्विनाशानलाभ्यां [७]व्याप्तेरसिद्धेर्न [८]कश्चिद्धेतुः। ततः[९]शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत्,[5],**

क्योंकि व्यापार, वचन, आकार विशेष का अभाव पाया जाता है। इस प्रकार से आगम के आधार से सिद्धांतवेत्ता विद्वान् निर्णय कर लेते हैं*।

मीमांसक—व्यापारादि विशेष की उपलब्धि न होने से व्यापारादि को उत्पन्न करने में समर्थ चेतनादि गुण की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाने पर भी व्यापारादि को उत्पन्न करने में असमर्थ चेतनादि गुण की व्यावृत्ति—अभाव असिद्ध है। अतः सम्पूर्ण रूप से चेतनादि का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि संसारी जीवों में व्यापार आदि अशेष कार्यों को उत्पन्न करने में असमर्थ ऐसे चेतनादि गुण ही असंभव हैं अथवा यदि आप मान लेवें तो उसमें शरीरी (संसारीपने) का ही विरोध आ जावेगा अर्थात् वह मुक्तात्मा ही हो जावेगा। अतएव कार्य विशेष की उपलब्धि न होने से पृथ्वी आदि में संपूर्ण रूप से चेतनादि गुणों का अभाव सिद्ध ही है। जैसे कि मृतक शरीर एवं रोगी आदि में चैतन्य या रोग आदि का अभाव पाया जाता है।

पुनः यदि आप ऐसा कहें कि अदृश्य की अनुपलब्धि रूप हेतु से संपूर्ण रूप से पृथ्वी आदि में चेतन आदि गुण की व्यावृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है तो फिर सभी जगह विप्रकर्षी—काल से दूरवर्ती और वेद के कर्त्ता आदि परोक्ष पदार्थों के अभाव को भी आप सिद्ध नहीं कर सकेंगे। प्रत्युत आप (मीमांसक) के यहां इनका सद्भाव ही सिद्ध हो जावेगा। तथा कृतकत्व हेतु की विनाश—अनित्य के साथ और धूम आदि की अग्नि के साथ व्याप्ति भी नहीं हो सकेगी। अर्थात् "जो नश्वर नहीं है वह कृतक भी नहीं है" और "जहां अग्नि नहीं है वहां धूम भी नहीं" इस प्रकार व्यतिरेक रूप से व्याप्ति नहीं बन सकेगी। पुनः कोई भी हेतु साध्य को सिद्ध करने में समर्थ सच्चा हेतु नहीं हो सकेगा। अर्थात्

---

१ मुक्तात्मवत्। २ कार्य=व्यापारादि। ३ अदृश्यानुपलम्भात्सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिर्न सिध्यत्येवेति। ४रामरावणवेदकर्त्रादीनाम्। ५ किन्तु भावसिद्धेरेव मीमांसकस्य स्यात्। ६ जैनः। ७ यद्विनाशि न भवति तत्कृतकं न भवति, यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्तीति च व्यतिरेकव्याप्तेरसिद्धेः। ८ बौद्धमतेऽदृश्यानुपलम्भादभावसिद्धिर्नास्ति ततः परस्परमसंस्पृष्टानां परमाणूनां विकल्पबुद्धावप्रतिभासनात्तेषामभावासिद्धिः। ९ (जैमिनीयानाम्) मीमांसकानाम्।

---

(1) ज्ञान। सुखदुःखादि। (2) मुक्तत्वप्रसंगः। (3) आरोग्यशरीर। (4) आग्रहः। बौद्धमतमाश्रित्य मीमांसकस्तं निराकरोति। (5) बौद्धमतेऽदृश्यानुपलंभादभावस्य सिद्धिर्नास्ति परस्परमसंपृष्टानां विशरारूणां परमाणूनां विकल्पबुद्धौ अप्रतिभासनात्तेषामभावासिद्धेः। अन्यथा। शौद्धोदनिशिष्यकत्वं।

'अनुमानोच्छेदप्रसंगात्* । न हि जैमिनीयमतानुसारिणो विप्रकर्षिणामर्थानामभावा[2]सिद्धिमनुमन्यन्ते[1], वेदे कर्त्रऽभावसिद्धिप्रसङ्गात्[3] सर्वज्ञाद्यभावसाधनविरोधाच्च। ते तामनुमन्यमाना वा शौद्धोदनिशिष्यका एव । न [4]चैषामेतदात्मनीनं[5], अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वात्, साध्यसाधनयोर्व्याप्त्यसिद्धेः[6] । परोपगमाद्व्याप्तिसिद्धेर्नानुमानोच्छेद इति चेन्न, [2]तस्यापि परोपगमान्तरात्सिद्धावनवस्थाप्रसङ्गात् तस्यानुमानात्सिद्धौ परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । प्रसिद्धेनुमाने ततः परोपगमस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च ततो व्याप्तिसिद्धेरनुमानप्रसिद्धिरिति । ततो न श्रेयानयं निर्बन्धः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेर्न सिद्ध्यत्येवेति । तत्प्रसिद्धौ च न

यदि बौद्ध मत में "अदृश्यानुपलंभ" हेतु से अभाव सिद्धि नहीं है तो फिर परस्पर में असंबद्ध परमाणुओं का विकल्प बुद्धि में प्रतिभास न होने से उन परमाणुओं के अभाव को भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे। और फिर मीमांसकों के लिए यह सब उनका सिद्धांत स्वयं उनके लिए अहितकर ही हो जावेगा। इसप्रकार अनुमान के भी उच्छेद का प्रसंग आ जावेगा।*

जैमिनीय मतानुसारी जन परोक्षवर्ती पदार्थ के अभाव की असिद्धि को नहीं मानते हैं। अर्थात दूरवर्ती परोक्ष पदार्थ का अभाव स्वीकार करते हैं।

तथा च वेद के कर्त्ता के अभाव की असिद्धि का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् वेद का कर्त्ता मान लेने से आप वेद को अपौरुषेय सिद्ध नहीं कर सकेंगे एवं सर्वज्ञादि के अभाव को सिद्ध करने वाले हेतु में भी विरोध आ जावेगा।

इस प्रकार मानने वाले जैमिनीय लोग भी बुद्ध के ही शिष्य सिद्ध हो जाते हैं परन्तु आपको यह अभीष्ट नहीं है। अर्थात् अदृश्यानुपलंभ हेतु से अभाव को नहीं मानने वाले मीमांसक, जैमिनीय आदि के यहां यह सभी उपर्युक्त दोष आ जावेंगे। अतः उन लोगों का यह कथन स्वयं ही उनके लिए अहितकर है। और आप लोगों के लिए अनुमान का अभाव भी दुर्निवार है क्योंकि साध्य और साधन में व्याप्ति के सिद्ध न होने से अनुमान कैसे बन सकेगा ?

मीमांसक—दूसरों ने व्याप्ति को स्वीकार किया है अतः उनकी स्वीकारता से ही हम व्याप्ति की सिद्धि कर लेंगे तो अनुमान का अभाव नहीं होगा।

जैन—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि दूसरों को भी दूसरे के द्वारा स्वीकृत प्रमाण से व्याप्ति की सिद्धि मानने से एवं उस अन्य को भी अन्य के द्वारा स्वीकृत प्रमाण से व्याप्ति को मानने से तो अनवस्था दोष आ जावेगा। यदि आप कहें कि व्याप्ति की सिद्धि अनुमान से करेंगे तो परस्पराश्रय दोष का प्रसंग आवेगा।

---

१ अन्यथा। २ भावसिद्धिमित्यर्थः। ३ ततो वेदस्य सकर्तृकत्वं स्यात्। ४ प्रतिपादनम्। ५ स्वकीयम्। ६ अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वम्।

---

(1) अन्यथा। (2) विप्रकृष्टत्वे।

बुद्धिहान्या [1]हेतोर्व्यभिचारः, तस्याः सपक्षत्वात् । तथा हि । **यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित्सर्वात्मना व्यावृत्तिः, यथा बुद्ध्यादिगुणस्याश्मनः[१] । तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती [३]कुतश्चिन्निवर्त्तयितुमर्हति [३]सकलं [2]कलंकमिति कथमकलंक[४]सिद्धिर्न भवेत् ?***

यथा—अनुमान के सिद्ध होने पर उस अनुमान से परोपगमप्रमाण की सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर उससे व्याप्ति की सिद्धि होगी पुनः व्याप्ति की सिद्धि होने से अनुमान की सिद्धि होगी।

इसलिए यह आपका कथन श्रेयस्कर नहीं है कि सम्पूर्ण रूप से पृथ्वी आदि में चेतना आदि गुणों की व्यावृत्ति सिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध ही है एवं पृथ्वी आदि में चेतना आदि की संपूर्णतया व्यावृत्ति के सिद्ध हो जाने पर बुद्धि की हानि से हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है क्योंकि बुद्धि को भी यहां हमने सपक्ष में ले लिया है। तथाहि—

जिसकी हानि अतिशय रूप से है उसका कहीं न कहीं परिपूर्ण रूप से अभाव पाया ही जाता है। जैसे कि पाषाण में से बुद्धि आदि का सर्वथा अभाव पाया जाता है और उसी प्रकार अतिशयवान् दोष आदि की हानि भी किसी आत्मा से संपूर्ण द्रव्य कर्म भाव कर्म को पृथक् करती ही है। इस प्रकार से कर्मकलंक रहित भगवान् की अथवा अकलंक देव के वचनों की सिद्धि कैसे नहीं होगी ? अर्थात् कर्मकलंक रहित सर्वज्ञ देव की भी सिद्धि होती है और अकलंक देव के वचन की भी सिद्धि होती ही है।*

भावार्थ—शंकाकार का यह कहना है कि आप जैनों ने किसी न किसी जीव विशेष में दोष और आवरण का परिपूर्णतया अभाव सिद्ध करने के लिए "अतिशायन" हेतु दिया है यह व्यभिचारी है क्योंकि जीवों में बुद्धि की भी तरतमता देखी जाती है अतः किसी न किसी जीव विशेष में बुद्धि का भी सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा।

इस पर जैनाचार्यों ने सुंदर ढंग से समाधान कर दिया है वे कहते हैं कि मिट्टी के ढेले, पत्थर आदि में चैतन्य गुणों का अभाव हो जाने पर अर्थात् जीवात्मा के निकल जाने पर उन मिट्टी आदि में से बुद्धि का भी सर्वथा अभाव हो जाता है क्योंकि बुद्धि-ज्ञान यह आत्मा का ही गुण है। इस पर पुनः शंकाकार कहता है कि चैतन्य आत्मा तो अमूर्तिक होने से अदृश्य है पुनः इसी मिट्टी के ढेले में से यह आत्मा निकल गई है, यह मिट्टी सर्वथा निर्जीव हो गई है इसका निर्णय कैसे होगा ? क्योंकि जो चीज दिखती नहीं है उसके सद्भाव या अभाव का निर्णय करना अशक्य है। आचार्य कहते हैं यह बात सर्वथा एकान्त रूप से घटित नहीं हो सकती है कि अदृश्य का अभाव न माना जा सके। देखिये ! मृतक मनुष्य के शरीर की अदृश्य भी चेतना निकल गई है इस बात का निर्णय कुशल वैद्य सहज ही कर देता है तभी

१ पाषाणात् । २ आत्मनः । ३ द्रव्यभावरूपम् । ४ अकलङ्कस्य—परमसर्वज्ञस्याकलङ्कदेववचसो वा ।

(1) प्रतिशायनादित्यस्य । (2) सौगतादिमतं वा ।

तो व्यवहारी जन उस मृतक कलेवर को जला देते हैं एवं वैद्य लोग ज्वर आदि रोगों का अभाव भी सिद्ध करते हैं तभी तो अब यह स्वस्थ हो गया है ऐसा निर्णय होता है।

यदि कोई कहे कि दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रि तिर्यंच मनुष्य आदि के शरीर से आत्मा निकल गई है इस वात का निर्णय करना तो सहज है किन्तु एकेन्द्रिय पृथ्वी जल आदि में से आत्मा निकल गई है इसका निर्णय करना असम्भव है क्योंकि पृथ्वी आदि में चेतना आदि के रहते हुये भी हलन, चलन आदि चेष्टायें, श्वासोच्छ्वास, वचन-प्रयोग आदि वाह्य व्यापार असम्भव हैं अतः इनमें से चेतना निकल चुकी है यह कहना अशक्य है। इस पर भी आचार्य कहते हैं कि एकेन्द्रिय स्थावर में भी चैतन्य के विद्यमान रहने से पृथ्वीकायिक आदि में वृद्धि व वनस्पतिकायिक के हरे-भरे रहने से जीवितपने का अनुमान किया जाता है एवं शुष्क आदि हो जाने पर निर्जीव का अनुमान स्पष्ट है तथा च आगम के द्वारा भी हम इन स्थावरकायिक जीवों के शरीर को अचेतन समझ सकते हैं।

राजवार्तिक आदि ग्रंथों में पांचों ही स्थावर जीवों के ४-४ भेद माने हैं। यथा पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक एवं पृथ्वी जीव। सामान्य पृथ्वी को 'पृथ्वी' कहते हैं। पृथ्वीकायिक जीव के निकल जाने पर जो पृथ्वी कलेवर रूप से रह जाती है उसे 'पृथ्वीकाय' कहते हैं। पृथ्वीकायिक नाम कर्म के उदय को लेकर जिसमें एकेन्द्रिय जीव विद्यमान है ऐसी खान आदि की पृथ्वी को 'पृथ्वीकायिक' कहते हैं एवं विग्रहगति अवस्था में विद्यमान जीव को 'पृथ्वीजीव' कहते हैं। इन चारों में से पृथ्वी एवं पृथ्वीकाय ये दो भेद तो निर्जीव हैं एवं पृथ्वीकायिक तथा पृथ्वीजीव ये दो भेद सजीव हैं। इन दोनों में भी विग्रह गति के जीव की विराधना का तो प्रसंग ही नहीं आता है केवल पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा का प्रसंग आता है। हां ! विग्रह गति के जीवों की भाव हिंसा का प्रसंग आ सकता है। ऐसे ही जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन चारों के भी चार-चार भेद समझने चाहिये।

आचार्य ने इस वात को अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार से मृतक शरीर से चैतन्य निकल गया है एवं स्वस्थ शरीर से रोग का अभाव हो गया है वैसे ही मिट्टी के ढेले आदि से संपूर्ण रूप से चैतन्य निकल चुका है वे सर्वथा निर्जीव हैं। जैसे कृतकत्व हेतु पदार्थ को विनाशीक सिद्ध करता है धूम हेतु अप्रत्यक्ष—नहीं दिखती हुई अग्नि को सिद्ध करता है अतः इन कृतकत्व, धूमत्व हेतुओं की विनश्वर और अग्नि के साथ व्याप्ति सिद्ध है। यद्यपि यह व्याप्ति अदृश्य है फिर भी प्रमाणीक है अन्यथा अनुमान ज्ञान का अवतार ही नहीं हो सकेगा। वैसे ही पृथ्वी आदि से चैतन्य आदि गुणों का अभाव भी सिद्ध है अतः पत्थर आदि में भी बुद्धि का भी सर्वथा अभाव हो जाने से हमारा "अतिशायन" हेतु व्यभिचारी नहीं है।

राग, द्वेष आदि रूप जो भावकर्म हैं वे तो दोष हैं और ज्ञानावरण आदि जो द्रव्यकर्म हैं वे आवरण कहलाते हैं इन दोष और आवरणों का भी किसी न किसी जीव में सर्वथा अभाव हो सकता है

[कर्मद्रव्यस्य प्रध्वंसाभावरूपाभावे मन्यमाने सति दोषारोपणं, स्याद्वादिभिस्तद्दोषनिराकरणं]

[1]ननु च यदि [2]प्रध्वंसाभावो हानिस्तदा सा पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादेः कर्मद्रव्यस्य न संभवत्येव नित्यत्वात्[3]तत्पर्यायस्य तु [5]हानावपि(2) कुतश्चित्[4] पुनः [5]प्रादुर्भावान्न निश्शेषा हानिः स्यात्। निश्शेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापि हानिप्रसङ्गः, तस्य तदविनाभावात्। तथा च निरन्वयविनाशसिद्धेरात्मादि(3)द्रव्याभावप्रसङ्ग इति (4)कश्चित् सोप्यनवबुद्धसिद्धान्त एव। यस्मात्, **[6]मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिः [7]क्षयः, सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तेः। तादृगात्मनोपि (5)कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः*।** प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता। सा च व्यावृत्तिरेव मणेः

क्योंकि सभी संसारी जीवों में इन दोनों की तरतमता देखी जाती है अतः कर्म कलंक रहित—अकलंक—निर्दोष परमात्मा की सिद्धि हो जाती है और अकलंकदेव के निर्दोष वचनों की भी सिद्धि हो जाती है।

[कर्मद्रव्य का प्रध्वंसाभावरूप अभाव मानने पर दोषारोपण एवं स्याद्वादी द्वारा उन दोषों का निराकरण]

तटस्थ जैन—यदि प्रध्वंसाभाव रूप अभाव (हानि) आपको इष्ट है तो फिर वह हानि पुद्गल रूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म में संभव नहीं है क्योंकि द्रव्यरूप से पुद्गल द्रव्यकर्म नित्य हैं।

यदि पुद्गल द्रव्य के पर्याय की हानि मानों तो भी किसी कारण से पुनः उस पर्याय की उत्पत्ति होने से निःशेष—संपूर्ण हानि नहीं हो सकेगी अथवा निःशेप कर्म पर्याय की हानि होने पर कर्मद्रव्य की भी हानि का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि कर्मरूप पर्याय का कर्मद्रव्य (पुद्गल) के साथ अविनाभाव पाया जाता है। उसी प्रकार से निरन्वय विनाश होने से आत्मादि द्रव्य के अभाव का भी प्रसंग हो जावेगा।

आचार्य—आपने भी सिद्धांत को ठीक से समझा नहीं है क्योंकि **मणि से मलादि का पृथक्करण होना ही क्षय माना गया है। अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का अलग हो जाना ही क्षय है इस बात को सैद्धांतिक लोगों ने स्वीकार किया है क्योंकि सत् (विद्यमान) पदार्थ का अत्यंत विनाश नहीं हो सकता है। उसी प्रकार सत् स्वरूप आत्मा से भी कर्मों का पृथक्करण हो जाने पर आत्मा में परिपूर्ण शुद्धि हो जाती है।***

यहां पर प्रध्वंसाभाव रूप क्षय को ही हानि शब्द से स्वीकार किया है और मणि से मलादि की अथवा कनक पाषाण से किट्ट कालिमा आदि की व्यावृत्ति ही पाई जाती है न कि अत्यंत विनाश। क्योंकि अत्यंत रूप से विनाश माना जाए तो प्रश्न यह उठता है कि अत्यंत विनाश द्रव्य का होता है या पर्याय का ? द्रव्य का तो हो नहीं सकता क्योंकि द्रव्य नित्य है और न पर्याय का ही हो सकता है क्योंकि

---

१ तटस्थो जैनः। २ भूत्वाभवनलक्षणः। ३ द्रव्यत्वेन। ४ कारणात्। ५ तत्पर्यायस्य। ६ सकाशात्। ७ एकस्माद्वितीयस्य व्यावृत्तिरेव क्षय इष्यते सैद्धान्तिकानाम्।

---

(1) द्रव्यत्वेन सद्भावात् निःशेषहानिर्मास्तु। (2) मिथ्यादर्शनादिकारणात्। (3) तस्यापि कर्मपर्यायहानौ सत्यां तस्यापि हानिः स्यात्। (4) यौगो बुद्धो वा। (5) कर्मणां इति पा.।

कनकपाषाणाद्वा मलस्य [1]किट्टादेर्वा । न पुनरत्यन्तविनाशः । स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा ? न तावद्द्रव्यस्य, नित्यत्वात् । नापि पर्यायस्य द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात् । तथा हि । विवादापन्नं मण्यादौ मलादि [(1)]पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवं, [2]सत्त्वान्यथानुपपत्तेः[(2)] ।

[शब्दविद्युद्दीपादयोऽपि कथंचिन्नित्याः संति]

[(3)]शब्देन व्यभिचार[3] इति चेन्न, तस्य द्रव्यतया ध्रौव्याभ्युपगमात् । विद्युत्प्रदीपादिभिरनेकान्त[4] इत्ययुक्तं, तेषामपि द्रव्यत्वतो[5] ध्रुवत्वात्, क्षणिकैकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधस्याभिधानात् । ततो याशी मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिर्हानिः परिशुद्धिस्तादृशी जीवस्य कर्मणां

पर्याय भी द्रव्य रूप से ध्रौव्य है अर्थात् पर्याय से भिन्न द्रव्य या द्रव्य से भिन्न पर्याय नहीं है । तथाहि 'मणि आदि में विवादापन्न मलादि पर्याय रूप से अनित्य होते हुये भी द्रव्य रूप से ध्रुव हैं क्योंकि अस्तित्व की अन्यथानुपपत्ति है ।" अस्तित्व की अन्यथानुपपत्ति है इसका अभिप्राय यह है कि ध्रौव्य के विना सत् रह नहीं सकता ।

[शब्द, विद्युत, दीपक आदि भी कथंचित् नित्य हैं ।]

शंका—शब्द के साथ व्यभिचार आता है यथा—"शब्द नश्वर है क्योंकि सत्रूप है ।" यहां यह सत्त्वान्यथानुपपत्ति रूप हेतु शब्द को नश्वर ही सिद्ध करता है न कि ध्रौव्य ।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है । शब्द भी द्रव्य रूप से ध्रौव्य हैं ऐसा हमने स्वीकार किया है ।

शंका—विद्युत् दीपक आदि से भी व्यभिचार आता है अर्थात् विजली दीपक आदि का अस्तित्व होते हुये भी द्रव्य रूप से ध्रौव्यपने का अभाव है । इसलिए आपका अस्तित्व हेतु व्यभिचारी है क्योंकि विजली, दीपक आदि सर्वथा नष्ट होते हुए देखे जाते हैं ।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है । विजली दीपक आदि भी पुद्गल द्रव्य होने से द्रव्यरूप से ध्रौव्य ही हैं क्योंकि क्षणिक एकांत में सर्वथा ही अर्थक्रिया का विरोध है ऐसा कहा गया है । इसलिये जैसे मणि से मलादि की व्यावृत्ति रूप हानि ही परिपूर्ण शुद्धि कहलाती है वैसे ही जीव के कर्मों की निवृत्ति रूप हानि भी परिपूर्ण शुद्धि कहलाती है ।

---

१ यथा व्यावृत्तिरिति शेषः । २ ध्रौव्यमन्तरेण । ३ शब्दो नश्वरः सत्त्वादित्यपि वक्तुं शक्यत्वात् । कि तात्पर्यम् ? सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूपो हेतुः शब्दस्य नश्वरत्वमेव साधयति, न तु ध्रौव्यमित्यर्थः । ४ विद्युदादीनां सत्त्वेपि द्रव्यार्थतया ध्रौव्याभावादनेकान्त इत्यर्थः । ५ पुद्गलद्रव्यत्वतः ।

---

(1) पर्यायः अर्थो यस्य सः पर्यायार्थस्तस्य भावस्तत्ता । (2) नश्वरानश्वरात्मकत्वाभावे । (3) शब्दबुद्धिकर्मणां त्रिलक्षणावस्थायित्वं ।

निवृत्तिर्हानिः। तस्यां च सत्यामात्यन्तिकी शुद्धिः सम्भाव्यते, सकलकर्मपर्यायविनाशेपि [1]कर्मद्रव्यस्याविनाशात्त[1]स्याकर्म[1]पर्यायाक्रान्ततया परिणमनाद्, मलद्रव्यस्य मलात्मकपर्यायतया निवृत्तावप्यमलात्मक[3]पर्यायाविष्टतया[2] परिणमनवत्। तदेतेन[3] [4]तुच्छः प्रध्वंसाभावः [5]सर्वत्र प्रत्याख्यातः, कार्योत्पादस्यैव पूर्वाकारक्षयरूपत्वप्रतीतेः। समर्थयिष्यते चैतत् "कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात्" [4]इत्यत्र। + **तेन मणेःकैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम्।**

सकल कर्म पर्याय का विनाश होने पर भी कर्मद्रव्य का विनाश नहीं होता है वह कर्मद्रव्य अकर्मपर्याय रूप परिणमन कर जाता है। अर्थात् पुद्गल द्रव्य वर्गणायें ही आत्मा के रागादिभाव का आश्रय लेकर कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं और आत्मा को परतंत्र बना देती हैं। कदाचित् उस आत्मा से अलग होकर कर्मत्व अवस्था को छोड़कर पुनः पुद्गल रूप ही हो जाती हैं इस प्रकार सिद्धांत वचन है। जैसे कि मणि से मलद्रव्य का मलात्मक पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अमलात्मक (अन्यपुद्गल) पर्याय रूप से परिणमन हो जाता है।

इसी कथन से जो तुच्छाभाव रूप प्रध्वंसाभाव को स्वीकार करते हैं उनका भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि कार्य का उत्पाद ही पूर्वाकार के क्षय रूप से प्रतीति में आता है।

इसी का आगे "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" इत्यादि कारिका में समर्थन करेंगे।

भावार्थ—शंकाकार का कहना है कि यदि आप जैन ज्ञानावरण आदि कर्मद्रव्य का प्रध्वंस होना रूप अभाव स्वीकार करोगे तब तो सिद्धांत से विरोध आ जावेगा क्योंकि पौद्गलिक कर्म द्रव्य रूप कार्माण वर्गणाओं का सर्वथा अभाव हो नहीं सकता है। जैन सिद्धांत में सभी द्रव्यों को नित्य माना गया है अतः कर्मद्रव्य का नाश असंभव है। यदि कर्मपर्याय का नाश मानों तो भी एक पर्याय का नाश दूसरी पर्याय के उत्पाद रूप से होता है अतः एक कर्म पर्याय नष्ट होकर दूसरे कर्मरूप परिणत हो जावेगी। पुनः किसी जीव में सम्पूर्णतया कर्मों का अभाव सिद्ध करना अशक्य ही है। अथवा कर्म पर्याय का सम्पूर्णतया नाश मान भी लोगे तो भी कर्मद्रव्य का अभाव दुर्निवार हो जावेगा क्योंकि कोई भी पर्याय अपने द्रव्य को छोड़कर रह नहीं सकती है अतः सर्वथा पर्याय के अभाव में द्रव्य का अभाव भी मानना पड़ेगा और द्रव्य का अभाव मान लेने पर तो आप निरन्वय विनाशवादी बौद्ध ही बन जावेंगे।

१कर्मद्रव्यस्य। २ पुद्गलद्रव्यस्यात्मनि पारतन्त्र्यकरणे कर्मत्व- परिणामस्तदकरणेऽकर्मत्वपरिणाम इति सिद्धान्तः।३ यथा घटपटादिः। ४ कारिकायाम्।

---

(1) पुद्गलद्रव्यमात्मनि पारतंत्र्यं करोति तदा कर्मत्वपरिणामः पारतंत्र्यं न करोति तदाऽकर्मत्वपरिणामः पुद्गलद्रव्यमेव। (2) आक्रांतत्वेन। (3) मणेर्मलादिरित्यादिमूलग्रंथेन। (4) सर्वथा निरवशेषः। (5) घटादौ।

+ व्यावर अष्टसहस्री प्रति में "तेन.........वैकल्यम्" पंक्ति अष्टशती है अन्यत्र अ. ब. स. मु. अष्टशती एवं दिल्ली अष्ट स. प्र. में मु. अष्ट स. में नहीं है।

[बुद्धेर्विनाशः सर्वथा भवति न वा ?]

कर्मणोपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो [1]**नातिप्रसज्यते*** । द्रव्यार्थतया बुद्धेरात्मन्यव्यविनाशात्सर्वात्मना परिक्षयाप्रसङ्गात् पर्यायार्थतया परिक्षयेपि सिद्धान्ताविरोधात् । [2]ननु च यथा कर्मद्रव्यस्य कर्मस्वभावपर्यायनिवृत्तावप्यकर्मात्मकपर्यायरूपतयावस्थानं तथात्मनो बुद्धिपर्यायतया निवृत्तावप्यबुद्धिरूपपर्यायतयावस्थानात् सिद्धान्तविरोध(1) एवेत्यतिप्रसज्यते इति [3]चेन्न, वैषम्यात्[4] । कर्मद्रव्यं हि पुद्गलद्रव्यम् । तस्यात्मनि पारतन्त्र्यं कुर्वतः

इस पर जैनाचार्यों ने कहा कि जो पौद्गलिक कार्मण वर्गणायें हैं वे जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर कर्मरूप पर्याय से परिणत हो जाती हैं उन कर्मवर्गणाओं का जीव से पृथक् होना ही अभाव है जीव से पृथक् होकर ये कर्मवर्गणायें कर्मपर्याय को छोड़कर अकर्म - पुद्गल रूप परिणत हो जाती हैं अतः एक पर्याय का विनाश होने पर भी अकर्म रूप दूसरी पर्याय का उत्पाद हो जाने से पुद्गल द्रव्य के अभाव का प्रसंग नहीं आता है। जैसे पुद्गल की पर्याय रूप प्रकाश का विनाश होकर अंधकार रूप पुद्गल की पर्याय प्रकट हो जाती है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है कि "दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति" इसलिये द्रव्य कर्म रूप पुद्गल द्रव्य का सर्वथा विनाश न होकर कर्म पर्याय का ही विनाश होना सिद्ध हो गया।

[बुद्धि का सर्वथा विनाश होता है या नहीं ?]

मणि का केवल अपने स्वरूप से रहना ही मलादिक से विकल होना है उसी प्रकार आत्मा से कर्मों की विकलता ही उसकी कैवल्य-स्वस्वरूप की प्राप्ति है इसलिए अतिप्रसंग दोष नहीं आता है। * अर्थात् जैसे कर्म से विकल होने पर भी आत्मा की कैवल्य अवस्था है उसी प्रकार बुद्धि की विकलता होने पर भी आत्मा की कैवल्य अवस्था बनी रहे यह अतिप्रसंग दोष नहीं होता है।

द्रव्य रूप से आत्मा में बुद्धि का विनाश नहीं होता है अतः संपूर्ण रूप से नाश का प्रसंग नहीं आता है परन्तु पर्याय रूप से नाश होने पर भी सिद्धांत से विरोध नहीं आता है। अर्थात् द्रव्य रूप से ज्ञान सामान्य आत्मा का गुण है और वह द्रव्य में अन्वय रूप से सतत मौजूद रहता है अतः द्रव्य रूप से ज्ञान का नाश मानने पर आत्मा का ही अभाव हो जावेगा परन्तु ऐसा नहीं होता और पर्याय रूप से अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय रूप क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा से विनाश मानने पर भी सिद्धांत में विरोध नहीं आता है क्योंकि अर्हत अवस्था में क्षयोपशमिक ज्ञानों का अभाव स्वीकार किया है।

---

१ निःशेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापीत्यादिनोक्तप्रकारेण । यथा कर्मवैकल्येप्यात्मकैवल्यं तथा बुद्धिवैकल्येप्यात्मकैवल्यमस्त्विति वाऽतिप्रसङ्गो नेति भावः । २ सौगतः । ३ जैनः । ४ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः ।

---

(1) ज्ञानादिसहितत्वेनात्मनोऽवस्थानं जैनमते ।

कर्मत्वपरिणामस्तद[1]कुर्वतोऽकर्मत्वपरिणामेनावस्थानं, [१]रूपादिमत्त्वसामान्यलक्षणत्वात्[2]पुद्गलद्रव्यस्य[3] [4]कर्मत्वलक्षणत्वाभावादविरुद्धमभिधीयते[5] । [6]बुद्धिद्रव्यं तु जीवः । [7]तस्य बुद्धिः पर्यायः । तत् सामान्यं लक्षणम्, "उपयोगो[8] लक्षणम्" इति वचनात् । न च लक्षणाभावे लक्ष्यमवतिष्ठते[9], [२]तस्य [३]तदलक्षणत्वप्रसक्तेर्येनाबुद्धिपर्यायात्मकतयावस्थानं जीवस्य निःशेषतो बुद्धिपरिक्षयेप्यविरुद्धं स्यात्[४] ।

[अज्ञानादिदोषाणामभावो कथं भविष्यति ?]

[५]नन्वेवमज्ञानादेर्दोषस्य पर्यायार्थतया हानिर्निश्शेषा सिध्येदावरणवन्न[10] पुनर्द्रव्यार्थतया

बौद्ध—जैसे कर्मद्रव्य का कर्म पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अकर्मात्मक पर्याय रूप से अवस्थान पाया जाता है। उसी प्रकार आत्मा के भी बुद्धिपर्याय का विनाश हो जाने पर अबुद्धि रूप पर्याय से उसका अवस्थान होने से सिद्धान्त में विरोध आ ही जावेगा।

जैन—दृष्टांत और दार्ष्टांत में विषमता होने से आपका यह कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि कर्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य है और वह आत्मा को परतंत्र करते हुए कर्म रूप से परिणमन करता है तथा आत्मा को परतंत्र न करते हुए अकर्मत्व रूप से परिणमित होकर अवस्थित रहता है। किसी भी द्रव्य का अत्यन्त विनाश नहीं होता है क्योंकि पुद्गल द्रव्य वर्ण, रस, गन्ध स्पर्श रूप सामान्य लक्षण वाला है। कर्म रूप लक्षण का उसमें अभाव होने से विरोध नहीं आता है पर द्रव्य-जीवद्रव्य के निमित्त से ही वह पुद्गल विभाव रूप परिणमन करके कर्म बनता है पुनः कर्मपर्याय का अभाव होने पर अपने स्वभाव में आ जाता है किंतु बुद्धि द्रव्य तो जीव है। बुद्धि उस जीव की पर्याय है और वह जीव का सामान्य लक्षण है।

"उपयोगो लक्षणम्" यह सूत्रकार का वचन है और लक्षण के अभाव में लक्ष्य भी नहीं रह सकता है। अन्यथा लक्ष्यभूत जीव उपयोग लक्षण से रहित लक्षण शून्य हो जावेगा अतः जीव में निःशेष रूप से बुद्धि का परिक्षय हो जाने पर भी अबुद्धि का पर्यायात्मक रूप से अवस्थान होवे और इसमें विरोध न आवे ऐसा नहीं हो सकता है। अर्थात् यह बात विरुद्ध ही है।

[अज्ञानादि दोषों की हानि कैसे होगी ?]

मीमांसक—इस प्रकार से सत् पदार्थ का अत्यन्त रूप से विनाश न होने से "अज्ञानादि दोष की

१आदिपदेन रसगन्धवर्णाः। २ लक्षणस्य। ३ तत्=लक्ष्यम्। ४ अपि तु न स्यात। ५ सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तिप्रकारेण।

---

(1) आत्मनि परतंत्रत्वं इति दिल्लीप्रतौ। (2) स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः। (3) पुद्गलद्रव्यं हि द्वेधा अणुस्कंधभेदात् तत्र प्रदेशमात्रस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यंते शब्दायंते इति अणव इति निरूपणात् अणवः स्पर्शादिमंतः स्कंधास्तु शब्दादिमंतः स्पर्शादिमंतश्चेति अत्र पुद्गलद्रव्यमिति अणव एव गृह्यंते। (4) अत्ता कुणदि सहावं तत्थगदा पुग्गला सहावेहिं। गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णवगाढमवगाढं॥ (5) सिद्धांते इति दि. प्र. (6) ता। (7) जीवस्य इति दि. प्र.। (8) ज्ञानदर्शने। (9) अन्यथा। (10) ज्ञान।

बुद्धिवत् । ततो दोषसामान्यस्यात्मन्यवस्थानान्न निर्दोषत्वसिद्धिरित्यपरः[१], सोप्यतत्त्वज्ञ एव, यतः **प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुको [२]मलः [३]परिक्षयी [1]स्वनिर्ह्रासनिमित्त-[४] [५]विवर्द्धनवशात्*** ।

[आत्मनः परिणामो कतिविध : ?]

द्विविधो ह्यात्मनः परिणामः स्वाभाविक आगन्तुकश्च । तत्र स्वाभाविकोनन्तज्ञाना-दिरात्मस्वरूपत्वात् । [२]मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः, [६]कर्मोदयनिमित्तकत्वात् । स चात्मनः प्रतिपक्ष एव । ततः परिक्षयी । तथा हि । यो[७] यत्रागन्तुकः स तत्र स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्ध-नवशात्परिक्षयी । यथा [3]जात्यहेम्नि ताम्रादिमिश्रणकृतः [८]कालिकादिः । आगन्तुकश्चात्म-

---

पर्याय रूप से ही निःशेष हानि होगी जैसे कि आवरण की होती है, न पुनः द्रव्य रूप से बुद्धि के समान ।" इससे आत्मा में दोष सामान्य का अवस्थान रहने से निर्दोषपने की सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

जैन—आपने तत्त्व को नहीं समझा है । **आत्मा के आगन्तुकमल अज्ञानादि दोष प्रतिपक्षी ही हैं और वे परिक्षयी हैं क्योंकि उनके विनाश के निमित्त भूत सम्यग्दर्शनादि की वृद्धि पायी जाती है ।***

[आत्मा के परिणाम कितने प्रकार के हैं ?]

आत्मा के परिणाम दो प्रकार के है-स्वाभाविक और आगंतुक । उसमें अनंतज्ञानादि गुण स्वाभाविक परिणाम हैं क्योंकि वे आत्मा के स्वरूप हैं । अज्ञानादि मल आगन्तुक परिणाम हैं क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय के निमित से होते हैं । वे आगंतुक परिणाम आत्मा के प्रतिपक्षी ही हैं इसीलिए परि-क्षयी—क्षय होने वाले हैं । तथाहि—

"जो जहां पर आगंतुक है वह वहाँ पर अपने विनाश के निमित की वृद्धि के कारण मिल जाने पर क्षय होने वाला है जैसे उत्कृष्ट स्वर्ण में तांबे आदि के मिश्रण से होने वाली कालिमा आदि । आत्मा में अज्ञानादि मल आंगतुक हैं इसीलिए वे परिक्षयी हैं" यह स्वभाव हेतु है । हमारा यह 'स्वनिर्ह्रासनिमित्त-विवर्धनवशात्' हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि "जो जहां पर कादाचित्क है वह वहाँ पर आगंतुक है जिस प्रकार स्फटिकमणि में लाल आदि आकार ।" तथा आत्मा में दोष कादाचित्क हैं । और हमारा यह कादा-चित्क हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञानादि गुणों के प्रकट होने पर आत्मा में दोषों का उद्भव नहीं देखा जाता है ।

---

१ मीमांसकः । २ अज्ञानादिर्दोषः । ३ पृथक्करणमेव क्षयः । ४ निर्ह्रासो विनाशः । ५ मलनिर्ह्रासस्य निमित्तं सम्यग्द-र्शनादिगुणस्तस्य विवर्द्धनवशाद्धेतोः । ६ कर्म ज्ञानावरणादि । ७ अज्ञानादिर्मल आत्मनि स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्ध-नवशात्परिक्षयी, आगन्तुकत्वादित्यध्याहार्यम् । ८ स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी प्रसिद्धः ।

---

(1) ता । (2) आत्मनि अज्ञानादिर्मलः पक्षः । आगंतुको भवतीति साध्यो धर्मः । कर्मोदयनिमित्तकत्वान्यथानुपपत्तेः दि. प्र. । (3) षोडशवर्ण ।

न्यज्ञानादिर्मलः । इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः ।कथम् ? यो[1] यत्र कादाचित्कः स तत्रागन्तुकः । यथा स्फटिकाश्मनि लोहिताद्याकारः । कादाचित्कश्चात्मनि[1] दोष इति । न [2]चेदं कादाचित्कत्वमसिद्धं, सम्यग्ज्ञानादिगुणाविर्भावदशायामात्मनि दोषानुपपत्तेः ।

[मीमांसको जीवस्य स्वभावं दोषं मन्यते तस्य निराकरणं]

[2]ततः [3]प्राक्तत्सावाद्गुणाविर्भूतिदशायामपि[4] तिरोहितदोषस्य सद्भावान्न कादाचित्कत्वं, सातत्यसिद्धेरिति चेन्न, [5]गुणस्याप्येवं[6] सातत्यप्रसङ्गात् । तथा[7] च हिरण्य-

भावार्थ—शंकाकार मीमांसक का कहना है कि जैसे आवरण रूप द्रव्य कर्म पर्याय रूप से ही नष्ट होते हैं । द्रव्यरूप से नहीं यह बात आपने सिद्ध कर दी है । उसी प्रकार से अज्ञान आदि दोष भी पर्याय रूप से ही नष्ट होंगे न कि द्रव्य रूप से और तब सामान्यतया दोषों का द्रव्य रूप से अस्तित्व बना ही रहेगा पुनः कोई भी आत्मा निर्दोष, सर्वज्ञ कैसे हो सकेगी ?

इस पर जैनाचार्य समाधान करते हैं कि जैन सिद्धान्त में प्रत्येक आत्मा के परिणाम दो प्रकार के माने गये हैं एक स्वाभाविक और दूसरा आंगतुक अथवा वैभाविक । अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि तो आत्मा के स्वाभाविक परिणाम हैं क्योंकि ये आत्मा के ही स्वरूप हैं जैसे कि अग्नि का स्वरूप उष्ण एवं जल का स्वभाव शीतलता है और अज्ञान आदि जो दोष हैं वे आंगतुक हैं क्योंकि ये कर्म के उदय से ही होते हैं ये आत्मा के स्वभाव को ही विकृत करके रहते हैं अतएव इन्हें विभाव भाव भी कहते हैं । ये कर्म के उदय से ही होते हैं अतः इन्हें औपाधिक भाव भी कहते हैं । जब कर्म को नाश करने की सामग्री मिल जाती है तब ये विभावभाव स्वभाव रूप परिणत हो जाते हैं जैसे मिथ्यात्व के अभाव में जीव में सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है ।

ज्ञानावरण के अभाव में केवलज्ञान, अंतराय के अभाव में अनंतवीर्य आदि गुण प्रकट हो जाते हैं । इसलिए ये अज्ञानादि दोष पृथक् कोई द्रव्य नहीं हैं किन्तु जीव के ही विकारी परिणाम हैं विकार के कारणभूत कर्मोदय के पृथक् हो जाने से ये अपने स्वभाव में ही रह जाते हैं साता-असाता वेदनीय का अभाव होने से स्वाभाविक स्वात्मा से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख रह जाता है और इन्द्रिय जन्य वैभाविक सुख दुःख का काम समाप्त हो जाता है । इसी का नाम है दोषों का अभाव ।

[मीमांसक दोषों को जीव का स्वभाव मानता है उसका निराकरण ।]

मीमांसक—गुणों के प्रकट होने के पहले दोषों का सद्भाव होने से गुणों की आविर्भूत दशा में भी

१ आत्मन्यज्ञानादिर्मल आगन्तुकः कादाचित्कत्वादित्यध्याहार्यम् । २ दोषस्वभावत्वं जीवानामिच्छन् मीमांसकः प्राह । ३ गुणाविर्भूतेः प्राक् । ४ स दोषः । ५ ब्रह्मादिज्ञानस्य । ६ दोषप्रकारेण । ७ गुणसद्भावकालेपि तिरोहितदोषसद्भावेङ्गीक्रियमाणे ।

(1) आत्मनि दोषः पक्षः आगंतुको भवतीति साध्यो धर्मः कादाचित्कत्वात् तस्मादागंतुक इति निगमः दि. प्र. ।
(2) परः आह इदं कादाचित्कत्वमसिद्धं जैन आह एवं न दि. प्र. ।

गर्भादिर्वेदार्थज्ञानकालेपि वेदार्थाज्ञानप्रसङ्गः। ज्ञानाज्ञानयोः परस्परविरुद्धत्वादेकत्रैकदा न प्रसङ्ग इति चेत्तत एव सकलगुणदोषयोरेकत्रैकदा प्रसङ्गो मा भूत्। पुनर्दोषस्याविर्भावदर्शनाद्गुणकालेपि सत्तामात्रसिद्धिरिति चेत्तर्हि गुणस्यापि पुनराविर्भूतिदर्शनाद्दोषकालेपि सत्तामात्रसिद्धिः, सर्वथा विशेषाभावात्। तथा चात्मनो दोषस्वभावत्वसिद्धिवद्गुणस्वभावत्वसिद्धिः कुतो निवार्येत ? विरोधादिति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिरेव निवार्यतां, [1]तस्य गुणस्वभावत्वसिद्धेः। कुतः [2]सेति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिः[3] कुतः ? संसारित्वान्यथानुप[4]पत्ते-

---

तिरोहित (ढके हुए) दोषों का सद्भाव पाया जाता है अतः दोष कादाचित्क नहीं हैं किन्तु उनकी नित्यता ही सिद्ध होती है। अर्थात् मीमांसक कहता है कि दोष जीव का स्वभाव है क्योंकि वह आत्मा में हमेशा ही पाया जाता है गुण तो दोष के अभाव में यानी तिरोहित होने पर होते हैं अतः वे पर निमित्तक हैं।

जैन—यह ठीक नहीं है क्योंकि दोष के समान गुणों को भी नित्यपने का प्रसंग आवेगा। अर्थात् गुणों के सद्भाव के समय भी तिरोहित रूप से दोषों का सद्भाव मानना पड़ेगा तब गुणों के सद्भाव के काल में भी ढके हुए दोषों का सद्भाव स्वीकार करने पर ब्रह्मा आदि को वेदार्थ के ज्ञान के समय भी वेद के अर्थ के अज्ञान का प्रसंग आ जावेगा।

मीमांसक- ज्ञान और अज्ञान का परस्पर में विरोध होने से एक जीव में एक समय में दोनों नहीं रह सकते हैं।

जैन—उसी प्रकार सकल गुण और दोष का भी एक जीव में एक समयमें प्रसंग नहीं होना चाहिए।

मीमांसक—पुनः दोषों का आविर्भाव देखा जाता है अतः गुण के काल में भी दोपों की सत्ता मात्र सिद्ध होती है।

जैन—तो गुण का भी आविर्भाव देखे जाने से दोष के काल में भी गुणों की सत्ता मात्र सिद्धि क्यों न हो जावे क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है फिर आत्मा के दोप स्वभाव की सिद्धि के समान गुण स्वभावपने की सिद्धि का निवारण भी कैसे हो सकता है ?

मीमांसक—विरोध होने से अर्थात् दोष और गुण परस्पर विरोधी हैं ये दोनों स्वभाव जीव के कैसे हो सकेंगे ? परस्पर विरोधी दो स्वभावों का एक जगह एक काल में रहने में विरोध है।

जैन—यदि ऐसी बात है तो दोष स्वभाव का ही निवारण कीजिये और जीव का गुण स्वभाव है ऐसा ही स्वीकार कीजिये

मीमांसक—आत्मा का स्वभाव गुण है यह बात हम किस प्रमाण से मानें ?

जैन—आत्मा का स्वभाव दोष है यह बात भी हम किस प्रमाण से मानें ?

---

१ आत्मनः। २ आत्मनो गुणस्वभावत्वसिद्धिः। ३ आत्मनः। ४ आत्मनो दोपस्वभावत्वमन्तरा संसारित्वं न स्यात्ततो दोषस्वभावत्वसिद्धिरिति मीमांसकः।

रिति [1]चेत्तत्संसारित्वं सर्वस्यात्मनो यद्यनाद्यनन्तं तदा [1]प्रतिवादिनोऽसिद्धं, प्रमाणतो मुक्तिसिद्धेः।

[क्वचिदात्मनि संसारस्याभावो भवतीति जैनाचार्याः साधयंति]

[2]कुत इति चेदिमे [3]प्रवदामः। क्वचिदात्मनि संसारोत्यन्तं निवर्तते [4]तत्कारणात्यन्तनिवृत्त्यन्यथानुपपत्तेः। संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादिकमुभयप्रसिद्धं[5] क्वचिदत्यन्तनिवृत्तिमत्, तद्विरोधिसम्यग्दर्शनादिपरमप्रकर्षसद्भावात्। यत्र यद्विरोधिपरमप्रकर्षसद्भावस्तत्र तदत्यन्तनिवृत्तिमद्भवति। यथा चक्षुषि तिमिरादि[2]। नेदमुदाहरणं साध्यसाधनधर्मविकलं, कस्यचिच्च-

मीमांसक—संसारीपने की अन्यथानुपपत्ति होने से अर्थात् आत्मा के दोषस्वभाव के विना संसारीपना बन नहीं सकता है इसलिए दोष आत्मा का स्वभाव है यह बात सिद्ध हो जाती है।

जैन—यदि संसारीपना सभी जीवों के अनादि और अनंत होवे तब तो प्रतिवादी जैन के लिए यह हेतु असिद्ध है क्योंकि प्रमाण से हमारे यहाँ मुक्ति की सिद्धि होती है। अर्थात् सभी के संसारावस्था सदा नहीं रहती किन्तु अनेक जीव संसार का अभाव कर शुद्ध, सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करते हैं ऐसा हमारा निश्चित मत है।

[किसी जीव के ससार का सर्वथा अभाव हो जाता है जैनाचार्य इस बात को सिद्ध करते हैं]

मीमांसक—किस प्रमाण से मुक्ति की सिद्धि है ?

जैन—हम कहते हैं "किसी आत्मा में संसार का अत्यन्त विनाश देखा जाता है क्योंकि संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि के अत्यन्त रूप से विनाश की अन्यथानुपपत्ति है।" तथा मिथ्यादर्शन आदि संसार के कारण हैं अतः वे कहीं पर अत्यन्त विनाश को प्राप्त होते हैं। यह बात वादी प्रतिवादी दोनों को ही मान्य है क्योंकि मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी सम्यग्दर्शन आदि का परम प्रकर्ष देखा जाता है।

जहां पर जिसके विरोधी के परम प्रकर्ष का सद्भाव है वहां पर वह अत्यन्त विनाश रूप देखा जाता है जैसे चक्षु में तिमिरआदि रोग। हमारा यह उदाहरण साध्य, साधन धर्म से विकल भी नहीं है क्योंकि किसी के नेत्र में तिमिर (रतौंधी, मोतिया बिन्दु) आदि रोगों का अत्यन्त अभाव-विनाश प्रसिद्ध है और उन रोगों के विरोधी विशिष्ट अंजन, औषधि आदि के परम प्रकर्ष का सद्भाव भी सिद्ध ही है। इसमें किसी को भी किसी प्रकार का विसंवाद नहीं है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी हैं यह निश्चय कैसे होता है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन आदि के परम प्रकर्षता को प्राप्त होने पर उन मिथ्यादर्शन आदिकों की अपकर्षता

१ जैनः। २ मुक्तिसिद्धिः कुतः। ३ वयं जैनाः। ४ तत्कारणं=मिथ्यादर्शनादि। ५ मिथ्याज्ञानवशात् सम्यग्ज्ञानाभाव] इति प्रतिवादिनोपि सिद्धम्।

(1) जैनस्य। (2) तिमिरादिर्नेदं इति. पा. दि. प्र.।

क्षुषि तिमिरादेरत्यन्तनिवृत्तिमत्त्वप्रसिद्धेस्त[1]द्विरोधिविशि[६]ष्टाञ्जनादिपरमप्रकर्षसद्भावसिद्धेश्च निर्विवादकत्वात्। कथं मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि निश्चीयते इति चेत् [२]तत्प्रकर्षे [३]तदपकर्षदर्शनात्। यद्धि प्रकृष्यमाणं यदपकर्षति तत् तद्विरोधि सिद्धम्। यथोष्णस्पर्शः प्रकृष्यमाणः शीतस्पर्शमपकर्षंस्तद्विरोधी। मिथ्यादर्शनादिकमपकर्षति च प्रकृष्यमाणं क्वचित्सम्यग्दर्शनादि तत् तद्विरोधि। कथं पुनः सम्यग्दर्शनादेः क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावः सिद्ध इति चेत्प्रकृष्यमाणत्वात्[४]। यद्धि प्रकृष्यमाणं [2]तत्क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावभाग्दृष्टम्। यथा नभसि परिमाणम्। प्रकृष्यमाणं च सम्यग्दर्शनादि। तस्मात्परमप्रकर्षसद्भावभाक्। परत्वापरत्वाभ्यां[3] [५]व्यभिचार इति चेन्न, तयोरपि [६]सपर्यन्तजगद्वादिनां परमप्रकर्षसद्भावभावत्वसिद्धेः। न चापर्यन्तं जगदिति वक्तुं शक्यं,

---

(हानि) देखी जाती है। जो वृद्धि को प्राप्त होता हुआ जिसकी हानि को करता है, वह उसका विरोधी है यह बात प्रसिद्ध है जैसे कि बढ़ता हुआ उष्णस्पर्श शीतस्पर्श की हानि को करता है अतः वह उसका विरोधी प्रसिद्ध है। तथैव जीव में वृद्धि को प्राप्त होते हुए सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदि की हानि करते ही हैं। इसीलिये वे उनके विरोधी माने गये हैं।

प्रश्न–किसी जीव में सम्यग्दर्शनादि के परम प्रकर्ष का सद्भाव पुनः किस प्रकार से सिद्ध है ?

उत्तर–तरतम भावों से वृद्धिगत होते हुए कहीं न कहीं परम प्रकर्षपना तो हो ही जावेगा। "जो वृद्धिगत होता हुआ पाया जाता है वह कहीं न कहीं परम प्रकर्ष को प्राप्त होता ही है जैसे आकाश में परिमाण। एवं सम्यग्दर्शन आदि वृद्धिगत रूप हैं इसीलिये वे परम प्रकर्ष को प्राप्त होते ही हैं।"

प्रश्न—परत्व अपरत्व से हेतु में व्यभिचार आता है अर्थात् प्रकृष्यमाण होते हुए भी परत्व (महत्पना) अपरत्व (लघुपना) परम प्रकर्ष को नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

उत्तर– आपका यह व्यभिचार दोष भी देना युक्त नहीं है। परिमाण कर सहित जगत् को मानने वाले अर्थात् लोकाकाश की अपेक्षा से पुरुषाकार स्वरूप असंख्यात प्रदेशी जगत को मानने वालों के यहां लघु-महत्पने की भी परमप्रकर्षता स्वीकार की गई है और यह जगत् (लोकाकाश) परिमाण सहित नहीं हैं, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि रचना विशेष पायी जाती है पर्वत आदि के समान। जो पुनः प्रमाण सहित नहीं है वह विशिष्ट रचनाओं से युक्त भी सिद्ध नहीं है जैसे आकाश (अलोकाकाश–अनंतआकाश) और यह जगत् विशिष्ट सन्निवेश कर सहित है। इसलिए सब तरफ से परिमाण वाला है। इस प्रकार से मैंने (विद्यानंद स्वामी ने) श्लोकवार्तिक आदि ग्रंथों में विस्तार से वर्णन किया है।

---

१ यसः। २ तस्य सम्यग्दर्शनादेः। ३ तस्य मिथ्यादर्शनस्य। ४ तरतमभावेन वर्द्धमानत्वात्। ५ प्रकृष्यमाणेऽपि परत्वापरत्वे न परमप्रकर्षभाजीत्याभ्यां हेतोर्व्यभिचारः। ६ पर्यन्तेन (परिमाणेन) सह वर्त्तमानं सपर्यन्तं तच्च जगत्।

---

(1) ता। (2) तत्कथंचित् इति पा. दि. प्र.। (3) दिक्कृत।

विशिष्टसन्निवेशत्वात्पर्वतवत् । यत्पुनरपर्यन्तं तन्न विशिष्टसन्निशं सिद्धं, यथा व्योम । विशिष्टसन्निवेशं च जगत् तस्मात्सर्वतः सपर्यन्तमिति निगदितमन्यत्र[१] ।

[अभव्यजीवेषु मिथ्यादर्शनादेः परमप्रकर्षो लभ्यते]

संसारेणानेकान्त[२] इति चेन्न तस्याप्यभव्यजीवेषु परमप्रकर्षसद्भावसिद्धौ प्रकृष्यमाणत्वेन प्रतीतेः । [1]एतेन मिथ्यादर्शनादिभिर्व्यभिचारः [३]प्रत्याख्यातः, [2]तेषामप्यभव्येषु परमप्रकर्षसद्भावात् । ततो नानैकान्तिकं प्रकृष्यमाणत्वं परमप्रकर्षसद्भावे साध्ये । नापि विरुद्धं, सर्वथा [४]विपक्षाद्व्यावृत्तेः । इति क्वचिन्मिथ्यादर्शनादिविरोधि=सम्यग्दर्शनादि=परमप्रकर्षसद्भावं [५]साधयति । स च सिध्यन्मिथ्यादर्शनादेरत्यन्तनिवृत्तिं गमयति । सा च गम्यमाना [६]स्वकार्यसंसारात्यन्तनिवृत्तिं निश्चाययति । यासौ संसारस्यात्यन्तनिवृत्तिः सा मुक्तिरिति ।

[मिथ्यादर्शन आदि का परमप्रकर्ष अभव्य जीवों में पाया जाता है]

प्रश्न—संसार को परम प्रकर्ष के सद्भाव का अभाव होने पर प्रकृष्यमाण रूप हेतु उसमें देखा जाता है अतः संसार के साथ आपका हेतु अनैकांतिक है ।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते उस संसार का भी अभव्य जीवों में परम प्रकर्ष का सदभाव सिद्ध होने से प्रकृष्यमाणत्व हेतु की प्रतीति देखी जाती है । इसी प्रकार जो कहते हैं कि मिथ्यादर्शन आदि के परमप्रकर्ष का अभाव होने पर भी प्रकृष्यमाण हेतु होने से व्यभिचार आता है ।

इस उर्युपक्त कथन से उनके भी इस व्यभिचार दोष का परिहार हो जाता है क्योंकि उन मिथ्यादर्शन आदिकों का भी अभव्य जीवों में परम प्रकर्ष पाया ही जाता है इसलिये परमप्रकर्ष के सद्भाव को सिद्ध करने में "प्रकृष्यमाणत्व" हेतु अनैकांतिक नहीं है ।

हमारा यह "प्रकृष्यमाण" हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि परमप्रकर्ष रहित विपक्ष से उसकी सर्वथा व्यावृत्ति है । इस प्रकार यह प्रकृष्यमाण हेतु किसी जीव में मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों के परमप्रकर्ष के सद्भाव को सिद्ध ही करता है और वह रत्नत्रय का परमप्रकर्ष सिद्धि को प्राप्त होता हुआ मिथ्यादर्शन आदि के अत्यन्त विनाश को ही प्रकट करता है तथा मिथ्यादर्शन का अत्यन्त विनाश प्रकट होता हुआ अपने कार्यरूप संसार का अत्यन्त विनाश निश्चित कराता है एवं जो यह संसार की अत्यन्त निवृति है वही मुक्ति है ।

---

१ श्लोकवार्तिकादौ । २ संसारस्य परमप्रकर्षसद्भावाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वरूपहेतोर्दर्शनात् । ३ मिथ्यादर्शनादीनां परमप्रकर्षाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वहेतोर्दर्शनादनेकान्तः प्रत्याख्यातः । ४ परमप्रकर्षरहितात् । ५ प्रकृष्यमाणत्वमिति कर्तृपदमध्याहार्यम् । ६ स्वकार्यं संसारस्तस्य ।

---

(1) संसारस्य प्रकृष्यमाणत्वेन दि. प्र. । (2) तेषामभव्येषु इति पा. । कालत्वेनानंतः ।

[ज्ञानादिगुणः आत्मनः स्वभावोऽस्ति किंतु रागादिदोषो नास्ति]

[1]तदन्यथानुपपत्तेरात्मनो ज्ञानादिगुणस्वभावत्वसिद्धेर्न दोषस्वभावत्वसिद्धिः, [2]विरोधात् । प्रसिद्धायां क्वचिदात्मनि निःश्रेयसभाजि [3]गुणस्वभावतायामभव्यादावपि [4]तन्निर्णयः, जीवत्वान्यथा[5]नुपपत्तेः ।

[ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं किंतु दोष आत्मा के स्वभाव नहीं है]

मुक्ति की अन्यथानुपपत्ति होने से आत्मा के ज्ञानादि गुण स्वभाव की सिद्धि हो जाती है किन्तु दोष स्वभाव की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं ।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि आत्मा का स्वभाव दोष है न कि गुण क्योंकि गुणों के प्रकट हो जाने पर दोष ढके हुये रहते हैं उनका अस्तित्व समाप्त नहीं होता है । यही कारण है कि मीमांसक किसी भी जीव को शुद्ध, कर्ममलरहित, निर्दोष और सर्वज्ञ भगवान नहीं मानता है, वह अतींद्रिय पदार्थों के देखने जानने का काम वेदों से ही चला लेता है, उसके सिद्धांत में आत्मा हमेशा संसारी, शरीरी, कर्म-कलंक से मलिन, दूषित ही रहती है, कभी भी किसी काल में भी आत्मा शुद्ध-निर्दोष नहीं होती है । इससे सर्वथा विरुद्ध सांख्य जीवों को संसार अवस्था में भी कर्मलेप से रहित, निरंजन, निष्क्रिय ही मानता है तथा यह आत्मा को कभी अशुद्ध मानता ही नहीं है, किन्तु जैन इन दोनों से विपरीत आत्मा को कथंचित् अशुद्ध एवं कथंचित् शुद्ध मानते हैं ।

जैनाचार्यों का कहना है कि यह आत्मा अनादि काल से स्वर्ण-पाषाण के समान कर्ममल से सहित है फिर भी संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि माने गये हैं उन संसार के कारणों का विनाश सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र आदि के द्वारा किया जा सकता है और संसार के कारणों का पूर्णतया विनाश हो जाने पर जीव पूर्णतः शुद्ध, कर्मकलंक से निर्लेप, निरंजन, सिद्ध हो जाता है । तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में भी कहा है कि "बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः"। बंध के हेतु मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं इनका अभाव हो जाना एवं पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा के होने से संपूर्ण कर्मों का अभाव होकर इस जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाती है अर्थात् यह जीव कर्मसेरहित-मुक्त हो जाता है ।

इसी बात को अच्छी तरह से सिद्ध करने के लिये श्री विद्यानंद स्वामी ने प्रथम तो "स्वनिर्ह्रास-निमित्तविवर्धनवशात्" हेतु दिया है जिसका मतलब है कि अज्ञानादि दोषों के नाश करने वाले सम्यग्दर्शन आदि हैं । उन रत्नत्रयगुणों की वृद्धि के निमित्त से ये दोष समाप्त हो जाते हैं । पुनः इस बात को बतलाया है कि संसार के कारण मिथ्यात्व आदि हैं इनके विरोधी सम्यग्दर्शन आदि की चरमसीमा—पूर्णअवस्था पाई जाती है । यद्यपि आज रत्नत्रय की पूर्णावस्था का दिखना असंभव है अतः कहीं न कहीं किसी न किसी जीव में इनकी पूर्णअवस्था हो सकती है इस बात को सिद्ध करने के लिये प्रकृष्यमाणत्व आदि गुण

---

१ ज्ञानादिगुणस्वभावत्वाभावे । २ उभयमेकत्रैकदा विरुध्यते यतः । ३ चेतनागुणस्वभावतायाम् । ४ ज्ञानगुण-स्वभावत्वनिर्णयोस्ति । ५ गुणस्वभावत्वमन्तरा ।

प्रसिद्धे च सर्वस्मिन्नात्मनि ज्ञानादिगुणस्वभावत्वे दोषस्वभावत्वासिद्धेः सिद्धं दोषस्य [1]कादाचित्कत्वमागन्तुकत्वं[1] साधयति । ततः [2]स एव परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तवि[2]वर्द्धन-वशादिति सुस्पष्टमाभाति, दोषनिर्ह्रासनिमित्तस्य सम्यग्दर्शनादेर्विशेषेण वर्द्धनप्रसाधनात् ।

किसी न किसी जीव में वृद्धिगत होते हुये दिख रहे हैं। वर्तमान में यहां नहीं, किंतु विदेहक्षेत्र में तो देखा ही जाता है। अथवा यहां भी चतुर्थकाल में किसी न किसी जीव में इन रत्नत्रय गुणों की पूर्ण अवस्था हो सकती है। इसी से यह निश्चित किया जाता है कि जो जिसका स्वभाव होता है वह कभी भी नष्ट नहीं होता है। अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक पाया जाता है अतएव जीव के भी ज्ञानादि स्वभाव हैं यद्यपि वे अनादिकाल से कर्मोदय के कारण विभाव-अज्ञानादि रूप हो रहे हैं फिर भी सम्यक्त्व आदि गुणों से इनका अभाव होकर अनंतानंत काल तक ये ज्ञानादि स्वभाव जीव के साथ रहते हैं। अतः ये गुण जीव के स्वभाव हैं एवं दोष विभाव रूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

किसी आत्मा में चैतन्य आदि गुण स्वभाव रूप मुक्ति अवस्था की प्रसिद्धि हो जाने पर अभव्य जीव में भी ज्ञानादिगुण स्वभाव का निर्णय हो जाता है क्योंकि जीवत्व स्वभाव की अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है। अर्थात् अभव्य जीव का स्वभाव ज्ञानादि गुण हैं न कि दोषादि, किन्तु कर्म के निमित्त से ज्ञानादि गुण विभाव रूप परिणमन कर रहे हैं। अभव्य जीव में शक्ति रूप से गुणों के होने पर भी उनकी व्यक्ति नहीं हो सकती है और भव्यों को सम्यग्दर्शन आदि निमित्त के मिलने पर उनकी व्यक्ति हो सकती है यही अंतर भव्य और अभव्य जीवों में है।

विशेषार्थ— जैनाचार्यों ने अन्यथानुपपत्ति हेतु से जीव का ज्ञानादि गुण स्वभाव सिद्ध कर दिया है। एवं इस बात को भी बतलाया है कि अभव्य का भी ज्ञानादि गुण ही स्वभाव है न कि दोष। अंतर इतना ही है कि अभव्य में कर्मों का नाश करके गुणस्वभाव को प्रकट करने की शक्ति नहीं है। इसी विषय में श्रीमद्भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक की ८ वीं अध्याय में सिद्ध किया है यथा—

प्रश्न यह होता है कि मतिज्ञानादि पांचों ज्ञान विद्यमान रूप हैं पुनः उन पर आवरण आता है या अविद्यमान रूप हैं उन पर आवरण आता है? इस पर उत्तर यह है कि—

"न फुटीभूतानि मत्यादीनि कानचित् संति येषामावरणात् मत्याद्यावरणानां आवरणत्वं भवेत् किंतु मत्याद्यावरणसन्निधाने आत्मा मत्यादिज्ञानपर्यायैर्नोत्पद्यते इत्यतो मत्याद्यावरणानां आवरणत्वं।" अर्थात् कोई भी मति आदि ज्ञान प्रत्यक्षीभूत-पुंज रूप से विद्यमान नहीं हैं कि जिनके आवरण से मति आदि आवरणों में आवरणत्व हो सके किंतु मति आदि आवरण के सन्निकट होने से आत्मा मति श्रुत आदि पर्यायों से उत्पन्न नहीं होता है अतः मति आदि आवरणों में आवरणपना होता है।

---

१ साधनम् । २ आगन्तुको मलः ।

---

(1) दोषस्य । (2) परमप्रकर्षं ।

[दोषावरणे पर्वत इव विशाले स्तः]

इत्यावरणस्य[1] द्रव्यकर्मणो दोषस्य च भावकर्मणो[2] भूभृत इव महतोत्यन्तनिवृत्तिसिद्धेः कर्मभूभृतां भेत्ता मोक्षमार्गस्य [1]प्रणेता स्तोतव्यः समवतिष्ठते विश्वतत्त्वानां ज्ञाता च ।

तथा इस बात को भी सिद्ध किया है कि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सत् रूप मत्यादि पर आवरण है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से असत् रूप मति ज्ञानादि पर आवरण है स्याद्वाद रूप से यही कथन श्रेयस्कर है। पुनः प्रश्न होता है कि—

"अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात्" अर्थात् अभव्य जीव में मनःपर्यय ज्ञानावरण एव कवलज्ञानावरण सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि उनक इन दोनों ज्ञानों का अभाव है और यदि इन दोनों ज्ञानों का सद्भाव मानोगे तो वह जीव अभव्य नहीं रहेगा किंतु भव्य ही हो जावेगा।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना क्योंकि "द्रव्यार्थदिशेन सतोर्मनःपर्ययकेवलज्ञान-योरावरणं, पर्यायार्थादेशेनासतोः" अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से अभव्य में सत्रूप-विद्यमान मनःपर्यय केवल-ज्ञान पर आवरण है एवं पर्यायार्थिक नय से असत् रूप दोनों ज्ञानों पर आवरण होता है, इतने मात्र से ही अभव्य जीव में मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि जिस जीव में सम्यग्दर्शनादि पर्याय को प्रगट कर लेने की योग्यता है वह भव्य है उससे विपरीत अभव्य है। शक्ति रूप भव्य-अभव्य दोनों में ही मनःपर्यय एवं केवलज्ञान विद्यमान हैं किंतु उनकी व्यक्ति-प्रगटता भव्यों के ही हो सकती है, अभव्यों के नहीं हो सकती है इसी को आगे १०० वीं कारिका में कहा है कि—

"शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥"

इस प्रकार से सभी आत्मा में ज्ञानादि गुण स्वभाव की सिद्धि हो जाने पर एवं दोष स्वभाव की सिद्धि न होने पर दोषों को कादाचित्कपना सिद्ध हो जाता है और वह कदाचित्कत्व ही आगंतुकपने को सिद्ध कर देता है इसीलिये वह आगंतुक मल ही परिक्षयी है क्योंकि वह अपने विनाश के कारणों के वृद्धिगत हो जाने से विनाश को प्राप्त होता ही है इस प्रकार से स्पष्टतया प्रतीति में आ रहा है एवं दोष के विनाश के निमित्त सम्यग्दर्शन आदिकों की विशेष रूप से वृद्धि सिद्ध ही है।

[दोष, आवरण पर्वत के समान विशाल हैं]

इस प्रकार विशाल पर्वत के समान आवरण रूप द्रव्य कर्म का और अज्ञानादि रूप भाव कर्म का अत्यन्त विनाश सिद्ध हो जाने से कोई "कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करने वाला एवं मोक्षमार्ग का प्रणयन करने वाला और अखिल तत्त्वों को जानने वाला आप्त स्तवन करने योग्य है यह बात सम्यक्प्रकार से स्थित हो जाती है।"

---

१ ज्ञानावरणस्य । २ अज्ञानादेः ।

---

(1) मोक्षमार्गस्य प्रणेता अर्हन् कर्मभूभृतां भेत्ता इति स्तोतव्यः विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति च दि. प्र. ।

सर्वज्ञ के दोषावरण के अभाव का सारांश

हे भगवन् ! सभी के आगम में परस्पर विरोध होने से सभी आप्त नहीं हो सकते हैं किंतु कोई एक ही आप्त महान् हो सकते हैं वे आप ही संसारी जीवों के स्वामी हैं आपके ही अत्यंत रूप से दोष और आवरण की हानि— क्षय होने से तथा अशेष तत्त्वों के ज्ञाता होने से आप ही महान् हैं क्योंकि दोष और आवरण की हानि होने से ही हम लोगों में कुछ-कुछ अंशों में निर्दोषता एवं क्षयोपशमजन्य कुछ-कुछ ज्ञान देखा जाता है। अतएव वह हानि किसी जीव विशेष में परिपूर्ण रूप से हो सकती है जैसे स्वर्ण पाषाण दो, तीन आदि ताव से १६ ताव पर्यंत निःशेष रूप से शुद्ध होता है और उसमें किट्ट-कालिमा का भी सर्वथा क्षय-नाश देखा जाता है।

ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्म को आवरण कहते हैं एवं कर्मोदय से होने वाले मोह रागादि परिणाम रूप भावकर्म को दोष कहते हैं।

बौद्ध का कहना है कि अज्ञानादि स्वपरिणाम हेतुक हैं एवं सांख्य का कहना है कि अज्ञानादि प्रधान के होने के कारण पर परिणाम हैं, किंतु सर्वथा यदि अज्ञानादि को स्वपरिणाम ही मानों तो जीवत्व आदि निजी स्वभाव के समान होने से उनका कभी भी अभाव नहीं हो सकेगा पुनः मुक्ति का ही अभाव हो जावेगा तथा सर्वथा परनिमित्तक होने से मुक्तात्मा में भी अज्ञानादि दोष होने लगेंगे। इसलिये दोष जीव के स्वपर परिणाम निमित्तक ही हैं क्योंकि कार्य हैं।

तथा च दोष और आवरण में वीजांकुर न्याय के समान परस्पर में कार्य कारण भाव सिद्ध है जैसे जीव के ज्ञानावरण के उदय से अज्ञान दर्शन मोह के उदय से मिथ्यात्व आदि भाव होते हैं एवं दोष के प्रति आवरण भी कारण हैं। तत्प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य आदि से केवली, श्रुत, संघ आदि के अवर्णवाद से ज्ञानावरण, दर्शनमोहनीय आदि कर्मों का आश्रव होता है। अतएव परस्पर में कार्यकारण भाव सिद्ध है।

यहां दोष और आवरण की हानि से प्रध्वंसाभाव को ग्रहण किया है अत्यंताभाव को नहीं। यदि जीव में दोष आवरण का अत्यंताभाव मानों तव तो संसार अवस्था में भी जीव के मुक्ति का प्रसंग आ जावेगा। आत्मा दोष और आवरण रूप नहीं है तथा दोष और आवरण आत्मा रूप नहीं है। यह इतरेतराभाव आत्मा का प्रसिद्ध ही है। तथा प्रागभाव भी यहां साध्य नहीं है क्योंकि प्राक्—पहले अविद्यमान रूप दोष आवरणों की अपने कारणों से आत्मा में उत्पत्ति स्वीकार की गई है।

यदि कोई कहे कि जैसे जीव में दोष, आवरण की अत्यंत (पूर्णतया) हानि देखी जाती है वैसे ही आप जैन बुद्धि की भी हानि–नाश मान लो। इस पर उत्तर यही है कि किसी जीव ने पृथ्वीकाय आदि को शरीर रूप से ग्रहण करके छोड़ दिया अतः उन पाषाण आदि में चैतन्य—बुद्धि का सर्वथा अभाव हो ही गया, "क्योंकि कोई भी ऐसा पुद्गल जगत में नहीं है जिसे इस जीव ने अनेकों बार भोगकर नहीं छोड़ा है" ऐसा वचन है। तथा मुक्तात्मा में मतिश्रुत आदि क्षयोपशम रूप चार ज्ञान का अभाव देखा भी जाता है उनकी अपेक्षा से बुद्धि का अभाव घटित है। अतः कर्मकलंक रहित अकलंक भगवान ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं।

तथा सत् स्वरूप आत्मा से कर्मों का पृथक्करण हो जाना ही अभाव है न कि अत्यन्त विनाश रूप अभाव क्योंकि तुच्छाभाव रूप अभाव को हम नहीं मानते हैं।



[कर्मरहितोऽपि आत्मात्यंतपरोक्षपदार्थान् कथं जानीयात् ?]

[1]ननु निरस्तोपद्रवः[1] सन्नात्मा कथमकलंकोपि[2] विप्रकर्षिणमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात्※। न हि नयनं[3] निरस्तोपद्रवं विगलिततिमिरादिकलङ्कपटलमपि देशकालस्वभावविप्रकर्ष[2]-भाजमर्थं प्रत्यक्षीकुर्वत् प्रतीतं, [3]स्वयोग्यस्यैवार्थस्य[4] तेन प्रत्यक्षीकरणदर्शनात् । निरस्त-ग्रहोपरा[5]गाद्युपद्रवोपि[6] दिवसकरः प्रतिहतघनपटलकलङ्कश्च स्वयोग्यानेव वर्त्तमानार्थान् प्रकाशयन्नुपलब्धो नातीतानागतानर्थानयोग्यानिति[7] जीवोपि निरस्तरागादिभावकर्मोपद्रवः सन् विगलितज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मात्मककलङ्कोपि च कथं विप्रकृष्टमर्थमशेषं प्रत्यक्षीकर्तुं प्रभुः ? मुक्तात्मा भवन्नपि न चोदनाप्रामाण्यप्रतिबन्धविधायी, धर्मादौ[4] तस्या[5] एव प्रामाण्यप्रसिद्धेः मुक्तात्मनस्तत्राप्रमाणत्वात्तस्यानन्दादिस्वभावपरिणामेपि धर्मज्ञत्वाभावादप्रतिषे-

[कर्म से रहित भी आत्मा अत्यंत परोक्ष पदार्थों को कैसे जानेगा ?]

मीमांसक—संपूर्ण कर्मोपद्रव से रहित एवं कलंक से रहित होते हुये भी आत्मा परोक्ष पदार्थों को कैसे प्रत्यक्ष करेगी ?※

किसी भी प्रकार के उपद्रव, रोग-रतौंधी, मोतियाबिंदु, पीलिया आदि दोषों से रहित भी नेत्र देश काल और स्वभाव से परोक्षवर्ती-दूरवर्ती पदार्थों को प्रत्यक्ष करते हुये अनुभव में नहीं आता है। स्वयं अपने योग्य देश काल आदि से सन्निहित पदार्थों को ही वह नेत्र अपने प्रत्यक्ष का विषय बनाता है, ऐसा देखा जाता है। जैसे ग्रह, उपराग आदि उपद्रवों से रहित एवं मेघ पटल के कलंक से भी रहित होता हुआ सूर्य अपने योग्य ही वर्तमान पदार्थों को प्रकाशित करते हुये उपलब्ध हो रहा है, किंतु अपने अयोग्य भूत, भविष्यत् कालीन पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता है। उसी प्रकार से जीव भी रागादिभाव कर्मों से रहित एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म कलंक से रहित होता हुआ भी परोक्षवर्ती अशेष पदार्थों को प्रत्यक्ष करने के लिए समर्थ कैसे हो सकता है ? अर्थात् कोई भी जीव कर्ममल से रहित मुक्त होकर भी संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है। इसीलिये मुक्तात्मा होते हुये भी वेद की प्रमाणता का विरोधी नहीं हो सकता है क्योंकि धर्म-अधर्म आदि अदृष्ट (परोक्ष) पदार्थों की व्यवस्था करने में वेदवाक्य ही प्रमाण है।

उन धर्मादि पदार्थों को जानने में मुक्तात्मा के अप्रमाणता है क्योंकि आनंदादि स्वभाव रूप परिणाम के होने पर भी उनमें धर्मज्ञता का अभाव है। अतः आनंदादि स्वभाव का प्रतिषेध नहीं हो सकता है। अर्थात् यदि कहा जावे कि मुक्तात्मा में धर्मज्ञता न होने से आनंदादि स्वभाव भी नहीं होने चाहिये, किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उनमें आनंदादि स्वभाव पाया जाता है।

१ मीमांसकः। २ विप्रकर्षशब्दो देशकालस्वभावशब्दैः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ३ देशकालाद्यविप्रकृष्टस्य। ४ धर्मादिस्थापने। ५ चोदनायाः।

(1) अज्ञानादिदोषः। (2) कलंकं द्रव्यकर्मज्ञानावरणादि। (3) शूलादि। (4) संबद्धवर्तमान। (5) ग्रहण। (6) च इति अधिको पा.। (7) अरूपिणो वा।

ध्यत्वात्[1] । तदुक्तं,

"धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । [2]सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ।१।"

कहा भी है--

श्लोकार्थ—मुक्त आत्मा में केवल धर्म-अधर्म को जानने का निषेध किया जाता है शेष संपूर्ण पदार्थों को मुक्तजीव जानते हैं इसमें हमारा विरोध नहीं है।

भावार्थ—मीमांसकों का कहना है कि मुक्त जीव धर्म-अधर्म को नहीं जानते हैं। इनका ज्ञान तो वेदवाक्यों से ही होता है ये धर्म अधर्म आगम मात्र से ही गम्य हैं, इनको जानने वाला कोई भी नहीं है। अतः जगत में कोई भी सर्वज्ञ नहीं है।

इस प्रकरण को श्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथ में स्वयं श्री विद्यानंदस्वामी ने प्रथम अध्याय के "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" सूत्र का भाष्य करते हुये कहा है कि—

धर्मादन्यत्परिज्ञातं विप्रकृष्टमशेषतः ।
येन तस्य कथं नाम धर्मज्ञत्वं निषेधनं ॥२१॥

अर्थ– जिस महात्मा ने धर्म के अतिरिक्त स्वभाव से व्यवहित परमाणु आदिक, देश से व्यवहित सुमेरु आदिक, एवं काल से व्यवहित रामचंद्र आदिक अत्यंत परोक्ष पदार्थों को परिपूर्ण रूप से जान लिया है उस पुरुष को धर्म को जानने का निषेध भला कैसे किया जा सकता है? क्योंकि जो धर्म के सिवाय अन्य संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है वह धर्म को भी अवश्य जान लेगा।

धर्म से भी सूक्ष्म पदार्थों तक को जानने वाला विद्वान् धर्म को जानने से वच नहीं सकता है। अतः सर्वज्ञ को धर्म के जानने का निषेध करना मीमांसकों को उचित नहीं है।

मीमांसक का जो यह कहना है कि प्रमाता–आत्मा संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है, केवल अतींद्रिय पुण्य, पाप रूप धर्म, अधर्म को साक्षात् नहीं जानता है। "धर्मे चोदनैव प्रमाणं" धर्म का ज्ञान करने में वेदवाक्य ही प्रमाण है।

मीमांसक का यह सब कथन केवल न्यायमार्ग का अतिक्रमण कर रहा है क्योंकि न्याय की सामर्थ्य से उत्कृष्ट ज्ञान का स्वभाव संपूर्ण पदार्थों का जानना सिद्ध हो चुका है तो फिर ज्ञान अतींद्रिय पदार्थों में से केवल धर्म को ही क्यों छोड़ देगा? जल और स्थल सभी स्थानों में मेघ वरसते हैं, निर्धन-धनपति

---

१ नन्वानन्दादिस्वभावोपि नास्तीत्यत्राह ।—आनन्दादिस्वभावस्याप्रतिषेधादिति । २ मुक्तात्मनि ।

---

(1) अप्रतिषेध्यत्वात् । यदि मुक्तात्मा चोदनाप्रामाण्यप्रतिवन्धविधायी न भवति तथाप्युक्तन्यायेन प्रमाणसिद्धिः स आनंदादिस्वभावः कस्मात् प्रतिषिध्यते इत्याशंकायामाह भाट्टः अत्र प्रतिषिध्यादिति । धर्मज्ञत्वाभावात् प्रतिषेध्यत्वात् इति पा. दि. प्र. । (2) धर्मादन्यत् ।

आदि सबके यहां सूर्य प्रकाश करता है। वस्तु का वैसा स्वभाव सिद्ध हो जाने पर पुनः पक्षपात नहीं चल सकता है।

इस प्रकार से कहता हुआ मीमांसक केवल न्यायमार्ग का उल्लंघन कर देता है। उपाय सहित केवल हेय और उपादेय को ही वह सर्वज्ञ जानता है, किंतु फिर संपूर्ण कीड़े, कूड़े और उनकी गिनती नाप, तौल आदि को वह सर्वज्ञ नहीं जानता है।

आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकों का सरासर अन्याय है क्योंकि सभी हेय उपादेय तत्त्वों को भली प्रकार से जान लेने पर संपूर्ण पदार्थों का पूर्णतया जान लेना न्याय से प्राप्त हो जाता है। अतएव पूर्ववत् यहां भी मीमाँसक न्यायमार्ग का उल्लंघन कर देता है। उसका कहना है कि धर्म के अतिरिक्त अन्य संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को विशेष रूप से जानता हुआ भी वह सर्वज्ञ धर्म को साक्षात् रूप से नहीं जान पाता है क्योंकि धर्म, अधर्म परमाणु आकाश आदि सभी पदार्थ समान जाति के ही हैं।

"ततो नेदं सूक्तं मीमांसकस्य। धर्मज्ञत्व निषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते।" इति न त्ववधीरणानादरः। "तत्सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते इति। तत्र नो नातितरामादरः"। अतः मीमांसकों का यह कथन समीचीन नहीं है कि सर्वज्ञ का निषेध करते समय केवल धर्म को जानने का ही तो निषेध करना यहां उपयोगी हो रहा है। अन्य सभी पदार्थों को भले ही वह सर्वज्ञ जानता रहे ऐसे सर्वज्ञ का निवारण भला कौन विद्वान् कर सकता है?

दूसरी वात यह है कि मीमांसकों के उक्त कथन से यह भी प्रतीत होता है कि जब सर्वज्ञ को मानने में मीमांसक निंदा या तिरस्कार नहीं समझते हैं और सर्वज्ञ का अनादर भी नहीं करते हैं, तब तो हम जैनों को भी आप मीमांसक के प्रति समझाने में अत्यधिक आदर नहीं है क्योंकि जब आपने यह मान ही लिया कि सर्वज्ञ भगवान् संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को जानते हैं केवल धर्म-अधर्म को नहीं जानते हैं तब तो धर्म, अधर्म को प्रत्यक्ष करने की वात भी आप धीरे-धीरे सुलभता से मान ही लेंगे। इसलिये आप द्रविण प्राणायाम के समान सीधे-सीधे नाक न पकड़कर हाथ को घुमाकर भी नाक पकड़ कर ही प्राणायाम करने वालों के समान जिस तिस किसी प्रकार से सर्वज्ञ को मान ही रहे हैं ऐसी वात सिद्ध हो जाती है।

इति [1]वदन्तमिव स्तोतु:[1] [2]प्रज्ञातिशयचिकीर्षया[2] भगवन्तं प्रत्याहु:[3] ।—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ॥
अनुमेयत्व[4]तोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः । ५॥

सूक्ष्माः स्वभावविप्रकर्षिणोर्थाः परमाण्वादयः, अन्तरिताः कालविप्रकर्षिणो रामादयो, दूरास्तु देशविप्रकर्षिणो हिमवदादयस्ते कस्यचित्प्रत्यक्षा, अनुमेयत्वाद्यथाऽग्न्यादिरित्येवं सर्वज्ञस्य सम्यक् स्थितिः स्यात् । अथ मतमेतत्[5] ।

[सूक्ष्माद्यर्था येन प्रकारेण कस्यचित् प्रत्यक्षाः दृष्टाः तेनैव साध्यंतेऽन्यप्रकारेण वा ?]

"सूक्ष्मादयोर्था [6]यथाभूताः कस्यचित्प्रत्यक्षा दृष्टास्तथाभूता एव [7]तथानुमेयत्वेन साध्यन्तेऽन्यथा[8]भूता वा ? [3]यथाभूताश्चेत्सिद्धसाध्यता, सूक्ष्माणां सहस्रधा भिन्नकेशाग्रादीनामन्तरितानां च प्रपितामहादीनां दूरार्थानां च हिमवदादीनां [9]कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रसिद्धेः । अन्यथाभूतानां तु

उत्थानिका—इस प्रकार से कहते हुये के समान ही स्तवन करने वाले सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य की बुद्धि के अतिशय को प्रकट करने की इच्छा से ही श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

कारिकार्थ—सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं जैसे अग्नि आदि; इस प्रकार से सर्वज्ञ सिद्धि होती है।

सूक्ष्म—स्वभाव से परोक्ष परमाणु आदिक, अंतरित- काल से परोक्ष राम, रावण आदिक, दूरवर्ती—देश से परोक्ष हिमवन पर्वत, सुमेरु आदिक; ये किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि अनुमेय हैं जैसे अग्नि आदिक। इस अनुमान वाक्य से सर्वज्ञ की सम्यक् प्रकार से सिद्धि होती है।

[सूक्ष्मादि पदार्थ जैसे किसी के प्रत्यक्ष हैं वैसे ही अनुमेय हैं या अन्य रूप से ?]

मीमांसक—सूक्ष्मादि पदार्थ जिस प्रकार से किसी के प्रत्यक्ष देखे गये हैं उसी प्रकार से तुम उन्हें अनुमान ज्ञान का विषय सिद्ध करते हो या अन्यथा रूप से ?

यदि जिस प्रकार वे प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं उसी प्रकार ही वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं ऐसा मानते हो तब तो सिद्ध साध्यता ही है। सूक्ष्म जो केश का अग्रभाग जिसके हजार टुकड़े कर दिये हैं और अंतरित प्रपितामह अर्थात् पिता के पिता के पिता पड़दादा आदि एवं दूरवर्ती हिमवान् पर्वत आदि आधुनिक किसी न किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष हैं।

यदि दूसरा पक्ष लेते हो कि वे पदार्थ अन्य रूप से ही अनुमान ज्ञान के विषय हैं तो "अनुमेयत्वात्" यह हेतु अप्रयोजक ही है। जैसे पृथ्वी, पर्वत आदि को बुद्धिमान् कारणत्व सिद्ध करने में "सन्निवेश

---

१ सूत्रकारस्य । २ प्रतिज्ञातिशयेति पाठान्तरम् । ३ समन्तभद्राचार्याः । ४ अनुमातुं योग्यत्वात् । ५ मीमांसकस्य । ६ नियतदेशाद्याकाराः । ७ कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रकारेण । ८ अनियतदेशाद्याकाराः । ९ आधुनिकस्य ।

---

(1) मीमांसकमुद्दिश्य यथा । (2) मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि प्रतिज्ञाप्रबन्धं कर्तुं मिच्छया दि. प्र. । (3) तथाभूता इति पा. ।

कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसाधनेऽनुमेयत्वादित्यप्रयोजको[1] हेतुः क्ष्माधरादीनां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्वादिवत्[१] । धर्म्यसिद्धिश्च, [2]परमाण्वादीनामप्रसिद्धत्वात्[3]" इति तदयुक्तं, विवादाध्यासितानां सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन साध्यत्वादप्रसिद्धं साध्यमिति वचनात् । धर्म्मादयो हि कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन वादिप्रतिवादिनोर्विवादापन्नास्ते[4] एव कस्यचित्प्रत्यक्षा इति साधयितुं युक्ता न [5]पुनरन्ये[२] । न चैवं[३] धर्म्यसिद्धिः, [6]धर्म्यादीनामसर्वज्ञवादिनोपि याज्ञिकस्य[४] सिद्धत्वात् । [7]नन्वेवं भूधरादीनां धीमद्धेतुकतया विवादापन्नानां तथा साध्यत्वे कथमप्रयोजको हेतुः सन्निवेशविशिष्टत्वादिरिति चेत्स्वभावभेदात्[8] । 'यादृशमभि-

विशिष्टत्वादि" हेतु अप्रयोजक हैं अर्थात् भुवन, पर्वत आदि बुद्धिमत् निमित्तक हैं क्योंकि उनका सन्निवेश विशेष पाया जाता है। इस प्रकार से यहां 'सन्निवेश विशिष्टत्व' हेतु अप्रयोजक है क्योंकि बुद्धिमन्निमित्तकत्व के बिना भी रचना विशेष की सिद्धि होती है।

दूसरी बात यह है कि आपका 'सूक्ष्मादि' धर्मी भी असिद्ध है जबकि 'प्रसिद्धो धर्मी' सूत्रानुसार 'धर्मी' प्रसिद्ध ही होना चाहिये और परमाणु आदि धर्मी अप्रसिद्ध ही हैं।

जैन—आपका यह कथन भी ठीक नहीं है। "विवाद में आये हुये सूक्ष्मादि पदार्थ धर्मी हैं," "वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं" यह साध्य है "असिद्धं साध्यं" इस नियम के अनुसार साध्य अप्रसिद्ध ही होता है। अर्थात् "इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यं" इस सूत्रानुसार साध्य को असिद्ध ही होना चाहिये अन्यथा सिद्ध को साध्य की कोटि में रखकर सिद्ध करना पिष्टपेषण ही है।

धर्माधर्मादिक ही किसी न किसी के प्रत्यक्षत्व रूप से हैं इस प्रकार वादी और प्रतिवादी के विवाद में आये हुए हैं "वे धर्मादिक ही किसी के प्रत्यक्ष हैं" इस प्रकार इन्हें ही सिद्ध करना युक्त है न पुनः अन्य स्वर्गादिकों को। इस प्रकार से धर्मी की भी असिद्धि नहीं है। धर्म, अधर्म आदि धर्मी असर्वज्ञवादी मीमांसक, भाट्ट आदि के यहां भी सिद्ध ही हैं।

प्रश्न—इस प्रकार से पर्वत आदि पक्ष जो कि बुद्धिमद् हेतुक रूप साध्य से विवाद में पड़े हुये हैं उन्हें बुद्धिमत् कारणत्व सिद्ध करने में "सन्निवेश विशिष्टत्वादि" हेतु अप्रयोजक क्यों है ?

१ क्ष्माधरादयो बुद्धिमत्कारणकाः, सन्निवेशविशिष्टत्वादित्यत्रायं हेतुरप्रयोजको, बुद्धिमत्कारणत्वमन्तरेणापि सन्निवेशविशिष्टत्वसिद्धेः । २ स्वर्गादयः । ३ विवादापन्नानां साध्यत्वप्रकारेण । ४ भाट्टस्य । ५ स्वभावभेदं दर्शयति ।

(1) अकिंचित्करः । (2) अस्मदादिप्रत्यक्षाणां । (3) अनुमानकर्तुः सर्वज्ञवादिनः । (4) तत एव इति पा. दि. प्र. । (5) अविप्रतिपन्नाः । (6) धर्मादीनां इति पा. । स्वर्गदेवता । (7) अत्राह ईश्वर वादी योगादिः, दि. प्र. । अनुमेयत्वं साधनं प्रयोजकं यथा व्यवस्थापितं तथैव सन्निवेशविशिष्टत्वं साधनं दृष्टांतीकृतं प्रयोजकं भवत्विति मीमांसकस्य शंकामनूद्य निराकरोति । (8) अप्रयोजकं । मीमांसकमतमाश्रित्य स्याद्वादी ईश्वरवादिनं निराकृत्य पुनः स्वमतमाश्रित्य स्वहेतोः स्थापनं करोति हे मीमांसक ! यथा ईश्वरवादिनः संनिवेशविशिष्टत्वादिति हेतुः अभिनवभवनादिषु जीर्णप्रासादादिषु च धीमद्हेतुकत्वं साधयति न भूधरादिषु हेतोरिति स्वभावभेदो वर्तते तथास्माकम् अनुमेयत्वादिति हेतोः स्वभावभेदो न, दि. प्र. ।

नवभवनादिषु सन्निवेशविशिष्टत्वमक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकं धीमद्धेतुकत्वेन व्याप्तं प्रतिपन्नं ताहशमेव जीर्णप्रासादादिषूपलभ्यमानं धीमद्धेतुकत्वस्य प्रयोजकं स्यान्नान्याहशं भूधरादिषु प्रतीयमानमकृतबुद्ध्युत्पादकमिति स्वयं मीमांसकैरभिधानात् । नैवमनुमेयत्वं[1], तस्य स्वभावभेदाभावात् । [१] न हि साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणलिङ्गजनितज्ञान-[२]विषयत्वमनुमेयत्वमग्न्यादौ [३]धर्मादौ च लिङ्गिनि भिद्यते येन [४]किञ्चित्प्रयोज[2]कमपरम[५]-प्रयोजकमिति विभागोवतरेत् ।

[परोक्षवर्तिपदार्थान् ज्ञापयितुमनुमेयत्वहेतुरसिद्ध इति मान्यतायां प्रत्युत्तरं]

स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्ध[६]मित्यनुमानमुत्सारयति यावान्[3] कश्चिद्-

---

उत्तर—उसमें स्वभाव भेद होने से वह हेतु अप्रयोजक है। देखिये ! जिस प्रकार नये महल, मकान आदिकों में "रचना विशेष" हेतु है उनका कर्त्ता हमें प्रत्यक्ष नहीं है तो भी हमें उनमें कृतवुद्धि उत्पन्न होती है जो कि बुद्धिमत् हेतुक से व्याप्त है अर्थात् ऐसा ज्ञान होता है कि इस महल की रचना विशेप होने से इसका वनाने वाला कोई बुद्धिमान ही होना चहिये और उसी प्रकार से जीर्ण मकानआदिकों में भी ये बुद्धिमान के द्वारा वनाये गये हैं ऐसी बुद्धि होती है परन्तु पर्वत आदिकों में अन्य प्रकार की रचना की प्रतीति होने से कृतवुद्धि उत्पन्न नहीं हो ऐसा नहीं है; इस प्रकार स्वयं आप मीमांसकों ने कहा है। किन्तु हमारा "अनुमेयत्व हेतु" ऐसा नहीं है। उसमें स्वभाव भेद पाया जाता है। साध्य के साथ अविनाभाव रूप नियम का निश्चय है लक्षण जिसमें ऐसे लिंग (साधन) से उत्पन्न हुये अनुमान ज्ञान का विपय रूप ही अनुमेयत्व हेतु है और वह अग्नि आदि साध्य तथा धर्मादिक साध्य में भेद को प्राप्त नहीं होता है जिससे कि वह हेतु अग्नि आदि कतिपय साध्य में तो प्रयोजक हो और धर्मादिक कतिपय साध्य में अप्रयोजक हो, इस प्रकार विभाग वन सके। अर्थात् नहीं वन सकता है।

[परोक्षवर्ती पदार्थो का ज्ञान कराने के लिए अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस मान्यता का खन्डन]

स्वभाव से, काल से देश से परोक्षवर्ती पदार्थ के लिए अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस प्रकार कहते हुये बौद्ध एवं मीमांसक अपने अनुमान का खंडन ही कर लेते हैं।

"जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब क्षणिक हैं" इत्यादि अनुमान में साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति की असिद्धि होने से प्रकृत का उपसंहार भी नहीं वन सकता है अर्थात् स्वभाव, काल और देश से परोक्ष पदार्थोंमें अनुमेयत्व हेतुको असिद्ध स्वीकार करने पर "जितने भी पदार्थ हैं वे क्षणिक हैं" इत्यादि में व्याप्ति

---

१ स्वभावभेदाभावं दर्शयति । २ ज्ञानम्=अनुमानज्ञानम् । ३ पुण्यपापादौ । ४ अग्न्यादीनामनुमेयत्वम् । ५ धर्मादी-नामनुमेयत्वम् । ६ इति वदन् मीमांसको बौद्धश्च स्वानुमानमुत्सारयती (निवारयति) त्यर्थः ।

---

(1) सन्निवेशविशिष्टत्वप्रकारेण । सूक्ष्मांतरितदूरार्थेषु प्रयुक्तमनुमेयत्वं साधनं । अप्रयोजकं । (2) प्रयोजकं परम इति पा. दि. प्र. । (3) कर्मादिपर्यायः । अदृष्ट ।

भावः स सर्वः क्षणिक इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसंहा[1]रायोगादविप्र[2]कर्षिणा[1]मनुमितेरानर्थक्यात् । [3]सत्त्वादेरनित्यत्वादिना[4] व्याप्तिमिच्छतां[5] सिद्धमनुमेयत्वमनवय[6]वेनेति न [7]किञ्चिद्व्याहतं पश्यामः* । [8]स्यान्मतं "केचिदर्थाः प्रत्यक्षा, यथा घटादयः, केचिदनुमेया ये कदाचित्क्वचित् [9]प्रत्यक्षप्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गाः[10]; केचिदागममात्रगम्याः सर्वदा स्वभावादिविप्रकर्षिणो धर्मादयः, तेषां सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिगोचरत्वायोगात् । तदुक्तं—

"सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यत्वं [2]लप्स्यते[11] पुण्यपापयोः" इति ।

[3]ततो धर्मादीनामनुमेयत्वमसिद्धमुद्भावयन्नपि नानुमानमुत्सारयति[12], [13]तस्यानुमेयेर्थे-

---

घटित न होने पर "पदार्थ हैं इसलिये क्षणिक हैं" इस प्रकार से बौद्ध जन अपने प्रकृत हेतु का उपसंहार भी नहीं कर सकेंगे ।

पुनः हम लोगों के प्रत्यक्षभूत पदार्थों में अनुमान व्यर्थ ही ठहरेगा । इसलिये "सत्त्वादि" हेतुओं की "अनित्यत्व" आदि साध्य के साथ व्याप्ति को स्वीकार करते हुये बौद्धों के यहां अनुमेयत्व हेतु संपूर्ण रूप से सिद्ध हो ही जाता है इसमें हमें कुछ भी विरोध नहीं दिखता है ।*

सौगत, मीमांसक आदि—

कोई पदार्थ प्रत्यक्ष है जैसे घट आदि । कोई पदार्थ अनुमेय है जो किसी काल में कहीं पर प्रत्यक्ष से जाने गये अविनाभावी लिंग से जाने जाते हैं जैसे अग्नि आदि । कोई पदार्थ आगम मात्र से गम्य–जानने योग्य हैं जैसे– हमेशा ही स्वभाव से अत्यंत परोक्ष धर्म-अधर्म आदि । इन पदार्थों को सभी ज्ञाता के प्रत्यक्ष आदि के गोचर होने का अभाव है । कहा भी है :—

श्लोकार्थ—सभी जानने वाले (प्रमाता) प्रत्यक्षादि रूप से संम्पूर्ण पदार्थों को विषय नहीं कर सकते हैं क्योंकि पुण्य और पाप केवल आगम के द्वारा ही जाने जाते हैं इसलिये धर्मादिक में "अनुमेयत्व" हेतु असिद्ध है ।

इसप्रकार से कहते हुए भी हम मीमांसक अनुमान को दूर नहीं करते हैं क्योंकि वह अनुमान अनुमेय– अग्नि आदि पदार्थ में व्यवस्थित है ।

---

१ स्वभावदेशकालविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यङ्गीकारे यावान्कश्चिद्भाव इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ भावश्चायं तस्मात् क्षणिक इति प्रकृतोपसंहारायोगः । २ अस्मदादिप्रत्यक्षगोचराणाम् । ३ हेतोः । ४ क्षणिकत्वादिना सह । ५ बौद्धानाम् । ६ सामस्त्येन । ७ विरुद्धम् । ८ सौगतमीमांसकादीनाम् । ९ प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नं ज्ञातमविनाभाविलिङ्गं येषां ते । १० यथाग्न्यादयः । ११ प्राप्स्यते । १२ मीमांसकः । १३ अग्न्यादौ ।

---

(1) मुखादीनां । स्थूलसंनिहितवर्तमानानां घटादीनामनुमानं निरर्थकं प्रत्यक्षेयण प्रतीयमानत्वात् । दि. प्र. (2) लभ्यते दि. प्र. । अभिलप्यते । (3) त्रिप्रकारा एव अर्था यतः ।

व्यवस्थानात्'' इति, तदसत्, धर्मादीनामप्यनित्य[1]त्वादि[१]स्वभाव[2]तयानुमेयत्वोपपत्तेः ।

[धर्माधर्मादिपर्यायाः अनित्याः संति पर्यायत्वात् इति जैनाः कथयंति ।]

तथा हि । यावान्कश्चिद्भावः [3]पर्यायाख्यः स सर्वोऽनेकक्षणस्थायितया [२]क्षणिको यथा घटस्तथा च धर्मादिरिति मीमांसकैरपि कुतश्चित्[३] [4]पर्यायत्वादेरनित्यत्वेन[5] व्याप्तिः साधनीया, तदसिद्धौ प्रकृतेपि धर्मादौ [6]पर्यायश्च धर्मादिरित्युपसंहारायोगात् । कथं चायं[7] स्वभावादिविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमभिदधानः[४] सुखादीनामविप्रक[५]र्षिणा[8]मनुमितेरानर्थक्यं परिहरेत् ? [६]शश्वदविप्रकर्षिणा[9]मनुमितेरनिष्टेरदोष इति चेत् क्व पुनरियमनुमितिः [७]स्यात् ? कदाचिद-

---

जैनाचार्य— यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि धर्मादिक भी पर्याय रूप अनित्य स्वभाव वाले हैं इसलिये अनुमेयपना उनमें घटित हो जाता है ।

[धर्म अधर्म आदि पर्यायें अनित्य हैं क्योंकि वे पर्याय हैं इस प्रकार से जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

पर्याय नामक जितने भी पदार्थ हैं वे सब अनेक क्षण स्थायी रूप से क्षणिक हैं जैसे घट । उसी प्रकार से धर्मादिक भी हैं । इस प्रकार मीमांसकों को भी किसी न किसी प्रमाण से पर्यायत्व आदि की अनित्य रूप से व्याप्ति सिद्ध करना चाहिये । ऐसा न मानने से प्रकृत धर्मादि में भी "और धर्मादि पर्याय हैं" इस प्रकार से उपसंहार नहीं हो सकेगा ।

तथा स्वभावादि से दूरवर्ती- परोक्ष में अनुमेयत्व हेतु को असिद्ध कहते हुए आप मीमांसक सुखादि को जो कि; अविप्रकर्षी- मानस प्रत्यक्ष हैं परोक्ष नहीं हैं उसमें भी अनुमान की व्यर्थता का परिहार कैसे करेंगे ? अर्थात् उसमें भी अनुमान का कोई उपयोग नहीं होगा ।

मीमांसक— नित्य ही प्रत्यक्षभूत पदार्थों के सिद्ध करने में हमें अनुमान इष्ट ही नहीं है इसलिये हमारे लिये यह कोई दोष नहीं है ।

जैन—पुनः यह अनुमान ज्ञान कहां प्रवृत्त होगा ? अर्थात् परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व का अभाव है और अविप्रकर्षी (प्रत्यक्षभूत) पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु अनिष्ट है तो फिर अनुमान का प्रयोग कहां किया जावेगा ?

---

१ पर्यायापेक्षया । २ पर्यायत्वादिति हेतुरध्येयः । ३ प्रमाणात् । ४ मीमांसकः । ५ मानसप्रत्यक्षत्वात् । ६ शश्वदित्यादिप्रकारेण परिहराम्यहं मीमांसकः । ७ विप्रकर्षिणामनुमेयत्वाभावादविप्रकर्षिणामनुमेयत्वानिष्टेरित्यर्थः ।

---

(1) नित्यत्वात् । (2) स्वभावताया इति पा. । (3) कर्म । हेतुर्गभितं विशेषणं । (4) धूमत्वादेः पर्यायोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात् हेतुसमर्थनं । (5) सह । (6) उपसंहारप्रक्रियां दर्शयति । (7) मीमांसकः (8) प्रत्यक्षाणां । (9) पूर्वं महानसादौ प्रवर्तमानानां पावकादीनां ।

विप्रकर्षिणामन्यदा [2]देशादिविप्रकृष्टानां[1] प्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गानामनुमितिरिति चेत् कथमेवं [2]शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत [3]इदं शोभेत ? "ज्ञाते [3]त्वर्थेनुमानादवगच्छति[४] बुद्धिम्" इति । अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेरदोष[4] इति चेद् धर्मादिप्रतिपत्तिरपि तत [5]एवास्तु । यथैव हि बहिरर्थपरिच्छित्त्यन्यथानुपपत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तिस्तथा श्रेयः प्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्त्या [6]धर्माधर्मादिप्रतिपत्तिरपि[६] युक्ता भवितुम् । श्रेयःप्रत्यवायादेरन्यथा[७]प्युपपत्तेः

मीमांसक—कदाचित् प्रत्यक्षगोचर पदार्थों में एवं कभी-कभी देशादि से परोक्ष पदार्थों (अग्नि) में अनुमान का प्रयोग होता है, जिनका कि अविनाभावी हेतु पाया जाता है।

जैन—पुनः हमेशा ही परोक्षभूत बुद्धि को सिद्ध करने में अनुमान का प्रयोग कैसे हो सकेगा जिससे तुमने जो कहा है कि "पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर अनुमान से बुद्धि को जानता है" यह कथन शोभित हो सके ?

मीमांसक—हमारे यहां अर्थापत्ति प्रमाण से बुद्धि का ज्ञान हो जाता है अतः कोई दोष नहीं है।

जैन—पुनः धर्मादिकों का ज्ञान भी उसी अर्थापत्ति प्रमाण से हो जावे क्या बाधा है ? जिस प्रकार "बाह्य पदार्थों के जानने की अन्यथानुपपत्ति होने से बुद्धि का ज्ञान होता है उसी प्रकार से सुख, दुःख की अन्यथानुपपत्ति होने से धर्म-अधर्म का ज्ञान भी हो सकता है अर्थात् मुझ में बुद्धि है क्योंकि बाह्य पदार्थों का ज्ञान पाया जाता है तथैव धर्म और अधर्म भी हैं क्योंकि उनका फल सुख और दुःख देखा जाता है।

मीमांसक—सुख, दुःख आदि की अन्यथा भी उपपत्ति पायी जाती है। इसलिये धर्म अधर्म में अर्थापत्ति काम नहीं कर सकती। अर्थात् धर्म करते हुये किसी को दुःखी एवं पाप करते हुये को भी सुखी देखा जाता है।

जैन—सुख-दुःखादि की उत्पत्ति में दृष्ट (प्रत्यक्ष) कारणों में व्यभिचार पाया जा सकता है; अतएव ही अदृष्ट रूप पुण्य-पाप कारणों का ज्ञान होता है। जैसे रूपादिक के ज्ञान में इंद्रियों की शक्ति का अनुमान लगाया जाता है अर्थात् मुझमें विशेष इंद्रिय शक्ति विद्यमान है क्योंकि विशिष्ट रूपादि

---

१ प्रत्यक्षगोचराणाम् । २ पावकादीनाम् । ३ वक्ष्यमाणम् । ४ मीमांसकः । ५ मयि बुद्धिरस्ति, घटादिबहिरर्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः । ६ धर्माधर्मौ स्तः, श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्तेः । श्रेयः सुखम् । प्रत्यवायो दुःखम् । ७ धर्माधर्मयोरभावेपि स्त्र्यादिदर्शनात् ।

---

(1) पर्वतादौ प्रवर्तमानानां पावकादीनां (2) परोक्षं जैमिनेर्ज्ञानमितिवचनात् । (3) ज्ञाततान्यथानुपपत्तेर्मयि ज्ञानमस्ति (4) कथमेवं शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत इदं शोभेत । ज्ञातेत्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिमिति अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेः (5) अर्थापत्तेः सकाशात् । केवलागम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोरिति व्याहन्यते प्रकृतमनुमेयत्वसाधनं च सिद्धं भवति । न चार्थापत्तिरनुमानाद् अन्यैवानुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणादिति वक्ष्यमाणत्वात् । दि. प्र. । (6) आदिशब्देन स्वर्गो देवता च गृह्यते । तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि । न स्वर्गदेवतापूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ।। इति मीमांसकेनोक्तत्वात् । दि. प्र. ।

[1]क्षीणार्थापत्तिरिति[2] चेन्न, [3]तदुत्पत्तौ [4]दृष्टकारणव्यभि[१]चारादहष्टकारणप्रतिपत्तेः, रूपादिज्ञानादिन्द्रियशक्ति[5]प्रतिपत्तिवत्[२] । न [३]चार्थापत्तिरनुमानादन्यैव, अनुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणात् । ततो बुद्धयादेः शश्वद्वि[४]प्रकर्षिणोनुमेयत्वसिद्धौ धर्मादेरपि [५]तत्सिद्धिः । ये तु ताथागतादयः[६] [७]सत्त्वकृतकत्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छन्ति तेषां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्व्याहतमसर्वज्ञवादिनां सर्वज्ञवादिनां[८] च, स्वभावादिविप्रकृष्टेष्वर्थेष्वनुमेयत्वव्यवस्थितेः । एतेनात्यन्तपरोक्षे[6]ष्वर्थेष्वनुमेयत्वाभावाद्भा[7]गासिद्धमनुमेयत्वमित्येतदपि प्रत्याख्यातं, तेषामपि कथञ्चिदनेकान्तात्मक[९]त्वादिस्वभावत[8]यानुमेयत्वसिद्धेः ।

ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है ।

दूसरी बात यह है कि अर्थापत्ति अनुमान से पृथक् कोई चीज नहीं है अनुमान का ही आपने अर्थापत्ति यह नामकरण कर दिया है । इसलिये नित्य ही परोक्ष रूप बुद्धि आदि को "अनुमेयपना" सिद्ध हो जाने पर धर्मादि को भी अनुमेयपने की सिद्धि घटित हो जाती है । और जो बौद्ध, नैयायिक आदि सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओं की अनित्यत्व आदि साध्य के साथ व्याप्ति को स्वीकार करते हैं यथा जो सत् है वह क्षणिक है, ऐसा बौद्धों का कथन है, एवं जो कृतक है वह अनित्य है ऐसा नैयायिक मानते हैं । उनके यहां संपूर्ण रूप से अनुमेयत्व हेतु सिद्ध ही है । इस प्रकार से असर्वज्ञवादी मीमांसक आदि के यहां और सर्वज्ञवादी जैनियों के यहां इस विषय में कुछ भी विरोध नहीं है क्योंकि स्वभावादि से परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु व्यवस्थित है ।

इस विवेचन से "अत्यंत परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु का अभाव होने से यह हेतु भागासिद्ध है ।" ऐसा कहने वालों का भी खंडन हुआ समझना चाहिये क्योंकि अत्यन्त परोक्ष पदार्थ भी कथंचित् अनेकांतात्मक आदि स्वभाव वाले होने से अनुमेय रूप सिद्ध ही हैं । यथा "सभी वस्तुयें अनेकांतात्मक हैं क्योंकि सत् रूप है" इत्यादि ।

१ स्त्र्यादिभिः सौख्यमेवेति न, असुखस्यापि ततः सम्भवादिति व्यभिचारः । २ मयि विशिष्टेन्द्रियशक्तिरस्ति, विशिष्टरूपादिज्ञानान्यथानुपपत्तेः । ३ किञ्च । ४ परोक्षस्य । ५ अनुमेयत्वसिद्धिः । ६ आदिशब्देन नैयायिकादयः । ७ यत्सत्तत् क्षणिकमिति बौद्धाः । यत्कृतकं तदनित्यमिति नैयायिकाः । ८ जैनानाम् । ९ सर्वमनेकान्तात्मकं, सत्त्वात् ।

(1) साध्यसिद्धि प्रत्युपक्षीणशक्तिका अशक्ता इत्यर्थः (2) मीमांसको वदति हे स्याद्वादिन् । अर्थापत्तिर्निष्फला जाता-कस्माद् हेतोः मांगल्यं विघ्नप्रमुखस्य अन्यथा धर्माधर्मादि विनापि उद्यमादिनापि उत्पत्तिर्घटते । दि. प्र. (3) श्रेयः प्रत्यवायोः सिद्धौ दृष्टकारणस्य उद्यमादेः व्यभिचारो निष्फलत्वं च दृश्यते । अतः अदृष्टस्य धर्माधर्मादेर्निश्चितेः । दि. प्र. । (4)कस्यचित् स्वर्गाद्यभावेऽपि श्रेयः प्रत्यवायादेरुत्पत्तिदर्शनादिति भावः । (5) गोलकलक्षणदृष्टकारणव्यभिचाराच्छक्तिरूपादृष्टकारण प्रतिपत्तिः । (6) स्वर्गादिलक्षणेषु । (7) पक्षैकदेशे वर्तमानो हेतुर्भागासिद्धः । (8) कृत्वा ।

[अनुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वमित्यपि अर्थो भवितुमर्हति]

[1]अथवानुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वं हेतुः, मतेरनु पश्चान्मीयमानत्वाद्[2], अनुमेयाः[3] सूक्ष्मादयोर्था इति व्याख्यानान्मतिपूर्वज्ञानस्य श्रुतत्वात्, "श्रुतं मतिपूर्वम्" इति वचनात्। न चैतदसिद्धं [4]प्रतिवादिनोपि [5]सर्वस्य [6]श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वोपगमात्। [7]चोदना हि भूतं

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि अत्यंत परोक्ष परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को अनुमान ज्ञान का विषय मानना ठीक नहीं है। इस पर जैनाचार्यों ने कहा कि पुनः आप मीमांसक भी तो यह कहते हैं कि कोई मनुष्य पदार्थों को जान चुका है तव हम अनुमान से यह निर्णय कर लेते हैं कि इसमें वुद्धि अवश्य है अन्यथा यह पदार्थों को कैसे जानता ? इस प्रकार से अत्यंत परोक्ष वुद्धि का ज्ञान आप अनुमान से मान लेते हैं। कहिये ? क्या आपकी हमारी या किसी की बुद्धि किसी को प्रत्यक्ष हो रही है ? तव मीमांसक ने कहा कि हम अर्थापत्ति से वुद्धि को जानते हैं क्योंकि वुद्धि के विना वाह्य पदार्थों का ज्ञान होना असंभव है तव आचार्य ने कहा कि भाई ! ऐसे ही पुण्य पाप के विना सुख-दुःख का होना भी असंभव है। अतः हम सुख दुःख की अन्यथानुपपत्ति से पुण्य, पाप का ज्ञान अर्थापत्ति से ही कर लेंगे क्या वाधा है ? तथा जैनाचार्यों ने अर्थापत्ति को अनुमान में ही सम्मिलित किया है। मतलव मीमांसक का कहना है कि परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थ अत्यन्त परोक्ष हैं उनको जानने में अनुमान ज्ञान का प्रयोग नहीं होता है।

इस पर जैनाचार्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि परोक्ष भी वुद्धि को अनुमान से जानने का कथन आपके यहां ही मिलता है। यदि आप अत्यन्त परोक्ष परमाणु आदि को अनुमान ज्ञान का विषय न मानो पुनः सुख आदि पर्यायों को मानस प्रत्यक्ष मानकर उनके विषय में भी अनुमान ज्ञान कैसे हो सकेगा ? क्योंकि जो वस्तुएं प्रत्यक्ष हैं उनमें अनुमान ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? फिर तो अनुमान का अभाव ही हो जावेगा। यदि आप अनुमान ज्ञान का अभाव करना नहीं चाहते हो तव तो सूक्ष्मादि पदार्थों को अनुमेय रूप मान ही लीजिये कोई वाधा नहीं है।

[अनुमेयत्व का "श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व" ऐसा अर्थ भी संभव है।]

अनुमेयत्व हेतु श्रुतज्ञान के द्वारा अधिगम्य (जानने योग्य) है क्योंकि मतिज्ञान के 'अनु'= पश्चात् जानने योग्य है। "सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय अर्थात् श्रुतज्ञान के विषय भूत हैं" इस प्रकार का व्याख्यान भी सुघटित हो जाता है क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। "श्रुतं मतिपूर्वं" ऐसा आगम का वचन है। हमारा यह कथन असिद्ध भी नहीं है क्योंकि प्रतिवादी मीमांसक भी संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को श्रुतज्ञान (वेद) का विषय स्वीकार करते हैं।

---

१ प्रकारान्तरेणानुमेयत्वं व्याख्याति। २ श्रुतज्ञानं मतिपूर्वकमेव भवति। ३ श्रुतज्ञानविषयाः। ४ मीमांसकस्य। ५ सूक्ष्माद्यर्थस्य। ६ श्रुतं वेदः। ७ वेदवाक्यम्।

भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं [1]व्यवहितं [2]विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलमिति[3] स्वयमभिधानात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके ।

"सूक्ष्माद्यर्थोपि चाध्यक्षः [१]कस्यचित्सकलः स्फुटम्[4] । [5]श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपादिदेशवत् [२] ।१।
न हेतोः [6]सर्वथै[३]कान्तैरनेकान्तः[४] कथञ्चन । [५]श्रुतज्ञानाभिगम्यत्वात्तेषां[६] दृष्टेष्टबाधनात्[७] ।२।
[८]स्थानत्रया[९]विसंवादि[7] श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते । [१०]तेनाधिगम्यमानत्वं[8] सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ।३।"

इति । ततोनुमेयाः सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः सिद्धा एव ।

"भूत, वर्तमान, भविष्यत् सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट (परोक्ष) आदि सभी पदार्थों का ज्ञान कराने में वेदवाक्य ही समर्थ है" इस प्रकार स्वयं मीमांसकों ने कथन किया है। उसी को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा है—

श्लोकार्थ—सकल सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य हैं। जैसे नदी, द्वीप, देश आदि ॥१॥

श्लोकार्थ—एकांत से सर्वथा नित्य रूप अथवा सर्वथा अनित्य रूप से स्वीकार किये गये पदार्थों के साथ हेतु में अनेकांतिक दोष भी नहीं है क्योंकि सभी पदार्थ कथंचित् श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य हैं। सर्वथा एकांत रूप से नित्य या अनित्य रूप जो पदार्थ हैं, उन पदार्थों को जानने में प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से बाधा पायी जाती है ॥२॥

स्वभाव से अंतरित (परोक्ष), देश से परोक्ष, काल से परोक्ष रूप ये तीन स्थान हैं। इन तीनों स्थानों में जो अविसंवादी है वही श्रुतज्ञान है। एवं संपूर्ण वस्तुएं उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य सिद्ध हैं तथा इन तीनों स्थानों के अविसंवादी होने का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि जो जिसको जाने, उसी में प्रवृत्ति करे, और उसी को प्राप्त करे, ऐसे ज्ञान को भी स्थानत्रय अविसंवादी ज्ञान कहते हैं।" इसलिये श्रुतज्ञान के विषयभूत अनुमेय रूप सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध ही हैं ॥३॥

---

१ सर्वज्ञस्य। २ सूक्ष्माद्यर्थस्य। ३ नित्यत्वेनानित्यत्वेनैव वा एकान्तरूपेण स्वीकृतैरर्थैः। ४ अनैकान्तिकत्वं दोषः। ५ श्रुतं श्रुतज्ञानाभासः ६ सर्वथैकान्तानामर्थानाम्। ७ प्रत्यक्षानुमानबाधनात्। ८ सर्वत्र वस्तुनि श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वाभावाद् भागासिद्धोयमित्याशङ्कायामाह स्थानेति। ९ स्वभावान्तरितं, देशान्तरितं, कालान्तरितं चेति स्थानत्रयम्। १० ततश्च।

---

(1) अन्तरितं। (2) देशादिदूरं। (3) पुरुषान्। (4) यथा भवति तथा। (5) श्रुतज्ञानाभगम्यत्वात् इति पा.। तस्य श्रुतज्ञानाभासः इत्यर्थो जायते। (6) अर्थैः (7) प्रत्यक्षानुमेयात् परोक्षेषु। (8) ज्ञायमानत्वं। एतत् श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वं हेतुः मीमांसकस्यापि असिद्धो नगस्ति।

[सर्वेप्यर्थाः अनुमेयाः स्युः प्रत्यक्षाश्च न स्युः का हानिः ?]

[1]तेऽनुमेया, न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च [1]स्युः, किं व्याहन्यते ? [2]इति समानमग्न्यादीनाम्*। [2]अग्न्यादयोनुमेयाः स्युः कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च न स्युरिति । **[3]तथा [4]चानुमानोच्छेदः स्यात्*,** सर्वानुमानेषूपालम्भस्य[3] समानत्वात् । शक्यं हि वक्तुं धूमश्च क्वचित्स्यादग्निश्च न स्यादिति ।

[प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनं चार्वाकमनुमानप्रमाणं स्वीकारयंति जैनाचार्याः]

[4]तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्य[5]विज्ञानव्यक्तिभिरध्यक्षं किं[6] [7]लक्षयेत् प्रमाणतया [8]परमप्रमाणतयेति[9] न [10]किञ्चिदेतत्[11] तथा नैतत्तया वा [12]अयमभ्युपगन्तुमर्हति*। प्रत्यक्षं प्रमाणमविसंवादित्वादनुमानादिकमप्रमाणं, विसंवादित्वादिति [13]लक्षयतोनुमानस्य बलाद्व्यवस्थितेर्न

[सभी सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय ही रहें प्रत्यक्षज्ञान के विषय न होवें क्या बाधा है ?]

मीमांसक— **श्रुतज्ञान (वेद) से अधिगम्य—जानने योग्य अनुमेय पदार्थ किसी (सर्वज्ञ) के प्रत्यक्ष न होवें, अनुमेय मात्र ही रहें तो क्या बाधा आती है ?***

जैन— **इस प्रकार से तो हम अग्नि आदिक अनुमेय पदार्थ के लिए भी ऐसा ही कह सकेंगे*** कि "जो अग्नि साध्य है वह धूमत्वादि हेतु से अनुमेय होवे और किसी के प्रत्यक्ष न होवे पुनः **इस प्रकार से तो अनुमान का उच्छेद (अभाव) हो जायेगा*।** यदि कहा जाय कि अनुमेयों के होने में संदेह रहता है है तो यह उपालंभ सभी अनुमानों में समान है । अर्थात् सभी अनुमानों में इस प्रकार की उलाहना दी जा सकेगी और ऐसा भी कहना शक्य हो जावेगा कि कहीं पर धूम हो जावे पर अग्नि नहीं होवे, किन्तु ऐसी मान्यता ठीक नहीं है ।

[अब अनुमान के अभाव को स्वीकार करने वाले चार्वाक को जैनाचार्य समझाते हैं ।]

इस प्रकार से अनुमान के उच्छेद को स्वीकार करने पर अस्वसंवेदी विज्ञान व्यक्तियों के द्वारा "प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमान प्रमाण नहीं है" इस प्रकार से आप चार्वाक कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे अर्थात् न तो आप प्रत्यक्ष को प्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे और न अनुमान को अप्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे इसलिए आप चार्वाक को अनुमान प्रमाण मानना योग्य है ।*

१ मीमांसकः शङ्कते ।—अनुमेया अपि ते न कस्यचित्प्रत्यक्षाः संभवन्ति । २ शङ्कां परिहरन्नाहुः स्याद्वादिनः ।—इति (पूर्वोक्तम्), अग्न्यादयो धूमवत्त्वादिनानुमेयाः सन्तु, न च प्रत्यक्षाः कस्यचिदिति समानमुभयत्र । न च तथेष्टं मीमांसकस्य ततो नोक्तशङ्कावकाश इत्यर्थः । ३ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वस्य । ४ अनुमानोच्छेदाङ्गीकारे (चार्वाकमाहुः) । ५ विज्ञानमस्वसंवेद्यं भूतपरिणामत्वात् पित्रादिवत् । ६ कर्मतापन्नम् । ७ (मीमांसकः) नैव लक्षयेत् । ८ अनुमानम् । ९ चार्वाको लोकान् प्रति अध्यक्षं किं दर्शयेत् (कथं प्रतीतिं कारयेत्) ? १० अप्रमाणतया । ११ अनुमानम् । १२ चार्वाको । १३ चार्वाकस्य ।

(1) इति । (2) कथं । (3) समानत्वे च (4) किं च ।

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व्यवतिष्ठते । ततोनुमानमिच्छता याज्ञिकेनेव [१]लौकायतिकेनापि प्रसिद्धाविनाभावनियमनिश्चयलक्षणादनुमेयत्वहेतोः सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसिद्धिरेषितव्या ।

[मीमांसको ब्रूते न कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थान् प्रत्यक्षीकर्तुं क्षमः प्रमेयत्वादित्यादिस्तस्य निराकरणं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

[२]स्यान्मतं, बाधितविषयोयं हेतुरनुमानेन पक्षस्य बाधनात् । तथा हि । न [1]कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारी, [2]प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वादस्मदादिवत् । न चेदं [3]साधनमसिद्धं व्यभिचारि वा, प्रत्यक्षाद्यविसंवादित्वात्[४] । तदुक्तं

" [३]प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य[५] तु । सद्भाववारणे शक्तं [4]को नु तं[६] कल्पयिष्यति ।"

चार्वाक—"प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है क्योंकि वह अविसंवादी है। अनुमानादि अप्रमाण हैं क्योंकि वे विसंवादी हैं।"

जैन—इस प्रकार से कहते हुए आप चार्वाक के यहां अनुमान तो वलपूर्वक आ ही गया है इसलिए "प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है" ऐसा कथन व्यवस्थित नहीं होता है। (अर्थात् "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" यह प्रतिज्ञावाक्य है "क्योंकि अविसंवादी है" यह हेतुवाक्य है एवं अनुमान के ही प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव पाये जाते हैं इस प्रकार से प्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण को सिद्ध करते हुए अनुमान वाक्य के द्वारा) अनुमान प्रमाण को बेमालूम आप स्वीकार कर ही लेते हैं इसलिये अनुमान को स्वीकार करने वाले याज्ञिक(भाट्ट) के समान चार्वाक को भी "प्रसिद्ध अविनाभाव रूप नियम निश्चय लक्षण वाले अनुमेयत्व हेतु से सूक्ष्मादि पदार्थों को किसी के प्रत्यक्षता सिद्ध है" इस प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिये।

[मीमांसक कहता है कि कोई भी व्यक्ति सूक्ष्मादि पदार्थों को साक्षात् करने वाला नहीं है क्योंकि प्रमेय है इत्यादि। जैनाचार्य इस कथन का निराकरण करते हैं।]

मीमांसक—यह हेतु बाधित विषय वाला है क्योंकि आपके पक्ष में अनुमान से बाधा आती है। तथाहि— "कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला नहीं है क्योंकि वह प्रमेयरूप है, अस्तित्व रूप है अथवा वस्तु रूप है जैसे हम और आप लोग सूक्ष्मादि पदार्थों के साक्षात् करने वाले नहीं हैं।" हमारा यह हेतु प्रत्यक्षादि से अविसंवादी है इसलिए असिद्ध या व्यभिचारी भी नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से सूक्ष्मादि पदार्थ को साक्षात् करने वाली कोई भी आत्मा सिद्ध नहीं होती है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—प्रत्यक्ष आदि से अविसंवादी प्रमेयत्व आदि हेतु जिस सर्वज्ञ के अस्तित्व को निषेध करने में समर्थ पाये जाते हैं फिर कौन ऐसा विचारशील व्यक्ति है जो कि सर्वज्ञ के सद्भाव की कल्पना

---

१ चार्वाकेन। २ मीमांसकस्य। ३ प्रागुक्तम्। ४ यतो न साधयति सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणं प्रत्यक्षम्। ५ सर्वज्ञस्य। ६ सर्वज्ञसद्भावम्।

---

(1) मीमांसकः। दि. प्र. (2) पदार्थत्वात्। (3) सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणं पुरुषं न साधयति प्रत्यक्षादिनः। (4) जैनादिः

इति । तदप्यसम्यक्, तत[१] एव कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धेः । सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वाद्वा स्फटिकादिवत् । [२]अनुमेयेना[1]त्यन्तपरोक्षेण[३] चार्थेन व्यभिचार इति चेन्न, [४]तस्य पक्षीकरणात्[2] । [3]**तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र[५] हेतु-लक्षणं[६] पुष्णाति [७]तं कथं [८]चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा*** [4]सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्का-रिण[5]स्तस्यैव[६] सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वादस्तित्वसिद्धेरबाधितविषयत्वस्यापि[6] [१०]परोपगत-हेतुलक्षणस्य [7]प्रकृतहेतोः पोषणात्[8] ।

करेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं करेगा ।

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्हीं प्रमेयत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि हेतुओं द्वारा ही किसी न किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारित्व सिद्ध हो जाता है । तथाहि "सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे प्रमेय रूप हैं, अस्तित्व रूप हैं अथवा वस्तुत्व रूप हैं । जैसे-स्फटिक आदि पदार्थ ।"

शंका—अनुमान मात्र से जानने योग्य और आगम से जानने योग्य अत्यन्त परोक्ष पदार्थों के साथ व्यभिचारी दोष आता है ।

समाधान—नहीं आता है क्योंकि इन सभी अनुमानगम्य और अत्यन्त परोक्ष आगम गम्य पदार्थों को भी हमने पक्ष में ले लिया है अतः विपक्ष के न होने से व्यभिचार दोष को अवकाश ही नहीं है कारण कि अनुमान गम्य, अनुमेय एवं आगम गम्य अत्यन्त परोक्ष पदार्थ भी प्रमेय हैं, अस्तिरूप तथा वस्तुरूप हैं यह बात निश्चित है ।

जब इस प्रकार से प्रमेयत्व सत्त्व आदि हेतु सर्वज्ञ को सिद्ध करने में 'सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें' ऐसे हेतु के लक्षण को पुष्ट करते हैं तब कोई भी बुद्धिमान चेतन आत्मा इन्हीं हेतुओं द्वारा उस सर्वज्ञ का निषेध करने में या उसके सद्भाव में संशय करने के लिये समर्थ कैसे हो सकता है ?* अर्थात् इन्हीं हेतुओं से तो सर्वज्ञ का अस्तित्त्व सिद्ध हो रहा है पुनः इन्हीं हेतुओं से

---

१ प्रमेयत्वादितः । २ अनुमानमात्रगम्येन । ३ आगमगम्येन । ४ अनुमेयस्यात्यन्तपरोक्षस्य च । ५ सर्वज्ञे साध्ये । ६ सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वस्य लक्षणं स्वरूपम् । अथवानुमेयत्वस्य लक्षणमबाधितविषयत्वम् । ७ सर्वज्ञम् । ८ मतिमान् । ९ पुरुषस्य प्रतिषेधकस्य संशयितस्य वा । १० परेण मीमांसकेनाभ्युपगतः प्रमेयत्वादिहेतुः सर्वज्ञास्तित्वे अबाधितविषयः सन् सुनिश्चितासंभवदित्यादिप्रकृतहेतुं पुष्णाति ।

---

(1) मीमांसक आह हे स्याद्वादिन् । प्रमेयत्वादिति हेतोः अनुमेयेनात्यंत परोक्षेणार्थेन कृत्वा व्यभिचारो दृश्यते इति चेन्न तस्यानुमेयस्यात्यंतपरोक्षार्थस्य पक्षीकरणात् । सूक्ष्माद्यर्था इति पक्षः कृतस्तत्रैवांतर्भावात् अतोहेतुर्व्यभिचारी न । दि. प्र. । (2) कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धिः प्रमेयत्वसत्त्वादेर्यतः (3) उक्तप्रकारेण (4) नुः । (5) प्रमेयत्वादेः साधन-स्याबाधकत्वप्रकारेण । (6) सूक्ष्माद्यर्थे पक्षे । (7) अनुमेयत्व । (8) सद्भावसाधनात् ।

[सर्वज्ञास्तित्वे साध्ये हेतुः सर्वज्ञभावधर्मोऽभावधर्म उभयधर्मो वेति प्रश्ने विचारः क्रियते जैनाचार्यैः]

'ननु च सर्वज्ञस्यास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं हेतुः [1]सर्वज्ञभावधर्मश्चेदसिद्धः[२] । को हि[2] नाम सर्वज्ञभावधर्मं हेतुमिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत् । सर्वज्ञाभावधर्मश्चेद्विरुद्धः, [३]ततः सर्वज्ञनास्तित्वस्यैव सिद्धेः । सर्वज्ञभावाभावधर्मश्चेद्व्यभिचारी, सपक्षविपक्षयोर्वृत्तेः ? तदुक्तम्

कोई भी महानुभाव सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकते हैं और न सर्वज्ञ के अस्तित्व में संशय ही कर सकते हैं।

सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व हेतु से सूक्ष्मादि अर्थों को साक्षात् करने वाले उसी सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि होती है। अतः मीमांसक द्वारा स्वीकार किये गये और अबाधित विषय वाले भी प्रमेयत्वादि हेतु का प्रकृत—अनुमेयत्व हेतु से पोषण ही होता है। अर्थात् उसके सर्वज्ञ निषेधक हेतु हमारे सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले "अनुमेयत्व" हेतु का पोषण ही कर देते हैं न कि खंडन। तात्पर्य यह है कि मीमांसक ने सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रमेयत्व आदि हेतु दिये हैं, किन्तु इन हेतुओं में भी "सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व लक्षण पाया जाता है अतः ये हेतु हमारे मूल कारिका के 'अनुमेयत्व हेतु' को ही पुष्ट कर देते हैं जिससे इन प्रमेयत्व आदि हेतुओं से भी सर्व के अस्तित्व की ही सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—मीमांसक ने 'प्रमेयत्व, सत्त्व और वस्तुत्व' ऐसे तीन हेतुओं के द्वारा सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु जैनाचार्य ने इन्हीं तीन हेतुओं से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है। कोई न कोई महापुरुष संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने वाला अवश्य है क्योंकि प्रमाण-ज्ञान का विषय है। भले ही आज यहां भरत क्षेत्र में सर्वज्ञ उपलब्ध न हों फिर भी विदेह आदि क्षेत्रों में एवं चतुर्थ काल में उनकी उपलब्धि होती है अतः वह सर्वज्ञ अस्तिरूप भी है तथैव वस्तुभूत भी है। इसलिए ये तीनों हेतु सर्वज्ञ के सद्भाव को ही सिद्ध कर देते हैं।

[सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने में आपका हेतु सर्वज्ञ के भाव का धर्म है या अभाव का अथवा उभय का ऐसे प्रश्न होने पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं।]

मीमांसक—यदि आप जैन सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने में सुनिश्चितासंभवद् रूप से बाधक प्रमाणत्व हेतु को सर्वज्ञ के अस्तित्व का धर्म स्वीकार करते हैं तो आपका यह हेतु असिद्ध है जैसे कि आपका सर्वज्ञ रूप साध्य असिद्ध है क्योंकि ऐसा कौन व्यक्ति है जो सर्वज्ञ के सद्भाव धर्म को हेतु स्वीकार

१ मीमांसकः। २ सर्वज्ञवत्। ३ सर्वज्ञाभावधर्मात्।

(1) यतः। ताथः सौगतमतमाश्रित्य मीमांसकः पृच्छति सर्वज्ञास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वाद् इति। हेतुः। सर्वज्ञभावधर्मः। उत सर्वज्ञाभावधर्मः। उभयधर्मः इति प्रश्नत्रयं। दि. प्र.।

(2) व्यतिरेकेण प्रावर्तनं भावयति।

"असिद्धो भावधर्मश्चेद्व्यभिचार्युभयाश्रयः[1] । विरुद्धो धर्मोऽभावस्य[2] स [3]सत्तां साधयेत् कथम्" इति ।

[१]धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वात्कथं सकलविदि[4] सत्त्वसिद्धिरिति ब्रुवन्नपि देवानां [२]प्रियस्तद्धर्मिस्वभावं [३] न लक्षयति * । [४]स हि तावदेवं [५] सौगतमतमाश्रित्य ब्रुवाणः प्रष्टव्यः [६] । **शब्दानित्यत्वसाधनेपि कृतकत्वादावयं[७] विकल्पः किं न स्यादिति** * । शक्यं हि वक्तुं, [5]कृतकत्वादिहेतुर्यद्यनित्यशब्दधर्मस्तदाऽसिद्धः[6] । को नामानित्यशब्दधर्मं[7] हेतुमिच्छन्ननित्यशब्दमेव नेच्छेत्[८] ? अथ नित्यशब्दधर्मस्तदा विरुद्धः, [९]साध्यविरुद्धसाधनात् । अथोभयधर्मस्तदा व्यभिचारी, सपक्षेतरयोर्वर्तमानत्वात् । इति सर्वा-

---

करते हुए सर्वज्ञ को ही न स्वीकार करे !

यदि आप ऐसा कहें कि हमारा हेतु सर्वज्ञ के अभाव का धर्म है तब तो वह हेतु विरुद्ध हो गया। सर्वज्ञ के अभाव का धर्म होने से वह हेतु तो सर्वज्ञ के नास्तित्व को ही सिद्ध करेगा न कि अस्तित्व को। पुनः आप कहें कि वह हेतु सर्वज्ञ के भाव और अभाव दोनों का ही धर्म है तब तो आपका यह हेतु व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि सपक्ष (सद्भाव) और विपक्ष (नास्तित्व) दोनों में उसकी वृत्ति हो जाती है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—यदि हेतु साध्य के भाव का धर्म है तो असिद्ध है क्योंकि साध्य सर्वदा असिद्ध ही होता है। यदि साध्य के भाव एवं अभाव दोनों का धर्म है तो व्यभिचारी है तथा यदि साध्य के अभाव का धर्म है तो विरुद्ध है ऐसा हेतु साध्य-सर्वज्ञ की सत्ता को कैसे सिद्ध कर सकेगा ?

"असिद्ध है सत्ता जिसकी ऐसे धर्मी सर्वज्ञ के भाव, अभाव या उभय धर्मों को हेतु बनाने पर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकांतिक दोष आते हैं। अतः सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि किस प्रकार से हो सकती है" ऐसा कहते हुए भी आप 'देवानां प्रिय' (मूर्ख) मीमांसक सर्वज्ञ-लक्षण-धर्मी के स्वभाव को नहीं समझ सके हैं। *

[अब यहां मीमांसक सौगतमत का आश्रय लेकर पक्ष रखता है पुनः जैनाचार्य उसका खंडन करते हैं।]

सौगतमत का आश्रय लेकर बोलते हुये उस मीमांसक से हम पूछते हैं कि **आपके यहां भी शब्द को अनित्य सिद्ध करने में कृतकत्व आदि हेतु में भी यह विकल्प क्यों नहीं किया जा सकेगा ?** * अर्थात् हम भी ऐसा कह सकते हैं कि "शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है।" इस अनुमान वाक्य में कृत-

---

१ सर्वज्ञे। २ मीमांसकः (मूर्खः)। ३ सर्वज्ञलक्षणम्। ४ मीमांसकः। ५ (पुरस्ताच्छब्दानित्यत्वादिकथनं सौगतापेक्षयेत्यर्थः)। ६ जैनेन। ७ तद्भावधर्मस्तदभावधर्मस्तद्भावाभावधर्मो वेति। ८ शब्दस्यानित्यत्वं साध्यं तद्धर्मः कृतकत्वं हेतुः। साध्येऽसिद्धे हेतुरप्यसिद्धः, अनित्यशब्दस्याप्रसिद्धत्वे तद्धर्मरूपकृतकत्वस्याप्यप्रसिद्धेः। ९ अनित्यत्वविरुद्धं नित्यत्वम्।

---

(1) यतः। (2) धर्मोऽभावः स्यादिति वा पाठः। दि. प्र.। (3) सर्वज्ञ। सा सत्ता साध्यते इति पा.। (4) सकलविदित इति पा. दि. प्र.। (5) कृतकत्वादिति हेतुः पा.। (6) तदा न सिद्धः इति पा.। (7) को हि इति पाठाधिकः।

नुमानोच्छेदः, [१]क्वचित्पावकादौ साध्ये [1]धूमवत्त्वादावपि विकल्पस्यास्य[२] समानत्वात् । [३]विमत्य[2]धिकरणभावापन्नविनाश[४]धर्मिधर्मत्वे[५] कार्यत्वादेरसंभवद्बाधकत्वादेरपि [६]सन्दिग्ध-[3]सद्भावधर्मिधर्मत्वं[७] सिद्धं[८] बोद्धव्यम् ।

[मीमांसको ब्रूते जैनानां सर्वज्ञधर्मी प्रसिद्धसत्ताको नास्तीति जैनाचार्याः समादधति ।]

ननु[९] च शब्दादेर्धर्मिणः शब्दत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धानित्यत्वादिसाध्यधर्मकस्य धर्मो[4] हेतुः कृतकत्वादिरिति युक्तं; सर्वथाप्यसिद्धसत्ताकस्य तु सर्वज्ञस्य कथं विवादापन्नसद्भावधर्मकस्य धर्मो हेतुरसंभवद्बाधकत्वादिर्युज्यते, प्रसिद्धो धर्मी [5]अप्रसिद्धधर्मविशे-

---

कत्वादि हेतु यदि अनित्य शब्द के धर्म हैं तब वह हेतु असिद्ध है। अतः कौन ऐसा विवेकी है जो कि अनित्य शब्द के धर्म को हेतु स्वीकार करते हुए शब्द को अनित्य स्वीकार न करें।

भावार्थ— शब्द का अनित्यपना साध्य है और उसका धर्म कृतकपना हेतु है। साध्य असिद्ध होने से हेतु भी असिद्ध है। अनित्य शब्द की असिद्धि होने से उसका धर्मरूप कृतकत्व हेतु भी असिद्ध है। यदि कहो कि यह हेतु नित्य शब्द का धर्म है तब तो विरुद्ध हो जाता है क्योंकि अनित्य रूप साध्य से विरुद्ध नित्य को सिद्ध कर रहा है। तथा यदि कहो कि उभय का धर्म है तब तो व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि सपक्ष और विपक्ष दोनों में रह जाता है और इस प्रकार से तो सभी अनुमानों का उच्छेद हो जावेगा।

किसी पर्वत पर अग्नि आदि को साध्य (सिद्ध) करने में धूमत्व आदि हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं।

विवादापन्न विनाश धर्मी शब्द के अनित्यत्व धर्म में असंभवबाधकत्व रूप कार्यत्व आदि हेतु से भी संदिग्ध सद्भाव रूप धर्मी का धर्मपना सिद्ध हुआ ही जानना चाहिये। *

[मीमांसक कहता है कि जैनों का सर्वज्ञ धर्मी प्रसिद्ध सत्तावाला नहीं है इस पर जैनाचार्य समाधान करते हैं]

मीमांसक—शब्दत्व आदि के द्वारा जिसकी सत्ता प्रसिद्ध है और जिसमें अनित्यत्व आदि साध्य धर्म संदिग्ध हैं ऐसे शब्दादि धर्मी के कृतकत्व आदि हेतु धर्म हैं यह कथन तो युक्त है किंतु सभी प्रकार

---

१ पर्वतादौ। २ अग्निमत्पर्वतधर्मो वानग्निमत्पर्वतधर्मो वोभयधर्मो वेत्यस्य। ३ विमतिः=विवादः। ४ विनाशधर्मोऽस्यास्तीति विनाशधर्मी शब्दः। ५ सन्दिग्धश्चासौ सद्भावश्चास्तिलक्षणः स एव धर्मो यस्यार्हतः इति विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मी। ६ यतः। ७ अत्रेदं मीमांसकस्य तात्पर्यं, भो जैन शब्दस्तु सिद्ध एव। शब्दस्य यदनित्यत्वं साध्यं सन्दिग्धमस्ति तदेव कृतकत्वादिना साध्यते इति। ८ असंभवद्बाधकत्वलक्षणम्। ९ मीमांसकः।

---

(1) न केवलं कृतकत्वादौ। (2) विमत्यधिकरणभावापन्नः विवादापन्नः विनाशो यस्य स विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशः स चासौ धर्मी शब्दश्च तस्य धर्मत्वे सति कृतकत्वस्य हेतोः। दि. प्र.। (3) सद्भाव एव धर्मः सोऽस्यास्तीति सद्भावधर्मः तस्य धर्मो यः सः। (4) यथा पर्वतस्य धर्मोऽग्निमत्त्वं धूमत्वं च। (5) साध्य। एव।

परगविशिष्टतया [1]स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः पक्ष इति वचनात्[2], कथञ्चिदप्यप्रसिद्धस्य धर्मित्वायोगात् । इति कश्चित्[3], सोपि यदि सकलदेशकालवर्तिनं शब्दं धर्मिणमाचक्षीत तदा कथं प्रसिद्धो धर्मीति ब्रूयात् ? तस्याप्रसिद्धत्वात् । परोपगमात्सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीति चेत् [4]स्वाभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी किन्न [5]भवेद्धेतुधर्मवत् । [6]परं प्रति समर्थित एव हेतुधर्मः साध्यसाधन [7] इति चेद्धर्म्यपि[8] [9]परं प्रति [10]समर्थित[1] एवास्तु, विशेषाभावात्[2] ?

से जिसकी सत्ता असिद्ध है एवं जिसका सद्भाव धर्म विवाद को प्राप्त है ऐसे सर्वज्ञ का धर्म अवाधित हेतु कैसे हो सकता है क्योंकि धर्मी प्रसिद्ध होता है और साध्य तो अप्रसिद्ध धर्म विशेषण से विशिष्ट होता है । इस प्रकार से स्वयं आप जैनियों ने ही माना है । अतः जो कथंचित् भी अप्रसिद्ध है वह धर्मी नहीं हो सकता है ।

जैन—यदि आप मीमांसक भी सकल देशकालवर्ती शब्द को धर्मी कहते हैं तब तो आपके यहां भी धर्मी प्रसिद्ध नहीं रहेगा क्योंकि सकल देशकाल वर्ती शब्द अप्रसिद्ध हैं, अर्थात् भूत, भावी शब्द तो विद्यमान ही नहीं हैं ।

मीमांसक—दूसरों के स्वीकार करने से ही हम भी संपूर्ण शब्दों को प्रसिद्ध मान लेंगे अतः धर्मी प्रसिद्ध ही हो जावेगा ।

जैन—तो पुनः जैनों के द्वारा स्वीकृत होने से सर्वज्ञ धर्मी प्रसिद्ध क्यों न हो जावे ? जैसे कि हेतु का धर्म प्रसिद्ध माना जाता है ।

भावार्थ— आप मीमांसक ने दूसरों के द्वारा स्वीकृत सभी शब्दों को प्रसिद्ध धर्मी स्वीकार किया है तो फिर हम जैनों के द्वारा स्वीकृत होने से सर्वज्ञ भी प्रसिद्ध धर्मी हो जावे यह वात क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ।

मीमांसक—दूसरों के प्रति समर्थित ही हेतु धर्म साध्य को सिद्ध कर सकता है ।

जैन—तव धर्मी (शब्द) भी जैन के प्रति समर्थित होवे; दोनों में कुछ भी अंतर नहीं है ।

१ जैनेन । २ जैनस्य । ३ मीमांसकः । ४ परोपगमात्सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीति यदि मीमांसकेन भवताभ्युपगम्यते तर्हि स्वेषां जैनानामभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी भवेदिति किं नेष्यते ? परोपगमस्योभयत्राप्यविशेषात् । ५ हेतुश्चासौ धर्मश्चेति । ६ मीमांसकम् । ७ साध्यस्य साधकः । ८ शब्दोपि । ९ जैनं प्रति । १० समर्थितहेतुः एवास्तु इति पाठान्तरम् ।

(1) प्रसिद्धो भवतु । (2) ननु यदि परं प्रति समर्थितो धर्मी स्यात् तदा प्रकृतधर्मी समर्थनेनैव साध्यसिद्धेः किमनेन पश्चादनुमानप्रयोगेणेति चेन्न साधनसमर्थनेऽपि समानत्वात् । शक्यं हि वक्तुं नासिद्ध विरुद्धं नानैकांतिकमिति साधनसमर्थनेनैव साध्यसिद्धेः किमनेन पश्चादनुमानप्रयोगेणेति अनुमानप्रयोगानंतरं साधनसमर्थनाददोष इति चेदन्यत्राप्यनुमानप्रयोगानंतरं धर्मिसमर्थनाददोषोऽस्तु । दि. प्र. ।



[धर्मिणः सत्ता सर्वथा प्रसिद्धास्ति कथंचिद्वा ?]

[1]किञ्च सर्वथा प्रसिद्धसत्ताको धर्मी कथञ्चिद्वा ? सर्वथा चेच्छब्दादिरपि धर्मी न स्यात्, [2]तस्याप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिसत्ताकत्वात्[3] । कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकः शब्दादिर्धर्मीति चेत् सर्वज्ञः कथं धर्मी न स्यात् ? प्रसिद्धात्मत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य[4] च [5]धर्मिणोभ्युपगमे सर्वथा नाप्रसिद्धसत्ताकत्वं, [1]कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकत्वात् । स्याद्वादिनो हि कश्चिदात्मा सर्वज्ञोऽस्तीति पक्षप्रयोगमाचक्षते, [6]नान्यथा । [7]ततोयमु[2]पालभमानो[8] धर्मिस्वभावं न [9]लक्षयत्येव, [10]प्रकृतानुमाने सर्वज्ञस्य धर्मित्वावचनाच्च । सूक्ष्माद्यर्था एव ह्यत्र धर्मिणः प्रसिद्धा [3]युक्तास्तावत्प्रसिद्धसत्ताका एव, परमाण्वादीनामपि प्रमाण-

[धर्मी की सत्ता सर्वथा प्रसिद्ध है या कथंचित् ?]

दूसरी बात यह है कि हम आप से प्रश्न करते हैं—धर्मी सर्वथा प्रसिद्ध सत्ता वाला है या कथंचित् ? यदि सर्वथा कहो तो शब्दादि भी धर्मी नहीं होंगे क्योंकि वे शब्दादि अप्रसिद्ध रूप साध्य धर्म से विशिष्ट सत्ता वाले हैं। यदि आप कहें कि कथंचित् रूप से प्रसिद्ध है सत्ता जिसकी ऐसे शब्दादि धर्मी हैं, तब तो सर्वज्ञ भी धर्मी क्यों नहीं हो जावेगा ? अतः हमारे यहां आत्मत्व आदि विशेषण रूप सत्ता से प्रसिद्ध और सर्वज्ञत्व उपाधि रूप सत्ता से अप्रसिद्ध को धर्मी स्वीकार करने पर सर्वथा अप्रसिद्ध सत्ता वाला धर्मी नहीं है अपितु कथंचित् प्रसिद्ध सत्ता वाला है क्योंकि "कोई आत्मा सर्वज्ञ है" स्याद्वादी लोग इस प्रकार से पक्ष प्रयोग करते हैं; अन्य प्रकार से नहीं। इसलिए आप मीमांसक या बौद्ध जैनियों को उलाहना देते हुये वास्तव में धर्मी के स्वभाव को ही नहीं जानते हैं एवं इस प्रकृत अनुमान "सूक्ष्मांतरित दूरार्था" इत्यादि में हमने सर्वज्ञ को धर्मी माना ही नहीं है। इस अनुमान (कारिका) में सूक्ष्मादि पदार्थ ही धर्मी हैं। वे प्रसिद्ध सत्ता वाले ही हैं। क्योंकि परमाणु आदि भी प्रमाण से प्रसिद्ध हैं। इस बात को विशेष रूप से आगे "बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं" इत्यादि कारिका के व्याख्यान में कहेंगे।

भावार्थ—मीमांसक ने कहा कि आप जैन "प्रमेयत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व" हेतुओं से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे हैं। तो यह तो बताइये कि ये हेतु सर्वज्ञ के भाव के धर्म हैं या अभाव के

१ विकल्पान्तरेण जैनो धर्मिणं विचारयति । २ अप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिः (विशेषणं) सत्ता यस्य शब्दस्य सः । तस्यात् । ३ यथा शब्दानित्यत्वस्य सत्ता अप्रसिद्धा वर्तते । ४ अयं सर्वज्ञ इति विशेषणलक्षणा उपाधिः । ५ सर्वज्ञस्य । ६ एवं चेत् न हि सर्वज्ञनिराकृतेः प्रागित्यादिभाष्यविवरणावसरे अस्ति सर्वज्ञः, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्युक्तः प्रयोगः कथमिति, चेन्न, तत्राप्यभिप्रेतस्यात्मशब्दस्याध्याहार्यमाणत्वात् । अनुमेयत्वहेतोरबाधितविषयत्वसमर्थनप्रस्तावे अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितेत्याद्यनुमाने परोक्तं दोषं परिहृत्य प्रकृतानुमाने स दोषो न संभवतीति प्रकृतानुमाने इत्याहुः । ७ मीमांसकः सौगतो वा । ८ दोषमुद्भावयन् । ९ जानाति । १० सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वादित्यनुमाने ।

(1) शब्दत्वेन । (2) उपालंभमानो इति पा. । (3) प्रयुक्ता इति पा. ।

सिद्धत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्[1]।

धर्म हैं अथवा सर्वज्ञ के भावाभाव के धर्म हैं इन तीनों विकल्पों में मीमांसक ने दोषारोपण कर दिया है।

जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! बौद्ध ने शब्द को अनित्य माना है और कृतकत्व हेतु दिया है। इस कृतकत्व हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं। आप मीमांसक ने शब्द को नित्य माना है और उसे नित्य सिद्ध करने के लिये 'प्रत्यभिज्ञान हेतु' दिया है। तब इस प्रत्यभिज्ञान हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी भी अनुमान वाक्य में हेतु के प्रति ये तीनों विकल्प संभव हैं और इन दोषों के निमित्त से कोई भी हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार से अनुमान का अभाव होते देखकर बौद्ध का पक्ष लेकर मीमांसक कहता है कि शब्द को अनित्य सिद्ध करने में कृतकत्व हेतु को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है। वह कहता है कि शब्द तो प्रसिद्ध ही है और उस शब्द का जो अनित्य धर्म है वह संदिग्ध है उसी को साध्य की कोटि में रखा गया है और वह अनित्य धर्म ही कृतकत्व हेतु से सिद्ध किया जाता है किन्तु आपका सर्वज्ञ धर्मी तो प्रसिद्ध ही नहीं है तो फिर उसी अस्तित्व को संदिग्ध कोटि में रखकर प्रमेयत्वादि हेतु से कैसे सिद्ध किया जा सकेगा?

जैनाचार्य कहते हैं कि आप के यहां भी त्रिकालवर्ती शब्द प्रसिद्ध नहीं है भूतकालीन शब्द नष्ट हो गये, भविष्यत कालीन शब्द अभी उत्पन्न ही नहीं हुये हैं पुनः शब्द भी "प्रसिद्धो धर्मी" इस सूत्र के अनुसार प्रसिद्ध कहां रहे?

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि शब्द की सत्ता सभी प्रकार से प्रसिद्ध है या कथंचित्? सभी प्रकार से आप कह नहीं सकते क्योंकि शब्द का अनित्य धर्म असिद्ध है तभी उसे साध्य की कोटि में रखा है। कथंचित् सत्ता सिद्ध है यदि ऐसा कहो तो हमारे सर्वज्ञ की भी सत्ता कथंचित् सिद्ध ही है। देखिये! हम जैनों ने इस कारिका के या अनुमान वाक्य में सर्वज्ञ को धर्मी नहीं बनाया है किंतु "सूक्ष्मादि पदार्थों" को ही धर्मी बनाया है और सूक्ष्म—परमाणु आदि पदार्थ सभी को मान्य होने से प्रसिद्ध ही हैं। वे सूक्ष्मादि पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष हैं वे ही सर्वज्ञ हैं इस प्रकार से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। अतः उस सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने में जो अनुमेयत्व हेतु अथवा प्रमेयत्व आदि हेतु दिए गए हैं। उनमें उपर्युक्त तीन विकल्प नहीं उठाए जा सकते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि श्री विद्यानंदि महोदय ने 'अनुमेयत्व' हेतु का अर्थ 'श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व' कर दिया है जो कि आज्ञाप्रधानी एवं परीक्षा प्रधानी दोनों को मान्य हो जावेगा तथा मीमांसक भी वेद को प्रमाणीक मानता है अतः उसे भी संतोष हो जावेगा।

---

१ बुद्धिशब्दप्रमाणत्वमिति कारिकाव्याख्याने।

[सूक्ष्मादिपदार्था इंद्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षाः संति मानसप्रत्यक्षेण वा ?]

[1]ननु सूक्ष्मादयोर्थाः किमिन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्या [2]उतातीन्द्रियप्रत्यक्षेण ? प्रथमविकल्पेऽनुमानविरुद्धः[3] पक्षः 'सूक्ष्माद्यर्था[4] न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः, [5]सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहितत्वात्[6]। [7]ये तु कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयास्ते न सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिता दृष्टाः। यथा घटादयः। सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिताश्च सूक्ष्माद्यर्थास्तस्मान्न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः' इति केवलव्यतिरेकिणानुमानेन बाध्यमानत्वात्। न च सर्वथेन्द्रियसम्बन्ध-[8]रहितत्वमसिद्धं, साक्षात्परमाणु[9]धर्मादीनामिन्द्रियसम्बन्धाभावात्। तथा हि। न कस्यचिदिन्द्रियं साक्षात्परमाण्वादिभिः[1] सम्बध्यते, इन्द्रियत्वादस्मदादीन्द्रियवत्।

[सूक्ष्मादि पदार्थ इंद्रिय प्रत्यक्ष से किसी के प्रत्यक्ष हैं या नोइंद्रिय प्रत्यक्ष से ?]

मीमांसक—अच्छा तो सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं यह बात तो हम मानने को तैयार हैं किंतु यह तो बतलाइये कि वे सूक्ष्मादि पदार्थ इंद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतींद्रिय (मानस) प्रत्यक्ष ज्ञान से ?

प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर तो पक्ष अनुमान के विरूद्ध है। तथाहि "सूक्ष्मादि पदार्थ किसी भी जीव के इंद्रिय ज्ञान के विषय नहीं हैं क्योंकि सर्वथा इंद्रियों के सम्बन्ध से रहित हैं। जो पदार्थ किसी के इन्द्रिय ज्ञान के विषय हैं वे पदार्थ सर्वथा इंद्रिय के सम्बन्ध से रहित नहीं देखे जाते हैं जैसे घट पट आदि। सर्वथा इंद्रिय सम्बन्ध से रहित सूक्ष्मादि पदार्थ हैं इसलिये वे किसी के इंद्रिय ज्ञान के विषय भी नहीं हैं।" इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान के द्वारा आप का पक्ष बाधित हो जाता है। एवं यह सर्वथा इंद्रियसम्बन्ध रहितत्व" हेतु असिद्ध भी नहीं है। साक्षात् परमाणु धर्म, अधर्म आदि के साथ इंद्रिय सम्बन्ध का अभाव है। तथाहि—

"किसी की भी इंद्रियां साक्षात् परमाणु आदि से सम्बन्धित नहीं होती हैं क्योंकि वे इंद्रियां हैं जैसे कि हम लोगों की इंद्रियां।" इस अनुमान से इंद्रियों से परमाणु आदि का ज्ञान होना असम्भव है।

[नैयायिक कहता है कि योगज धर्म से अनुगृहीत इंद्रियां परमाणु आदि को भी देख लेती हैं उसका निराकरण]

नैयायिक—योगज धर्म अनुगृहीत इंद्रियां उन परमाणु आदि से साक्षात् सम्बन्ध कर लेती हैं। अतः उन सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

मीमांसक—इंद्रियों के योगज धर्म का अनुग्रह होना यह क्या चीज है ?

---

१ मीमांसको नैयायिकं प्रत्याह २ अतीन्द्रियं=मनः। ३ कालात्ययापदिष्टः। प्रमाणबाधिते पक्षे हेतोर्वर्तमानत्वं कालात्ययापदिष्टत्वम्। ४ अनुमानविरुद्धत्वं दर्शयति। ५ साक्षात् परम्परया वा। ६ सूक्ष्माद्यर्थानाम्। ७ व्यतिरेकव्याप्तिः। ८ साधनम्। ९ परमाणवश्च धर्मादयश्चेति तेषाम्।

(1) आदिशब्देन स्वभावविप्रकृष्टैर्धर्मादिभिः कालांतरितैरतीनागतपदार्थैर्दूरार्थैर्हिमवदादिभिः।

[नैयायिको ब्रूते योगजधर्मानुगृहीतेंद्रियाणि परमाण्वादीन् पश्यंति तस्य निराकरणं]

[1]योगजधर्मा[2]नुगृही[1]तमिन्द्रियं [2]योगिनस्तैः साक्षात्सम्बध्यते इति चेत् [3]कोयमिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम ? [3]स्वविषये प्रवर्तमान[4]स्यातिशयाधानमिति[5] चेत्तदसंभव एव, परमाण्वादौ स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावात्, प्रवर्तने वा योगजधर्मानुग्रहस्य वैयर्थ्यात्[4] । तत एवेन्द्रियस्य परमाण्वादिषु प्रवृत्तौ परस्पराश्रयप्रसङ्गः । [6]सतीन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहे[7] परमाण्वादिषु प्रवृत्तिः सत्यां च तस्यां योगजधर्मानुग्रह इति । [5]परमाण्वादिष्विन्द्रियस्य प्रवृत्तौ सहकारित्वं योगजधर्मानुग्रह इति चेन्न, स्वविषयातिक्रमेण[8] तस्य तत्र तदनुग्रहायोगात्, [6]अन्यथा कस्यचिदेकस्येन्द्रियस्य[9] सकलरसादिषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गात्[10] । [11]दृष्टविरोधान्नैवमिति चेत् [12]समानमन्यत्र[13] । यथैव हि चक्षुरादीनि प्रतिनियतरूपादिविष-

नैयायिक—अपने अपने विषय में प्रवर्त्तमान इंद्रियों में अतिशय को कर देना यही अनुग्रह है ।

मीमांसक—तब तो वह असंभव ही है । परमाणु आदि में स्वयं इंद्रियों की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । यदि आप प्रवृत्ति मानेंगे तो योगज धर्म का अनुग्रह व्यर्थ ही हो जावेगा । पुनः आप कहें कि योगज धर्म के अनुग्रह से ही इंद्रियों की परमाणु आदि में प्रवृत्ति हो जाती है तो परस्पराश्रय दोष आ जावेगा । इंद्रियों के योगज धर्म का अनुग्रह होने पर परमाणु आदि में प्रवृत्ति होगी और उस प्रवृत्ति के परमाणु आदि में प्रवृत्ति होने पर योगज धर्म का अनुग्रह होगा ।

नैयायिक—परमाणु आदि को जब इंद्रियां ग्रहण करती हैं तब योगज धर्म का अनुग्रह सहकारी कारण होता है ।

मीमांसक—यह कथन ठीक नहीं है । अपने विषयों का उलंघन करके इन्द्रियों की परमाणु आदि में प्रवृत्ति होने में योगजधर्म का अनुग्रह सहकारी नहीं हो सकता है । अन्यथा कोई एक ही इन्द्रिय संपूर्ण रूप, रस, गंध आदि विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जावेगी और उसमें भी योगजधर्मानुग्रह ही सहकारी मानना पड़ेगा ।

नैयायिक—एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करे इसमें तो प्रत्यक्ष से ही विरोध है

१ नैयायिकः । २ ध्यानोद्भूतधर्मेण । ३ मीमांसकः पृच्छति ४ इन्द्रियस्य । ५ स्पष्टतापादनम् । ६ परस्पराश्रयं दर्शयति । ७ अङ्गीक्रियमाणे । ८ रूपादिविषयोल्लङ्घनेन । ९ स्पर्शनादेः । १० योगजधर्मानुग्रहप्रसङ्गात् । ११ नैयायिकः । प्रत्यक्षविरोधात् । १२ मीमांसकः । १३ परमाण्वादौ प्रत्यक्षविरोधस्तुल्यः ।

(1) उपकृतं । (2) ईश्वरस्य । (3) परमाण्वादौ । (4) इंद्रियस्य परमाण्वादौ प्रवृत्यर्थं हि योगजधर्मोऽभ्युपगतः । तदिन्द्रियं यदि स्वयमेव तत्र प्रवर्तते किमनेन योगजधर्मानुग्रहणेनेति भावः । दि. प्र. । (5) यौगो वदति (6) अन्यथा इंद्रियं योगजधर्मानुग्रहात् स्वविषयमतिक्रम्य प्रवर्तते कस्यचित् पुंसः एकस्य चक्षुरादीन्द्रियस्य रसादिषु पंचसु विषयेषु प्रवृत्तिः स्यात् । तस्यां सत्यां योगजधर्मोपकारप्रसंगो घटते । दि. प्र. ।

याणि दृष्टानि नाप्रतिनियतसकल[1]रूपादि[2]विषयाणि [1]तथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानि महत्त्वोपेतानि पृथिव्यादिद्रव्याणि तत्समवेतरूपादीनि चक्षुरादीन्द्रियगोचरतया प्रसिद्धानि, न पुनः परमाण्वादीनि। [3]समाधिविशेषोत्थधर्ममाहात्म्याद् दृष्टातिक्रमेण परमाण्वादिषु चक्षुरादीनि प्रवर्तन्ते न पुना रसादिष्वेकमिन्द्रियम्, [4] इति न किञ्चिद्विशेषव्यवस्थानिबन्धनमन्यत्र[2] जाड्यात्। [5]एतेन परम्परया परमाणुरूपादि[6]ष्विन्द्रियसम्बन्धः प्रतिध्वस्तः, संयोगाभावे संयुक्तसमवायादीनामसंभवात्[7] श्रोत्रे सकलशब्दसमवायासंभवे शब्दत्वेन समवेतसमवायासंभववत्।

[मानसप्रत्यक्षेणापि सूक्ष्मादिपदार्थस्य ज्ञानं न भवति]

[8]यदि पुनरेकमेवान्तःकरणं योगजधर्मानुगृहीतं युगपत्सकलसूक्ष्माद्यर्थविषयमिष्यते[9]

इसलिए ऐसा नहीं हो सकता है।

मीमांसक—तो फिर परमाणु आदि में भी इन्द्रियों की प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष से ही विरोध तुल्य है क्योंकि जिस प्रकार से चक्षु आदि इन्द्रियां अपने-अपने प्रतिनियत रूपादि पदार्थों को विषय करते हुये देखी जाती हैं, किंतु अप्रतिनियत सकल परमाणु आदि पदार्थ तथा रूप रस आदि विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती हैं। उसी प्रकार से उपलब्धि लक्षण प्राप्त जो चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं; तथा महत्व आदि गुणों से सहित ऐसे जो पृथ्वी आदि द्रव्य हैं एवं उन द्रव्यों में समवेत रूप से रहने वाले जो रूपादि गुण हैं ये सभी पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयभूत प्रसिद्ध हैं। फिर भी परमाणु आदि पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर नहीं हैं ऐसा प्रत्यक्ष से सिद्ध है।

नैयायिक—समाधि विशेष से उत्पन्न होने वाले धर्म के माहात्म्य से प्रत्यक्ष का भी उल्लंघन करके चक्षु आदि इन्द्रियां परमाणु आदि विषयों में प्रवृत्ति करती हैं अर्थात् जान लेती हैं परन्तु एक ही इन्द्रिय रस गन्ध आदि सभी विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती है।

मीमांसक—चक्षु इन्द्रिय और परमाणु के संयोग सन्निकर्ष का अभाव होने पर भी आप नैयायिक का जो यह कथन है उस कथन में मूर्खता के अतिरिक्त विशेष व्यवस्था का कारण हमें कुछ भी नहीं दिखता है। इसी कथन से "परम्परा से परमाणु रूप आदि में इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है" इत्यादि मान्यता का भी खंडन हो गया समझना चाहिये। क्योंकि संयोग के अभाव में संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय आदि भी संभव नहीं है। जिस प्रकार से श्रोत्र इन्द्रिय में संपूर्ण शब्दों का समवाय असंभव है तब शब्दत्व रूप से समवेत समवाय भी असंभव ही है।

---

१ सकलपदेन परमाणुरूपं गृह्यते। २ आदिपदेन रसादिग्रहः। ३ योगजधर्मानुग्रहोत्थधर्मातिशयात् प्रत्यक्षोल्लङ्घनेन। ४ चक्षुरिन्द्रियपरमाण्वोः संयोगसन्निकर्षाभावे। ५ संयोगलक्षणसाक्षात्सम्बन्धनिराकरणेन। ६ आदिपदेन रसरसत्वादयो ग्राह्याः। ७ आदिपदेन संयुक्तसमवेतसमवायादिर्ग्राह्यः ८ भो नैयायिक। ९ तव नैयायिकस्य।

---

(1) ज्ञेयस्वरूप। (2) दूरांतरितसूक्ष्मार्थेष्विंद्रियप्रवृत्तौ।

तदापि दृष्टातिक्रम[1] एव, [1]मनसो युगपदनेकत्र विषये प्रवृत्त्यदर्शनात्[2]। तत्र [2]दृष्टातिक्रमेष्टौ[2] वा स्वयमात्मैव समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषवशादन्तःकरणनिरपेक्षः साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थान् पश्यतु किमिन्द्रियेणैवान्तःकरणेन ? तथा च नेन्द्रियज्ञानेन[3] कस्यचित्प्रत्यक्षाः सूक्ष्माद्यर्थाः संभाव्यन्ते । [4]अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण[4] कस्यचित्प्रत्यक्षाः [5]साध्यन्ते इति [5]चेदप्रसिद्धविशेषणः[6] पक्षः, [7]क्वचिदतीन्द्रियज्ञानप्रत्यक्षत्वस्याप्रसिद्धेः सांख्यं प्रति [6]विनाशी शब्द इत्यादिवत्[8] । साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यादग्न्यादेरतीन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वाभावात् ।

[मानस प्रत्यक्ष से भी सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है ।]

पुनः यदि आप नैयायिक एक अन्तःकरण (मन) को ही योगज धर्म से अनुगृहीत-स्वीकार करके उसके द्वारा युगपत् संपूर्ण पदार्थों का विषय करना मानोगे तो भी आपके यहां प्रत्यक्ष का उल्लंघन हो ही जावेगा, क्योंकि मन की एक साथ अनेक विषयों में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है "युगपत ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं" ऐसा आपका ही वचन है ।

नैयायिक—इस विषय में प्रत्यक्ष से विरोध होता है तो हो जावे हमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि समाधि विशेप से उत्पन्न धर्म का चमत्कार ही ऐसा है कि जिससे अनुगृहीत मन एक साथ ही संपूर्ण परमाणु आदि पदार्थों को विषय कर लेता है ।

जैन—यदि आप ऐसा मान लेते हैं तो भाई ! स्वयं आत्मा ही समाधि विशेष (शुक्लध्यान) से उत्पन्न हुये धर्म विशेप (केवलज्ञान) के वल से अंतःकरण से निरक्षेप होता हुआ ही साक्षात् संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जान लेता है ऐसा भी मान लीजिये क्या बाधा है ? पुनः इंद्रियों के द्वारा जानता है अथवा मन के द्वारा जानता है इत्यादि कल्पनाओं का क्या प्रयोजन है ? अतः किसी को भी इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं । यह वात सिद्ध हो जाती है ।

मीमांसक—आप नैयायिक से हमने पहले यह प्रश्न किया था कि सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतींद्रियज्ञान—मानसप्रत्यक्षज्ञान से ? उसमें से यदि आप दूसरा विकल्प स्वीकार करें कि सूक्ष्मादि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं तब तो आपका पक्ष अप्रसिद्ध

---

१ प्रत्यक्षोल्लङ्घनमेव । २ युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति वचनात् । ३ प्रत्यक्षविरोधाङ्गीकारे । ४ सूक्ष्माद्यर्थाः । ५ मीमांसकः । ६ सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियप्रत्यक्षेणेति अप्रसिद्धं विशेषणं यस्य सः । अतीन्द्रियप्रत्यक्षेतीदं विशेपणमप्रसिद्धमित्यर्थः । ७ दृष्टांते । ८ सांख्यमते आविर्भावतिरोभावौ स्तो न तु किञ्चिद्विनाशि ।

---

(1) युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लक्षणं । (2) ता । प्रत्यक्षातिक्रमाभिमनने दृष्टातिक्रमेष्टातिक्रमेष्टौ इति पा. दि. प्र. । (3) इंद्रियांतःकरणात् । (4) द्वितीयविकल्पः । (5) यौगो वदति हे स्याद्वादिन् । ते सूक्ष्माद्यर्था अतींद्रियज्ञानेन कस्यचित् पुंसः प्रत्यक्षा मया साध्यंत इति किं तवाभिप्रायः । दि. प्र. । (6) आविर्भावतिरोभावमात्रं न तु नाशित्वं तन्मते शब्दस्य ।

[इंद्रियानिंद्रयानपेक्षप्रत्यक्षेण सूक्ष्मादिपदार्थाः ज्ञायंते इति स्याद्वादिभिः कथ्यते]

इति[१] केचित्तेपि न सम्यग्वादिनः, सूक्ष्माद्यर्थानामिन्द्रियजप्रत्यक्षेण [1]कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधनात्तत्पक्षनिक्षिप्तदोषानवतारात्[२]। [2]तथा [3]साधयतां स्याद्वादिभिरपि तद्दोषसमर्थनात्[3]। [४]नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं [4]साध्यते येनाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यात्, [५]प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वसाधनात्। प्रसिद्धे च सूक्ष्माद्यर्थानां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वज्ञत्वस्य सम्यक्स्थित्युपपत्तेस्तत्प्रत्यक्षस्येन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वं सिध्यत्येव। तथा हि। [६]योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं,

विशेषण वाला हो जाता है क्योंकि दृष्टान्त में "अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्षत्व" असिद्ध ही है। जिस प्रकार से सांख्य को "अनित्य शब्द" असिद्ध है क्योंकि सांख्य के मत में प्रत्येक पदार्थ का आविर्भाव और तिरोभाव ही माना है। उनके यहां किसी भी पदार्थ को अनित्य नहीं माना है।

एवं दृष्टान्त भी साध्य शून्य ही है क्योंकि अग्नि आदि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। यहां अतीन्द्रिय शब्द से मानस अर्थ लेना चाहिए।

[इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा से रहित सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है इस प्रकार जैनाचार्य कहते हैं।]

जैन—इस प्रकार का कथन करने वाले आप मीमांसक भी सम्यग्वादी नहीं हैं। सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियज प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं ऐसा हम मानते ही नहीं हैं। इसलिए उस पक्ष में दिये गये दोष हम जैनों के यहां संभव ही नहीं हैं। उस प्रकार के पक्ष को मानने वाले नैयायिकों के लिए हम स्याद्वादियों ने भी उन दोषों का समर्थन ही किया है और हम लोग अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) के द्वारा भी किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षपना सिद्ध नहीं करते हैं कि जिससे हमारा पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला होवे एवं दृष्टांत साध्य से शून्य होवे। अर्थात हमारे यहां ये दोष नहीं आते हैं।

मीमांसक—तब आप जैन सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना कैसे सिद्ध करते हैं ?

जैन—प्रत्यक्ष सामान्य के द्वारा हम जैन किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं।

सूक्ष्मादि पदार्थ सामान्य से किसी के प्रत्यक्ष हैं इस बात के सिद्ध हो जाने पर सर्वज्ञत्व की सम्यक् प्रकार से व्यवस्था बन जाती है और सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन

१ स्याद्वादिनः प्राहुः 'इति केचिन्मीमांसकास्तेपि न सम्यग्वादिनः, इति। २ जैनानाम्। ३ नैयायिकानाम्। ४ सिद्धान्ती। ५ तर्हि सूक्ष्माद्यर्थानां कथं प्रत्यक्षत्वं स्थाप्यते जैनैर्भवद्भिरिति मीमांसकाशङ्कायामाह प्रत्यक्षसामान्येनेत्यादि। (६) योगी=सर्वज्ञः।

(1) इन्द्रियप्रत्यक्ष। (2) सूक्ष्माद्यर्था इंद्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षा भवंति। इति (3) साधयतां यौगादीनां स्याद्वादिभिस्तस्य पक्षस्य दोषः समर्थ्यंते। दि. प्र.। (4) योगिन इंद्रियं योगजधर्मबलात् सूक्ष्माद्यर्थं पश्यति। (5) [illegible] स्याद्वादिभिः।

तदापि दृष्टातिक्रम[१] एव, [1]मनसो युगपदनेकत्र विषये प्रवृत्त्यदर्शनात्[२]। तत्र [३]दृष्टातिक्रमेष्टौ[2] वा स्वयमात्मैव समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषवशादन्तःकरणनिरपेक्षः साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थान् पश्यतु किमिन्द्रियेणैवान्तःकरणेन ? तथा च नेन्द्रियज्ञानेन[3] कस्यचित्प्रत्यक्षाः सूक्ष्माद्यर्थाः संभाव्यन्ते । [4]अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण[४] कस्यचित्प्रत्यक्षाः [5]साध्यन्ते इति [५]चेदप्रसिद्धविशेषणः[६] पक्षः, [७]क्वचिदतीन्द्रियज्ञानप्रत्यक्षत्वस्याप्रसिद्धेः सांख्यं प्रति [6]विनाशी शब्द इत्यादिवत्[८] । साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यादग्न्यादेरतीन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वाभावात् ।

[मानस प्रत्यक्ष से भी सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है ।]

पुनः यदि आप नैयायिक एक अन्तःकरण (मन) को ही योगज धर्म से अनुगृहीत-स्वीकार करके उसके द्वारा युगपत् संपूर्ण पदार्थों का विषय करना मानोगे तो भी आपके यहां प्रत्यक्ष का उल्लंघन हो ही जावेगा, क्योंकि मन की एक साथ अनेक विषयों में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है "युगपत ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं" ऐसा आपका ही वचन है ।

नैयायिक—इस विषय में प्रत्यक्ष से विरोध होता है तो हो जावे हमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि समाधि विशेष से उत्पन्न धर्म का चमत्कार ही ऐसा है कि जिससे अनुगृहीत मन एक साथ ही संपूर्ण परमाणु आदि पदार्थों को विषय कर लेता है ।

जैन—यदि आप ऐसा मान लेते हैं तो भाई ! स्वयं आत्मा ही समाधि विशेष (शुक्लध्यान) से उत्पन्न हुये धर्म विशेष (केवलज्ञान) के बल से अंतःकरण से निरक्षेप होता हुआ ही साक्षात् संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जान लेता है ऐसा भी मान लीजिये क्या बाधा है ? पुनः इंद्रियों के द्वारा जानता है अथवा मन के द्वारा जानता है इत्यादि कल्पनाओं का क्या प्रयोजन है ? अतः किसी को भी इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं । यह बात सिद्ध हो जाती है ।

मीमांसक—आप नैयायिक से हमने पहले यह प्रश्न किया था कि सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतींद्रियज्ञान—मानसप्रत्यक्षज्ञान से ? उसमें से यदि आप दूसरा विकल्प स्वीकार करें कि सूक्ष्मादि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं तब तो आपका पक्ष अप्रसिद्ध

---

१ प्रत्यक्षोल्लङ्घनमेव । २ युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति वचनात् । ३ प्रत्यक्षविरोधाङ्गीकारे । ४ सूक्ष्माद्यर्थाः । ५ मीमांसकः । ६ सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियप्रत्यक्षेणेति अप्रसिद्धं विशेषणं यस्य सः । अतीन्द्रियप्रत्यक्षेतीदं विशेषणमप्रसिद्धमित्यर्थः । ७ दृष्टांते । ८ सांख्यमते आविर्भावतिरोभावौ स्तो न तु किञ्चिद्विनाशि ।

---

(1) युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लक्षणं । (2) ता । प्रत्यक्षातिक्रमाभिमनने दृष्टातिक्रमेष्टातिक्रमेष्टौ इति पा. दि. प्र. । (3) इंद्रियांतःकरणात् । (4) द्वितीयविकल्पः । (5) यौगो वदति हे स्याद्वादिन् । ते सूक्ष्माद्यर्था अतींद्रियज्ञानेन कस्यचित् पुंसः प्रत्यक्षा मया साध्यंत इति किं तवाभिप्रायः । दि. प्र. । (6) आविर्भावतिरोभावमात्रं न तु नाशित्वं तन्मते शब्दस्य ।

[इंद्रियानिंद्रयानपेक्षप्रत्यक्षेण सूक्ष्मादिपदार्थाः ज्ञायंते इति स्याद्वादिभिः कथ्यते]

इति[१] केचित्तेपि न सम्यग्वादिनः, सूक्ष्माद्यर्थानामिन्द्रियजप्रत्यक्षेण [1]कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधनात्तत्पक्षनिक्षिप्तदोषानवतारात्[२]। [2]तथा [३]साधयतां स्याद्वादिभिरपि तद्दोषसमर्थनात्[3]। [४]नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं [4]साध्यते येनाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यात्, [५]प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वसाधनात्। प्रसिद्धे च सूक्ष्माद्यर्थानां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वज्ञत्वस्य सम्यक्स्थित्युपपत्तेस्तत्प्रत्यक्षस्येन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वं सिध्यत्येव। तथा हि। [६]योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं,

विशेषण वाला हो जाता है क्योंकि दृष्टान्त में "अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्षत्व" असिद्ध ही है। जिस प्रकार से सांख्य को "अनित्य शब्द" असिद्ध है क्योंकि सांख्य के मत में प्रत्येक पदार्थ का आविर्भाव और तिरोभाव ही माना है। उनके यहां किसी भी पदार्थ को अनित्य नहीं माना है।

एवं दृष्टान्त भी साध्य शून्य ही है क्योंकि अग्नि आदि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। यहां अतीन्द्रिय शब्द से मानस अर्थ लेना चाहिए।

[इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा से रहित सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है इस प्रकार जैनाचार्य कहते हैं।]

जैन—इस प्रकार का कथन करने वाले आप मीमांसक भी सम्यग्वादी नहीं हैं। सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियज प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं ऐसा हम मानते ही नहीं हैं। इसलिए उस पक्ष में दिये गये दोष हम जैनों के यहां संभव ही नहीं हैं। उस प्रकार के पक्ष को मानने वाले नैयायिकों के लिए हम स्याद्वादियों ने भी उन दोषों का समर्थन ही किया है और हम लोग अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) के द्वारा भी किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षपना सिद्ध नहीं करते हैं कि जिससे हमारा पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला होवे एवं दृष्टांत साध्य से शून्य होवे। अर्थात हमारे यहां ये दोष नहीं आते हैं।

मीमांसक—तब आप जैन सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना कैसे सिद्ध करते हैं ?

जैन—प्रत्यक्ष सामान्य के द्वारा हम जैन किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं।

सूक्ष्मादि पदार्थ सामान्य से किसी के प्रत्यक्ष हैं इस बात के सिद्ध हो जाने पर सर्वज्ञत्व की सम्यक् प्रकार से व्यवस्था बन जाती है और सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन

१ स्याद्वादिनः प्राहुः 'इति केचिन्मीमांसकास्तेपि न सम्यग्वादिनः, इति। २ जैनानाम्। ३ नैयायिकानाम्। ४ सिद्धान्ती। ५ तर्हि सूक्ष्माद्यर्थानां कथं प्रत्यक्षत्वं स्थाप्यते जैनैर्भवद्भिरिति मीमांसकाशङ्कायामाह प्रत्यक्षसामान्येनेत्यादि। (६) योगी=सर्वज्ञः।

(1) इन्द्रियप्रत्यक्ष। (2) सूक्ष्माद्यर्था इंद्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षा भवंति। इति (3) साधयतां यौगादीनां स्याद्वादिभिस्तस्य पक्षस्य दोषः समर्थ्यंते। दि. प्र.। (4) योगिन इंद्रियं योगजधर्मबलात् सूक्ष्माद्यर्थं गृह्णाति। (5) अस्माभिः स्याद्वादिभिः।

तदापि दृष्टातिक्रम[१] एव, [1]मनसो युगपदनेकत्र विषये प्रवृत्त्यदर्शनात्[२]। तत्र [३]दृष्टातिक्रमेष्टौ[2] वा स्वयमात्मैव समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषवशादन्तःकरणनिरपेक्षः साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थान् पश्यतु किमिन्द्रियेणैवान्तःकरणेन ? तथा च नेन्द्रियज्ञानेन[3] कस्यचित्प्रत्यक्षाः सूक्ष्माद्यर्थाः संभाव्यन्ते । [4]अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण[४] कस्यचित्प्रत्यक्षाः [5]साध्यन्ते इति [५]चेदप्रसिद्धविशेषणः[६] पक्षः, [७]क्वचिदतीन्द्रियज्ञानप्रत्यक्षत्वस्याप्रसिद्धेः सांख्यं प्रति [6]विनाशी शब्द इत्यादिवत्[८] । साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यादग्न्यादेरतीन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वाभावात् ।

[मानस प्रत्यक्ष से भी सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है ।]

पुनः यदि आप नैयायिक एक अन्तःकरण (मन) को ही योगज धर्म से अनुगृहीत-स्वीकार करके उसके द्वारा युगपत् संपूर्ण पदार्थों का विषय करना मानोगे तो भी आपके यहां प्रत्यक्ष का उल्लंघन हो ही जावेगा, क्योंकि मन की एक साथ अनेक विषयों में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है "युगपत ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं" ऐसा आपका ही वचन है ।

नैयायिक—इस विषय में प्रत्यक्ष से विरोध होता है तो हो जावे हमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि समाधि विशेष से उत्पन्न धर्म का चमत्कार ही ऐसा है कि जिससे अनुगृहीत मन एक साथ ही संपूर्ण परमाणु आदि पदार्थों को विषय कर लेता है ।

जैन—यदि आप ऐसा मान लेते हैं तो भाई ! स्वयं आत्मा ही समाधि विशेष (शुक्लध्यान) से उत्पन्न हुये धर्म विशेष (केवलज्ञान) के बल से अंतःकरण से निरक्षेप होता हुआ ही साक्षात् संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जान लेता है ऐसा भी मान लीजिये क्या बाधा है ? पुनः इंद्रियों के द्वारा जानता है अथवा मन के द्वारा जानता है इत्यादि कल्पनाओं का क्या प्रयोजन है ? अतः किसी को भी इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं । यह बात सिद्ध हो जाती है ।

मीमांसक—आप नैयायिक से हमने पहले यह प्रश्न किया था कि सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतींद्रियज्ञान—मानसप्रत्यक्षज्ञान से ? उसमें से यदि आप दूसरा विकल्प स्वीकार करें कि सूक्ष्मादि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं तब तो आपका पक्ष अप्रसिद्ध

---

१ प्रत्यक्षोल्लङ्घनमेव । २ युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति वचनात् । ३ प्रत्यक्षविरोधाङ्गीकारे । ४ सूक्ष्माद्यर्थाः । ५ मीमांसकः । ६ सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियप्रत्यक्षेणेति अप्रसिद्धं विशेषणं यस्य सः । अतीन्द्रियप्रत्यक्षेतीदं विशेषणमप्रसिद्धमित्यर्थः । ७ दृष्टांते । ८ सांख्यमते आविर्भावतिरोभावौ स्तो न तु किञ्चिद्विनाशि ।

---

(1) युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लक्षणं । (2) ता । प्रत्यक्षातिक्रमाभिमनने दृष्टातिक्रमेष्टातिक्रमेष्टौ इति पा. दि. प्र. । (3) इंद्रियांतःकरणात् । (4) द्वितीयविकल्पः । (5) योगो वदति हे स्याद्वादिन् । ते सूक्ष्माद्यर्था अतींद्रियज्ञानेन कस्यचित् पुंसः प्रत्यक्षा मया साध्यंत इति किं तवाभिप्रायः । दि. प्र. । (6) आविर्भावतिरोभावमात्रं न तु नाशित्वं तन्मते शब्दस्वे ।

[इंद्रियानिंद्रियानपेक्षप्रत्यक्षेण सूक्ष्मादिपदार्थाः ज्ञायंते इति स्याद्वादिभिः कथ्यते]

इति[1] केचित्तेपि न सम्यग्वादिनः, सूक्ष्माद्यर्थानामिन्द्रियजप्रत्यक्षेण [1]कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधनात्तत्पक्षनिक्षिप्तदोषानवतारात्[2]। [2]तथा [3]साधयतां स्याद्वादिभिरपि तद्दोषसमर्थनात्[3]। [4]नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं [4]साध्यते येनाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यात्, [5]प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वसाधनात्। प्रसिद्धे च सूक्ष्माद्यर्थानां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वज्ञत्वस्य सम्यक्स्थित्युपपत्तेस्तत्प्रत्यक्षस्येन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वं सिध्यत्येव। तथा हि। [6]योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं,

---

विशेषण वाला हो जाता है क्योंकि दृष्टान्त में "अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्षत्व" असिद्ध ही है। जिस प्रकार से सांख्य को "अनित्य शब्द" असिद्ध है क्योंकि सांख्य के मत में प्रत्येक पदार्थ का आविर्भाव और तिरोभाव ही माना है। उनके यहां किसी भी पदार्थ को अनित्य नहीं माना है।

एवं दृष्टान्त भी साध्य शून्य ही है क्योंकि अग्नि आदि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। यहां अतीन्द्रिय शब्द से मानस अर्थ लेना चाहिए।

[इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा से रहित सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है इस प्रकार जैनाचार्य कहते हैं।]

जैन—इस प्रकार का कथन करने वाले आप मीमांसक भी सम्यग्वादी नहीं हैं। सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियज प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं ऐसा हम मानते ही नहीं हैं। इसलिए उस पक्ष में दिये गये दोष हम जैनों के यहां संभव ही नहीं हैं। उस प्रकार के पक्ष को मानने वाले नैयायिकों के लिए हम स्याद्वादियों ने भी उन दोषों का समर्थन ही किया है और हम लोग अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) के द्वारा भी किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षपना सिद्ध नहीं करते हैं कि जिससे हमारा पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला होवे एवं दृष्टांत साध्य से शून्य होवे। अर्थात् हमारे यहां ये दोष नहीं आते हैं।

मीमांसक—तब आप जैन सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना कैसे सिद्ध करते हैं?

जैन—प्रत्यक्ष सामान्य के द्वारा हम जैन किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं।

सूक्ष्मादि पदार्थ सामान्य से किसी के प्रत्यक्ष हैं इस बात के सिद्ध हो जाने पर सर्वज्ञत्व की सम्यक् प्रकार से व्यवस्था बन जाती है और सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन

---

१ स्याद्वादिनः प्राहुः 'इति केचिन्मीमांसकास्तेपि न सम्यग्वादिनः, इति। २ जैनानाम्। ३ नैयायिकानाम्। ४ सिद्धान्ती। ५ तर्हि सूक्ष्माद्यर्थानां कथं प्रत्यक्षत्वं साध्यते जैनैर्भवद्भिरिति मीमांसकाशङ्कायामाह प्रत्यक्षसामान्येनेत्यादि। (६) योगी=सर्वज्ञः।

---

(1) इन्द्रियप्रत्यक्ष। (2) सूक्ष्माद्यर्थाः इंद्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षा भवंति। इति (3) साधयतां यौगादीनां स्याद्वादिभिस्तस्य पक्षस्य दोषः समर्थ्यते। दि. प्र.। (4) योगिन इंद्रियं योगजधर्मबलात् सूक्ष्माद्यर्थं गृह्णाति। (5) मस्माभिः स्याद्वादिभिः।

सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात् । 'यन्नेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषयं दृष्टं, यथास्मदादिप्रत्यक्षम् । सूक्ष्माद्यर्थविषयं च योगिनः प्रत्यक्षं सिद्धं, तस्मादिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम् । नावधिमनःपर्ययप्रत्यक्षाभ्यां हेतुर्व्यभिचारी, तयोरपीन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वसिद्धेः ।

की अपेक्षा रहित है यह बात भी सिद्ध हो हो जाती है । तथाहि—

"सर्वज्ञ भगवान का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है क्योंकि वह सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला है जो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित नहीं है । वह सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला भी नहीं है जैसे कि हम लोगों का प्रत्यक्षज्ञान, और सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला भगवान सर्वज्ञ का प्रत्यक्षज्ञान सिद्ध ही है । इसीलिये वह इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है ।

इस प्रकार अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान के द्वारा भी हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है क्योंकि ये दोनों ज्ञान भी इंद्रिय और मन की अपेक्षा से रहित हैं यह बात सिद्ध है ।

भावार्थ—मीमांसक ने जैसे तैसे करके इस बात को तो स्वीकार कर लिया कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं । अब वह इस बात को समझना चाहता है कि ये सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतींद्रिय ज्ञान से ? क्योंकि इन्द्रिय और मन को छोड़कर ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये और कोई साधन ही नहीं है ।

पुनः वह स्वयं ही कहता जा रहा है कि इंद्रिय ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष करना अशक्य है क्योंकि इंद्रियां वर्तमान-कालीन अपने ग्रहण करने योग्य कतिपय पदार्थों को ही विषय करती हैं । इसी बीच में मीमांसक का पड़ौसी नैयायिक आ जाता है और वह कहने लगता है कि भाई ! योग विशेष से उत्पन्न हुये अनुग्रह से योगियों की इन्द्रियां परमाणु आदि को जान लेती हैं ।

इस पर मीमांसक ने कहा कि भाई ! योग विशेष का अनुग्रह क्या चीज है ? जब इंद्रियां अपने विषय में प्रवृत्ति करती हों तब उसमें कुछ विशेषता का हो जाना अनुग्रह है या परमाणु आदि को जानने में इन्द्रियों के लिए सहकारी होना अनुग्रह है ? इन दोनों ही विकल्पों में मीमांसक ने दोष दिखा दिये हैं क्योंकि इन्द्रियों में योगज धर्म या मंत्र, तंत्र, अंजन गुटिका आदि अथवा आधुनिक यंत्र, दुर्बीन, खुर्दबीन आदि कैसे भी साधन मिल जावें । चक्षु इन्द्रिय देखने का ही काम करेगी, खुर्दबीन जैसे यंत्र से भी सुनने का काम नहीं कर सकेगी । कर्णेन्द्रिय रेडियो, टेलीफोन आदि यन्त्रों के द्वारा लाखों मीलों की बात को सुन ही सकती है, देख नहीं सकती है । सभी इन्द्रियां अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर सकती हैं अन्य इन्द्रियों के विषयों को नहीं ।

---

१ व्यतिरेकव्याप्तिः ।

नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं उनका कहना है कि पहले चक्षु इंद्रिय का घट से संबंध हुआ उसका नाम है, "संयोग" पुनः उसके रूप से संबंध हुआ है उसका नाम है "संयुक्त समवाय," इसके वाद इंद्रिय ने जो उसके रूपत्व को जाना उसका नाम "संयुक्तसमवेतसमवाय" है।

मीमांसक कहता है कि जब इंद्रियों का परमाणु आदि पदार्थों के साथ सम्बन्ध ही नहीं होता है तव संयोग, संयुक्त समवाय आदि सन्निकर्ष भी कैसे वनेंगे ? पुनरपि मीमांसक उस नैयायिक को समझा रहा है कि भाई ! यदि आप कहें कि मन पर योगज धर्म का अनुग्रह होता है और मन ही संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को जान लेता है तो यह वात भी घटित नहीं है क्योंकि मन एक साथ पंचेंद्रियों के विषयों को भी नहीं समझ सकता है तव सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने की वात वहुत ही दूर है। हां ! जैनों ने अवश्य मानस मतिज्ञान के द्वारा मूर्तिक अमूर्तिक छहों द्रव्यों का ज्ञान और उनकी कतिपय पर्यायों का ज्ञान माना है, किन्तु फिर भी मन से संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं माना है।

यदि मूल का दूसरा विकल्प लिया जाय कि अतींद्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ संपूर्ण पदार्थों को जानते हैं तो यह वात भी नहीं वन सकती क्योंकि अतींद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान असिद्ध ही है। पहले उसे ही सिद्ध करने में आपको वहुत शक्ति लगानी पड़ेगी। इस प्रकार से मीमांसक से आमना-सामना करके अपनी शंका का समाधान करने का प्रयत्न करते हुये अपनी ही वात को पुष्ट कर दिया है।

अव जैनाचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं कि भाई ! यदि हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होना मानें तो ये सव दोष हमारे ऊपर आ जावेंगे किन्तु हम तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से संपूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण नहीं मानते हैं और न आपके द्वारा कल्पित अतींद्रिय प्रत्यक्ष से ही सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार मानते हैं। इसलिये आप मीमांसक हमारे ऊपर दोषारोपण नहीं कर सकते हैं प्रत्युत हम जैन सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष जानना मानते हैं।

वह सामान्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन आदि की अपेक्षा से रहित है अतः परमार्थ प्रत्यक्ष है। आत्मा में केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ आत्मा का ही निजी स्वभाव है। उसे ही अतींद्रिय प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

"सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतींद्रियमशेषतो मुख्यं" इस सूत्र के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री विशेष से अखिल आवरण के नष्ट हो जाने पर वह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः वह ज्ञान अतींद्रिय है और मुख्य प्रत्यक्ष है, शेष, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान हैं ये मुख्य प्रत्यक्ष नहीं हैं। आदि का मतिज्ञान न्याय की भाषा में, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और सैद्धांतिक ग्रंथों के आधार से इंद्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने से परोक्ष कहलाता हैं। अवधिज्ञान और मनः-पर्ययज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं और ये क्षायोपशमिक होते हुए भी अतींद्रिय हैं। ये दोनों ज्ञान भी इंद्रिय और मन की सहायता से रहित हैं इसलिये ये दोनों ज्ञान सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाले हैं, परमाणु तक सूक्ष्म वस्तु को जानने की सामर्थ्य रखते हैं, कई भवों की और

[सूक्ष्मादिपदार्थान् कः प्रत्यक्षेण जानाति, अर्हंद् भगवान्, बुद्धादयो उभयव्यतिरिक्तः कश्चिद् वा ? इत्यादिप्रश्नानां विचारः]

[1]ननु च कस्येदं सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वं (1)साध्यते ? अर्हतोनर्हतः[2] सामान्यात्मनो वा ? **यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः साध्यते[3] पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । तत एव (2)व्याप्तिर्न[4] सिध्येत् । (3)अनर्हतश्चेदनिष्टानुषंगोपि[5] । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम्[6] ? इत्येत[7]द्विकल्पजालं [8]शब्दनित्यत्वेपि(4) समानं, न केवलं सूक्ष्मादि-साक्षात्करणस्य (5)प्रतिषेधने संशीतौ वा । [9]तदयमनुमानमुद्रां(6) [10]भिनत्ति* ।** न कश्चित्सूक्ष्मा-

असंख्यात द्वीप समुद्रों तक की भी बातें स्पष्ट जान लेते हैं। ये भी स्वात्मा से ही उत्पन्न होने से पूर्ण विशद हैं, केवलज्ञान से अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान में अंतर केवल इतना ही है कि ये द्रव्य, क्षेत्र, आदि की मर्यादा को लिये हुए सीमित हैं एवं केवलज्ञान संपूर्ण लोकालोक को जानने वाला होने से असीमित-अनंत है। स्पष्टता की अपेक्षा इन तीनों में कोई अंतर नहीं है। अंत में निष्कर्ष यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतींद्रिय प्रत्यक्ष है यह बात यहां सिद्ध की गई है।

[सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जानने वाले कौन हैं ? अर्हंत, बुद्धआदि या इनसे भिन्न अन्य कोई जन ?]

मीमांसक—यह सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षपना आप किसके सिद्ध करते हैं अर्हत (केवली जिन) के या अनर्हत (बुद्धादिक) के अथवा सामान्य आत्मा के ?

यदि विप्रकृष्ट अर्थों—दूरवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्षपना अर्हंत में सिद्ध करते हो तब तो पक्ष में अप्रसिद्ध विशेषणत्व दोष आता है इसी से व्याप्ति की सिद्धि भी नहीं होगी। अर्थात् जहां-जहां अनुमेयत्व हेतु है वहां-वहां किसी अर्हंत के प्रत्यक्षपना है यह व्याप्ति नहीं बन सकेगी और यदि आप ऐसा कहें कि अनर्हंत (बुद्धआदिक) के परोक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध करते हैं तब तो आपके यहां अनिष्ट का प्रसंग भी आता है क्योंकि आप जैनों के यहां अर्हंत के अतिरिक्त किसी बुद्ध, कपिल आदि में सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध करना इष्ट नहीं है। पुनः अर्हत और अनर्हंत के अतिरिक्त सामान्यात्मा और कौन है कि जिसके आप सूक्ष्मादि परोक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध कर सकें ?

जैन—इस प्रकार के ये विकल्प जाल आपके यहां शब्द को नित्य मानने रूप अनुमान में भी

१ मीमांसकः। २ बुद्धादेः। ३ तर्हीत्यध्याहार्यम्। ४ यत्र यत्रानुमेयत्वं तत्र तत्र कस्यचिदर्हतः प्रत्यक्षत्वमिति व्याप्तिर्नास्त्यतः पक्षदोषः। ५ अपिशब्दात्पक्षदोषोपि। ६ सूक्ष्माद्यर्थानाम्। ७ जैन आह। ८ मीमांसकस्येष्टे। ९ तत्तस्मादयं मीमांसकः। १० मीमांसकः सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्करणप्रतिषेधसंशययोः क्रमेणानुमाने द्वे रचयति (वक्ष्यमाणप्रकारेण)।

(1) सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः कस्यचिदर्हतः प्रत्यक्षाः। (2) सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः अर्हतः प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्। यत्प्रमेयं तदर्हतः प्रत्यक्षमिति व्याप्तेरभावात्। (3) बुद्धादेः। (4) समुच्चये। (5) सर्वज्ञस्य निषेधे संशये वा। (6) तस्मात्।

दिसाक्षात्कारी, पुरुषत्वादेः[1], रथ्यापुरुषवत् । विवादापन्नः पुरुषः सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वेन संशयित एव 'विप्रकृष्टस्वभावत्वात्' पिशाचादिवत् । इति सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा 'तावदिदं विकल्पजालं समानं सिद्धमेव । 'स हि तत्र प्रतिषेधं संशयं वा साधयन् किमर्हतः साधयेदनर्हतः सामान्यात्मनो वा ? अर्हतश्चेदप्रसिद्धविशेषणःपक्षो[2] व्याप्तिश्च न सिध्येद्, [3]दृष्टान्तस्य' साध्यशून्यतानुषङ्गात् । अनर्हतश्चेत्स एव दोषो बुद्धादेः परस्या' - सिद्धेरनिष्टानुषङ्गश्च[4], अर्हतस्तत्प्रत्यक्ष'त्वविधाननिश्चयात् । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थ'प्रत्यक्षत्वप्रतिषेधसंशयौ साध्येते ? इति ।

समान हैं न कि केवल सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात् करने वाले सर्वज्ञ का प्रतिषेध करने में अथवा उनमें संशय करने में । इसलिए आप मीमांसक अनुमान मुद्रा का भेदन कर देते हैं ।*

कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारी नहीं है क्योंकि पुरुष है उन्मत्त पुरुष के समान । "विवाद में आया हुआ पुरुष सूक्ष्मादि पदार्थों को साक्षात् करने में संदिग्ध ही है क्योंकि परोक्ष स्वभाव वाला है जैसे कि पिशाचादि ।" इस प्रकार सूक्ष्मादि को साक्षात् करने वाले सर्वज्ञ का निषेध करने में अथवा संदेह करने में आप मीमांसक के यहां ये विकल्प जाल समान ही सिद्ध होंगे । तथाहि—

आप मीमांसक-सर्वज्ञ का निषेध करते हुए अथवा सर्वज्ञ में संशय करते हुए इन दोनों बातों को अर्हत में सिद्ध करते हैं या अनर्हत में अथवा सामान्यात्मा में ? यदि आप पहला विकल्प मानें कि हम अर्हत में सर्वज्ञत्व का प्रतिषेध करते हैं तब तो आपका पक्ष असिद्ध विशेषण वाला है एवं उसकी व्याप्ति भी सिद्ध नहीं होती तथा दृष्टाँत भी साध्यविकल है । यदि अर्हत से रहित बुद्ध आदि में सर्वज्ञत्व का निषेध करते हैं तब तो आप मीमांसकों के यहां कपिल बुद्ध आदि की असिद्धि ही नहीं मानी गई है अतः अनिष्ट का प्रसंग आ जाता है ।

एवं अर्हत में तो सूक्ष्मादि के प्रत्यक्ष का विधान ही निश्चित किया है और पुनः इन दोनों को छोड़कर सामान्यात्मा है कौन कि जिसके विवक्षित सूक्ष्मादि पदार्थों के प्रत्यक्षत्व का आप निषेध सिद्ध करें या संदेह सिद्ध करें ?

[मीमांसक जिन प्रश्नोत्तरों के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करना चाहते हैं जैनाचार्य उन्हीं प्रश्नोत्तरों से उसी के द्वारा मान्य नित्य शब्द का खंडन कर देते हैं ।]

---

१ विवादापन्नस्य सर्वज्ञस्य । २ पूर्वोक्तप्रकारेण । ३ तव मीमांसकस्य । ४ मीमांसकः । ५ रथ्यापुरुषस्य । ६ मीमांसकस्य । ७ सूक्ष्माद्यर्थानाम् ।

---

(1) पुरुषत्वात् रथ्या इति पा. । दि. प्र. । (2) अर्हन् प्रसिद्धो न वर्तते । (3) सव्याप्तिकं दृष्टांतवचनमुदाहरणमीदृग् विवलक्षणाभावात् विशेषरूपेऽर्हत्यभावे सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वस्य रथ्यापुरुषे सद्भावो भविष्यति । (4) मीमांसकस्य । (5) परिशेषन्यायेन ।

[मीमांसको यथा प्रश्नोत्तरमालिकया सर्वज्ञाभावं करोति जैनाचार्या अपि तैः प्रश्नैरेव तदयाभीष्टशब्दान् दूषयंति]

[1]तद्वच्छब्दनित्यत्वसाधनेपि समानमेतद्विकल्पजालम् । तथा हि । [2]अयं शब्दानां नित्यत्वं साधयन् सर्वगतानां साधयेदसर्वगतानां वा सामान्यात्मनां वा ? **वर्णानां नित्यत्वमकृतकत्वादिना[1] सर्वगतानां यदि साधयति [3]स्यादप्रसिद्धविशेषणः[2] [4]पक्षः [5]इतरथानिष्टानुषंगः । [3]कीदृक् पुनः सामान्यं नाम [6]यदुभयदोषप्रसंगपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतत्वसाधनेपि [7]समानम् *** । [8]तद्धि वर्णानाममूर्तानां साधयेन्मूर्तानां तदुभयसामान्यात्मनां वा ? यद्यमूर्तानां [9]सर्वगतत्वं साधयेत्तदाऽप्रसिद्धविशेषणता[4] पक्षस्य । अथ मूर्तानामनिष्टानुषङ्गः[10] । कीदृक् पुनः सामान्यं नाम [11]यदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतेतरसामान्यात्मन इव मूर्त्तेतर-

---

इसी प्रकार से आपके मतानुसार शब्द को नित्य सिद्ध करने में भी ये सभी विकल्प समान ही हैं। तथाहि—आप शब्दों को नित्य सिद्ध करते हुये सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो या असर्वगत शब्दों को अथवा सामान्य शब्दों को ?

अकृतकत्व आदि हेतु के द्वारा वर्णों को नित्य सिद्ध करते हुये यदि सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो तब तो पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला हो जावेगा और यदि असर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो तब तो अनिष्ट का प्रसंग आ जावेगा। पुनः इन दोनों से रहित सामान्य किस प्रकार का है कि जिसको इन दोनों में दिये गये दोषों का परिहार करने के लिये आप कल्पित कर सकें अर्थात् नहीं कर सकते हैं एवं सर्वगतत्व को सिद्ध करने में भी ये ही दोष समान रूप से आ जाते हैं। * उस सर्वगतत्व को अमूर्तिक वर्णों में सिद्ध करते हो या मूर्तिक में अथवा सामान्यात्मक में ?

यदि आप कहें "अमूर्तिक शब्द सर्वगत हैं क्योंकि वे अकृतक हैं तब तो पक्ष अप्रसिद्धविशेषण वाला है। यदि मूर्तिक शब्दों को सर्वगत सिद्ध करें तब तो आपके लिये अनिष्ट है। आप मीमांसक शब्दों को अमूर्त ही मानते हो। पुनः सामान्य किस प्रकार का है कि जिसको दोनों ही दोषों के प्रसंग को दूर करने के लिये आप कल्पित कर सकते हैं ? सर्वगतेतर सामान्यात्मा के समान मूर्त्तेतर सामान्यात्मा भी

---

१ मीमांसकाभीष्टे शब्दनित्यत्वे एतद्विकल्पजालं समानं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशये चापीति। अयं मीमांसको वक्ष्यमाणरीत्यानुमानद्वयं करोति यत्तन्न सम्यगित्यर्थः। २ मीमांसकः। ३ अप्रसिद्धं सर्वगतत्वविशेषणं यस्य सः। ४ शब्दः। ५ असर्वगतानां नित्यत्वं साधयति चेत्। ६ अनिष्टानुषङ्गत्वरूपोऽप्रसिद्धविशेषणत्वरूपश्चेत्युभयदोषौ। ७ एकान्तवाद्यभिमतसर्वथासर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः। ८ सर्वगतत्वम्। ९ अमूर्तः शब्दः सर्वगतः, अकृतकत्वादिति। १० मीमांसकमते शब्दानाममूर्तत्वात्। ११ पक्षदोषोनिष्टानुषङ्गश्चेति।

---

(1) अकृतकत्वात् अनुत्पत्तिमत्त्वादित्यादि हेतुना। (2) नित्यसर्वगतशब्दस्य क्वचिदप्रसिद्धेः अथवा एकांतवाद्यभिमतसर्वथा सर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः। दि. प्र. (3) सामान्यात्मनां वा। (4) अमूर्तशब्दाः सर्वगताः सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् अथवा एकांतवाद्यभिमतसर्वथामूर्तत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः। दि. प्र.।

सामान्यात्मनोऽसम्भवाद्वर्णेषु[1]। [2]तदयमनुमानमुद्रां [3]सर्वत्र भिनत्तीति नानुमानविचारणायामधिकृतः[2] स्यात्। [3]अविवक्षितविशेषस्य[3] पक्षीकरणे समः [4]समाधिरित्यलमप्रति[4]-ष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः[1] *। यथैव हि शब्दस्याविवक्षितसर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेषस्याकृतकत्वादिहेतुना नित्यत्वे साध्ये न कश्चिद्दोषः स्यात्, नाप्यविवक्षितामूर्त्तत्वेतरविशेषस्य [6]सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादिना[7] सर्वगतत्वे, तथैवाविवक्षितार्हदनर्हद्विशेषस्य कस्यचित्पुरुषस्य विप्रकृष्टार्थसाक्षात्करणेपि साध्येनुमेयत्वादिहेतुना न [5]कञ्चिद्दोषं [8]पश्यामोन्यत्राप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघेभ्यः [9]प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धिभ्यः, [10]तेषामप्रतिष्ठितत्वात्[6], [11]साधनाभासे इव सम्यक्साधनेपि [12]स्वाविषयेवतारात्। ततो निरवद्यमिदं साधनं कस्यचित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वं साधयति।

वर्णों में असंभव ही है। इसलिये आप मीमांसक के यहाँ अपने पक्ष में भी समान ही दोषों का प्रसंग आने से आप मीमांसक अनुमान मुद्रा का भेदन कर देते हैं। अतः अनुमान के विचार करने में आपको अधिकार ही नहीं है। तथा यदि आप कहें कि—

अविवक्षित है विशेषता जिसकी अर्थात् सर्वगतत्व, असर्वगतत्व आदि विशेषताओं से रहित सामान्य मात्र को ही हम पक्ष बनाते हैं तो समान ही समाधान है। इसलिये अप्रतिष्ठित मिथ्या विकल्पों के समूह से बस होवें।* क्योंकि जिस प्रकार से सर्वगतत्व, असर्वगतत्व की विशेषता जिसमें विवक्षित नहीं है ऐसे शब्दों को अकृतत्व आदि हेतु के द्वारा नित्य सिद्ध करने में कोई दोष नहीं है। एवं मूर्त, अमूर्त का भेद विवक्षित नहीं है जिनमें ऐसे शब्दों को सर्वत्र उपलब्धि को प्राप्त गुणत्व आदि के द्वारा सर्वगत रूप सिद्ध करने में कोई दोष नहीं है। अर्थात् "नित्य शब्द सर्वगत होता है क्योंकि द्रव्य रूप होने से अमूर्तिक है जैसे आकाश" इत्यादि।

उसी प्रकार से जिसमें अर्हंत एवं अनर्हंत की विशेषता विवक्षित नहीं है, ऐसा कोई पुरुष अनुमेयत्व आदि हेतु के द्वारा विप्रकृष्ट पदार्थों का साक्षात्करण करने वाला है इस विषय में केवल प्रकृत साधन (अनुमेयत्व) के अविरोधी अप्रतिष्ठित मिथ्या विकल्पों के समूह के अतिरिक्त हमें कोई दोष नहीं दिखता है क्योंकि ये विकल्प (भेद) अप्रतिष्ठित हैं। साधनाभास में अपने अविषय के समान सम्यक् साधन में भी अपने विषय का अवतार नहीं होता है। अतः हमारा यह अनुमेयत्व हेतु निर्दोष है और किसी व्यक्ति विशेष को सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारी होना सिद्ध करता है।

---

१ यतो मीमांसकस्य स्वपक्षेपि समानं तत्तस्मादयं मीमांसकः। २ स्वपक्षेपि परपक्षवत्। ३ अविवक्षितः सर्वगतत्वासर्वगतत्वादिर्विशेषो यस्य स तस्य। ४ हे मीमांसक। ५ अर्हतोऽनर्हतो वेत्यादिरूपैः ६ सर्वत्रोपलभ्यमानमाकाशम्। ७ नित्यः शब्दः सर्वगतो भवति, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाशवदित्यादिना च। ८ विना। ९ प्रकृतं साधनमनुमेयत्वम्। १० विकल्पौघानाम्। ११ अप्रतिष्ठितत्वे हेतुरयम्। १२ मिथ्याविकल्पौघाविषये।

---

(1) सामान्यात्मनोरसंभवादिति वा पा०। दि. प्र.। (2) योग्यः। (3) शब्दस्य। (4) अव्यवस्थित। (5) न केनापि कंचिद्दोषं इति पा. दि. प्र.। (6) अप्रतिष्ठितत्वं कुतः?

भावार्थ—मीमांसक ने जैसे-तैसे यहां तक तो मंजूर कर लिया कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं और वह प्रत्यक्ष अतींद्रिय प्रत्यक्ष है। इस बात को स्वीकार कर लेने के बाद भी उसे चैन नहीं पड़ी और वह प्रश्न करने में पुनः आगे बढ़कर कहता है कि अच्छा आप जैन ! यह तो बताओ कि यह अतींद्रिय प्रत्यक्ष आप अर्हंत के मानते हैं या बुद्ध कपिल आदि के या इन दोनों से रहित किसी सामान्य आत्मा के ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो बनता नहीं क्योंकि कोई भी आत्मा अर्हंत रूप से सिद्ध ही नहीं है और अप्रसिद्ध को पक्ष बनाया ही नहीं जा सकेगा। द्वितीय पक्ष में बुद्ध, कपिल आदि को अतींद्रियदर्शी मानना आपको इष्ट नहीं है।

तृतीय पक्ष में इन दोनों को छोड़कर और आत्मा है कौन जिसे आप सर्वज्ञ सिद्ध कर सकें ? अतः आप अपने अर्हंत को ही सर्वज्ञ सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ये तीन प्रकार के दूषण तो सर्वत्र ही दिये जा सकते हैं। आप मीमांसकों ने शब्द को नित्य सिद्ध किया है। हम प्रश्न कर सकते हैं कि आप सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हैं या असर्वगत शब्दों को या इन दोनों से रहित सामान्य शब्दों को ? एवं शब्दों को सर्वगत सिद्ध करते हुए आप अमूर्तिक शब्दों को सर्वगत सिद्ध करते हैं या मूर्तिक शब्दों को या इन दोनों से रहित किन्हीं शब्दों को ?

इसी प्रकार से आपकी सभी मान्यताओं में हम इन्हीं विकल्पों को उठाकर दूषण देते जावेंगे। तब मीमांसक घबड़ाकर बोल पड़ा कि भाई ! हम विशेष की विवक्षा न करके सामान्य मात्र शब्दों को ही नित्य, सर्वगत और अमूर्तिक सिद्ध करते हैं अतः हमारे यहां ये कोई दोष नहीं आते हैं।

जैनाचार्य ने कहा कि भाई ! फिर मुझ पर ही आपको इतना क्या द्वेष है कि जिससे आप इस प्रकार से कुप्रश्नों की भरमार करते ही जा रहे हैं। हम भी तो विशेष रूप से अर्हंत अनर्हंत की विवक्षा न करके सामान्य मात्र से ही किसी भी पुरुष को सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे हैं। हमें किसी से भी द्वेष नहीं है जो कर्म पर्वत को भेदन करने वाला दोष—आवरण से रहित निर्दोष महापुरुष है वह कोई भी क्यों न हो बस ! हम उसे ही सर्वज्ञ मान लेते हैं। इसलिये 'अनुमेयत्व' हेतु के द्वारा किसी न किसी आत्मा के संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थोंका साक्षात्कार होना सिद्ध ही हो जाता है। अब अधिक कथन से तो केवल पिष्टपेषण ही होगा ऐसा समझना चाहिये।

उत्थानिका—इस प्रकार किसी के कर्मभूभृत् भेदित्व के समान विश्व-तत्त्वों का साक्षात्कारित्व भी हो जावे क्योंकि सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें ऐसे प्रमाण का सद्भाव पाया जाता

नन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्मभूभृद्भेदित्वमिव विश्वतत्त्वसाक्षात्कारित्वं, [१]प्रमाणसद्भावात्। स तु परमात्मार्हन्नेवेति कथं निश्चयो यतोहमेव महानभिवन्द्यो भवतामिति [२]व्यवसिता[१]भ्यनुज्ञानपुरस्सरं[1] भगवतो [2]विशेषसर्वज्ञत्वपर्यनुयोगे[४] सतीवाचार्याः प्राहुः ।—

स त्वमेवासि [3]निर्दोषो [५]युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्[4] ।
अविरोधो [5]यदिष्टं ते[6] प्रसिद्धेन न बाध्यते ।६॥

दोषास्तावदज्ञानरागद्वेषादय उक्ताः। निष्क्रान्तो दोषेभ्यो[7] निर्दोषः । [७]प्रमाणबलात्सिद्धः सर्वज्ञो वीतरागश्च सामान्यतो यः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्। यो [८]यत्र[8] युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टो, यथा क्वचिद्व्याध्युपशमे

है। पुनरपि वह परमात्मा अर्हंत ही हैं यह निश्चय कैसे हो सकता है कि जिससे मैं ही आपके लिये महान् नमस्कार करने योग्य होऊं। इस प्रकार निश्चित स्वीकृति पूर्वक भगवान् के विशेष सर्वज्ञत्व के प्रश्न करने पर ही मानो आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

कारिकार्थ—हे भगवन्! दोष और आवरण से रहित निर्दोष सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले एवं युक्ति-शास्त्र (तर्क व आगम) से अविरोधी वचन को बोलने वाले वह अर्हंत परमात्मा आप ही हैं क्योंकि आपका इष्ट (मत) विरोध रहित है उसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती है ॥६॥

अज्ञान, राग, द्वेष आदि तो दोष कहे गये हैं और जो दोषों से रहित हैं वे निर्दोष हैं। पूर्वोक्त चौथी एवं पांचवीं कारिका में कहे गये अनुमान प्रमाण के बल से सामान्यतया जो सर्वज्ञ और वीतराग सिद्ध हुये हैं। हे भगवन्! वे आप ही हैं क्योंकि आपके वचन, युक्ति (तर्क) और शास्त्र (आगम) से अविरोधी हैं, जो जहां पर युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं वे वहां पर निर्दोष देखे गये हैं जैसे किसी व्याधि को दूर करने में उत्तम वैद्य। मुक्ति और संसार तथा इन दोनों कारणों में भगवान् युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं इसीलिये वे निर्दोष हैं।" इस प्रकार से हमारा निश्चय है। मेरे वचन

---

१ प्रमाणं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वलक्षणम्। २ व्यवस्थितेति पाठान्तरम्। ३ व्यवसितं निश्चितमभ्यनुज्ञानमभ्युपगमस्तत्पुरस्सरमिति क्रियाविशेषणम्। ४ प्रश्ने। ५ युक्तिस्तर्कः। शास्त्रमागमः। हेतुगर्भितं विशेषणमिदम्। ६ यद्यस्मात्ते इष्टं प्रसिद्धेन न बाध्यते तत एवाविरोध इत्यर्थः। ७ अनन्तरोक्तकारिकाद्वयोक्तानुमानद्वयबलात्। ८ तत्त्वे।

---

(1) निश्चित। ता। अभ्युपगम। (2) अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति विशेषस्य। (3) दोषेभ्योऽज्ञानरागद्वेषादिभ्यो निष्क्रांतः। दि. प्र.। (4) यतः। (5) यस्मात्। (6) तत्त्वं। (7) भगवान् पक्षो निर्दोषो भवतीति साध्यो धर्मो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्। इत्याद्यनुमानमेकं। भगवान् पक्षः युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् भवतीति साध्यो धर्मः भगवतोभिमततत्त्वस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात् इति द्वितीयं। दि.प्र.। (8) यः सामान्यतः सिद्धः स त्वमेव मोक्षसंसारतत्कारणेषु निर्दोषो भवितुमर्हति तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् इति प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगो द्रष्टव्यः। दि. प्र.।

भिषग्वरः[1] । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिसंसारतत्कारणेषु[2], तस्मान्निर्दोष इति निश्चयः । युक्तिशास्त्राभ्यासविरोधः कुतो [3]मद्वाचः [4]सिद्धोऽनवयवेनेति चेद्यस्मादिष्टं मोक्षादिकं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते । तथा हि । यत्र [5]यस्याभिमतं[1] तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । यथा [2]रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे[6] भिषग्वरः । न बाध्यते च प्रमाणेन भगवतोभिमतं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम् । तस्मात्तत्र त्वं[7] युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । इति विषयस्य युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्ति-

संपूर्णतया युक्ति आगम से अविरोधी किस प्रकार से सिद्ध है ? इस प्रकार से भगवान् के प्रश्न करने पर ही मानों समंतभद्र आचार्य कहते हैं कि—

हे भगवन् ! आपके मोक्षादिक तत्त्व प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं होते हैं । तथाहि— "जहां पर जिस पुरुष का अभीष्ट तत्त्व प्रमाण से बाधित नहीं होता है वह वहां पर युक्ति और आगम से अविरोधी वचन वाला है जैसे रोग और स्वास्थ्य तथा उनके कारणों में उत्तम वैद्य । भगवान् के द्वारा अभिमत मोक्ष, संसार और उन-उनके कारण कारणभूत तत्त्व प्रमाण से बाधित नहीं होते हैं । इसीलिये उस-उस विषय में भगवान् आप ही युक्ति और आगम से अविरोधी वचन वाले हैं ।"

इस प्रकार मोक्ष, संसार एवं इन दोनों के कारणभूत इस विषय को युक्ति-शास्त्र से अविरोधी पना सिद्ध होने से विषयी भगवान के वचनों को भी युक्ति और शास्त्र से अविरोधीपना सिद्ध हो जाता है ।

भावार्थ—श्री स्वामी समंतभद्राचार्यवर्य ने देवागम स्तोत्र में "देवागमनभोयान" इत्यादि कारिका के द्वारा बहिरंग विभूतिमान् हेतु से भगवान को महान् नहीं माना है । 'अध्यात्मं बहिरप्येष' इत्यादि द्वितीय कारिका के द्वारा अंतरंग महोदय से भी भगवान् को नमस्कार नहीं किया है तथा 'तीर्थकृत्समयानां' इत्यादि तृतीय कारिका से सभी के आम्नाय में परस्पर विरोध दिखाकर पुनः धीरे से ऐसा कह दिया है कि 'कश्चिदेव भवेद्गुरुः' कोई न कोई एक भगवान् अवश्य ही होना चाहिये ।

इसके पश्चात् चतुर्थ कारिका में इस बात को बताया है कि दोष और आवरण से ही प्राणी संसारी कहलाते हैं इनका किसी न किसी में पूर्णतया अभाव हो सकता है क्योंकि संसारी प्राणियों में दोष और आवरण के हानि की तरतमता देखी जाती है । पुनः आगे पांचवीं कारिका में यह स्पष्ट कर देते हैं कि 'सूक्ष्मादि पदार्थ' किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ है ।

१ वैद्यशास्त्रयुक्त्यविरोधिवाग् निर्दोषः । २ मुक्तिश्च संसारश्च तत्कारणे च तेषु । ३ मम वर्द्धमानस्य । ४ सामस्त्येन । ५ यस्य पुरुषस्य स इति सम्बन्धः । ६ रोगश्च स्वास्थ्यं च तत्कारणानि च तान्येव तत्त्वं तस्मिन् । ७ भगवान् ।

(1) मोक्षसंसारतत्कारणेषु त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाग् भवितुमर्हसि तत्र त्वदभिमतस्य तत्त्वस्य स्वरूपस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात् इति प्रतिज्ञाहेतू द्रष्टव्यौ । दि. प्र. । (2) रोगश्च स्वास्थ्यं च तत्कारणे च तान्येव तत्त्वं तत्र । दि. प्र. ।

शास्त्राविरोधित्वसाधनम्[१] । [२]कथमत्र कारिकायामनुपात्तो भिषग्वरो दृष्टान्तः कथ्यते इति चेत् स्वयं [३]ग्रन्थकारेणान्यत्राभिधानात् ।

"त्वं सम्भवः [४]संभवतर्षरोगैः, सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक[५] एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै ।।"

इति स्तोत्रप्रसिद्धेः । [६]इह दृष्टान्तावचनं तु संक्षेपोपन्यासान्न विरुध्यते, [1]अन्यथानुपपन्नत्वनियमैकलक्षणप्राधान्यप्रदर्शनार्थं[७] वा ।

अब 'स त्वमेवासि निर्दोषो' इस कारिका में यह स्पष्टतया कह रहे हैं कि वह सर्वज्ञ और निर्दोष भगवान् आप ही हैं । पुनः प्रश्न यह होता है कि आप ही निर्दोष क्यों हैं ? क्योंकि यहां परीक्षा प्रधानी शिष्यगण केवल आगम मात्र से ही भगवान् को निर्दोष मानने को तैयार नहीं हैं । उनको आचार्य समझाते हैं कि सर्वज्ञ भगवान् निर्दोष इसलिये हैं कि उनके वचन तर्क और आगम से अविरोधी हैं क्योंकि आपका शासन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से वाधित नहीं है । लोक व्यवहार में उत्तम वैद्य रोगी के रोग का कारण वता देता है और स्वस्थता के कारण भी बता देता है, अब यह स्वस्थ हो चुका है इसके ज्वर आदि विकार निकल चुके हैं । वैद्य के ऐसे निर्णय पर आवाल गोपाल जन विश्वास कर लेते हैं ऐसा देखा जाता है । अब आगे इस वात को सिद्ध कर रहे हैं कि भगवान् के शासन में मान्य मोक्ष और संसार एवं इन दोनों के कारण भी विरोध रहित तर्क, आगम आदि से सिद्ध हैं ।

प्रश्न—इस कारिका में दृष्टांत न होते हुये भी भिषग्वर का दृष्टांत आपने क्यों लिया ?

उत्तर—स्वयं ग्रंथकार श्री समंतभद्राचार्य स्वामी ने अन्यत्र "स्वयंभूस्तोत्र" में भिषग्वर का दृष्टांत ग्रहण किया है यथा—

"त्वं संभवः संभवतर्षरोगैः, संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ रूजां प्रशांत्यै ।।"

अर्थ—हे संभवनाथ भगवान् ! संसार में तृष्णा रूपी रोग से पीड़ित हुये जीवों के लिये आप ही अकारण वैद्य हैं । जिस प्रकार से लोक में रोगों की शांति के लिये वैद्य होते हैं ।

अतः यहां कारिका में संक्षेप से कथन होने से दृष्टांत को नहीं कहने पर भी विरोध नहीं आता है अथवा हेतु में "अन्यथानुपपत्ति" ही निश्चित एक लक्षण प्रधान है ऐसा बतलाने के लिये भी दृष्टांत नहीं दिया है ।

---

१ सिद्धमस्ति; विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । २ तटस्थः शंकते । ३ समन्तभद्राचार्येण । ४ संभवः संसारः । तर्षस्तृष्णा । ५ प्रत्युपकारनिरपेक्षः । ६ कारिकायाम् । ७ पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूपं विनापि अन्यथानुपपन्नत्वनियमलक्षणाद्धेतोः साध्यसिद्धेः कारिकायामदृष्टान्तवचनम् ।

---

(1) यथा हेतोरन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं पक्षधर्मत्वाभावेऽपि समर्थं ।

भावार्थः—नैयायिकोंने हेतुके पांच अवयव माने हैं। १ पक्षधर्मत्व, २ सपक्ष सत्त्व, ३ विपक्ष व्यावृत्ति, ४ अवाधित विषयत्व, ५ असत्प्रतिपक्षत्व। इसी प्रकार बौद्धों ने उपरोक्त पांच अवयवों में से आदि के तीन अवयव माने हैं किन्तु जैनाचार्यों ने "अन्यथानुपपत्तिः" एक लक्षण हेतु का माना है। इस अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले हेतु में पांचों अवयव नहीं है। तो भी हेतु साध्य को सिद्ध करने लाला सच्चा हेतु है और यदि हेतु में पांचों या चारों आदि अवयव होकर भी अन्यथानुपपत्ति लक्षण अविनाभाव हेतु नहीं है तो हेतु अहेतु है साध्य का गमक नहीं है।

सर्वज्ञसिद्धि का सारांश

मीमांसक यह कहता है कि—संपूर्ण कर्मों से रहित भी आत्मा परमाणु धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जानेगा? इन अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान तो वेद वाक्यों से ही होता है। अतएव जगत में कोई सर्वज्ञ नहीं है। इस पर आचार्य समाधान करते हैं कि—

सूक्ष्म परमाणु आदि एवं अंतरित राम-रावणादि तथा दूरवर्ती-सुमेरू पर्वत आदि परोक्ष पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं—अग्नि आदि के समान! एवं हे भगवन्! वे पदार्थ जिनके प्रत्यक्ष हैं वह आप ही निर्दोष सर्वज्ञ हैं क्योंकि आप के वचन युक्ति शास्त्र से अविरोधी हैं तथा आपका मत, संसार, मोक्ष एवं उनके उपाय प्रत्यक्षादि से वाधित नहीं होते हैं।

यदि कोई कहे कि अत्यंत परोक्ष पदार्थ अनुमेय नहीं हो सकते अतः अनुमेयत्व हेतु भागासिद्ध है। यह कथन ठीक नहीं है। कारण कि सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय हैं क्योंकि श्रुत-ज्ञान के विषय हैं एवं श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। अतएव श्रुतज्ञान के विषयभूत अनुमेय सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध ही हैं। मीमांसक कहता है कि "कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला नहीं है क्योंकि वह प्रमेय है, या अस्ति रूप है, या वस्तु रूप है। जैसे हम लोग।" इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ये हेतु तो हमारे सर्वज्ञ को ही सिद्ध करते हैं। तथाहि।

"सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि प्रमेयरूप हैं, अस्तित्व रूप हैं या वस्तु रूप हैं—स्फटिक आदि की तरह।"

तथा सर्वज्ञ भगवान अतीन्द्रिय ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों को जानते हैं इन्द्रिय ज्ञान से नहीं, क्योंकि इन्द्रियां तो वर्तमान के प्रतिनियत पदार्थ को ही विषय करती है सभी को नहीं। अतः इंद्रिय ज्ञान से कोई सर्वज्ञ नहीं वन सकता है। इस वात का स्पष्टीकरण सन्निकर्ष खंडन में विशेष रूप से है। एवं आप सर्वज्ञ अर्हंत ही निर्दोष हैं। बुद्ध, कपिल आदि नहीं है क्योंकि उनके वचन युक्ति एवं शास्त्र से अविरोधी नहीं हैं इस प्रकार से आप ही सर्वज्ञ वीतराग हैं यह वात सिद्ध हो गयी।

[मोक्षतत्कारणतत्त्वस्य सिद्धिः]

[१]तत्र भगवतोभिमतं मोक्षतत्त्वं तावन्न प्रमाणेन वाध्यते, प्रत्यक्षस्य [२]तद्बाधकत्वायोगात्[1]। [३]नास्ति [2]कस्यचिन्मोक्षः, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात् कूर्मरोमादिवदित्यनुमानेन वाध्यते इति चेन्न, मोक्षस्यानुमानादागमाच्च [3]प्रसिद्धप्रामाण्यादस्तित्वव्यवस्थापनात्[४], [4]क्वचिद्दोपावरणक्षयस्यैवानन्तज्ञानादिस्वरूपलाभफलस्यानुमानागमप्रसिद्धस्य[५] मोक्षत्वात्, "वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इति वचनात्[5]। तत[६] एव [6]नागमेनापि मोक्षतत्त्वं वाध्यते, [७]तस्य तत्सद्भावावेदकत्वव्यवस्थितेः। तथा [८]मोक्षकारणतत्त्वमपि[7] न प्रमाणेन विरुध्यते प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षप्रतिपत्तेरभावात्तेन[९] तद्बाधनायोगात्। नानुमानेनापि तद्वाधनं, [१०]ततो मोक्षस्य [8]कारणवत्त्वसिद्धेः। [११]सकारणको मोक्षः, प्रतिनियत-

---

अतः मोक्ष और संसार तथा मोक्ष और संसार के कारण इन चारों में भगवान के द्वारा प्रतिपादित जो मोक्षतत्त्व है वह प्रमाण से वाधित नहीं होता है क्योंकि प्रत्यक्ष से मोक्षादि तत्त्व में वाधा नहीं है।

अव स्वमत में अनुमान का अभाव होने पर भी चार्वाक परमत की अपेक्षा से अनुमान को ग्रहण करके मोक्ष तत्त्व का नास्तित्व सिद्ध करता है—

[चार्वाक के द्वारा मोक्ष एवं उसके कारण का खंडन एवं जैन के द्वारा समाधान]

चार्वाक—"किसी को भी मोक्ष नहीं है क्योंकि वह मोक्ष सत्ता को ग्रहण करने वाले पांचों प्रमाणों का विषय नहीं है, कछुये के रोम के समान" इस प्रकार अनुमान से बाधा आती है। अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान आगम उपमान और अर्थापत्ति ये पांचों ही प्रमाण सत् रूप वस्तु को ग्रहण करने वाले हैं और यह मोक्ष पांचों ही प्रमाणों का विषय नहीं है अतः मोक्ष है ही नहीं, ऐसा हमारा पक्ष है।

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है। प्रसिद्ध प्रमाणता वाले अनुमान से एवं आगम से मोक्ष के अस्तित्व की व्यवस्था की जाती है। किसी जीव में अनंत ज्ञानादि स्वरूप की प्राप्ति रूप फल तथा अनुमान एवं आगम से प्रसिद्ध दोष और आवरण का क्षय पाया जाता है उसी का नाम मोक्ष है। कहा भी है—" 'वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' अर्थात् वंध के हेतु का अभाव एवं निर्जरा

---

१ मोक्षसंसारतत्कारणेषु चतुर्षु मध्ये। २ तेषां=मोक्षतत्त्वादीनाम्। ३ स्वमतेनुमानस्याभावेपि चार्वाकः परमतापेक्षयानुमानं दर्शयति। ४ अग्रे। ५ दोपावरणयोर्हानिरित्याद्युक्तानुमानादिना। ६ एवं मोक्षस्य युक्त्यविरोधं प्रतिपाद्य शास्त्रा विरोधं प्रतिपादयति तत एवेति। ७ आगमस्य। ८ सम्यग्दर्शनादि। ९ प्रत्यक्षेण। १० अनुमानात्। ११ सम्यग्दर्शनादिकारणकः।

---

(1) तस्य तदविपयत्वात्। (2) नरस्य। (3) प्रसिद्धप्रामाण्यादित्येतदुत्तरत्र सर्वत्र यथावसरमागमशब्देन सह संवंधनीयं। (4) आत्मनि। (5) एवं मोक्षे सदुपलंभकानुमानागमप्रमाणद्वयं संभवापादनेन परोक्तं सदुपलंभकप्रमाणपंचकनिवृत्तिरूपं सावनमसिद्धमिति प्रतिपादितं वोद्धव्यं। दि. प्र. (6) प्रसिद्धप्रामाण्येन। (7) स्वरूपं। (8) कारणतत्त्वसिद्धेः इति पा.।

[१]कालादित्वात् पटादिवत् । तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुषंगः, परापेक्षा-रहितत्वादिति । [1]नागमेनापि मोक्षकारणतत्त्वं बाध्यते, तस्य तत्साधकत्वात् "सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि [२]मोक्षमार्गः" इति वचनात् ।

के द्वारा संपूर्ण कर्मों का नाश हो जाना इसी का नाम मोक्ष है ।" इस प्रकार तत्वार्थ सूत्र महाशास्त्र में कहा है । उसी प्रकार आगम प्रमाण से भी मोक्षतत्व बाधित नहीं होता है क्योंकि मोक्ष तत्व के सद्भाव का प्रतिपादक आगम उपलब्ध है ।

भावार्थ—यद्यपि मोक्ष इंद्रिय प्रत्यक्ष से नहीं दिखता है तो भी अनुमान एवं आगम से सिद्ध है । राज-वार्तिक में भी श्री भट्टाकलंक देव ने इसी बात को स्पष्ट किया है । 'कार्यविशेषोपलंभात् कारणान्वेपण प्रवृत्तिरिति चेन्न अनुमानतस्तत्सिद्धेर्घटीयंत्र भांति निवृत्तिवत्" ।।६।। अर्थात्

प्रश्न—मोक्ष जब प्रत्यक्ष से दिखायी नहीं देता तब उसके मार्ग का ढूंढना व्यर्थ है ? उत्तर—यद्यपि मोक्ष प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है फिर भी उसका अनुमान किया जा सकता है । जैसे घटीयंत्र-रेंहट का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है । और धुरे का घूमना उसमें जुते हुए बैल के घूमने पर । यदि बैल का घूमना बंद हो जाय तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटी यंत्र का घूमना बंद हो जाता है । उसी तरह कर्मोदय रूपी बैल के चलने पर ही चार गति रूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति रूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेदनायें रूपी घटी यंत्र घुमाता रहता है । कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है । और उसके रुकने से संसार रूपी घटी-यंत्र का परिचलन समाप्त हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है इस तरह साधारण अनुमान से मोक्ष की सिद्धि हो जाती है ।

समस्त शिष्टवादी अप्रत्यक्ष होने पर भी मोक्ष का सद्भाव स्वीकार करते हैं और उसके मार्ग का अन्वेपण करते हैं । जिस प्रकार भावी सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण आदि प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है फिर भी आगम से उनका यथार्थ बोध कर लिया जाता है उसी प्रकार मोक्ष भी आगम से सिद्ध हो जाता है । यदि प्रत्यक्ष न होने के कारण मोक्ष का निषेध किया जाता है तो सभी को स्वसिद्धांत विरोध होगा, क्योंकि सभी वादी कोई न कोई अप्रत्यक्ष पदार्थ मानते ही हैं । "आगमात्प्रतिपत्तेः" । प्रत्यक्षोऽनुपलभ्यं मानोऽपि मोक्षः आगमादस्तीति निश्चीयते । प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होते हुए भी 'मोक्ष' है—ऐसा आगम से निश्चय किया जाता है ।

तथैव मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शनादि एवं संवर निर्जरा तत्व भी प्रमाण से विरुद्ध नहीं है प्रत्यक्ष से कारण के बिना मोक्ष की प्रतिपत्ति-ज्ञान का अभाव है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से मोक्ष के कारणभूत तत्वों

१ द्रव्यक्षेत्रकालतीर्थादिसामग्रीं विना मोक्षो न भवतीत्यतः सकारणको मोक्षः । २ मोक्षकारणमित्यर्थः ।

(1) प्रसिद्धप्रामाण्येन_।

[चार्वाकः संसारतत्त्वं न मन्यते तस्य विचारः]

तथा संसारतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षतः संसाराभावासिद्धेस्तस्य[१] तद्बाधकत्वाघटनात् । स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः । [1]स न [2]प्रत्यक्षविषयो येन प्रत्यक्षं तं बाधेत ।

[चार्वाकः संसारतत्त्वं निराकरोति तस्य समाधानं]

[२]अनुमानं तद्बाधकमिति चेन्न, [३]तदभावप्रतिबद्धलिङ्गाभावाद्[3] । [४]गर्भादिमरणपर्यन्तचैतन्यविशिष्ट[4]कायात्मनः पुरुषस्य जन्मनः[5] पूर्वं मरणाच्चोत्तरं नास्ति भवान्तरम्,[५] अनुपलब्धेः

में बाधा का अभाव है एवं अनुमान से भी बाधा नहीं आती है इसलिए अनुमान से भी मोक्ष कारण सहित सिद्ध है। "मोक्ष सकारणक है अर्थात् सम्यग्दर्शनादि कारण से होता है क्योंकि प्रतिनियत कालादि की अपेक्षा पायी जाती है अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं तीर्थादि सामग्री के बिना मोक्ष नहीं होता है इसीलिए कारण सहित है जैसे पट आदिक।" यदि मोक्ष को अकारणक मानोगे तो सर्वदा, सर्वत्र सभी जीवों के मोक्ष का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि अकारणक होने से मोक्ष पर की अपेक्षा से रहित ही रहेगा। और आगम से भी मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों में बाधा नहीं है, क्योंकि मोक्ष के कारण को सिद्ध करने वाला आगम पाया जाता है। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस प्रकार सूत्र वचन है।

[संसार तत्त्व पर विचार]

संसार तत्व भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से संसार के अभाव की असिद्धि है। वह प्रत्यक्ष संसार को बाधित नहीं करता है अपने द्वारा उपार्जित कर्म के निमित्त से आत्मा के भवांतर की प्राप्ति का होना इसी का नाम संसार है। वह संसार प्रत्यक्ष का विषय नहीं है कि जिससे वह प्रत्यक्ष उस संसार को बाधित कर सके।

अर्थात् कर्म के निमित्त से कार्माण तैजस शरीर के साथ आत्मा का जो परलोक में गमन है वह किसी को प्रत्यक्ष से दिखता नहीं है; और जो चीज प्रत्यक्ष से दिखती नहीं है यह प्रत्यक्ष प्रमाण उसका निषेध भी कैसे कर सकेगा।

[चार्वाक के द्वारा संसार तत्त्व का खण्डन एवं जैनाचार्य द्वारा उसका समाधान]

चार्वाक—अनुमान प्रमाण संसार का बाधक है।

जैनाचार्य—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि संसार के अभाव के साथ प्रतिवद्ध (अविनाभावी) लिंग का अभाव है अतः अनुमान प्रमाण से बाधा नहीं आ सकती।

१ प्रत्यक्षस्य। २ चार्वाकः। ३ संसाराभावेन सह प्रतिवद्धस्य लिङ्गस्याभावात्। ४ चार्वाकः। ५ चैतन्यविशिष्टः काय एवात्मा, तस्य।

(1) संसारः। (2) प्रत्यक्षाविषयत्वादेवाभाव इति न व्यक्तं देशांतरकालांतरवर्तिवृहस्पत्त्यादेरप्यभावप्रसंगात्। दि. प्र.। (3) संसाराभावाविनाभाविलिंगाभावात् दि. प्र.। (4) सहित। (5) का।

खपुष्पवदित्यनुपलम्भः संसाराभावग्राहकः संसारतत्त्वबाधक इति चेन्न, तस्यासिद्धेः। प्राणिनामाद्यं[1] [1]चैतन्यं [2]चैतन्योपादानकारणकं, [2]चिद्विवर्तत्वान्मध्यचैतन्यविवर्तवत्[3] । तथाऽन्त्यचैतन्यपरिणा[4]मश्चैतन्य[5]कार्यः[3], तत एव तद्वत् । इत्यनुमानेन पूर्वोत्तरभावोपलम्भा[4]द्यथोक्तसंसारतत्त्वसिद्धेः । गोमयादेरचेतनाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिदर्शनात्तेन [6]व्यभिचारी [5]हेतुरिति चेन्न, [7]तस्यापि पक्षीकरणात् । वृश्चिकादिशरीरस्याचेतनस्यैव गोमयादेः [8]सम्मूर्च्छनं, न पुनर्वृश्चिकादिचैतन्यविवर्तस्य, तस्य पूर्वचैतन्यविवर्तादेवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात् ।

चार्वाक—"गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त चैतन्य से विशिष्ट शरीरधारी पुरुष के जन्म से पहले और मरण के पश्चात् भवांतर नाम की कोई चीज नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है आकाश पुष्प के समान।" इस प्रकार संसार के अभाव का ग्राहक "अनुपलम्भ" हेतु संसार तत्व का बाधक है।

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आपका अनुमान असिद्ध है "प्राणियों में आदि का चैतन्य पूर्व के चैतन्य रूप उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योंकि वह चैतन्य की पर्याय है जैसेकि मध्यवर्ती युवा आदि की चैतन्य पर्याय के लिए आदि की गर्भावस्था को प्राप्त चैतन्य पर्याय उपादान रूप है। तथा अन्त्य चैतन्य का परिणाम जो कि मरणावस्था लक्षण है वह चैतन्य का कार्य रूप है क्योंकि चैतन्य की पर्याय है जैसे कि मध्य चैतन्य पर्याय। अर्थात्—मरण अवस्था वाला चैतन्य आगे के चैतन्य का उपादान कारण होने से आगे भी चैतन्य को जन्म रूप से उत्पन्न कराने वाला है। अन्यथा चैतन्य का निरन्वय विनाश हो जावेगा, परन्तु निरन्वय विनाश सम्भव नहीं है यदि मानोगे तो सर्वलोप का प्रसंग आ जावेगा। इस अनुमान से पूर्व और उत्तर पर्यायों में चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि होने से यथोक्त संसार तत्त्व की सिद्धि होती है।

चार्वाक—गोवर आदि अचेतन से चेतन स्वरूप विच्छू आदि की उत्पत्ति देखी जाती है इसलिए आपका हेतु व्यभिचारी है अर्थात्—चैतन्य रूप उपादान कारण के अभाव में भी गोवर आदि अचेतन पदार्थों से विच्छू आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

अतः "चैतन्य की पर्याय होने से" यह हेतु विपक्ष में चला जाने से व्यभिचारी है।

---

१ गर्भावस्थाप्राप्तम्। २ आद्युत्पन्नचैतन्यात्पूर्वं चैतन्यमुपादानं यस्य तत्। ३ मध्यो युवादेः। ४ मरणावस्थालक्षणः ५ उत्तरस्यमान चैतन्यं कार्यं यस्य सः। एतन्मरणावस्थालक्षणं चैतन्यमुपादानकारणत्वादग्रेऽपि चैतन्यमुत्पादयिष्यत्येव अन्यथा निरन्वयविनाशः स्याद्। न च निरन्वयविनाशः सम्भवति, सर्वलोपप्रसङ्गात्। ६ वृश्चिकादेश्चैतन्योपादान कारणाभावेपि चिद्विवर्तत्वहेतोर्दर्शनात्। ७ वृश्चिकादिचैतन्यस्यापि आद्यचैतन्येन पक्षीकरणात्। ८ गर्भोपपादरूपद्विप्रकारक जन्मवर्जितं जन्म (शरीरपरिकल्पनम्) सम्मूर्छनम्।

---

(1) चार्वाकाभिमतभूतचतुष्टयजन्यं आद्यचैतन्यं पक्षः पूर्वभवावसानचैतन्योपादानकारणकं भवतीति साध्यो धर्मः चिद्विवर्तत्वात् मध्यचैतन्यविवर्त्त वत्। दि. प्र.। (2) पर्याय। (3) वसः। (4) अनुमानस्य प्रामाण्यसिद्धेरनुपलंभ एवेति चेन्न तदप्रामाण्ये भवांतरप्रतिषेधाघटनात्। अनुपलब्धिर्लिंगोत्थानुमाद्धि भवांतरं प्रसिद्धं चार्वाकेण तन्न घटत इति भावः। दि. प्र.। (5) जन्मनः पूर्वं चैतन्यास्तित्वसाधकं।

[1]खड्गिचरम[1]चित्तेन[2] चित्तान्तरानुपादानेन[2] व्यभिचारः [3]साधनस्येत्यपि [4]मनोरथमात्रं, [3]तस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धत्वात्, निरन्वयक्षणक्षयस्य [4]प्रतिक्षेपात् ।

जैनाचार्य—नहीं। उन विच्छू आदिकों को भी हमने पक्ष में ही लिया है। विच्छू आदि का जो शरीर है वह अचेतन रूप गोवर आदि से सम्मूर्च्छन जन्म के द्वारा वना है न कि विच्छू आदि की चैतन्य पर्याय। वह तो पूर्व की चैतन्य पर्याय से ही उत्पन्न होती है ऐसा हम जैनों ने स्वीकार किया है। गर्भ, जन्म और उपपाद जन्म से रहित जन्म को सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

चार्वाक—आप जैनों का "चिद् विवर्तत्व" हेतु बौद्धों के द्वारा माने गये खड्गी के चरम चित्त से व्यभिचारी है। क्योंकि खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के चित्तक्षण-ज्ञानक्षण के लिए उपादान कारण नहीं है।

जैन—यह आपका कथन भी मनोरथ मात्र ही है क्योंकि वह खड्गी का चरम चित्त उत्तर चैतन्य के लिए उपादान भूत नहीं है यह वात प्रमाण से सिद्ध नहीं होती क्योंकि निरन्वय क्षण क्षय का हमने आगे चल कर खण्डन किया है।

भावार्थ—चार्वाक कहता है कि आप जैन विच्छू आदि के चैतन्य को उसके पूर्व चैतन्य की पर्याय से ही उत्पन्न होना मानते हो और कहते हो कि पूर्व-पूर्व की चैतन्य पर्याय उत्तर-उत्तर की चैतन्य पर्याय को उत्पन्न करने में कारण है सो आपका यह हेतु खड्गी के चरमचित्त से व्यभिचारी है क्योंकि खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के चित्तक्षण (ज्ञानक्षण) के लिए उपादान नहीं है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि खड्गी का चरमचित्त उत्तरचैतन्य के लिए उपादान भूत नहीं है यह वात प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है। इस खड्गी चरमचित्त का विशेष स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिक ग्रंथ में पाया जाता है। तथाहि—

जैन मत में जिस प्रकार अंतकृत केवली होते हैं उसी प्रकार बौद्धों के यहां तलवार आदि से घात को प्राप्त हुए कतिपय मुक्तात्मा माने गये हैं वे बिना उपदेश दिये ही शांति रहित निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं। उनकी संसार में स्थिति नहीं मानी गई है किन्तु उनका निरन्वय मोक्ष माना गया है अर्थात् दीपक के बुझने के समान सर्वथा अन्वय रहित होकर जिनकी मोक्ष हो जाती है उन्हें खड्गी कहते हैं।

१ खड्ग इव खड्गो ध्यानम्। सोस्यास्तीति खड्गी। खड्गिचरमचित्तस्य पूर्वचिद्विवर्तत्वेपि उत्तरचैतन्योपादानकारणत्वाभावात्, उत्तरचित्कार्यकत्वाभावेपि चिद्विवर्तदर्शनाद्वा हेतोः। २ चित्तसंततिक्षयो मोक्ष इति बौद्धाः। ३ खड्गिचरमचित्तस्योत्तरचैतन्योपादानत्वाभावरूपहेतोः। ४ अग्रे।

(1) अंत्यचैतन्यक्षणेन। खड्ग इव खड्गी ध्यानं सोऽस्यास्तीति योगी बुद्धः इति यावत् तस्यान्त्यचित्त बौद्धमतापेक्षया चित्तांतरस्य नोपादानं तेन। (2) अनास्रवसौगतचित्तमन्यच्चित्त नोत्पादयति। अन्यच्चित्तोपादानरहितेन सौगतान्त्यचत्तेन। चैतन्योपादानकारणकं इत्येतस्य साध्यस्य व्यभिचारः इति वदति चार्वाकः। दि. प्र.। (3) ता। मरणादुत्तरं चैतन्यास्तित्वसाधकस्य। (4) स्वमनोरथ इति पा.।

[वने प्रथमाग्निः स्वयमेवोत्पद्यते पश्चादग्निपूर्वक एवेति मान्यतायां विचारः]

ननु च यथाद्यः [1]पथिकाग्निररणिनिर्मथनोत्थोऽनग्निपूर्वको दृष्टः [1]परस्त्वग्निपूर्वक एव तथाद्यं चैतन्यं कायाकारादिपरिणतभूतेभ्यो भविष्यति, [2]परं तु चैतन्यपूर्वकं, विरोधाभा-

बौद्धों का ऐसा कहना है कि खड्गी के अपने ज्ञान रूप आत्मा का सदा के लिए शमन हो जाता है, सर्वथा अन्वय टूट जाता है इस कारण उत्तरकाल—भविष्य में खड्गी की संतान नहीं चलती है अतः दीपकलिका के समान निरन्वय होकर ज्ञान संतान का नाश हो जाना रूप मोक्ष खड्गी के माना गया है। अतः उस खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के ज्ञानक्षण के लिए उपादान नहीं है किन्तु इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि जैसे बुद्ध ने पूर्वजन्म में या इस जन्म में यह भावना भायी थी कि "मैं जगत् का हित करने के लिए सर्वज्ञ बुद्ध हो जाऊं" इस भावना की शक्ति से अविद्या और तृष्णा के सर्वथा क्षय होने पर भी सुगत की स्थिति संसार में उपदेश देने के लिए हो जाती है ऐसी बौद्धों की मान्यता है। उसी प्रकार से खड्गी के चित्त का शमन नहीं हुआ है अतः "मैं आत्मा को शांति लाभ कराऊंगा" इस प्रकार की भावना का अभ्यास खड्गी वरावर कर रहा है। इस प्रकार से सुगत के समान खड्गी की भी ज्ञान-धारा अनंतकाल तक चलती रहे और वह संसार में ठहर जावे क्या बाधा है ? पुनः उसका भी अंतिम ज्ञान क्षण उत्तरोत्तर ज्ञानक्षण के लिए उपादान हो जावे क्या बाधा है ? इत्यादि रूप से आचार्यों ने खड्गी के चरमचित्त का निरन्वय विनाश नहीं माना है प्रत्युत आगे-आगे के ज्ञानक्षणों के लिए उपा-दानभूत माना है अतः उससे व्यभिचार दोष नहीं आ सकता है।

[वन में अग्नि स्वयमेव उत्पन्न होती है पश्चात् अग्नि पूर्वक ही अग्नि उत्पन्न होती है इस मान्यता पर विचार।]

चार्वाक—जिस प्रकार प्रथमतः वन की पथिक अग्नि जो अरणि (वांस आदि) के निर्मथन से उत्पन्न होती है। वह पहले किसी भी अग्नि से नहीं हुई है अतः अनग्नि पूर्वक देखी जाती है। फिर आगे की दूसरी अग्नि अग्निपूर्वक ही होती है उसी प्रकार से आदि का चैतन्य शरीर के आकार आदि से परिणत भूत चतुष्टय से होगा और युवा, वृद्धावस्था आदि में होने वाला दूसरा चैतन्य उस चैतन्य पूर्वक ही होगा इसमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात् जैसे जंगल में चलने वाला पथिक अग्नि के अभाव में अरणि मंथन या चकमक से जो अग्नि उत्पन्न करता है उसे पथिकाग्नि कहते हैं।

जैन—इस प्रकार से जो आप समाधान करते हैं वह स्वपक्ष का घात करने वाला जाति उत्तर रूप अर्थात् (मिथ्या उत्तर) ही है। क्योंकि 'चिद्विवर्तत्व रूप—चैतन्य की पर्याय होना" हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति का खण्डन नहीं होता है अर्थात् चैतन्य रूप उपादान कारण से उत्पन्न होने रूप साध्य

१ अरणिः काष्ठविशेषः। २ युववृद्धादिचैतन्यम्।

(1) मठाद्यग्निः।

वात् । इति [1]कस्यचित्प्रत्यवस्थितिः स्वपक्षघातिनी [१]जातिरेव, चिद्विवर्तत्वस्य[2] हेतोः [२]साध्येन व्याप्तेरखण्डनात् । [3]प्रथमपथिकाग्नेरनग्न्युपादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्यु[4]पादानत्वोपपत्तेः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य तत्त्वान्तरभावविरोधः[३] । तथा हि । येषां परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वम्[४] । यथा [५]क्षितिविवर्त्तानाम् । परस्परमुपादानोपादेयभावश्च[5] पृथिव्यादीनाम्[6] । इत्येकमेव पुद्गलतत्त्वं [7]पृथिव्यादिविवर्त्तमवतिष्ठेत[8] । अथ[9] क्षित्यादीनां न परस्परमुपादानोपादेयभावः, सहकारिभावोपगमात्[10] । [६]कथमपावकोपादानः

की चैतन्य पर्याय होने से'' इस हेतु के साथ व्याप्ति सुघटित ही है ।

प्रथमपथिकाग्नि (वन की अग्नि) को अग्नि के बिना उपादानपना (उत्पन्न होना) स्वीकार करोगे तो जलादिकों को भी जलादि उपादान के बिना हो जाने का प्रसंग आ जावेगा । पुनः पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय के भिन्न-भिन्न तत्त्व होने का विरोध हो जावेगा । अर्थात् जिस प्रकार प्रथम बांसों के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि का उपादान कारण अग्नि जीव नहीं है तो जल के लिए भी प्रथम उपादान कारण जल नहीं होगा इत्यादि रूप से भूतचतुष्टय के कारण पृथक पृथक रूप से चार सिद्ध न होने से चारों तत्त्व एक हो जायेंगे क्योंकि एक कारण से उत्पन्न हुए हैं । जो-जो एक कारण से उत्पन्न होते हैं वे-वे भिन्न नहीं है जैसे मिट्टी से उत्पन्न हुए घट, शराव उदंचन आदि मिट्टी रूप एक कारण जन्य होने से भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं है तथाहि—'जिनमें परस्पर में उपादान उपादेय भाव हैं उनमें परस्पर में भिन्नपना नहीं है जैसे—मिट्टी की पर्यायें, स्थास, कोश, कुशूल, शिवक आदि । और परस्पर में पृथ्वी, जल, अग्नि वायु में उपादान उपादेय भाव मौजूद है ।'' इस प्रकार से पृथ्वी आदि पर्यायें एक ही पुद्गल तत्त्व रूप ठहरती हैं ।

चार्वाक—पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय में परस्पर में उपादान उपादेय भाव नहीं है क्योंकि हमने उनमें सहकारी भाव माना है ।

जैन—पहली पथिकअग्नि अग्निरूप उपादान के बिना कैसे सिद्ध हो सकेगी कि जिससे उसी प्रकार अचेतन पूर्वक प्रथम चैतन्य की उत्पत्ति का प्रसंग होवे ? इसलिए जिस प्रकार प्रथम ही अरणि (वांस

---

१ मिथ्योत्तरं जातिः। २ चैतन्योपादानकारणकत्वरूपेण साध्येन सह । ३ एककारणजन्यत्वात् । यदेककारणजन्म तन्न तत्त्वान्तरम् । यथा मृदुत्पन्नो घटो न मृदोतिरिच्यते । ४ पृथिव्यप्तेजोवायुरूपम् । ५ स्थासकोशकुशूलशिवकादीनाम् । ६ जैनः ।

---

(1) दूषणं (2) आद्यं चैतन्योपादानकारणकं चिद्विवर्तत्वान्मध्यचैतन्यविवर्तवत् । (3) प्रथमपथिकाग्नेर्यथा नाग्न्युपादानत्वं ततश्च कथं व्याप्त्यखंडनमित्याह । (4) पृथिव्यादेः । (5) परस्परमुपादेयभावश्च इति पा. । (6) पृथिव्यादिभूतचतुष्टयं विवर्ताः पर्यायाः यस्य तत् । दि. प्र. । (7) पृथिव्यादीनां पक्षः तत्त्वांतरत्वं न भवतीति साध्यो धर्मः, परस्परमुपादानोपादेयभावत्वात् । येषां परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वांतरत्वं, यथा क्षितिविवर्तानां घटादीनां । दि. प्र. । (8) वसः । (9) चार्वाकः । (10) अरणिनिर्मथादेव ।

प्रथमः पथिकपावकः प्रसिद्ध्येद्यतस्तद्वदचेतनपूर्वकं प्रथमचैतन्यं प्रसज्येत ? यथैव हि [1]प्रथमाविर्भूतपावकादेस्तिरोहितपावकान्तरादिपूर्वकत्वं(1) तथा गर्भचैतन्यस्याविर्भूतस्वभावस्य तिरोहितचैतन्यपूर्वकत्वमिति किन्न व्यवस्था स्यात् ? [2]स्यान्मतं, [3]सहकारिमात्रादेव प्रथमपथिकाग्नेरुपजननोपगमात्तिरोहि[4]ताग्न्यन्तरोपादानत्वमसिद्धमिति [5]तदसत्, अनुपादानस्य कस्यचिदुपजननादर्शनात् ।

आदि) के संघर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि तिरोहित भिन्न अग्नि पूर्वक होती है। उसी प्रकार से गर्भ में चैतन्य का आविर्भाव होने में तिरोहित चैतन्य ही निमित्त है अर्थात् चैतन्य रूप उपादान कारण से ही गर्भादि में चैतन्य की उत्पत्ति होती है ऐसी ही व्यवस्था क्यों न मानी जावे ?

भावार्थ—कोई भी जीव किसी भी पर्याय से मर करके अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से अग्नि में जन्म लेता है। इसलिए आबाल गोपाल में जो अग्नि वन में अग्नि आदि के संघर्षण से उत्पन्न होती है उसमें अग्नि से उत्पन्न होना नहीं दिखने पर भी पूर्व पर्याय से च्युत होकर ही जीव अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से उसमें जन्म लेता है अतः प्रत्येक अग्नि की उत्पत्ति अग्नि रूप उपादान से ही सुघटित है। तथैव कोई भी जीव किसी देव आदि पर्याय से मरण को प्राप्त करके मनुष्य तिर्यच आदि पर्याय में गर्भ अवस्था में आता है इसलिए चैतन्य उपादान पूर्वक ही चैतन्य की उत्पत्ति माननी चाहिए।

चार्वाक—वांसों के संघर्षण आदि सहकारी कारण मात्र से ही वन की प्रथम अग्नि होती है ऐसा हमने माना है इसलिए तिरोहित हुई भिन्न अग्नि रूप उपादान से अग्नि की उत्पत्ति मानना असिद्ध है।

जैन—यह कहना असत् है। विना उपादान कारण के सहकारी कारण मात्र से किसी की भी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है।

[शब्द और बिजली आदि उपादान के विना ही उत्पन्न होते हैं चार्वाक की इस मान्यता पर प्रत्युत्तर]

चार्वाक—शब्द विजली आदि की उत्पत्ति उपादान कारण के विना ही देखी जाती है अतः कोई भी दोष नहीं है।

जैन—ऐसा नहीं है। "शब्दादि भी उपादान कारण सहित ही हैं क्योंकि कार्यरूप हैं घटादि के समान" इस अनुमान से उन शब्दादि के अदृश्य पुद्गल द्रव्य रूप उपादान कारण हैं ही हैं अतः इन सभी को उपादान कारणता सिद्ध ही है।

---

१ अरणिमथनकाले। २ चार्वाकस्य ३ अरणिमथनमात्रादेव। ४ प्रच्छन्नरूपारणिस्थिताग्न्यन्तरकारणकत्वम्। ५ जैनः।

---

(1) निदर्शनमिदं पराभ्युपगमानुसारेणाभिहितं प्रतिपत्तव्यं। स्याद्वादिना तु पयःपावकादीनां पुद्गलविवर्तत्वेनैकत्वांगीकरणात् परस्परमुपादानोपादेयतावश्यं भावात्। दि.प्र.।

[शब्दविद्युदादय उपादानमंतरेणोत्पद्यन्ते इति चार्वाकमान्यतायां प्रत्युत्तरं]

शब्दविद्युदादेरुपादानादर्शनाददोष इति चेन्न, शब्दादिः सोपादान एव, कार्यत्वाद्[1] घटादिवदित्यनुमानात्तस्यादृश्योपादानस्यापि[१] [2]सोपादानत्वस्य साधनात् ।

[भूतचतुष्टयचेतनयोर्भिन्नलक्षणत्वेन पृथक् पृथक् तत्त्वमेवेति कथयंति जैनाचार्याः]

[२]नन्वस्तु सर्वोग्निरग्न्यन्तरोपादान एव [३]सर्वस्य सजातीयोपादानत्वव्यवस्थितेः । चेतनस्य तु चेतनान्तरोपादानत्वनियमो न युक्तः, तस्य भूतोपादानत्वघटनात्, भूतचेतनयोः [४]सजातीयत्वात्तत्त्वान्तरत्वासिद्धेरिति चेन्न, [3]तयोर्भिन्नलक्षणत्वात्तत्त्वान्तरत्वोपपत्तेः, [4]तोयपावकयोरपि तत[५] एव [६]परैस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात् । तथा हि । तत्त्वान्तरं भूताच्चैतन्यं, तद्भिन्नलक्षणत्वान्यथानुपपत्तेः । न तावदसिद्धो हेतुः क्षित्यादिभूतेभ्यो [७]रूपादिसामान्यलक्षणेभ्यः स्वसंवेदनलक्षणस्य

[भूत चतुष्टय एवं चेतन का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से ये भिन्न तत्त्व हैं इस पर विचार]

चार्वाक—तो ठीक है सभी अग्नि भिन्न अग्निरूप उपादान कारण से ही होती है अतः उन सभी का उपादान सजातीय ही है ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, किन्तु चेतन द्रव्य भिन्न चैतन्य रूप उपादान से होता है यह नियम ठीक नहीं है । वह चैतन्य तो भूत चतुष्टय के उपादान से उत्पन्न होता है । भूत से चैतन्य की उत्पत्ति होने से भूत और चैतन्य में सजातीयपना सिद्ध होता है अतः भूत और चैतन्य में भिन्न तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है ।

जैन—यह ठीक नहीं है भूत और चैतन्य इन दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण पाया जाता है इसलिए भिन्न तत्त्व की सिद्धि होती है । आप चार्वाक ने भी जल और अग्नि का भिन्न-भिन्न लक्षण होने से उन्हें भिन्न-भिन्न तत्त्व माना है । तथाहि—

"चैतन्य तत्त्व भूत तत्त्व से भिन्न है क्योंकि उनके भिन्न-भिन्न लक्षणों की अन्यथानुपपत्ति पायी जाती है" यह 'भिन्न लक्षणत्व' हेतु असिद्ध भी नहीं है । रूप, रस, गंध स्पर्श रूप सामान्य लक्षण वाले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूप चार भूतों से स्वसंवेदन रूप चैतन्य का भिन्न लक्षण सिद्ध ही है भूत चतुष्टय स्वसंवेदन लक्षण वाले नहीं हैं । क्योंकि हम और आप सभी अनेक ज्ञाता जनों के प्रत्यक्ष होते हैं

१ अदृश्यमुपादानं पुद्गलरूपं यस्य तस्य । २ चार्वाकः । ३ कार्यस्य । ४ भूताच्चैतन्योत्पत्तिर्यतस्ततो भूतचैतन्ययोः सजातीयत्वम् । ५ भिन्नलक्षणत्वात् । ६ चार्वाकैः । ७ रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः पुद्गलाः ।

(1) प्रतिपक्षबाधितविषयोऽयं हेतुरिति चेन्न । विवादापन्नः परः बुद्धियुक्तः व्याहारादिकार्यदर्शनादित्यत्रापि तत्प्रसंगात् । अत्र बुद्धेरदृश्यत्वाददोष इति चेत्तत्रापि तत एव सोऽस्तु विशेषाभावात् । यथाज्ञानं चार्वाकेण ज्ञानस्यास्वसंवेदनतत्त्वोपगमात् । साध्यव्यावृत्तौ व्यतिरेको दृश्यंत इति न मंतव्यं । समनंतरमेव ज्ञानस्य स्वसंवेदनस्य समर्थयिष्यमाणत्वात् दि. प्र. । (2) सोपादानत्वसाधनात् इति पा.—दि. प्र. । (3) भूतचैतन्ययोः—दि. प्र. । (4) भवतु भिन्नलक्षणत्वं तथापि तत्त्वांतरत्वं कुत इत्याह ।

चैतन्यस्य तद्भिन्नलक्षणत्वसिद्धेः। न हि भूतानि स्वसंवेदनलक्षणानि, असमदाद्यनेक[1]प्रति-पत्तृप्रत्यक्षत्वात्[2]। [3]यत्पुनः स्वसंवेदनलक्षणं तन्न [1]तथा प्रतीतं, यथा ज्ञानम्[2]। [3]तथा [4]च भूतानि, तस्मान्न स्वसंवेदनलक्षणानि। अनेकयोगिप्रत्यक्षेण[5] सुखादिसंवेदनेन[4] व्यभिचारी हेतुरिति न शङ्कनीयम्, असमदादिग्रहणात्[5]।

और जो स्वसंवेदन लक्षण वाला है वह उस प्रकार हम लोगों के प्रत्यक्ष में नहीं आता है जैसे हम लोगों का अप्रत्यक्ष ज्ञान और उसी प्रकार भूतचतुष्टय प्रत्यक्ष है इसीलिए स्वसंवेदन लक्षण वाले नहीं हैं।"

शंका—सुखादिसंवेदन अस्वसंवेदन लक्षण वाले होने पर भी अनेक योगी जनों के प्रत्यक्ष हैं इसलिए सुखादि संवेदन से यह हेतु व्यभिचारी है।

समाधान—ऐसी शंका आपको नहीं करनी चाहिए क्योंकि सुखादि संवेदन-सुखादि का ज्ञान हम लोगों के प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—चार्वाक का कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टयों से शरीर का निर्माण होता है उसी में आत्मा बन जाती है शरीर, मन, इन्द्रिय, ज्ञान और आत्मा सब भूतचतुष्टय से निर्मित है। चैतन्य नाम का कोई भिन्न तत्त्व या द्रव्य नहीं है जो कि अनादि अनन्त काल तक स्थिर रहता हो। मतलब शरीर के जन्म के पहले और मरने के बाद आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है।

इस बात को सिद्ध करने के लिए चार्वाक ने बहुत ही युक्ति प्रत्युक्तियों के द्वारा अपना पक्ष पुष्ट किया है। उसका कहना है कि गोमय आदि से बिच्छू, कीचड़ आदि से कीड़े मकोड़े केंचुयें आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं। वन में बाँसों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है उसमें जीवात्मा कहां से आया ? मेघों की गड़गड़ाहट, बिजली आदि का उपादान कारण क्या है ? इत्यादि में आत्मा रूप उपादान के बिना ही आत्मा उत्पन्न हो रही है अतः आत्मा भूतों से बनती है एवं भूतचतुष्टय और आत्मा एक तत्त्व है किंतु भूत चतुष्टय परस्पर में भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं।

इन सभी बातों को सुनकर जैनाचार्यों ने बहुत ही अच्छा और वास्तविक समाधान किया है। उन्होंने बतलाया है कि बिच्छू, कीट, मेंढक, केंचुये आदि प्राणियों का शरीर यद्यपि गोमय, कीचड़ आदि भूतचतुष्टय से बना हुआ है फिर भी उनकी आत्मा अन्यत्र कहीं से तिर्यंच गति और तिर्यंचआयु आदि

---

१ अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षं न प्रतीतम्। २ अस्मदाद्यप्रत्यक्षम्। ३ अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षाणि सन्ति। ४ सुखा-दिसंवेदनस्यास्वसंवेदनलक्षणत्वेप्यनेकयोगिप्रत्यक्षत्वात्। ५ अस्मदादिभिरपि प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः।

---

(1) अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात। इति वा पाठः। एकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षेण स्वसंवेदनेन व्यभिचारनिवृत्यर्थमनेकशब्दोपादानं। (2) घटादिवत् इति अधिकः पाठः दि. प्र.। (3) अस्मदादिप्रत्यक्षाणि च तानि भूतानि तस्मान्न स्वसंवेदनलक्षणानि इति वा पाठः—दि. प्र.। (4) तथा च भूतानि च तानीति वा पाठः दि.प्र.। (5) वसः।

कर्मों को बाँधकर उपादान रूप से यहाँ उत्पन्न हुई है। आत्मा और पुद्गल द्रव्य रूप भूत चतुष्टय सर्वथा भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। वन में जो अग्नि स्वयं लगती है उसमें भी वांसों का परस्पर घर्षण आदि निमित्त है, किन्तु उपादानभूत आत्मा एकेन्द्रियजाति अग्निकायिक स्थावर आदि नाम कर्म को लेकर अग्नि काय में जन्मी है। माता-पिता के रजोवीर्य के संम्मिश्रण से जो जन्म होता है उसे गर्भ जन्म कहते हैं। उपपादशय्या से जो जन्म होता है उसे औपपादिक जन्म कहते हैं। तथा यत्र-तत्र से अपने योग्य पुद्गल परमाणुओं के एकत्रित हो जाने पर शरीर की रचना बनकर जो जन्म होता है उसे सम्मूर्छन जन्म कहते हैं।

एकेन्द्रिय से असंज्ञीपंचेन्द्रिय तक सभी प्राणियों का जन्म संम्मूर्छन जन्म ही है पंचेंद्रिय तिर्यंचों में कुछ प्राणी सम्मूर्छन जन्म वाले हैं जैसे मेंढक मत्स्य आदि। शेष सभी गर्भज हैं जैसे गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि। मनुष्यों में सभी मनुष्य गर्भज होते हैं एवं जो सम्मूर्छन मनुष्य होते हैं वे लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं तथा वे हमको और आपको दीखते नहीं हैं। देव और नारकियों का जन्म उपपाद जन्म कहलाता है। इन तीनों प्रकार के जन्म को धारण करने वाली आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है कर्मों के निमित्त से जन्म मरण रूप संसार में संसरण करना पड़ता है। कर्मों से मुक्त होने के बाद इस आत्मा में पूर्ण आनंद, पूर्णज्ञान, अनंतशक्ति आदि अनंत गुण प्रगट होते हैं।

जब तक इस जीव को सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं होता है तभी तक यह जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंचपरिवर्तन में परिभ्रमण करता रहता है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होने के बाद ज्ञान और चारित्र की वृद्धि एवं पूर्णता से यह जीव पूर्ण शुद्ध हो जाता है अतः आत्मा और भूत चतुष्टय भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं ऐसा समझना चाहिये। और पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु ये भूतचतुष्टय पुद्गल की पर्याय होने से कथंचित् द्रव्यदृष्टि से एक ही तत्त्व हैं भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इसलिये विपरीतमान्यता को छोड़कर आस्तिकवादी बनना ही उचित है।

चार्वाक मत के खंडन का सारांश

चार्वाक कहता है कि—

पुरुष के जन्मांतर से पहले और मरण के पश्चात् भवांतर नाम की कोई वस्तु नहीं है क्योंकि गर्भ से लेकर मरण पर्यंत ही चैतन्य पाया जाता है अतः आकाशपुष्प के समान संसार तत्त्व सिद्ध नहीं है तथैव मोक्ष तत्त्व भी सिद्ध नहीं है।

भूत चतुष्टय से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। अचेतन गोमय आदि से विच्छू आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं। चैतन्य उपादान के बिना भी चैतन्य का होना सिद्ध ही है जैसे वन की अग्नि अरणि आदि के निर्मथन से उत्पन्न हो जाती है पुनः आगे-आगे की अग्नि पूर्व अग्नि के उपादान पूर्वक होती है।

तथा शब्द, बिजली आदि भी विना उपादान के देखे जाते हैं। चैतन्य और भूत को भिन्न लक्षण मानकर भी आप भिन्न तत्त्व सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि कारणभूत महुआ, गुड़, आटा आदि में मद जनन शक्ति नहीं है तथा मदिरा परिणाम में मौजूद है अतः इन दोनों का लक्षण भिन्न है फिर भी एक तत्त्व हैं।

इस कथन पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि "प्राणियों में आदि का चैतन्य पूर्व के उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योंकि चैतन्य की पर्याय है मध्य-युवावस्था की चैतन्य पर्याय के समान"। इस अनुमान से पूर्वोत्तर पर्यायों में चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि होने से संसार तत्त्व सिद्ध ही है। अपने द्वारा उपार्जित कर्म के निमित्त से आत्मा को भवांतर की प्राप्ति होना इसी का नाम संसार है।

गोमय आदि अचेतन से बिच्छू का चैतन्य उत्पन्न नहीं हुआ है किंतु उनसे शरीर बना है। तिर्यंच गति विशेप नाम कर्म के उदय से आने वाला चैतन्य जीव ही बिच्छू का उपादान माना गया है। अतः भूत चतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानना सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि इन दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न ही है। रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वरूप सामान्य लक्षण वाले पृथ्वी, जल, अग्नि वायु रूप भूत चतुष्टय हैं। एवं चैतन्य का स्वसंवेदन रूप ज्ञान दर्शन लक्षण है, किन्तु आपने जो मदिरा की उत्पादक सामग्री से मदिरा में भिन्नपना कहा है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि महुआ, गुड़ आदि कारणों में भी मद को उत्पन्न करने वाली मदिरा रूप परिणाम शक्ति विद्यमान है यदि सर्वथा उनमें मद को उत्पन्न करने की शक्ति न मानें तो मदिरा बनने पर भी मद जनन शक्ति नहीं आ सकेगी।

वन की प्रथम अग्नि को आपने अनग्नि पूर्वक कहा है वह भी सर्वथा असत्य है। कोई भी जीव किसी भी पर्याय से मरण कर अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से अग्नि में जन्म लेता है इसलिये बांसादि के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि भी अग्नि के उपादान पूर्वक ही है। तथैव शब्द, बिजली आदि के भी अदृश्य पुद्गल परमाणु उपादान कारण मानें गये हैं अतः उनमें अपने सजातीय से ही उपादान उपादेय भाव देखा जाता है।



[ज्ञानमस्वसंविदितमस्तीति मान्यतायां जैनाचार्याः समादधते ।]

ज्ञानस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वमसिद्धमिति चेन्न, बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्त्या[१] तस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वसिद्धेः । यो ह्यस्वसंवेदनलक्षणः स न बहिरर्थस्य[1] परिच्छेदको दृष्टो, यथा घटादिरिति विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावात्सिद्धा हेतोरन्यथानुपपत्तिः । प्रदीपादिनानेकान्त[२] इति चेन्न, तस्य [३]जडत्वेन बहिरर्थपरिच्छेदकत्वासम्भवात्, [2]बहिरर्थपरिच्छेदकज्ञानोत्पत्तिकारणत्वात्तु प्रदीपादेर्बहिश्चक्षुरादेरिव[3] परिच्छेदकत्वोपचारात् । न चोपचरितेनार्थपरिच्छेदकेन प्रदीपादिना मुख्यस्यार्थपरिच्छेदकत्वस्य हेतोर्व्यभिचारचोदनं विचारचतुरचेतसां कर्तुमुचितम्, [4]अतिप्रसङ्गात्[४] ।

[ज्ञान अस्वसंविदित है इस मान्यता पर जैनाचार्य समाधान करते हैं]

शंका—ज्ञान का स्वसंवेदन लक्षण असिद्ध है ।

समाधान—नहीं बाह्यपदार्थों को जानने की अन्यथानुपपत्ति होने से ज्ञान स्वसंवेदन लक्षण वाला सिद्ध है क्योंकि "जो अस्वसंवेदन लक्षण वाला है वह बाह्यपदार्थों का परिच्छेदक (जानने वाला) नहीं है जैसे घटादि ।" इस प्रकार विपक्ष में बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से हेतु की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध ही है ।

शंका—प्रदीप आदि बाह्य पदार्थों के प्रकाशक भी हैं और अस्वसंविदित भी हैं । इसलिये प्रदीपादि से आपका हेतु अनैकांतिक है ।

समाधान—नहीं । प्रदीपादि के जड़पना (अचेतनपना) होने से बाह्य पदार्थों का जानना असंभव है, किन्तु बाह्यपदार्थों का परिच्छेदक जो ज्ञान है उस ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने से प्रदीपादि को बाह्य चक्षु आदि इंद्रियों के समान ज्ञान कराने वाले हैं यह उपचार से ही माना है और "उपचरित रूप से अर्थ का ज्ञान कराने वाले प्रदीपादि से मुख्य रूप से पदार्थों का परिच्छेदकत्व हेतु व्यभिचारी है ।" विचारशील व्यक्तियों को ऐसा व्यभिचार दोष देना उचित नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा । अर्थात् अग्नि दहन शक्ति से युक्त है क्योंकि वह अग्नि रूप है । जो दहन शक्ति से युक्त नहीं होता है वह अग्नि नहीं होता है जैसे जलादि । बालक में किये गये अग्नि के उपचार से इस अग्नित्व हेतु में व्यभिचार रूप

---

१ ज्ञानं स्वसंवेदनलक्षणं, बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्तेः । २ स हि बहिरर्थप्रकाशकश्चास्वसंविदितश्च । ३ अज्ञानरूपत्वेन । ४ अग्निर्दहनशक्तियुक्तो, अग्नित्वात् । व्यतिरेके जलादि । अत्रोपचरितेन माणवकाग्निना व्यभिचारप्रसङ्गात् ।

---

(1) रर्थपरिच्छेदको इति पा. (2) तर्हि बहिरर्थपरिच्छेदकः प्रदीपादेरिति व्यवहारः कथमित्युक्ते आह । (3) यथा बहिश्चक्षुरादीन्द्रियस्योपचारात् प्रकाशकत्वं तथाप्रदीपादेरिव—दि. प्र. । (4) हेतोर्व्यभिचारोत्पादनं क्रियते यदि तदातिप्रसंगो भवति, मुख्यमुपचरितं । उपचरितं मुख्यं भवति—दि. प्र. । अग्निर्दहनशक्तियुक्तोऽग्नित्वात् व्यतिरेके जलवत् इत्यत्रोपचरितेन माणवकाग्निनाव्यभिचारप्रसंगात् । माणवके उपचरितस्याग्नेः दाहादिकार्याकारित्वे मुख्यस्याग्नेः कार्याकारित्वप्रसंगः ।

[सुखं सुखस्य ज्ञानमपि कथंचित् पृथक् पृथक् एव]

स्वरूपमात्रपरिच्छेदनव्यापृते[1] सुखादिज्ञाने बहिरर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्पक्षाव्यापको [2]हेतुरिति चेन्न, [१]तस्यापि [3]स्वतो [4]बहिर्भूतसुखादिपरिच्छेदकत्वाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्व-सिद्धेः [२]कुम्भादिवेदनस्यापि सर्वथा [5]स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वानुपपत्तेः [३]सदाद्यात्मना कुम्भादेः संवेदनादभेदप्रतीतेः[४], [6]अन्यथा [५]तदसत्त्वप्रसङ्गात् । कथञ्चित्स्वबहिर्भूतत्वं [7]तु सुखादिसंवेदनात्सुखादेरपि प्रतीयत एव, सुखादितत्संवेदनयोः [६]कारणादिभेदाद्भेदव्यव-स्थितेः[8] । तर्हि घटादिज्ञानवत् सुखादिज्ञानस्यापि स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वात्ततोन्यस्य[७]

अतिप्रसंग आता है मतलब बालक को भी अग्निरूप जलाने का कार्य करना चाहिये ।

[सुख और सुख का ज्ञान भी कथंचित् पृथक्-पृथक् ही है इस पर विचार]

शंका—स्वरूप मात्र के ज्ञान में व्यापार करने वाले सुखादि ज्ञान में बाह्य अर्थ को जानने का अभाव है अतः आपका हेतु पक्ष में अव्यापक है ।

समाधान—नहीं ! वे सुखादि ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत सुखादिक के परिच्छेदक (जानने वाले) हैं अतः वे बाह्य पदार्थ के परिच्छेदक हैं यह बात सिद्ध है अर्थात् यदि कोई कहे कि जिस प्रकार कुंभादि ज्ञान बाह्य पदार्थों का परिच्छेदक है । उस प्रकार सुखादि ज्ञान बाह्य पदार्थों का परिच्छेदक नहीं है । यह भी ठीक नहीं है कुंभादि ज्ञान भी सर्वथा अपने से बहिर्भूत पदार्थों के परिच्छेदक नहीं हैं । सत् (अस्तित्व) आदि के स्वरूप के साथ कुंभादि पदार्थ का संवेदन (ज्ञान) से अभेद प्रतीत होता है । अर्थात् जैसे कुंभादि पदार्थ सत् रूप हैं वैसे ही ज्ञान भी सत् रूप है अतः सत् की अपेक्षा पदार्थ से ज्ञान सर्वथा भिन्न नहीं है । यदि ऐसा नहीं मानों तो कुंभादि सर्वथा असत् रूप हो जावेंगे परन्तु ऐसा है नहीं । अतः

१ सुखादिज्ञानस्यापि स्वस्माद् ज्ञानाद्बहिर्भूतं सुखादि तस्य संवेदकत्वमिति बहिरर्थपरिच्छेदकत्वं सिद्धम् । २ यथा कुम्भादिवेदनं बहिरर्थपरिच्छेदकं न तथा सुखादिसंवेदनमित्याशंकायामाह जैनः कुम्भादीति । ३ घटः सन् ज्ञानं सदिति सदात्मना । ४ कुम्भादिर्यथा सन् तथा ज्ञानमपि सत् । अतो न संवेदनाज्ज्ञानं सर्वथा भिन्नम् । ५ तस्य कुम्भादेः । ६ सद्वेद्योदयो हि सुखकारणं ज्ञानस्य तु ज्ञानावरणापगमादि इति कारणभेदः । ७ स्वस्य विज्ञानस्यासम्भवात् ।

(1) ईप् । (2) योग आह । हे स्याद्वादिन् । बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुस्तव पक्षाव्यापकः कुतः ? यतः सुखादिज्ञानं स्वरूपं जानाति न तु बहिरर्थं इति चेन्न तस्यापि सुखादिज्ञानस्यापि स्वतः ज्ञानस्वरूपात् बहिरंगभूत सुखदुःखादिपरिज्ञानाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्वं सिद्ध्यति— दि. प्र. । (3) सकाशात् । (4) पृथग्भूत । (5) स्वस्मात् । (6) ज्ञानाद् घटादिपदार्थस्य सत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वस्वरूपेण भेदो नास्ति । अन्यथा भेदो भवति चेत्तदा तत्तयोः ज्ञानघटयोः असत्त्वमायाति–दि. प्र. । (7) 'तु' नास्ति । दि .प्र. । (8) आदिशब्देन स्वरूपभेदः । तथा चोक्तं–सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनं । शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कांतासमागमे ।। इति । सुखादेः कारणं वेदनीयकर्मोदयः तत्संवेदनस्य कारणं ज्ञानावरणक्षयोपशमादेः । अतः सुखादिज्ञानयोः कारणभेदाद्भेदोऽस्ति सत्तादिस्वरूपेणाभेदः । एवं सति कथंचिद् भेदाभेदात्मकं जातं स्याद्वादिनां । दि. प्र. ।

विज्ञानस्यासम्भवात्किं स्वस्य संवेदकं ज्ञानं स्यादिति चेन्न, तस्यैव घटादिसुखादिज्ञानस्य स्वरूपसंवेदकस्य [1]सतः परसंवेदकत्वोपगमात् स्वसंवेदनसिद्धेः, स्वपरव्यवसायात्मकत्वात् सर्ववेदनस्य ।

सुखादि ज्ञान से सुखादि भी कथंचित् अपने से भिन्न ही प्रतीति में आते हैं क्योंकि सुख आदि और उनका संवेदन इन दोनों में कारण आदि के भेद से भेद पाया ही जाता है अर्थात् सुख का कारण सातावेदनीय का उदय है और उस सुख के ज्ञान का कारण ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम आदि हैं अतएव कारण के भेद से सुख और सुख के वेदन (ज्ञान) में भेद सिद्ध ही है।

शंका—तो फिर घटादि के ज्ञान के समान सुखादि का ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत पदार्थों का परिच्छेदक हो जाता है। पुनः बाह्य पदार्थ से भिन्न-जो स्वयं है उसका स्वयं का ज्ञान न होने से ज्ञान अपने आपका संवेदक (जानने वाला) कैसे होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है। वे ही घटादि के ज्ञान और सुखादि के ज्ञान अपने स्वरूप को जानने वाले होते हुये ही पर को जानने वाले होते हैं ऐसा स्वीकार किया गया है इसीलिये उन ज्ञानों में स्वसंवेदनपना सिद्ध है क्योंकि सभी ज्ञान स्वपर व्यवसायात्मक ही माने गये हैं।

भावार्थ—चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ये ज्ञान को आत्मा का गुण एवं स्वपर प्रकाशी नहीं मानते हैं। चार्वाक कहता है कि ज्ञान भूतचतुष्टय का गुण है।

मीमांसक कहता है कि ज्ञान परोक्ष है पर पदार्थों को ही जानता है आत्मा को नहीं जानता अतः अस्वसंविदित है। नैयायिक कहता है कि ज्ञान स्वयं-स्वयं को नहीं जानता है अन्य ज्ञान के द्वारा ही स्वयं को जानता है किन्तु जैनाचार्य इन सभी का निराकरण करके ज्ञान को स्वपर प्रकाशी सिद्ध करते हैं क्योंकि जो स्वयं में जड़ है वह दूसरे को क्या जानेगा ?

इन लोगों का कहना है कि प्रदीप आदि कुछ ऐसे साधन हैं जो कि स्वयं को नहीं जानते हैं जड़ हैं फिर भी दूसरे पदार्थों का ज्ञान करा देते हैं। तब आचार्य ने इनको समझाया कि भाई ! ये अचेतन पदार्थ ज्ञान के साधन हैं यदि आत्मा का ज्ञान गुण जानने वाला न हो तो ये विचारे किंकर्त्तव्यविमूढ़ सदृश पड़े रहेंगे, पत्थर को पदार्थों का प्रकाशन नहीं करा सकते हैं चेतन आत्मा ही अपने ज्ञान गुण से बाह्य दीपक आदि साधनों के द्वारा पदार्थों को जानती है। यह ज्ञान गुण जब तक आवरण कर्म से सहित है तभी तक इन्द्रिय, मन, प्रदीप, प्रकाश आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रखता है। जब आवरण से रहित केवलज्ञान बन जाता है तब स्वयं सारे लोकालोक को प्रकाशित कर देता है अतः ज्ञान स्व पर प्रकाशी है यह बात सिद्ध है।

---

1 भवतः ।

[स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ज्ञानं स्वं न जानाति अस्य विचारः क्रियते।]

[1]स्वात्मनि क्रियाविरोधान्न स्वरूपसंवेदकं ज्ञानमिति चेत् का[2] पुनः क्रिया स्वात्मनि विरुध्यते ? न तावद्धात्वर्थलक्षणा[3], [4]भवनादिक्रियायाः [5]क्षित्यादिष्वभावप्रसङ्गात् [6]। [1]परिस्पन्दात्मिका क्रिया स्वात्मनि विरुद्धेति चेत्, कः पुनः क्रियायाः स्वात्मा ? क्रियात्मैवेति चेत् कथं तस्यास्तत्र विरोधः ? स्वरूपस्य विरोधकत्वायोगात्। [2]अन्यथा सर्वभावानां[7] स्वरूपविरोधान्निस्स्वरूपतानुपङ्गात्

[स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वयं को नहीं जानता है इस पर विचार]

शंका—अपने में ही क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वरूप संवेदक अर्थात् अपने को जानने वाला नहीं है।

समाधान :—यदि आप ऐसा कहते हैं तो यह बताइये कि कौन सी क्रिया अपने में विरुद्ध होती है धात्वर्थ लक्षण क्रिया या परिस्पंदात्मक क्रिया ? [धात्वर्थ लक्षण क्रिया तो अपने में विरुद्ध नहीं है अन्यथा भू—अस् आदि धातु की "होना" आदि क्रिया का पृथ्वी आदि में विरोध होने से उनके अभाव का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् "पृथ्वी अस्ति" पृथ्वी है इस वाक्य में अस्ति क्रिया का अपने रूप कर्ता में यदि विरोध होगा तो पृथ्वी का अभाव ही हो जावेगा। यदि आप कहें कि परिस्पंदात्मक क्रिया का स्वात्मा में विरोध है तो पुनः क्रिया का स्वात्मा कौन है ? यदि कहें कि क्रिया की आत्मा (स्वरूप) ही स्वात्मा है तो उस क्रिया का उसमें कैसे विरोध होगा ? क्योंकि स्वरूप अपना विरोधी नहीं होता है। यदि स्वरूप भी अपना विरोधी होगा तो पुनः संपूर्ण पदार्थों का अपने-अपने स्वरूप से विरोध हो जाने से सभी पदार्थ निः स्वरूप—स्वरूप रहित हो जावेंगे एवं निः स्वरूप हो जाने से कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होगा पुनः सर्वशून्य का प्रसंग आ जावेगा।

दूसरी बात यह है कि विरोध के द्विष्ठपना है अर्थात् विरोध दो वस्तुओं में ही होता है एक में नहीं इसलिए भी स्वात्मा में क्रिया का विरोध नहीं हो सकता। यदि आप कहें कि क्रिया जिसमें पाई जावे ऐसा क्रियावान् आत्मा क्रिया का स्वात्मा है तो फिर क्रियावान् में क्रिया का विरोध कैसे होगा ? क्रियावान् द्रव्य में ही तो सभी क्रियाओं की प्रतीति होती है अतः अविरोध सिद्ध ही है। यदि आप कहें कि क्रिया का अर्थ है करना, बनाना। इन अर्थवाली क्रियाओं का ही स्वात्मा में विरोध होता है तब तो ज्ञान स्वरूप को निष्पन्न करता है ऐसा हम जैनी तो मानते भी नहीं हैं जिससे कि विरोध हो सके अर्थात् विरोध नहीं है।

भावार्थ—शंकाकार ज्ञान को स्वसंवेदक न मानते हुये ऐसा कहता है कि "स्वात्मनि क्रिया विरो-

---

१ उत्क्षेपणावक्षेपणादिरूपा। २ स्वरूपस्यापि विरोधकत्वे।

---

(1) खड्गे स्वात्मच्छेदनवत्। (2) धात्वर्थलक्षणा परिस्पंदात्मिका वा उत्पत्तिलक्षणा वा इति विकल्पः—दि. प्र.। (3) उत्पत्तिलक्षणा ज्ञप्तिलक्षणा परिस्पंदात्मिकाऽपरिस्पंदात्मिका वा—दि. प्र.। (4) अन्यथा। स्यात। (5) ज्ञानस्य क्षित्यादिविवर्तत्वात। (6) क्षितिर्भवति तिष्ठतीत्यादि। (7) भा।

विरोधस्य द्विष्ठत्वाच्च[1] न क्रियायाः स्वात्मनि विरोधः[2]। [3]क्रियावदात्मा[१] क्रियायाः स्वात्मेति चेत्कथं तत्र विरोधः ? [२]क्रियावत्येव सर्वस्याः क्रियायाः प्रतीतेरविरोधसिद्धेः। अथ क्रिया, करणं निष्पादनं [4]स्वात्मनि विरुद्धमित्यभिमतं[5] तर्हि न ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयतीत्युच्यते[३] येन [४]विरोधः स्यात्। इत्यसिद्धः स्वात्मनि [6]क्रियाविरोधः, [7]स्वकारणविशेषा[५]न्निष्पद्यमानस्य ज्ञानस्य स्वपर-प्रकाशनरूपत्वात् [8]प्रदीपस्य स्वपरोद्द्योतनरूपत्ववत्[9]। यथैव हि रूपज्ञानोत्पत्तौ प्रदीपः सहकारित्वाच्चक्षुषो रूपस्योद्द्योतकः कथ्यते[10] तथा स्वरूपज्ञानोत्पत्तौ [६]तस्य सहकारित्वात्स्व-रूपोद्द्योतकोपि। ततो ज्ञानं स्वपररूपयोः परिच्छेदकं [७]तत्राज्ञाननिवृत्तिहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः[८]।

धात्" स्वात्मा में क्रिया का विरोध है। जैनाचार्यों ने तब प्रश्न किया कि धात्वर्थलक्षण क्रिया का विरोध है या परिस्पंदात्मक क्रिया का ?

प्रथम पक्ष लेने से पृथ्वी आदि पदार्थों में अस्तित्व आदि क्रियाओं का विरोध हो जाने से उनका अभाव हो जावेगा। यदि दूसरा पक्ष लेवें तो प्रश्न यह होता है कि क्रिया का स्वात्मा कौन है ? उत्तर में तीन विकल्प हो सकते हैं—क्रिया की आत्मा (स्वरूप) स्वात्मा, क्रियावान् आत्मा स्वात्मा या करना, वनाना आदि अर्थ रूप क्रिया स्वात्मा है ? पहले विकल्प में क्रिया का स्वरूप स्वात्मा मानने से स्वात्मा में विरोध नहीं हो सकता है क्योंकि किसी भी पदार्थ का अपने स्वरूप से विरोध नहीं होता है। दूसरे पक्ष में क्रियावान द्रव्य में ही क्रिया पायी जाती है। द्रव्य को छोड़कर क्रिया नहीं रह सकती अतः विरोध नहीं है। तीसरे पक्ष में करने, वनाने रूप क्रिया को स्वात्मा में कोई भी नहीं मानते हैं तब विरोध की वात ही नहीं है। सारांश यह निकला कि ज्ञान रूप आत्मा में जानने रूप क्रिया का विरोध न होने से सभी ज्ञान स्वसंवेदी—अपने को जानने वाले हैं और पर को भी जानने वाले हैं।

अतः स्वात्मा में क्रिया का विरोध असिद्ध है। ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप अपने-अपने कारण विशेष से उत्पन्न होता हुआ ज्ञान स्वपर प्रकाशक है जैसे दीपक स्वपर को उद्योतित करता है। जिस प्रकार रूपज्ञान की उत्पत्ति में दीपक सहकारी होने से चक्षु इंद्रिय के रूप का प्रकाशक कहा जाता है उसी प्रकार दीपक अपने स्वरूप के ज्ञान की उत्पत्ति में भी सहकारी होने से अपने स्वरूप दीपक को भी प्रकाशित करता है इसलिये ज्ञान स्वपर का परिच्छेदक है अन्यथा अज्ञान की निवृत्ति हो नहीं सकती है

---

१ क्रियास्यास्तीति क्रियावान्। स चासौ आत्मा च क्रियावदात्मा। २ द्रव्ये। ३ जैनैः। ४ अपि तु न। ५ आवरणक्षयो-पशमादिविशेषात्। ६ तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात्। ७ स्वपररूपयोः। ८ स्वपररूपपरिच्छेदकत्वाभावे।

---

(1) शीतोष्णयोरिव (2) एकस्थत्वात्। (3) क्रियावतः पदार्थस्य स्वरूपं स्वशब्दस्य स्वकीयार्थत्वात्। (4) स्वस्य ज्ञानस्य स्वरूपे। (5) काकुः। (6) ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयतीति नोच्यते कुतः। (7) क्षयोपशमलक्षण। (8) तैलादिस्वकारणनिष्पाद्यमानस्य। (9) प्रदीपस्य परप्रकाशनत्वमेव न स्वरूपप्रकाशकत्वं येन दृष्टांतः स्यादि-त्याशंकायामाह। (10) तथा प्रदीपः घट विशिष्टज्ञानोत्पत्तौ तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात् स्वरूपस्य घटविशिष्टज्ञान-स्योद्योतको भवति–दि. प्र.।

[भूतचैतन्ययोर्लक्षणं पृथक् पृथगेव]

इत्यविरुद्धं पश्यामः स्वसंवेदनमन्तस्तत्त्वस्य[१] लक्षणं [1]भूतासम्भवीति भिन्नलक्षणत्वं [२]तयोः सिद्धयत्येव। तच्च सिध्यत्तत्त्वान्तरत्वं साधयति, [2]तच्चाऽसजातीयत्वम्[३]। [४]तदप्युपादानोपादेयभावाभावं[५], [६]तयोस्त[3]त्प्रयोजकत्वात्[७]। तदेवं [4]भूतचैतन्ययोर्नास्त्युपादानोपादेयभावो[5], विभिन्नलक्षणत्वात्। [6]इति [7]व्यापकविरुद्ध[८]व्याप्तोपलब्धिः[९], [8]उपादानोपादेयभावव्यापकस्य सजातीयत्वविशेषस्य विरुद्धेन तत्त्वान्तरभावेन [१०]व्याप्ताद्भिन्न-

---

क्योंकि स्वपर के ज्ञान करने में अज्ञान निवृत्ति रूप हेतु की अन्यथानुपपत्ति है।

[भूत और चैतन्य का लक्षण पृथक्-पृथक् ही है।]

इस प्रकार से स्वसंवेदन अंतस्तत्त्व (चैतन्य) का लक्षण है जो कि पृथ्वी आदि भूतों में असंभवी है। अतः भूतचतुष्टय और चैतन्य का भिन्न २ लक्षण सिद्ध ही होता है। इसमें हमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं दीखता है और वह भिन्न लक्षण सिद्ध होता हुआ दोनों को भिन्न-भिन्न तत्त्व ही सिद्ध करता है। वह भिन्न तत्त्व ही भूत और चैतन्य में असजातीयपने को सिद्ध कर देता है। असजातीयत्व हेतु भी उन दोनों में उपादान उपादेय भाव के अभाव को सिद्ध करता है अतः उन दोनों भूत और चैतन्य में अथवा उपादान-उपादेय भाव में वह सजातीयत्व ही प्रयोजक है। इस प्रकार "भूत और चैतन्य में उपादान उपादेय भाव नहीं है क्योंकि वे विभिन्न लक्षण वाले हैं।" इसलिये व्यापक से विरुद्ध व्याप्त की उपलब्धि हो रही है अर्थात् उपादान उपादेयभाव व्याप्य हैं, सजातीयपना व्यापक है, उस सजातीय से विरुद्ध जो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं उससे "विभिन्न लक्षणत्व" हेतु व्याप्त है ऐसे हेतु की उपलब्धि हो रही है अतः विभिन्न लक्षणत्व हेतु व्यापक विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि नाम से कहा जाता है। उसी को स्वयं आगे कहते हैं—

---

१ चेतनस्य। २ भूतचैतन्ययोः। ३ तत्त्वान्तरत्वं च भूतचैतन्ययोरसजातीयत्वं साधयति। ४ असजातीयत्वमपि। ५ साधयतीति संबंधः। ६ भूतचैतन्ययोरुपादानोपादेययोर्वा। ७ तत् सजातीयत्वं प्रयोजकं ययोरिति वसः। ८ उपादानोपादेयभावस्य व्याप्यस्य व्यापकं यत्सजातीयत्वं ततो विरुद्धं तत्त्वान्तरत्वं तेन व्याप्तं विभिन्नलक्षणत्वं तस्योपलब्धिः। ९ विभिन्नलक्षणत्वादित्ययं हेतुर्व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धिः कथ्यते। तदेवाग्रे दर्शयति। १० व्याप्ता इति पाठान्तरम्।

---

(1) पृथिव्यादिषु। (2) तत् भूतचेतनयोर्भिन्नलक्षणत्वं सिद्धयन्निःपाद्यमानं तत्त्वांतरत्वं साधयति। तत् तत्त्वांतरत्वं विजातीयत्वं साधयति। तत् विजातीयत्वं उपादानोपादेयाभावं साधयति। तयोर्भूतचेतनयोः तस्योपादानोपादेयत्वाभावस्य साधकत्वात्—दि. प्र.। (3) तत्सजातीयत्वं प्रयोजकं तयोरुपादानोपादेययोस्ते तथोक्ते तयोर्भावस्तस्मात्। (4) चेतनयोः इति पा.—दि. प्र.। भूतचेतनौ पक्षः उपादानोपादेयभावौ भवत इति साध्यो धर्मः भिन्नलक्षणत्वात्—दि. प्र.। (5) भावोऽतिभिन्न—इति पा. (6) निवर्तमानं सजातीयत्वं उपादानोपादेयत्वनिवर्तकमिति वचो भिन्नलक्षणत्वं तन्निवर्तयतीत्यनेन विरुद्धयते इत्याशंक्य विरोधं परिहरति। (7) साध्यस्य व्यापक। व्यापकविरुद्धेन तत्त्वांतर भावेन व्याप्तात् भिन्नलक्षणत्वात् भूतचैतन्ययोरुपादानोपादेयभावाभाव उपलभ्यते—दि. प्र.। (8) व्याप्य। ता।

लक्षणत्वात्प्रतिषेध्याभावसाधनात्[१] । [२]नह्यत्र सजातीयत्वविशेष[1]स्योपादानोपादेयभाव-[2]व्यापकत्वमसिद्धं, [3]विजातीयत्वाभिमतयोः पयःपावकयोः सत्त्वादिना सजातीययोरपि [३]तदनुपगमात् [४]कथञ्चिद्विजातीययोरपि [4]मृत्पिण्डघटाकारयोः[५] पार्थिवत्वादिना विशिष्ट-सामान्येन सजातीययोरुपादानोपादेयभावसिद्धेः । [६]कथं[5]तर्हि[७] सजातीयत्वविशेषस्य तत्त्वान्तर-भावेन विरोध इति [८]चेत्तत्त्वान्तरभूतयोस्तदनुपलम्भात्, [९]पूर्वाकारापरित्यागा[6]ऽजहद्वृत्तो-[१०]त्तराकारान्वय[११]प्रत्यय[१२]विषयस्योपादानत्वप्रतीतेः[7], परित्यक्तपूर्वाकारेण द्रव्येणात्मसात्क्रिय-माणोत्तराकारस्योपादेयत्व[१३]निर्ज्ञानादन्यथा[१४]ति[8]प्रसङ्गात्[१५] ।

उपादान उपादेय भाव व्यापक है, वह सजातीय विशेष है। उसके विरुद्ध भिन्न २ तत्त्व रूप से व्याप्त होने से यह "विभिन्न लक्षणत्व" हेतु प्रतिषेध्य (चैतन्य) के अभाव को सिद्ध करता है। यहां सजातीयत्व विशेष में उपादान-उपादेय भाव का व्यापकपना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि विजातीय रूप से स्वीकृत जल और अग्नि में सत्त्वादि सामान्य धर्मों से सजातीयपना होने पर भी उपादान-उपादेय रूप व्यापकपना आपने नहीं माना है और जो कथंचित् विजातीय भी हैं ऐसे मृत्पिड और घट के आकार में अर्थात् मृत्पिड द्रव्य है और घट का आकार पर्याय है इस प्रकार द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से विजातीय होने पर भी पार्थिव आदि से विशिष्ट सामान्य धर्म की अपेक्षा से सजातीय भी हैं इस मृत्पिड और घट आकार में उपादान-उपादेय भाव सिद्ध है।

चार्वाक—पुनः सजातीय विशेष में तत्त्वांतर भाव से विरोध क्यों है ?

जैन—विरोध इसलिए है क्योंकि भिन्न २ तत्त्व में वह उपादान उपादेय भाव नहीं पाया जाता है।

[उपादान का लक्षण]

पूर्वाकार का परित्याग रूप व्यय और उत्तराकार का उत्पाद इन दोनों में अजहद्वृत्त (अपने मूल

---

१ प्रतिषेध्यस्य चेतनस्याभावसाधनात्। २ नन्वेवं तन्वादेर्घटाद्याकारस्य चोपादानोपादेयभावः स्यात्, पार्थिवत्वादि-विशिष्टसामान्यसद्भावाविशेषादिति न शङ्कनीयं, व्यापकस्य सजातीयत्वस्योपादानोपादेयाख्यव्याप्याभावेपि व्यवस्थाना-विरोधात् "व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च" इत्यादिवचनादित्याशयगर्भमाह नहीति। 'भिन्नलक्षणत्व' हेतौ। ३ सजातीयत्वस्य उपादानोपादेयभावव्यापकत्वानुपगमात्। ४ मृत्त्वघटत्वप्रकारेण। ५ द्रव्यपर्याययोः। ६ चार्वाकः। ७ तर्हि कुत्र सजातीयत्वं वर्तते इत्याशङ्क्य अन्तर्गूढसजातीयत्वनिमित्तकमुपादानोपादेयभावमाह आचार्यः। ८ जैनः। ९ परित्यागो व्ययः पूर्वाकारपरि—इति पाठान्तरम्। १० उत्पादरूपेण। ११ अन्वयः अनुवर्तनम्। १२ प्रत्ययो ज्ञानम्। १३ पयःपावकयोरप्युपादानोपादेयभावो मास्तु ततः। १४ उक्तप्रकारस्योपादानोपादेयत्वप्रतीत्यभावे। १५ (मेचकादिषु चित्रज्ञानाभावप्रसङ्गात्)।

---

(1) सजातीयमात्रं व्यापकं (2) उपादानोपादेयभावसाधनं प्रति। ता। (3) सत्त्वेन, प्रमेयत्वेन, वस्तुत्वेन इत्यादिना लक्षणेन सजातीययोरपि तथापि विजातीयत्वेन अंगीकृतयोः जलानलयोः उपादानोपादेयभावश्चार्वाकैर्नांगी-क्रियते। तथाऽस्माभिर्भूतचेतनयोरुपादानोपादेयभावो नांगीक्रियते। दि. प्र. (4) मृद्घटाकारयोः इति पा, (5) पयः-पावकयोः सत्त्वादिना सजातीयत्वमापादितं तर्हि विरोधः कथं स्यादित्याशंकायामग्रे प्रत्युत्तरयति। (6) व्ययः। (7) द्रव्यस्य। (8) पयःपावकयोरप्युपादानोपादेयत्वप्रसंगात्।

[भिन्नलक्षणत्वहेतुर्भिन्नभिन्नतत्त्वेन कथं व्याप्तमिति प्रश्ने सति समाधानं]

कथं तत्त्वान्तरभावेन भिन्नलक्षणत्वं व्याप्तमिति चेत् [1]तदभावेनुपपद्यमानत्वात्[2]। [3]किण्वादिमदिरादिपरिणामयोरतत्त्वान्तरभावेपि भिन्नलक्षणत्वस्य[4] दर्शनात्तस्य[5] तेनाव्याप्तिरिति चेन्न, [6]तयोर्भिन्नलक्षणत्वासिद्धेः, किण्वादेरपि मदजननशक्तिसद्भावान्मदिरादिपरिणामवत्। सर्वथा मदजननशक्तिविकलत्वे हि किण्वादेर्मदिरादिपरिणामदशायामपि तद्वैकल्यप्रसङ्गः। [7]नन्वेवं [8]भूतान्तस्तत्त्वयोरपि भिन्नलक्षत्वं मा भूत्, कायाकारपरिणतभूतविशेषावस्थातः प्रागपि क्षित्यादिभूतानां चैतन्यशक्तिसद्भावादन्यथा [1]तदवस्थायामपि चैतन्योद्भूतिविरोधादिति न [2]प्रत्यवस्थेयं, चेतनस्यानाद्यनन्तत्वप्रसिद्धेरात्म[3]वादिनामिष्टप्रति-

स्वभाव को न छोड़कर) होता हुआ अन्वयरूप से ज्ञान का विषयभूत पदार्थ है वही उपादान है। क्योंकि पूर्वाकार को जिसने छोड़ दिया है ऐसे द्रव्य के द्वारा आत्मसात् (ग्रहण) किया गया जो उत्तराकार है उसे ही उपादेय स्वीकार किया गया है। यदि ऐसा न मानें तो अतिप्रसंग दोष आजावेगा।

[भिन्न लक्षणत्व हेतु भिन्न-भिन्न तत्त्व से व्याप्त है यह बात कैसे बनेगी ? इसका समाधान।]

शंका— भिन्न तत्त्व के साथ भिन्न लक्षण की व्याप्ति कैसे है ?

समाधान—भिन्न तत्त्व के अभाव में भिन्न लक्षण भी नहीं पाया जाता है।

चार्वाक— किण्वादि (मदिरा के लिये कारण भूत गुड़, आटा, महुआ आदि) और मदिरा परिणाम इन दोनों में भिन्न तत्त्व का अभाव होने पर भी भिन्न लक्षणपना देखा जाता है अर्थात् कारणभूत गुड़ महुआ आदि में स्वतंत्र रूप से मद को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है और मदिरा परिणाम में मदजनक शक्ति विद्यमान है अतः दोनों का लक्षण भिन्न २ पाया जाता है। इसलिये भिन्न लक्षणत्व हेतु की भिन्न तत्त्व के साथ अव्याप्ति है।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते। किण्वादि और मदिरा में भिन्न लक्षण की असिद्धि है। किण्वादिक (गुड़, महुआ, आटा) में भी मद को उत्पन्न करने की शक्ति का सद्भाव है, मदिरा आदि रूप से परिणत द्रव्य के समान। क्योंकि सर्वथा मद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित होने पर आटा, गुड़, महुआ आदि पदार्थ मदिरा रूप से परिणत अवस्था में भी मद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित हो जावेंगे।

चार्वाक—पुनः इस प्रकार से भूत और अंतस्तत्त्व (चैतन्य) में भी भिन्न-लक्षण न होवे क्योंकि

१ तत्त्वान्तरभावाभावे। २ भिन्नलक्षणत्वस्य। ३ चार्वाकः। किण्वादि, कारणरूपपिष्टगुडधातक्यादि। ४ मदशक्त्यजनकत्वस्य मदशक्तिजनकत्वस्य च। ५ (भिन्नलक्षणत्वस्य तत्त्वान्तरभावेन सह)। ६ किण्वादिमदिरादिपरिणामयोः। ७ (किण्वादेर्मदजननशक्तिसद्भावप्रकारेण। ८ (अन्तस्तत्त्वं हि चित्)।

(1) अन्यथा चैतन्यशक्त्यसद्भावे कायाकारपरिणत भूतविशेषावस्थामपि चैतन्योत्पत्तिर्विरुद्धयते इत्युक्तवंतं चार्वाकं प्रत्याह जैनः। इयं प्रतिकूलता न किंतु अस्मदभीष्टसिद्धिः कस्मादात्मवादिनामभीष्टस्थापनात्। दि. प्र.। (2) न पूर्वपक्षीकरणीयं। (3) ता।



ष्ठानात् । न चैवं चैतन्यं भूतविवर्त्तः, [1]क्षित्यादितत्त्वस्यापि [2]तद्विवर्त्तत्वप्रसङ्गात्, अनाद्य-[१]नन्तत्वाविशेषात् । ततो भिन्नलक्षणत्वं तत्त्वान्तरत्वेन व्याप्तं भूतचैतन्ययोस्तत्त्वान्तरत्वं साधयत्येव । इति [२]चैतन्यपरिणामोपादान[3] एवाद्यचैतन्यपरिणामः [4]प्राणिनामन्त्यचैतन्योपा-देयश्च[३] जन्मान्तराद्यचैतन्यपरिणामः सिद्धः[5] ।

शरीराकार से परिणत भूत विशेषावस्था से पहले भी पृथ्वी, जल आदि भूतों में चैतन्य शक्ति का सद्भाव है । अन्यथा शरीराकार परिणत अवस्था में भी चैतन्य की उत्पत्ति का विरोध हो जावेगा ।

जैन—इस प्रकार नहीं कहना चाहिये क्योंकि चैतन्य के अनादि अनंतपना सिद्ध है और सभी आत्मवादियों को यह वात इष्ट है और इस प्रकार चैतन्यतत्त्व, भूतचतुष्टय की पर्याय नहीं है अन्यथा पृथ्वी आदि तत्त्व को भी चैतन्य की पर्याय का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि दोनों में ही अनादि अनंतपना समान है । इसीलिये "भिन्न लक्षण" हेतु भिन्न तत्त्व से व्याप्त है और वह भूतचतुष्टय और चैतन्य को भिन्न-भिन्न तत्त्व सिद्ध ही करता है। इस प्रकार प्राणियों का आद्य चैतन्य परिणाम ही पूर्व चैतन्य परिणाम (जन्म) के उपादान पूर्वक है और अन्त्य चैतन्य उपादेय है तथा अगले जन्म में जन्म के लिये मरण के वाद का चैतन्य ही उपादान रूप है उसे ही आद्य चैतन्य परिणाम कहते हैं यह वात सिद्ध हुई ।

भावार्थ—चार्वाक चैतन्य और भूत चतुष्टय को एक तत्त्व सिद्ध करने में लगा हुआ है । उसका कहना है कि भले ही जीव और भूत का लक्षण भिन्न-भिन्न हो फिर भी दोनों एक तत्त्व हैं । जैसे गुड़, महुआ, आटा आदि मदिरा के लिये साधनभूत पदार्थ हैं । इनमें मादक शक्ति नहीं है और सभी के संम्मि-श्रण से इन्हीं का मदिरा रूप परिणमन होकर इनमें मादकता आ जाती है और पीने वालों को वह उन्मत्त वना देती है । पृथक्-पृथक् गुड़ महुआ या आटे की रोटी खाने वालों में ऐसा विकार या नशा नहीं होता है । अतः ये महुआ आदि पदार्थों का लक्षण भिन्न है और मदिरा का लक्षण भिन्न है फिर भी दोनों एक तत्त्व हैं वैसे ही यद्यपि आत्मा का लक्षण जानना देखना है और भूत चतुष्टय का लक्षण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रूप है फिर भी लक्षण भेद से ये दोनों पृथक् न होकर एक ही हैं ।

इस पर आचार्य ने अच्छी तरह समझाया है कि भाई ! गुड़, महुआ, आटा आदि जड़ रूप अचेतन पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं और इनमें मदिरा वनने के पहले भी शक्ति रूप से मादकता विद्यमान है तभी

---

१ उभयत्रापि । २ पूर्वचैतन्यमुपादानम् । ३ अन्त्यचैतन्यस्योपादेयो भविष्यज्जन्माद्यचैतन्यपरिणामः ।

---

(1) अन्यथा । (2) नन्वनादित्वाविशेषेऽपि चैतन्यं भूतविवर्तः शक्तित्वात् ननु क्षित्यादिस्तद्विवर्तः शक्तिमत्त्वात् । मदजननविवर्तो न तु मदिरादिस्तद्विवर्तः ततः क्षित्यादितत्त्वस्य तत्प्रसंगो न स्यादिति नाशंकनीयं । अभिप्रायविशेषात् । अयं ह्यभिप्रायविशेषः प्राक्प्रपंचेन निरारेकं समर्थितेन स्वसंवेदनाल्यभिन्नलक्षणत्वेन तत्त्वांतरत्वं चैतन्यस्य व्यवस्थापितं । तथापि तस्य क्षित्यादिविवर्तत्वे क्षित्यादेरपि चैतन्यविवर्तत्वप्रसंगः स्यात् । न चैवं मदजननशक्तेर्मदिरादिविवर्तत्वे मदिरा-देस्तद्विवर्तत्वप्रसंगःस्यात्तस्याभिन्नलक्षणत्वेन तत्त्वांतरत्वासिद्धेरिति—दि. प्र. । (3) वसः । (4) ता । कार्यभूतः (5) एवं प्राक्तनचैतन्यस्योत्तरचैतन्यं प्रत्युपादानभावेऽपि कथं संसारः इत्याह ।

संम्मिश्रण होने से मादकता आ जाती है अन्यथा यदि इनमें शक्ति ही नहीं होती तो मिलने पर भी वह कहां से प्रकट होती।

जैनाचार्य तो दूध में घी को शक्ति रूप से एवं आत्मा में परमात्मा को शक्ति रूप से मानते हैं। देखो ! जन्म लेते ही बालक में बैरिस्टर, डाक्टर, इंजीनियर, मास्टर आदि की शक्ति विद्यमान है इसीलिये बड़ा होने पर निमित्त मिलने से वैसा बन जाता है। अत: आटा, महुआ आदि मदिरा से भिन्न तत्त्व नहीं हैं वे सभी अचेतन रूप ही हैं, किन्तु आत्मा सर्वथा ही इन भूत चतुष्टयों से विलक्षण ज्ञान दर्शन स्वरूप चेतन है। आश्चर्य इस बात का है कि यह चार्वाक भूत चतुष्टय में चारों को परस्पर में भिन्न-भिन्न मानता है और आत्मा एवं भूत चतुष्टय को एक सजातीय द्रव्य मानता है जबकि ये चारों ही भूतचतुष्टय पुद्गल की अपेक्षा सजातीय एक द्रव्य है एवं आत्मा इनसे भिन्न विलक्षण द्रव्य है। यह आत्मा अनादि अनंत है और मरण के बाद आगे गर्भावस्था में आने के लिए उपादान भूत है। जैसे कि जवानी अवस्था के चैतन्य में बाल्यावस्था का चैतन्य उपादान रूप है ऐसा समझना चाहिये।



चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ज्ञान को स्वसंविदित नहीं मानते हैं उनके खंडन का सारांश

अस्वसंविदित ज्ञानवादी कहता है कि "ज्ञान स्वसंविदित नहीं है फिर भी बाह्य पदार्थों का प्रकाशक है जैसे कि दीपक आदि अस्वसंविदित होकर भी बाह्य पदार्थ के प्रकाशक देखे जाते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि प्रदीप आदि तो अचेतन हैं अतः बाह्य पदार्थ को जानने वाले नहीं हैं मात्र ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं, किन्तु ज्ञान तो बाह्य पदार्थों को जानने वाला भी है और स्वसंवेदन लक्षण वाला है। सुखादि ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत सुखादि के जानने वाले हैं कथंचित् वे भी वाह्य ही हैं।

सुखादि सातावेदनीय के उदय से हुए हैं एवं ज्ञान ज्ञानावरण के क्षयोपशम से हुआ है अतः सुख और सुख का ज्ञान कथंचित् भिन्न ही हैं। एवं सभी ज्ञान स्वपर परिच्छेदक माने गये हैं।

कोई कहे कि 'स्वात्मनि क्रियाविरोधात्" नियम से ज्ञान स्व को कैसे जानेगा ? इस पर आचार्य प्रश्न करते हैं कि स्वात्मा में धात्वर्थ लक्षण क्रिया का विरोध है या परिस्पंदात्मक क्रिया का ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है कारण कि "पृथ्वी अस्ति" इत्यादि रूप से अस्तित्व आदि क्रिया का विरोध हो जाने से सभी का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा।

यदि दूसरा पक्ष लेंवे तो क्रिया का स्वात्मा कौन है ? क्रिया का स्वरूप या क्रियावान् आत्मा अर्थात् करना, बनाना आदि अर्थ रूप क्रिया ? यदि क्रिया का स्वरूप कहें तो अपने स्वरूप का कोई विरोधी नहीं है। दूसरे पक्ष में भी क्रियावान् द्रव्य में ही क्रिया पाई जाती है। तीसरे पक्ष में करने, बनाने रूप क्रिया स्वात्मा में कोई भी मानते ही नहीं हैं। अतः ज्ञान रूप क्रिया का स्वात्मा में विरोध न होने से सभी ज्ञान स्वसंवेदी हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से ज्ञान स्वपर प्रकाशक है प्रदीपादि के समान। तथा इस ज्ञान लक्षण से ही आत्म तत्त्व की सिद्धि हो जाने से संसार और मोक्ष एवं उनके कारण भी सिद्ध ही हो जाते हैं।



[1]पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च संसारः। इति प्रसिद्धेन[1] प्रमाणेन संसारतत्त्वं न [2]बाध्यते, [2]नानुमानेन, [3]नाप्यागमेन, तस्य तत्प्रतिपादकतया [4]श्रुतेः "संसारिणस्त्रसस्थावराः" इति वचनात्।

[संसारस्य कारणभूततत्त्वानां विचारः]

तथा संसारोपायतत्त्वमपि[3] न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य तदबाधकत्वात्। निर्हेतुकः संसारोऽनाद्यनन्तत्वादाकाशवदित्यनुमानेन[5] तद्बाध्यते इति चेन्न, पर्यायार्थादेशा[6][4]त्संसारस्यानाद्यनन्तत्वासिद्धेः, दृष्टान्तस्यापि [5]साध्यसाधनविकलत्वाद्, [7]द्रव्यार्थादेशात्तु [1]तस्य [6]तथासाधने सिद्धसाध्यतानुषक्तेः। [8]सुखदुःखादि[7]भावविवर्त्तन[9]लक्षणस्य[8] संसारस्य [10]द्रव्यक्षेत्र-

---

पूर्वभव का परित्याग करके भवांतर को ग्रहण करना ही संसार है। इस प्रकार प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से संसार तत्त्व बाधित नहीं होता है तथा उपर्युक्त कथन की सिद्धि से अनुमान के द्वारा भी संसार तत्त्व बाधित नहीं है और न आगम से ही बाधित है क्योंकि आगम तो "संसारिणस्त्रसस्थावराः" इस प्रतिपादक रूप सूत्र से प्रसिद्ध ही है।

[संसार के कारणभूत तत्त्वों का विचार]

तथा संसार के कारणभूत तत्त्व भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण उन कारणों को सिद्ध करने में अबाधित रूप से पाया जाता है।

शंका—"संसार निर्हेतुक है क्योंकि वह अनादि अनंत है जैसे आकाश।" इस अनुमान से संसार के कारण बाधित हैं।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से संसार की अनादि अनंतता असिद्ध है। और 'आकाशवत्" यह दृष्टांत भी साध्य साधन विकल है। यदि आप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कहें तो संसार अनादि अनंत ही है। अतः सिद्ध साध्यता का प्रसंग आता है और सुख दुःखादि भाव रूप परिणमन लक्षण वाला संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप पांच भेद विशेषों से सहेतुक ही प्रतीति में आ रहा है। अतः संसार को अहेतुक सिद्ध करने वाला आपका अनुमान निर्दोष नहीं है इसलिये संसार के कारण तत्त्वों का बाधक कोई भी अनुमान नहीं है तथा आगम भी

---

१ प्रत्यक्षेण। २ अनुपलब्धेरिति पूर्वोक्तचार्वाकानुमानेन। ३ उपायः, कारणम्। ४ पर्यायार्थिकनयापेक्षया। ५ संसारस्य। ६ नित्यत्वेन। ७ भावः परिणामः। ८ सुखदुःखादय एव भावाः परिणामास्तेषां विवर्तनं तदेव लक्षणं यस्य।

---

(1) स्वोपात्तकर्मवशात्। (2) पूर्वं चार्वाकोपन्यस्तेनानुपलब्धिलिंगजनितेन। (3) प्रसिद्धप्रामाण्येन। (4) श्रवणात्। (5) काल। (6) नरनारकादिकथनात्। (7) आत्म। (8) यतः। ता बहुः। (9) भावपरिवर्तन इति पा०। (10) आत्म।

कालभावभव[1]विशेषहेतुकत्वप्रतीतेश्च नाहेतुकसंसारसाधनानुमानमनवद्यम् । इति न किञ्चिदनुमानं संसारोपायतत्त्वस्य बाधकम् । [1]नाप्यागमः, तस्य तत्साधकत्वात् "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः" इति वचनात्, बन्धहेतूनामेव संसारहेतुत्वात् । तदेवं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वं भगवतोभिमतं प्रसिद्धेन प्रमाणेन युक्तिशास्त्राख्येनाबाध्यं सिध्यत्तद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्वं साधयति, [2]तच्च [3]निर्दोषत्वम् । इति त्वमेव स [2]सर्वज्ञो

उसका बाधक नहीं है क्योंकि आगम तो संसार के कारणों का साधक ही है । "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः" इस प्रकार सूत्र है, क्योंकि बंध के कारण ही संसार के कारण हैं ।

भावार्थ—यहां जैनाचार्य संसार को सहेतुक सिद्ध करते हैं तब यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि जब संसार अनादि है तब कारणों से उत्पन्न हुआ कैसे होगा ? और कारणों से उत्पन्न नहीं होगा तब उस संसार का अंत भी कैसे हो सकेगा ।

इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि हम संसार को सर्वथा अनादि अनंत नहीं मानते हैं क्योंकि हम स्याद्वादी हैं । कथंचित् द्रव्यदृष्टि से संसार अनादि अनंत है एवं पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सादि सांत है । यद्यपि आत्मा के साथ कर्मों का संबंध अनादिकाल से ही है फिर भी उस कर्म बंध के कारण आत्मा के रागादि परिणाम हैं और रागादि परिणामों के लिये कारणभूत वह कर्म का उदय है अतः यह पंच परिवर्तन रूप संसार सहेतुक ही है और जब सहेतुक है तब इसके हेतुओं का नाश करने से संसार का भी नाश हो जाता है । संसार के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय योग अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं ।

संसार का यह नाश कतिपय भव्य जीवों की अपेक्षा ही कहा गया है क्योंकि संसार में इतनी जीव राशि है कि जिसमें से अनंतानंत काल से अनंतानंत जीव मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं और भविष्य में भी अनंतानंत जीव मोक्ष जाते रहेंगे फिर भी आगामी अनंतानंत काल तक भी जीवराशि कम नहीं होगी, न सिद्धों में वृद्धि की ही समस्या आवेगी क्योंकि यदि अनंत का भी अंत हो जावे फिर वह अनंत कैसे कहा जावेगा । अतः यह संसार अहेतुक नहीं है और न केवल स्वयं की भूल से ही है यह तो कर्मोदय निमित्तक भी है और मिथ्या, अविरति आदि निमित्तक भी है ।

प्रत्येक कार्यों के लिये अनेक कारण होते हैं । द्रव्य कर्मों का उदय और मिथ्या, अविरति आदि रूप परिणाम ये दोनों ही कारण संसार के कारण हैं । यहां जो दिखता है उसे ही संसार नहीं समझना, प्रत्युत जो भवाँतर की प्राप्ति है वह संसार है इसीलिये "संसरणं संसारः" यह व्युत्पत्ति अर्थ सार्थक है ।

इस प्रकार भगवान के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष, संसार एवं उन दोनों के कारणभूत तत्त्व भगवान

---

१ द्रव्यक्षेत्रकालभावभवभेदात्पञ्चधा संसारः । २ युक्तिशास्त्राविरोधित्वम् । ३ साधयतीत्यध्याहार्यं पदम् ।

(1) प्रसिद्धप्रामाण्यः । (2) साधितः सन् ।

वीतरागश्च स्तोतुं युक्तो नान्य[१] [1]इत्युच्यते ।

[दूरवर्तिपदार्था यस्य प्रत्यक्षाः संति सोर्हन् भवानेव]

विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना[2] कस्यचित्प्रत्यक्षं सोत्र भवानर्हन्नेव[२]*। [३]दृश्यलक्षणाद्भिन्नल[3]क्षणमदृश्यस्वभावस्तत्सम्बन्धित्वेन विप्रकर्षि परमाण्वादिकम्[४] । तथा वर्त्तमानात्कालाद्भिन्नः कालोतीतोनागतश्च, तत्सम्बन्धित्वेन रावणशङ्खादि[५] । तथा दर्शनयोग्याद्देशाद्भिन्नदेशो[4]ऽनुपलब्धियोग्यस्तत्सम्बन्धित्वेन [६]मकराकरादि । तद्भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना[5] स्वभावकालदेशविप्रकर्ष्यपि[७] कस्यचित्प्रत्यक्षं साधितम् । सोत्र[6] भवानर्हन्नेव, न पुनः कपिलादय इति । एतत्कुतो निश्चितमिति चेत्, [7]**अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्** * । ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषा यथा [8]दुर्वैद्यादयः, तथा चान्ये

के इष्ट तत्त्व हैं जो कि प्रसिद्ध प्रमाण से एवं युक्ति और शास्त्र से अबाधित रूप सिद्ध होते हुये भगवान् के वचनों को युक्ति शास्त्र से अविरोधी ही सिद्ध करते हैं एवं युक्ति-शास्त्र से अविरोधीपना ही भगवान् के निर्दोषत्व को सिद्ध करता है । इसलिये हे भगवन् ! वे निर्दोष सर्वज्ञ वीतराग आप ही स्तवन करने योग्य हैं अन्य बुद्ध कपिल आदि नहीं है इस प्रकार कहा जाता है ।

[दूरवर्ती पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष हैं वे अर्हंत आप ही हैं]

भिन्न लक्षण संबंधी आदि रूप से विप्रकर्षी भी पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं यहां वे अर्हंत भगवान् आप ही हैं ।

दृश्य लक्षण (घटादि) से जिनका लक्षण भिन्न है ऐसे अदृश्य स्वभाव वाले पदार्थ अर्थात् अदृश्य स्वभाव संबंधी विप्रकर्षी (परोक्ष-दूरवर्ती) पदार्थ परमाणु आदिक हैं एवं पिशाचादिक स्वभाव विप्रकृष्ट हैं । तथा वर्तमान काल से भिन्न अतीत और अनागत काल हैं उन संबंधी रावण, शंख, चक्रवर्ती आदिक काल विप्रकृष्ट हैं तथैव देखने योग्य देश से भिन्न देश, अनुपलब्धि योग्य हैं तत्संबंधी अर्थात् उन दूर देश संबंधी लवण समुद्र आदि देश विप्रकृष्ट हैं । उस दृश्य से भिन्न लक्षण संबंधी आदि रूप स्वभाव से, काल से एवं देश से विप्रकर्षी—दूरवर्ती भी पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं यह सिद्ध किया है इस विषय में वे अर्हंत आप ही हैं, न कि बुद्ध कपिलादिक ।

यह निश्चय आपने कैसे किया ? ऐसा प्रश्न होने पर **अन्य सभी न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं ।"** जो न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं वे निर्दोष नहीं हैं जैसे दुर्वैद्य आदि ।

१ बुद्धादिः । २ भगवानिति पाठान्तरम् । ३ घटादेः । ४ आदिशब्देन पिशाचादि । ५ शङ्खः, शङ्खचक्रवर्ती । ६ विप्रकर्षि । ७ दूरतामापन्नमपि ।

(1) मया । भट्टाकलंकदेवैः—दि. प्र. । (2) काल देश । (3) घटादेः । (4) देशांतरं । (5) च इति पाठोधिकः । दि. प्र. । (6) जगति । (7) कपिलादीनां—दि.प्र. । (8) कपिलादयः पक्षः न भवंतीति साध्यो धर्मः, न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् । ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषाः दुर्वैद्यदुर्नैमित्तिकादयः न्यायागमविरुद्धभाषिणश्चैते तस्मान्न निर्दोषाः—दि. प्र. ।

कपिलादय इत्यनुमानान्न्यायागमाविरुद्धभाषिण एव भगवतोर्हतो निर्दोषत्वमवसीयते। न चात्र न्यायागमविरुद्धभाषित्वं[1] कपिलादीनामसिद्धं, तदभिमतस्य मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वस्य प्रसिद्धेन प्रमाणेन बाधनात्।

[सांख्याभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

तत्र कपिलस्य [2]तावत्स्वरूपे चैतन्यमात्रेवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभिमतं[१] तत्प्रमाणेन बाध्यते, चैतन्यविशेषेनन्तज्ञानादौ स्वरूपेवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात्[२]। न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपं, [3]सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। [4]प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादि स्वरूपं, नात्मन इति चेन्न, तस्या[5]चेतनत्वादाकाशवत्। [३]ज्ञानादेरप्य[6]चेनत्वादचेतनप्रधानस्वभावत्वं युक्तिमेवेति

उसी प्रकार से न्याय–आगम से विरुद्ध बोलने वाले अन्य कपिल आदि हैं।" इस अनुमान से न्यायागम—युक्ति और आगम से अविरुद्ध भाषी होने से ही भगवान् अर्हत निर्दोष हैं यह निश्चित होता है।

यहां कपिलादि न्याय-आगम से विरुद्ध भाषी हैं यह बात असिद्ध भी नहीं है क्योंकि उनके द्वारा अभिमत मोक्ष, संसार और उन-उनके कारण तत्त्वों में प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा आती है।

[सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन]

सांख्य– अपने चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है अर्थात् प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान होने से प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर पुरुष का सुषुप्त पुरुषवत् अव्यक्त चैतन्य उपयोग रूप से स्वरूप में अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है।

जैन—आपका यह अभिमत भी प्रमाण से बाधित है क्योंकि हम जैनों के यहां चैतन्य विशेष अनंतज्ञान आदि रूप स्वरूप में अवस्थान होने को मोक्ष सिद्ध किया है। एवं अनंतज्ञान आदि आत्मा के स्वरूप नहीं हैं ऐसा नहीं कह सकते, अन्यथा सर्वज्ञत्व आदि का विरोध हो जावेगा।

सांख्य—सर्वज्ञत्व आदि प्रधान का स्वरूप है आत्मा का नहीं है।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि प्रधान अचेतन है आकाश के समान।

सांख्य—ज्ञानादि भी अचेतन हैं अतः उन्हें अचेतन रूप प्रधान का स्वभाव मानना युक्त हो है।

जैन—यदि ऐसा आपका कथन है तो यह बताइये कि आप किस प्रमाण से ज्ञानादि को अचेतन

१ प्रकृतिपुरुषयोर्भेदविज्ञानात् प्रकृतिनिवृत्तौ पुरुषस्य सुषुप्तपुरुषवदव्यक्तचैतन्योपयोगेन स्वरूपमात्रावस्थानलक्षणो मोक्ष इति सांख्याभिमतम्। २ जैनैः। ३ सांख्यः।

(1) विरुद्धत्वं इति पा.—दि. प्र.। (2) भावस्वरूपेइति पा.—दि. प्र.। (3) अन्यथा। (4) अकर्त्ता निर्गुणो शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः। अमूर्त्तश्चेतको भोक्ता ह्यात्मा कपिलशासने॥ (5) तेषां ज्ञानादीनां अचेतनत्वं कस्मादिति स्य द्वादी पृच्छति। पर आह। ज्ञानादयः पक्षः अचेतना भवंतीति साध्यो धर्मः उत्पत्तिमत्त्वात्। ये उत्पत्तिमंतस्ते ऽचेतना यथा घटादयः। उत्पत्तिमंतश्चेमे तस्मादचेतना भवंति। आह जैनः उत्पत्तिमत्वादिति हेतोरनुभवेन कृत्वा व्यभिचारो घटते। कस्मात्? यतः अनुभवस्य चेतनत्वेऽप्युत्पत्तिमत्त्वं दृश्यते—दि. प्र.। (6) दर्शनादि।

चेत् 'कुतस्तदचेतनत्वसिद्धिः ? अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिवदित्यनुमानादिति चेन्न हेतोरनुभवेन[२] व्यभिचारात्, तस्य चेतनत्वेप्युत्पत्तिमत्त्वात् । कथमुत्पत्तिमाननुभव इति [३]चेत्परापेक्षत्वाद् बुद्ध्यादिवत् । परापेक्षोसौ[४] बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्यवसितमर्थं[५] 'पुरुषश्चेतयते" इति [1]वचनात् । बुद्ध्यध्यवसितार्थानपेक्षत्वेनुभवस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य पुंसोनुभवप्रसङ्गात् सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्ते[७]स्तदुपायानुष्ठानवैयर्थ्यमेव स्यात् । यदि पुनरनुभवसामान्यमात्मनो नित्यमनुत्पत्तिमदेवेति [८]मतं तदा ज्ञानादिसामान्यमपि नित्यत्वादनुत्पत्तिमद्भवेदित्यसिद्धो[2] हेतुः[९] । ज्ञानादिविशेषाणामुत्पत्तिमत्त्वान्नासिद्ध इति चेत्तर्ह्यनुभववि-

---

सिद्ध करते हैं ?

सांख्य—"ज्ञानादि अचेतन हैं क्योंकि वे उत्पत्तिमान् हैं घटादि के समान ।" इस अनुमान से ज्ञान आदि अचेतन सिद्ध हैं ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आपका हेतु अनुभव के साथ व्यभिचारी है । वह अनुभव चेतन होने पर भी उत्पत्तिमान् है ।

सांख्य—अनुभव उत्पन्न होने वाला कैसे है ?

जैन—यह अनुभव पर की अपेक्षा रखता है इसलिये उत्पत्तिमान् है जैसे बुद्धि पर की अपेक्षा रखती है अतः उत्पत्तिमान् है । यह साक्षात्कार लक्षण वाला अनुभव पर की अपेक्षा वाला है क्योंकि बुद्धि के अध्यवसाय (निश्चय) की अपेक्षा रखता है । "बुद्धि के द्वारा निश्चित हुये पदार्थ को पुरुष जानता है"—इस वचन से जाना जाता है । यदि अनुभव बुद्धि से निश्चित पदार्थ की अपेक्षा न रखे तो सभी जगह सभी काल में सभी पुरुष के अनुभव का प्रसंग आ जावेगा । पुनः सभी सर्वदर्शी (सर्वज्ञ) हो जावेंगे और फिर सर्वज्ञ बनने के लिये उपायों के अनुष्ठान व्यर्थ ही हो जावेंगे ।

सांख्य—आत्मा का जो अनुभव सामान्य है वह नित्य है उत्पत्तिमान् नहीं है ।

जैन—यदि आपका यह मत है तब तो ज्ञानादि सामान्य भी नित्य होने से उत्पत्तिमान् न होवें । अतः आपका "उत्पत्तिमान्" हेतु असिद्ध हो जाता है ।

सांख्य—आप जैन के यहां ज्ञानादि सामान्य भले ही उत्पत्तिमान् न होवें किन्तु ज्ञानादि विशेष तो

---

१ सिद्धान्ती । पृच्छति । २ पुरुषस्य बुद्धिप्रतिबिम्बितार्थदर्शनमनुभवः । ३ जैनः । ४ साक्षात्करणलक्षणोनुभवः ५ प्रतिबिम्बितं निश्चितं वार्थम् । ६ जानाति । ७ तस्य सर्वदर्शित्वस्योपायानां कारणानां ध्यानमौनादीनामनुष्ठानस्य वैयर्थ्यम् । ८ सांख्यस्य । ९ उत्पत्तिमत्त्वादिति ।

---

(1) इंद्रियाण्यर्थमालोचयंति तदालोचितं मनः संकल्पयति तत्संकल्पितमहंकारोऽभिमन्यते तदभिमतं बुद्धिरध्यवस्यति तदध्यवसितं च पुरुषश्चेतयते इति सांख्यमतक्रमः । (2) भवत्यसिद्धो इति पा,—दि. प्र. ।

शेषाणामप्युत्पत्तिमत्त्वादनैकान्तिकोसौ कथं न स्यात्? नानुभवस्य विशेषाः सन्तीति [1]चायुक्तं, [2]वस्तुत्वविरोधात्। तथा हि। नानुभवो वस्तु, सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत्[2]। [3]नात्मनानेकान्तः, तस्यापि सामान्यविशेषात्मकत्वादन्यथा तद्वदवस्तुत्वापत्तेः। कालात्ययापदिष्टश्चायं [4]हेतुः, ज्ञानादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्ष[3]त्वाच्चेतनत्वप्रसिद्धेरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात्।

उत्पत्तिमान् ही हैं। अतः हमारा हेतु असिद्ध नहीं है।

जैन—तो अनुभव विशेष भी तो उत्पत्तिमान् ही हैं अतः आपका हेतु अनैकांतिक क्यों नहीं हो जावेगा? अर्थात् अनुभव उत्पत्तिमान् होते हुये भी चेतन है इसलिये आपका 'उत्पत्तिमान्' हेतु अनुभव में चले जाने से अनैकांतिक हो जाता है।

सांख्य—अनुभव में विशेष है ही नहीं।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है अन्यथा वस्तुत्व का विरोध हो जावेगा। तथाहि "अनुभव कोई वस्तु नहीं है क्योंकि वह संपूर्ण विशेषों से रहित है गधे की सींग के समान।" अर्थात् विशेष रहित सामान्य खर विषाण के समान असत् ही है।

सांख्य—आत्मा सकल विशेष से रहित होने पर भी वस्तु है। इसीलिये यह हेतु आत्मा के साथ व्यभिचारी है।

जैन—नहीं, आत्मा के साथ भी यह हेतु अनैकांतिक नहीं है। आत्मा भी सामान्य विशेषात्मक वस्तु है अन्यथा अनुभव के समान वह अवस्तु हो जावेगी। आपका "उत्पत्तिमत्वात्" यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है क्योंकि ज्ञानादिक स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होने से चेतन रूप प्रसिद्ध है और आपका यह हेतु प्रत्यक्ष से पक्ष के बाधित हो जाने पर प्रयुक्त किया गया है अतः कालात्ययापदिष्ट है।

भावार्थ—जिस प्रकार से यहां सांख्य के द्वारा मान्य मोक्ष का लक्षण बताया है वैसे ही भट्टाकलंकदेव

---

१ (अनुभवस्योत्पत्तिमत्त्वेपि चेतनत्वादनैकान्तिकत्वं हेतोः, विपक्षेपि हेतुदर्शनात)। २ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवदिति वचनात्। ३ (आत्मनः सकलविशेषरहितत्वेपि वस्तुत्वादनेकान्त इति चेन्न)। ४ उत्पत्तिमत्त्वादिति।

---

(1) वायुक्तं इति पा.। लोके अनुभवस्य विशेषा न संति हे सांख्य! इति त्वदीयवचः अयुक्तं कस्मात् वस्तुत्वविरोधात्। अनुभवस्य विशेषाभावे वस्तुत्वं न घटते। तर्हि अनुमानत्वेन यः अनुभवः पक्षः वस्तु न भवतीति साध्यो धर्मः सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत् अत्राह परः। सकलविशेषरहितत्वात् अयं हेतुः आत्मना कृत्वा व्यभिचारी कोऽर्थः विशेषरहितोऽप्यात्मा वस्त्विति। इति सांख्यमतं। अत्राहार्हतः। हे सांख्य! मम हेतोः आत्मना व्यभिचारो न। तस्यात्मनः सामान्यविशेषात्मकत्वात् अन्यथा सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे आत्मनः अवस्तुत्वं संभवति—दि. प्र.। (2) निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्। सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि॥ इत्युक्तत्वात्। (3) प्रत्यक्षाच्चेतनेति वा पाठः।

[चेतनसंसर्गादचेतना अपि ज्ञानादयः चेतनत्वेन प्रतीयंते इति सांख्यमान्यतायाः निराकरणं]

अथ[1] [2]चेतनसंसर्गादचेतनस्यापि ज्ञानादेश्चेतनत्वप्रतीतिः [1]प्रत्यक्षतो भ्रान्तैव[2]। [3]तदुक्तं

ने तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथ में भी बताया है। यथा—

"गुणपुरुषांतरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्षः" गुण—प्रकृति और पुरुष—आत्मा इन दोनों का भेद विज्ञान हो जाने पर सुप्तावस्था में लुप्त हुये विवेक ज्ञान के समान चैतन्य स्वरूप की प्रकटता के न होने रूप अवस्था का हो जाना ही मोक्ष है ! अर्थात् सामान्य चैतन्य मात्र में अवस्थान हो जाना मोक्ष है ऐसी उसकी कल्पना है।

सांख्य का कहना है कि ज्ञान तो प्रकृति का धर्म है, प्रकृति से भेद हो जाने के वाद आत्मा से ज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, आत्मा ज्ञान शून्य हो जाती है। आत्मा का स्वरूप अचेतन है जैसे कि आकाशादि अचेतन प्रसिद्ध हैं।

इस वात पर जैनाचार्यों ने ज्ञानादि को चेतन एवं आत्मा के गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस पर पुनः सांख्य का कहना है कि ज्ञान, सुख आदि उत्पन्न होते हैं, अनित्य हैं, अतएव अचेतन हैं क्योंकि आत्मा तो कूटस्थ नित्य अपरिणामी है उसके गुण अनित्य कैसे हो सकेंगे ?

इस पर जैनाचार्य आत्मा को सर्वथा नित्य नहीं मानते हैं एवं गुणों को सर्वथा अनित्य नहीं मानते हैं। वे आत्मा को कथंचित् अनित्य सिद्ध करते हैं एवं कथंचित् गुणों को भी नित्य सिद्ध कर देते हैं। सामान्यतया आत्मा द्रव्य है, नित्य है, ज्ञान गुण भी नित्य है क्योंकि ज्ञान गुण से ही आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है एवं कथंचित् मति, श्रुत आदि ज्ञानों की अपेक्षा ज्ञान उत्पत्तिमान् भी है और आत्मा भी नर नारकादि पर्यायों की अपेक्षा उत्पत्तिमान् है। सांख्य अनुभव को आत्मा का स्वभाव मानता है किंतु वास्तव में देखा जावे तो ज्ञान के विना अनुभव नाम की चीज भला और क्या होगी ? अतः ज्ञान स्वसंवेदन सिद्ध आत्मा का स्वभाव है। वह प्रकृति का धर्म नहीं है और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वरूप अनंत गुणों को प्रकट कर लेना ही मोक्ष है न कि ज्ञान से शून्य हो जाना। क्योंकि ज्ञान से रहित मोक्ष का अनुभव भी भला किसको हो सकेगा और कौन उसे प्राप्त करना चाहेगा ? यदि कोई किसी को कहे कि भैया ! तुम हमारा सब राज्य पाट ले लो किंतु अपने प्राण हमें दे दो तब वह तो यही कहेगा कि भाई ! मरने के वाद आपके राज्य सुख का उपभोग कौन करेगा ? ऐसे ही ज्ञान के विना आत्मिक सुखों का उपभोग भी कौन कर सकेगा ? अतः ज्ञान को आत्मा का ही स्वभाव मान लेना चाहिए।

[चेतन के संसर्ग से अचेतन भी ज्ञानादि चेतन रूप से प्रतीत होते हैं सांख्य की ऐसी मान्यता का निराकरण]

सांख्य—चेतन-आत्मा के संसर्ग से अचेतन ज्ञानादि भी प्रत्यक्ष में चेतन रूप से प्रतीति में आते हैं

१ साङ्ख्यः। २ आत्मसंसर्गात्। ३ साङ्ख्यग्रन्थे।

(1) प्रत्यक्षतो जायमाना प्रतीतिः। (2) ननु भो जैन ! चैतनत्वप्रतीतिर्ज्ञानादीनां परमार्थिकी न भवति किंतु भ्रान्तैव चेतनसंसर्गाच्चेतनत्वप्रतीतेरुपचारात्।

"[१]तस्मात्त[२]त्संसर्गादचेतनं[1] [2]चेतनवदिह[3] [३]लिङ्गम्" इति। [४]तदप्यचर्चिताभिधानं,[4] शरीरादेरपि चेतनत्वप्रतीतिप्रसङ्गाच्चेतनसंसर्गाविशेषात्[५]। शरीराद्यसंभवी बुद्ध्यादेरात्मना संसर्गविशेषोस्तीति चेत्स कोन्योन्यत्र कथंचित्तादात्म्यात्, [६]तददृष्टकृतकत्वादिविशेषस्य[5] शरीरादावपि भावात्। ततो नाचेतना ज्ञानादयः, स्वसंविदितत्वादनुभववत्। [७]स्वसंविदितास्ते, [6]परसंवेदनान्यथानुपपत्तेरिति [7]प्रतिपादितप्रायम्। तथा[8] चात्मस्वभावा[८] ज्ञानादयः, चेतनत्वादनुभववदेव। इति न चैतन्यमात्रेवस्थानं मोक्षः, अनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीतेः।

परन्तु वह प्रतीति भ्रांत ही है। कहा भी है—

तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनवदिह लिंगं" अर्थात् उस चेतन आत्मा के संसर्ग से अचेतन ज्ञानादि चेतनवत् दीखते हैं ऐसा जानना चाहिये।

जैन—आपका यह कथन भी विचारशून्य है। इस प्रकार से तो शरीरादि में भी चेतनत्व की प्रतीति का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि चेतन का संसर्ग तो शरीर में भी है।

सांख्य—शरीरादिकों में नहीं पाया जाने वाला ऐसा आत्मा का संसर्ग विशेष बुद्धि आदि के साथ में है। अतः ये बुद्धि आदि चेतन रूप प्रतिभासित होते हैं, किंतु शरीर चेतन रूप प्रतिभासित नहीं हो सकता है।

जैन—तो भाई! कथंचित् तादात्म्य को छोड़कर वह कौनसा संसर्ग विशेष है? कहिये तो सही।

सांख्य—उस आत्मा के अदृष्ट (पुण्य-पापादि) कृतकत्व आदि विशेष हैं वे शरीरादि में असंभवी हैं—नहीं पाये जाते हैं।

जैन—नहीं, ये सब शरीरादि में भी पाये जाते हैं। इसीलिये "ज्ञानादिक अचेतन नहीं है क्योंकि वे स्वसंविदित हैं अनुभव के समान। एवं वे स्वसंविदित हैं क्योंकि परसंवेदन की अन्यथानुपपत्ति है।" इस प्रकार प्रायः प्रतिपादन कर चुके हैं। उसी प्रकार ये ज्ञानादिक आत्मा के स्वभाव हैं क्योंकि वे अनुभव के समान चैतन्य रूप हैं अतः ज्ञानादि शून्य चैतन्य मात्र सामान्य आत्मा में अवस्थान होना मोक्ष नहीं है प्रत्युत अनन्त ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में ही अवस्थान होना मोक्ष है ऐसी प्रतीति सिद्ध है।

---

१ आत्मनश्चेतनत्वं सिद्धं यस्मात्तस्मात्। २ आत्मसंसर्गात्। बुद्धिसंसर्गादिति टिप्पणान्तरम्। ३ लिङ्ग्यते ज्ञायते इति लिङ्गं ज्ञेयमित्वर्थः। ४ स्याद्वादी। ५ शरीरे ज्ञाने वा। ६ तस्यात्मनोऽदृष्टंपुण्यादि तेन कृतकत्वादिर्विशेषः (आदिशब्दाद्भोग्यभोक्तृत्वादिः) तस्य शरीरादौ सम्बन्धो नास्तीत्युच्यते साङ्ख्येन चेत्तन्न, तस्यापि शरीरादौ भावात्। ७ साधनस्यास्वसंविदितत्वं परिहरति। ८ स्वसंविदितत्वेपि ज्ञानादीनां प्रधानजत्वमित्युक्ते सत्याह।

---

(1) बुद्धिः। (2) चेतनावदिह इति पा.। (3) सांख्यमते। (4) अविचारित। (5) तददृष्टकतत्त्वादि इति पा.—दि. प्र.। भोग्यभोक्तृत्वादि। (6) घटादि। (7) प्रागनंतरचार्वाकवादे। (8) ज्ञानस्याचेतनत्वाभावे।

[वैशेषिकाभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

[1]एतेन बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रेवस्थानं मुक्तिरिति कणभक्षाक्षपादमतं[1] प्रमाणेन बाधितमुपदर्शितं, पुंसोनन्तज्ञानादिस्वरूपत्वसाधनात्, स्वरूपोपलब्धेरेव मुक्तित्वसिद्धेः। स्यान्मतं[2] "न बुद्ध्यादयः पुंसः स्वरूपं, ततो भिन्नत्वादर्थान्तरवत्। ततो[3] [2]भिन्नास्ते [4]तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वाद्घटादिवत्। तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं[3] पुनस्तेषामुत्पाद-

भावार्थ—सांख्य कहता है कि चेतन के साथ अचेतन रूप ज्ञान सुख आदि का संपर्क हो रहा है अतः ये ज्ञान और सुख चेतन दिखते हैं वास्तव में ये अचेतन हैं।

इस मान्यता पर ऐसा भी कहा जा सकता है कि आत्मा स्वयं अचेतन है और ज्ञानचेतना के संसर्ग से चेतनवत् दिख रही है फिर तो नैयायिक का ही मत आ जावेगा जो कि आपको इष्ट नहीं है अथवा चेतन आत्मा के संसर्ग से शरीर को भी चेतन कहना पड़ेगा किन्तु यह भी बात नहीं है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि ज्ञानादि गुण चेतन हैं और आत्मा के स्वभाव हैं। उन अनंतज्ञान आदि चैतन्य गुणों को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है।

श्री पूज्यपाद स्वामी नें इष्टोपदेश में कहा भी है कि—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय, नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

संपूर्ण कर्मों का अभाव हो जाने पर जिनको स्वयं अपनें स्वभाव की प्राप्ति हो गई है ऐसे ज्ञान स्वरूप परमात्मा को मेरा नमस्कार हो।

[वैशेपिक द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन]

बुद्धि आदि विशेष गुणों का उच्छेद (नाश) हो करके सामान्य आत्मा मात्र में अवस्थान होना इसी का नाम मोक्ष है। इस प्रकार से कणाद, अक्षपाद (वैशेषिक, नैयायिक) ने मुक्ति का लक्षण माना है, किन्तु उपर्युक्त खण्डन से इनका भी खण्डन हो जाता है अतः यह कथन भी प्रमाण से बाधित है क्योंकि पुरुष आत्मा का स्वरूप अनंत ज्ञानादि रूप सिद्ध किया गया है और स्वरूप की उपलब्धि-प्राप्ति होना ही मोक्ष है। यह बात सिद्ध हो जाती है।

वैशेषिक, नैयायिक—बुद्धि आदि गुण आत्मा के स्वरूप नहीं है क्योंकि आत्मा से भिन्न हैं जैसे अन्य अचेतन पदार्थ। वे बुद्धि आदि पुरुष से भिन्न ही हैं क्योंकि वे पुरुष से विरुद्ध धर्म के आधार हैं जैसे घट

१ वैशेषिकनैयायिकमतम्। २ वैशेषिकनैयायिकयोः। ३ पुंसः। ४ ततः पुंसः।

(1) प्रमाणेन सांख्याभिमतमोक्षतत्त्वनिराकरणद्वारेण। (2) अत्राह कश्चित् हे यौग ! ततो भिन्नत्वादिति हेतुः असिद्ध इति न ते बुद्ध्यादयः ततो भिन्ना भवंति इति साध्यो धर्मः इत्यादि। दि. प्र.। (3) स्याद्वादी सांख्यं प्रति पृच्छति बुद्ध्यादीनां तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं कुत इति प्रश्ने आह। दि. प्र.।

विनाशधर्मकत्वादात्मनोनुत्पादा[1]विनाशधर्मकत्वात्प्रसिद्धम्" इति तदयुक्तं[१], विरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि सर्वथा [2]भेदासिद्धे र्मेचकज्ञान[3]तदाकारवत्[२]।

[चित्रज्ञानमेकरूपमनेकरूपं वेति विचारः]

एकं हि मेचकज्ञानमनेकश्च तदाकारो [4]नीलादिप्रतिभासविशेष इत्येकत्वानेकत्वविरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि मेचकज्ञानतत्प्रतिभासविशेषयोर्न[३] भेदोभ्युपगम्यते, [४]मेचकज्ञानत्वविरोधात्। यदि पुनर्युगपदनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमेकमेव[5], न [6]तत्रानेकप्रतिभासविशेषसम्भवो यतो विरुद्धधर्माधिकरणत्व[५]मभेदेपि स्यादिति [६]मतं तदापि तत्किमनेकया शक्त्यानेकमर्थं युगपद्गृह्णाति किं वैकया? यद्यनेकया तदैकमनेकशक्त्यात्मकमिति स एव विरुद्धधर्मा-

---

आदि। उनका विरुद्ध धर्माधिकरणपना सिद्ध ही है क्योंकि उनमें उत्पाद, विनाश धर्म पाया जाता है और आत्मा उत्पाद, विनाश धर्म से रहित है यह बात प्रसिद्ध है।

स्याद्वादी—आपका यह कथन अयुक्त है। विरुद्ध धर्मों का आधार होने पर भी सर्वथा भेद सिद्ध नहीं है जैसे मेचक–चित्रज्ञान और चित्र आकार वर्ण।

[चित्र ज्ञान एक रूप है या अनेक रूप? इस पर विचार]

चित्रज्ञान एक है और नीलादि प्रतिभास विशेष उसके आकार अनेक हैं। इस प्रकार एकत्व, अनेकत्व रूप विरुद्ध धर्मों का आधार होने पर भी चित्रज्ञान और उसके प्रतिभास विशेष मेचक वर्णों में भेद नहीं माना गया है अन्यथा चित्रज्ञानत्व का विरोध हो जावेगा।

यौग—युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान एक ही है। उस चित्रज्ञान में अनेक प्रतिभास विशेष संभव नहीं हैं जिससे कि अभेद में भी विरुद्ध धर्मों का आधार होवे।

जैन—यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो हम आपसे प्रश्न करते हैं कि वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है या एक शक्ति के द्वारा युगपत् अनेक पदार्थों को? यदि आप प्रथम पक्ष स्वीकार करते हो तब तो एक चित्रज्ञान अनेक शक्त्यात्मक हो गया, वह एक चित्रज्ञान ही विरुद्ध धर्मों का आधार रूप हो गया अर्थात् ज्ञान स्वयं एक है और शक्तियां अनेक हैं यही विरुद्ध धर्मपना है।

---

१ स्याद्वादी। २ मेचकज्ञानतदाकारयोरिव। ३ ते मेचकवर्णाः। ४ अन्यथा। ५ आत्मबुद्ध्यादीनाम्। ६ तव यौगस्य।

---

(1) नुत्पादविनाश इति पा. (2) आत्मनो बुद्ध्यादीनां च विरुद्धधर्माधिकरणत्वं भवतु तस्मिन् सत्यपि सर्वथा भेदो न सिद्ध्यति दि. प्र.। (3) यथामेचकज्ञानमेचकज्ञानाकारयोर्विरुद्धधर्माधिकरणत्वेऽपि सर्वथा भेदो न सिद्ध्यति। तथा आत्मबुद्ध्यादिविशेषगुणानां विरुद्धधर्माधिकरणत्वेऽपि सर्वथा भेदाभावः। दि. प्र.। (4) आदिशब्देन पीतादि प्रतिभास विशेषाश्चत्वारो गृह्यंते मेचकस्य पंचवर्णरत्नस्य ज्ञाने नीलादिप्रतिभास विशेषाणां संभवात्पंचवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यं। (5) युगपदनेकार्थप्रकाशकैकप्रदीपवत् दि. प्र.। (6) चित्रज्ञाने दि. प्र.।

व्यासः[१]। ततोनेकशक्तेरनेकत्वधर्माधारभूतायाः पृथक्त्वात् तस्य त्वेकत्वधर्माधारत्वान्नैकत्र विरुद्धधर्माध्यास इति चेत्कथमनेका शक्तिस्तस्येति व्यपदिश्यते ? ततो [२]भेदादर्थान्तरवत्। सम्बन्धादिति[3] [४]चेत्तर्हि तदनेकया [1]शक्त्या संबध्यमानमनेकेन रूपेण कथमनेक[५]रूपं न स्यात् ? [६]तस्याप्यनेकरूपस्य [७]ततोन्यत्वात्तदेकमेवेति[2] चेत्कथं [८]तत्तस्येति व्यपदेष्टव्यम् ? सम्बन्धादिति चेत्स एव दोषोऽनिवृत्तश्च [3]पर्यनुयोगोऽनवस्थानात्[4]। यदि पुनरेकेनैव[१०] रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यते [5]तदानेकविशेषणत्वविरोधः[११]। पीतग्रहणशक्त्या[6] हि येन स्वभावेन संबध्यते[१२] तेनैव नीलादिग्रहणशक्त्या चेत् पीतग्राहित्वविशेषणमेव मेचकज्ञानं[7] स्यान्न नीला-

यौग—अनेक धर्मों की आधार भूत अनेक शक्तियां उस चित्रज्ञान से पृथक्भूत हैं। वह ज्ञान तो एक धर्म का आधार है इसलिए एक ज्ञान में विरुद्ध धर्माधार नहीं है।

जैन—पुनः अनेक शक्तियां उस ज्ञान की हैं यह कथन कैसे बनेगा ? क्योंकि वे शक्तियाँ ज्ञान से भिन्न हैं जैसे दूसरे भिन्न पदार्थ। अर्थात् चित्रज्ञान से घट-पट आदि पदार्थ जिस प्रकार भिन्न हैं उसी प्रकार से अनेक शक्तियां भी भिन्न हो गई पुनः ये शक्तियां एक चित्रज्ञान की हैं यह कैसे कहोगे ?

यौग—शक्ति के साथ चित्रज्ञान का समवाय संबंध होने से ये शक्तियां ज्ञान की हैं ऐसा कहते हैं।

जैन—तब तो वह ज्ञान अनेक शक्तियों से संबन्धित होने से अनेक रूप हो गया फिर अनेक रूप क्यों नहीं कहलावेगा ?

यौग—वे चित्रज्ञान से संबंधित अनेक रूप भी उस चित्रज्ञान से भिन्न ही हैं इसलिये वह चित्रज्ञान एक ही है।

जैन—पुनः उस चित्रज्ञान के अनेकरूप हैं यह आप कैसे कहोगे ?

यौग—उस 'अनेकरूप' को भी समवाय संबंध से ही उस ज्ञान का कहेंगे।

जैन—तब तो उपर्युक्त प्रश्नों से जो दोष दिये हैं वे ही दोष विद्यमान रहेंगे। पुनः प्रश्नों की अनवस्था ही चली जावेगी, कहीं दूर जाकर भी अवस्थान नहीं होगा।

---

१ यद्यनेकया शक्त्यानेकार्थं युगपद्गृह्णाति तदा एकमेव चित्रज्ञानमनेकशक्त्यात्मकं सिद्धमिति स एव विरुद्धधर्माध्यासः। २ मेचकज्ञाना (चित्रज्ञानात्) द्घटाद्यर्थान्तरवदनेकशक्तेर्भेदे सति तस्य चित्रज्ञानस्यानेकशक्तिरिति कथं व्यपदिश्यते ?। ३ शक्त्या सह मेचकज्ञानस्य समवायसम्बन्धात्तस्येत्युच्यते इति चेत्। ४ जैन आह तर्हीति। ५ (मेचकज्ञानम्। ६ चित्रज्ञानसम्बन्धिनोनेकरूपस्य। ७ चित्रज्ञानात्। ८ चित्रज्ञानम्)। ६ अनेकरूपं चित्रज्ञानस्येति १० तदनेकया शक्त्या सम्बध्यमानमनेकेन रूपेणैकेन रूपेण वेति विकल्पद्वयं कृत्वा आपृच्छ्य अनेकेन रूपेणेत्यत्र तु दूषणमुक्तमधुना एकेन रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यमित्यत्र द्वितीयपक्षे दोषमाह। ११ अनेकाः शक्तय इति विशेषणत्वविरोधः। १२ मेचकज्ञानम्।

---

(1) सार्द्धं। (2) यौगो वदति तत् चित्रज्ञानं एकमेव। कस्मात्। ततश्चित्रज्ञानात् अनेकस्य रूपस्य भिन्नत्वादिति चेत् स्याद्वादी वदति। तस्य चित्रज्ञानस्य तदनेकं स्वरूपमिति कथं कथनीयं—दि. प्र.। (3) परिहारश्च। (4) दोषपरिहारयोरवस्था भावात्। (5) तदा चानेक इति पा.—दि. प्र.। (6) सह। (7) ज्ञानस्य न इति पा दि. प्र.।

दिग्राहित्वविशेषणमिति पीतज्ञानमेव स्यान्न तु मेचकज्ञानम् । अथैकया शक्त्यानेकमर्थं [१]तद्गृह्णातीति द्वितीयविकल्पः समाश्रीयते तदापि [२]सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गः । [३]पीतग्रहणशक्त्या ह्येकया यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्त्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्येत ? [४]अथ न पीतग्रहणशक्त्या नीलग्रहणशक्त्या वा पीतनीलाद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते[५] । किं तर्हि ? नीलपीतादिप्रतिनियतानेकार्थग्रहणशक्त्यैकयेति[६] मतं तदा[७] न [८]कार्यभेदः[1] कारणशक्तिभेदव्यवस्थाहेतुः[९] स्यादित्येकहेतुकं[2] विश्वस्य वैश्वरूप्यं[3] प्रसज्येत । तथा [4]चाने-

यौग—वह ज्ञान एक रूप से ही अनेक शक्तियों से संबंधित होता है ।

जैन—तब तो "शक्तियां अनेक हैं" यह विशेषण विरुद्ध हो जावेगा ।

यौग—ज्ञान जिस स्वभाव से पीत ग्रहण शक्ति से संबन्धित होता है उसी एक ही स्वभाव से नील आदि को ग्रहण करने की शक्ति से संबंधित होता है ।

जैन—तब तो पीतग्राही विशेषण रूप ही चित्रज्ञान होगा न कि नीलादिग्राही विशेषण रूप । इस प्रकार वह ज्ञान पीतज्ञान ही रहेगा न कि चित्रज्ञान ।

भावार्थ—जैनों ने यौग के प्रति दो विकल्प उठाये थे कि वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है या एक शक्ति से ? प्रथमपक्ष में वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से संबंधित होता है । पुनः दो विकल्प उठाये हैं कि वह चित्रज्ञान अनेकरूप से अनेक शक्ति से संबंधित होता है या एक रूप से ?

यदि अनेक रूप से संबंधित है तो वह ज्ञान अनेक रूप स्वयं क्यों नहीं होगा ? यदि कहें कि एक रूप से संबंधित होता है तो एक रूप से अनेक शक्ति से संबंधित अनेक विशेषण रूप नहीं होगा । तथा च एक पीतज्ञान रूप या एक नीलज्ञान रूप ही रहेगा न कि चित्रज्ञान रूप । अब मूल का दूसरा पक्ष लेवें तो—

यौग—यह चित्रज्ञान एक शक्ति से ही युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है यह दूसरा पक्ष हमें इष्ट है ।

जैन—तब तो फिर संपूर्ण पदार्थों को ग्रहण करने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा क्योंकि जिस प्रकार एक ज्ञान पीतग्रहण शक्ति से नीलादि पदार्थों को ग्रहण करेगा उसी प्रकार से भूत भविष्यत् वर्तमान रूप संपूर्ण पदार्थों को भी ग्रहण कर लेगा उसका निवारण कौन कर सकेगा ?

यौग—पीतग्रहण शक्ति से या नीलग्रहण शक्ति से अर्थात् किसी भी एक शक्ति से पीत नीलादि

---

१ मेचकज्ञानम् । २ मेचकज्ञानं नीलपीताद्येव केवलं न गृह्णाति किन्तु सर्वार्थग्राहकं स्यात् । ३ सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गं विवृणोति । ४ यौगः । ५ यौगेन । ६ एवम्भूतया एकया शक्त्या नीलपीताद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते इति मतम् । ७ जैनः प्राह । ८ घटपटादिकार्यभेदः । ९ कार्यभेदात्कारणशक्तिभेदो न स्यात् ।

---

(1) प्रतिभासः । (2) ब्रह्म । (3) नानात्वं । (4) सति—दि. प्र. ।

ककारणप्रतिवर्णनं सर्वकार्योत्पत्तौ [1]विरुध्यते। [1]तदभ्युपगच्छता मेचकज्ञानमनेकार्थग्राहि नानाशक्त्यात्मकमुररीकर्त्तव्यम्[2]। तेन[2] च विरुद्धधर्माधिकरणेनैकेन [3]प्रकृतहेतोरनैकान्तिकत्वान्न[4] ज्ञानादीनामात्मनो भेदैकान्तसिद्धिर्येनात्मानन्तज्ञानादिरूपो न भवेत्। निराकरिष्यमाणत्वाच्चाग्रतो[5] [3]गुणगुणिनोरन्यतैकान्तस्य,[6] न ज्ञानादयो गुणाः सर्वथात्मनो भिन्नाः शक्याः प्रतिपादयितुं यतोऽशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तिर्व्यवतिष्ठेत।

[मुक्तौ क्षयोपशमिकादिज्ञानसुखादीनामभावो न चानंतसुखादीनां]

ननु[7] च धर्माधर्मयोस्तावन्निवृत्तिरात्यन्तिकी मुक्तौ प्रतिपत्तव्या,[4] अन्यथा[5] [8]तदनु-

रूप अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान है हम ऐसा नहीं मानते हैं।

जैन—तो आप क्या मानते हैं?

यौग—नील, पीतादि, प्रतिनियत अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाली जो शक्ति है उस एक शक्ति से नील पीतादि अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान है इस प्रकार मानते हैं।

जैन—तब तो कार्य में होने वाला भेद कारण शक्ति के भेद की व्यवस्था का हेतु नहीं होगा इस प्रकार से तो यह विश्व एक हेतु से ही नाना रूप हो जावेगा। फिर सभी कार्यों की उत्पत्ति में अनेक कारणों का वर्णन करना विरुद्ध हो जावेगा। अर्थात् यौगमत में जितने कार्य हैं उतने ही उनके कारण हैं इस प्रकार की मान्यता है उसमें विरोध आ जावेगा। अतः इस विरोध का परिहार करने के लिये चित्रज्ञान अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला है एवं वह अनेक शक्त्यात्मक है ऐसा स्वीकार करना ही चाहिये।

इसलिये अनेक विरुद्ध धर्मों के आधारभूत उस एक चित्रज्ञान से "विरुद्ध धर्माधिकरणत्वात्" हेतु व्यभिचरित हो जाता है अतः ज्ञानादिक आत्मा से भिन्न हैं। इस प्रकार से भेद एकांत की सिद्धि नहीं होती है जिससे कि आत्मा अनंत ज्ञानादि रूप न होवे अर्थात् आत्मा अनंतज्ञानादि रूप सिद्ध हो जाता है और गुण-गुणी में एकांत से भिन्न पना है इस पक्ष का आगे चतुर्थ परिच्छेद में निराकरण करेंगे।

आत्मा से ज्ञानादि गुण सर्वथा भिन्न हैं ऐसा प्रतिपादन करना शक्य नहीं है जिससे कि अशेष गुणों

---

१ यावन्ति कार्याणि तावन्ति कारणानीति यौगमतं विरुध्यते। २ मेचकज्ञानेन। ३ विरुद्धधर्माधिकरणत्वादित्यस्य। ४ मेचकज्ञानस्य तदाकारादभेदेऽपि विरुद्धधर्माधिकरणत्वसिद्धेः। ५ एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्यादिकारिकाव्याख्यानावसरे चतुर्थपरिच्छेदे। ६ भेदैकान्तस्य। ७ यौगः। ८ तस्याः, मुक्तेः।

---

(1) तद्विरोधमंगीकुर्वता। तत्सर्वंकार्यमनेककारणकमंगीकुर्वता। दि. प्र.। (2) शक्तेरेवानभ्युपगमान्न कश्चिद्दोष इत्याशंकायां शक्तिरहितेन ज्ञानेन यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्यते इति वक्तव्यं। अथवा तच्छक्ति समर्थनं प्रमेयकमलमार्तंडे द्वितीयपरिच्छेदे प्रत्यक्षेतर भेदादिति सूत्रव्याख्यानावसरे प्रपंचतः प्रोक्तमत्रावगंतव्यं। दि. प्र.। (3) गुणगुण्यन्यतै इति पा.। (4) जैनैः। (5) धर्माधर्मयोरात्यंतिकी निवृत्तिर्नास्ति चेत् तदा तस्या मुक्तेरुत्पत्तिर्नास्ति दि. प्र.।

पपत्तेः। [1]तन्निवृत्तौ च तत्फलबुद्ध्[१]यादिनिवृत्तिरवश्यंभाविनी निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यनुपपत्तेः। मुक्तस्यात्मनोऽन्तःकरणसंयोगाभावे वा न [२]तत्कार्यस्य बुद्ध्यादेरुत्पत्तिः। इत्यशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तौ सिद्ध्यत्येवेति केचित्[३] तेप्यदृष्टहेतुकानां बुध्यादीनामात्मान्तःकरणसंयोगजानां च मुक्तौ निवृत्तिं ब्रुवाणा न निवार्यन्ते[४]। [2]कर्मक्षयहेतुकयोस्तु [3]प्रशमसुखानन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्थाः प्रमाणविरोधात्[५]। ततः [६]कथञ्चिद्बुध्यादिविशेषगुणानां निवृत्तिः [७]कथञ्चिदनिवृत्तिर्मुक्तौ व्यवतिष्ठते। न[4] चैवं सिद्धान्तविरोधः,[5] "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इत्यनुवर्तमाने[८] "औपशमिकादिभव्य-

---

का अभाव हो जाना मुक्ति है वह कथन व्यवस्थित हो सके अर्थात् मुक्ति का यह लक्षण सिद्ध नहीं होता है।

[मुक्ति में क्षायोपशमिक ज्ञान, सुख आदि का अभाव है न कि अनंत सुखादिकों का अभाव]

यौग—मुक्ति में धर्म अधर्म का तो आत्यंतिक अभाव स्वीकार करना ही चाहिये। अन्यथा मुक्ति नहीं हो सकेगी और धर्म, अधर्म की निवृत्ति हो जाने से उसके फल रूप बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और संस्कार आदि विशेष गुणों का अभाव भी अवश्यंभावी है क्योंकि निमित्त के अभाव में नैमित्तिक (कार्य) भी नहीं हो सकता है अथवा मुक्त जीव के अंतःकरण (मन) के संयोग का अभाव हो जाने पर उस मन के संयोग से उत्पन्न होने वाले कार्य स्वरूप बुद्धि आदि की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती है इसलिये मुक्त अवस्था में अशेष विशेष गुणों का अभाव सिद्ध ही हो जाता है।

जैन—जो अदृष्ट–भाग्य रूप, धर्म, अधर्म के निमित्त से होने वाले हैं और आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न हुये हैं ऐसे बुद्धि आदिकों का मुक्ति में जो अभाव मानते हैं उनका हम खण्डन नहीं करते हैं।

भावार्थ—आत्मा के मतिज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली क्षायोपशमिक बुद्धि एवं सातावेदनीय जन्य सुखादि गुणों का अभाव तो हम जैन भी मुक्तावस्था में स्वीकार करते हैं।

जो कर्म के क्षय से उत्पन्न हुये अव्याबाध सुख और अनंतज्ञानादि का मुक्ति में अभाव सिद्ध करते हैं वे स्वस्थ नहीं हैं क्योंकि वैसी मुक्ति मानने में प्रमाण से विरोध आता है। इसलिये मुक्त जीवों में कथंचित् क्षयोपशम की अपेक्षा से बुद्धि आदि विशेष गुणों का अभाव है और कथंचित् क्षायिक गुणों की

---

१ धर्माधर्मकारणकं बुध्यादि। २ अन्तःकरणसंयोगकार्यस्य। ३ यौगाः। ४ आत्मभिर्जैनैः। ५ मुक्तात्मा गुणवानात्मत्वादमुक्तात्मवदित्यनुमानेन विरोधात्। ६ अदृष्टजानाम् (कर्मप्रभवानाम्)। ७ कर्मक्षयहेतुजानाम्। ८ अस्य प्रकरणे इत्यर्थः।

---

(1) धर्माधर्मयोरभावे सति तत्फलबुद्ध्यादेरपि अवश्यमेवाभावः। यतो लोके कारणापाये कार्यस्योत्पत्तिर्न घटते। दि. प्र.। (2) ज्ञानावरणादि। (3) मोक्षसुख (4) ज्ञानादीनां निवृत्यनिवृत्तिप्रकारेण। (5) सिद्धांतसूत्रे केषांचित् गुणानां कथंचित् निवृत्यनिवृत्तिप्रतिपादनाभावाद् विरोध इति चेत्।

त्वानां [1]चान्यत्र[2] केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः" इति सूत्रसद्भावात् । [3]तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकभावानां [1]दर्शनज्ञानग[4]त्यादीनां[2] [3]भव्यत्वस्य च विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यभिसम्बन्धान्मुक्तौ [5]विशेषगुणनिवृत्तिरिष्टा, अन्यत्र [4]केवलज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य इति वचनादनन्तज्ञानदर्शनसिद्धत्वसम्यक्त्वानामनिवृत्तिश्चेति युक्तं तथा वचनम् ।

अपेक्षासे अनंत ज्ञानादि रूप बुद्धि आदि का अभाव नहीं है यह बात व्यवस्थित हो जाती है ।

इस प्रकार से हमारे सिद्धांत में कोई विरोध नहीं आता है । "बंधहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षोमोक्षः" इस सूत्र के प्रकरण में ही "औपशमिकादि भव्यत्वानां च" "अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञान-दर्शनसिद्धत्वेभ्यः" ये सूत्र पाये जाते हैं अर्थात् बंध के हेतु का अभाव और निर्जरा के द्वारा संपूर्ण कर्मों का नाश हो जाना मोक्ष है और औपशमिकादि भव्यत्वादि भावों का भी छूट जाना मोक्ष में माना है । तथा केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन, सिद्धत्व को छोड़कर ये औपशमिकादि भाव नष्ट हो जाते हैं अर्थात् ये भाव मुक्ति में नहीं पाये जाते हैं ।

उनमें औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक भाव रूप दर्शन, ज्ञान, गति आदि तथा भव्यत्व भाव का विप्रमोक्ष—अभाव हो जाना ही मोक्ष है । उपर्युक्त सूत्रों के साथ संबंध करने से मुक्ति में क्षायोपशमिक ज्ञानादि रूप विशेष गुणों की निवृत्ति इष्ट ही है एवं "अन्यत्र केवलज्ञानदर्शनसिद्ध-त्वेभ्यः" इस सूत्र के कथन से मुक्ति में अनंत ज्ञान, दर्शन, सिद्धत्व एवं सम्यक्त्व रूप क्षायिक विशेष गुणों की निवृत्ति नहीं है अतः ये स्याद्वाद वचन युक्त ही हैं ।

उन औपशमिकादि भावों में औपशमिक के सम्यक्त्व, चारित्र ये २ तथा क्षायोपशमिक के मति, श्रुतादि ४ ज्ञान, कुमति आदि ३ अज्ञान, चक्षु आदि ३ दर्शन, क्षायोपशमिक रूप ५ लब्धियाँ, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये ३ सब १८ भेद, औदयिक के ४ गति,४ कषाय, ३ लिंग, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयत, असिद्धत्व, ६ लेश्या ये २१ भाव तथा पारिणामिक के भव्यत्व, अभव्यत्व एवं क्षायिक के दान, लाभ, भोग, उपभोग और चारित्र ये ५, इस प्रकारसे इन ४८ विशेष गुणों-भावों का मुक्तावस्था में अभाव इष्ट ही है । एवं "अन्यत्र" इत्यादि सूत्र से अनंतज्ञान, दर्शन, सिद्धत्व, सम्यक्त्व अर्थात्

---

१ विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यर्थः । २ विना । ३ औपशमिकादिषु । ४ (क्रमशः—औपशमिकं सम्यग्दर्शनं, क्षायोपशमिको ज्ञानोपयोगः, औदयिकी गतिर्भवान्तरगमनरूपा) आदिपदं प्रत्येकमभिसंबध्यते । तेन सम्यक्त्वचारित्रे इत्यादिसूत्रोक्तानां सर्वेषां ग्रहणम् । भव्यत्वं पारिणामिकम् । अनाविर्भूतरत्नत्रयाविर्भावयोग्यताफलकं भव्यत्वम् । (रत्नत्रयाविर्भावे तद्भ-व्यत्वं क्षीयते=विपच्यते इत्यर्थः, न तु नश्यतीति, तस्य शक्तिरूपत्वेनाविनाशात्) । ५ विशेषाः अदृष्टजबुद्ध्यादयः ।

---

(1) सम्यक्त्व । औपशमिकक्षायोपशमिकरूपयोर्दर्शनज्ञानयोर्ग्रहणं । (2) चतुर्गति । आदिशब्दः प्रत्येकमभिसंबंध्यते तेन 'सम्यक्त्वचारित्रे' इत्यादि सूत्रे (तत्त्वार्थसूत्रे) अभिहितस्य चारित्रस्याज्ञानादेः कषायादेः परिग्रहो यथाक्रमं सेत्स्यति । (3) भूते भव्यत्वाभावात् यथा मृत्पिंडे घटस्य भव्यत्वं वर्तते पश्चाद् भूते संजाते घटे घटभव्यत्वाभावः भवितुं योग्यः भव्यः । तथा रत्नत्रयाविर्भावे योग्यत्वं भव्यत्वं तदाविर्भावे भव्यत्वनिवृत्तिः । (4) केवलसम्यक्त्वदर्शन इति पा. ।

[1]कथमेवमनन्तसुखसद्भावो मुक्तौ सिद्ध्येदिति चेत् [2]सिद्धत्ववचनात्[1] सकलदु:खनिवृत्ति-रात्यन्तिकी हि [2]भगवत: सिद्धत्वम् । सैव चानन्तप्रशमसुखम् । इति सांसारिकसुखनिवृत्तिरपि मुक्तौ न विरुध्यते ।

अनंतज्ञान अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व, ये क्षायिक भाव के ४ भेद और पारिणामिक का १ जीवत्व भाव इस प्रकार इन ५ विशेष गुणों का मुक्ति में अभाव नहीं है ।

इसी प्रकार से श्री भट्टाकलंक देव ने राजवार्तिक में क्षायिक भावों का वर्णन करते हुये प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन किया है । "यद्यनन्तदानलब्ध्यादय उक्ता अभयदानादिहेतवो दानान्तरायादिसंक्षयाद् भवंति सिद्धेष्वपि तत्प्रसंग:, नैषदोष: शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां तदभावे तदप्रसंग: परमानंदाव्याबाधरूपेणैव तेषाँ तत्र वृत्ति: केवलज्ञानरूपेण अनंतवीर्यवृत्तिवत् ।"

अर्थ—प्रश्न यहहोता है कि दानादि रूप अंतराय कर्म के क्षय से प्रगट होने वाली दानादि क्षायिक लब्धियाँ हैं उनके कार्य विशेष अनंत प्राणियों को अभयदान रूप अहिंसा का उपदेश लाभांतराय के क्षय से केवली को कवलाहार के अभाव में भी शरीर की स्थिति में कारणभूत परम, शुभ, सूक्ष्म, दिव्य अनंत पुद्गलों का प्रतिसमय शरीर में संबंधित होना, भोगाँतराय आदि के क्षय से गंधोदक, पुष्पवृष्टि, पदकमल रचना, सिंहासन, छत्र, चमर अशोक वृक्षादि विभूतियों का होना यह सब वैभव, चार घातिया कर्मों के नाश से प्रगट होने वाली नव केवल-लब्धि रूप है अत: ये क्षायिकभाव कर्मों के क्षय से होने के कारण सिद्धों में भी इनके कार्य होने चाहिये ।

इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि दानादि लब्धियों के कार्य के लिये शरीर नाम और तीर्थंकर नाम कर्म के उदय की भी अपेक्षा है अत: सिद्धों में ये लब्धियां अव्याबाध अनंत सुख रूप से रहती हैं जैसे कि केवलज्ञान रूप में अनंतवीर्य रहता है । एवं किसी का यह प्रश्न भी हो जाता है कि इन उपर्युक्त तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों से सिद्धत्वभाव का ग्रहण कहां किया गया है ?

इस पर आचार्य कहते हैं कि जैसे पौरों के पृथक् निर्देश से अंगुली का सामान्य कथन हो जाता है उसी प्रकार से सभी क्षायिक भावों में व्यापक सिद्धत्व का भी कथन उन विशेष क्षायिक भावों के कथन से ही हो गया है । अर्थात् कर्मों के सद्भावतक-चौदहवें गुणस्थान के अंत तक औदयिक भावों का असिद्धत्व भाव पाया जाता है, किंतु सर्वथा संपूर्ण कर्मों के अभाव से सिद्धत्व भाव प्रगट हो जाता है । उसी प्रकार से क्षायिक दान, लाभ, क्षायिकचारित्र आदि गुणों का सद्भाव भी सिद्धों में सिद्ध ही हो जाता है ।

यौग—इस प्रकार सूत्र के आधार से मुक्ति में अनंत सुख का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा ?

जैन—सूत्र में "सिद्धत्व" वचन है उससे ही अनन्त सुख की सिद्धि होती है क्योंकि भगवान के

---

१ यौग: । २ जैन: ।

---

(1) सिद्धत्वशब्देनानंतवीर्यसुखे च ग्राह्ये । (2) भावत: इति पा. । परमार्थत: ।

[वेदांतिभिर्मतस्य मोक्षस्य निराकरणं]

[1]अनन्तसुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष [1]इत्यपरः [2]सोपि युक्त्यागमाभ्यां वाध्यते। [3]तदनन्तं सुखं मुक्तौ पुंसः संवेद्यस्वभावमसंवेद्यस्वभावं[2] वा ? संवेद्यं चेत्तत्संवेदनस्यानन्तस्य [3]सिद्धिः, अन्यथानन्तस्य सुखस्य [4]स्वयं [4]संवेद्यत्वविरोधात्। यदि पुनरसंवेद्यमेव तत्तदा कथं सुखं नाम ? [5]सातसंवेदनस्य सुखत्वप्रतीतेः। स्यान्मतं [5]ते, अभ्युपगम्यते एवानन्तसुखसंवेदनं परमात्मनः। केवलं वाह्यार्थानां ज्ञानं नोपेयते[6] [7]तस्येति, तदप्येवं [8]सम्प्रधार्यम्—किं वाह्यार्थाभावाद्वाह्यार्थसंवेदनाभावो मुक्तस्येन्द्रियापायाद्वा ? प्रथमपक्षे सुखस्यापि संवेदनं मुक्तस्य न स्यात्, तस्यापि वाह्यार्थवदभावात्[6]। पुरुषाद्वैतवादे

संपूर्ण दुःखों का आत्यंतिक अभाव हो गया है वही 'सिद्धत्व' गुण है और वह संपूर्णतया दुःखों का अभाव ही अनंत प्रशम सुख है। इसलिये मुक्तिमें सांसारिक सुखोंका अभाव है इस कथन में विरोध नहीं आता है।

[वेदांती के द्वारा मान्य मुक्ति का खंडन]

वेदांती—मुक्त जीव के अनंत सुख ही है ज्ञानादिक नहीं हैं इसलिये आनंद रूप एक स्वभाव की अभिव्यक्ति हो जाना ही मोक्ष है।

जैन—आपका यह कथन भी युक्ति और आगम से बाधित है। मुक्त जीव के अनंतसुख है वह संवेद्य (अनुभव करने योग्य) स्वभाव वाला है या असंवेद्य स्वभाव वाला है ? अर्थात् ज्ञान के द्वारा जानने योग्य ज्ञेय स्वभाव वाला है या अज्ञेय स्वभाव वाला है ? यदि आप कहें कि वह सुख ज्ञेय स्वभाव वाला है तो अनंतज्ञान की सिद्धि हो जाती है अन्यथा स्वयं आत्मा के द्वारा अनंत सुख ज्ञेय रूप नहीं हो सकेगा। अर्थात् ज्ञान का विषयभूत सुख अनंत है और ज्ञान उस अनन्त सुख को वेदन करे—जाने इसलिये वह भी अनन्त सिद्ध हो जाता है अन्यथा अनंत सुखों का संवेदन—ज्ञान नहीं वनेगा।

यदि पुनः वह सुख असंवेद्य (अज्ञेय) स्वभाव वाला है तब तो उसे 'सुख' यह नाम भी कैसे बनेगा ? क्योंकि साता के संवेदन को ही सुख कहते हैं।

वेदांती—परमात्मा के अनंतसुख का संवेदन रूपज्ञान तो हम स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके केवल वाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं मानते हैं।

१ अतः परं वेदान्तवादी प्राह। २ ज्ञेय स्वभावम्। स्वसंवेद्यस्वभावमिति पाठान्तरम्। ३ (विषयरूपस्य सुखस्यानन्त्ये विषयिणस्तद्वेदनस्याप्यानन्त्यम्—अन्यथा तत्संवेदनानुपपत्तेः)। ४ आत्मना। ५ वेदान्तवादिनः। ६ अभ्युपगम्यते। ७ परमात्मनः। ८ (जैनः) विचार्यम् (वक्ष्यमाणप्रकारेण)।

(1) वेदांतवादी भास्करवादी। (2) अत्राह जैनः। सोपि मोक्षेऽनंतसुखवादी विचार्यमाणः युक्त्यागमेन च विरुद्धयते दि.प्र.। (3) तद्वचनंतं इति पा.। (4) सुखस्य संवेद्यत्वेति पा.। स्वसंवेद्य इति पा.। अन्यथा ज्ञानस्यानंतस्य सिद्धेरभावे अनंतस्य सुखस्य संवेद्यत्वं विरुद्धयते। (5) रूप। यसः। (6) यदि सुखं तदेव परमब्रह्मैव तदा संवेद्यसंवेदकभावो न स्यादेकस्यानंशस्य संवेद्यसंवेदकत्वानुपपत्तेरित्यभिप्रायः।

हि बाह्यार्थाभावो यथाभ्युपगन्तव्यस्तथा सुखाभावोपि, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात् । अथ द्वैतवादावलम्बिनां[1] सतोपि [1]बाह्यार्थस्येन्द्रियापायादसंवेदनं मुक्तस्येति मतं तदप्यसंगतं, [2]तत एव सुखसंवेदनाभावप्रसङ्गात् । [3]अथान्तःकरणाभावेपि मुक्तस्यातीन्द्रियसंवेदनेन सुखसंवेदनमिष्यते तर्हि बाह्यार्थसंवेदनमस्तु तस्यातीन्द्रियज्ञानेनैवेति मन्यतां, सर्वथा [4]विशेषाभावात् ।

[बौद्धाभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

[5]येऽपि [6]निरास्रवचित्तसन्तानोत्पत्तिर्मोक्ष[2] इत्याचक्षते तेषामपि मोक्षतत्त्वं [3]युक्त्या-

---

जैन—तब आपको यह विचार करना होगा कि बाह्य पदार्थों का अभाव होने से मुक्त जीव के बाह्य पदार्थ के ज्ञान का अभाव है या मुक्तजीव के इन्द्रियों के न होने से बाह्य पदार्थ के ज्ञान का अभाव है ? यदि आप प्रथम पक्ष स्वीकार करें तो मुक्त जीव के सुख का भी ज्ञान नहीं होगा क्योंकि बाह्य पदार्थ के समान उसका भी अभाव है। पुरुषाद्वैतवादियों के यहां जैसे बाह्य पदार्थों का अभाव माना है वैसे ही सुख का भी अभाव माना है अन्यथा द्वैत का प्रसंग आता है अर्थात् पुरुष और सुख दो वस्तु होने से अद्वैत नहीं बन सकेगा ।

द्वैतवादी भाट्ट—बाह्य पदार्थ के होते हुये भी मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है अतः मुक्त जीव के ज्ञान नहीं होता है ।

जैन—यह कथन भी संगत नहीं है क्योंकि इन्द्रिय के अभाव से ही सुख संवेदन—सुख के ज्ञान का भी अभाव हो जावेगा। यदि कोई कहें कि मुक्त जीव के अंतःकरण का अभाव होने पर भी अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सुख का संवेदन हम स्वीकार करते हैं तब तो पुनः मुक्त जीव के अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही बाह्य पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं मान लेते क्योंकि दोनों में सर्वथा कोई अंतर नहीं है ।

भावार्थ—वेदांती लोग अपनी आत्मा को, भगवान् को और सारे जगत् को एक परम ब्रह्म रूप मानते हैं उनका कहना है कि जो कुछ चर-अचर, चेतन-अचेतन पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे सब उस परमब्रह्म की ही पर्यायें हैं अतः इनके सिद्धांत में मोक्ष की कल्पना तो अघटित ही है फिर भी वे लोग कहते हैं कि एक ब्रह्म स्वरूप आत्मा में लीन हो जाना ही मोक्ष है और उस मोक्ष में केवल आनंद ही आनंद रह जाता है । ये लोग मोक्ष में ज्ञान को भी नहीं मानते हैं ।

इस पर जैनाचार्यों ने समझाया है कि भाई ! यदि आप मोक्ष में ज्ञान को नहीं मानोगे तो अनंत सुख का अनुभव भी कैसे हो सकेगा ? अतः जैसे आप मोक्ष में अनंत सुख का अस्तित्व मानते हैं वैसे ही अनंतज्ञान का भी अस्तित्व मान लीजिये कोई बाधा नहीं है ।

---

१ भाट्टानाम् । २ इन्द्रियापायादेव । ३ परः । ४ सुखसंवेदनबाह्यार्थसंवेदनयोः । ५ सौगताः । ६ वीतरागद्वेषात्मसन्तानोत्पत्तिः ।

---

(1) मनः । (2) जीवन्मुक्तः । (3) चित्तानां तत्त्वतोऽन्वितत्वसाधनं संतानोच्छेदानुपपत्तिकथनं च युक्त्या बाधनं क्षणक्षयैकांताभ्युपगमे मोक्षाभ्युपगमो न घटत एवेति समर्थनमभ्युपायेन बाधनं—दि. प्र. ।

भ्युपायेन[१] च बाध्यते [२]प्रदीपनिर्वाणोपमशान्तनिर्वाणवत्[1] चित्तानां[३] तत्त्वतोऽन्वितत्व-[2] साधनात्[४] सन्तानोच्छेदानुपपत्तेश्च[५] निरन्वयक्षणक्षयैकान्ताभ्युपायेन[3] च मोक्षाभ्युपगमबाधनस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

[सांख्यादिमान्मोक्षकारणतत्त्वमपि निराक्रियते जैनाचार्यैः]

[६]तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि कपिलादिभिर्भाषितं न्यायागमविरुद्धम् ।

[सौगत द्वारा अभिमत मोक्ष का खंडन]

सौगत—आस्रव रहित चित्तसंतान की उत्पत्ति का नाम ही मोक्ष है ।

जैन—आपका भी यह मोक्ष तत्त्व युक्ति और आगम से बाधित है प्रदीप-निर्वाणोपम शांत निर्वाण के समान है क्योंकि वास्तव में चित्त ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है । एवं संतानों का सर्वथा उच्छेद भी नहीं हो सकता है तथा च निरन्वय क्षण क्षय को एकांत से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि भी बाधित ही है । इस मत का खंडन आगे हम विशेष रूप से करेंगे । अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है वैसे ही निर्वाण के बाद जीव के ज्ञान का अस्तित्व कुछ भी नहीं रहता है । इस मान्यता में अनेकों बाधायें आती हैं ।

अब जिस प्रकार से अन्य के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में बाधायें आती हैं उसी प्रकार से मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों में भी बाधायें आती हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं ।

[सांख्यादि अन्य मतावलंबियों के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व भी बाधित ही हैं]

कोपिल आदि के द्वारा कहे गये मोक्ष के कारण तत्त्व भी न्याय-युक्ति और आगम से विरुद्ध ही हैं । अर्थात् यहां तक अन्य लोगों के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में दूषण दिखाया है अब मोक्ष के उपायभूत तत्त्वों में जो अन्य लोगों की भिन्न-भिन्न मान्यतायें हैं उन पर विचार किया जा रहा है ।

---

१ आगमेन । २ प्रदीपस्य निर्वाणोपमं तच्च तच्छान्तनिर्वाणं च । यथा प्रदीपनिर्वाणं युक्त्यागमेन च बाध्यते । ३ ज्ञानानां सान्वयत्वेन साधनात् । ४ द्वितीयपरिच्छेदे सन्तानः समुदायश्चेति कारिकायां वक्ष्यमाणत्वात् । ५ मानसानां परमार्थतोनुगतत्वं साध्यते मानसानां सन्तानोच्छेदश्च न संभवतीति हेतुद्वयात् । ६ यथा मोक्षतत्त्वम् ।

---

(1) सकलचित्तसंतानोच्छित्तिवत् । परममुक्तवत् । (2) द्रव्यसमन्वितः । (3) यतः ।

सांख्यादि के द्वारा मान्य संसार मोक्ष के खंडन का सारांश

सांख्य कहता है कि प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान हो जाने पर चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना मोक्ष है। सर्वज्ञपना प्रधान का स्वरूप है आत्मा का नहीं क्योंकि ज्ञानादि अचेतन हैं वे प्रधान के ही स्वरूप हैं, उत्पत्तिमान् होने से घट के समान। एवं आत्मा सकल विशेषों से रहित होने पर भी वस्तु है तथा चेतन आत्मा के संसर्ग से ही वे ज्ञानादि चेतन के समान दीखते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि सांख्य का यह कथन असंभव है हमारे यहां तो अनंत ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में अवस्थान को ही मोक्ष कहा है क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं जैसे चैतन्य। ज्ञान को अचेतन एवं प्रधान का धर्म आप किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं कर सकते। यदि "उत्पत्तिमत्वात्" हेतु से प्रधान का कहो तो भी ठीक नहीं है। यद्यपि ज्ञान सामान्य की अपेक्षा उत्पत्तिमान् नहीं है फिर भी विशेष श्रुत एवं केवलज्ञान आदि की अपेक्षा उत्पत्तिमान् है। ज्ञानादि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी चेतन रूप प्रसिद्ध है। तथा आत्मा सामान्य विशेषात्मक होने से ही वस्तु है न कि विशेषों से रहित होने से। विशेष रहित सामान्य खपुष्पवत् असत् ही हैं अतः आत्मा ही सर्वज्ञ होता है अचेतन प्रधान नहीं होता है।

वैशेषिक कहता है कि बुद्धि, सुख, दुःखादि आत्मा के विशेष गुणों का उच्छेद होकर के सामान्य आत्मा में अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है क्योंकि बुद्धि आदि गुण आत्मा के स्वभाव नहीं हैं आत्मा से भिन्न हैं कारण उनमें उत्पाद, व्यय पाया जाता है। एवं मुक्ति में धर्म, अधर्म का तो आत्यंतिक अभाव है अन्यथा मुक्ति ही नहीं होगी तथा उनके फलस्वरूप सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान आदि गुणों का अभाव ही हो जाता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ज्ञानादि को सर्वथा आत्मा से भिन्न मानना ठीक नहीं है क्योंकि वे आत्मा के ही स्वभाव हैं। पुण्य पापादि के निमित्त से होने वाले सांसारिक सुख एवं क्षयोपशम ज्ञान का अभाव मानना तो मुक्ति में युक्ति युक्त है, किंतु वेदनीय एवं ज्ञानावरणादि कर्मों के सर्वथा अभाव से आत्मा में प्रगट होने वाले अव्याबाध सुख एवं अनंतज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव मानना कथमपि शक्य नहीं है। यदि ऐसा मानोगे तो ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अपने ही सुखादि का नाश करने के लिये मुक्ति के लिये अनुष्ठान आदि करे अर्थात् कोई नहीं करेगा। अतएव जीव के औपशमिकादि पांच भावों के अंतर्गत औपशमिक के २ भाव, क्षायोपशमिक के १८ भाव, औदयिक के २१ भाव, पारिणामिक के भव्यत्व, अभव्यत्व ये दो भाव तथा क्षायिक के दान, लाभ, भोग, उपभोग और क्षायिकचारित्र ये पांच भाव मिलकर ४८ भाव रूप विशेष गुणों का मुक्ति में सर्वथा उच्छेद है किंतु ४ क्षायिक भाव १ जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ये ५ भाव मुक्ति में पाये ही जाते हैं। कहा भी है—

"अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः" इत्यादि। इस प्रकार संसार एवं मोक्ष की सिद्धि हो गई।

वेदांती तो मुक्त जीव के अनंत सुख संवेदन रूप ज्ञान मानते हैं एवं वाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं मानते हैं। इस पर प्रश्न होता है कि मुक्त जीव के इंद्रियों का अभाव है इसलिये वाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है या वाह्य पदार्थ का अभाव कहो तो सुख का भी अभाव हो जावेगा कारण कि आप पुरुषाद्वैत-वादियों के यहां सुख भी वाह्य पदार्थ के समान घटित नहीं होता है यदि मानों तो पुरुष और सुख से द्वैत हो जावेगा। यदि इन्द्रियों का अभाव कहो तो बिना इन्द्रिय के सुख का वेदन कैसे होगा ? यदि अतींद्रिय से मानो तो वाह्य पदार्थों का ज्ञान मानना होगा।

तथैव बौद्ध ने आस्रव रहित चित्तसंतति की उत्पत्ति को ही मोक्ष माना है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है तथा निरन्वय क्षण क्षय को एकांत से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि बाधित ही है।



[साख्याभिमत मोक्षकारणतत्त्व खण्डनं]

[१]तद्विज्ञानमात्रं न परनिःश्रेयसकारणं, [२]प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि शरीरेण सहावस्थानान्मिथ्याज्ञानवत्[३]। न तावदिहासिद्धो हेतुः, सर्वज्ञानामपि कपिलादीनां स्वयं प्रकर्षपर्यन्तावस्थाप्राप्तस्यापि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानोपगमात्[४]। साक्षात्सकलार्थ-ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं[1] शरीराभावे कुतोयमाप्तस्योपदेशः [2]प्रवर्तते ? अशरीरस्याप्तस्योपदेश-करणविरोधादाकाशवत् । [५]तस्यानुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्योपदेश इति चेन्न[६], तस्याप्रमाणत्व-शङ्काऽनिवृत्तेरन्या[3]ऽज्ञानपुरुषोपदेशवत् । यदि पुनः शरीरान्तरानुत्पत्तिर्निश्श्रेयसं न गृहीतशरीर-निवृत्तिः । [७]तस्य साक्षात्सकलतत्त्वज्ञानं कारणं, न तु[4] गृहीतशरीरनिवृत्तेः,[८] फलोपभोगात्तदुप-गमात्[९] ।

[सांख्य के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण का खंडन]

सांख्य—विज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण है अर्थात् प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान मात्र ही परमनिःश्रेयस का कारण है। ऐसा सांख्यों का कहना है। ये लोग चारित्र को बिल्कुल ही मानने को तैयार नहीं हैं।

जैन—विज्ञान मात्र ही परनिःश्रयस (मोक्ष) का कारण नहीं है क्योंकि आत्मा में संपूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाले ज्ञान का प्रकर्ष पर्यंत अवस्था-चरम सीमा के हो जाने पर भी आत्मा का शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है। जैसे मिथ्याज्ञान के रहने पर भी शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो चुकी है फिर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से परमौदारिक शरीर पाया जाता है। यह हमारा हेतु असिद्ध भी नहीं है। आपके यहां भी ज्ञान के प्रकर्ष पर्यंत अवस्था को प्राप्त हो जाने पर भी कपिल आदि सर्वज्ञों का शरीर के साथ अवस्थान माना है। यदि संपूर्ण पदार्थों को जानने में समर्थ ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर ही शरीर का अभाव हो जावे तो पुनः आप्त का यहां उपदेश देना कैसे बनेगा ? क्योंकि अशरीरी आप्त को उपदेश करने का विरोध है जैसे कि अशरीरी आकाश उपदेश नहीं दे सकता है।

सांख्य—जिनके निखिल पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसे आप्त का उपदेश देना बन जावेगा।

जैन—नहीं, जिसके संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है उसके उपदेश में अप्रमाणत्व की शंका दूर नहीं हो सकेगी अज्ञानी पुरुष के उपदेश के समान।

---

१ मात्रशब्देन दर्शनचारित्रयोर्निराशः। २ सकलार्थसाक्षात्कारितावस्थायाम्। ३ विज्ञानमात्रस्य प्रवर्तमानत्वात्। ४ कापिलादिभिः। ५ सांख्यः प्राह। आप्तस्य। ६ जैन आह।—अनुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्य पुंस उपदेशस्यासत्यत्व-संभवात्। ७ शरीरान्तरानुत्पत्तिलक्षणस्य। निःश्रेयसस्य। ८ (गृहीतशरीरनिवृत्तौ न सकलतत्त्वज्ञानं कारणं, गृहीतशरीरनिवृत्तौ फलोपभोगस्य कारणत्वात्)। ९ (गृहीतशरीरनिवृत्तिः फलोपगमादेव भवतीत्युपगमात्सांख्यैः।

---

(1) ज्ञानोत्पन्नानंतरमिति पा. दि. प्र.। (2) प्रवर्तेत इति पा.। (3) कपिलादेरन्यपुरुष। (4) न च इति पा.।

ततः पूर्वोपात्तशरीरेण सहावतिष्ठमानात्तत्त्व[1]ज्ञानादाप्तस्योपदेशो युक्त इति मतं[1] तदा हेतुः सिद्धोभ्युपगतस्तावत्[2]। स च परनिःश्रेयसाऽकारणत्वं तत्त्वज्ञानस्य साधयत्येव, भाविशरीरस्येवोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तेः परनिःश्रेयसत्वात्,[2] [3]तस्य च [4]तद्भावेप्यभावात्। [5]फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षं[3] तत्त्वज्ञानं परनिःश्रेयसकारणमित्यप्यनालोचिताभिधानं[6] फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौ[4]पक्रमिकविकल्पानतिक्रमात्[5]। तस्यौ[7]पक्रमिकत्वे कुतस्तदु[6]पक्रमोन्यत्र[8]तपोतिशयात्[9]। इति तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकं परनिःश्रेयसमायातम्[10]। [11]समाधिविशेषादुपात्ता-

सांख्य—नये शरीर की उत्पत्ति का न होना ही मोक्ष है न कि ग्रहण किये हुये शरीर का भी छूट जाना। क्योंकि मोक्ष साक्षात् सकल पदार्थों के ज्ञान रूप कारण से है न कि गृहीत शरीर की निवृत्ति (अभाव) होने से। अर्थात् गृहीत शरीर का अभाव होने में सकल पदार्थों का तत्त्वज्ञान कारण नहीं है, प्रत्युत गृहीत शरीर का अभाव फल के उपभोग से होता है। इसलिये पूर्वोपात्त शरीर के साथ अवस्थान होने से तत्त्वज्ञान से आप्त का उपदेश युक्त ही है।

जैन—तब तो हमारा हेतु सिद्ध ही है क्योंकि ज्ञान की प्रकर्ष पर्यंत अवस्था (केवलज्ञान) के हो जाने पर भी आत्मा का शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है। इसलिये पर निःश्रेयस (मोक्ष) के लिये तत्त्वज्ञान साक्षात् कारण नहीं है यह बात सिद्ध हो जाती है क्योंकि भाविशरीर के समान उपात्त गृहीत शरीर का भी अभाव होने से ही "पर निःश्रेयस" होता है अतः तत्त्वज्ञान पूर्ण हो जाने पर भी मोक्ष का अभाव देखा जाता है।

सांख्य—शुभ अशुभ रूप कर्म फल का उपभोग (अनुभव) कर लेने के बाद उपात्त कर्मों का क्षय हो जाने से जो तत्त्वज्ञान होता है वह मोक्ष का कारण है।

जैन—आपका यह कथन भी विचार शून्य ही है। फलोपभोग के दो भेद हैं—१. औपक्रमिक २. अनौपक्रमिक और फलोपभोग इन दोनों भेदों का उल्लंघन नहीं करता है। यदि फल का अनुभवन औप-

१ सांख्यस्य। २ अस्माभिः स्याद्वादिभिरङ्गीकृतः प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानादित्ययं हेतुः। ३ परनिःश्रेयसत्वस्य। ४ तत्त्वज्ञानभावेपि। ५ (सांख्यः) फलानां शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवनं तेन कृतो योसावुपात्तकर्मणां क्षयस्तस्य अपेक्षा यस्य तत्तथोक्तम्। ६ जैनः प्राह। ७ फलोपभोगस्य। ८ विना। ९ (तपोतिशयस्याकामनिर्जराकारणत्वमुक्तम्)। १० न तु तत्त्वज्ञानमात्रहेतुकम्। ११ तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकत्वाभावेपि मोक्षस्य स्थिरीभूततत्त्वज्ञानमेव हेतुरित्यदोप इति सांख्यः।

(1) मानस्य तत्त्व इति पा. दि. प्र.। (2) यथा भाविशरीरस्याभावः परनिःश्रेयसत्वं घटते। तथा गृहीतशरीरस्याप्यभावः। कस्मात्तस्य परनिःश्रेयसस्य तद्भावे तत्त्वज्ञानसद्भावेऽपि सति असंभवात्। दि. प्र.। (3) फलानां शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवनं तेन क्षयो योऽसावुपात्तकर्मणां क्षयस्तस्यापेक्षा यस्य तत्तथोक्तं। (4) अविपाक निर्जरा। सविपाकनिर्जरा। (5) अनौपक्रमिकफलोपभोगस्य परनिःश्रेयसकारणत्वेन परैरनभ्युपगमादेवात्र तस्य परिहारो नोच्यते—दि. प्र.। (6) तस्य फलोपभोगस्याविकतपसः सकाशात् अन्यत्रोपक्रमः कुतः न कुतोऽपि। एतावता तपसा यो विपाकः स सकाम इत्यायातं—दि. प्र.।

शेषकर्मफलोपभोगोपगमाददोष[1] इति चेत् कः[१] पुनरसौ समाधिविशेषः ? स्थिरीभूतं ज्ञानमेव स इति चेत् [2]तदुत्पत्तौ परनिःश्रेयसस्य भावे स [3]एवाप्तस्योपदेशाभावः[4]। [२]सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यावस्था[३]यामसमाधिरूपस्योपजनने युक्तोयं योगिनस्तत्त्वोपदेश इति [४]चेन्न, सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यविरोधात्तस्य[५] कदाचिच्चलनानुपपत्तेः, [६]अक्रमत्वाद्विष[७]यान्तरसंचरणाभावात्, अन्यथा[८] सकलतत्त्वज्ञानत्वासंभवादस्मदादिज्ञानवत् । अथ[९] तत्त्वोपदेशदशायां योगिनोपि ज्ञानं विनेयजनप्रतिबोधाय व्याप्रियमाणमस्थिरमसमाधिरूपं पश्चान्निवृत्तसकलव्यापारं स्थिरं समाधिव्यपदेशमास्कन्द[5]तीत्युच्यते तर्हि[१०] समाधिश्चारित्रमिति नाममात्रं भिद्यते, नार्थः[११] ।

क्रमिक-अविपाक निर्जरा से होता है तो तपोतिशय को छोड़कर वह उपक्रम रूप अविपाक निर्जरा और अन्य किस कारण से हो सकती है अर्थात् तपश्चर्या आदि ही औपक्रमिक निर्जरा में कारण है इसलिये तपश्चर्या के अतिशय विशेष से होने वाला तत्त्वज्ञान ही मोक्ष के लिये कारण है यह बात सिद्ध हो गई।

सांख्य—उपात्त-उपार्जित किये गये पूर्व के अशेष कर्मों के फल का उपभोग समाधि विशेष से हो जाता है ऐसा हमने माना है इसमें कोई दोष नहीं आता है।

जैन—यह समाधि विशेष क्या है ?

सांख्य—स्थिरीभूत ज्ञान का ही नाम समाधि विशेष है।

जैन—तब तो स्थिरीभूत ज्ञान के उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावेगा। पुनः आप्त के उपदेश का अभाव ही हो जावेगा।

सांख्य—अस्थैर्य अवस्था में सकल पदार्थों का तत्त्वज्ञान असमाधि रूप है अतः योगी का तत्त्वोपदेश करना युक्त ही है। अर्थात् जब संपूर्ण तत्त्वज्ञान अस्थिर रहता है तब असमाधि रूप अवस्था है उस समय योगी उपदेश देते हैं।

जैन—सकल तत्त्वज्ञान में अस्थिर अवस्था का विरोध है अर्थात् पूर्णज्ञान में चलायमान अवस्था कदाचित् भी नहीं हो सकती है क्योंकि सकलज्ञान युगपत् संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है अतः क्रम से पृथक्-पृथक् विषय में संचरण करने का अभाव है अन्यथा सकल तत्त्वों का ज्ञान होना असंभव हो जावेगा हम लोगों के ज्ञान के समान।

---

१ स्याद्वादी। २ सांख्यः। ३ चलावस्थायाम्। ४ जैनः। ५ अस्थैर्यविरोधं दर्शयति। ६ चलनानुपपत्तिः कुतः ? ७ अक्रमः कुतः ? ८ विषयान्तरसञ्चरणे सति। ९ सांख्यः। १० जैनः। ११ अर्थोऽभिप्रायस्तु न भिद्यते।

---

(1) समाधिविशेषस्य स्थिरीभूतज्ञानत्वेन तत्त्वज्ञानतपोतिशयद्वयहेतुकत्वाभावाददोष इति भावः। दि.प्र.। (2) स्थिरीभूतज्ञानोत्पत्तौ सत्यां स परनिःश्रेयससंभवः तस्मिन् सति स एव पूर्वोक्तः आप्तस्योपदेशाभावः संभवति—दि. प्र.। (3) परनिःश्रेयसे शरीराभावादशरीरस्याप्तस्योपदेशकरणविरोधादाकाशवत् भाविशरीरस्यैवोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तिः परनिःश्रेयसमिति वचनात्। (4) सकलतत्त्वज्ञानस्य विषयांतरसंचरणाभावेनास्थैर्याभावाद्यदैव परनिःश्रेयसप्राप्तिस्ततश्चोपदेशाभाव इति भावः —दि. प्र.। (5) स्वीकरोति।

तत्त्वज्ञानादशेषाज्ञाननिवृत्ति[1]फलादन्यस्य[1] परमोपेक्षालक्षणस्वभावस्य [2]समुच्छिन्नक्रिया-[2]ऽप्रतिपातिपरमशुक्लध्यानस्य तपोतिशयस्य समाधिव्यपदेशकरणात् । तथा चारित्रसहितं तत्त्वज्ञानमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धानं [3]परनिःश्रेयसमनिच्छतामपि कपिलादीनामग्रे[3] व्यवस्थितम् । ततो न्यायविरुद्धं सर्वथैकान्तवादिनां ज्ञानमेव मोक्षकारणतत्त्वम् । स्वागमविरुद्धं च, सर्वेषामागमे [4]प्रव्रज्याद्यनुष्ठानस्य[4] सकलदोषोपरमस्य[5] च बाह्यस्याभ्यन्तरस्य च चारित्रस्य मोक्षकारणत्वश्रवणात् ।

सांख्य—योगियों का ज्ञान तत्त्वोपदेश के समय शिष्य जनों को प्रतिबोधन करने के लिये प्रवृत्त होता हुआ अस्थिर और असमाधि रूप है। पश्चात् वही ज्ञान सकल व्यापार से निवृत्त (रहित) होकर स्थिर समाधि नाम को प्राप्त कर लेता है।

जैन— तब तो इस कथन से समाधि और चारित्र इनमें नाम मात्र का ही भेद रह जाता है अर्थ से भेद कुछ भी नहीं दीखता है। अशेष अज्ञान की निवृत्ति है फल जिसका ऐसे तत्त्वज्ञान से भिन्न परमोपेक्षा लक्षण स्वभाव वाला समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति नामक परम शुक्लध्यान जो कि तपश्चर्या का अतिशय रूप है उसी को तुमने समाधि नाम दिया है। तथा जो चारित्र सहित है और तत्त्वार्थ श्रद्धान जिसमें अंतर्गभित है ऐसा तत्त्वज्ञान ही परनिःश्रेयस (मोक्ष) का कारण है इस प्रकार को कपिल आदि स्वीकार नहीं करते हैं फिर भी उनके सम्मुख सम्यग्दर्शन और चारित्र व्यवस्थित हो ही जाते हैं।

इसलिये ज्ञान ही मोक्ष के लिये कारणभूत तत्त्व है इस प्रकार सर्वथा एकांतवादियों का कथन न्याय से विरुद्ध है और उनके आगम से भी विरुद्ध है क्योंकि सभी के आगम में दीक्षा आदि बाह्य चारित्र के अनुष्ठान और सकल दोषों की उपरति रूप आभ्यंतर चारित्र मोक्ष के कारण हैं ऐसा सुना जाता है।

विशेषार्थ— जैन सिद्धांत में तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है, जिसे अनंतज्ञान अथवा क्षायिकज्ञान भी कहते हैं। यह ज्ञान की पूर्णावस्था है। यहां नव केवललब्धि के प्रकट हो जाने से 'परमात्मा' यह संज्ञा आ जाती है। यहां पर शील के १८ हजार भेद पूर्ण हो जाते हैं, किन्तु ८४ लाख उत्तरगुणों की पूर्णता १४ वें गुणस्थान के अंत में होती है और रत्नत्रय की पूर्णता भी वहीं पर होती है ऐसा श्लोकवार्तिक में स्पष्ट किया है।

समयसार ग्रन्थ में ज्ञान मात्र से बंध का निरोध माना है वहां पर भी श्री जयसेन स्वामी ने टीका में स्पष्ट किया है यथा—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणंत्ति य तदो णियत्ति कुणदि जीवो ॥७७॥

---

१ भिन्नस्य। २ नष्टव्यापाराऽविनाशीति स्वरूपं तच्छुक्लध्यानस्य। ३ कपिलादीनां सम्मुखम्। ४ बाह्यचारित्ररूपस्य। ५ आभ्यन्तरचारित्ररूपस्य।

---

(1) वस्तः। (2) व्यापार। अविनाशि। (3) निःश्रेयसकारणम इति पा.। (4) अनशनादितपः।

[अन्यैः कल्पितं संसारतत्त्वमपि सर्वथा विरुद्धमेव]

तथा संसारतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम् । तथा हि । नास्ति नित्यत्वाद्येकान्ते [1]कस्यचित्संसारः, [1]विक्रियानुपलब्धेः । इति न्यायविरोधः । समर्थयिष्यते[2] तदागमविरोधश्च, [3]स्वयं पुरुषस्य संसाराभाववचनाद्, [4]गुणानां संसारोपपत्तेः [5]परेषां संवृत्त्या[6] संसारव्यवस्थितेः ।

तात्पर्यवृत्ति—क्रोधाद्यास्रवाणां संबंधि कालुष्यरूपमशुचित्वं जडत्वरूपं विपरीतभावं व्याकुलत्वलक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः संबंधि निर्मलात्मानुभूतिरूपशुचित्वं सहजशुद्धाखंडकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानंतसुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वसंवेदनज्ञानांतरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामायिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्तिं करोति जीवः । इति ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिमत प्रवेशः । किं च यच्चात्मास्रवयोः सम्बन्धि भेदज्ञानं तद्रागाद्यास्रवभ्यो निवृत्तं न वेति, निवृत्तं चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्रं वीतरागसम्यक्त्वं च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बंधनिषेधसिद्धिः । यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः ।

अर्थ— क्रोधादि आस्रवों के कलुषता रूप अशुचिपने को, जड़ता रूप विपरीतपने को, और व्याकुलता लक्षण दुःख के कारणपने को जानकर एवं अपने आत्मा के निर्मल आत्मानुभूति रूप शुचिपने को सहज शुद्ध अखण्ड केवलज्ञान रूप ज्ञातापन को और अनाकुलता लक्षण अनंतसुख रूप स्वभाव को जानकर उसके द्वारा स्वसंवेदन ज्ञान को प्राप्त होने के अनन्तर सम्यादर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में एकाग्रता रूप परमसामायिक में स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति करता है इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है । यहां सांख्य मत जैसा ज्ञानमात्र से बंध का निरोध नहीं माना गया है । (किन्तु वैराग्यपूर्ण ज्ञान को ज्ञान कहा गया है और उससे बंध का निरोध होता है ।) किं च हम तुमसे पूछते हैं कि आत्मा और आस्रव सबंधी जो भेद ज्ञान है वह रागादि आश्रवों से निवृत्त है या नहीं ? यदि कहो कि निवृत्त है तब तो उस भदज्ञान में पानक (पीने की वस्तु ठंडाई इत्यादि) के समान अभेदनय से वीतराग चारित्र भी और वीतराग सम्यक्त्व भी है, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है,और यदि वह भेद ज्ञान रागादि से निवृत्त नहीं है तो वह सम्यग्भेदज्ञान ही नहीं है ।

[अन्यों के द्वारा मान्य ससार तत्त्व सर्वथा विरुद्ध ही हैं]

उसी प्रकार अन्यमतावलंबियों का संसारतत्त्व भी न्यायागम से विरुद्ध है । तथाहि "नित्य क्षणिक

१ (येषां मते नित्य एवात्मा तेषां मते आत्मनो भवान्तरावाप्तिरूपः संसारो न संभवति आत्मनो नित्यत्वेन विकारानुपपत्तेः) । २ (अग्रेऽस्माभिः) । ३ न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यादि च वदद्भिः । ४ सत्त्वरजस्तमसाम् । प्रकृतिविकृत्यहङ्कारादीनाम् । ५ सांख्यानाम् । सौगतानामिति टिप्पणान्तरम् । ६ कल्पनया ।

(1) आत्मनः ।

[सांख्यादिमान्य संसारकारणतत्त्वमपि प्रत्यक्षादि प्रमाणैर्बाध्यते]

तथा संसारकारणतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम् ।

[सांख्याभिमतसंसारकारणनिराकरणं]

[1]तद्धि मिथ्याज्ञानमात्रं तैरुररीकृतम् । न च तत्कारणः संसारः, [2]तन्निवृत्तावपि [1]संसारानिवृत्तेः । यन्निवृत्तावपि यन्न निवर्त्तते न तत्तन्मात्रकारणम् । यथा [2]तक्षादि-

आदि एकांत में किसी भी जीव को संसार नहीं है क्योंकि विक्रिया—नर नारकादि पर्याय विशेष रूप क्रिया की उपलब्धि होना संभव नहीं है । अर्थात् जिनके मत में आत्मा सर्वथा नित्य ही है उनके मत में आत्मा के भवांतर की प्राप्ति रूप संसार संभव नहीं है । आत्मा को नित्य रूप मानने से विकार (परिणमन) हो नहीं सकता है । इस प्रकार यहां न्याय से विरोध आता है और आगम से विरोध का वर्णन आगे करेंगे ।

किन्ही ने (सांख्यों ने) स्वयं ही पुरुष के संसार का अभाव माना है पुनः उनके यहां गुणों (सत्त्व, रज, तम) को ही संसार सिद्ध हो जाता है तथा बौद्धों ने तो संवृत्ति (कल्पना मात्र) से ही संसार को माना है । इन सबका माना हुआ संसार तत्त्व भी ठीक तरह से सिद्ध नहीं होता है अतः जैनों के द्वारा मान्य पंचपरावर्तन रूप या भवांतर रूप संसार तत्त्व ही ठीक सिद्ध होता है ।

[अन्यों के द्वारा मान्य संसार कारण भी विरुद्ध हैं]

इस प्रकार अन्य जनों के द्वारा मान्य संसार कारण तत्त्व भी न्याय-आगम से विरुद्ध हैं । अर्थात् अद्वैतवादी संसार को काल्पनिक ही मानते हैं तो उनके यहां संसार के कारण भी काल्पनिक-असत्य ही रहेंगे । सांख्य ने मिथ्याज्ञान मात्र से ही संसार को माना है इसका खंडन भी आगे विद्यानंद आचार्य स्वयं कर रहे हैं । तात्पर्य यही है कि सभी अन्य मतावलंबियों के द्वारा कल्पित जितने भी संसार और मोक्ष के कारण हैं वे सभी संसार के ही कारण हैं ऐसा समझना चाहिये । हमारे यहां मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच कारण माने गये हैं । अन्य सभी के सभी कारण इन्हीं में शामिल हो जाते हैं ।

[सांख्य के द्वारा मान्य संसार के कारण का खंडन]

सांख्यों ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है, किन्तु उतने मात्र कारण वाला संसार नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी संसार का अभाव नहीं होता है । "जिसकी निवृत्ति हो जाने पर भी जो निवृत्त नहीं होता है वह उस मात्र कारण वाला नहीं है जैसे तक्षादि(वढ़ई-सुतार) के निवृत्त हो जाने पर भी देवगृहादिक का अभाव नहीं होता है इसलिये वे उस मात्र कारणक नहीं है । तथैव मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी संसार का अभाव नहीं होता है अतः संसार मिथ्याज्ञान मात्र कारण वाला नहीं है ।" यहां यह हेतु असिद्ध भी नहीं है ।

१ संसारकारणतत्त्वम् । २ मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ ।

(1) कस्यचिन्मिथ्याज्ञानं नास्ति तथापि संसारोऽस्ति । (2) सूत्रधारादि ।

निवृत्तावप्यनिवर्तमानं देवगृहादि न तन्मात्रकारणम् । मिथ्याज्ञाननिवृत्तावप्यनिवर्त्तमानश्च संसारः । तस्मान्न मिथ्याज्ञानमात्रकारणक इति । अत्र न [१]हेतुरसिद्धः, सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ मिथ्याज्ञाननिवृत्तावपि [२]दोषानिवृत्तौ संसारानिवृत्तेः [३]स्वयमभिधानात्[1] । दोषाणां संसारकारणत्वावेदकागमस्वीकरणाच्च तन्मात्रं संसारकारणतत्त्वं न्यायागमविरुद्धं सिद्धम् । तदेवमन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वादर्हन्नेव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् सर्वज्ञो वीतरागश्च निश्चीयते । ततः स एव [४]सकलशास्त्रादौ प्रेक्षावतां[2] संस्तुत्यः ।

सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के हो जाने पर तथा मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी दोष (राग, द्वेषादि) की निवृत्ति न होने से संसार का अभाव नहीं होता है ऐसा सांख्यों ने स्वयं माना है। अर्थात् जैन सिद्धांत में भी सम्यक्त्व प्रगट होते ही चौथे गुणस्थान में मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का अभाव हो गया है फिर भी संसार का अभाव नहीं हुआ है। सम्यक्त्व छूटने के बाद यह जीव अर्द्धपुद्गल परावर्तन तक संसार में भ्रमण कर सकता है और सम्यक्त्व सहित भी ६६ सागरोपम से कुछ अधिक काल तक संसार में रह सकता है। अतएव मिथ्याज्ञान मात्र ही संसार का कारण नहीं है।

पुनः अन्य लोगों ने भी दोषों को संसार का कारण माना है इस बात को आगम भी स्वीकार करता है। इसलिये मिथ्याज्ञान मात्र से ही संसार होता है यह कथन न्याय एवं आगम से विरुद्ध है यह बात सिद्ध हो जाती है और इस प्रकार से अन्य सभी के आप्त भगवान् न्यायागम से विरुद्ध भाषी हैं अतः अर्हंत ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं एवं सर्वज्ञ और वीतराग हैं ऐसा निश्चित हो जाता है। अतः वे ही सकल शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की आदि-प्रारम्भ में बुद्धिमानों के द्वारा स्तवन करने योग्य हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।



---

१ तन्निवृत्तावपि संसारानिवृत्तेरिति । २ दोषाः रागद्वेषाः । ३ सांख्यैः । ४ सकलं तत्त्वार्थादि ।

(1) सौगतैः । (2) गृद्धपिच्छाचार्यादीनां । उमास्वामिप्रसिद्धापरनाम ।

सांख्याभिमत संसार-मोक्ष कारण के खंडन का सारांश

सांख्य ज्ञान मात्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं सो ठीक नहीं है। कारण कि सर्वज्ञ भगवान् के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से उनका परमौदारिक शरीर पाया जाता है। यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावे तो यहां पर अवस्थान एवं उपदेश आदि नहीं घटेगा। तथा यदि ज्ञान ही एकांत से मोक्ष का कारण होवे तो सभी के आगम में दीक्षा आदि बाह्य चारित्र का अनुष्ठान एवं सकल दोषों की उपरति रूप आभ्यंतर चारित्र स्वीकार किया गया है सो व्यर्थ हो जावेगा।

हम जैनों ने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस आगम सूत्र से मार्ग को अर्थात् मोक्ष के कारण को माना है। यदि मोक्ष को अकारणक कहेंगे तो सर्वदा सर्वत्र सभी जीव के मोक्ष का प्रसंग आ जावेगा। तथैव अन्य जनों का संसार कारण तत्त्व न्याय आगम से विरुद्ध है।

सांख्यों ने "मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है" सो ठीक नहीं है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी रागादि दोषों की निवृत्ति न होने से संसार का अभाव नहीं होता है। यह बात स्वयं सांख्यों ने मानी है। अतएव हम जैनों को मान्य संसार के कारण आगम में प्रसिद्ध हैं।

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बंधहेतवः" ये बंध के कारण ही संसार के कारण हैं क्योंकि संसार के कारण अनादि होते हुये भी निर्हेतुक नहीं है। ये कारण भव्य जीवों की अपेक्षा अंत सहित हैं एवं अभव्यों की अपेक्षा अनादि अनंत हैं। अतएव अर्हंत भगवान के शासन में मोक्ष, संसार एवं दोनों के कारण सिद्ध ही हैं।



[बौद्धः शंकते यत् वीतरागोऽपि सरागवत् चेष्टां कर्तुं शक्नोति शरीरित्वात्, जैनाचार्या अस्य समाधानं कुर्वते]

ये[1] [1]त्वाहुः—'सतोपि यथार्थदर्शिनो वीतरागस्येदन्तया[2] निश्चेतुमशक्तेस्तत्कार्यस्य व्यापारादेस्तद्व्यभिचारादवीतरागेपि[3] दर्शनात्, सरागाणामपि वीतरागवच्चेष्टमानानामनिवारणान्न कस्यचित् स त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवति' इति तेषामपि, [2]विचित्राभिसंबन्ध[4]तया[5] व्यापारव्याहारादिसाङ्कर्येण [6]क्वचिदप्यतिशयानिर्णये[7] [3]कैमर्थक्याद्विशेषेष्टि[8]:, [4]ज्ञानवतोपि विसंवादात्, [5]क्व पुनराश्वासं[9] [6]लभेमहि ? ※ न हि ज्ञानवतो वीतरागात्पुरुषाद्विसंवादः [10]क्व-

[बौद्ध शंका करता है कि वीतराग भी सरागवत् चेष्टा कर सकते हैं क्योंकि वे शरीर धारी हैं इस पर जैनाचार्यो का समाधान]

बौद्ध—यथार्थदर्शी वीतराग के होते हुये भी "ये ही वीतराग हैं" इस प्रकार से निश्चय करना अशक्य है क्योंकि वीतराग के कार्य व्यापारादि अवीतराग में भी देखे जाते हैं अतः व्यभिचार दोष आता है। सराग भी वीतरागवत् चेष्टा कर सकते हैं उनका निवारण कोई भी नहीं कर सकता है अतः किसी भी जीव में 'वे आप ही आप्त हैं' इस प्रकार से निर्णय नहीं हो सकता है। अर्थात् सराग जीवों में भी वीतराग के समान चेष्टायें होने पर भी वीतराग जीवों में वचन आदि का अतिशय विशेष देखा जाता है वह सर्वज्ञ आप्त आप ही हैं ऐसा जैनाचार्यों के कहने पर बौद्ध कहता है कि मानसिक अभिप्रायों की विचित्रता से शारीरिक और वाचनिक क्रियाओं में संकर हो जाता है अतः किसी भी पुरुष में वचनादिकों के अतिशय का निर्णय करना असंभव है। इसी बात को आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

जैन—विचित्र अभिप्राय के होने से एवं व्यापार व्यवहारादि की संकरता से कहीं पर कपिलादि के समान सुगत में भी अतिशय का निर्णय न होने पर किस प्रकार से अर्थात् किस अर्थ का आश्रय लेकर के विशेष आप्त पने की इष्ट सिद्धि होगी क्योंकि केवल वीतरागी में ही नहीं बल्कि ज्ञानवान में भी विसंवाद पाया जाता है पुनः हम लोग कहां पर विश्वास करेंगे ? ※ अर्थात् अर्हंत भगवान् आप्त हैं क्योंकि वे संवादक हैं इस पक्ष में हम लोगों को कहीं भी विश्वास नहीं हो सकेगा।

ज्ञानवान वीतराग पुरुष से कहीं पर किसी विषय में विसंवाद संभव नहीं है अन्यथा सुगतादि में

---

१. सौगताः। २ अयमेवेति प्रकारेण। ३ अवीतरागेपि दर्शनादेव व्यभिचारः। ४ विचित्राभिसन्धितया इति पाठान्तरम्। ५ अभिप्रायतया। हेतुरयं, तृतीयान्तस्यापि हेतुत्वात्। ६ कपिलादाविव सुगतेपि। ७ सरागाणां वीतरागवच्चेष्टमानानां मायाविनामपि नानापरिणामत्वेन गमनवचनादिसङ्करत्वेन क्वचिदपि पुरुषे माहात्म्यानिश्चये सति विशेषाभिमत (सुगत) स्यानर्थक्यं घटते। एवं सति ज्ञानिनोपि असत्यत्वं घटते। ८ सुगतस्य। ९ विश्वासम्। १० विषये।

---

(1) युक्तिशास्त्राविरोधित्वात् तस्य साधनस्यान्यथानुपपत्तिनिश्चायकं विचित्रेत्यादिनाप्यवाक्यनवतारयंति। (2) सरागाणामपि वीतरागवच्चेष्टासद्भावेऽपि व्याहारादिकार्यातिशयदर्शनात् स त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवत्येवेति वदंतं जैनं प्रति सौगतेन कथ्यमानस्य विचित्राभिसंधितया व्यापारव्याहारादिसांकर्येण क्वचिदप्यतिशयानिर्णय इति वचनोद्घाटनपुरस्सरं तत्र दूषणमाहुः विचित्रेति। दि. प्र.। (3) किमर्थमाश्रित्येति कि शब्दः प्रश्ने। (4) न केवलं वीतरागात्। (5) अर्हन् आप्तः संवादकत्वादित्यस्मिन् पक्षे। (6) न क्वापि।

चित्संभवति [1]सुगतादावप्यनाश्वासप्रसङ्गात्[1] [2]तस्य कपिलादिभ्यो विशेषेष्टेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । न च व्यापारव्याहाराकारविशेषाणां [3]तत्र [4]साङ्कर्यं सिध्यति, विचित्राभिसन्धितानुपपत्तेः[2] [5]तस्याः पृथग्जने रागादिमत्यज्ञे प्रसिद्धेः प्रक्षीणदोषे भगवति [6]निवृत्तेः, अस्य यथार्थप्रतिपादनाभिप्रायतानिश्चयात् । [7]कुतश्चायं [8]सर्वस्य विचित्राभिप्रायतामदृश्यां व्यापारादिसाङ्कर्यहेतुं निश्चिनुयात् ? [9]शरीरित्वादेर्हेतोः [3]स्वात्मनीवेति चेत् [10]तत एव सुगतस्यासर्वज्ञत्वनिश्चयोस्तु । [4]तत्रास्य[11] [12]हेतोः सन्दिग्धविपक्ष[5]व्यावृत्तिकत्वान्न[13] तन्निश्चयः । [6]शरीरी च

भी अविश्वास का प्रसंग आ जावेगा और सुगत को कपिल आदि से विशेष मानने में अनर्थकता का प्रसंग भी आ जावेगा, किन्तु व्यापार, व्याहार, आकारादि विशेषों का भगवान् में सांकर्य सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् सराग वीतरागवत् चेष्टा करें और वीतराग सरागवत् चेष्टा करें इसे संकर कहते हैं। यह संकर दोष भगवान् में संभव नहीं है क्योंकि उनके विचित्र अभिप्राय नहीं पाया जाता है। अर्थात् सराग यथार्थ अभिप्राय वाले हैं और वीतराग अयथार्थ विचार वाले हैं यह बात गलत है। विचित्र अभिप्रायपना तो रागादिमान् अज्ञानी पृथग्जन-साधारण मनुष्य में ही प्रसिद्ध हैं। सर्वदोष रहित वीतराग भगवान् में उसका अभाव है क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् यथार्थ प्रतिपादन के अभिप्राय वाले हैं ऐसा निश्चय पाया जाता है। तथा आप सौगत सभी के अदृश्य-रूप न दिखने वाले विचित्र अभिप्रायों को व्यापारादि सांकर्य हेतुक कैसे निश्चित करेंगे ? अर्थात् अभिप्राय तो आंतरिक हैं अतः उनका बाह्य व्यापारादि कार्यों से निर्णय नहीं किया जा सकता है।

सौगत—'शरीरित्वादि' हेतु से स्वात्मा के समान ही विचित्राभिप्रायता निश्चित है अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग में विचित्राभिप्राय है क्योंकि वे शरीर धारी हैं हम लोगों के समान।

जैन—इसी 'शरीरित्व' हेतु से ही बुद्ध देव के असर्वज्ञपने का निश्चय हो जावे क्या बाधा है ? अर्थात् आपके बुद्ध भी शरीरवान् हैं अतः वे भी असर्वज्ञ हैं ऐसा हम कह सकते हैं ?

१ अन्यथा (ज्ञानवतोपि विसंवादः संभवति चेत्) । २ सुगतस्य । ३ ज्ञानवति । ४ सरागो वीतरागवद्वीतरागश्च सरागवच्चेष्टते इति साङ्कर्यम् । ५ (विचित्राभिसन्धितायाः) । ६ (विचित्राभिसन्धितायाः) । ७ सौगतः । ८ सर्वज्ञस्यासर्वज्ञस्य वा । ९ सौगतः प्राह ।—सर्वज्ञे वीतरागे विचित्राभिप्रायोस्ति, शरीरित्वादस्मदादिवत् । १० स्याद्वादी । ११ सुगते । १२ शरीरित्वादेरित्यस्य । १३ शरीरी चास्तु सर्वज्ञश्चेति सन्दिग्धा विपक्षाद्व्यावृत्तिर्यस्य हेतोः सः । तत्त्वात ।

(1) अविश्वास । (2) सरागवीतरागाभिप्रायः यथार्थायथार्थप्रतिपादनाभिप्रायः । (3) सौगतोऽनुमानं रचयति । भगवान् पक्षः विचित्राभिप्रायवान् भवतीति साध्यो धर्मः । शरीरित्वादेः । यः शरीरी स विचित्राभिप्रायवान् यथास्मदादिः । दि. प्र. । (4) तत्र सुगते शरीरित्वादिर्हेतोरस्य विपक्षात् । व्यावृत्तिकत्वं संदिग्धं व्यावर्तते न व्यावर्तते चेति संदेहः । यः विचित्राभिप्रायवान् नास्ति स शरीरी नास्ति । इति विपक्षलक्षणं । तत्र संदेहः कथं । कश्चिद्विचित्राभिप्रायरहितोऽपि शरीरीति सौगतो वदति अतस्तस्य असर्वज्ञत्वस्य निश्चयो न । शरीरी च भवति सर्वज्ञश्च भवति । अत्र विरोधो नास्ति कस्मात् ? विज्ञानोत्कृष्टत्वे पुरुषे वचनादिविनाशानुपलंभात् । दि. प्र. । (5) विचित्राभिप्रायरहितत्व । (6) संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं कथमित्याशंकायामाह ।

स्यात्सर्वज्ञश्च, विरोधाभावात्[1], [१]विज्ञानप्रकर्षे [2]शरीराद्यपकर्षादर्शनादिति चेत्तत[२] एव [3]सर्वज्ञस्य विचित्राभिप्रायतानिश्चयोपि मा भूत्, तत्रापि प्रोक्तहेतोः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाविशेषात्[4]। [३]सोयं विचित्रव्यापारादिकार्यदर्शनात्सर्वस्य विचित्राभिसन्धितां निश्चिनोति, न पुनः कस्यचिद्वचनादिकार्यातिशयनिश्चयात् सर्वज्ञत्वाद्यतिशयमिति[5] [४]कथमनुन्मत्तः ? [6]कैमर्थक्याच्चा[५]स्य[६] सन्तानान्तरस्वसन्तानक्षण[7]क्षयस्वर्गप्रापणशक्त्या[७]देर्विशेषस्येष्टिः ? विप्रकृष्टस्वभावत्वाविशेषात्[8], [८]वेद्यवेदकाकाररहितस्य [9]वेदनाद्वैतस्य वा विशेषस्य[९]

बौद्ध—हमारे बुद्ध में इस हेतु से असर्वज्ञता की सिद्धि नहीं है क्योंकि यह हेतु बुद्ध में संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक है। शरीरी भी होवें और सर्वज्ञ भी होवें इस प्रकार से इसमें विरोध का अभाव है क्योंकि विज्ञान का प्रकर्ष होने पर शरीरादिक का अपकर्ष नहीं देखा जाता है।

जैन—इसी हेतु से सर्वज्ञ के विचित्राभिप्रायता का निश्चय भी मत होवे क्योंकि सर्वज्ञ में भी यह हेतु संदिग्धविपक्षव्यावृत्ति वाला है।

आप बौद्ध विचित्र व्यापारादि कार्यों के देखने से सभी के विचित्र अभिप्रायपने का निश्चय तो कर लेते हैं, किन्तु किसी जीव में वचनादि कार्यों के अतिशय का निश्चय देखकर भी सर्वज्ञत्व आदि अतिशय को नहीं मानते हुये आप उन्मत्त कैसे नहीं हो सकते हैं अर्थात् आप बुद्धिमान् कैसे कहे जा सकते हैं ? 'शारीरिक और वाचनिक कार्यों में संवादकत्व आदि संकरता के देखने से आप्त निश्चित नहीं हैं ऐसा हम नहीं कह सकते हैं किन्तु आपके सर्वज्ञ का स्वभाव विप्रकृष्ट है, प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। इसलिए अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं हैं ऐसा हम कह सकते हैं।' इस प्रकार बौद्ध के कहे जाने पर जैनाचार्य कहते हैं कि—

आप सौगत संतानांतर (भिन्न-२ यज्ञदत्त, देवदत्त की संतान) और अपने संतान में क्षणक्षयी शक्ति का और स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली शक्ति आदि की विशेषता का निश्चय भी किस हेतुसे करेंगे ? क्योंकि दोनों में विप्रकृष्ट-दूरवर्ती स्वभाव समान ही है एवं वेद्य (ज्ञेय) वेदकाकार (ज्ञानाकार) से रहित संवेदनाद्वैत में विशेषता का निश्चय भी किस प्रकार से होगा ? अथवा जो विशेष प्रमाणभूत, जगद्धितैषी, शास्ता, रक्षक है और शोभन अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं अथवा संपूर्ण अवस्था को प्राप्त हैं या पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) के न होने से सुष्ठु-सुगति को प्राप्त हैं ऐसे सुगत हैं। इस प्रकार इन विशेष नाम

१ विरोधाभावे हेतुमाह। २ जैनः। ३ सौगतः। ४ बुद्धिमान्। ५ किं लिङ्गमाश्रित्येत्यर्थः। ६ सौगतस्य। ७ सन्तानान्तरो देवदत्तयज्ञदत्तसन्तानः। स्वस्य आत्मनः सन्तानश्च। तयोः क्षणक्षयिणी या शक्तिः स्वर्गप्रापणस्य च या शक्तिस्तदादेर्विशेषस्येष्टिर्निश्चितिर्निरर्थिका भवति। कुतः ? दूरतरस्वभावत्वात्, उभयत्र सर्वज्ञत्वाद्यतिशये उक्तविशेषस्येष्टौ च विशेषाभावात्। ८ ज्ञानाद्वैतवादिनं प्रति जैनस्योक्तिः। ९ कैमर्थक्यादिष्टिरिति पूर्वेणान्वयः।

(1) असर्वज्ञनिश्चयो न शरीरी भूत्वापि सर्वज्ञोऽस्ति। (2) इंद्रिय। (3) सर्वस्य इति पा०। (4) शरीरित्वादिहेतोर्विचित्राभिप्रायतां न निश्चिन्मः किन्तु विचित्रव्यापारादिदर्शनादित्यत आह। (5) न निश्चिनोति। (6) व्यापारव्याहारादिकार्यसंवादकत्वादिसांकर्य दर्शनादाप्तत्वं न निश्चीयते इति नोच्यते किंतु विप्रकृष्टस्वभावत्वादित्युक्ते। (7) सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्। (8) द्वैतवादिनं बौद्धं प्रति। (9) संवेदनाद्वैतस्य इति पा.।

प्रमाणभूतस्य[१] जगद्धितैषिणः शास्तुस्तायिनः[1] शोभनं[2] गतस्य [3]सम्पूर्णं वा गतस्य पुनरनावृत्त्या[4] सुष्ठु वा गतस्य [२]विशेषस्येष्टिः ? [३]सर्वत्रानाश्वासाविशेषात् । [४]**न चैवं [५]वादिनः किञ्चिदनुमानं नाम, [5]निर[६]भिसन्धीनामपि बहुलं [6]कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्, [7]सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे [७]क्वचिदुपलब्धस्य[८] तदभावे प्रायशोनुपलब्धस्य [९]मण्यादिकारणकलापेपि संभवात् । [8]यज्जातीयो [9]यतः संप्रेक्षितस्तज्जातीयात्तादृगिति दुर्लभनियमतायां धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभावः कथमिव निर्णीयेत ? वृक्षः, शिंशपात्वादिति[१०]**

वाले सुगत की विशेषता का निर्णय भी कैसे होगा ? पुनः कपिल, सुगत, अर्हत आदि सभी में अविश्वास समान ही रहेगा क्योंकि सर्वज्ञत्वादि के अतिशय में संवेदनाद्वैत गुण में और सुगत के गुण में निर्णय न होने से समानता ही है ।

इस प्रकार से कहने वाले बौद्धों के यहाँ अनुमान नाम की कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी क्योंकि अभिप्राय रहित (अचेतन अग्नि आदि) में भी बहुधा कार्य हेतु और स्वभाव हेतु का नियम नहीं देखा जाता है । काष्ठादि सामग्री विशेष कारण के होने पर कहीं अग्नि की उपलब्धि होती है और कारण विशेष सामग्री के अभाव में प्रायः अनुपलब्धि है फिर भी मणि-सूर्यकांतमणि आदि कारण कलाप के होने पर अग्नि भी संभव है । जो जिस जाति वाला जिससे उत्पन्न हुआ देखा जाता है उस जाति वाले से ही वह वैसा होता है । इह प्रकार का नियम दुर्लभ होने पर धूमकेतु-अग्नि आदि में भी व्याप्य-व्यापक भाव का निर्णय कैसे होगा ? यह वृक्ष है क्योंकि शिंशपा है, इसी प्रकार "यह वृक्ष है क्योंकि इसमें आम्रत्व है" उसी प्रकार आम्रलता में भी कहीं-कहीं आम देखे जाते हैं । पुनः बुद्धिमान् का मन किस प्रकार से निःशंक (संदेह रहित) हो सकेगा ? अतः विदग्ध-चतुर मर्कट जैसे अपनी ही पूंछ का भक्षण कर लेते हैं उसी प्रकार से आप अदृष्ट संशय एकांतवादी भी अपने पक्ष का स्वयं आप ही खंडन कर लेते हैं ।※

सौगत—काष्ठादि सामग्री से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार की देखी जाती है मणि आदि सामग्री से उद्भूत

---

१ प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्ते सुगताय तायिने । (इत्युक्तं बौद्धैः) । २ सुगतकपिलार्हतां मध्ये । ३ सर्वज्ञत्वाद्यतिशये संवेदनाद्वैतगुणे सुगतगुणे चानिर्णयतया विशेषाभावात् । ४ अनुमानात्तद्विशेषेष्टिः स्यादित्युक्ते आह—न चैवमिति । ५ एवं वादिनः सौगतस्य किञ्चिदनुमानं न सम्भवति, निरभिप्रायाणामनुमानानुमेयानां बाहुल्येन कार्यस्वभावरूपयोर्हेत्वोरनिश्चयदर्शनात् । ६ अभिप्रायरहितानामचेतनादीनामग्न्यादीनामित्यर्थः । ७ कारणभूते । ८ अग्नेः । ९ मणिः सूर्यकान्तः । १० इत्यनुमानं च न भवेद्यतः ।

---

(1) रक्षकस्य । (2) शोभनमविद्यातृष्णाशून्यं ज्ञानसन्तानं संप्राप्तस्य सुशब्दस्य शोभनार्थत्वात् सुरूपकन्यावत् । (3) संपूर्णं साक्षाच्चतुरार्यसत्यज्ञानं संप्राप्तस्य सुशब्दस्य संपूर्णवाचित्वात् सुपूर्णकलशवत् । (4) सुष्ठु पुनरनावृत्त्या पुनरविद्यातृष्णाक्रांतचित्तसंतानावृत्तेरभावेन गतस्य सुशब्दस्य पुनरनावृत्त्यर्थत्वात् सुनष्टाक्षरवत् । (5) प्रायशः प्रतिपन्नाग्निधूमादीनामपि । (6) कार्यानुमानस्वभावानुमान । (7) दुर्लभनियमता कुत इत्युक्ते तत्र समर्थनं । (8) यत्प्रकारः । (9) अग्नेः ।

[1]लताचूता[१]देरपि[२] [2]क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावतां किमिव[3] निःशंकं चेतः स्यात् ? [4]तदेतद-दृष्ट[5]संशयैकान्तवादिनां विदग्धमर्कटानामिव स्वलाँगूलभक्षणम्[6] ※। [३]ननु च 'काष्ठादि-सामग्रीजन्योऽग्निर्यादृशो दृष्टो न तादृशो मण्यादिसामग्रीप्रभव इति यज्जातीयो यतो दृष्टः स तादृशादेव न पुनरन्यादृशादपि, यतो धूमपावकयोर्व्याप्यव्यापकभावो न निर्णीयते, [४]तथा यादृशं चूतत्वं वृक्षत्वेन व्याप्तं तादृशं न लतात्वेन, यतः शिंशपात्ववृक्षत्वयोरपि व्याप्यव्यापकभावनियमो दुर्लभः 'स्यात्' इति [६]कश्चित्सोपि [७]प्रतीतेरपलापकः, [८]कार्यस्य [९]तादृशतया प्रतीयमानस्यापि [१०]कारणविशेषातिवृत्ति[7]दर्शनात्[११] ।

अग्नि वैसी नहीं होती है'इसीलिये जिस जाती वाला जिससे होता देखा जाता है वह उस जाति वाले से ही होता है न कि अन्य जाति वाले से। जिससे कि धूम और अग्नि में व्याप्य व्यापक भाव का निर्णय न हो सके अर्थात धूम और अग्नि में व्याप्य व्यापक भाव का निर्णय होता ही है। तथा जिस प्रकार का आम्रत्व वृक्षपने से व्याप्त है उस प्रकार का आम्रत्व लता के साथ व्याप्त नहीं है जिससे कि शिंशपात्व और वृक्षत्व में भी व्याप्य-व्यापक भाव का नियम दुर्लभ होवे अर्थात् दुर्लभ नहीं है।

जैन—इस प्रकार से कहने वाले आप सौगत भी प्रत्यक्ष प्रतीति का अपलाप करने वाले हैं क्योंकि कार्य रूप अग्नि उस प्रकार (सामग्रीजन्य रूप) से प्रतीत होने पर भी कारण विशेष (काष्ठादि) का कहीं पर उल्लंघन करती है ऐसा देखा जाता है जैसे कि मणि आदि से अग्नि की उत्पत्ति सिद्ध है।

भावार्थ—बौद्ध कहता है कि व्यवहार में हम देखते हैं कि कोई सरागी है परन्तु वचन और काय की क्रियाओं को वीतरागी के समान करता है एवं कोई वीतरागी है वह सरागी के समान प्रवृत्ति कर सकता है अतः "ये ही अर्हंत हैं" यह निर्णय भी किसमें हो सकेगा ? और निर्णय न हो सकने से ही आपके अर्हंत सर्वज्ञ हैं यह कहना असंभव है।

इस पर आचार्यों ने कहा कि सभी के मनोभिप्राय हम और आपको दिखते नहीं है तो फिर बाह्य क्रियाओं से उनका निर्णय कैसे होगा ? तब बौद्ध कहता है कि आपके वीतराग भगवान् के शरीर पाया जाता है अतः वे कुटिल-विचित्र मानसिक विचारधाराओं के हो सकते हैं अतएव वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते तब आचार्य ने कहा कि बुद्ध भगवान् को भी शरीर सहित ही आपने माना है अतः यह दोष उनमें भी संभव है।

बौद्ध कहता है कि आपके सर्वज्ञ का स्वभाव प्रत्यक्ष गम्य नहीं है अतः अर्हंत सर्वज्ञ नहीं हो सकते

---

१ न केवलं वृक्षचूतादेः। २ वृक्षो भवितुमर्हति, आम्रत्वात्तथा लतारूपचूतत्वात् (उभयथापि वक्तुं शक्यते)। ३ परः। ४ स्वभावहेतुं मण्डयति सौगतः। ५ अपि तु न स्यादेव। ६ सौगतः। ७ प्रत्यक्षस्य। ८ वन्हेः। ९ काष्ठादिसामग्रीजन्यतया। १० कारणविशेषः काष्ठादिस्तस्यातिवृत्तिरुल्लङ्घनं तस्या दर्शनात्। ११ मण्यादेर्वन्हिदर्शनात्।

---

(1) चूतत्वादित्यर्थः। (2) देशे। (3) न किंचिदनुमानं नाम दुर्लभनियमतायां वृक्षः शिंशपात्वादिति किमिव निःशंकं चेतः स्याद्यतः दुर्लभनियमतापि कुत इत्युक्ते स्वभावेत्यादि हेतुः सोपि कुत इत्युक्ते लताचूतादिरित्यादिसाधनं। (4) अनुमानं न भवेत् यतः। चोद्यं। (5) ईप्। अनुपलब्धवस्तुनि। (6) स्वपक्षक्षतिस्त्याद्यतः। (7) उल्लंघन।

[यत्नेन परीक्षितकार्याणि कारणान्यनुवर्तते]

[1]**यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते इति चेत्**[2] **स्तुतं**[1]※ [3]प्रस्तुतं, [4]व्यापारादिविशेषस्यापि किञ्चिज्ज्ञरागादिमदसंभविनो यत्नतः परीक्षितस्य भगवति ज्ञानाद्यतिशयानतिवृत्तिसिद्धेः[5]। एतेन यत्नतः परीक्षितं व्याप्यं [2]व्यापकं नातिवर्तते इति [6]ब्रुवतापि स्तुतं प्रस्तुतमित्युक्तं वेदितव्यं, पुरुषविशेषत्वादेः स्वभावस्य व्याप्यस्य सर्वज्ञत्वव्यापकस्वभावानतिक्रमसिद्धेस्तद्वदविशेषात्[7]। [3]**ततोयं**[8] **प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्येत्यनुकूलमाचरति**[9]※। [4]मन्दतरधियां धूमादिकमपि परीक्षितुमक्षमाणां [10]ततो धूमध्वजादिबुद्धे-

यह बात कही जा सकती है।

जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! आपके यहां भी प्रत्येक वस्तु की क्षण में क्षय होने वाली शक्ति दिखती है क्या ? मतलब जो चीज दिखती नहीं उनके विषय में भी कुछ न कुछ मान्यता आप रखते ही हैं। उसी प्रकार से यद्यपि सर्वज्ञ का स्वभाव दिखता नहीं है फिर भी अर्हंत ही सर्वज्ञ हैं इसका निर्णय करना ही चाहिये।

[यत्न से परीक्षित कार्य कारण के अनुयायी होते हैं]

बौद्ध—यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करते हैं।

जैन—उक्त बात से तो आपने हमारे इष्ट का ही समर्थन कर दिया है।※ व्यापार व्याहार आदि विशेष भी जो कि किंचिज्ज्ञ रागादिमान् जीवों में असंभवी हैं और यत्न से परीक्षित हैं वे भगवान में सिद्ध ही हैं क्योंकि ज्ञानादि अतिशयों की भगवान् में अबाधित रूप से सिद्धि है। इस प्रकार यत्न से परीक्षित व्याप्य हेतु व्यापक का उल्लंघन नहीं करता है ऐसा कहते हुए आपने भी हमारे प्रकृत का ही समर्थन कर दिया है ऐसा समझना चाहिये। पुरुष विशेषत्व आदि स्वभाव व्याप्य हैं उसका सर्वज्ञत्व व्यापक स्वभाव से अनतिक्रम (अबाधितपना) सिद्ध है जैसे कि यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करते हैं उसी प्रकार पुरुष विशेषत्व आदि व्याप्य सर्वज्ञत्व आदि रूप व्यापक स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करते हैं। दोनों जगह व्याप्य-व्यापक भाव में कोई अंतर नहीं है अर्थात् समानता ही है।

इसलिये यह साध्य का व्यभिचार लक्षण दोष प्रतिपत्ता का अपराध है अनुमान का नहीं, अतः

१ सौगतः। २ जैनः प्राह—त्वया सौगतेन अस्माकमिष्टं कथितम् (समर्थितम्)। ३ प्रकृतम्। ४ (व्याहारादीति पाठान्तरम्)। ५ अनुल्लङ्घनात्। ६ सौगतेन। ७ यथा यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते तथा पुरुषविशेषत्वादिस्वभावो व्याप्यः सर्वज्ञत्वादिरूपव्यापकस्वभावं नातिवर्तते, उभयत्र व्याप्यव्यापकभावयोर्विशेषाभावात्। ८ साध्यव्यभिचारलक्षणः। ९ बौद्धः। १० धूमादिकात्।

(1) समर्थितं। स्याद्वादी वदति हे सौगत ! त्वया अस्माकं प्रस्तुतं प्रारब्धं इष्टं वोक्तं। कस्मात् ? क्षयोपशमज्ञानिनि रागादिमति पुरुषे असंभवी यत्नतः परीक्षितो व्यापारादिविशेषः भगवति ज्ञानाद्यतिशयं नातिवर्तते यतः। दि. प्र.। (2) शिंशपात्वं। वृक्षत्वं। (3) तेन युक्तिशास्त्राविरोधाद्यनेकप्रकारेण। (4) नराणां।

रपि व्यभिचारदर्शनात् । प्रज्ञातिशयवतां तु सर्वत्र परीक्षाक्षमाणां यथा धूमादि पावकादिकं न व्यभिचरति तथा व्यापारव्याहाराकारविशेषः क्वचिद्विज्ञाना[1]द्यतिशयमपीत्यनुकूलाचरणम् । एवं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वं, भगवतोर्हत एव [2]सर्वज्ञत्वं साधयतीत्यभिधाय ।

[सर्वे सत्यहेतवोऽर्हति भगवति एव सर्वज्ञत्वं साधयंति नान्येषु]

[१]**तदेवं तत्[२] सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमर्हत्येव सकलज्ञत्वं साधयति [3]नान्यत्रेत्यविरोध [३]इत्यादिना स्पष्टयति**[4] ※, [४]स्वामीति शेषः, यद्यस्मादविरोधः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं त्वय्येव तस्माच्च [5]त्वमेव स इत्यभिधानसंबन्धात्[6] । स [7]एवाविरोधः कुतः सिद्ध इत्यारेकायां यदिष्टं[8] ते प्रसिद्धेन न बाध्यते इत्यभिधानात् ।

आप बौद्ध हमारे अनुकूल ही आचरण करते हैं ।※

मंदतर बुद्धि वाले पुरुष धूमादि की परीक्षा में भी असमर्थ पाये जाते हैं अतः धूमादिक हेतु से धूमध्वजादि-अग्नि आदि के ज्ञान में उन्हें व्यभिचार दोष दिखाई दे सकता है, किन्तु प्रज्ञातिशय वाले तो सर्वत्र परीक्षा में कुशल होते हैं अतः जैसे उनके धूमादि हेतु पावक के ज्ञानादि में व्यभिचार को नहीं प्राप्त होते हैं । तथैव व्यापार, व्याहार, आकार विशेष किसी जीव में विज्ञानादि अतिशय को सिद्ध ही करते हैं इस प्रकार आपने हमारे अनुकूल ही कथन किया है । अतः युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन भगवान् अर्हंत में ही सर्वज्ञत्व को सिद्ध करते हैं यह अभिप्राय हुआ ।

[सभी हेतु अर्हंत भगवान् को ही सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं अन्य बुद्ध आदि को नहीं]

इस प्रकार वे **पूर्वोक्त सभी हेतु सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण रूप होने से अर्हंत में ही सकलज्ञत्व को सिद्ध करते हैं अन्यत्र नहीं । ऐसा 'अविरोधो' इत्यादि पद से स्वामी समंतभद्राचार्य स्पष्ट करते हैं**※ जिससे कि जो अविरोध रूप "सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्व" है वह आप में ही है इसलिये आप ही वे आप्त हैं इस प्रकार से शब्दों का संबंध है । वे ही अविरोधी-विरोध रहित आप किस प्रमाण से सिद्ध हैं ऐसी आशंका होने पर जो आपका इष्ट (मत) है वह प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है इस प्रकार का अर्थ समझना ।

---

१ युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वाद्यनेकप्रकारेण । २ पूर्वोक्तम् । ३ स त्वमेवेति कारिकोक्तेन । ४ समन्तभद्राचार्यः ।

---

(1) न व्यभिचरतीति योज्यं । (2) एतेन अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति निश्चयाभावे बाधक इत्येतदपि निरस्तं । एवं पूर्वोक्तानां सर्वेषां तीर्थच्छेदसंप्रदायानां बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण निःशेषदोषावरणहानिः कस्यचिन्निश्चेतुं न शक्यते । अतः कथं संभाव्यत इति प्रत्यवस्थानस्य बाधकाभावप्रतिपादनप्रकारेण सामान्येन सर्वज्ञसिद्धावपि अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति कथं निश्चय इत्येवंविधप्रत्यवस्थानस्यापि बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण—दि. प्र. । (3) कपिलादौ—दि. प्र. । (4) तीर्थकृत् समयानां चेति कारिकायां यदस्पष्टतया कथितं सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं तदिदानीं स्पष्टयति स्वामीत्यर्थः । दि. प्र. । (5) निर्दोषः । (6) कारिकायां । (7) अत्राहार्हन् हे समंतभद्राचार्यः ! सः अविरोधः मयि कुतः प्रमाणात् सिद्धः । (8) कारिकास्थितयच्छब्दस्य पूर्वत्रापि संबंधोवगंतव्यः ।

[इच्छामंतरेणापि भगवतः वाचः निर्दोषाः संति]

[1]तत्रेष्टं [2]मतं [3]शासनमुपचर्यते[1], [2]निराकृतवाचोपि [4]क्वचिदविप्रतिषेधात्[3] ।* न पुनरिच्छा विषयीकृतमिष्टं, प्रक्षीणमोहे भगवति मोहपर्यायात्मिकायास्तदिच्छायाः[5] संभवाभावात् । तथा हि । नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तं, प्रणष्टमोहत्वात् । यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तं, न स प्रणष्टमोहो यथा किञ्चिज्ज्ञः । प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः[6] साधितस्तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम् । इति केवलव्यतिरेकी हेतुर्निराकृतवाचं[7] साधयति, अव्यभिचारात् । [8]न सर्वविदिच्छामन्तरेण वक्ति, वक्तृत्वादस्मदादिवदित्यनेन निराकृतवाचो [4]विप्रतिषेध इति चेन्नायं[9] नियमोस्ति ।

[इच्छा के बिना भी भगवान् के वचन निर्दोष हैं]

उन भगवान् में 'इष्ट-मत-शासन' अर्थात् आगम का उपचार किया जाता है । क्योंकि निरभिप्राय वचनों का भी कहीं पर अविरोध देखा जाता है । *अर्थात् अभिप्राय रहित वचन भी कहीं-कहीं विरोध रहित पाये जाते हैं ।

इच्छा को विषय करने वाला "इष्ट" शब्द है ऐसा नहीं कहना क्योंकि प्रक्षीण मोह-मोहनीय कर्म रहित भगवान् में मोह की पर्याय स्वरूप इच्छा संभव नहीं है । तथाहि "सर्वज्ञ को अपना मत प्रकाशन करने की इच्छा नहीं है क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का नाश हो गया है । जिसको शासन प्रकाशन की इच्छा है वह मोहरहित नहीं है जैसे कि किंचिज्ज्ञ (अल्पज्ञ) पुरुष, और सर्वज्ञ मोह रहित हैं यह बात प्रमाण से सिद्ध कर दी गई है । इसीलिये सर्वज्ञ को शासन प्रकाशन की इच्छा नहीं है ।" इस प्रकार केवलव्यतिरेकी हेतु अभिप्राय रहित वचन को सिद्ध करता है क्योंकि इस हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है ।

भावार्थ—'इषु' धातु इच्छा अर्थ में है और यहां भगवान् के शासन को 'इष्ट' शब्द से कहा गया है इसलिये यह प्रश्न स्वाभाविक है कि भगवान् के वचन इच्छा पूर्वक ही होते होंगे क्योंकि उन्हें अपने मत को प्रकाशित करने की विश्व में सर्वतोमुखी फैलाने की इच्छा अवश्य होगी तभी तो उनका 'मत' इष्ट शब्द से कहा गया है । इस पर जैनाचार्यों ने समझाया है कि सर्वज्ञ भगवान् के वचन इच्छापूर्वक नहीं होते हैं क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का नाश हो गया है ।

---

१ भगवति । २ भगवानागमं कथयति परन्तु इच्छामन्तरेण कथयति । इष्टमिच्छ विषयीकृतमिति भगवत्युपचर्यते । अत्राह नैयायिकः ।—भो स्याद्वादिन् इच्छां विना वचनप्रवृत्तिर्न भवेत् । तदुपरि जैनः प्राह ।—भो नैयायिक निराकृतवाचोपि (निरभिप्रायायाः वाचोपि) क्वचिदविप्रतिषेधात् (इच्छां विनापि वचनस्योत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्) । ३ आगमः । ४ सुषुप्तपुरुषादौ । ५ शासनप्रकाशनेच्छायाः । ६ दोषावरणयोर्हानिरित्यादिना । ७ (निरभिप्रायवचनम्) । ८ नैयायिकः प्राह । ९ जैन आह ।

---

(1) मित्युपचर्यते इति पा. । भगवति इच्छायाः वचनलक्षणप्रयोजनसद्भावात् इष्टमिति व्यवहारस्य निमित्तत्वात् अमुख्यत्वात् चोपचारतः प्रयोजनं प्रवर्तनं । (2) निरभिप्रायाः । (3) अनिवारणात् । (4) विरोधः ।

[सर्वज्ञवचनानीच्छापूर्वकान्येवेति मन्यमाने को दोषस्तस्य समाधानं]

[१]तदभ्युपगमे को दोष इति चेत्, **नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि [1]निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्** ※ । न हि सुषुप्तौ [२]गोत्रस्खलनादौ [2]वाग्व्याहारादिहेतुरिच्छास्ति[3] । [4]**प्रतिसंविदिता[३]-कारेच्छा[5] तदा संभवन्ती पुनः स्मर्येत वाञ्छान्तरवत्** ※ । न [6]ह्यप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवति या पश्चान्न [४]स्मर्यते । [५]पूर्वकालभाविनीच्छा[६] तदा वागादिप्रवृत्तिहेतुरप्रतिसंविदि-

नैयायिक—"सर्वज्ञ भगवान् इच्छा के बिना नहीं बोलते हैं क्योंकि वे वक्ता हैं हम लोगों के समान।" इस अनुमान से निरभिप्राय वचनों का विरोध सिद्ध हो जाता है। अर्थात् अभिप्राय रहित कोई पुरुष वचन नहीं बोल सकते।

जैन—यह नियम नहीं है कि वचन इच्छापूर्वक ही हों।

[सर्वज्ञ के वचन इच्छापूर्वक ही होते हैं ऐसी मान्यता में क्या दोष है ? इसका समाधान]

नैयायिक— वचन को इच्छा सहित मानने में क्या दोष है ?

जैन—**ऐसा नियम स्वीकार करने पर सोये हुये पुरुष आदि में भी अभिप्राय रहित वचनों की प्रवृत्ति नहीं होगी**※ ।

सोये हुये पुरुष में और गोत्रस्खलन आदि में वचन व्यावहार आदि इच्छा हेतुक नहीं हैं। अर्थात् किसी के दो पुत्र हैं कमल और विमल। सामने खड़े हुये कमल को देखते हुये और बुलाते हुये पिताजी ने कहा कि बेटा विमल इधर आओ ! उनका अभिप्राय कमल को बुलाने का था किन्तु अकस्मात् मुख से 'विमल' निकल गया इसे ही गोत्र-नाम स्खलन कहते हैं। इस गोत्र स्खलन में इच्छा रहित वचन देखे जाते हैं।

उस काल में प्रति संविदिताकार इच्छा होती हुई संभव है पुनः भिन्न वाञ्छाओं के समान उसका स्मरण होना चाहिये※ ।

अप्रतिसंविदिताकार इच्छा संभव नहीं है जिसका कि पश्चात् में स्मरण न किया जावे किन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् सम्यग्ज्ञानाकार ही इच्छा संभव है अन्य नहीं ! पूर्वकाल संभाविनी—जाग्रत अवस्था में होने वाली इच्छा उस काल में वचन आदि की प्रवृत्ति में हेतु है और वह अप्रतिसंविदिताकार रूप से

१ पर आह। वाच इच्छापूर्वकत्वाभ्युपगमे। २ गोत्रं नाम। ३ प्रतिवचननियतत्वेन (जाग्रद्दशायां) संविदित आकारो यस्याः सा। ४ किन्तु सम्यग्ज्ञानाकारा एवेच्छा संभवतीति नान्या। ५ परः। ६ पूर्वकालो जाग्रदवस्था।

(1) अस्ति च तत्र निरभिप्रायप्रवृत्तिः। (2) व्यवहारादि इति पा.। व्यापार। (3) सुषुप्तावपि इच्छापुरस्सरत्वेन प्रवृत्तिर्भविष्यतीत्याह। (4) विकल्पद्वयं मनसिकृत्य ब्रूते। भो बौद्ध ! प्रति संविदिताकारेच्छा तदा संभवंती वाक्प्रवृत्ति-हेतुरिति ब्रूषे चेदिच्छांतरवत्तदा स्मर्येत नास्ति च तथा स्मरणं। (5)स्याद्वादी वदति। तदा-सुषुप्त्यादौ सम्यग्ज्ञाताकारा इच्छा उत्पद्यमाना पुनरपि स्मर्यते यथा जाग्रदवस्थायां उत्पद्यमाना वांछा स्मर्यते। एतावता किमायातं सुषुप्त्यादौ वाग्व्यापारो वांछापूर्वको न भवतीत्यर्थः। दि. प्र.। (6) प्रतिसंविदिताकारेच्छाया अभावे अप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवतीत्युक्ते आह।

ताकाराऽनुमेया सम्भवत्येवेति चेत् किं पुनस्तदनुमानम् ? [1]विवादाध्यासिता वागादिप्रवृत्ति-

अनुमान ज्ञान के विषयभूत संभव ही है। यदि ऐसा कहो तो वह अनुमान क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर बौद्ध उत्तर देता है। अर्थात् यहां दो विकल्पों को मन में रख कर कहते हैं कि हे बौद्ध ! प्रतिसंविदिताकार इच्छा उस काल में संभव होती हुई वचन प्रवृत्ति में हेतु है यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो भिन्न इच्छाओं के समान उस समय उसका स्मरण होना चाहिये किन्तु उस प्रकार से स्मरण होता नहीं है। प्रतिवचन रूप नियम होने से जाग्रत अवस्था में जिसका आकार जाना हुआ रहता है उसे प्रतिसंविदिताकार कहते हैं। स्याद्वादी कहता है कि उस समय सोते हुये आदिजनों में सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा उत्पन्न होती हुई पुनरपि स्मरण में आती है जैसे कि जाग्रत अवस्था में उत्पन्न होती हुई वांछा स्मृति में आती है इससे क्या निष्कर्ष निकला ? सोती हुई आदि अवस्था में वचन व्यापार इच्छा पूर्वक नहीं होता यह अभिप्राय समझना चाहिये।

कोई कहे कि प्रतिसंविदिताकार इच्छा के अभाव में अप्रतिसंविदिताकार इच्छा संभव है ऐसा कहने पर उत्तर देते हैं कि अप्रतिसंविदिताकार इच्छा संभव नहीं है जो पश्चात् स्मरण में नहीं आ सकती है किन्तु सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा ही संभव है अन्य सम्भव नहीं है।

विशेषार्थ—उस समय जो पहले इच्छा की थी वही इच्छा होती हुई वहां (स्वप्न में) या गोत्रस्खलन में स्मरण की जाती है। जिस इच्छा का संस्कार पहले नहीं है वह संभव न होने से वहां स्मरण नहीं की जाती।

शंका—पूर्वकाल में होने वाली इच्छा उस समय वचन आदि की प्रवृत्ति में कारण है। अतः जो इच्छा पहले नहीं हुई है वह इच्छा भी वहां उत्पन्न होती है इसका भी हम अनुमान कर सकते हैं।

प्रतिशंका—यदि ऐसा है तो बताइये वह अनुमान क्या है ?

समाधान—(वह अनुमान इस प्रकार है) स्वप्न काल में होने वाली वचन आदि की प्रवृत्ति इच्छा पूर्वक होती है क्योंकि वह वचन आदि की प्रवृत्ति है प्रसिद्ध इच्छा पूर्वक होने वाली वचन आदि की प्रवृत्ति के समान।

वादी यह कहना चाहता है कि सर्वज्ञ विना इच्छा के उपदेश, विहार आदि नहीं कर सकता है क्योंकि हम सर्वसाधारण वक्ता तो इच्छा पूर्वक ही बोलते हुये पाये जाते हैं। इसके उत्तर में जैनों का कहना है कि यह कोई नियम नहीं है क्योंकि सोते समय मनुष्य बड़बड़ाता रहता है या हम कहना कुछ चाहते हैं और हमारे मुंह से कुछ निकलता है। इन दोनों स्थितियों में हमारी इच्छा कारण नहीं है।

ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि जाग्रत् अवस्था में हमने जो इच्छा की थी वही वहां साकार होकर स्मरण में आ जाती है। जाग्रत् मनुष्य के जिस प्रकार की इच्छा होती है वैसी इच्छा वहां सम्भव नहीं है अतः वादी का यह अनुमान करना कि "पूर्व कालिक इच्छा ही पुनः संस्कार में आकर वागादि प्रवृत्ति का कारण बन जाती है" गलत है।

१ (परः प्राह) स्वप्नसमयिकी।

रिच्छापूर्विका, वागादिप्रवृत्तित्वात् प्रसिद्धेच्छापूर्वकवागादिप्रवृत्तिवदिति चेन्न, हेतोरप्रयोजकत्वात्। [१]यथाभूतस्य[1] हि जाग्रतोनन्यमनसो वा वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विका प्रतिपन्ना देशान्तरे कालान्तरे च तथाभूतस्यैव तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्विका साधयितुं शक्या न पुनरन्यादृशो[१]तिप्र[2]सङ्गात्[3]। न च सुषुप्तस्यान्यमनस्कस्य वा तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तावगता[4], तदवगतेरसंभवात्। [३]सा हि [४]स्वसन्ताने[5] तावन्न [6]संभवति, सुषुप्त्यादिविरोधात्। [५]सुषुप्तोन्यमनस्कश्च प्रवृत्तिमिच्छापूर्विकामवगच्छति चेति [7]व्याहतमेतत्। पश्चादुत्थितोवगच्छतीति चेदिदमपि [६]तादृगेव। [७]स्वयमसुषुप्तोनन्यमनाश्च सुषुप्तान्यमनस्कप्रवृत्तिमिच्छापूर्वकत्वेन [8]व्याप्तामवगच्छतीति [८]ब्रुवाणः कथमप्रतिहतवचनपथः स्वस्थैरास्थीयते[९] ? तदानु-

---

"विवाद में आई हुई (स्वप्न में होने वाली) वचन आदि प्रवृत्तियां इच्छा पूर्वक होती हैं क्योंकि वे वचन आदि प्रवृत्तियां हैं संसार में प्रसिद्ध इच्छा पूर्वक वचन आदि की प्रवृत्ति के समान।"

जैन—नहीं। आपका हेतु अप्रयोजक है क्योंकि जिस प्रकार जाग्रत् मनुष्य या अनन्य मनस्क-सावधान मनुष्य की वचनादि प्रवृत्तियां इच्छा पूर्वक मानी गई हैं। वैसे ही देशान्तर और कालान्तर में भी जीवों की वचनादि प्रवृत्तियां इच्छा पूर्वक सिद्ध करना शक्य है, किन्तु अन्य—सोते हुए या अन्यमनस्क जीवों के इच्छा पूर्वक सिद्ध करना शक्य नहीं है अन्यथा अति प्रसंग दोष आ सकता है। अर्थात्—गोपाल घटिकादि धूम भी अग्नि के गमक हो जावेंगे। अथवा "सन्निवेशमात्रत्वात्" हेतु पृथ्वी आदि बुद्धिमद् हेतुक हो जावेंगे।

सुषुप्त अथवा अन्यमनस्क जीव की वचनादि प्रवृत्तियां इच्छापूर्वकत्व से व्याप्त नहीं है। उसके साथ उसकी व्याप्ति असंभव है। क्योंकि वह व्याप्ति स्वसंतान-सुषुप्त संतान में सम्भव नहीं है अन्यथा सुषुप्ति आदि का विरोध हो जावेगा। कोई सोता भी अथवा अन्य मनस्क भी हो और वचन प्रवृत्ति—वचनों को इच्छा पूर्वक करे यह बात विरुद्ध है। यदि कहो कि पश्चात् उठकर जानता है तो वह ज्ञान भी उसी प्रकार विरुद्ध ही है।

स्वयं जो जाग्रत् अवस्था में हैं अथवा अनन्यमनस्क—सावधान हैं ऐसे मनुष्य सुषुप्त और अन्यमनस्क (विक्षिप्त मनस्क) की प्रवृत्ति को "इच्छा पूर्वक" से व्याप्त मानते हैं ऐसा कहते हुये आप नैयायिक अबाधित वचन वाले हैं। इस प्रकार से स्वस्थ पुरुषों के द्वारा आप आदर कैसे प्राप्त कर सकेंगे ?

---

१ (जैनोऽप्रयोजकत्वं दर्शयति)। २ गोपालघटिकादिधूमस्याप्यग्निगमकत्वं स्यादित्यतिप्रसङ्गः। विपाणिनी वाग्, गोशब्दवाच्यत्वादित्यतिप्रसंगे टिप्पणान्तरमिदम्। ३ (इच्छापूर्वकत्वेन सह व्याप्तत्वावगतिः)। ४ सुषुप्तसन्ताने। ५ विरोधमेवाह। ६ व्याहतमेव। ७ (व्याहतिं दर्शयति)। ८ नैयायिकः। ९ आद्रीयते।

---

(1) यथास्थितस्य। (2) सुषुप्तस्यान्यमनसो वा। (3) संनिवेशमात्रात् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वप्रसंगात्। (4) क्वचिद् व्यक्तौ। (5) आह सौगतः। सा इच्छा स्वसंताने सुषुप्तस्य सुषुप्तत्वलक्षणे नोत्पद्यते चेत्तदा सुषुप्तादि विरुद्ध्यते एवं सति किमायातं। स्याद्वाद्याह। हे सौगत ! सुषुप्तः अन्यमनाः इच्छापूर्विकां प्रवृत्तिं जानाति इति वचो विरुद्धं अथ पश्चादुत्थितः सन् जानाति। इदमपि विरुद्धं। दि. प्र.। (6) अन्यथा। (7) विरुद्धं। (8) प्रत्यक्षतया।

मानात्तदवगतेरदोष इति चेन्न, अनवस्थाप्रसङ्गात्, [1]तदनुमानस्यापि व्याप्तिप्रतिपत्तिपुरस्सरत्वात् तद्व्याप्तेरप्यनुमानान्तरापेक्षत्वात्, सुदूरमपि गत्वा [1]प्रत्यक्षतस्तद्व्याप्तिप्रतिपत्तेरघटनात् । [2]एतेन सन्तानान्तरे [3]तद्व्याप्तेरवगतिरपास्ता, अनुमानात्तदवगतावनवस्थानाविशेषात्, प्रत्यक्षतस्तदवगतेरसंभवाच्च । इति नानुमेया सुषुप्त्यादाविच्छास्ति तत्काला पूर्वकाला वा, तदनुमानस्यानुदयात् । [4]तथा च सर्वज्ञप्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वे साध्ये वक्तृत्वादेर्हेतोः[5] सुषुप्त्यादिना व्यभिचारात्तदनियम[6] एव । [7]**ततश्चैतन्यकरण[8]पाटवयोरेव[2] [9]साधकतमत्वम्** ※ ।

[वक्तुमिच्छापि सर्वज्ञवचने सहकारिणीति मान्यताया निराकरणं]

[10]ननु च सत्यपि चैतन्ये करणपाटवे च वचनप्रवृत्तेरदर्शनाद्विवक्षापि तत्सहकारिकार-

---

नैयायिक—अनुमान से वचनादि प्रवृत्तियों की ऐसी व्याप्ति को मानने में दोष नहीं होगा।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा। वह अनुमान भी व्याप्ति के ज्ञान पूर्वक होगा। वह व्याप्ति भी भिन्न अनुमान की अपेक्षा रखेगी। बहुत दूर भी जा करके प्रत्यक्ष से उस व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी कथन से भिन्न सन्तान में भी उस साध्य-साधन की व्याप्ति का खंडन कर दिया गया है क्योंकि अनुमान से उस व्याप्ति का निर्णय करने में अनवस्था समान ही है और प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान असम्भव ही है।

इस प्रकार से सोते हुये आदि मनुष्यों में तत्कालिक या पूर्वकालिक इच्छा है यह बात अनुमेय नहीं है। उसको सिद्ध करने के लिये किसी भी अनुमान का उदय नहीं है। इसीलिये सर्वज्ञ की प्रवृत्ति को इच्छा पूर्वक सिद्ध करने में वक्तृत्वादि हेतु सुषुप्त आदि पुरुष से व्यभिचरित पाये जाते हैं अतः इच्छा पूर्वक ही वचन होवें ऐसा नियम नहीं रहता है क्योंकि **चैतन्य और इंद्रियों की पटुता ही वचनादि प्रवृत्ति की साधक है**※।

[बोलने की इच्छा भी सर्वज्ञ वचन में सहकारी है इस मान्यता का निराकरण]

शंका—चैतन्य और इंद्रियों की पटुता के होने पर भी वचन प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है किन्तु विवक्षा (कहने की इच्छा) भी सहकारी कारण रूप अपेक्षित रहती है।

समाधान—नहीं। भिन्न-भिन्न सहकारी कारण नियम से अपेक्षित नहीं हैं।

नक्तंचर-उल्लू आदि अथवा अंजन आदि से संस्कृत चक्षु वाले प्रकाश की अपेक्षा न रखकर

---

१ अनवस्थां दर्शयति। २ स्वसन्ताने व्याप्त्यभावसमर्थनेन। ३ साध्यसाधनव्याप्तेः। ४ इच्छाया अननुमेयत्वप्रकारेण। ५ नैयायिकोक्तस्य। ६ वक्तृत्वेच्छापूर्वकत्वयोः (स्वभावकार्यस्वरूपान्यतरनियमाभावः)। ७ चैतन्यं ज्ञानम्। ८ करणं ताल्वादिप्रयत्न इन्द्रियाणि वा। ९ वाक्यप्रवृत्तिं प्रति साधकतमत्वं, सुषुप्त्यादाविच्छापूर्वकत्वाभावेपि वक्तृत्वदर्शनात्। १० परः।

---

(1) अनुमान। (2) योः साधक इति पा.।

णामपेक्ष्यते एवेति चेत्, सहकारिकारणान्तरं न वै [१]नियतमपेक्षणीयं, नक्तञ्चरादेः [२]संस्कृतचक्षुषो वाऽनपेक्षितालोकसन्निधेः[1] रूपोपलम्भात्[2]। न चैव[३] संवित्करणपाटवयोरप्यभावेविवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवृत्तिः प्रसज्यते, संवित्करणवैकल्ये [3]यथाविवक्षं वाग्वृत्तेरभावात् ※। न हि [4]शब्दतोर्थतश्च शास्त्रपरिज्ञानाभावे तद्व्याख्यानविवक्षायां सत्यामपि तद्वचनप्रवृत्तिर्दृश्यते, करणपाटवस्य चाभावे स्पष्टशब्दोच्चारणं[४], [5]बालमूकादेरपि[6] तत्प्रसङ्गात्। ततश्चैतन्यं करणपाटवं च वाचो हेतुरेव नियमतो, न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात्।

[कश्चिन्मन्यते दोषसमूहः सर्वज्ञवचने हेतुस्तस्य निरासः क्रियते जैनैः]

न च [५]दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्तां वाणी[7] नातिवर्तेत,[६] [७]तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावाद्-

भी रूप की उपलब्धि कर लेते हैं। विवक्षा के अभाव में वक्तृत्व का सद्भाव देखा जाता है। इस प्रकार से ज्ञान और इन्द्रियों की कुशलता के अभाव में भी विवक्षा मात्र से किसी की वचन प्रवृत्ति का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि ज्ञान एवं इन्द्रियों की विकलता में विवक्षा मात्र से वचन प्रवृत्ति का अभाव है।※

किसी को शब्द से और अर्थ से शास्त्र के परिज्ञान का अभाव है फिर भी उसको व्याख्यान करने की इच्छा के होने पर भी उस शास्त्र विषयक वचन की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। इंद्रिय की कुशलता के अभाव में स्पष्ट शब्द का उच्चारण भी नहीं हो सकता है अन्यथा बालक मूक आदि भी स्पष्ट शब्दोच्चारण करने लगेंगे। इसीलिए चैतन्य और इंद्रिय की पटुता ही नियम से वचन में हेतु हैं न कि विवक्षा क्योंकि विवक्षा -बोलने की इच्छा के बिना भी सुषुप्त-सोते हुए आदि जनों के वचन प्रवृत्ति देखी जाती है।

[कोई कहता है कि दोषों का समुदाय ही सर्वज्ञ के बोलने में हेतु है, जैनाचार्य इस बात का निषेध करते हैं]

तथैव दोष समूह भी वचन प्रवृत्ति में हेतु नहीं है कि जिससे वाणी उनका उल्लंघन न करे। अर्थात् वाणी दोष समूह का उल्लंघन करती ही है क्योंकि उस दोष समूह के प्रकर्ष अपकर्ष के अनुविधान का अभाव है बुद्धि के समान।※

अष्टशती दिल्ली प्रति एवं मुद्रित प्रति में 'वाणी' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ है कि दोष समूह उस वचन प्रवृत्ति में हेतु नहीं है कि जिससे उस वाणी का उल्लंघन न कर सकें अर्थात् उल्लंघन करते ही हैं।

जिस प्रकार से बुद्धि और शक्ति के प्रकर्ष में वाणी का प्रकर्ष अथवा उनके अपकर्ष में भी वाणी का

१ नियमेन। २ अञ्जनादिना। ३ विवक्षाभावेपि वक्तृत्वसद्भावप्रकारेण। ४ (न हीति पूर्वेणान्वयः)। ५ द्वेषादि। समूहः। ६ किन्तु अतिक्रमेतैव। ७ तस्या दोषजातेः।

(1) सन्निधेरूपो इति पा.। (2) प्रतीतेः। (3) विवक्षानतिक्रमेण। (4) शब्दमाश्रित्य। (5) अन्यथा (6) अन्यथा संवित्करणपाटवाभावे स्पष्टवाक्प्रवृत्तिर्भवति चेत्तदा बालमूकादेरपि भवतु कोऽर्थः। तदा न दृश्यते। दि. प्र.। (7) 'वाणीं' इति पा० दिल्ली अष्टशती प्रतौ मुद्रितप्रतौ च।

बुद्धयादिवत्[1]* । न हि यथा बुद्धेः [2]शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते, तथा दोषजातेरपि, [1]तत्प्रकर्षे[3] वाचोपकर्षात् [4]तदपकर्षे एव [5]तत्प्रकर्षात्, [6]यतो वक्तुर्दोषजातिरनुमीयेत[2] । [3]सत्यपि च रागादिदोषे [4]कस्यचिद्बुद्धेर्यथार्थव्यवसायित्वादि[7]-गुणस्य सद्भावात्[5], सत्यवाक्प्रवृत्तेरुपलम्भात्, कस्यचित्तु वीतरागद्वेषस्यापि बुद्धेरयथा-र्थाध्यवसायित्वादिदोषस्य भावे वितथवचनस्य दर्शनाद्विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोष-वत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा । तदुक्तं-

"विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता[6] । वाञ्छन्तो[8] वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥"

इति । ततः साधूपादेशि[9] [10]'तत्रेष्टं मतं शासनमुपचर्यते' इति ।

अपकर्ष प्रतीति में आता है उसी प्रकार से दोष जाति के प्रकर्ष में वाणी का प्रकर्ष और अपकर्ष में अपकर्ष प्रतीत नहीं होता है, प्रत्युत दोषों के प्रकर्ष होने पर वचन में अपकर्ष और दोषों की हानि होने पर वचन में प्रकर्ष (वृद्धि की विशेषता) देखा जाता है जिससे कि आप वक्ता में दोषों का अनुमान कर सकें अर्थात् वक्ता में दोषों का अनुमान नहीं कर सकते हैं । मतलब "वचन प्रवृत्ति दोषों का उल्लंघन नहीं करती है— दोष सहित होती है क्योंकि वह वचन प्रवृत्ति है हम लोगों की वचन प्रवृत्तियों के समान" ऐसे अनुमान से आप वक्ता में दोषों की कल्पना नहीं कर सकते हैं क्योंकि दोषों के अभाव में ही वचनों की विशेषता देखी जाती है ।

रागादि दोष के होनें पर भी किसी की बुद्धि में यथार्थ जानना आदि गुणों का सद्भाव होनें से सत्यवाक् प्रवृत्ति की उपलब्धि है और किसी राग द्वेष रहित की भी बुद्धि में अयथार्थ निश्चय करने रूप दोषों का सद्भाव होने पर असत्य वचन देखे जाते हैं इसलिये विज्ञान गुण और दोष के द्वारा ही वचन प्रवृत्ति में गुण और दोषपना व्यवस्थित होता है न पुनः विवक्षा से अथवा दोषों से । कहा भी है—

श्लोकार्थ—वचन प्रवृत्ति में विज्ञान गुण और दोष के द्वारा ही गुण व दोषपना देखा जाता है क्यों कि शास्त्रों के विषय में मंदबुद्धि रखने वाले जन वक्तृत्व को चाहते हुये भी वक्ता नहीं बन सकते हैं इस-लिये ठीक ही कहा है कि भगवान् में इष्ट-मत-शासन शब्द उपचरित रूप से है ।

भावार्थ—किसी का कहना है कि भगवान के वचन इच्छा पूर्वक ही होते हैं । इस पर जैनाचार्यों ने

---

१ (व्यतिरेकी दृष्टान्तः) । २ करणपाटवस्य । ३ (तथा दोषजातेरपि प्रकर्षापकर्षयोर्वाक्प्रकर्षापकर्षौ न हीत्यत्र हेतुमाह ।) ४ तस्या दोषजातेः । ५ तस्या वाचः । ६ कुतः ? अपि तु न कुतोपि । ७ आदिशब्देन समारोपव्य-वच्छेदादिग्रहणम् । ८ वक्तृत्वम् । ९ प्रागुपादिष्टम् । १० भगवति ।

---

(1) वर्द्धमानसद्भावे वाचः असद्भावो घटते । तस्या असद्भावे वाचः सद्भावो घटते इति हेतुद्वयात् । वक्तुर्दोष-जातिर्यतः कुतः अनुमीयेत न कुतोपि । दि. प्र. । (2) वाक्प्रवृत्तिर्दोषजातिं नातिवर्तते वाक् प्रवृत्तित्वात् अस्मदादि-वाक्प्रवृत्तिवत् । (3) किंच "विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता" नान्यत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां समर्थयमानः प्राह । सत्यपिचेति । दि. प्र. । (4) नुः । ता ।(5) भावे इति पा. ।(6) गुणदोषौ विद्येते यस्याः सा गुणदोषा मत्वर्थे आशीदेरः ।

स्पष्ट कह दिया है कि लोक व्यवहार में भी सोते हुये मनुष्य के वचन और गोत्रस्खलन आदि के वचन विना इच्छा के ही देखे जाते हैं। उसने कहा कि सोने के पहले जाग्रत अवस्था में इच्छा थी तो आचार्य ने इसका भी निराकरण कर दिया है और इस वात को सिद्ध कर दिया है कि आत्मा में ज्ञान और इंद्रियों की कुशलता ही वचन प्रवृत्ति में हेतु है। तव फिर शंकाकार का कहना है कि ज्ञान और इंद्रियों की कुशलता के होने पर वचन नहीं भी देखे जाते हैं। यदि उसके बोलने की इच्छा नहीं है अतः बोलने की इच्छा तो वचन प्रवृत्ति में सहकारी कारण है ही है।

पुनश्च आचार्य इस वात को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि उल्लू विल्ली आदि प्राणी अंजनगुटिका सिद्ध करने वाले अंजन चोर आदि विना प्रकाश के पदार्थों को देख लेते हैं। हम संसार में ज्ञान और इंद्रियों की पटुता के विना बोलने की इच्छा मात्र से भी किसी में वचन प्रवृत्ति नहीं देखते हैं किसी को बोलने की, सभा में व्याख्यान करने को तो इच्छा वहुत है किन्तु न तो शास्त्रों का किंचित् भी ज्ञान ही है और न ही आँखों से अक्षर शुद्ध पढ़ना आता है, न कान से स्पष्ट सुनना आता है और न ही स्पष्ट वाणी का उच्चारण ही कर सकता है। अतः क्या वह बोलने की इच्छा मात्र से कुशल वक्ता कहलायेगा? वालकों को शब्द से या अर्थ से दोनों तरह से भी शास्त्र ज्ञान नहीं है अथवा गूंगे मनुष्य, वहरे या अन्धे मनुष्य पढ़ने, लिखने और बोलने में असमर्थ हैं किन्तु व्याख्यान की इच्छा तो उनमें भी हो सकती है क्या वे कुशल वक्ता कहला सकते हैं? इसलिये भाई! प्रतिभाशक्ति रूप ज्ञान, क्षयोपशमज्ञान या पूर्णज्ञान की विशेषता और इंद्रियों की कुशलता ही वचन बोलने में-उपदेश देने में हेतु है न कि बोलने की इच्छा मात्र।

कोई और बुद्धिमान् निकले तो उन्होंने कह दिया कि दोषों का समुदाय ही वचन प्रवृत्ति में हेतु है और आप के भगवान् वक्ता हैं इसलिये निर्दोष सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! दोषों के साथ वचनों का अन्वय व्यतिरेक तो है नहीं। मतलव – दोषों की वृद्धि में वचनों की विशेषता पाई जावे और दोषों के अभाव में वचनों का अभाव होवे ऐसा नियम तो है नहीं, प्रत्युत इससे विपरीत ही देखा जाता है कि दोषों की मंदता—तरतमता में वचनों की विशेषता और दोषों की वहुलता में वचनों की असभ्यता–अकुशलता ही व्यवहार में दिखती है। अतः ज्ञान के गुण और दोषों से ही वचनों में सत्यता, असत्यता पाई जाती है इसलिये निर्दोष—राग, द्वेष, मोह, आदि अठारह दोषों से रहित सर्वज्ञ परमेष्ठी ही सच्चे हितोपदेशी हो सकते हैं। एवं उनके वचनों में इच्छा या दोष आदि कारण नहीं हैं प्रत्युत भव्यों का पुण्य विशेष और सर्वज्ञ के तीर्थकर नाम कर्म का उदय विशेष ही भगवान् की दिव्यध्वनि में कारण माना गया है अन्यत्र ग्रंथों में भी इसी वात को पुष्ट किया है—

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषैरपेतं हित। कंठोष्ठादिवचो निमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम्।
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं। दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः।

॥ समव. पृ. १३६॥

भगवान् के वचन गम्भीर, मधुर, मनोहरतर हैं, दोषों से रहित और हितकर हैं, कंठ, ओष्ठ, तालु

[भगवतोऽनेकांतमतं प्रसिद्धेन न वाध्यते]

[1]तत्प्रसिद्धेन न वाध्यते । **प्रमाणतः सिद्धं प्रसिद्धम् । तदेव कस्यचिद्वाधनं[2] युक्तम् । विशेषणमे[१]तत्परमतापेक्षम्, अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण [२]बाधाऽकल्पनात्[3]※ ।** [४]न ह्यनेकान्तशासनस्य [3]प्रत्यक्षतः [4]सिद्धोस्त्यनित्यत्वधर्मो बाधकः, सर्वथा नित्यत्वादिधर्मवत्[५] ।

आदि के निमित्त से रहित, वायु के निरोध की प्रकटता से स्पष्ट, उस-उस अभीष्ट वस्तु को कथन करने वाले सम्पूर्ण भाषा रूप, दूर और निकट से एक सदृश सुनाई देने वाले ऐसे निरुपम जिनेंद्र भगवान् के वचन सदैव हम सभी की रक्षा करें।

तिलोय पण्णत्ति ग्रंथ में भी कहा है—

जोयणपमाण संठिदतिरियामरमणुवणिवह पडिवोहो ।
मिदमधुरगभीरतराविसदविसयसयल — भासाहिं ॥६०॥
अट्ठरस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा ।
अक्खर अनक्खरप्पय सण्णी जीवाण सयलभासाओ ॥६१॥
एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकण्ठ-वावारं ।
परहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंद-कर-भासो ॥६२॥

अर्थ—वे अर्हंत भगवान् मृदु, मधुर, अतिगम्भीर, और विषय को विशद करने वाली भाषाओं से एक योजन प्रमाण समवशरण सभा में स्थित तिर्यंच, देव और मनुष्यों के समूह को प्रतिवोधित करने वाले हैं, संज्ञी जीवों की अक्षर और अनक्षर रूप अठारह महाभाषा तथा सात सौ लघु भाषाओं में परिणत हुई और तालु, दंत, ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन–चलन रूप व्यापार से रहित हो कर एक ही समय में भव्यजनों को आनन्द करने वाली ऐसी दिव्यध्वनि—दिव्यभाषा के स्वामी हैं।

ऐसी दिव्यध्वनि के खिरने में तीर्थंकर नामकर्म का उदय विशेष ही प्रमुख कारण है क्योंकि मोहनीय कर्म के अभाव में तीर्थंकरों के केवली अवस्था में इच्छा का होना असंभव है।

[भगवान् का अनेकांतशासन प्रसिद्ध प्रमाण से वाधित नहीं होता है]

भगवान् का इष्ट (शासन) प्रसिद्ध प्रमाण से वाधित नहीं होता है।

प्रमाण से जो सिद्ध है वह प्रसिद्ध कहलाता है, वही किसी से वाधित होना युक्त है। यह प्रसिद्ध विशेषण परमत की अपेक्षा से है क्योंकि अन्यमती जन प्रसिद्ध भी अनित्यत्व आदि एकान्त धर्म के द्वारा आपके मत में वाधा नहीं दे सकते हैं।※

---

१ प्रसिद्धमिति । २ तवेष्टस्य मतस्य । ३ परैः । ४ वौद्धं प्रत्याह स्याद्वादी । ५ यथा सर्वथा नित्यत्वादिधर्मो नानेकान्तस्य वाधकस्तथा ।

---

(1) परप्रसिद्धेनानित्यत्वाद्येकांतेन । (2) वाधकं । (3) स्याद्वादी वदति । प्रत्यक्षेण असिद्धः सर्वथा अनित्यस्वरूपएकांत अनेकांतमतस्यवाधाकृन्नहि यथा सर्वथा अनित्यरूपः । सौगत आह । तर्हि अनुमानेन सिद्धः एकान्तः अनेकांतस्य वाधको भविष्यतीति चेत् । स्याद्वाद्याह एवं न कस्मात् ?प्रमाणं विना तर्कज्ञाननिष्पत्तेरंगीकरणात् । दि.प्र. (4) प्रसिद्धोऽस्त्य इतिपा. ।

अनुमानात्सिद्धो बाधक इति [1]चेन्नर्ते प्रमाणात्प्रतिबन्ध[1]सिद्धेरभ्युपगमात्। न [2]खलु [3]परेषां प्रत्यक्षमग्निधूमयोः [4]क्षणभंगसद्भावयोर्वा साकल्येन व्याप्तिं प्रति समर्थम्, [5]अविचारकत्वा त्सन्निहितविषयत्वाच्च[2]*। [6]अस्मदादिप्रत्यक्षं हि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहि परैरभ्युपगन्तव्यं[3], न योगिप्रत्यक्षम्, अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, योगिप्रत्यक्षेण देशतः[4] [5]कार्त्स्न्यतो वा निश्शेषसाध्यसाधनव्यक्तिसाक्षात्करणे समारोपस्याप्यभावात्[7] तद्व्यवच्छेदनार्थमप्यनुमानोपयोगायोगात्[6]। [8]तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पकमपि न विचारकं,[9] [10]पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वाद-

अनेकांत शासन का बाधक अनित्यत्व धर्म प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध नहीं है जैसे सर्वथा नित्यत्व आदि धर्म अनेकांत शासन में बाधा नहीं दे सकते हैं।

सौगत—आप के अनेकांतशासन में अनुमान से बाधा सिद्ध है।

जैन—आप ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्रमाण के बिना अविनाभाव की सिद्धि स्वीकार नहीं की गई है अर्थात् नाम के प्रमाण बिना व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है एवं व्याप्ति की सिद्धि न होने पर अनुमान भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि बौद्ध तर्क प्रमाण के बिना भी प्रत्यक्ष से व्याप्ति की सिद्धि माने तो उनके यहां अग्नि और धूम में अथवा "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्" इस क्षणभंग क्षणिकत्व साध्य और सद्भाव—सत्त्वरूप साधन में साकल्य रूप से व्याप्ति को ग्रहण करने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं है क्योंकि वह विचारक–निश्चय कराने वाला नहीं है एवं सन्निहित–निकटवर्ती विषय को ही ग्रहण करने वाला है।*

अतः आप साध्य - साधन की व्याप्ति को ग्रहण करने वाला हम लोगों का इंद्रिय प्रत्यक्ष ही स्वीकार कीजिए; योगी प्रत्यक्ष नहीं, अन्यथा अनुमान व्यर्थ हो जावेगा। योगी प्रत्यक्ष के द्वारा एक देश रूप से अथवा सकल रूप से अखिल साध्य-साधन की व्यक्ति (विशेष) को साक्षात् करने में समारोप संशयादि का भी अभाव है। अतः उन संशयादि का व्यवच्छेद करने के लिये भी अनुमान का उपयोग नहीं होगा।

हम लोगों का इंद्रिय प्रत्यक्ष सविकल्प होते हुये भी निर्विकल्प के समान विचारक-व्याप्ति को ग्रहण करने वाला नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष पूर्वापर परामर्श के विचार से शून्य है और अभिलाप (शब्द) के संसर्ग

१ तर्काख्यप्रमाणमन्तरा प्रतिबन्धसिद्धे (व्याप्तिसिद्धे) रनभ्युपगमाद्व्याप्तिसिद्ध्यभावेनुमानायोगात्। २ (तर्काख्यप्रमाणाद्दृतेपि प्रत्यक्षेणैव व्याप्तिसिद्धिः स्यादित्युक्ते आह, नेति)। ३ सौगतानाम्। ४ क्षणिकत्वसत्त्वयोः साध्यसाधनयोः। ५ निर्विकल्पकत्वेन। ६ (ननु योगिप्रत्यक्षं न सन्निहितविषयमित्युक्ते बौद्धेन स्याद्वादी प्राह)। ७ संशयादेः ८ अस्मदादिप्रत्यक्षम्। ९ व्याप्तिग्राहकम्। १० (अविचारकत्वादिति भाष्योक्तहेतुमन्यप्रकारेण कथयति)। सर्वत्रेदमस्माज्जातमिदं च सर्वत्रानेन क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति परामर्शशून्यत्वान्निर्विकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा प्रत्यक्षस्य।

(1) अविनाभाव। (2) यतः (3) सौगतैः। (4) देशयोगिनः। (5) सकलयोगिनः। (6) योगी परप्रतिपादनार्थमनुमानं करोति इति चेद् न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि असौ योगी गृहीतव्याप्तिकं वा अगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत्? न तावद् गृहीतव्याप्तिकं तस्य प्रत्यक्षेणानुमानेन वा व्याप्तिग्रहणायोगात् नाप्यगृहीतव्याप्तिकमति-प्रसंगात्। दि. प्र.

भिलापसंसर्ग[1]रहितत्वात्[1]। सन्निहितविषयं च, देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थागोचरत्वात्। [3]तन्न साकल्येन [3]व्याप्तिग्रहणसमर्थम्[2]। **न चानुमान[4]मनवस्थानुषङ्गात्**※। व्याप्तिग्राहिणोनुमानस्यापि व्याप्तिग्रहणपुरस्सरत्वात्तद्व्याप्तेरनुमानान्तरापेक्षत्वात् क्वचिदप्यवस्थानाभावात्। एवमप्रसिद्धव्याप्तिकं च कथमनुमानमेकान्तवादिनामनित्यत्वाद्येकान्तधर्मस्य साधकं येन प्रमाणसिद्धः सर्वथैकान्तोऽनेकान्तशासनस्य बाधकः स्यात् ? [5]स्याद्वादिनां तु, **परोक्षान्तर्भाविना [6]नस्तर्केण[7] सम्बन्धो व्यवतिष्ठेत**※। तस्य विचारकत्वात्[8]।

[जैनमते तर्कज्ञानं प्रमाणं तत्तु व्यवसायात्मकमेव]

प्रत्यक्षानुपलम्भसहकारिणो [9]मतिज्ञानविशेषपरोक्षतर्कज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषादुपजायमानस्य यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति

से रहित है तथा वह प्रत्यक्ष सन्निहित विषयों को ही ग्रहण करने वाला है किन्तु देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट (परोक्ष) पदार्थों को विषय नहीं करता है इसलिये निर्विकल्प अथवा सविकल्प दोनों ही प्रत्यक्ष संपूर्ण रूप से व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं। **न अनुमान ही व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ है अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा**※।

व्याप्ति को ग्रहण करने वाला अनुमान भी व्याप्ति ग्रहणपूर्वक ही होता है तव वह पूर्व की व्याप्ति भी अनुमानान्तर की अपेक्षा रखेगी अतः कही पर भी अवस्थान नहीं हो सकेगा। इस प्रकार से एकांतवादियों के यहां अप्रसिद्ध व्याप्ति वाला अनुमान भी अनित्यत्व आदि एकांत धर्म का साधक कैसे होगा कि जिससे प्रमाण सिद्ध सर्वथा एकांत धर्म अनेकाँतशासन को वाधित कर सके अर्थात् नहीं कर सकता है किन्तु इस कथन से यदि आप कहें कि जैनी भी किस प्रमाण से व्याप्ति को ग्रहण करते हैं तो **हम स्याद्वादियों के यहां परोक्ष के अन्तर्गत एक तर्क नाम का प्रमाण है उससे व्याप्ति रूप सम्बन्ध की व्यवस्था बन जाती है**※ क्योंकि वह तर्क ही विचारक—व्याप्ति का निश्चय कराने वाला है।

[जैनमत में तर्क ज्ञान प्रमाण है और वह व्यवसायात्मक ही है]

प्रत्यक्ष और अनुपलंभ जिसमें सहकारी कारण हैं (अर्थात् जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है जैसे

---

१ निर्विकल्पकादुत्पन्नत्वात्सविकल्पकस्य (शब्दसंसर्गसहितं व्याप्तिग्राहीति हि परेषां मतम्)। विरोधान्नोभयेतिकारिकाव्याख्यानावसरे अभिलापसंसर्गरहितत्वं वलादापद्यतेस्येति वक्ष्यते। २ अविचारकं सन्निहितविषयं च यतः। ३ निर्विकल्पकं सविकल्पकं वा। ४ साकल्येन व्याप्तिग्राहकम्। ५ तर्हि स्याद्वादिनां कथं व्याप्तिग्रह इत्युक्ते आह। ६ अस्माकम्। ७ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहस्तर्कः। ८ यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निर्यथा मठः। यत्र यत्राग्निर्नास्ति तत्र तत्र धूमोपि नास्ति यथा महाह्रदः। इत्युक्तप्रकारौ प्रत्यक्षानुपलम्भौ सहकारिणौ यस्य तस्य। ९ मतिज्ञानविशेष, एव परोक्षतर्कज्ञानं तदावरणम्।

---

(1) निर्विकल्पादुत्पन्नत्वात् सविकल्पज्ञानस्य। परमतेऽभिलापसंसर्गसहितं व्याप्तिग्राहि। (2) सर्वमनुमानं व्याप्तिग्राहकं साध्यसाधकत्वान्यथानुपपत्तेरित्युक्ते वक्ति।

[1]शब्दयोजनासहितपरामर्शात्मकत्वा[१]त्कालत्रयवर्तिसाध्यसाधनव्यक्ति[2]विषयत्वाच्च व्याप्तिं प्रति समर्थत्वात्,[3] [4]प्रत्यक्षवद्व्याप्तिग्रहणपूर्वक[२]त्वाभावादनुमानोहान्तरानपेक्ष[३]त्वादनवस्थाननु-[5]षङ्गात्[४], [6]संवादकत्वेन समारोपव्यवच्छेदकत्वेन च [५]प्रमाणत्वात्[६] । **तदप्रमाणत्वे न [7]लैङ्गिकं प्रमाणमिति [8]शेषः, समारोपव्यवच्छेदाविशेषात्**[७]※ । तर्कतः [9]संबन्धस्याधिगमे[10] समारोप-विरोधात्[11] । [८]न [12]हि [13]निर्विकल्पकोधिगमोस्ति यतस्तत्र समारोपोपि[९] स्यात् । किं तर्हि ?

मठ । जहाँ-जहां अग्नि नहीं है वहाँ—वहां धूम भी नहीं है जैसे तालाव । इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलंभ जिसमें सहकारी हैं तात्पर्य यह है कि धूम तो प्रत्यक्ष है और अग्नि अनुपलंभ – परोक्ष है उन दोनों के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला व्याप्ति ज्ञान है) ऐसा मतिज्ञान का विशेष (भेद) रूप परोक्ष तर्क ज्ञान है। उस तर्क ज्ञान के आवरण एवं वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम विशेष से ही तर्क ज्ञान उत्पन्न होता है और वह तर्क जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से ही उत्पन्न हुआ है अथवा अग्नि के अतिरिक्त अन्य किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है इस प्रकार से शब्द योजना सहित परामर्शात्मक एवं कालत्रयवर्ती साध्य-साधन व्यक्ति—विशेष को विषय करने वाला होने से ही व्याप्ति को ग्रहण करने के प्रति समर्थ है। तथा जैसे आपका प्रत्यक्ष व्याप्ति पूर्वक नहीं होता है वैसे तर्क ज्ञान प्रत्यक्ष के समान व्याप्ति के ग्रहण पूर्वक नहीं होता है। भिन्न अनुमान एवं तर्क की अपेक्षा भी नहीं करता है अतः उसमें अनवस्था का प्रसंग भी नहीं आता है, प्रत्युत वह तर्क ज्ञान संवादक एवं समारोप का व्यवच्छेदक होने से प्रमाण रूप ही है।

यदि इस तर्क ज्ञान को प्रमाण न मानें तो अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है क्योंकि समारोप का व्यवच्छेदकपना दोनों में समान है※। तर्क से अविनाभाव सम्बन्ध को स्वीकार करने में समारोप का विरोध है।

१—२—३—४—५ तर्कस्य । ६ प्रत्यक्षवदिति पूर्वोक्तमुदाहरणम् । ७ तर्कानुमानयोः । ८ तर्कादिव निर्विकल्पकाद-पिनिर्णये जाते समारोपो विहन्यतामित्युक्ते आह । ९ (समारोपविरोधस्तु दूर एवास्ताम्) ।

(1) शब्दयोजनारहित इति पा० । (2) व्याप्तिं प्रति समर्थमित्यत्रैतत् साध्ये हेत्वंतरं । (3) समर्थत्वं कुतः यावता तर्कोऽपि स्वविषये व्याप्तिग्रहणमपेक्षते तच्च न प्रत्यक्षात् अनुमानादित्यादि दोषो भविष्यतीत्याशंका । (4) अन्वय-दृष्टान्तः । व्याप्त्यनपेक्षं प्रत्यक्षं स्वविषये यथा । व्यावर प्रतो अस्य समर्थनार्थं विचारकत्वात् कालत्रयवर्ति साध्यसाधन व्यक्ति-विषयत्वाच्चेति हेतुद्वयमुपात्तं । एतेन प्रत्यक्षवत्तर्कोप्यविचारकत्वात् संनिहितविषयत्वाच्च व्याप्तिग्रहणं प्रति न समर्थमिति वदन् प्रत्याख्यातः प्रत्यक्षेत्यादिशब्दयोजनारहित परामर्शकत्वादिति पर्यंतं साधनवाक्यं देहलीदीपन्यायेन तद् हेतुद्वयसमर्थनं परं प्रतिपत्तव्यं । व्याप्तिं प्रति समर्थनत्वात् परोक्षांतर्भाविना नस्तर्केण सम्बन्धो व्यवतिष्ठेतेति सम्बन्धः दि. प्र. । (5) तर्काख्यविकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षफलत्वान्न प्रमाणत्वमिति शंका। (6) प्रमाणांतराविरोधलक्षणेन। (7) अनुमानं। (8) समारोपव्यवच्छेदकत्वाल्लैंगिकं प्रमाणमित्यत आह । (9) अविनाभावस्य । (10) तर्कस्य फले निर्णये । (11) अधिगमो निर्विकल्पः स्यादित्याह । (12) अधिगमो हि द्वेधा सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति तत्र सविकल्पकाधिगमे नाति भवतु समारोपविरोधः स्यादिति सौगतशंकां निराकुर्वतः प्राहुर्नहि इति-दि. प्र. । (13) अथवा अधिगमे समारोपविरोध इति कुतः कथ्यते निर्विकल्पकाधिगमे समारोपविरोधाभावादित्याशंकायामाहुः । दि. प्र. ।

अधिगमोपि [1]व्यवसायात्मैव, तदनुत्पत्तौसतोपि दर्शनस्य[1] [3]साधनान्तरापेक्षया[2] सन्निधानाऽभेदात्[3] सुषुप्तचैतन्यवत्[4] ※। सन्निधानं हीन्द्रियार्थसन्निकर्षः। तत्स्वयमप्रमाणमाख्यत् तथागतः[3], साधनान्तरापेक्षित्वात्[4] तस्यार्थपरिच्छित्तौ।

[बौद्धाभिमतं निर्विकल्पदर्शनमप्रमाणमेव सन्निकर्षवत्]

[5]तत एव दर्शनस्याप्रमाणत्वं, सुषुप्तचैतन्यवत् [6]स्वयं संशयविपर्यासानध्यवसायाव्यवच्छेदकत्वात्। तद्व्यवच्छेदिनो[5] निश्चयस्य[7] [6]जननात्प्रमाणं दर्शनमिति चेत् तत एव सन्निकर्षः

यहां कोई कहता है कि—तर्क के समान निर्विकल्प प्रत्यक्ष से भी निर्णय हो जाने पर समारोप नहीं रहेगा। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि निर्विकल्पकज्ञान तो कोई सिद्ध ही नहीं होता कि जिससे समारोप भी हो सके अर्थात् समारोप विरोध की बात तो दूर ही रहने दीजिये किन्तु उस निर्विकल्प में समारोप ही नहीं हो सकता है। पुनः प्रश्न होता है कि वह निर्विकल्पज्ञान क्या चीज है ? क्योंकि वह व्याप्तिज्ञान भी व्यवसायात्मक ही है। (अर्थात् यहां व्याप्ति के ज्ञान को अधिगम कहा है वह भी सविकल्पात्मक ही है) उस सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विद्यमान होता हुआ भी दर्शन साधनांतर (सविकल्पज्ञान) की अपेक्षा रखने से सन्निधान-सन्निकर्ष में अभेद रूप हैं सुषुप्त चैतन्य के समान※।

भावार्थ—निर्विकल्प दर्शन विद्यमान होते हुये भी स्वयं समारोप का व्यवच्छेदक नहीं है अतएव साधनांतर-सविकल्प ज्ञान की अपेक्षा है। उसी प्रकार से सन्निकर्ष भी स्वयं समारोप का व्यवच्छेदक नहीं है किन्तु साधनांतर की अपेक्षा करता है इसलिये सन्निकर्ष से निर्विकल्प में कोई विशेषता नहीं है। जैसे सुषुप्त पुरुष के चैतन्य के स्वयं प्रमाणता नहीं है किन्तु साधनों की अपेक्षा देखी जाती है।

सौगत—इंद्रियों से पदार्थ का सम्बन्ध रूप सन्निकर्ष ही सन्निधान कहलाता है। वह सन्निकर्ष स्वयं अप्रमाण है क्योंकि पदार्थों की परिच्छित्ति (ज्ञान) में भिन्न कारणों की अपेक्षा रखता है।

[बौद्ध के द्वारा मान्य निर्विकल्प दर्शन भी प्रामाणिक नहीं है जैसे कि सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है]

१ व्याप्तिज्ञानमधिगमोत्र। सोपि सविकल्पात्मैव। २ सविकल्पकज्ञानमेवात्रसाधनान्तरम्। ३ सतोपि दर्शनस्य न समारोपव्यवच्छेदकत्वं स्वयं यतः साधनान्तरं सविकल्पकमपेक्षते। तथा सन्निकर्षोपि न समारोपव्यवच्छेदकः स्वयं किन्तु साधनान्तरमपेक्षते। इति सन्निकर्षान्न विशेषः। ४ यथा सुषुप्त चैतन्यस्य न स्वयं प्रामाण्यं साधनान्तरापेक्षित्वात्। ५ (जैनः) तर्हि तत एव साधनान्तरापेक्षित्वादेव हे सौगत। ६ दर्शनस्य। ७ सविकल्पकज्ञानस्य।

(1) निर्विकल्पकस्य। (2) ज्ञान। साधनांतरापेक्षया संनिधानाभेदात् यत्संनिधानापेक्षं तत् अधिगमानुत्पत्तिकृद्भवति-यथा सुषुप्तचैतन्यं। साधनांतरापेक्षं चेदं तस्मादधिगमानुत्पत्तिकृत्। दि. प.। (3) अत्राह स्याद्वादी। तर्कात् सम्बन्धस्य निश्चये जाते सति समारोपो विहन्यते अत्राह परः निर्विकल्पकादपि समारोपो विहन्यते। इत्युक्ते स्याद्वाद्याह। निर्विकल्पकं दर्शनं निश्चयात्मकं न हि तत्राधिगमे यतः कुतः समारोपः स्यान्न कुतोऽपि पर आह। तर्हि भवन्मतेऽधिगमः किमिति प्रश्ने आह निश्चायकस्वभाव एव। स्याद्वादी अनुमानं रचयति। निर्विकल्पकदर्शनं पक्षः अधिगमानुत्पत्तिकृद् भवतीति साध्योधर्मः जननादेव सन्निकर्षोऽपि सत्यं भवतु दि. प्र.। (4) सौगतः तदिंद्रियार्थसन्निकर्षलक्षणं सन्निधानं स्वयं अप्रमाणं कथितवान्। कस्मात्? साधनांतरमपेक्ष्य तस्य संनिधानस्य अर्थनिश्चयघटनात्। दि. प्र.। (5)निश्चयारोपमनसोर्विरोधइत्युक्तितः। (6) यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता। यत्रैवनिर्विकल्पबुद्धिः। एनां—सविकल्पबुद्धिइत्यर्थः।

प्रमाणमस्तु। तस्यासाधक[१]तमत्वान्न प्रमाणत्वमिति चेत्कुतस्तस्यासाधकतमत्वम् ? अचेतनत्वाद्घटादिवदिति चेद्दर्शनस्याप्यसाधकतमत्वं [२]चेतनत्वात्सुषुप्तचैतन्यवत्किं न स्यात् ? यस्य भावेर्थः परिच्छिन्नो व्यवह्रियतेऽभावे चाऽपरिच्छिन्नस्तद्दर्शनं साधकतममिति चेत्सन्निकर्षः साधकतमोस्तु, भावाभावयो[३]स्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात्। न हि सन्निकर्षस्य भावे भाववत्त्वमभावे[1]ऽभाववत्त्वमर्थपरिच्छित्तेरप्रतीतम्। [४]नाप्यर्थस्यान्यत् परिच्छिन्नत्वं, [५]तत्परिच्छित्त्युत्पत्तेः। परिच्छित्तिरुत्पन्ना चेत्[६] [७]परिच्छिन्नोर्थ उच्यते। अथ निर्विकल्पकदृष्टौ [2]सत्या

जैन—इसी हेतु से ही दर्शन भी अप्रमाणीक नहीं है सुषुप्त चैतन्य के समान क्योंकि दर्शन (निर्विकल्प प्रत्यक्ष) स्वयं संशय, विपर्यय एव अनध्यवसाय का व्यवच्छेदक नहीं है।

बौद्ध—संशयादि के व्यवच्छेदी निश्चय-विकल्प ज्ञान को उत्पन्न करनें वाला होने से वह दर्शन प्रमाण है।

जैन—इसी हेतु से सन्निकर्ष भी प्रमाण हो जावे क्या वाधा है ?

बौद्ध—वह सन्निकर्ष प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतम नहीं होनें से प्रमाण नहीं है।

जैन—वह सन्निकर्ष साधकतम क्यों नहीं है ?

बौद्ध—वह सन्निकर्ष अचेतन है घटादि के समान।

जैन—"तव तो आपका माना हुआ दर्शन भी साधकतम नहीं है क्योंकि वह चेतन है सुपुप्त चेतन के समान।" ऐसा भी आप क्यों न मान लेंवे ? अर्थात् जो चेतन है वह साधकतम हो ऐसा कोई नियम नहीं है।

बौद्ध—जिसके होने पर पदार्थ जान लिये गये हैं ऐसा व्यवहार होता है एवं जिसके न होनें पर नहीं जाने गये हैं ऐसा व्यवहार होता है वह दर्शन साधकतम है।

जैन—यदि ऐसा कहते हो तव तो सन्निकर्ष भी साधकतम हो जावे क्योंकि "भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वं" यह न्याय का वचन है अर्थात् जिसके होनें पर जो होवे और न होने पर न होवे वही साधकतम है। सन्निकर्ष के भाव में अर्थ परिच्छित्ति का होना एवं अभाव में नहीं होना ऐसी प्रतीति नहीं हो यह वात नहीं हैं।

बौद्ध—फिर भी पदार्थ जाना गया है यह व्यवहार कैसे होता है।

---

१ प्रमितिं प्रति। २ (जैन आह्) यच्चेतनं तत्साधकतममेवेति न नियमोस्ति। ३ (सन्निकर्षस्य भावाभावयोः सतोरर्थपरिच्छित्तेर्भावाभाववत्तास्तीति सैव साधकतमत्वम्)। ४ तथापि कथमर्थः परिच्छिन्नो व्यवह्रियते इत्याशङ्कायामाह जैनः। ५ अर्थपरिच्छित्त्युत्पत्तिमन्तरा अन्यदर्थपरिच्छिन्नत्वं नास्तीत्यर्थः। ६ तत्परिच्छित्तेरन्यत् "परिच्छित्तिरुत्पन्ना" इत्यर्थपरिच्छिन्नत्वमस्ति चेदित्यर्थो बौद्धशङ्कायाः। ७ (जैन आह्)।

---

(1) भावेचाभाव इति पा.। (2) सन्निकर्षस्य भावेऽपि मध्ये निर्विकल्पकदृष्टौ सत्यामेव परिच्छित्तिरुत्पद्यते नान्यथा ततः सन्निकर्षस्य भावे भाववत्त्वमित्यादि प्रागुक्तमयुक्तमिति तायागताकूतं।

मर्थस्य परिच्छित्तिर्निश्चयात्मकार्थपरिच्छेदव्यवहारहेतुरुत्पद्यते नासत्याम् । अतस्तस्याः साधकतमत्वमिति [1]तवाकूतं तदपि न समीचीनं, [1]सन्निकर्षादेव तदुत्पत्त्यविरोधात् । कथमचेतनात्सन्निकर्षाच्चेतनस्यार्थनिश्चयस्योत्पत्तिर्न विरुध्यते इति चेत् तवापि कथमचेतनादिन्द्रियादेरविकल्पदर्शनस्य चेतनस्योत्पत्तिरविरुद्धा ? [2]चेतनान्मनस्कारादिन्द्रियादिसहकारिणो दर्शनस्योत्पत्तिरिति चेत्तर्हि चेतनादात्मनः सन्निकर्षसहकारिणोऽ[2]र्थनिश्चयोत्पत्तिरपि कथं विरुध्यते ? यतः स्वार्थव्यवसायात्मकोधिगमो न भवेत् ।

[सन्निकर्षवत् निर्विकल्पदर्शनमपि प्रमाणं नास्तीति प्रसाध्याधुना तर्कस्य प्रमाणतां साधयंति जैनाचार्याः]

स च साकल्येन साध्यसाधनसम्बन्धस्तर्कादेवेति[3] प्रमाणं तर्कः, स्वार्थाधिगमफलत्वात्

जैन—पदार्थ का जानना रूप ज्ञान उससे भिन्न नहीं है क्योंकि अर्थ परिच्छित्ति-ज्ञान उससे ही उत्पन्न होता है अर्थात् पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति के बिना अन्य कोई अर्थ परिच्छित्ति नहीं है ।

बौद्ध—उस ज्ञान से भिन्न "परिच्छित्ति उत्पन्न हुई" इस प्रकार से अर्थ परिच्छित्ति है । अर्थात् पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता ही है ।

जैन—वह जाना हुआ ज्ञान ही अर्थ कहा जाता है ।

बौद्ध निर्विकल्प दर्शन के होने पर अर्थ परिच्छित्ति होती जो कि निश्चयात्मक पदार्थ के ज्ञान रूप व्यवहार में हेतु है क्योंकि निर्विकल्प दर्शन के नहीं होने पर नहीं होता है अतः वह परिछित्ति साधकतम हैं ।

जैन—यह भी कथन समीचीन नहीं है क्योंकि सन्निकर्ष से ही उस परिच्छित्ति की उत्पत्ति में विरोध नहीं है ।

बौद्ध—अचेतन सन्निकर्ष से पदार्थ के ज्ञान रूप चेतन की उत्पत्ति विरुद्ध कैसे नहीं है ?

जैन—तब तो आप के यहां भी अचेतन इंद्रियादि से निर्विकल्प दर्शन रूप चेतन की उत्पत्ति अविरुद्ध कैसे होगी ?

बौद्ध—इन्द्रियादि सहकारी कारण जिसके साथ हैं ऐसे चेतन रूप मनोव्यापार से दर्शन की उत्पत्ति होती है ।

जैन—तब तो जिसमें सन्निकर्ष सहकारी है ऐसे चेतन आत्मा से पदार्थ के निश्चय की भी उत्पत्ति होने में क्या विरोध है ? जिससे कि अधिगम (ज्ञान) स्वार्थ व्यवसायात्मक न होवे अर्थात् ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक ही होता है ।

[सन्निकर्ष के समान निर्विकल्पदर्शन भी प्रमाण नहीं है इस बात को सिद्ध करके अब जैनाचार्य तर्क की प्रमाणता को सिद्ध करते हैं]

और संपूर्णतया वह साध्य-साधन के सम्बन्ध का ज्ञान तर्क से ही होता है इसलिए तर्क ज्ञान प्रमाण

---

१ बौद्धस्य । २ मनोव्यापारात् ।

(1) मध्यवर्तिनिर्विकल्पकदृष्टिविना ।(2) का । (3) सम्बन्धे इति पा. । विषये । तर्कादेव–उत्पद्यते इति–तथा च ।

समारोपव्यवच्छेदकत्वात्संवादकत्वाच्चानुमानादिवत् ।

[एकांतवादिनां मतेऽनुमानमपि न सिद्धयति अतस्तेऽनेकांतमते बाधामुद्भावयितुं नार्हंति]

ततः [1]स्याद्वादिनां व्याप्तिसिद्धेरस्त्यनुमानं, न पुनरेकान्तवादिनां[१], [2]यतोनुमानसिद्धेन सर्वथैकान्तेनानेकान्तस्य बाधाकल्पना स्यात् । इत्यप्रमाणसिद्धेनापि[3] बाधा कल्पनीयैव परैः, [4]अन्यथा स्वमतनियमाघटनात् । तथा सति सूक्तं परमतापेक्षं विशेषणं प्रसिद्धेन न बाध्यते इति । एतेन[5] यदुक्तं भट्टेन ।

नरः [6]कोप्यस्ति [7]सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ [२]इत्यपि । [३]साधनं[8] यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत्[9] ॥१॥

है क्योंकि वह स्वार्थ अधिगम रूप अपने और पर पदार्थ को जानने रूप फल को उत्पन्न करता है, समारोप संशयादि का व्यवच्छेदक है तथा संवादक रूप है अनुमानादि की तरह ।

[एकांतवादियों के मत में अनुमान प्रमाण भी सिद्ध नहीं होता है अतः वे अनेकांत में बाधा की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं]

इसलिये स्याद्वादियों के यहां व्याप्ति की सिद्धि हो जाने से अनुमान प्रमाण व्यवस्थित है न कि एकांतवादियों के यहां । अर्थात् तर्क से सिद्ध व्याप्ति के अभाव में एकाँतवादियों के यहाँ अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता है जिससे कि अनुमान से सिद्ध सर्वथा एकाँत मत के द्वारा अनेकांत शासन में बाधा कलिपत की जा सके । अर्थात् सर्वथा एकांतवाद अनुमान से सिद्ध नहीं है, किन्तु आपको इस प्रकार से अप्रमाण सिद्ध के द्वारा भी अनेकांत शासन में बाधा की कल्पना करना ही चाहिए अन्यथा स्वमत का नियम नहीं घटेगा । अतः बहुत ठीक ही कहा है कि "प्रसिद्धेन न बाध्यते" यह विशेषण परमत की अपेक्षा से है ।

श्लोकार्थ—भाट्ट—कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ है और वह सर्वज्ञ आप ही हैं इत्यादि के साध्य करने में जो "सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्" साधन प्रयोग है वह प्रतिज्ञामात्र है अर्थात् वह कथन मात्र ही है ॥१॥

प्रतिज्ञामात्र क्यों है सो सुनिए—सिद्ध करने की इच्छा से जो अर्हंत आदि पदार्थ हैं वे इस प्रतिज्ञामात्र से नहीं कहे जा सकते हैं और जो इस अनिर्द्धारित प्रतिज्ञा (पक्ष) के द्वारा कहे जाते हैं उनकी सिद्धि

---

१ तर्कसिद्धाया व्याप्तेरभावे एकान्तवादिनामनुमानं प्रमाणं । २ नरः पक्षः सर्वज्ञ इति च इति पक्षद्वयसाधनमित्यर्थः । ३ सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वादिति ।

---

(1) ततस्तर्कबलात् स्याद्वादिनां व्याप्तिः सिद्धयति व्याप्तेः सकाशादनुमानमस्ति । तर्कात् सिद्धाया व्याप्तेरभावे एकांतवादिनामनुमानप्रमाणं नास्ति । दि. प्र. । (2) यद्यपि सौगतयौगादीनां तर्काभावेनुमानं मूलत एव नास्ति तथापि सर्वथैकांतमनुमानं सिद्धं सर्वथैकांतं वदति । तादृशेन अनुमानसिद्धेन सर्वथैकांतेन कृत्वानेकांतस्य कुतो बाधा अपि तु न कुतोऽपि । दि. प्र. । (3) अत्राह कश्चित् इति कथितप्रकारेण अप्रमाणसिद्धेनाप्यनुमानादिप्रमाणेन कृत्वा परैरेकांतवादिभिः अनेकांतमतस्य बाधा कल्पनीयैव अन्यथा स्वमतनिश्चयो न घटते । स्वयं प्रमाणसिद्धो नास्ति तथापि बाधा कल्प्यते स्वमतनियमार्थं । दि. प्र. । (4) बाधाऽकल्पना । (5) स त्वमेवासि इत्यादिसाधनपरेण ग्रंथेन (6) सर्वज्ञो पुमान् भवति । (7) पुमान् सर्वज्ञो भवति । (8) पक्षद्वयवचनं । (9) कुतः ।

[१]सिसाधयिषितो[२] योर्थः सोनया [1]नाभिधीयते[३] । [४]यस्तूच्यते[2] न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥२॥
[3]यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते । न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥३॥
यावद्बुद्धो न[4] सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा । यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता[५] कुतः ॥४॥
[5]अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे [6]वचसोन्यस्य सत्यता । [६]सामानाधिकरण्ये हि [७]तयोरङ्गाङ्गिता[८] भवेत् ॥५॥

इति तन्निरस्तं[7], भगवतोर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन [8]सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात् । ततस्त्वमेव महान् मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः । यस्मात्—

में कुछ प्रयोजन नहीं है ॥२॥

जिसके आगम की सत्यता सिद्ध है उसके ही सर्वज्ञता है इस प्रकार सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि मात्र से वह सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती है ॥३॥

जब तक बुद्ध सर्वज्ञ नहीं है तब तक उसके वचन असत्य हैं । जिस किसी अन्य में सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर अन्य बौद्धादि के आगम की सत्यता कैसे हो सकती है ? ॥४॥

अन्य कोई ही सर्वज्ञ होवे और अन्य के वचन में सत्यता होवे ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि जो सर्वज्ञ है वही आगम का प्रणेता है ऐसा समानाधिकरण होने पर ही सर्वज्ञ और उसके वचनों में कार्यकारण भाव बन सकता है अन्यथा नहीं ॥५॥

जैन—"प्रसिद्धेन न बाध्यते" ऊपर इस वाक्य का स्पष्टीकरण करने से आपके इस कथन का भी खंडन कर दिया गया है ऐसा समझना चाहिए ।

अतः युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन होने से और सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण रूप से भगवान् अर्हंत में ही सर्वज्ञता और वीतरागता सिद्ध हो जाती है इसलिये आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता महान् हैं अन्य कपिलादि नहीं हैं । क्योंकि—

इसका संदर्भ आगे आने वाली सातवीं कारिका से है अर्थात् आपके मत से बाह्य, सर्वथा एकांतवादी जन 'जो कि अपने को आप्त मान रहे हैं' उनके मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हैं ।

---

१ प्रतिज्ञामात्रमेव कथमित्याह । २ अर्हदादिः । ३ भवद्भिर्जैनैः । ४ अनिर्द्धारितः प्रतिज्ञया । ५ (बौद्धादिभिः प्रवर्तमानागमसत्यता) । ६ यः सर्वज्ञः स एवागमस्य प्रणेतेति । ७ सर्वज्ञतद्वचनयोः । ८ कार्यकारणता ।

---

(1) यतः । पुरुषसामान्यस्य सर्वज्ञत्वमनया प्रतिज्ञया साध्यते ततश्च प्रतिज्ञामात्रत्वं कथमित्याशंकायामाह । (2) प्रतिज्ञाया अनिर्द्धारितः पुरुषः सर्वज्ञः । (3) अर्हदागम । (4) यावद्बुद्धो हि सर्वज्ञो न तावद् इति पा. । दि. प्र. । (5) अर्हति । (6) बौद्धस्य । (7) इतिकारिकापंचकेन यदुक्तं भट्टेन तन्निराकृतं । दि. प्र. । 8 अविरोधशब्दस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन पूर्वमेव व्याख्यातत्वात्तस्यामेव प्रकृतायां कारिकायां सद्भावोवगंतव्यः । दि० प्र० ।

नवनीत

स्वामी श्री समन्तभद्राचार्यवर्य अपनी श्रद्धा और गुणज्ञतालक्षण गुणों से सहित होकर देवागम स्तोत्र के द्वारा भगवान् की स्तुति करना चाहते हैं। इस स्तोत्र में प्रारंभिक कारिकाओं के द्वारा ऐसा ध्वनित हो रहा है कि मानों श्री आचार्यवर्य भगवान् से वार्तालाप ही कर रहे हैं—

सर्वप्रथम आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आपके जन्मोत्सव आदि में देवों का आगमन आदि अतुल्य वैभव पाया जाता है। इस पुण्य वैभव को देखकर हम आपको वंद्य नहीं समझते हैं क्योंकि ये वैभव मायावी जनों में संभव हैं। तब भगवान ने अंतरंग-बहिरंग महोदय आदि वैभव से अपनी विशेषता बतलानी चाही तब भी (द्वितीय कारिका में) आचार्यवर्य ने कहा कि ये अंतरंग-बहिरंग वैभव देवों में पाये जा सकते हैं अतः इस हेतु से भी आप वंद्य नहीं। तब भगवान् ने अपने तीर्थंकरपने को बतलाना चाहा तब भी आचार्य श्री ने (तृतीय कारिका में) यह कहा कि सभी संप्रदायों में उनके प्रवर्तक अपने को तीर्थंकर मान रहे हैं और सभी तो आप्त हो नहीं सकते क्योंकि उनमें परस्पर में विरोध है।

पुनः यह प्रश्न होता है कि आप विश्व में किसी को भी भगवान्–आप्त मानने को तैयार नहीं हैं क्या ? तब स्वामी जी स्वयं (तृतीय कारिका के अंतिम चरण में) यह ध्वनित कर देते हैं कि इन सभी संप्रदायों में कोई न कोई आप्त अवश्य है। वह आप्त कौन हो सकता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यवर्य ने झट यह उत्तर नहीं दिया कि वे सच्चे आप्त हमारे अर्हंत ही हैं, प्रत्युत (चतुर्थ कारिका में) यह बताया कि किसी न किसी जीव में दोष और आवरण का सम्पूर्णतया विनाश हो सकता है।

इतना कहने पर भी यह प्रश्न हो गया कि दोष और आवरण के नष्ट हो जाने पर कोई आत्मा कर्म कलंक रहित अकलंक बन जायेगा फिर भी तो वह सर्वज्ञ नहीं होगा पुनः आपको मान्य कैसे होगा ? तब आचार्य श्री ने (पांचवीं कारिका में) अनुमान वाक्य से स्पष्ट किया कि "सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थों को जानने वाला कोई आत्मा अवश्य है।" और जो सभी कुछ जान लेता है वही तो सर्वज्ञ है।

इस प्रकार से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर वे सर्वज्ञ कौन हैं ? अथवा मानों भगवान् ही प्रश्न करते हैं कि मुझमें ही दोष और आवरण नहीं हैं तथा मैं ही सर्वज्ञ हूं इस बात को आप कैसे सिद्ध करेंगे ? तब आचार्य महोदय कहते हैं कि "स त्वमेवासि" वे दोष आवरण रहित सर्वज्ञ आप ही हैं क्योंकि

आपके वचन युक्ति और शास्त्र से विरोध रहित हैं आपका शासन (मत) प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है।

इस प्रकार से आचार्यवर्य ने चतुर्थ कारिका में अर्हंत के वीतराग विशेषण को स्पष्ट करके पांचवी कारिका से उन्हें सर्वज्ञ सिद्ध किया है। पुनः छठी कारिका से उन्हें ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले घोषित कर परम हितोपदेशी सिद्ध किया है।

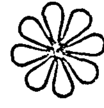
सच्चे आप्त में वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये तीन विशेषण होने ही चाहिए अन्यथा वह आप्त नहीं हो सकता है। ऐसा अन्य ग्रन्थों में स्वयं आचार्य श्री ने कहा है और यहां चौथी, पांचवीं एवं छठी कारिका के क्रम से भी यही सूचित हो रहा है कि पहले कोई जीव दोष आवरण के अभाव से वीतराग होता है और सर्वज्ञ होने के बाद ही हितोपदेशी हो सकता है।

इस प्रकार छठी कारिका में आचार्य श्री अन्वय मुख से अर्हंत को सच्चे आप्त सिद्ध कर चुके है। आगे सप्तम कारिका में व्यतिरेक मुख से अन्य कपिलादि को सच्चे आप्त होने का निषेध करेंगे।

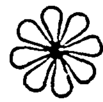
अतः इस छठी कारिका से सातवीं कारिका का संबंध समझ कर इस प्रथम खंड का द्वितीय खंड से संबंध स्थापित कर लेना चाहिए।

अष्टसहस्री भाषानुवाद का प्रथम खण्ड

समाप्त



प रि शि ष्ट



षट्कारिकांतर्गताष्टशती

देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमा[1]प्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते। तदन्यतरापायेर्थस्यानुपपत्तेः। शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्* [पृष्ठ ५]

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

[पृष्ठ ८]

आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिन्हं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयस्तादृशो मायाविष्वपि भावादित्यागमाश्रयोयं स्तवः[2]* [पृष्ठ ८]

अध्यात्मं बहिरप्येषविग्रहादिमहोदयः ।

दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

[पृष्ठ ११]

वहिरन्तःशरीरादिमहोदयोपि पूरणादिष्वसंभवी व्यभिचारी, स्वर्गिषु भावादक्षीणकषायेषु। ततोपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते*। [पृष्ठ १२]

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः ।

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

[पृष्ठ १४]

न हि तीर्थकरत्वमाप्ततां साधयति शक्रादिष्वसंभवि सुगतादौ दर्शनात्*। [पृष्ठ १५]

न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्परविरुद्धसमयाभिधायिनः*। [पृष्ठ १५]

---

(१) मुद्रिताष्टशतौ 'परमात्म' इति पाठः, हस्तलि० अ० श० दि० प्र० 'परमात्म' इत्ययमेवपाठोऽस्ति।(२) 'अयं स्तवः" इति पाठः क्वचिदपि अष्टशतीरूपेण नास्ति।

[illegible] हेतुः* । [पृष्ठ १६]

[1]अतएव न कश्चित्पुरुषः सर्वज्ञः* । [पृष्ठ १६]

अतएव न कश्चित्सर्वज्ञ इत्ययुक्तं श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्तेः । [पृष्ठ १६६]

तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः* । [पृष्ठ १७६]

न खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयं अतिप्रसंगात् । [पृष्ठ १८०]

नानुमानम् असिद्धेः* ।। [पृष्ठ १८२]

यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम् ।* [पृष्ठ १८४]

अन्यथा परस्यापि न सिद्ध्येत्* । [पृष्ठ १८५]

तदिमे स्वयमेकेन प्रमाणेन सर्वं सर्वज्ञरहितं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्* । [पृष्ठ १८५]

[2]तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः* । [पृष्ठ १८८]

तीर्थच्छेदसंप्रदायानां तथा सर्वमवगतमिच्छतामाप्तता नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात्, एकानेकप्रमाणवादिनां [3]स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति* । [पृष्ठ २२६]

स्वप्रमाव्यावृत्तेरन्यथानैकान्तिकत्वात् ।* [पृष्ठ २३८]

सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरितरथा संप्रतिपत्तेः ।* [पृष्ठ २४०-२४१]

वागक्षवुद्धीच्छापुरुषत्वादिकं क्वचिदनाविलज्ञानं निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु तथेति परमगहनमेतत्* । [पृष्ठ २४१]

इत्थं सिद्धं सुनिश्चिता[4]सम्भवद्वाधकप्रमाणत्वम् । तेन कः परमात्मा चिदेव लब्ध्युपयोगसंस्काराणामावरणनिबंधनानामत्यये भवभृतां प्रभुः* । [पृष्ठ २४३]

न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः प्राक् सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं सिद्धं येन परः प्रत्यवतिष्ठेत । नापि बाधकासंभवात्परं प्रत्यक्षादेरपि विश्वासनिबंधनमस्ति तत्प्रकृतेपि सिद्धं । यदि तत्सत्तां न साधयेत् सर्वत्राप्यविशेषात्तदभावे दर्शनं नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत् [पृष्ठ २५६-५७]

साधकबाधकप्रमाणयोर्निर्णयात् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका स्यात्* । पृष्ठ २६७]

न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्* । [पृष्ठ २६६]

चेतनस्य सतः सम्बन्ध्यन्तरं मोहोदयकारणकं मदिरादिवत्* । [पृष्ठ २७१]

तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः सर्व[5]मतीतानागतवर्तमानं पश्यति प्रत्यासत्तिविप्रकर्ष-

---

(१) "अतएव न कश्चित् पुरुषः सर्वज्ञः" इति पाठः क्वचिदपि अष्टशतीरूपेण नास्ति । (२) "तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः" इति पाठः क्वचिदपि लिपौ अष्टशतीरूपेण नास्ति । (३) "स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति" इति पाठः मु० अ० श० प्र० नास्ति । (४) 'सुनिर्णीतासंभवद्' इति पाठांतरं, ह. लि. अ. श. प्र. (५) "अतीतानागतवर्तमानं" इति पाठो ह. लि., मु. अ. श. प्र. नास्ति ।

योरकिञ्चित्करत्वात्* । [पृष्ठ २७१]

अतएवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकाऽनपेक्षा* । [पृष्ठ २७५]

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात् ।

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

[पृष्ठ २८२]

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः* । [पृष्ठ २८३]

अतएव [1]लोष्टादौ निश्शेषदोषावरणनिवृत्तेः सिद्धसाध्यतेत्यसमीक्षिताभिधानं, साध्यापरिज्ञानात्* । [पृष्ठ २८६-६०]

दोषावरणयोर्हानि[2]रतिशायनान्निश्शेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि किन्न परिक्षयः स्याद्विशेषाभावादतोनैकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षितं । चेतनादिगुणव्यावृत्तेः सर्वात्मना पृथिव्यादेरभिमतत्वात्* ।

[पृष्ठ २६०-६१]

अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तं परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः, संस्कर्तृणां पातकित्वप्रसङ्गाद्, वहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्* । [पृष्ठ २६२]

व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तिसमयवशात्तादृशं लोको विवेचयति* । [पृष्ठ २६२]

व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तेरिति समयवशात्तत्सिद्धांतविल्लोको विवेचयति* ।

[पृष्ठ २६३]

यदि पुनरयं निर्वंधः सर्वत्र विप्रकर्षिणामभावासिद्धेस्तदा कृतकत्वधूमादेर्विनाशानलाभ्यां व्याप्तेरसिद्धेर्न कश्चिद्धेतुः । ततः शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत्, अनुमानोच्छेदप्रसंगात्* ।

पृष्ठ२६४-६५

[3]यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित्सर्वात्मना व्यावृत्तिः, यथा बुद्ध्यादिगुणस्याश्मनः । तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती कुतश्चिन्निवर्तयितुमर्हति सकलं कलंकमिति कथमलंकसिद्धिर्न भवेत् ?*

[पृष्ठ २६६]

मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिः क्षयः सतोऽत्यन्तविनाशानुपपत्तेः । तादृगात्मनोपि [4]कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः* । [पृष्ठ २६८]

[5]तेन मणेः कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम् ।* [पृष्ठ ३००]

कर्मणोपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो नातिप्रसज्यते* । [पृष्ठ ३०१]

---

(१) 'लोष्ठादौ' इति पा. मु. प्र. । (२) 'हानिरति' इति पा. मु. अ. श. प्र. । (३) 'तथाहि' इति पाठोधिकः, ह. लि., मु. अ. श. प्र. । (४) कर्मणां इति पा., ह. लि. अ. श. । (५) "तेन मणेः कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्य" इति पाठः ह. लि, मु. अ. श. प्र. नास्ति ।

प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुको मलः परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्* । [पृष्ठ ३०३]

ननु निरस्तोपद्रवः सन्नात्मा कथमकलंकोपि विप्रकर्षिणमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात्* । [पृष्ठ ३१४]

सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

[पृष्ठ ३१७]

स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यनुमानमुत्सारयति यावान् कश्चिद्भावः स सर्वः क्षणिक इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसंहारायोगाद्विप्रकर्षिणामनुमितेरानर्थक्यात् । सत्त्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छतां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्व्याहतं पश्यामः* । [पृष्ठ ३१९-२०]

तेऽनुमेया, न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च स्युः किं व्याहन्यते ? इति समानमग्न्यादीनाम्* ।

[पृष्ठ ३२६]

तथा चानुमानोच्छेदः स्यात्* ॥ [पृष्ठ ३२६]

तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्यविज्ञानव्यक्तिभिरध्यक्षं किं लक्षयेत् प्रमाणतया परमप्रमाणतयेति न किञ्चिदेतत्तया नैत[1]त्तथा वा अयमभ्युगन्तुमर्हति । [पृष्ठ ३२६]

तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा* ।

[पृष्ठ ३२८]

धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकांतिकत्वात्कथं सकलविदि सत्त्वसिद्धिरितिब्रुवन्नपि देवानां प्रियस्तद्धर्मिस्वभावं न लक्षयति* । [पृष्ठ ३३०]

शब्दानित्यत्वसाधनेपि कृतकत्वादावयं विकल्पः किं न स्यादिति* । [पृष्ठ ३३०]

विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मिधर्मत्वे कार्यत्वादेरसंभवद्बाधकत्वादेरपि संदिग्धसद्भावधर्मिधर्मत्वं सिद्धं बोद्धव्यम् ।* [पृष्ठ ३३१]

यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः [2]साध्यते पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । तत एव व्याप्तिर्न सिद्ध्येत् । अनर्हतश्चेदनिष्टानुषंगोपि । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम् ? इत्येतद्विकल्पजालं शब्दनित्यत्वेपि समानं, न केवलं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा । तदयमनुमानमुद्रां भिनत्ति* । [पृष्ठ ३४२]

वर्णानां नित्यत्वमकृतकत्वादिना सर्वगतानां यदि साधयति स्यादप्रसिद्धविशेषणः पक्षः इतरथानिष्टानुषंगः । कीदृक् पुनः सामान्यं नाम यदुभयदोष[3]प्रसंगपरिहाराय [4]कल्प्येत ? सर्वगतत्वसाधनेपि समानम्* । [पृष्ठ ३४४]

---

(१) 'नैतत्तया' इति पा. हृ. लि. ,अ. श. प्र. नास्ति । (२) 'साध्येत' इति पा., मु. अ. श. प्र. । (३) 'प्रसंग' इति पा., मु. अ. श. प्र. नास्ति । (४) 'प्रकल्प्येत' इति पा. मु. अ. श. प्र. ।

अविवक्षितविशेषस्य पक्षीकरणे समः समाधिरित्यलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पोघैः[1]*

[पृष्ठ ३४५]

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

[पृष्ठ ३४७]

विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसंबंधित्वादिना कस्यचित्प्रत्यक्षं सोत्र भवानर्हन्नेव* । [पृष्ठ ३७६]

अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्* । [पृष्ठ ३७६]

विचित्राभिसंबंधतया[2] व्यापारव्याहारादिसांकर्येण क्वचिदप्यतिशयानिर्णये कैमर्थक्याद्विशेषेष्टिः ? ज्ञानवतोपि विसंवादात्, क्व पुनराश्वासं लभेमहि ?* [पृष्ठ ४०३]

न चैवं वादिनः किञ्चिदनुमानं नाम, निरभिसन्धीनामपि बहुलं कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्, सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे क्वचिदुपलब्धस्य तदभावे [3]प्रायसोनुपलब्धस्य मण्यादिकारणकलापेपि संभवात् । यज्जातीयो यतः संप्रेक्षितस्तज्जातीयात्तादृगिति दुर्लभनियमतायां धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभावः कथमिव निर्णीयेत ? वृक्षः, शिंशपात्वादिति लताचूतादेरपि क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावतां किमिव निशङ्कं चेतः स्यात् ? तदेतददृष्टसंशयैकान्तवादिनां विदग्धमर्कटनामिव स्वलांगूलभक्षणं ।* [पृष्ठ ४०६-७]

यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते इति चेत् स्तुतं[4]* । [पृष्ठ ४०८]

ततोयं प्रतिपत्तु[5]रपराधो नानुमानस्येत्यनुकूलमाचरति* । [पृष्ठ ४०८]

[6]तदेवं तत् सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वमर्हत्येव सकलज्ञत्वं साधयति नान्यत्रेत्यविरोध इत्यादिना स्पष्टयति* । [पृष्ठ ४०६]

तत्रेष्टं मतं शासनमुपचर्यते, निराकृतवाचोपि क्वचिदविप्रतिषेधात्* । [पृष्ठ ५१०]

नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्* । [पृष्ठ ४११]

प्रतिसंविदिताकारेच्छा तदा संभवन्ती पुनः स्मर्येत वाञ्छान्तरवत्* । [पृष्ठ ४११]

ततश्चैतन्यकरणपाटवयोरेव[7] साधकतमत्वम्* । [पृष्ठ ४१४]

सहकारिकारणान्तरं न वै नियतमपेक्षणीयं नक्तञ्चरादेः संस्कृतचक्षुषो वाऽनपेक्षितालोकसन्निधेः रूपोपलम्भात् । न चैवं संवित्करणपाटवयोरप्यभावे[8] विवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवृत्तिः प्रसज्यते, संवित्करणवैकल्ये यथाविवक्षं वाग्वृत्तेरभावात्* । [पृष्ठ ४१५]

---

(१) "विकल्पोघैः" इति पा., मु. अ. श. प्र. (२) "विचित्राभिसंधितया" "विचत्राभिसंबंधितया" इति पा., ह्. लि. अ. श. प्र. । (३) 'प्रायशो' इति पा. मु. अ. श. प्र. । (४) 'प्रस्तुतं' इति अष्टशती सर्वत्रास्ति । (५) 'प्रतिपत्तेरप' इति पा., मु. अ. श. प्र. । (६) 'तदेतत्' इति पा. ह्. लि. अ. श. प्र. । (७) 'एव' पाठो नास्ति, मु. अ. श. प्र. । (८) 'प्यभावविवक्षा' इति पा. मु. अ. श. प्र. ।

न च दोपजातिस्तद्धेतुर्यतस्तां [1]वाणी नातिवर्तेत, [2]तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावाद्बुध्यादिवत्* । [पृष्ठ ४१५]

प्रमाणतः सिद्धं प्रसिद्धं । तदेव कस्यचिद्वाधनं युक्तम् । विशेषणमेतत्परमतापेक्षम्, [3]अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्यनेकान्तधर्मेण वाधाऽकल्पनात्* । [पृष्ठ ४१८]

[4]चेन्नर्ते प्रमाणात्प्रतिवंधसिद्धेरभ्युपगमात् । न [5]खलु परेषां प्रत्यक्षमग्निधूमयोः क्षणभङ्गसद्भावयोर्वा साकल्येन व्याप्तिं प्रति समर्थम्, अविचारकत्वात्सन्निहितविषयत्वाच्च* । [पृष्ठ ४१९]

न चानुमानमनवस्थानुपङ्गात्* । [पृष्ठ ४२०]

परोक्षान्तर्भाविना नस्तर्केण सम्वन्धो व्यवतिष्ठेत* । [पृष्ठ ४२०]

तदप्रमाणत्वे न लैङ्गिकं [6]प्रमाणमिति शेषः, समारोपव्यवच्छेदाविशेषात्* । [पृष्ठ ४२१]

अधिगमोपि व्यवसायात्मैव [7]तदनुत्पत्तौ सतोपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया सन्निधानाभेदात् सुपुप्तचैतन्यवत्* । [पृष्ठ ४२२]



(१) 'वाणीं' इति पा. मु. ह., अ. श. प्र. । (२) "तत्प्रकर्षाप्रकर्षा···" इति पा. मु. अ. श. प्र. । (३) 'प्रसिद्धेना' इति पा., मु, अ. श. प्र. । (४) 'चेत्' नास्ति मु. अ. श. प्र. । (५) "न च परेषां' इति पा., मु. अ. श. प्र. । (६) 'प्रमाणमिति शेषः' इति पा. अष्टशतीरूपेण मु. प्र. नास्ति । (७) 'तदनुपपत्तौ' इति पा., मु. अ. श. प्र. ।

उद्धृतश्लोकाः

अ

अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रवेदनात् । सामान्यविषयं प्रोक्तं लिंगं भेदाप्रतिष्ठितेः ।।
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् । कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ।।
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ।।
असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते ।।
अनेकांते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम् । तद्विधिस्तन्निषेधश्च मतो नैवान्यथा गतिः ।।
असिद्धोभावधर्मश्चेद् व्यभिचार्युभयाश्रयः । विरोधो धर्मोऽभावस्य स सत्तां साधयेत् कथं ।।
अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता । सामानाधिकरण्ये हि तयोरंगांगिता भवेत् ।।

उ

उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः । अन्यथाप्युपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत् ।।

ए

एकत्वात्कर्मणः प्राप्तं क्रियैकत्वं तथाभिदः । कर्तृभेदादितीत्थं च किं कर्तव्यं विचक्षणैः ।।
एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् । न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ।।

क

करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ विभिन्नौ यदि तत्त्वतः । अन्यत्संदिग्धमन्यस्य कथने दुर्घटः क्रमः ।।
क्रमप्रतीतेरेवं स्यात् प्रथमं भावनागतिः । तत्सामर्थ्यात्पुनः पश्चाद्यतः कर्ता प्रतीयते ।।
कार्येर्थे चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा । द्वयोश्चेद् हंत ! तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ ।।
कामी यत्रैव यः कश्चिन्नियोगे सति तत्र सः । विषयारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते ।।
कार्यस्य सिद्धौ जातायां तद्युक्तः पुरुषस्तदा । भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ।।
कार्येर्थे चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य सम्मतम् । तस्य स्वरूपसत्तायां तन्नैवातिप्रसंगतः ।।
किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा ।।

ग

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ।।

ज

ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोपि चंद्रार्कग्रहणादिषु । न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ।।
ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबंधने । दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबंधने ।।
ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः । प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ।।

त

द

ध

न

प

परस्पराविनाभूतं द्वयमेतत्प्रतीयते । नियोगः समुदायोऽस्मात् कार्यप्रेरणयोर्मतः ॥
परोपगमतः सिद्धः स चेन्नास्तीति साध्यते । व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेऽन्योन्यं सिद्धो न सोऽन्यथा ॥
पाकं करोति यागं च यदि भेदः प्रतीयते । एवं सत्यनवस्था स्यादसमञ्जसताकरी ॥
पाकं करोति यागं चेत्येवं भेदेऽवभासिते । कानवस्था भवेत्तत्र तत्प्रतीत्यनुसारिणाम् ॥
प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते । कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥
प्रमाणं किं नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः । उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोऽथवा पुनः ॥
प्रतीतेऽन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते । को दोषः सुनयैस्तत्रैकांतोपप्लवसाधने ॥
प्रमाणान्तरतोऽप्येषां न सर्वपुरुषग्रहः । तल्लिंगादेरसिद्धत्वात् सहोदीरितदूषणात् ॥
प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य तु । सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ॥
प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन् । स्वजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान्नरान् ॥
प्रेरकत्वं तु यत्तस्य विशेषणमिहेष्यते । तस्याप्रत्ययवाच्यत्वाच्छुद्धे कार्ये नियोगता ॥
प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते । नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ॥
प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित् । ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसंगता ॥
प्रेरणा विषयः कार्यं न तु तत्प्रेरकं स्वतः । व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय उपचर्यते ॥
प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् । कार्यं वा प्रेरणायोगो नियोगस्तेन सम्मतः ॥

ब

बुद्धिरेवातदाकारा तत उत्पद्यते यदा । तदास्पष्टप्रतीभास व्यवहारो जगन्मतः ॥
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः । उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥

भ

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्टप्रभाकरौ ॥

म

ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् । स्वसिद्धौ प्रेरकं तत्स्यादन्यथा तन्न सिद्ध्यति ॥
ममेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तर्येव व्यवस्थितम् ॥
ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा । पुंसः कार्यविशिष्टत्वं नियोगोऽस्य च वाच्यता ॥

य

यथा प्रयोजकस्तत्र बाध्यमानप्रतीतिकः । प्रयोज्योऽपि तथैव स्याच्छब्दो बुद्ध्यर्थवाचकः ॥
यजते पचतीत्यत्र भावना न प्रतीयते । यज्याद्यर्थातिरेकेण तस्या वाक्यार्थता कुतः ॥

सर्वसंबंधिसर्वज्ञज्ञापकानुपलंभनम् । न चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥
सर्वप्रमातृसंबंधिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत् ॥
सर्वप्रमातृसंबंधिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोः ॥
साध्यरूपतया येन ममेदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥
सिद्धमेकं यतो ब्रह्म गतमाम्नायतः सदा । सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं कुत एव तत् ॥
सिद्धरूपं हि यद्भोग्यं न नियोगः स तावता । सध्यत्वेनेह भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता ॥
सिसाधयिषितो योर्थः सोनया नाभिधीयते । यस्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि सर्वज्ञो मतभेदः कथं तयोः ॥
सूक्ष्माद्यर्थोपि चाध्यक्षः कस्यचित्सकलः स्फुटम् । श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपादिदेशवत् ॥
स्वसंबंधि यदीदं स्याद् व्यभिचारि पयोनिधेः । अंभःकुंभादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥
स्वामित्वेनाभिमानो हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्य तदेव विज्ञेयं तदेवं स्वं निरुच्यते ॥
स्यानत्रयाविसंवादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते. तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥



पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

आप्त—जो अज्ञानादि दोष, ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म रूप आवरण से रहित निर्दोष, सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ, और युक्तिशास्त्र से अविरोधी वचन बोलने वाले हितोपदेशी हैं।

अन्यथानुपपत्ति—अन्य प्रकार से नहीं होना, जैसे अग्नि रूप साध्य के अभाव में धूम रूप साधन का न होना।

तथोपपत्ति—उस प्रकार होना, जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना।

व्यभिचार दोष—जो हेतु पक्ष, सपक्ष में रहते हुये विपक्ष में चला जावे जो व्यभिचारी या अनैकांतिक कहलाता है। जैसे 'आकाश नित्य है क्योंकि प्रमेय है' यहां प्रमेयत्व हेतु नित्य आकाश में रहते हुये अनित्य घट में भी चला जाता है क्योंकि घट भी प्रमेय है।

अध्यात्म—आत्मा का आश्रय लेकर होना।

नियोग—'नियुक्तोहंअनेन वाक्येन' मैं इस वेद वाक्य से नियुक्त हुआ हूं इस प्रकार के वेद वाक्य के अर्थ को नियोग कहते हैं।

प्रमाण संप्लव—बहुत से प्रमाणों का एक अर्थ में प्रवृत होना।

विधिवाद—जगत् को एक परब्रह्म रूप ही मानना, या सर्व जगत् को एक सत्, रूप ही मानना, इसे ब्रह्मवाद, ब्रह्माद्वैत, सत्ताद्वैत भी कहते हैं।

अविद्या—अद्वैतवादियों द्वारा कल्पित भेद रूप गलत धारणा को अविद्या कहते हैं।

वासना—पूर्व पूर्व के संस्कार से एक रूप वस्तु को अनेक भेद रूप मानना या एक क्षण में नष्ट होने वाली क्षणिक वस्तु को कालांतर स्थायी मानना। इसे अद्वैतवादी और बौद्ध दोनों ही मानते हैं।

सवृत्ति—कल्पना मात्र। सर्वथा असत्य।

चार्वाक—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टयों से आत्मा की उत्पत्ति मानने वाला जड़वादी।

बौद्ध—सर्वथा प्रत्येक वस्तु को एक क्षण मात्र स्थिति वाली मानने वाले क्षणिकवादी।

सांख्य—प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों को मानने वाले, सर्वथा प्रत्येक वस्तु को नित्य कूटस्थ अपरिणामी मानने वाले, आत्मा को अकर्ता, नित्य शुद्ध कहने वाले, नित्यैकांतवादी।

मीमांसक—वेद को अपौरुषेय मानने वाले, सर्वज्ञ को न मानने वाले।

वैशेषिक—द्रव्य गुण आदि सात पदार्थ मानने वाले, समवाय संबंध से वस्तु के अस्तित्व को कहने वाले। ईश्वर सृष्टि कर्तृत्ववादी।

नैयायिक—प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थ मानने वाले, ईश्वर कर्तृत्व वादी।

वेदांती—ब्रह्माद्वैतवादी, सत्ताद्वैतवादी या विधिवादी सब पर्यायवाची नाम हैं।

अद्वैत—सर्वथा संपूर्ण चराचर जगत् को एक रूप मानने वाले। इनमें पांच भेद हैं—ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत और शून्याद्वैत।

तत्त्वोपप्लववादी—तात्वों को कहकर उनका अभाव करने वाले, कल्पना मात्र ही तत्त्व को मानने वाले।

शून्यवादी—संपूर्ण जगत् को असत्य या कल्पना रूप कहने वाला बौद्ध का माध्यमिक नामक एक भेद।

जैन—द्रव्यदृष्टि से सभी वस्तु को नित्य, अनादि निधन एवं पर्याय दृष्टि से सभी वस्तु को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक सत् रूप मानने वाले स्याद्वादी, कर्म शत्रु विजेता ऐसे जिन भगवान् के उपासक।

अन्यापोह—अन्य का अभाव करके कथन करना। बौद्ध शब्दों का अर्थ अन्यापोह करते हैं। जैसे 'गौ' इस शब्द को सुनने पर 'यह अश्व नहीं है, हाथी नहीं है, इत्यादि अर्थ करना अन्यापोह है।

प्रतिपत्ति—ज्ञान,

संप्रतिपत्ति—विसंवाद रहित जानना।

विप्रतिपत्ति—विसंवाद का होना।

सामान्य—अन्वय रूप धर्म या सत् रूप धर्म। जैसे सभी वस्तुयें अस्ति रूप हैं या सभी गायों में गायपना है यही सामान्य धर्म है।

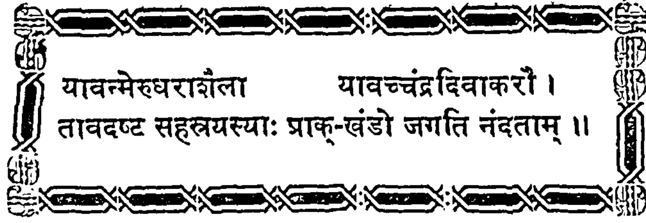
विशेष—व्यावृत्ति रूप धर्म, जैसे यह गाय काली है, यह सफेद है इन धर्मों को विशेष कहते हैं।

प्रत्यासत्ति—निकटता का होना।

उपलब्धि लक्षण प्राप्ति—जो दिखने, उपलब्ध होने योग्य है उसकी प्राप्ति —

उपलब्धि लक्षण प्राप्तानुपलब्धि—जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य है उसकी प्राप्ति का न होना, जैसे कमरे में घट उपलब्ध होने योग्य है उसका न होना। इसे दृश्यानुपलब्धि भी कहते हैं।

अनुपलब्धि लक्षण प्राप्तानुपलब्धि—जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य नहीं है उसकी प्राप्ति का न



अष्टसहस्त्री

प्रथम भाग

सम्पूर्ण

***

यावन्मेरुधराशैला यावच्छंद्र दिवाकरौ । तावदष्ट सहस्रयाः प्राक् खंडो जगति नंदताम् ॥

प्रशस्तिः

सिद्धं सन्मतिदेवस्य धर्मचक्रैकशासनम् । सर्वार्थसिद्धिकर्तारं शासनं जिनशासनम् ॥ १ ॥
बर्षे चतुःशते सप्तत्युत्तरे वीरनिर्वृते । कुन्दकुन्दगणी जातो गौतमानुप्रसिद्धिभाक् ॥ २ ॥
तस्य पूतान्वये ख्याते तपोज्ञानपरायणाः । बहवः ख्यातनामानः समभूवन्महर्षयः ॥ ३ ॥
क्रमशस्तत्र सञ्जातः प्रशान्तः सागरोपमः । शांतिसागर आचार्यो मुनीन्द्रो गणनायकः ॥ ४ ॥
येन दैगम्बरी दीक्षा विधिर्लोके प्रवर्तितः । चिरादासीन्निरुद्धोऽसौ कलिकालप्रभावतः ॥ ५ ॥
तत्प्रतिष्ठापदं लेभे सूरिः श्री वीरसागरः । निग्रहानुग्रहे दक्षो व्यवहार विदांवरः ॥ ६ ॥
तपसा तेजसा कीर्त्या प्रभावेण महौजसा । तत्प्रतिष्ठासमः सूरिर्नास्ति सूर इवाम्बरे ॥ ७ ॥
महाभागस्य तस्यैव गुरोः पादयुगान्तिके । आर्यिकायाः प्रव्रज्या मे सञ्जाता भवहारिणी ॥ ८ ॥
नाम्ना ज्ञानवती चाहं कृतानेनैव सूरिणा । तत्प्रसादान्मया लब्धमात्मज्ञानं भवान्तकम् ॥ ९ ॥
लब्धमासीदतः पूर्वं ब्रह्मचर्यं व्रतं मया । देशभूषणसूरीणामन्तिके क्षुल्लिकाव्रतम् ॥ १० ॥
सर्वत्र विहरन् भूमौ वीरवत् वीरसागरः । आयुरन्ते समाधिस्थः दिवं यातो महामुनिः ॥ ११ ॥
शिवसागर आचार्यस्ततस्तत्पट्टमाश्रितः । संसारदुखतप्तानां शिवं साक्षात् प्रदर्शयन् ॥ १२ ॥
वर्षाणां द्वादशं यावत् विहारं कृतवानसौ । पुनः समाधिं संप्राप्य स्वर्गलोकं समाश्रितः ॥ १३ ॥
ततः संघानुसम्मत्या धर्मवार्द्धिरिवापरः । धर्मसागर आचार्यस्तस्य पट्टे प्रतिष्ठितः ॥ १४ ॥
यस्यानुशासनं पूतं श्रावकंमुनिभिस्तथा । मूर्ध्नि संधार्यते नित्यं जिनाज्ञेव सुदृष्टिभिः ॥ १५ ॥
यस्य पार्श्वे मयाधीतं श्रुतं सम्यक् जिनोदितम् । स महावीरकीर्त्तिर्मे भूयात् मङ्गलदायकः ॥ १६ ॥
सर्वशास्त्रेषु निष्णातः नैकभाषाविशारदः । स एवासीत् प्रभुः सूरिः मन्त्रविद्याविचक्षणः ॥ १७ ॥
मरुप्रदेशके ग्रामोऽस्ति टोडारायसिंहकः । तत्र श्रीपार्श्वनाथस्य मंदिरे जिनसन्निधौ ॥ १८ ॥
रसविष्णुदिशा युग्मे वीराब्दे विश्रुते शुभे । पौषमासि सिते पक्षे द्वादश्यां शुक्रवासरे ॥ १९ ॥
विख्याताष्टसहस्त्र्या वै गीर्वाण्या राष्ट्रभाषया । गुरुभक्त्यानुवादोयं मया सम्यगपूर्यंत ॥ २० ॥
स्थेयादष्टसहस्त्रीयं राष्ट्रभाषा विभूषिता । विदुषां रञ्जनं कुर्याद्यावच्चंद्रदिवाकरौ ॥ २१ ॥

इति शुभं भूयात्

—o—

विषय-दर्पण

शार्द शाव्श्वत वेदोत्थं	शाब्दं शाश्वत वेदोत्थं	५०	१८
वहीं	वही	५०	१२
प्रत्येक	प्रत्यक्ष	५०	१४
क्योंकि हैं	हैं क्योंकि	५४	७
की	को	५४	६
जीवस्यानानन्द्यनंत	जीवस्यानाद्यनंत	५४	१७
जाघटयते	जाघटचये	५४	१८
निलानिला:	निलानला:	५५	१
तव चतुष्टय	तत्त्व चतुष्टय	५६	१५
वातों	वात	५६	१
उसे	उन्हें	५६	१०
प्रकृति	प्रकृतिरूप	६०	१
रुप	रूप	६०	१२
रुप	रूप	६१	११
चेतना	चेतन	६०	२०
प्रामणं	प्रमाणं	६०	२६
तत्त्व	सत्त्व	६१	२
व्यक्त अव्यक्त ।	व्यक्त । अव्यक्त	६१	८
अश्रित	आश्रित	६१	६
रुप	रूप	६१	१०
रुप	रूप	६१	११
मानता	मानना	६१	२८
तच्चतर्विध	तच्चतुर्विधं	६२	५
नत्रों	नेत्रों	६४	१८
तक	तर्क	६४	२२
वोधार्य	वोधार्थ	६६	२६
प्रमाण वार्तिक	'प्रमाण वार्तिक' है	७२	२७
जाये	जावें	७४	११
समाहये	समाह्वये	७६	३
नार्योपशदेशना	नार्योपदेशना	७६	६
सृष्टि क	सृष्टि को	७७	१८

ववोंन	वनावें	७७	१९
तवो	तव	७७	१९
तयोर्भोक्ति:	तयोर्भोक्तृ:	७८	११
श्रति	श्रुत	७९	२९
सवंज्ञ	सर्वज्ञ	८०	२६
व्यप्नोति	व्याप्नोति	८३	१
स	से	८३	२
निर्गम	निर्णय	८४	८
व्रह्मा	व्रह्म	८७	४
भी पांच स्कंधों से	पांच स्कंधों से भी	८७	८
वन	बन	८७	२१
है	हैं	८७	२६
इसी	इन्हीं	८७	२९
वट	बट	८९	१४
मनःपर्यत्र	मनःपर्यय	९०	१
कुश्रुत	कुश्रुति	९०	२
संसारी हैं ।	संसारी है	९०	११
एवोऽणरात्मा	एषोऽणुरात्मा	८९	१९
णिगाद	णिगोद	९३	१५
णिच्चुग्घादं	णिच्चुग्घाडं	९३	१६
गलत हैं	गलत है	९५	१६
तक	तक कि	९७	१८
एक	"एक	९७	२१
पर्यायें हैं	पर्यायें हैं"	९७	२२
पूर्वोपर्जित	पूर्वोपार्जित	९८	२
त्पत्तरभावात्	त्पत्तेरभावात्	९९	१३
नवात्मगुणात्यंतोच्छेदो	नवात्मगुणानामत्यंतोच्छेदो	१००	१२
निर्जराभ्य	निर्जराभ्याम्	१०१	१९
त्रयामिहा···	त्रयमिहा···	१०२	१२
वदन्येवं	वदन्त्येवं	१०२	२६

उपादन	उपादान	१०३	२४
होता हैं	होता है	१०४	२
ध्वंसी है	ध्वंसी हैं	१०४	७
मूर्ध्व	मूर्ध्वं	१०४	१०
ज्ञाननामु	ज्ञानानामु	१०८	२८
पेज	पृ.	१०८	६
अपना	अपनी	११०	२६
ङ्गलुम्	ङ्गलम्	१११	७
पवित्र में	में पवित्र	११६	११
अस्तित्त	अस्तित्व	११६	२४
नित्य है	नित्य हैं	११६	२५
अनित्य है	अनित्य हैं	११६	२५
सदा करे	सदाकरें	१२०	८
कुशलानी है	कुशलानो	१२०	१०
निभय	निर्भय	१२०	१४



ॐ

श्री अकलंकदेवाय नमः

न्यायसार

मंगलाचरण

सिद्धान् सर्वान् नमस्कृत्य, न्यायशास्त्रानुसारतः।
न्यायशास्त्रप्रवेशार्थं, न्यायसारं प्रवक्ष्यहं ।।

जैन सिद्धांत में न्याय शास्त्र कसौटी के पत्थर सदृश हैं जिनके द्वारा सत्य असत्य की परीक्षा की जाती है। कसौटी के पत्थर पर कसा हुआ सुवर्ण शुद्ध कहलाता है उसी प्रकार इन न्याय शास्त्रों में सच्चे आप्त, सत्य प्रमाण एवं सत्य पदार्थों को तर्क की कसौटी पर कसकर शुद्ध माना जाता है। श्री समंतभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा स्तोत्र में आप्त को तर्क की कसौटी पर कस कर उन्हें सत्य मानकर नमस्कार किया है। अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थों में स्वामी श्री सिद्धसेन दिवाकर, स्वामी भट्टाकलंक देव, आ० माणिक्यनंदि एवं अष्टसहस्री के कर्ता आचार्य श्री विद्यानन्द आदि महान् महान् आचार्यों ने विशद रीति से आप्त-आप्ताभास, प्रमाण-प्रमाणाभास आदि का वर्णन किया है। अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तंड, श्लोकवार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्रोदय, सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों को सरलता से समझने के लिए श्री माणिक्यनंदि आचार्य का परीक्षामुख श्री धर्मभूषणयति विरचित न्यायदीपिका आदि लघु पुस्तकें भी विद्यमान हैं। फिर भी आजकल प्रायः न्याय ग्रन्थ पढ़ने की रुचि नहीं रही है। जबकि अष्टसहस्री जैसे ग्रन्थों में बहुत से प्रकरण स्याद्वाद प्रक्रिया से बहुत ही रुचिकर और सरल हैं। अतः इन विशेष ग्रन्थों में सरलता से प्रवेश कराने के लिये ही आचार्यों के ग्रन्थों के आधार से अतिसंक्षेप में प्रमाण अनुमान आगम आदि के लक्षण को समझने के लिए ही यह न्यायसार ग्रंथ लिखा गया है। इसमें पूर्वाचार्यों के द्वारा कथित प्रमाण आदि के लक्षण का संकलन किया जायेगा और अन्य मतावलम्बियों के क्या-क्या सिद्धाँत हैं उनका भी संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जायेगा एवं आत्मा, सर्वज्ञ, प्रमाण और तत्त्वों के विषय में किन-किन की क्या-क्या मान्यतायें है ? उनमें क्या क्या दूषण आते हैं ? न्याय की कसौटी से कसी गई शुद्ध वास्तविक व्यवस्था क्या है ? इस पर विचार किया जायेगा।

सर्व प्रथम इसमें ग्रंथ का उद्देश्य, लक्षणनिर्देश और परीक्षा का लक्षण बतलाते हुए प्रमाण समीक्षा की जायेगा; जिसमें जैनाचार्यों द्वारा मान्य प्रमाण का लक्षण, भेद-प्रभेद, विषय और फल बतलाते हुए अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य प्रमाण के लक्षण आदि में दोष दिखलाते हुए प्रमाण की समीक्षा की

जायेगी। अनन्तर दूसरे अधिकार में प्रमेय की समीक्षा करते हुए अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य सिद्धांत, तत्त्व, आत्मा, ज्ञान, संसार, मोक्ष और इन दोनों के कारणों पर विचार करते हुए निर्दोष सर्वज्ञ कथित मान्यता को स्पष्ट किया जाएगा। इस ग्रंथ में चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, मीमाँसक, वेदांती और वैयाकरण के मत की अधिक रूप से समीक्षा की जावेगी। अंत में स्याद्वाद शैली से वस्तु व्यवस्था को समझने का उल्लेख होगा क्योंकि स्याद्वाद शासन ही सार्वभौम शासन है।

जैन सिद्धांत में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य माने हैं एवं जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व होते हैं। इन सबको जानने का उपाय 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र के छठे सूत्र से कहा गया है। क्योंकि प्रमाण और नयों के द्वारा ही जीवादि तत्त्वों का यथार्थज्ञान होता है। किसी का भी वर्णन करने के लिए तीन बातों की प्रमुख आवश्यकता रहती है। उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षा।

उद्देश—**विवेक्तव्यनाममात्रकथनमुद्देशः**। [न्यायदीपिका पृ. ५]

कहने योग्य वस्तु के केवल नाम मात्र कथन को उद्देश कहते हैं।

लक्षण निर्देश—**व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणं**। [न्या. पृ. ६]

मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

श्री अकलंक देव ने भी ऐसा ही कहा है—

"**परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणं**" [तत्त्वार्थवा· २-८]

परस्पर मिली हुई वस्तुओं में किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

परीक्षा—**विरुद्धनानायुक्ति-प्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं चेदेवं न स्यादित्येवं प्रवर्तते**। [न्या. पृ. ८]

विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुये विचार को परीक्षा कहते हैं। वह परीक्षा "यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिये और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिए" इस प्रकार से प्रवृत्त होती है।

इन तीनों में से अब यहाँ लक्षण के भेद कहते हैं

लक्षण के दो भेद है—आत्मभूत और अनात्मभूत।

आत्मभूत—**यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतं यथाग्नेरौष्ण्यं**। [न्या. पृ. ६]

जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो उसे आत्मभूत कहते हैं, जैसे—अग्नि की उष्णता। यह उष्णता अग्नि का स्वरूप होती हुई अग्नि को जलादि से पृथक् कर देती है। इसलिये यह उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है।

अनात्मभूत—**तद्विपरीतमनात्मभूतं यथा दण्डः पुरुषस्य।** [न्या०पृ०६]

जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं जैसे दण्डी पुरुष का लक्षण दण्ड। 'दण्डी को लाओ' ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष का स्वरूप न होता हुआ भी पुरुष को भिन्न पदार्थों से पृथक् कर देता है। इसलिये यह दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है।

लक्षणाभास को बताते हैं।

सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं।

उसके तीन भेद हैं—अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभवी।

अव्याप्त—**लक्ष्यैकदेशवृत्यव्याप्तम्। यथा गोः शावलेयत्वं।** [न्या०पृ०७]

जो लक्ष्य के एक देश में रहता है उसे अव्याप्त दोष कहते हैं। जैसे गो का लक्षण शावलेयत्व। शावलेयत्व-चितकबरा धर्म सभी गायों में नहीं पाया जाता है कुछ ही गायों में रहता है अतः अव्याप्त है।

अतिव्याप्त—**लक्ष्यालक्ष्यवृत्यतिव्याप्तं, यथा तस्यैस्व पशुत्वं।** [न्या० पृ०७]

जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहता है उसे अतिव्याप्त कहते हैं जैसे गो का लक्षण पशु-पना। यह पशुपना गाय के सिवाय अन्य अश्व आदि में भी पाया है अतः अतिव्याप्त है।

असंभवी—**बाधितलक्ष्यवृत्यसंभवि, यथा नरस्य विषाणित्वं।** [न्या० पृ०७]

जिसका लक्ष्य में रहना असंभव हो वह असम्भव है जैसे मनुष्य का लक्षण सींग। सींग किसी भी मनुष्य में नहीं पाया जाता है अतः यह असम्भविलक्षणाभास है।

लक्ष्य किसे कहते हैं

जिसका लक्षण किया जाता है वह लक्ष्य कहलाता है। जैसे जीव का लक्षण उपयोग है ऐसा कहने पर जीव तो लक्ष्य है और उसका लक्षण उपयोग है जोकि अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभवी दोषों से रहित है।

'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र से प्रमाण का उद्देश हो चुका है अब प्रमाण का लक्षण निर्देश करते हैं एवं प्रमाण की परीक्षा यथा अवसर होवेगी।



प्रमाण-समीक्षा

प्रमाण का लक्षण

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं। अत्र सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते अप्रमाणत्वादेतेषां ज्ञानानामिति । [न्या० पृ० ६]

सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। यहां जो सम्यक्पद है वह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के निराकरण के लिए है क्योंकि ये तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं।

संशय—**विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति**। [न्या० पृ० ६]

विरुद्ध अनेक पक्षों के स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं जैसे—यह ठूंठ है या पुरुष।

प्रायः संध्या आदि के समय मंद प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाणु और पुरुष दोनों में सामान्य रूप से रहने वाले ऊंचाई आदि साधारण धर्मों के देखने से और स्थाणु का टेढ़ापन आदि एवं पुरुष के शिर पैर आदि विशेष धर्मों के स्पष्ट नहीं होने से नाना कोटियों का अवगाहन करने वाला ज्ञान संशय कहलाता है।

विपरीत—**विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानं**। [न्या० पृ०६]

विपरीत एक पक्ष के निर्णय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं जैसे 'सीप में यह चाँदी है' इस प्रकार का ज्ञान होना। इस ज्ञान में सदृशता आदि कारणों से सीप से विपरीत चांदी का सीप में निर्णय होता है अतः यह विपरीत ज्ञान है।

अनध्यवसाय—**किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम्**। [न्या० पृ०६]

'क्या है' इस प्रकार के अनिश्चय रूप सामान्य ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे—मार्ग में चलते हुये पथिक के पैर में तृण कण्टक आदि के स्पर्श हो जाने पर ऐसा ज्ञान होना कि 'यह क्या है'। यह ज्ञान नाना पक्षों का अवगाहन न करने से संशय नहीं है एवं विपरीत एक पक्ष का निश्चय न करने से विपरीत भी नहीं है। अतः संशय विपर्यय से रहित होने से यह तीसरा ही अनध्यवसाय नामक मिथ्या ज्ञान है। ये तीनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान में नहीं पाये जाते हैं।

श्री माणिक्यनंदि आचार्य प्रमाण का लक्षण करते हैं—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं ॥१॥ [परीक्षामुख प्र०प०]

अपना और अपूर्व अर्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

इस प्रमाण के लक्षण में जो 'ज्ञान' पद है वह अज्ञान रूप सन्निकर्ष, कारक साकल्य और इन्द्रिय प्रवृत्ति की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए है।

जो 'व्यवसाय' पद है वह बौद्धाभिमत निर्विकल्प ज्ञान की प्रमाणता का खंडन करने के लिए है। 'अर्थ' पद विज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत तथा शून्यैकांतवाद को प्रमाण नहीं मानने के लिए है। 'अपूर्व' विशेषण गृहीतग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण का निराकरण करने के लिए है। एवं 'स्व' विशेषण अस्वसंविदित ज्ञान की प्रमाणता के निषेध के लिए है।

ज्ञान ही प्रमाण क्यों है ?

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥२॥ [प. मु. प्र. प.]

जो हित-सुख की प्राप्ति और अहित-दुःख को दूर करने में समर्थ होता है वह प्रमाण है और वह ज्ञान ही हो सकता है अन्य नहीं।

प्रमाण के भेद और लक्षण

तद्द्वेधा ॥१॥ प्रत्यक्षेतर भेदात् ॥२॥ विशदं प्रत्यक्षं ॥३॥ [प. मु. द्वि. प.]

उस प्रमाण के दो भेद हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष।

विशद-स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद हैं--सांव्यवहारिक और पारमार्थिक।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकं ॥५॥ [प. मु. द्वि. प.]

इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले एक देश निर्मल ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसे मति ज्ञान भी कहते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतींद्रियमशेषतो मुख्यं ॥११॥ [प. मु. द्वि. प.]

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सामग्री की पूर्णता से दूर हो गये हैं समस्त आवरण जिसके ऐसे इन्द्रियों की सहायता रहित और पूर्णतया विशद् ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि आवरण सहित और इन्द्रियजन्य ज्ञान में ही वाधा संभव है अन्यत्र नहीं।

परोक्ष प्रमाण का लक्षण

परोक्षमितरत् ॥१॥ [प. मु. तृ. प.]

प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न सभी प्रमाण परोक्ष हैं अर्थात् अविशद ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

परोक्ष प्रमाण के भेद

परोक्ष प्रमाण के प्रत्यक्ष स्मृति आदि आगे-आगे कारण माने गये हैं। इसके पांच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

पहले धारणा रूप प्रत्यक्ष हुये पदार्थ का ही स्मरण होता है इसलिए स्मृतिज्ञान में प्रत्यक्ष

निमित्त है प्रत्यभिज्ञान में स्मृति और प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है। तर्क ज्ञान में प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान तीनों की आवश्यकता होती है। अनुमान ज्ञान में प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क इन चारों की आवश्यकता रहती है। आगम प्रमाण में संकेत ग्रहण और उसका स्मरण ये दोनों ही कारण होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन पाँचों ही प्रमाणों में दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता होती है इसलिए उन्हें परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

स्मृति प्रमाण का लक्षण

संस्कारोद्वोधनिवंधना तदित्याकारा स्मृतिः ॥३। स देवदत्तो यथा ॥४॥ [प. मु. तृ. प.]

संस्कार-धारणारूप अनुभव की प्रगटता से होने वाले तथा 'तत्'—'वह' इस आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे वह देवदत्त।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण

दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि॥५॥
[प. मु. तृ. प.]

वर्तमान का प्रत्यक्ष और पूर्व दर्शन का स्मरण है जिसमें ऐसे जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उसके एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य और प्रातियौगिक ये चार भेद हैं। 'यह वही है' इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। 'यह उसके सदृश है' यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। 'यह उससे विलक्षण हैं' यह 'विलक्षण प्रत्यभिज्ञान हैं। यह उसका प्रतियोगी है। उन चारों में क्रमशः इस प्रकार प्रतिभास होता है।

प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण

यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिषः, इदमस्माद्दूरं वृक्षोयमित्यादि ॥६॥
[प. मु. तृ. प.]

यह वही देवदत्त हैं, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह रोझ गौ के समान है, यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह भैंस उस गौ से विलक्षण है, यह विलक्षण प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह प्रदेश उस प्रदेश से दूर है, यह वही वृक्ष है ये सब प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण हैं।

तर्क प्रमाण का लक्षण

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥७॥ [प. मु. तृ. प.]

साध्य और साधन का निश्चय और अनिश्चय है कारण जिसमें ऐसे व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

व्याप्ति ज्ञान का स्वरूप

इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव ॥८॥

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥९॥ [प. मु. तृ. प.]

यह साधन इस साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के नहीं होने पर यह साधन नहीं होता है, यही व्याप्ति है। जैसे अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं होता है।

अनुमान का लक्षण

साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं ॥१०॥ [प. मु. तृ. प.]

साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

साधन का लक्षण

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥११॥ [प. मु. तृ. प.]

जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित होवे अर्थात् जो साध्य के बिना नहीं हो सकता है उसे साधन–हेतु कहते हैं।

अविनाभाव का स्वरूप और भेद

जो जिसके बिना न होवे उसे उसका अविनाभावी कहते हैं। उसके दो भेद हैं—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१२॥ [प. मु. तृ. प.]

साध्य और साधन का एक साथ एक समय में होने का नियम सहभाव नियम अविनाभाव कहलाता है। और काल के भेद से साध्य और साधन का क्रम से होने का नियम क्रमभाव नियम कहलाता है।

सहभाव का लक्षण व उदाहरण

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१३॥ [प. मु. तृ. प.]

सदा साथ रहने वालों में तथा व्याप्य और व्यापक में जो अविनाभाव संबंध होता है उसे सहभाव नियम नामक अविनाभाव संबंध कहते हैं। रूप-रस सदा एक साथ रहते हैं। वृक्षत्व व्यापक और शिंशपात्व व्याप्य है। जो तत् अतत् ऐसे दोनों जगह रहता है वह व्यापक है और जो अल्पदेश में रहता वह व्याप्य कहलाता है।

क्रमभाव का लक्षण

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१४॥ [प. मु. तृ. प.]

पूर्वचर और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में जो अविनाभाव संवन्ध होता है, उसे क्रमभाव नियम अविनाभाव संवन्ध कहते हैं। कृत्तिका का उदय अंतर्मुहूर्त पहले होता है और रोहिणी का उदय पीछे होता है। इसलिए इन दोनों में क्रमभाव माना गया है। इसी प्रकार अग्नि के बाद में धूम होता है, इसलिए अग्नि और धूम में भी कार्यकारणरूप क्रमभाव माना जाता है

व्याप्ति ज्ञान का निर्णय कैसे होता है ?

तर्कात् तन्निर्णयः ॥१५॥ [प. मु. तृ. प.]

व्याप्ति–अविनाभाव का निर्णय तर्क प्रमाण से होता है। जैनाचार्यों के सिवाय अन्य किसी ने भी तर्क प्रमाण को नहीं माना है अतः सबके द्वारा मान्य प्रमाण की संख्या असत्य ठहरती है।

साध्य का स्वरूप

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यं ॥१६॥ [प. मु. तृ. प.]

जो वादी को इष्ट-अभिप्रेत है--प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित है और असिद्ध है उसे साध्य कहते हैं। यहां असिद्ध विशेषण का प्रयोजन यह है कि कोई भी सिद्ध अर्थ को साध्य की कोटि में नहीं रखेगा अतएव असिद्ध को ही साध्य की कोटि में रखकर सिद्ध किया जाता है।

धर्म और धर्मी के समुदाय का कथन करना 'पक्ष' कहलाता है। धर्मी को भी पक्ष कहते हैं।

प्रसिद्धो धर्मी ॥२३॥ [प. मु. तृ. प.]

वह धर्मी-पक्ष प्रसिद्ध ही होता है। अवस्तु स्वरूप या कल्पित नहीं होता है।

अनुमान के दो अंग होते हैं

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥३३॥ [प. मु. तृ. प.]

पक्ष और हेतु ये दो ही अनुमान के अवयव है, उदाहरण नहीं है।

जैनाचार्य अनुमान के मुख्य रूप से दो ही अवयव मानते हैं। सांख्य-पक्ष हेतु और दृष्टांत, मीमांसक-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण व उपनय तथा नैयायिक-प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन ऐसे ये लोग क्रम से ३, ४ या ५ अवयव मानते हैं। जिनका जैनाचार्यों ने खण्डन किया है। बौद्ध एक 'हेतु' को ही अनुमान का अवयव मानता है।

कदाचित् जैनाचार्य भी पांच अवयव मान लेते हैं

बालव्युत्पत्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्रे एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥४२॥ [प. मु. तृ. प.]

बाल बुद्धि वाले-अल्पज्ञ जनों को समझाने के लिए उदाहरण उपनय और निगमन की स्वीकारता शास्त्र में ही है, वाद काल में नहीं। क्योंकि वाद करने का अधिकार विद्वानों को ही होता है और वे पहले से ही व्युत्पन्न रहते हैं। इसलिए उनको उदाहरण आदि का प्रयोग उपयोगी नहीं होता।

उदाहरण के भेद

उदाहरण के दो भेद हैं।

दृष्टांतो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥४३॥ [प. मु. तृ. प.]

दृष्टांत के दो भेद हैं—अन्वय और व्यतिरेक।

अन्वय दृष्टान्त का स्वरूप

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टांतः ॥४४॥ [प. मु. तृ. प.]

जिसमें साध्य के साथ साधन की व्याप्ति दिखाई जाती है उसे अन्वय दृष्टांत कहते हैं। जैसे--जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है, इस प्रकार साधन का सद्भाव दिखाकर साध्य का सद्भाव दिखाना अन्वयव्याप्ति है।

व्यतिरेक दृष्टान्त का स्वरूप

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेक दृष्टान्तः ॥४५॥ [प. मु. तृ. प.]

जिसमें साध्य का अभाव दिखाकर साधन का अभाव दिखाया जाता है वह व्यतिरेक दृष्टांत है। जैसे--जहां-जहां अग्नि नहीं होती है वहां-वहां धूम भी नहीं होता है, इस प्रकार से साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाना व्यतिरेक व्याप्ति है।

उपनय का लक्षण

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥४६॥ [प. मु. तृ. प.]

पक्ष में साधन के दुहराने को उपनय कहते हैं।

निगमन का स्वरूप

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥४७॥ [प, मु. तृ. प.]

प्रतिज्ञा के दुहराने को निगमन कहते हैं। जैसे धूम वाला होने से यह अग्नि वाला है।

अनुमान के भेद

तदनुमानं द्वेधा ॥ ४८ ॥ स्वार्थपरार्थभेदात् ॥४९॥ [प. मु. तृ. प.]

अनुमान के दो भेद हैं। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थमुक्तं लक्षणं ॥५०॥ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातं ॥५१॥ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥५२॥ [प. मु. तृ. प.]

'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं' इस सूत्र से कहा गया अनुमान का लक्षण ही स्वार्थानुमान का लक्षण है।

स्वार्थानुमान के विषय भूत, साध्य और साधन को कहने वाले वचनों से उत्पन्न हुए ज्ञान को परार्थानुमान कहते हैं। एवं परार्थानुमान के कारण होने से परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों को भी परार्थानुमान कहते हैं।

हेतु के भेद

स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥५३॥ [प. मु. तृ. प.]

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५४॥ [प. मु. तृ. प.]

हेतु के दो भेद हैं उपलब्धि रूप हेतु और अनुपलब्धि रूप हेतु। उपलब्धि रूप हेतु विधि और प्रतिषेध के साधक हैं एवं अनुपलब्धि रूप हेतु भी विधि और प्रतिषेध दोनों के साधक है। अर्थात् उपलब्धि के दो भेद हैं अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि। ऐसे ही अनुपलब्धि के भी दो भेद हैं-अविरुद्धानुपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि।

अविरुद्धोपलब्धि के भेद

अविरुद्धोपलब्धि के विधि में छह भेद हैं। अविरुद्धव्याप्योपलब्धि, अविरुद्धकार्योपलब्धि, अविरुद्धकारणोपलब्धि, अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धि, अविरुद्धसहचरोपलब्धि।

विरुद्धोपलब्धि के भेद

विरुद्धोपलब्धि के प्रतिषेध को सिद्ध करने में छह भेद हैं। विरुद्धव्याप्योपलब्धि, विरुद्धकार्योपलब्धि, विरुद्धकारणोपलब्धि, विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि और विरुद्धसहचरोपलब्धि।

अविरुद्धानुपलब्धि के भेद

अविरुद्धानुपलब्धि के प्रतिषेध में सात भेद हैं। अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि, अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि, अविरुद्धकार्यानुपलब्धि, अविरुद्धकारणानुपलब्धि, अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि, अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि और अविरुद्धसहचरानुपलब्धि।

विरुद्धानुपलब्धि के भेद

विरुद्धानुपलब्धि के विधि में तीन भेद हैं—विरुद्धकार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि, विरुद्धस्वभावानुपलब्धि। यहाँ हेतु के ये बावीस भेद बताये हैं प्रत्येक के लक्षण और उदाहरण परीक्षामुख ग्रन्थ से देख लेना चाहिए।

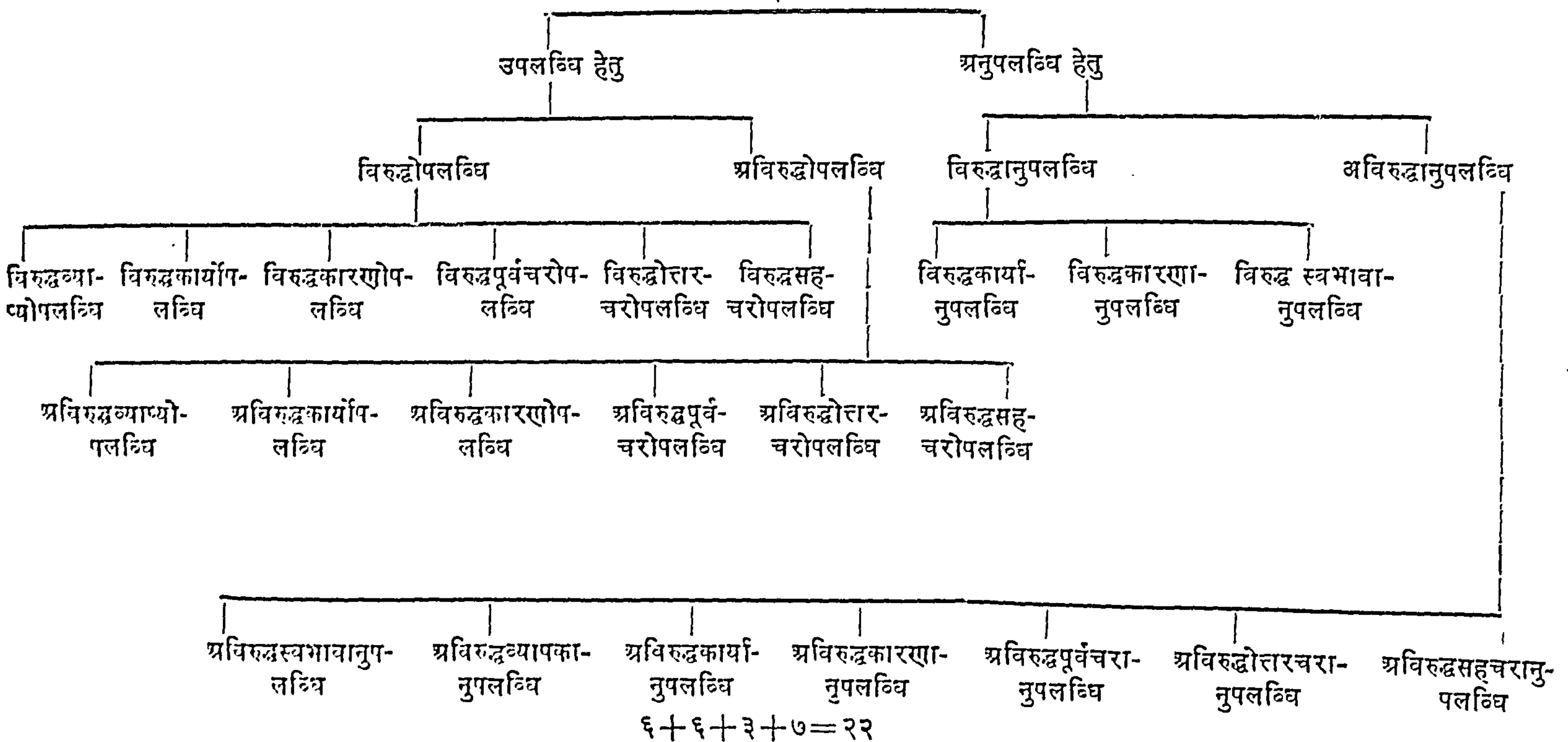
इन बाईस हेतुओं में से सबसे प्रथम अविरुद्ध व्याप्योपलब्धि का उदाहरण देते हैं—

"परिणामी शब्दः कृतकत्वात् य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः कृतकश्चायं तस्मात्परिणामीति यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनंधयः, कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामी ॥६१॥

[प. मु. तृ. प.]

अर्थ—शब्द परिणामी होता है क्योंकि वह किया हुआ है। जो-जो किया हुआ होता है वह-वह परिणामी होता है जैसे घड़ा। घड़े की तरह शब्द भी किया हुआ है अतः वह भी परिणामी होता है। जो पदार्थ परिणामी नहीं होता वह पदार्थ किया भी नहीं जाता, जैसे वन्ध्या स्त्री का पुत्र। उसी तरह यह शब्द कृतक होता है, इसी कारण परिणामी होता है। यहां परिणामित्व साध्य से अविरुद्ध व्याप्य कृतकत्व की उपलब्धि है।

'परिणामी शब्दः' यह प्रतिज्ञा है 'कृतकत्वात्' यह हेतु है। 'यथाघटः' यह अन्वय दृष्टांत है "यथा वन्ध्यास्तनंधयः' यह व्यतिरेक दृष्टांत है, 'कृतकश्चायं' यह उपनय है। 'तस्मात् परिणामीति' यह निगमन है। इस प्रकार से यहां पहले बतलाये गये जो अनुमान के पाँच अवयव माने गये हैं वे पांचों अवयव दिखलाये गए है। यहां पर 'कृतकत्वात्' यह हेतु शब्द को परिणामी सिद्ध करता है, वह हेतु परिणामीपने से व्याप्त है अतः यह हेतु 'अविरुद्धव्याप्योपलब्धि" नाम से कहा जाता है। ऐसे ही सभी हेतुओं का लक्षण अन्यत्र ग्रन्थों से समझना चाहिए।


हेतु
उपलब्धि हेतु
अनुपलब्धि हेतु
विरुद्धोपलब्धि
अविरुद्धोपलब्धि
विरुद्धानुपलब्धि
अविरुद्धानुपलब्धि
विरुद्धव्याप्योपलब्धि
विरुद्धकार्योपलब्धि
विरुद्धकारणोपलब्धि
विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि
विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि
विरुद्धसहचरोपलब्धि
विरुद्धकार्यानुपलब्धि
विरुद्धकारणानुपलब्धि
विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि
अविरुद्धव्याप्योपलब्धि
अविरुद्धकार्योपलब्धि
अविरुद्धकारणोपलब्धि
अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि
अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि
अविरुद्धसहचरोपलब्धि
अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि
अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि
अविरुद्धकार्यानुपलब्धि
अविरुद्धकारणानुपलब्धि
अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि
अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि
अविरुद्धसहचरानुपलब्धि
६+६+३+७=२२

अन्य हेतु भी इन्हीं बाईस हेतुओं में शामिल है ।

परम्परया संभवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयं ॥८६॥ [प. मु. तृ. प.]

गुरु परम्परा से और भी जो हेतु संभव हो सकते हों उनका पूर्वोक्त साधनों में ही अंतर्भाव करना चाहिये ।

व्युत्पन्न जनों की अपेक्षा अनुमान के अवयवों के प्रयोग का नियम

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ॥६०॥ [प. मु. तृ. प.]

व्युत्पन्न पुरुषों के लिए तथोपपत्ति या अन्यथानुपपत्ति नियम से ही प्रयोग करना चाहिये ।

साध्य के सद्भाव में साधन का होना 'तथोपपत्ति' है एवं साध्य के अभाव में साधन का न होना 'अन्यथानुपपत्ति' कहलाती है ।

व्युत्पन्न प्रयोग की उदाहरण द्वारा पुष्टि

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्ते र्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ॥६१॥ [प. मु. तृ. प.]

यह प्रदेश अग्नि वाला है क्योंकि अग्नि के सद्भाव में ही यह धूमवाला हो सकता है, यह तथोपपत्ति का उदाहरण है । अथवा अग्नि के अभाव में यह धूमवाला हो ही नहीं सकता, इसलिए इसमें अवश्य अग्नि है, यह 'अन्यथानुपपत्ति' का उदाहरण है । इस प्रकार 'तथोपपत्ति' या 'अन्यथानुपपत्ति' का प्रयोग करना चाहिए । इस दृष्टाँत से यह निश्चय किया जाता है कि विद्वानों के लिए उदाहरण वगैरह के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है ।

यहां तक अनुमान के अंगभूत साध्य और हेतुओं का वर्णन किया है ।

आगम का स्वरूप

आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागमः ॥६५॥ [प. मु. तृ. प.]

आप्त वचन तथा अंगुलि संज्ञा आदि से होने वाले अर्थज्ञान को आगम प्रमाण कहते हैं ।

शब्द से वास्तविक अर्थबोध होने का कारण

सहजयोग्यता संकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥६६॥ [प. मु. तृ. प.]

अर्थो में वाच्यरूप और शब्दों में वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है, जिसमें संकेत हो जाने से ही शब्दादिक पदार्थों के ज्ञान में हेतु हो जाते हैं ।

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥६७॥ [प. मु. तृ. प.]

जैसे सुमेरु पर्वत आदिक हैं, अर्थात् जैसे मेरु शब्द के सुनने मात्र से ही जंबूद्वीप के मध्यस्थित सुमेरु का ज्ञान हो जाता है । उसी प्रकार सर्वत्र शब्द से अर्थ का ज्ञान हो जाता है ।

इस प्रकार से यहाँ तक परीक्षा मुख सूत्र के आधार से प्रमाण का लक्षण उसके दो भेद, प्रत्यक्ष के दो भेद एवं परोक्ष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पांच भेदों का लक्षण किया गया है ।

न्यायदीपिका ग्रन्थ में कुछ विशेषता है उसे बताते हैं।

प्रमाण के भेद लक्षण और विशेषतायें

प्रमाणं द्विविधं-प्रत्यक्षं परोक्षं चेति तत्र विशदप्रतिभासं प्रत्यक्षं। तत्प्रत्यक्षं द्विविधं-सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति। तत्र देशतो विशदं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं...तच्चतुर्विधं-अवग्रहः ईहा अवायः धारणा चेति। [न्या० पृ० ३१]

प्रमाण के दो भी भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

उसमें विशद-स्पष्ट प्रतिभास को प्रत्यक्ष कहते हैं।

उस प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। एक देश स्पष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। यह ज्ञान पांच इंद्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है अतः चार को छह से गुणा करने से ४×६=२४ भेद हुये हैं इस ज्ञान के विषयभूत पदार्थ बहु, बहुविध आदि के भेद से बारह प्रकार के हैं अतःइन २४ को १२ से गुणा करने पर २४×१२=२८८ भेद हुये।

अवग्रह के दो भेद होते हैं व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह। व्यंजनावग्रह में केवल अवग्रह ही होता है ईहा आदि भेद नहीं होते हैं एवं यह चक्षु और मन से नहीं होता है अतः एक व्यञ्जनावग्रह को ४ इंद्रिय से गुणा करके १२ भेदों से गुणित कीजिये १×४=४, ४×१२=४८, पुनः उपर्युक्त २८८ में इस संख्या को मिला देने से इस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के ३३६ भेद होते हैं। यथा २८८+४८=३३६।

इस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को अमुख्य प्रत्यक्ष भी कहते हैं क्योंकि यह उपचार से सिद्ध है। इसी का नाम मतिज्ञान है वास्तव में यह ज्ञान परोक्ष है जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ में श्री उमास्वामि आचार्य ने स्पष्ट किया है "आद्ये परोक्षं" ।।११।। आदि के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं क्योंकि ये इंद्रिय मन आदि की अपेक्षा रखते हैं अतः परोक्ष हैं। यहां न्याय ग्रन्थों में मतिज्ञान को प्रत्यक्ष कहने का मतलब यह है कि यह ज्ञान इंद्रिय और मन इन दो निमित्तक होते हुये भी लोक के संव्यवहार में 'प्रत्यक्ष' इस प्रकार से प्रसिद्ध होने से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। वास्तव में यह मतिज्ञान परोक्ष ही है। श्रुतज्ञान को तो परोक्ष प्रमाण में 'आगम' नाम से कहा ही है।

सर्वतो विशदं पारमार्थिकं प्रत्यक्षं। मुख्यप्रत्यक्षं इति यावत्। तद्द्विविधं-विकलं सकलं च। तत्र कतिपयविषयं विकलं तदपि द्विविधिम् अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं च। [न्या० पृ० ३४]

पूर्णतया विशदज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी का नाम मुख्य प्रत्यक्ष है। इसके दो भेद हैं—विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। उसमें कतिपय विषय को ग्रहण करने वाला विकल प्रत्यक्ष है उसके भी दो भेद हैं—अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान।

सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलं। [न्या० पृ० ३७]

संपूर्णद्रव्य और उनकी संपूर्ण पर्यायों को विषय करने वाला सकल प्रत्यक्ष है। यह घातिकर्म के नाश से प्रगट हुआ केवलज्ञान है। इस प्रकार से अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ही पूर्णतया विशद होने से पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं। इन ज्ञानों की पूर्णतया विशदता आत्ममात्र की अपेक्षा रखने वाली है। अर्थात् ये तीनों ज्ञान आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं अतः मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्वं, अवधि मनःपर्ययोस्तु न युक्तं, विकलत्वात्, इति चेत् न साकल्य-वैकल्ययोरत्र विषयोपाधिकत्वात्। तथा हि सर्वद्रव्यपर्यायविषयमिति केवलं सकलं। अवधिमनःपर्ययौ तु कतिपयविषयत्वाद्विकलौ। नैतावता तयोः पारमार्थिकत्वच्युतिः। केवलवत्तयोरपि वैशद्यं स्वविषये साकल्येन समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव। [न्या० पृ० ३७]

शंका—केवलज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक है, किन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों विकल प्रत्यक्ष हैं।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि सकलपना और विकलपना यहां विषय की अपेक्षा से है, स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है। इसका स्पष्टीकरण—चूंकि केवलज्ञान समस्त द्रव्यों और पर्यायों को विषय करने वाला है, इसलिये वह सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है। परन्तु अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान कुछ पदार्थों को विषय करते हैं, इसलिये वे विकल कहे जाते हैं। लेकिन इतने मात्र से ही इनमें पार-मार्थिकता की हानि नहीं होती है, क्योंकि पारमार्थिकता का लक्षण सकल पदार्थों को विषय करना नहीं है किन्तु पूर्ण निर्मलता है वह पूर्ण निर्मलता केवलज्ञान की तरह अवधि मनःपर्यय में भी अपने विषय में विद्यमान है, इसलिये ये दोनों भी पारमार्थिक ही हैं एवं ये दोनों भी केवलज्ञान की तरह आत्ममात्र की अपेक्षा रखकर ही उत्पन्न होते हैं अतः ये तीनों ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

शंका—अक्ष नाम चक्षु आदि इंद्रियों का है उन इंद्रियों की सहायता लेकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है अतः मति श्रुतज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहना चाहिये अवधि आदि तीनों को नहीं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है। आत्ममात्र की अपेक्षा एवं इंद्रियों से निरपेक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष हैं क्योंकि प्रत्यक्षता में कारण स्पष्टता-निर्मलता ही है, इंद्रिय जन्यता नहीं है। दूसरी बात यह है कि हम यहां अक्ष का अर्थ इंद्रिय न करके आत्मा करते हैं देखिये ! "अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा" अर्थात् जो व्याप्त करे-जाने, उसे अक्ष कहते हैं और वह अक्ष-आत्मा ही है। इसलिये आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहते हैं। अतएव मतिज्ञान इंद्रिय की अपेक्षा रखने से परोक्ष ही है। कथंचित्-उपचार से उसे न्याय भाषा में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है, यह बात स्पष्ट है।

इसी प्रकार से परोक्ष प्रमाण का लक्षण और उसके भेद भी परीक्षामुख के अनुसार ही किये गये हैं।

इसमें भी हेतु के लक्षण को यहां दिखाते हैं

निश्चित साध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनं। यस्य साध्याभावासंभवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थः। तदुक्तं कुमारनंदिभट्टारकैः—"अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमंग्यते।" [न्या० पृ० ६९]

जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविना भाव) निश्चित है उसे हेतु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस की साध्य के अभाव में नहीं होने रूप व्याप्ति, अविनाभाव आदि नामों वाली साध्यानुपपत्ति—साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव में नहीं होना, इस रूप से तर्क प्रमाण के द्वारा निर्णीत है, वह हेतु है। श्री कुमारनंदि भट्टारक ने भी कहा है—"अन्यथानुपपत्ति मात्र" जिसका लक्षण है उसे लिंग-हेतु कहा गया है।

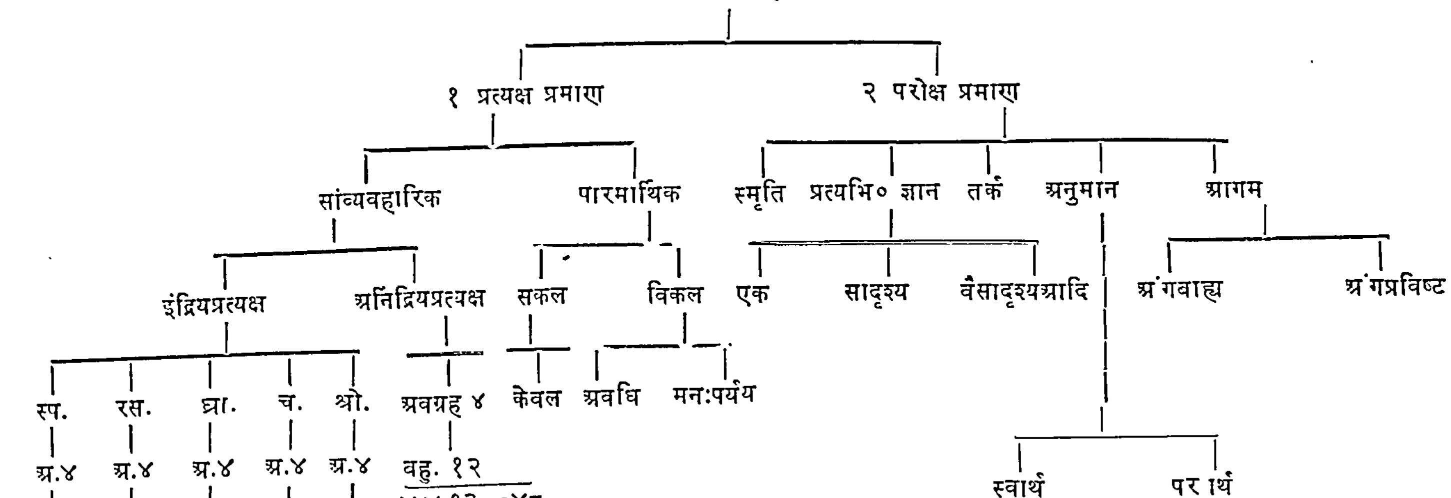
साध्य का लक्षण

शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यं [न्या० पृ० ६९]

जो शक्य अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है उसे साध्य कहते हैं। यहां 'शक्य' शब्द से प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित को लेना, 'अभिप्रेत' से इष्ट को समझना एवं 'अप्रसिद्ध' से असिद्ध को लेना चाहिये। शब्दों में किंचित् अंतर होते हुये भी ये सभी लक्षण पूर्वोक्त सूत्रों के अनुसार ही हैं।

उपसंहार—यहां तक जैन सिद्धांत के अनुसार प्रमाण का लक्षण, प्रमाण के दो भेद, उनके भेद-प्रभेद बतलाये गये हैं। प्रमाण के दो भेदों में प्रत्यक्ष और परोक्ष हैं एवं प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं। सांव्यवहारिक एवं पारमार्थिक। सांव्यवहारिक-मतिज्ञान के अवग्रह ईहा अवाय धारणा से चार भेद हैं पुनः इंद्रिय, मन एवं बहु आदि विषयों से गुणा करने से ३३६ भेद हो जाते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—विकल, सकल। विकल, प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं अवधि, मनःपर्यय। सकल प्रत्यक्ष से एक केवलज्ञान ही लिया जाता है। परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। प्रत्यभिज्ञान के एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य और प्रातियौगिक के भेद से चार भेद हैं। एवं अनुमान के मुख्य दो अवयव हैं प्रतिज्ञा और हेतु। हेतु के भी उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से दो भेद हैं। उपलब्धि के अविरुद्धोपलब्धि, विरुद्धोपलब्धि एवं अनुपलब्धि के अविरुद्धानुपलब्धि, विरुद्धानुपलब्धि ऐसे भेद होते हैं। अविरुद्धोपलब्धि के ६ भेद, विरुद्धोपलब्धि के ६ भेद, अविरुद्धानुपलब्धि के ७ भेद एवं विरुद्धानुपलब्धि के ३ भेद ऐसे हेतु के २२ भेद माने गये हैं।

इस प्रकार से सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहकर उसके पांच भेदों में से मतिज्ञान को सांव्यवहारिक



विशेष—अवग्रह के दो भेद हैं अर्थावग्रह व्यंजनावग्रह। व्यंजनावग्रह के आगे ईहा आदि नहीं होते हैं एवं यह चक्षु और मन से नहीं होता है अतः व्यंजनावग्रह को चार इंद्रिय और वहु आदि १२ से गुणा करने पर ४×१२=४८ भेद होते हैं। २८८+४८=३३६

इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं।

प्रत्यक्ष, श्रुतज्ञान को 'आगम' शब्द से परोक्ष अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा है। यहां तक प्रमाण का विवेचन जैन सिद्धांतानुसार हुआ है। 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र में नयों के द्वारा भी पदार्थों का ज्ञान होता है अतः संक्षेप से यहाँ नय का लक्षण और उसके भेद बताते हैं।

नय का लक्षण

प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्रायविशेषः नयः। [न्या० पृ० १२५]

प्रमाण से जाने हुये पदार्थ के एक देश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं।

उस नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद हैं। अन्यत्र नयों के सात भेद भी माने गये हैं यथा—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ़, और एवंभूत।

इन नयों का विस्तृत विवेचन अन्य 'नयचक्र' आदि ग्रन्थों से समझना चाहिये। यहां इतना ही पर्याप्त है कि ये सभी नय वस्तु के एक-एक अंश को कहने वाले हैं एवं परस्पर में सापेक्ष हैं, यदि ये नय परस्पर में निरपेक्ष हो जाते हैं तो मिथ्या हो जाते हैं। जैसे—द्रव्यार्थिक नय का विषय परम द्रव्य सत्ता-महा सामान्य है उसकी अपेक्षा से सभी चेतन-अचेतन वस्तुयें सत् रूप होने से एक रूप हैं इसी नय को लेकर ब्रह्म वादियों ने "एक अद्वितीय परम ब्रह्म तत्त्व" मान लिया है। किन्तु ऐसी एकांत मान्यता गलत है चेतन-अचेतन कथंचित्-अवांतर सत्ता से भिन्न-भिन्न हैं। वैसे ही ऋजुसूत्र परमपर्यायार्थिक नय है, वह भूत, भविष्यत् के स्पर्श से रहित शुद्ध केवल वर्तमान कालीन अर्थपर्याय रूप वस्तु को विषय करता है। उसका एकांत लेकर बौद्धों ने प्रत्येक वस्तु को सर्वथा एक क्षणवर्ती नश्वर ही सिद्ध कर दिया है अतः उसकी भी एकांत मान्यता सर्वथा गलत है। इसलिये नयों की परस्पर सापेक्षता ही सम्यक् है। जो नय परस्पर निरपेक्ष एकांत को ग्रहण कर लेते हैं वे दुर्नय अथवा नयाभास कहलाते हैं।

प्रमाण की सच्चाई का निर्णय कैसे होता है?

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥१३॥ [परीक्षा मु० प्र० प०]

उस प्रमाण की प्रमाणता का निर्णय दो प्रकार से होता है। अभ्यास दशा में अन्य पदार्थ की सहायता विना अपने आप, और अनभ्यास दशा में अन्य कारणों की सहायता से।

जैसे—जहां निरंतर जाया आया करते हैं, वहां के नदी और तालाव आदि स्थानों के परिचय को अभ्यास दशा कहते हैं। इस स्थान में ज्ञान की सचाई का निर्णय स्वतः हो जाता है। और जहां कभी गये आये नहीं, वहाँ के नदी, तालाव आदि स्थानों के अपरिचय को अनभ्यासदशा कहते हैं, ऐसे स्थानों में दूसरे कारणों से ही प्रमाणता का निर्णय होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रमाणता की उत्पत्ति तो सर्वत्र पर से ही होती है, किंतु प्रमाणता का निश्चय परिचित विषय में स्वतः और अपरिचित विषय में पर से होता है।

प्रमाण का विषय

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥ [प. मु. च. प.]

सामान्य और विशेष स्वरूप, अर्थात् द्रव्य और पर्याय स्वरूप वस्तु प्रमाण का विषय होती है। द्रव्य के विना पर्याय एवं पर्याय के विना द्रव्य किसी भी ज्ञान का विषय नहीं होता है किंतु द्रव्य और पर्याय इन उभय रूप पदार्थ ही ज्ञान का विषय होता है। एक-एक को प्रमाण का विषय मानने में अनेकों दोष आ जाते हैं।

वस्तु अनेकान्तात्मक ही है

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥२॥ [प. मु. च. प.]

अन्वय-यह वही है ऐसे ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं तथा व्यावृत्त—यह वह नहीं है ऐसे ज्ञान को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं। पदार्थों के कार्य को अर्थ क्रिया कहते हैं जैसे घट की अर्थ क्रिया जलाहरण करना है। अर्थ के पूर्व आकार का विनाश और उत्तर आकार का प्रादुर्भाव इन दोनों सहित स्थिति को परिणाम कहते हैं।

एक ही वस्तु अन्वय ज्ञान और व्यावृत्त ज्ञान का विषय होती है इसलिये वस्तु अनेकांतात्मक है तथा एक ही वस्तु में पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार की प्राप्ति, इन दोनों से सहित स्थिति रूप लक्षण वाले परिणाम से ही अर्थ क्रिया होती है अतः वस्तु अनेकांतात्मक ही है। अनुवृत्त ज्ञान का विषय सामान्य है और व्यावृत्त ज्ञान का विषय विशेष है, अतः सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है।

सामान्य के भेद

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥३॥ [प. मु. च. प.]

सामान्य के दो भेद हैं—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य।

तिर्यक् सामान्य का लक्षण और दृष्टांत

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुंडादिषु गोत्ववत् ॥४॥ [प. मु. च. प.]

समान परिणमन को तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे—खांडी मुण्डी शवली गायों में गोत्व—यह सदृश परिणमन पाया जाता है।

ऊर्ध्वतासामान्य का स्वरूप और दृष्टांत

परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥५॥ [प. मु. च.प.]

पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे स्थास कोश कुशूल आदि पर्यायों में मिट्टी रहती है, यहां यह मिट्टी द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य कही जाती है।

विशेष के भेद

विशेषश्च ॥६॥ पर्याय व्यतिरेकभेदात् ॥७॥ [प. मु. च. प.]

विशेष के भी दो भेद हैं। पर्याय और व्यतिरेक।

पर्याय विशेष का स्वरूप और उदाहरण

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥ [प. मु. च. प.]

एक ही द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं, जैसे आत्मा में हर्ष विषाद आदि।

व्यतिरेक का लक्षण और उदाहरण

अर्थांतरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥९॥ [प. मु. च. प.]

एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं, जैसे गो से महिष में एक भिन्न ही परिणमन है।

भावार्थ—इन तिर्यक्-ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय-व्यतिरेक रूप विशेष से सहित-उभयात्मक वस्तु को ही ज्ञान जानता है अतः ज्ञान सामान्य विशेषात्मक वस्तु को ही विषय करता है यह बात स्पष्ट हुई।

प्रमाण का फल

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥१॥ [प. मु. पं. प.]

प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान का अभाव है। तथा परंपरा फल त्याग, ग्रहण और उदासीनता है। प्रमाण के द्वारा पहले अज्ञान का अभाव होता है, पश्चात् त्यागने योग्य वस्तु का त्याग और ग्रहण करने योग्य का ग्रहण एवं इन दोनों से रहित वस्तु में उपेक्षा भाव होता है।

प्रमाण से प्रमाण का फल भिन्न है या अभिन्न ?

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥२॥ [प. मु. पं. प.]

वह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न होता है कथंचित् भिन्न होता है।

प्रमाण से फल अभिन्न कैसे है ?

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपक्षते चेति प्रतीतेः ॥३॥ [प. पं. प.]

जो जानता है उसी का अज्ञान दूर होता है, वही किसी वस्तु को छोड़ता या ग्रहण करता है, या मध्यस्थ हो जाता है। इसलिये एक जानने वाले व्यक्ति की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाण का फल दोनों अभिन्न हैं। तथा प्रमाण और उसके फल की भेद प्रतीति होती है, इसलिये दोनों भिन्न हैं।

उपसंहार—यहां तक प्रमाण का लक्षण, उसके भेद-प्रभेद प्रमाण का विषय और प्रमाण का फल ऐसी चार बातों का स्पष्टतया वर्णन किया गया है। अब आगे अन्यमतावलम्बियों द्वारा मान्य प्रमाण का लक्षण उनके भेद-प्रभेद, विषय और फल में दोष दिखाकर निर्दोष स्याद्वाद सिद्धांत पुष्ट करते हैं।

प्रमाणाभास का वर्णन

बौद्धाभिमत प्रमाण लक्षण का विचार

'अविसंवादिज्ञानं प्रमाणं' [प्रमाणवार्तिक-२-१]

जो ज्ञान अविसंवादी है—विसंवाद रहित है वह प्रमाण है ऐसा बौद्धों का कहना है । किंतु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसमें असंभव दोष आता है । अर्थात् बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण माने हैं । न्यायविंदु में कहा है "सम्यग्ज्ञान-प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान ।" उनमें प्रत्यक्ष में अविसंवादीपना संभव नहीं है क्योंकि वह निर्विकल्प होने से अपने विषय का निश्चायक नहीं है अतः संशय आदि रूप समारोप का निराकरण नहीं कर सकता है । तथा अनुमान में भी अविसंवादीपना असंभव है, क्योंकि बौद्धों की मान्यतानुसार वह भी अवास्तविक समान्य को विषय करने वाला है । इस तरह बौद्धों द्वारा मान्य वह प्रमाण का लक्षण असंभव दोष से दूषित होने से सम्यक् लक्षण नहीं है ।

भाट्टों के प्रमाण लक्षण की परीक्षा

"अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम् ।" [शास्त्र दी पु, १२६]

'पहले नहीं जाने हुये यथार्थ अर्थ का निश्चय कराने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । ऐसी भाट्ट-मीमांसकों की मान्यता है । किंतु उनका यह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित है । क्योंकि उन्हीं के द्वारा प्रमाण रूप में माने गये धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थग्राही नहीं हैं । यदि तुम यह कहो कि धारावाहिक ज्ञान अगले-अगले क्षण से सहित अर्थ को विषय करते हैं, इसलिये अपूर्वार्थ विषयक ही हैं । तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि क्षण अत्यंत सूक्ष्म हैं । इन क्षणों का जानना संभव नहीं है । अतः धारावाहिक ज्ञानों में उक्त लक्षण की व्याप्ति निश्चित है ।

प्रभाकर के प्रमाण लक्षण की समीक्षा

"अनुभूतिः प्रमाणं" [वृहती १-१-५]

प्रभाकर मतानुयायी "अनुभूति को प्रमाण" कहते हैं, किंतु उनका भी यह लक्षण युक्ति संगत नहीं है । क्योंकि 'अनुभूति' शब्द को भाव साधन करने पर करण रूप प्रमाण में अव्याप्त रहता है एवं अनुभूति शब्द को करण साधन करने पर भाव रूप प्रमाण में अव्याप्ति दोप आता है । चूंकि करण और भाव दोनों को ही उनके यहां प्रमाण माना गया है । जैसा कि 'शालिकानाथ ने कहा है'—**'यदाभावसाधनं तदा संविदेव प्रमाणं करणसाधनत्वे त्वात्ममनः सन्निकर्षः'** [प्रकरण प० प्रमाण० वा० पृ० ६४]

जब प्रमाण शब्द को 'प्रमितिः प्रमाणं' इस प्रकार भाव साधन किया जाता है उस समय 'ज्ञान' ही प्रमाण होता है । और 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं जिसके द्वारा जाना जाय वह प्रमाण है ऐसा करण साधन करने पर 'आत्मा और मन का सन्निकर्ष, प्रमाण होता है । अतः अनुभूति (अनुभव) को प्रमाण का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोप स्पष्ट है । इसलिये यह लक्षण भी सुलक्षण नहीं है ।

नैयायिकों के प्रमाण लक्षण की परीक्षा

'प्रमाकरणं प्रमाणं' [न्याय मं० प्रमाण पृ० २५]

प्रमा के प्रति जो करण है वह प्रमाण है। ऐसी नैयायिकों की मान्यता है किंतु उनकी यह मान्यता भी प्रमादकृत ही है। क्योंकि उनके द्वारा प्रमाण रूप से माने गये ईश्वर में ही वह लक्षण अव्याप्त है। कारण, 'महेश्वर' प्रमाण का आश्रय है करण नहीं है। ईश्वर को प्रमाण मानने का यह कथन हम अपनी ओर से आरोपित नहीं कर रहे हैं किंतु उनके प्रमुख 'आचार्य उदयन' ने स्वयं स्वीकार किया है कि—

तन्मे प्रमाणं शिवः' [न्याय० कु० सु० ४-६]

अर्थात् "वह महेश्वर मेरे प्रमाण हैं" इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये कोई इस प्रकार व्याख्या करते हैं, कि जो प्रमा का साधन हो अथवा प्रमाण का आश्रय हो वह प्रमाण है।

साधनाश्रययोरन्यतरत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणं [सर्वदर्शनसंग्रह-पं० २३५]

किंतु उनका यह व्याख्यान भी युक्ति संगत नही है क्योंकि प्रमा के साधन और प्रमा के आश्रय में से किसी एक को प्रमाण मानने पर लक्षण की परस्पर में अव्याप्ति होती है। जब प्रमा के साधन को प्रमाण का लक्षण किया जायेगा तब 'प्रमा के आश्रय रूप' प्रमाण लक्ष्य में लक्षण नहीं रहेगा और जब 'प्रमा के आश्रय को' प्रमाण का लक्षण माना जायेगा, तब 'प्रमा के साधन रूप' प्रमाण लक्ष्य में लक्षण घटित नहीं होगा। तथा प्रमाश्रय और प्रमासाधन दोनों को सभी लक्ष्यों का लक्षण माना जाये तो कहीं भी लक्षण नहीं जायेगा। सन्निकर्ष आदि केवल प्रमा के आश्रय हैं प्रमा के साधन नहीं हैं क्योंकि उसकी प्रमा (ज्ञान) नित्य है। प्रमा का साधन भी हो और प्रमा का आश्रय भी हो ऐसा कोई प्रमाण लक्ष्य नहीं है अतः नैयायिकों का उक्त लक्षण सदोष है।

इस प्रकार से कोई-कोई ज्ञान को अस्वसंविदित—स्व को नहीं जानने वाला कहते हैं। कोई गृहीत अर्थ के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, कोई निर्विकल्प दर्शन को प्रमाण कहते हैं कोई संशय को, कोई विपरीत को, कोई अनध्यवसाय को ही प्रमाण कह देते हैं किंतु ये प्रमाण नहीं हैं प्रत्युत प्रमाणाभास ही हैं।

जैनाचार्यों द्वारा मान्य 'सम्यग्ज्ञान' ही प्रमाण है वही हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराने में समर्थ है अन्य नहीं हैं।

अन्य मतावलंवियों द्वारा मान्य प्रमाण के भेदों का विचार

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकः कारणात्सौगताः पुनः।
अनुमानं च तच्चैव सांख्याः शाब्दं च ते अपि ॥१॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केन च।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ॥२॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥३॥

अर्थ—चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं। सौगत प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक भी इन्हीं दो प्रमाणों को मानते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ऐसे तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक इन्हीं तीन में उपमान को मिलाकर चार मानते हैं। प्रभाकर इन्हीं चार में अर्थापत्ति मिलाकर पांच प्रमाण मानते हैं भाट्ट मीमांसक और वेदांती प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम, अर्थापत्ति और अभाव ऐसे छः प्रमाण मानते हैं। पौराणिक इन्हीं छः प्रमाणों में संभव और ऐतिह्य मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं।

इनमें से चार्वाक मती एक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही 'परलोकादि का निषेध और पर में बुद्धि है' इत्यादि का विधान भी नहीं कर सकता है क्योंकि अनुमान प्रमाण को माने बिना परलोकादि का निषेध असंभव है।

वौद्ध सांख्य आदि भी अनेकों प्रमाण मानकर भी तर्क प्रमाण नहीं मानते हैं अतः इन सभी की मान्य प्रमाण संख्या गलत है क्योंकि तर्क प्रमाण के विना व्याप्ति का निर्णय न होने से अनुमान का भी अवतार नहीं हो सकता है।

अतएव जैनाचार्यों द्वारा मान्य प्रमाण के दो भेद ही सुघटित हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप इन दो प्रमाणों में सभी प्रमाण शामिल हो जाते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पांच भेद परोक्ष के अंतर्गत होने से सभी व्यवस्था व्यवस्थित हो जाती है।

इस प्रकार से अन्य मतों द्वारा मान्य प्रमाण के भेदों का निराकरण कर दिया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को विशेष न्याय ग्रन्थ देखने चाहिये।

इन प्रमाण के भेदों का लक्षण भी वाधित ही हैं उस पर अब विचार करते हैं।

वौद्धों द्वारा मान्य प्रत्यक्ष प्रमाण का खंडन

"कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं" [न्याय विन्दु पृ० ११]

वौद्ध 'कल्पनापोढ—निर्विकल्प और भ्रान्ति रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं।

उनका कहना है कि 'कल्पनापोढ' पद से सविकल्प ज्ञान का और 'अभ्रान्त' पद से मिथ्याज्ञानों का निराकरण होता है। क्योंकि उनके यहां जो समीचीन निर्विकल्प ज्ञान है वही प्रत्यक्ष है।

किंतु इस पर जैनाचार्यों का यह कहना है कि निर्विकल्प ज्ञान संशय, विपर्यय अनध्यवसाय रूप समारोप का निराकरण करने वाला नहीं है, और किसी भी वस्तु का निश्चय कराने वाला भी नहीं है अतः वह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।

वौद्ध—निर्विकल्प ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है और पुनः उसी अर्थ को प्रकाशित करता है अतः प्रमाण है क्योंकि स्वलक्षण जन्य है वास्तविक है। किंतु सविकल्प ज्ञान ऐसा नहीं है।

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥ [प. मु. द्वि- प.]

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥८॥ [प. मु. द्वि. प.]

जैन—पदार्थ और प्रकाश ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं हैं क्योंकि वे विषय हैं जैसे अंधकार। ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न न होकर भी उस पदार्थ को प्रकाशित कर देता है जैसे कि दीपक अर्थ—घट, पट आदि से उत्पन्न न होकर भी उनको प्रकाशित कर देता है।

बौद्धों की यह मान्यता है कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होकर उसके आकार होकर के ही उस अर्थ को जानता है अन्यथा उस-उस पदार्थ की व्यवस्था कैसे करेगा ?

किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि ज्ञान न तो अर्थ से उत्पन्न ही होता है न अर्थ के आकार का ही होता है फिर भी उसे जान लेता है क्योंकि पदार्थ के साथ ज्ञान का कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है, कि जहां पर पदार्थ होवें, वही पर ज्ञान होवे और पदार्थ के अभाव में ज्ञान का अभाव रहे। अतः ज्ञान तो आत्मा का गुण है—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥९॥ [प. मु द्वि. प.]

अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम विशेष रूप—योग्यता से ही ज्ञान 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार से पदार्थों की भिन्न-भिन्न व्यवस्था कर देता है। अतः योग्यता ही वस्तु की व्यवस्था करने में कारण है। जिस ज्ञान में जिस अर्थ को ग्रहण करने की योग्यता है वह ज्ञान उस ही अर्थ को विषय करता है अन्य को नहीं। ज्ञान अर्थ के आकार होकर हो अर्थ को जानता है यह भी गलत है क्योंकि दीपक घट पट के आकार को न धर कर भी उन्हें प्रकाशित कर देता है। अतः बौद्धों द्वारा मान्य **तदुत्पत्ति तदाकार** और **तदध्यवसाय** का खंडन हो जाता है।

बौद्धों ने सविकल्प ज्ञान को अवास्तविक माना है क्योंकि वह परमार्थभूत सामान्य को विषय करता है। आचार्यों का कहना है कि यह भी गलत है चूंकि प्रमाण से बाधित न होने के कारण सविकल्प ज्ञान का विषय परमार्थ ही है। किंतु बौद्धों द्वारा मान्य वास्तविक स्वलक्षण-एक क्षणवर्ती पर्यायभूत वस्तु दिखती ही नहीं है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्प नहीं है सविकल्प ही है।

यौगाभिमत सन्निकर्ष का खंडन

इंद्रियार्थयोः संबंधः सन्निकर्षः

इंद्रिय और अर्थ का संबंध होना सन्निकर्ष कहलाता है।

सन्निकर्षस्य च यौगाभ्युपगतस्याचेतनत्वात् कुतः प्रमितिकरणत्वं कुतस्तरां प्रमाणत्वं, कुतस्तमां प्रत्यक्षत्वम् ? [न्या० पृ० २९]

अर्थ—नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्ष (इन्द्रिय और पदार्थ के संबंध) को प्रत्यक्ष मानते हैं। पर वह ठीक नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष अचेतन है। वह ज्ञान के प्रति करण कैसे हो सकता है ? और ज्ञान के प्रति जब करण नहीं, तब प्रमाण कैसे ? और जब प्रमाण ही नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे ?

दूसरी बात यह है कि चक्षु इन्द्रिय और मन ये दोनों पदार्थों का स्पर्श किये बिना ही पदार्थों का करा ज्ञान देते हैं इसलिये सन्निकर्ष प्रमाण मानना गलत है। इस पर वैशेषिक कहता है कि 'चक्षु इंद्रिय पदार्थों का स्पर्श करके ही प्रकाशित करती है, क्योंकि वह बाह्य इन्द्रिय है, जो बहिरिंद्रिय होती हैं वे पदार्थों का स्पर्श करके ही प्रकाशित करती हैं जैसे - स्पर्शन इन्द्रिय।' इस अनुमान से चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी है और वह प्राप्यकारिता ही सन्निकर्ष है। इसलिये **सन्निकर्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।** इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि यह अनुमान सम्यक् नहीं है।

इस अनुमान में 'चक्षु' पद से कौन-सी चक्षु को पक्ष बनाया है! लौकिक-गोलक रूप चक्षु को या अलौकिक-किरण रूप चक्षु को ? पहले पक्ष में हेतु बाधित विषय नाम का हेत्वाभास है। क्योंकि गोलक-रूप चक्षु विषय के पास जाती हुई किसी को अनुभव में नहीं आती है उसका अग्नि आदि के पास जाकर छूकर उसको जानना प्रत्यक्ष से बाधित है।

दूसरा पक्ष लेवो तो भी—किरण रूप आलौकिक चक्षु अभी तक सिद्ध ही नहीं है। यदि कहो कि चक्षु की तेजस किरणें निकल कर बाहर जाकर पदार्थों को छूती है तब ज्ञान होता है तब तो बड़ा ही अनर्थ होगा—किरणें अग्नि के पास जाकर छूकर जानते समय जल जायेंगी, पानी को जानते समय गीली हो जायेंगी इत्यादि बड़े ही अनर्थ हो जावेंगे अतः चक्षु का छूकर जानना गलत है। एक ही समय में वृक्ष की शाखा और आकाश के चन्द्रमा का अवलोकन हो जाता है यदि चक्षु जाकर छूकर जानती है तो पहले निकटवर्ती शाखा का ज्ञान होना चाहिए पुनः बहुत दूरवर्ती चन्द्रमा का ज्ञान होना चाहिए था, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः चक्षु अप्राप्यकारी सिद्ध है। एवं सन्निकर्ष प्रमाण मानने वालों के यहां सर्वज्ञ का भी अभाव हो जाता है क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान से कोई भी भूत, भविष्यत् वर्तमान ऐसे त्रैकालिक पदार्थों को नहीं जान सकता है।

अतः बौद्धाभिमत निर्विकल्प एवं यौगाभिमत सन्निकर्ष ज्ञान प्रमाण नहीं है।

जैनाचार्य द्वारा मान्य 'विशदं प्रत्यक्षं' यह प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण ही सुसंगत है ऐसा समझना चाहिये।

जो ज्ञान प्रत्यक्ष आदि के सदृश मालूम पड़ें या कहे जावें किन्तु प्रत्यक्ष आदि रूप न होवें वे ज्ञान ज्ञानाभास कहलाते हैं ऐसे ही सभी में आभास को लगाकर सभी को समझ लेना।

प्रत्यक्ष प्रमाणाभास का लक्षण

अवैशद्येऽपि प्रत्यक्षं तदाभासं, बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनात् वन्हिविज्ञानवत्॥६॥ (परीक्षा. ६)

अविशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है जैसे बौद्ध अकस्मात् धूम को देखकर अग्नि के ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं।

परोक्षाभास का स्वरूप

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत्॥७॥ (परीक्षा० ६)

स्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहना परोक्षाभास है, जैसे मीमांसक करणज्ञान को परोक्ष मानता है। वास्तव में करण ज्ञान प्रत्यक्ष है। उसको परोक्ष मानना परोक्षाभास है।

स्मरणाभास का लक्षण

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते सः देवदत्तो यथा ॥८॥ [परी० ६]

जिस पदार्थ को पहले कभी धारणारूप अनुभव नहीं हुआ था उसके अनुभव को स्मरणाभास कहते हैं। अथवा जो वस्तु 'वह' नहीं है उसे 'वह' कहकर स्मरण करना स्मरणाभास है जैसे जिनदत्त का स्मरण करके कहना कि वह देवदत्त।

प्रत्यभिज्ञानाभास का स्वरूप

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥९॥ [परी० ६]

सदृश में 'यह वही है' ऐसा ज्ञान तथा उसी में यह उसके सदृश है ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है, जैसे एक साथ जन्में दो बालकों में उल्टा ज्ञान हो जाता है।

तर्काभास का लक्षण

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासं ॥१०। [परी० ६]

अविनाभाव रहित ज्ञान में अविनाभाव का ज्ञान या जिन पदार्थों में परस्पर में व्याप्ति नहीं है, उनमें व्याप्ति का ज्ञान होना तर्काभास है जैसे किसी के एक पुत्र को काला देखकर व्याप्ति बनाना कि इसके जितने पुत्र होंगे वे काले ही होंगे इत्यादि ज्ञान तर्काभास है।

अनुमानाभास का लक्षण

इदमनुमानाभासं, ॥११॥ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ॥१२॥ [परी० ६]

अनुमान के अवयवों का आभास दिखलाने से अनुमानाभास सिद्ध हो जावेगा।

अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्षाभास कहते हैं। अर्थात् साध्य के तीन विशेषण थे इष्ट, अबाधित और असिद्ध। इनके उल्टे पक्षाभास बन जाते हैं। क्योंकि साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान का नाम ही अनुमान है आगे क्रमशः साधनाभासों को भी स्पष्ट करेंगे।

अनिष्ट—जो अपने को इष्ट नहीं है उसे साध्य की कोटि में रखना।

बाधित—जो प्रत्यक्ष आदि से बाधित हो उसे साध्य की कोटि में रखना।

सिद्ध—सिद्ध को सिद्ध करने का प्रयास करना। इसमें बाधित पक्षाभास के पांच भेद माने गये हैं।

बाधित के भेद

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥१५॥ [परी० ६]

बाधित पक्षाभास के पांच भेद हैं। प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, आगमबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित।

प्रत्यक्षवाधित का दृष्टान्त

तत्र प्रत्यक्षवाधितो यथा, अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ।।१६।। [परी० ६]

अग्नि ठंडी होती है, क्योंकि वह द्रव्य है जैसे जल। यहाँ अग्नि को ठंडी कहना स्पर्शन इन्द्रिय के प्रत्यक्ष से वाधित है क्योंकि छूने से अग्नि गरम होती है।

अनुमान वाधित

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत् ।।१७।। [परी० ६]

"शब्द नित्य होता है क्योंकि किया हुआ है जैसे घट"। यह अनुमान वाधित पक्ष है क्योंकि ऐसा भी अनुमान कहा भी जा सकता है कि "शब्द अनित्य होता है क्योंकि वह किया गया होता है जैसे घट।" इस अनुमान से वाधा आ जाती है।

आगम वाधित

प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।।१८।। [परी. ६]

धर्म परलोक में दुःखदायी होता है क्योंकि वह पुरुष के आश्रित होता है। जो-जो पुरुष के आश्रित होता है वह दुःखदायी होता है जैसे अधर्म। यह पक्ष आगम से वाधित है क्योंकि आगम में धर्म को सुखदायी माना है और अधर्म को दुःखदायी कहा है। यद्यपि दोनों ही पुरुष के आश्रित हैं फिर भी भिन्न स्वभाव वाले हैं।

लोक वाधित

शुचि नरशिरः कपालं प्राण्यंगत्वाच्छंखशुक्तिवत् ।।१९।। [परी. ६]

मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र होता हैं क्योंकि वह प्राणी का अंग है। जो-जो प्राणी का अंग होता है वह-वह पवित्र होता है जैसे शंख और सीप। यह पक्ष लोक वाधित है क्योंकि लोक में प्राणी का अंग होते हुये भी कोई चीजें पवित्र, और कोई अपवित्र मानी गई हैं।

स्ववचन वाधित पक्षाभास का उदाहरण

माता मे वंध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धवंध्यावत् ।।२०।। [परी. ६]

मेरी माता वंध्या है क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता है, जैसे कि प्रसिद्ध वंध्या स्त्री। यह पक्ष अपने ही वचनों से वाधित है क्योंकि स्वयं पुत्र मौजूद है और माता भी कह रहा है फिर भी 'मेरी माता वंध्या है' यह कथन स्ववचन वाधित है।

इन पाँच प्रकार से वाधित विषयों को पक्ष की कोटि में रखना वाधित पक्षाभास दोष है।

अब साधन के आभासों को कहते हैं—

हेत्वाभास के भेद

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ।।२१।। [परी. ६]

हेत्वाभास के चार भेद हैं। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक और अकिंचित्कर।

असिद्ध हेत्वाभास

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥२२॥ [परी. ६]

जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इसके स्वरूपासिद्ध, और संदिग्धासिद्ध ऐसे दो भेद हैं।

विरुद्ध हेत्वाभास

विपरीतनिश्चताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥२९॥ [परी. ६]

साध्य से विपरीत-विपक्ष के साथ जिस हेतु का रहना हो वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे "शब्द नित्य हैं क्योंकि किये हुये हैं" यहां यह कृतकत्व हेतु नित्य से विरुद्ध अनित्य में रहता है। अतः विरुद्ध हेतु है।

अनैकांतिक हेत्वाभास

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ॥३०॥ [परी. ६]

जो पक्ष सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष में भी चला जाता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इसे व्यभिचारी हेतु भी कहते हैं। इसके शंकित विपक्षवृत्ति और निश्चितविपक्षवृति ऐसे दो भेद हैं।

शंकितविपक्षवृत्ति—'नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्' सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह वक्ता है। यहां 'वक्ता है' यह हेतु रह जावे और सर्वज्ञत्व भी रह जावे इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है अतः यह हेतु शंकित व्यभिचारी है क्योंकि इसकी विपक्ष में रहने में शंका है।

निश्चितविपक्षवृति—"शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट" यहां प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द में और सपक्ष घट में रहता हुआ विपक्ष रूप नित्य आकाश में भी चला जाता है अतः निश्चित व्यभिचारी हेतु है।

अकिंचित्कर हेत्वाभास

सिद्धे प्रत्यक्षबाधिते च साध्ये हेतुरकिंचित्करः ॥३५॥ [परी. ६]

साध्य के सिद्ध होने पर तथा प्रत्यक्षादि से वाधित होने पर जो हेतु कुछ नहीं कर सकता है, इसलिए वह अकिंचित्कर हेत्वाभास कहलाता है। जैसे 'शब्द श्रवण इन्द्रिय का विषय है क्योंकि वह शब्द है'। यहां शब्दत्व हेतु सिद्ध को ही सिद्ध कर रहा है। अथवा "अग्नि ठण्डी है क्योंकि वह द्रव्य है" इसमें द्रव्यत्व हेतु प्रत्यक्ष से ही वाधित है। अतः ऐसे हेतु अकिंचित्कर होते हैं। ऐसे ही अन्वय, व्यतिरेक दृष्टान्तों का विपरीत प्रयोग करना दृष्टान्ताभास कहलाता है। अन्वय दृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं। साध्य विकल, साधनविकल और उभयविकल। तीनों का उदाहरण—"शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है, जैसे इन्द्रिय सुख, परमाणु और घट"।

यहाँ दृष्टांत में इन्द्रिय सुख पुरुषकृत् है अतः अपने अपौरुषेय साध्य में न रहने से 'साध्य विकल' है। परमाणु मूर्तिक है, वह अमूर्तिक हेतु में नहीं रहता है अतः यह दृष्टांत 'साधन विकल' है।

घट पुरुषकृत और मूर्तिक है। वह अपौरुषेय साध्य और अमूर्तिक हेतु में नहीं रहता है अतः यह साध्य-साधन विकल' दृष्टांत है।

व्यतिरेक दृष्टांताभास के भी तीन भेद हैं—

"शब्द अपौरुषेय होता है क्योंकि वह अमूर्त है, जो-जो पौरुषेय होता है वह अमूर्तिक नहीं होता है, जैसे परमाणु, इंद्रियसुख और आकाश।"

यहां परमाणु असिद्धसाध्य व्यतिरेक है, क्योंकि वह अपौरुषेय है। इसलिये परमाणु के अपौरुषेयपना का साध्य से व्यतिरेक नहीं हुआ। ऐसे ही इन्द्रियसुख असिद्ध साधन व्यतिरेक है। एवं आकाश असिद्ध साध्य-साधन व्यतिरेक है।

वाल प्रयोगाभास का लक्षण

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन वालकों को वोध कराने के लिये शास्त्र में अनुमान के ये पांच अवयव माने गये हैं। इनमें से कुछ कम अवयवों का प्रयोग करना गलत है। अतः वाल प्रयोगाभास कहलाता है।

आगमाभास का लक्षण

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासं ॥५१॥ [परी. ६]

रागी, द्वेषी, अज्ञानी, मोही पुरुषों के वचनों से होने वाले आगम--शास्त्र को आगमाभास कहते हैं।

आगमाभास के उदाहरण

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ॥५२॥ अंगुल्यग्रे यूथशत मास्त इति च ॥५३॥ विसंवादात् ॥५४॥ [परी. ६]

जैसे कि—हे वालकों! दौड़ो, नदी के किनारे लड्डुओं के ढेर लगे हैं ऐसे वचन आगमाभास हैं। अथवा अंगुलि के अग्रभाग पर सौ हाथी ठहरे हैं यह भी अनाप्त वचन हैं इन सव में विसंवाद देखा जाता है अतः ये सव आगमाभास हैं।

उपसंहार—जो प्रमाण न होवें और प्रमाण सदृश मालूम पड़ें या अन्य लोग जिन्हें प्रमाण मानने लग जावें वे सव प्रमाणाभास कहलाते हैं। यहां तक अन्य लोगों के द्वारा मान्य प्रमाणाभास, प्रत्यक्ष प्रमाणाभास, परोक्ष प्रमाणाभासों का लक्षण वतलाया है। परोक्ष प्रमाण के भेद प्रभेदों का भी गलत लक्षण होने से वे सव उन-उन नाम से प्रमाणाभास वन जाते हैं। अतः स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास और आगमाभास ऐसे पांच परोक्षाभास के भेद होते हैं। उसमें भी अनुमान के पक्ष और हेतु की अपेक्षा दो भेद होने से पक्षाभास, हेत्वाभास ऐसे दो भेद सिद्ध हैं। पुनः पक्षाभास के अनिष्ट, वाधित, और सिद्ध ये तीन भेद करके वाधित पक्षाभास के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचन से पांच

भेद होते हैं। पुनः हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक और अकिंचित्कर ऐसे चार भेदों का वर्णन किया है। ऐसे ही चार्वाक द्वारा मान्य प्रमाण की एक संख्या, बौद्ध द्वारा मान्य प्रमाण की दो संख्या, इत्यादि सब प्रमाण संख्याभास कहलाते हैं। आगे प्रमाण का विषय और उसके फल में गलत कल्पना का नाम भी आभास है उसे बताते हैं।

प्रमाण के विषयाभास का लक्षण

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतंत्रं ॥६१॥ [परी. ६]

केवल एक सामान्य को ही ज्ञान का विषय मानना या केवल विशेष को ही मानना अथवा दोनों रूप पदार्थ को ही स्वतंत्रता से प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है यह बात पहले कही जा चुकी है। एवं प्रत्येक ज्ञान भी उभयात्मक वस्तु को ही जानता है तभी वह प्रमाण कहलाता है अन्यथा अप्रमाण कहलाता है। सांख्य पर्याय रहित केवल द्रव्य-सामान्य को ही ज्ञान का विषय कहता है। बौद्ध द्रव्यांशरहित केवलपर्याय-विशेष को ही ज्ञान का विषय कहता है एवं नैयायिक व वैशेषिक सामान्य-विशेष स्वरूप पदार्थ को मानकर भी सामान्य और विशेष को एक दूसरे कीसहायता से रहित स्वतंत्रता से प्रमाण का विषय मानते हैं, इसलिये वे सब विषयाभास हैं क्योंकि प्रमाण का विषय परस्पर सापेक्ष उभयात्मक है।

प्रमाण के फलाभास का वर्णन

फलाभासः प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ॥६६॥ [परी. ६]

प्रमाण से उसके अज्ञान निवृत्ति आदि फल को सर्वथा भिन्न ही मानना या सर्वथा अभिन्न ही मानना प्रमाण फलाभास है। क्योंकि कथंचित् जिसके ज्ञान प्रकट होता है उसी को अज्ञान का अभाव, त्याग आदि फल मिलते हैं तथा कथंचित् ये फल नाम, लक्षण आदि से भिन्न भी हैं। अतः एकांत मान्यता ही आभास कहलाती है।

उपसंहार—यहाँ तक प्रमाणस्वरूपाभास, प्रमाणसंख्याभास, प्रमाणविषयाभास और प्रमाणफलाभास का वर्णन हुआ है। अब आगे न्यायदीपिकाकार ने इन विषयों में कुछ विशेषतायें बताई हैं उनका स्पष्टीकरण करते हैं।

परोक्ष प्रमाण

अस्पष्ट प्रतिभास को परोक्ष प्रमाण कहते हैं। इसके पांच भेद हैं स्मृति आदि।

स्मृति का लक्षण

तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृतिः स देवदत्तो यथा। [न्या. दी. पृ. ५३]

'वह' इस आकार वाला, पहले अनुभव किये गये वस्तु को विषय करने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है, जैसे वह देवदत्त। इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाला अनुभव धारणा रूप कारण से ही होता है, क्योंकि

पदार्थ में अवग्रहादि ज्ञान हो जाने पर भी धारणा के अभाव में स्मृति उत्पन्न नहीं होती है। धारणा ज्ञान ही आत्मा में उस प्रकार का संस्कार पैदा कर देता है। जिससे वह कालान्तर में भी उस अनुभूत विषय का स्मरण करा देता है।

शंका—यदि धारणा के द्वारा ग्रहण किये गये विषय में ही स्मरण होता है तो वह गृहीत-ग्राही होने से अप्रमाण हो जावेगा ?

समाधान—नहीं। ईहा आदि की तरह स्मरण में भी विषय भेद मौजूद है जिस प्रकार अवग्रह आदि के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ को विषय करने वाले ईहादि ज्ञानों में विषय भेद माना गया है वैसा ही यहां समझना। देखिये ! यहां धारणा का विषय "इदंता—यह" शब्द के प्रयोग पूर्वक जाना जाता है एवं स्मृति का विषय "तत्ता—वह" इस शब्द से निर्दिष्ट होता है। अतः स्मृति ज्ञान भी विसंवाद रहित होने से प्रमाण है।

धारावाहिक ज्ञान का लक्षण

एक ही घट में घट विषयक अज्ञान को दूर करने लिए होने वाले घट ज्ञान से घट का ठीक से बोध हो गया है फिर भी 'यह घट है, यह घट है, यह घट है' इस प्रकार उत्पन्न हुये ज्ञान धारावाहिक ज्ञान हैं ये ज्ञान अज्ञान को दूर करने में साधकतम नहीं हैं क्योंकि पहले 'यह घट है' इस ज्ञान से ही अज्ञान दूर हो चुका है. अतः गृहीत को ही ग्रहण करने वाला होने से यह ज्ञान अप्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण

अनुभव और स्मरण पूर्वक होने वाले जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। [न्याय दी. पृ. ५६]

अन्य वैशेषिक आदि 'एकत्व प्रत्यभिज्ञान' को स्वीकार करके भी उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करते हैं। उनका कहना है कि जो इन्द्रियों के होने पर होता है और नहीं होने पर नहीं होता हैं वह प्रत्यक्ष है, एवं इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक रखने वाला यह प्रत्यभिज्ञान है अतः प्रत्यक्ष में ही गर्भित है। किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि इन्द्रियां वर्तमानकालीन विषय को ही ग्रहण करती हैं, वर्तमान और भूतकाल की अवस्था के एकत्व को विषय नहीं कर सकती है। उसका कहना है कि इन्द्रियां सहकारी कारणों की सहायता से वर्तमान और भूत में रहने वाले एकत्व को जान लेंगी किन्तु आचार्यों का कहना है कि चाहे जितने सहकारी कारण मिल जावें, इन्द्रियाँ अविषय में प्रवृति नहीं कर सकती हैं। अंजन से संस्कृत चक्षु सुनने का काम नहीं कर सकती है, देखने में ही विशेषता ला सकती है। अतः एकत्व प्रत्यभिज्ञान पृथक् प्रमाण सिद्ध है।

नैयायिक और मीमांसक 'सादृश्य प्रत्यभिज्ञान' को उपमान नाम से पृथक् प्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि स्मृति और अनुभव के जोड़ रूप ज्ञानों को सर्वत्र प्रत्यभिज्ञान ही समझना चाहिये अन्यथा विसदृश प्रत्यभिज्ञान को भी एक पृथक् प्रमाण कल्पित करना पड़ेगा।

तर्क प्रमाण

व्याप्तिज्ञानं तर्कः । यत्र यत्र धूमत्वं तत्र तत्राग्निमत्वमिति । [न्या. ६२]

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं । जहां-जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है । यह तर्क ज्ञान का उदाहरण है ।

कोई कहते हैं कि प्रत्यक्ष विशेष के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है अतः 'तर्क प्रमाण' को पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनेकों बार का हुआ प्रत्यक्ष ये तीनों मिलकर एक ऐसे ही ज्ञान को उत्पन्न करते हैं जो व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ होता है, वही तर्क है । इस तर्क का विषय, प्रत्यक्ष अनुमान आदि के द्वारा असंभव है । बौद्धों का कहना है कि—

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अनन्तर जो विकल्प उत्पन्न होता है वह व्याप्ति को ग्रहण करता है । किंतु यह भी गलत है हम आप बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि वह विकल्प प्रमाण है या अप्रमाण ? यदि अप्रमाण है तो उसके द्वारा ग्रहीत व्याप्ति में प्रमाणता कैसे ? यदि प्रमाण है तो वह प्रत्यक्ष है या अनुमान ? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह अस्पष्ट ज्ञान है । अनुमान कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें हेतु दर्शन आदि की अपेक्षा नहीं है । इसलिए इन दोनों से भिन्न ही कोई प्रमाण है । और वही तो तर्क है । आपने उसका 'विकल्प' यह दूसरा नाम रख दिया है ।

अनुमान का लक्षण

'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं ।' [न्या. पृ. ६५]

साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं ।

नैयायिक—**'लिंगपरामर्शोनुमानं'** [न्या. वा. १-१-५]

लिंग को देखने रूप ज्ञान अनुमान है ।

जैन—यह लक्षण ठीक नहीं है । क्योंकि व्याप्ति स्मरण से सहित लिंग ज्ञान अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में कारण है । अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान ।

स्वार्थानुमान के अवयव

स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं—धर्मी, साध्य और हेतु ।

धर्मी—साध्य धर्म के आधार को धर्मी कहते हैं । जैसे अग्निमान् पर्वत ।

साध्य—हेतु के द्वारा जो जाना जाय वह साध्य है । जैसे अग्नि ।

हेतु—जो साध्य का ज्ञापक होता है । जैसे धूम दर्शन । ये तीनों ही अनुमान के अंग हैं ।

अथवा स्वार्थानुमान के दो अंग भी माने जाते हैं—पक्ष और हेतु ।

पक्ष—साध्य धर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहते हैं। जैसे 'यह पर्वत अग्नि वाला है' पक्ष को ही 'प्रतिज्ञा' कहते हैं। यथा—

"धर्मधर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा यथा पर्वतोऽयमग्निमान्"। [न्याय. ७६]

धर्म और धर्मी के समुदाय रूप पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे 'यह पर्वत अग्नि वाला है'।

जब धर्म और धर्मी में भेद कथन की विवक्षा है तब तीन अंग होते है। जब धर्म-धर्मी के समुदाय की विवक्षा है तव दो अंग माने जाते हैं। यह धर्मी प्रसिद्ध ही होता है।

परार्थानुमान

दूसरे के उपदेश की सहायता से जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। नैयायिक कहता है कि परोपदेश वाक्य ही परार्थानुमान हैं किंतु जैनाचार्य वचनों को उपचार से ही प्रमाण मानते हैं, वास्तव में नहीं। अतः मुख्य अनुमान तो ज्ञान ही है न कि ज्ञान के कारण वचन। इस परार्थानुमान के भी स्वार्थानुमान की तरह दो या तीन अंग माने गये हैं।

नैयायिक द्वारा मान्य अनुमान के पांच अवयव

"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्या सूत्र० १-१-३२]

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये अनुमान के पांच अवयव हैं।

पक्ष के प्रयोग को प्रतिज्ञा कहते हैं।

पंचमी विभक्ति रूप लिंग को हेतु कहते हैं।

व्याप्ति को दिखलाते हुये दृष्टांत के कहने को उदाहरण कहते हैं।

दृष्टांत की अपेक्षा लेकर पक्ष में हेतु के दुहराने को उपनय कहते हैं।

हेतु पुरस्सर पक्ष के कहने को निगमन कहते हैं। इनके उदाहरण—

'यह पर्वत अग्नि वाला है'—प्रतिज्ञा

'क्योंकि धूम वाला है।'—हेतु

जैसे रसोईघर—अन्वय दृष्टाँत। जैसे तालाव—व्यतिरेक दृष्टांत।

इसीलिये यह पर्वत धूम वाला है—उपनय।

धूम वाला होने से यह अग्नि वाला है—निगमन।

अनुमान प्रयोग पद्धति—

"यह पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि धूमवाला है। जो-जो धूम वाला होता है वह वह-वह अग्नि वाला होता है, जैसे रसोईघर। जो-जो अग्नि वाला नहीं होता है, वह-वह धूम वाला नहीं होता है जैसे तालाव। इसीलिये यह पर्वत धूम वाला है। धूमवाला होने से यह अग्नि वाला है।"

ये पांचों अवयव अनुमान प्रयोग के हैं इनमें से यदि एक भी न हो तो अनुमान प्रयोग गलत है। यहां तक नैयायिक ने कहा है।

जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह विचार गलत है क्योंकि वीतराग कथा में शिष्यों के अभिप्राय से अधिक भी अवयव मानें जाते हैं किंतु विजिगीषु कथा में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव कहे जाते हैं।

विजिगीषु कथा

वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करनें के लिए जीत हार होने तक जो परस्पर में चर्चा होती है वह विजिगीषु कथा है, उसे वाद भी कहते हैं। [न्याय. पृ. ७९]

वीतराग कथा

गुरु तथा शिष्यों या रागद्वेष रहित विद्वानों में जो तत्त्व का निर्णय होनें तक वचन प्रवृत्ति-चर्चा होती है वह वीतराग कथा कहलाती है। यह सौम्यचर्चा है। [न्याय. ८०]

बौद्ध—लिंग वचन रूप एक हेतु का ही वादकाल में प्रयोग करना चाहिए, प्रतिज्ञा का प्रयोग अनावश्यक है।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि हेतु के प्रयोग से व्युत्पन्न जनों को भी साध्य के संदेह का निवारण नहीं हो सकेगा, अतः प्रतिज्ञा का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। जैन सिद्धान्तानुसार वीतराग कथा में शिष्यों के आशयानुसार प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इनमें से दो, तीन, चार या पांचों का भी प्रयोग कर सकते हैं। कोई बाधा नहीं है किन्तु वाद काल में मात्र प्रतिज्ञा-हेतु इन दो अवयवी अनुमान ही बोलना चाहिए, यह बात सिद्ध हुई।

जैन हेतु का एक अविनाभाव लक्षण ही मानते हैं बौद्ध हेतु का त्रैरूप्य एवं नैयायिक पांच रूप वाला मानते हैं। अब उनका निराकरण करते हैं।

बौद्ध के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण

"पक्षधर्मत्वादित्रितयलक्षणाल्लिंगादनुमोत्थानम्"। [न्या. पृ. ८३]

पक्षधर्मत्व आदि तीन लक्षण वाले हेतु से अनुमान की उत्पति होती है, ऐसा बौद्ध का कहना है। उसका स्पष्टीकरण—

पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति ये तीन रूप हेतु के लक्षण हैं।

पक्ष धर्मत्व—साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं जैसे अग्नि के अनुमान में पर्वत पक्ष है, उस पक्ष में व्याप्त होकर हेतु का रहना 'पक्षधर्मत्व' है।

सपक्ष सत्त्व—साध्य के समान धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं जैसे अग्नि के अनुमान में 'रसोई-घर' सपक्ष है। उस सपक्ष में सब जगह हेतु का रहना 'सपक्ष सत्व' है।

विपक्षव्यावृति—साध्य से विरोधी धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। जैसे—अग्नि के अनुमान में तालाव 'विपक्ष' है उन सभी विपक्षों में हेतु का न रहना 'विपक्ष व्यावृत्ति' है।

ये तीनों रूप मिलकर हेतु का लक्षण है। यदि इन तीनों में से एक रूप भी न हो तो हेतु हेत्वाभास वन जाता है। यहाँ तक बौद्ध का पक्ष है। अव जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं।

जैन—यह बौद्ध का कथन ठीक नहीं है क्योंकि पक्ष धर्मत्व के विना भी कृतिकोदयादि हेतु शकटोदयादि साध्य को सिद्ध कर देते हैं। तथाहि—"**शकट मुहूर्तांते उदेष्यति कृत्तिकोदयादिति**" रोहिणी नक्षत्र का एक मुहुर्त के वाद उदय होगा क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है। इस अनुमान में 'रोहिणी नक्षत्र' धर्मी पक्ष है। 'एक मुहूर्त के वाद उदय' साध्य है और 'कृत्तिका नक्षत्र का उदय' हेतु है, किंतु यह "कृतिकोदयात्" हेतु अपने पक्ष भूत 'रोहिणी' नक्षत्र में नहीं रहता है। इसलिए इस हेतु में 'पक्षधर्मत्व' नहीं है फिर भी इसमें 'अन्यथानुपपत्ति' मौजूद है। अतः यह हेतु अपने साध्य को सिद्ध कर देता है। इसलिए बौद्धों के द्वारा मान्य हेतु का त्रैरूप्य लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है।

नैयायिक सम्मत पाँचरूप्य हेतु का कथन

नैयायिक पंचरूपता को हेतु का लक्षण कहते हैं। उसका स्पष्टीकरण—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृति, अवाधितविपयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। उनमें से प्रथम तीन रूप के लक्षण कहे जा चुके हैं। शेप दो का लक्षण अवाधितविपयत्व—साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले वलिष्ठ प्रमाणों का न होना 'अवाधित विपयत्व है। असत्प्रतिक्षत्व—साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले समान वल वाले प्रमाणों का न होना 'असत्प्रतिपक्षत्व' है। उदाहरण द्वारा देखिये—"यह पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि धूमवाला है, जो-जो धूम वाला होता है वह वह अग्नि वाला होता है, जैसे रसोई घर। जो जो अग्नि वाला नहीं होता है वह वह धूम वाला नहीं होता है, जैसे तालाव। चूंकि यह धूम वाला है, इसलिए अग्नि वाला जरूर ही है।" इन पांच अवयव रूप अनुमान प्रयोग में 'धूमत्वात्' हेतु हैं उसमें पक्षधर्मता हैं क्योंकि वह पक्षभूत पर्वत में रहता हैं।

सपक्षसत्त्व भी है, क्योंकि सपक्षभूत रसोई घर में रहता है। विपक्षव्यावृत्ति भी है, क्योंकि धूम हेतु तालाव आदि विपक्षों में नहीं है। अवाधित विषयत्व भी है, क्योंकि धूम हेतु का जो अग्नि रूप साध्य विपय है वह प्रत्यक्ष आदि से वाधित नहीं है। असत्प्रतिपक्षत्व भी है, क्योंकि अग्नि के अभाव का साधक तुल्यवल वाला कोई प्रमाण नहीं है। इन पाँचों रूप सहित ही धूम हेतु अपने अग्नि रूप साध्य का ज्ञान कराता है। इनमें से किसी एक रूप के न होने से एक-एक दोप उपस्थित हो जाते हैं। पक्षधर्म के अभाव में असिद्ध दोप, सपक्षसत्त्व के अभाव में विरुद्ध दोप, विपक्षव्यावृत्ति के अभाव में अनैकान्तिक दोप, अवाधित विपयत्व के अभाव में कालात्ययापदिष्ट दोप एवं असत्प्रतिपक्षत्व के अभाव में प्रकरणसम दोप, ऐसे पांच रूप के अभाव में हेतु के पाँच दोप होने से पांच हेत्वाभास प्रसिद्ध हैं। पृथक्-पृथक् इनका स्पष्टीकरण—

असिद्ध हेत्वाभास—पक्ष में जिसका रहना असिद्ध हो वह असिद्ध हेत्वाभास है, जैसे—'शब्द अनित्य

है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से जाना जाता है, । यहां 'चाक्षुषत्वात्' हेतु पक्षभूत शब्द में नहीं है, क्योंकि शब्द तो श्रोत्रेंद्रिय का विषय है

विरुद्ध हेत्वाभास—साध्य के अभाव के साथ जो हेतु व्याप्त हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे–शब्द नित्य है क्योंकि वह कृतक हैं यहां कृतक हेतु अपने साध्यभूत नित्य से रहित अनित्य में व्याप्त है और सपक्ष आकाश आदि में नहीं रहता है अतः विरुद्ध हेत्वाभास है।

अनैकान्तिक हेत्वाभास– जो हेतु व्यभिचार सहित है, साध्य के अभाव में भी रहता है या विपक्ष में चला जाता है वह अनैकान्तिक है। 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है' यहां प्रमेयत्व हेतु अपने साध्य अनित्य का व्यभिचारी है। क्योंकि आकाश आदि विपक्ष में नित्यत्व के साथ भी रह जाता है, अतः विपक्ष से अलग न होने से यह हेतु 'अनैकान्तिक, हेत्वाभास है।

कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास—जिस हेतु का विषय प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हो वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है। जैसे—'अग्नि ठण्डी है, क्योंकि वह पदार्थ है' यहां 'पदार्थत्व' हेतु अपने विषय 'ठण्डापन' में प्रत्यक्ष से बाधित है। अतः अबाधितविषयता न होने से 'कालात्ययापदिष्ट' हेत्वाभास है।

प्रकरणसम हेत्वाभास—जिसका विरोधी साधन मौजूद हो वह हेतु प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यधर्म से रहित है'। यहां नित्यधर्म रहितत्व हेतु का विरोधी साधन मौजूद है, अर्थात् 'शब्द नित्य है क्योंकि अनित्य धर्मों से रहित है' इस प्रकार नित्यता का साधन करना, उसका प्रतिपक्षी साधन है। अतः असत्प्रतिपक्षता के न होने से 'नित्यधर्मरहितत्व' हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है।

इन पांच हेत्वाभास दोषों से रहित पांच रूपता हेतु का लक्षण है। पांचों रूपों में से किसी एक से रहित होने से हेतु अहेतु है। यहां तक नैयायिक ने कहा है।

जैनाचार्यों द्वारा पांचरूप्य हेतु का खंडन

नैयायिकों द्वारा हेतु का पांचरूप्य लक्षण भी ठीक नहीं है क्योंकि पक्षधर्मत्व से रहित भी 'कृत्तिकोदय हेतु' रोहिणी के उदय रूप साध्य का गमक है। अतः पंचरूपता लक्षण हेतु अव्याप्ति दोष से दूषित है। [न्या. पृ. ८५-८८]

दूसरी बात यह है कि आप नैयायिकों ने ही हेतु के तीन भेद माने हैं। केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। इन तीनों में से पहले के दो हेतु में पांचरूपता नहीं है, मात्र अन्वयव्यतिरेकी हेतु में ही पांचरूपता है।

केवलान्वयी हेतु

'पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षरहितः केवलान्वयी। यथा–अदृष्टादयः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् यद्यदनुमेयं तत्तत्कस्यचित्प्रत्यक्षं 'यथाग्न्यादि''। [न्या. पृ. ८९]

जो पक्ष और सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष से रहित है वह केवलान्वयी हेतु है जैसे—'पुण्यपापादि किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं । जो-जो अनुमान से जाने जाते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष होते हैं जैसे—अग्नि आदि ।' यहां 'पुण्यपापादि' पक्ष है । 'किसी के प्रत्यक्ष' यह साध्य है 'अनुमान से जाना जाता है' यह हेतु है । 'अग्नि आदि' यह अन्वय दृष्टांत है । यह 'अनुमेयत्व' हेतु अदृष्ट आदि पक्ष में रहता है और सपक्ष अग्नि आदि में भी रहता है । अतः इस हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्ष सत्त्व हैं । किन्तु विपक्ष यहाँ कोई है ही नहीं क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और सपक्ष में आ गये, इसलिये विपक्ष व्यावृत्ति है ही नहीं ।

केवल व्यतिरेकी का कथन

"पक्षवृत्तिर्विपक्षव्यावृत्तः सपक्षरहितो हेतुः केवलव्यतिरेकी । यथा–जीवच्छरीरं सात्मकं भवितुमर्हति प्राणादिमत्त्वात् यद्यत्सात्मकं न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठं इति" ।

[न्या. पृ. ८०]

जो हेतु पक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता है और सपक्ष से रहित है वह हेतु केवल व्यतिरेकी है । जैसे जिन्दा शरीर जीवसहित होना चाहिए, क्योंकि वह प्राणादि वाला है । जो-जो जीव-सहित नहीं होता है वह-वह प्राणादिमान् नहीं होता है, जैसे मिट्टी का ढेला । यहां 'जिंदा शरीर' पक्ष है, 'जीवसहितत्व' साध्य है । 'प्राणादिमान्' हेतु है और 'लोष्ठादिक' व्यतिरेक दृष्टान्त है । प्राणादिमान् हेतु पक्षभूत जिंदा शरीर में रहता है और विपक्ष लोष्ठादिक से व्यावृत्त है । तथा सपक्ष यहां है ही नहीं, क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और विपक्ष के अन्तर्गत हो जाते हैं । अतः इसमें भी पंचरूपता नहीं हैं ।

अन्वय-व्यतिरेकी हेतु का उदाहरण

"तत्र पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी । यथा शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात्, यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यं यथा घटः यद्यदनित्यं न भवति तत्तत्कृतकं न भवति यथा आकाशः तथा चायं कृतकः, तस्मादनित्य एवेति" । [न्या.पृ. ८६]

जो हेतु पांचरूपों से सहित है वह अन्वय व्यतिरेकी है । जैसे 'शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जो-जो किया जाता है वह-वह अनित्य होता है, जैसे घड़ा, जो जो अनित्य नहीं होता है वह-वह किया नहीं जाता, जैसे—आकाश और यह शब्द किया जाता है, इसलिए अनित्य ही है ।

यहाँ 'शब्द' पक्ष है उसकी 'अनित्यता' साध्य है । 'कृतकत्व' हेतु है । वह हेतु पक्षभूत शब्द का धर्म है अतः इस हेतु में 'पक्षधर्मत्व' है । सपक्ष घटादिकों में रहता है, अतः 'सपक्षसत्त्व' है । विपक्ष आकाश में नहीं रहता है अतः विपक्ष से व्यावृत्त है । हेतु का विषय—अनित्य किसी प्रमाण से बाधित नहीं है अतः 'अबाधितविषयत्व' है । एवं प्रतिपक्षी साधन के न होने से 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी विद्यमान है । अतः 'कृतकत्वात्' हेतु इन पांचों रूपों से विशिष्ट होने से 'अन्वयव्यतिरेकी' कहलाता है ।

इन तीन हेतुओं के लक्षण से आप नैयायिकों द्वारा ही मान्य हेतु की पंचरूपता का निराकरण हो जाता है। क्योंकि केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी हेतुओं में पंचरूपता नहीं है।

जो नैयायिक का कहना है कि असिद्ध विरुद्ध आदि पाँचों दोषों को दूर करने के लिये हेतु में पांच रूपता है वह भी गलत है। क्योंकि अन्यथानुपपत्ति लक्षण से विशिष्ट हेतु असिद्ध आदि दोषों का निराकरण कर देता है, और यदि ये पांच रूप विद्यमान हैं किंतु अन्यथानुपपत्ति रूप अविनाभाव नहीं है तब तो वह हेतु हेत्वाभास ही कहलाता है। तथाहि—

[पांचरूप्य, त्रैरूप्यहेतु हेत्वाभास क्यों है ?]

"गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामो भवितुमर्हति, मैत्रीतनयत्वात्, संप्रतिपन्नमैत्रीतनयवत् ।"

[न्या. पृ. ९१]

"गर्भ में स्थित मैत्री का पुत्र काला होना चाहिये क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, अन्य मौजूद मैत्री के पुत्रों की तरह।" यहां 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु पक्षभूत गर्भस्थ मैत्री के पुत्र में रहता है अतः इस हेतु में 'पक्ष धर्मत्व' मौजूद है। सपक्षभूत मौजूद मैत्री पुत्रों में रहने से 'सपक्षसत्त्व' भी है विपक्षभूत गोरे चैत्र के पुत्रों से व्यावृत्त होने से विपक्ष से व्यावृत्ति रूप भी है। कोई बाधा नहीं है इसलिये 'अबाधितविषयता' भी है, क्योंकि गर्भस्थ मैत्रीपुत्र का कालापन किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं है। विरोधी समान बल वाला कोई प्रमाण न होने से इस हेतु में 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी है। इस प्रकार 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु में पाँचों रूप विद्यमान हैं। तीन रूप तो 'हजार में सौ' के न्याय से स्वयं सिद्ध हैं किंतु अन्यथानुपपत्ति न होने से यह हेतु हेत्वाभास है क्योंकि 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु से गर्भस्थ पुत्रों के कालेपन का अविनाभाव निश्चित नहीं है कदाचित् गर्भस्थ बालक गोरा भी हो सकता है।

अतः अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु ही सम्यक् हेतु है। यदि अन्यथानुपपत्ति से सहित ही पांचरूपता हेतु का लक्षण है तो अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का लक्षण सिद्ध है, पांच रूपता नहीं है।

[बौद्ध के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण]

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्" ॥१॥

अर्थ—जहां अन्यथानुपपत्ति है, वहां तीन रूपों के मानने से क्या ? और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहां तीन रूपों के सद्भाव से भी क्या ? तात्पर्य यह है कि अन्यथानुपपत्ति के विना हेतु की तीन रूपता अभिमत फल का संपादक नहीं है। बौद्धों के लिये यह उत्तर है।

[नैयायिक के पांचरूप्य हेतु का खंडन]

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः ॥२॥"

[प्रमाण प. पृ. ७२]

अर्थ—जहाँ हेतु में अन्यथानुपपत्ति है वहां पांच रूपों के मानने से क्या प्रयोजन है ? और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ पांच रूपों के सद्भाव से भी क्या प्रयोजन है ? तात्पर्य यह है कि अन्यथा-नुपपत्ति के विना पांच रूप सर्वथा निष्फल हैं। अन्यथानुपपत्ति –जो साध्य के साथ अविनाभावी है—साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के विना नहीं होता है वह अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु है।

हेतु के दो भेद हैं—विधि रूप और निषेध रूप। विधि रूप हेतु के भी विधि साधक और प्रतिषेध साधक ऐसे दो भेद हैं एवं निषेध रूप हेतु के भी दो भेद हैं—विधि साधक और प्रतिषेध साधक।

इन सबके भेद प्रभेदों के नाम बताये जा चुके हैं।

विशेष लक्षण अन्य ग्रन्थों से देख लेना चाहिये।

जैनाचार्यों ने हेत्वाभास के चार भेद ही माने हैं, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

[आगम का लक्षण]

"आप्तवाक्यनिबंधनमर्थज्ञानमागमः।" [न्या. पृ. ११३]

आप्त के वचनों से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।

[आप्त का लक्षण]

"आप्तः प्रमितिसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशः।" [न्या. पृ. ११३]

जो प्रत्यक्ष ज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता—सर्वज्ञ है और परमहितोपदेशी है वह आप्त है।

नैयायिक आदि के द्वारा माने गये आप्त सर्वज्ञ न होने से आप्ताभास हैं—सच्चे आप्त नहीं हैं। क्योंकि उनके द्वारा माने गये आप्त का ज्ञान स्वयं को नहीं जानता है। पुनः उसके एक ही ज्ञान है उसको जानने वाला ज्ञानांतर भी नहीं है। जब वह ईश्वर विशेषण भूत अपने ज्ञान को ही नहीं जानता है तो उस ज्ञान विशिष्ट आत्मा को कि 'मैं सर्वज्ञ हूं।' ऐसा कैसे जानेगा ? और जब अनात्मज्ञ है तब असर्वज्ञ ही है सर्वज्ञ नहीं है। एवं बुद्ध आदि भी सच्चे आप्त नहीं हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जावेगा।

[प्रमाण का विषय]

'अनेके अन्ता धर्माः सामान्यविशेषपर्यायगुणा यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः।" [न्या. ११७]

जिसमें अनेकों अंत-धर्म सामान्य विशेष पर्याय और गुण पाये जाते हैं उसे अनेकांत कहते हैं। मतलब सामान्य आदि अनेक धर्म वाले पदार्थ को अनेकांत कहते हैं।

तत्र सामान्यमनुवृत्तिस्वरूपम्। तद्धि घटत्वं पृथुबुध्नोदराकारः गोत्वमिति सास्नादिमत्त्वमेव। [न्या. ११७]

अनुगत व्यवहार के विषयभूत सदृश परिणामात्मक 'घटत्व' 'गोत्व' आदि अनुगत स्वरूप को सामान्य कहते हैं। वह घटत्व स्थूल कम्बु ग्रीवादि स्वरूप तथा 'गोत्व' सास्ना आदि स्वरूप ही है।

विशेषोऽपि स्थूलोऽयं घटः सूक्ष्मः इत्यादि व्यावृत्तप्रत्ययालम्बनं, घटादिस्वरूपमेव।"

[न्या. पृ. १२०]

विशेष भी सामान्य की ही तरह 'यह स्थूल घट है, यह छोटा है।' इत्यादि व्यावृत्त प्रतीति का विषयभूत घटादि व्यक्ति स्वरूप ही है। इसी बात को भगवान् माणिक्यनंदि भट्टारक ने भी कहा है कि 'प्रमाण का विषय सामान्य-विशेष रूप है।'

पर्याय—परिणमन को पर्याय कहते हैं। उसके दो भेद हैं अर्थपर्याय, व्यंजन पर्याय।

उसमें भूत और भविष्य के उल्लेख रहित केवल वर्तमान कालीन वस्तु स्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं। आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है। इसी एक देश को मानने वाले क्षणिकवादी बौद्ध हैं।

प्रवृत्ति और निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने रूप अर्थक्रियाकारिता का नाम व्यक्ति-व्यंजन है, उस व्यंजन से युक्त पर्याय को व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे—मिट्टी आदि को पिंड, स्थास, कोश, कुशूल, और कपाल आदि पर्यायें हैं।

गुण—जो संपूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं, उन्हें गुण कहते हैं। और वे वस्तुत्व, रूप, गंध, स्पर्श आदि हैं। गुण के भी दो भेद हैं—सामान्य और विशेष। जो सभी द्रव्यों में रहें वे सामान्य गुण हैं जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व आदि। जो उसी एक द्रव्य में रहते हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं। जैसे—रूपरसादि। इन सामान्य विशेष रूप गुण और पर्यायों का आश्रय द्रव्य है। ऐसी अनेकान्तात्मक द्रव्य रूप वस्तु ही प्रमाण का विषय है। एवं अनेक धर्मात्मक वस्तु को विषय करने वाला प्रमाण है। वस्तु के एक धर्म को सापेक्ष ग्रहण करने वाला नय है। वस्तु के एक धर्म को निरपेक्ष रूप से ग्रहण करने वाले नय नयाभास या कुनय कहलाते हैं।

यहां तक संक्षेप से प्रमाण और प्रमाणाभास को बताया है आगे कुछ विशेष समीक्षा करते हैं।

प्रमाणों के बारे में विशेष समीक्षा

प्रमाण विचार

दार्शनिक परम्परा में सर्वत्र 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणं' इस निरुक्ति के अनुसार जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं।

नास्तिक वादी चार्वाक ने 'मानं त्वक्षजमेव हि' इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है।

वैशेषिक-नैयायिक

दार्शनिक लोगों में सर्वप्रथम कणाद ने प्रमाण का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट किया है। 'अदुष्टं विद्या' [वैशेषिक सूत्र ९-२-१२] निर्दोष विद्या को प्रमाण कहा है।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम के न्याय सूत्र में तो प्रमाण का सामान्य लक्षण उपलब्ध नहीं है पर

उनके टीकाकार वात्स्यायन ने अवश्य ही लक्षण किया है—'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि' [न्याय भा. पृ. १८] उपलब्धियों के साधन को प्रमाण माना है।

उद्योत कर ने भी '**उपलब्धिहेतुः प्रमाणं**' [न्याय वा. पृ. ५] उपलब्धि के हेतु को ही प्रमाण कहा है।

जयंतभट्टने '**प्रमाकरणं प्रमाणं**' [न्याय म. पृ. २५] प्रमा के करण को प्रमाण कहा है।

उदयन ने 'यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते' [न्या. कुसु. ४, १] यथार्थ अनुभव को प्रमाण कहा है। यहाँ यह बात ध्यान में रखना कि 'उदयन' के पहले न्याय वैशेषिक दर्शन में 'अनुभव पद' दृष्टि-गोचर नहीं होता है।

इस प्रकार नैयायिक वैशेषिक दर्शन में प्रमा के करण को प्रमाण माना गया है। उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमा के तीन करण माने हैं—इन्द्रिय, इंद्रियार्थ सन्निकर्ष, और ज्ञान। किन्तु इंद्रिय और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमा का कारण मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय और सन्निकर्ष अज्ञान रूप हैं, अतः वे अज्ञान की निवृत्ति रूप प्रमा के करण कैसे हो सकते हैं? अज्ञान निवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही होना चाहिए। सन्निकर्ष को प्रमाण कहने में पहले दोष दिखाया है।

वृद्ध नैयायिकों ने कहा है कि—'अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणं। [न्याय मं. पृ. १२]

अव्यभिचारिणी असंदिग्ध अर्थ की उपलब्धि को कराने वाली ज्ञानात्मक तथा अज्ञानात्मक दोनों प्रकार की सामग्री ही प्रमा का करण है वही प्रमाण है। अतः वे कारक साकल्य-इंद्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि कारणों की समग्रता को प्रमाण कहते हैं। इस विषय में यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि अर्थ की उपलब्धि में साधकतम कारण तो ज्ञान है और कारक साकल्य की सार्थकता उस ज्ञान को उत्पन्न करने में है, क्योंकि ज्ञान को उत्पन्न किये विना कारक साकल्य अर्थ का बोध नहीं करा सकते। अतः प्रमा का करण रूप प्रमाण ज्ञान ही है इन्द्रिय सन्निकर्ष, कारक साकल्य आदि नहीं हैं क्योंकि ये अचेतन हैं।

मीमांसक —

मीमांसा दर्शन में प्राभाकर और भाट्ट दो सम्प्रदाय हैं—उनमें से प्राभाकरों ने—'**अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्**' [बृहती १-१-५] अनुभूति ही प्रमाण का लक्षण है ऐसा कहा है। एवं ज्ञातृ व्यापार को भी प्रमाण कहा है।

किन्तु एक ही अर्थ की अनुभूति विभिन्न व्यक्तियों को अपनी-अपनी भावना के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती है, इसलिये केवल अनुभूति को प्रमाण नहीं माना जा सकता। ज्ञाता के व्यापार को प्रमाण मानने में उनका मतलव यह है कि 'अर्थ प्रकाशन ज्ञाता के व्यापार द्वारा होता हैं' अतः ज्ञाता का व्यापार प्रमाण है। किन्तु ज्ञाता का व्यापार अर्थ प्रकाशन में या उसके जानने में प्रमाण तभी माना जा सकता है जब कि उसका व्यापार यथार्थ वस्तु के वोध में कारण हो। जहां पर यथार्थ वस्तु के ज्ञान में कारण न होकर विपरीत ही अर्थ ज्ञान करा रहा है वहां प्रमाण कैसे होगा?

भाट्टों ने 'अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम् [शा. दी. पृ. १२३]

अज्ञात यथावस्थित अर्थ के जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है, किंतु यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि उन्होंने स्वयं गृहीतग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण माना है।

कुमारिल भट्ट ने प्रमाण के सामान्य लक्षण में पांच विशेषण दिये हैं—

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्। [प्रमाण वा. पृ. २१]

जो अपूर्व को जानने वाला हो, निश्चित हो, बाधाओं से रहित हो, निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ हो और लोकसम्मत हो वह प्रमाण कहलाता है।

उक्त प्रमाण लक्षण में यद्यपि कोई बात आपत्ति जनक प्रतीत नहीं होती, फिर भी अन्य दार्शनिकों ने इस लक्षण की आलोचना की है। विशेष दूषण यह है कि—मीमांसकों ने ज्ञान को परोक्ष माना है, किंतु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि जो ज्ञान स्वयं परोक्ष है वह प्रमाण कैसे हो सकता है ?

बौद्ध—

बौद्ध दर्शन में **'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्'** [प्रमाण स. टी. पृ. ११] अज्ञात के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

दिग्नाग ने—**'स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपार्थनिश्चयः।**

विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥' [प्रमाण स. पृ. २१०]

विषयाकार को प्रमाण तथा विषयाकार अर्थनिश्चय को और स्वसंवित्ति को प्रमाण का फल माना है।

धर्मकीर्ति ने प्रमाण के लक्षण में 'अविसंवादी' पद को जोड़कर दिग्नाग प्रतिपादित लक्षण का ही समर्थन किया है। तत्त्वसंग्रहकार शांतरक्षित ने सारूप्य और योग्यता को प्रमाण माना है। तथा विषयाधिगति और स्वसंवित्ति को फल माना है। मोक्षाकार गुप्त ने—**प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्'** [तर्क भा. मोक्षकार गुप्त पृ. १]

अपूर्व अर्थ को विषय करने वाले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा है। इस प्रकार बौद्धों ने अज्ञातार्थ प्रकाशक अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहा है।

बौद्धों के यहां प्रमाण और फल में अभेद होने से यद्यपि प्रमाण ज्ञान रूप है तथापि विषयाकारता को ही इन्होंने प्रमाण माना है। यद्यपि ज्ञान गत सारूप्य ज्ञान स्वरूप ही है फिर भी ज्ञान का विषयाकार होना एक जटिल समस्या है, क्योंकि अमूर्तिक ज्ञान का मूर्तिक पदार्थों के आकार होना संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान को विषयों के आकार होना ही मानने से संशय-विपर्यय ज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि वे ज्ञान भी तो विषयाकार हैं।

सांख्य—

सांख्यों ने **'इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्'** [योगद. व्या. पृ. २७]

श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति-व्यापार को प्रमाण माना है। किन्तु इन्द्रिय व्यापार को प्रमाण मानना उचित नहीं है क्योंकि इन्द्रियों के समान उनका व्यापार भी अचेतन और अज्ञान रूप ही होगा। अतः अज्ञान रूप व्यापार जानने रूप क्रिया का साधकतम कारण नहीं हो सकता है।

उपसंहार—यौग (नैयायिक-वैशेषिक) इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान को प्रमा का करण मानते हैं। प्राभाकर ज्ञाता के व्यापार को, मीमांसक इन्द्रिय को, बौद्ध सारूप्य (तदाकारता) और योग्यता को जानने रूप क्रिया का करण मानते हैं किन्तु ये सब मान्यताएं दूषित हैं। इनको विशेष समझने के लिए प्रमेयकमल मार्तंड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थ देखना चाहिए।

जैनाचार्य ज्ञान को ही प्रमा—जानने रूप क्रिया का करण कहते हैं। उसीका स्पष्टीकरण—

जैन—

जैन दर्शन में आचार्य श्री समन्तभद्र महोदय ने 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं' तत्त्व ज्ञान को प्रमाण कहा है [अष्ट स.] अन्यत्र स्वयंभूस्तोत्र में—**'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणं'** स्वपरावभासक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने **'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्'** [न्यायावतार श्लो. १]

स्वपर अवभासी तथा बाधारहित ज्ञान को प्रमाण कहा है। श्री अकलंक देव ने **'व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्'** अपने और अर्थ के ग्राहक व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

[लघीयत्रस्य का. ६०]

अन्यत्र श्री अकलंक देव ने ही —**'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्'**

[अष्टशती का. ३६]

अनधिगत अर्थ को जानने वाले अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहा है

श्री विद्यानन्द महोदय ने **'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'** [प्रमाणपरी. पृ. ५१] पहले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहकर पुनः **'स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्** [प्रमाण प.]

सम्यग्ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान है। ऐसा स्पष्ट किया है।

इन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है। क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे अपूर्व अर्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, स्वार्थ व्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है किन्तु माणिक्यनन्दि आचार्य महोदय ने—**'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'** [परीक्षा मु. सू. १]

स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक—निश्चय कराने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है। एवं स्वयं ग्रन्थकार ने अपूर्वार्थ पद का लक्षण किया है—**अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥४॥** [प. मु. प्र. प.]

जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निश्चय नहीं किया गया है वह अपूर्वार्थ है। अर्थात् जो वस्तु किसी यथार्थ ग्राही प्रमाण से अभी तक जानी नहीं गई है वह अपूर्वार्थ है। क्योंकि जो किसी ज्ञान से जान ली गयी है उसका जानना व्यर्थ है इस वास्ते अपूर्व विशेषण सूत्र में दिया है। इसलिए यहां पर ईहा आदि ज्ञानों का विषय भूत पदार्थ अवग्रह आदि ज्ञानों के द्वारा ज्ञात होने पर भी पूर्वार्थ नहीं है, अपितु अपूर्वार्थ ही है क्योंकि अवग्रहादि के द्वारा ईहादि ज्ञान के विषयभूत अवान्तर विशेष का निश्चय नहीं होता है। अन्य प्रकार से भी अपूर्व का लक्षण करते हैं —

'दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्' ॥५॥ [प. मु. प्र. प.]

दृष्ट—अन्य किसी प्रमाण के द्वारा जाने गये पदार्थ में भी समारोप–संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय आ जाता है तो वे भी अपूर्वार्थ हो जाते हैं।

इस प्रकार से जैनाचार्यों द्वारा कथित सभी प्रमाण के लक्षणों में विरोध नहीं है। ये लक्षण एक दूसरे के समर्थक हैं क्योंकि वास्तव में 'ज्ञान' ही प्रमाण कहलाने योग्य है। उस ज्ञान से ही 'हिताहित-प्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्' हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है, अन्य इन्द्रिय, सन्निकर्ष आदि अचेतन से नहीं हो सकता है। अतः स्वपर प्रकाशी सम्यक् तत्वज्ञान ही प्रमाण है। यह समझना चाहिए।

प्रमाण के भेद का विचार

चार्वाक ने एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना है।

बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करते हैं। **सांख्य** ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ऐसे तीन भेद माने हैं। **नैयायिक** ने उसमें उपमान और मिला दिया है। **मीमांसक** इसी में अर्थापत्ति और अभाव मिलाकर छह भेद कर देते हैं।

जैनाचार्यों ने सर्वत्र प्रमाण के दो भेद किये हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन दो भेदों में ही उपर्युक्त प्रमाण के भेद गर्भित हो जाते हैं।

सिद्धान्त ग्रन्थों में आचार्य श्री उमास्वामी आदि ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं विकल और सकल विकल में अवधि, मनःपर्यय एवं सकल में केवल ज्ञान है।

परोक्ष प्रमाण के मति श्रुत दो भेद करके मतिज्ञान के पर्यायवाची नामों में श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि—**'मतिःस्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्'** ॥१३॥ मति, स्मृति, प्रत्यभिमान, तर्क और अनुमान ये पाँचों मतिज्ञान के ही पर्याय वाची नाम है। [तत्त्वार्थसूत्र प्र. अ.]

न्याय ग्रन्थों में आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं साँव्यवहारिक और पारमार्थिक। सांव्यवहारिक से मतिज्ञान को लिया है। और उसके अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा रूप से चार भेद करके पांच इन्द्रिय और मन से गुणा करके वहु आदि पदार्थ के १२ भेदों से भी गुणित

करके ३३६ भेद कर दिये हैं। जिनका स्पष्टीकरण पहले आ चुका है। पारमार्थिक के विकल सकल भेद करते हैं। तथा मति के पर्याय वाची स्मृति आदि चारों को परोक्ष में ले लेते हैं। उन चारों में श्रुतज्ञान को आगम प्रमाण से मिलाकर के परोक्ष के पांच भेद कर देते हैं यथा—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं।

क्योंकि स्मृति आदि मतिज्ञान के समान इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं हैं। यही कारण है कि इन्हें परोक्ष में लिया गया है। इस प्रकार से प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण में ज्ञान के पांचों भेद आ जाते हैं।

अन्य दार्शनिकों ने स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क को पृथक् से प्रमाण में नहीं लिया है। अतः सभी के द्वारा मान्य प्रमाण संख्या अपूर्ण है।

जैनाचार्यों ने अन्य जनों द्वारा मान्य उपमान प्रमाण को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भूत कर लिया है। अर्थापत्ति प्रमाण तो अनुमान में ही शामिल हो जाता है। एवं अभाव प्रमाण का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है ऐसा बताया है। क्योंकि—

'गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥ [कुमारिल. मीमांसा श्लोक]

यहाँ वस्तु का सद्भाव-घट रहित केवल भूतल को देखकर और प्रतियोगी-घट की याद कर बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित 'नहीं है' इस रूप जो मानस ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है ऐसा मीमांसक मत में कुमारिल भट्ट का कहना है। अतः 'भूतल को देखना' प्रत्यक्ष में शामिल है। 'घट का स्मरण स्मृति' ज्ञान में अन्तर्भूत है। इत्यादि।

प्रत्यक्ष प्रमाण पर विचार

दार्शनिक जगत् में प्रत्यक्ष का लक्षण अनेक प्रकार का उपलब्ध होता है।

नैयायिक और वैशेषिक—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'। [न्याय सू. १-१-४]

इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला, अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

मतलब सामान्यतया ये लोग इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहते हैं।

सांख्य—श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्। ये लोग निर्विकल्प श्रोत्र आदि इन्द्रियों के व्यापार को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है।

मीमांसक—'तत्संप्रयोगे पुरुषस्येंद्रियाणां बुद्धिजन्म ततः प्रत्यक्षम्। [जैमिनि. १-१-४]

इन्द्रियों का आत्मा के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होने वाली बुद्धि को प्रत्यक्ष कहते हैं।

बौद्ध—

बौद्धदर्शन में तीन मान्यतायें हैं—वसुबन्धु, दिग्नाग और धर्मकीर्ति। वसुबन्धु ने—'**अर्थादिज्ञानं प्रत्यक्षम्** [प्रमाण स. पृ. ३२] अर्थजन्य निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

दिग्नाग ने—**प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्** [प्रमाण स. १-३]

नाम जाति आदि रूप कल्पना से रहित निर्विकल्पज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

धर्मकीर्ति ने—**कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्** [न्यायबिन्दु पृ. ११]

निर्विकल्प तथा अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

सामान्यतया सभी बौद्ध तार्किकों ने निर्विकल्प को प्रत्यक्ष स्वीकार किया है।

जैनाचार्य—

जैनाचार्यों ने "**प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं**" [लघीयस्त्रय का. ३] कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि स्पष्ट-निर्मल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। सिद्धान्त ग्रन्थों में तो आत्मा से उत्पन्न हुये ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है किन्तु न्याय में इन्द्रिय मन निमित्तक ज्ञान को भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है।

अकलंक देव ने प्रत्यक्ष लक्षण में उपात्त वैशद्य का खुलासा कर दिया है यथा—

अनुमाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥ [लघी. का. ४]

जो अनुमान आदि की अपेक्षा से रहित ज्ञान का विशेष प्रतिभास है वह वैशद्य—विशदता है इससे भिन्न अवैशद्य है।

ज्ञान के कारण—

बौद्ध ज्ञान के प्रति अर्थ और आलोक को कारण मानते हैं। उन्होंने चार प्रत्ययों—कारणों से संपूर्ण ज्ञानों (स्वसंवेदनादि) की उत्पत्ति वर्णित की है। वे प्रत्यय ये हैं—समनंतरप्रत्यय, आधिपत्य-प्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय और सहकारिप्रत्यय। पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होता है इसलिये वह 'समनन्तर प्रत्यय' कहलाता है।

चक्षुरादिक इन्द्रियां आधिपत्य प्रत्यय कही जाती हैं।

अर्थ—विषय 'आलंबन प्रत्यय' कहा जाता है। आलोक आदि 'सहकारी प्रत्यय' हैं।

इस तरह बौद्धों ने इन्द्रियों के अलावा अर्थ और आलोक को भी कारण स्वीकार किया है। अर्थ की कारणता पर तो यहां तक कह दिया है कि ज्ञान यदि अर्थ से उत्पन्न न हो तो वह अर्थ को जान भी नहीं सकता है। उनका यह सिद्धान्त है कि 'नाकारणं विषयः' जो पदार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं है वह ज्ञान का विषय भी नहीं है। इसीलिये ये बौद्ध अर्थ से ज्ञान का तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसाय रूप मानते हैं और इसी से प्रतिकर्मव्यवस्था सिद्ध करते हैं।

नैयायिक भी अर्थ को ज्ञान का कारण मानते हैं परन्तु अर्थ से ज्ञान की उत्पति नहीं मानते हैं। क्योंकि ये लोग ज्ञान के प्रति सीधा कारण सन्निकर्ष को मानते हैं। इसीलिए जैनों ने नैयायिक आदि के अर्थकारणतावाद पर इतना विचार नहीं किया है जितना कि बौद्धों के अर्थालोक कारणतावाद पर किया है। जैनाचार्य आवरण के क्षयोपशम को ही प्रत्येक ज्ञान के प्रति कारण मानते हैं। इस विषय पर श्री अकलंक देव ने संक्षेप से कह दिया है कि—

'अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिरर्थतः।
अन्यथा न विवादःस्यात् कुलालादिघटादिवत्॥ [लघीय. ५३]

'यह अर्थ है' ज्ञान तो यह जानता है, किन्तु 'अर्थ से मैं उत्पन्न हुआ हूं' इस बात को वह नहीं जानता है, यदि जानता तो किसी को विवाद नहीं होना चाहिये था। अतः ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

"सांव्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्" [लघीय. स्वोप. का. ४]

इन्द्रिय और अनिंद्रिय-मन से जन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है। सांव्यवहारिक उसे इसलिये कहते हैं कि लोक में दूसरे दर्शनकार इंद्रिय, मन सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तव में तो जो ज्ञान पर निरपेक्ष एवं आत्म मात्र सापेक्ष तथा पूर्ण निर्मल है वही ज्ञान प्रत्यक्ष है। अतः लोक व्यवहार की दृष्टि से अक्षजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहने में कोई अनौचित्य नहीं है। सिद्धान्त की भाषा में तो उसे परोक्ष ही कहा गया है।

मुख्य प्रत्यक्ष

दार्शनिक जगत् में प्रायः सभी ने एक ऐसा प्रत्यक्ष स्वीकार किया है जो लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है और जिसे अलौकिक प्रत्यक्ष योगिप्रत्यक्ष या योगिज्ञान के नाम से कहा गया है। यद्यपि किसी-किसी ने इस प्रत्यक्ष में मन की अपेक्षा वर्णित की है तथापि योगजधर्म की प्रमुखता होने के कारण उसे अलौकिक ही कहा है। कुछ ही हो, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि आत्मा में एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। जैन-दर्शन में ऐसे ही आत्म मात्र सापेक्ष साक्षात् स्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

परोक्ष प्रमाण का विचार

जैन दर्शन में प्रमाण का दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्धों ने परोक्ष शब्द का प्रयोग अनुमान के विषय भूत अर्थ में किया है। यथा—**"द्विविधो अर्थः प्रत्यक्षः परोक्षश्च। तत्र प्रत्यक्षविषयः साक्षात्क्रियमाणः प्रत्यक्षः। परोक्षः पुनरसाक्षात्परिच्छिद्यमानोऽनुमेयत्वादनुमानविषयः।** [प्रमाण प. पृ. ६५]

अर्थ के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। उसमें प्रत्यक्ष का विषयभूत साक्षात् किया गया अर्थ प्रत्यक्ष है। परोक्ष अर्थात् असाक्षात् किया गया पदार्थ परोक्ष है वह अनुमेय रूप होने से अनुमान का विषय है।

किन्तु जैनदर्शन में परोक्ष शब्द का प्रयोग परोक्षज्ञान में ही होता चला आ रहा है। दूसरे प्रत्यक्षता और परोक्षता वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ धर्म हैं। ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष होने से अर्थ भी उपचार से प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा जाता है। प्रायः लोक व्यवहार में इन्द्रिय व्यापार रहित ज्ञान को परोक्ष कहा गया है जबकि जैन दर्शन में इन्द्रियादि पर की अपेक्षा से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है। यथा—"**उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्**" ॥६॥ उपात्त-इन्द्रिय और मन, अनुपात्त-प्रकाश उपदेश आदि ये पर हैं इनकी प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहलाता है।   [तत्त्वार्थ वा० पृ० ५२]

श्री अकलंक देव ने '**ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता।**'

[लघीय० स्वो० का० ३]

विशद निर्भासी ज्ञान ही प्रत्यक्ष है एवं इससे भिन्न परोक्ष है ऐसा कहा है-बौद्ध, सांख्य आदि किसी नें भी परोक्ष प्रमाण नहीं माना है, किन्तु अनुमान, आगम, उपमान आदि को प्रमाण मानते हैं संख्या के प्रकरण में इस बात को स्पष्ट किया है कि परोक्ष प्रमाण को माने बिना प्रमाणों की व्यवस्था पूरी नहीं होती है। बौद्ध ने अनुमान को मान लिया, किन्तु स्मृति आगम आदि को प्रमाण नहीं माना है। निष्कर्ष यही निकलता है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम में पांच प्रमाण ही परोक्ष हैं। न्याय ग्रन्थ में आचार्यों ने मतिज्ञान के अंशरूप 'मति'—इन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाकर शेष स्मृति आदि को परोक्ष कहा है, क्योंकि स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखते हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये ज्ञान भी ज्ञानान्तर से व्यवहित न होने के कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही हैं।

परोक्ष के भेद-प्रभेद पर विचार

बौद्ध—

त्रिरूप वाले हेतु से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थ, परार्थ।

वैशेषिक-नैयायिक—

'**तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं, पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च**' यह न्याय दर्शन का सूत्र है। प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है उसके तीन भेद हैं पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

कोई इस प्रकार से व्याख्यान करते हैं कि प्रत्यक्षपूर्वक तीन प्रकार का अनुमान होता है—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। इनमें से केवलान्वयी को पूर्ववत् कहते हैं क्योंकि पूर्वअन्वय। जिस अनुमान में केवल अन्वय व्याप्ति मिलती है उसे केवलान्वयी-पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। केवलव्यतिरेकी को शेषवत् एवं अन्वय व्यतिरेकी को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं।

उपमान—प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध की सिद्धि करना उपमान प्रमाण है। जैसे गौ के समान गवय होता है।

मीमांसक—

मीमांसक ने चतुर्लक्षणलिंग से उत्पन्न साध्य ज्ञान को अनुमान कहा है। नियत संबंध का एक देश देखना, संबंध नियम का स्मरण करना, अबाधक होना और अबाधित विषय वाला होना इत्यादि।
[प्रकरण पं० पृ० ६४, ७६]

'ज्ञातसंबंधस्यैकदेशदर्शनादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्' साध्य और साधन के अविनाभाव का यथार्थ परिज्ञान रखने वाले पुरुष को एक देश साधन के देखने से साध्य अर्थ का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है। ऐसे ही आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये सब परोक्ष प्रमाण हैं किन्तु इन सभी के यहां स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क प्रमाण न होने से अनुमान आदि का लक्षण असंभव है। स्मृति और तर्क के विना हेतु से साध्य का ज्ञान कैसे हो सकता है। किसी ने कभी अग्नि से धूम निकलता हुआ देखा है तभी तो वह केवल धूम देखकर पहले के संबंध का स्मरण करके तर्कज्ञान से धूम का अग्नि के साथ अविनाभाव समझ कर धूमहेतु से अग्नि का अनुमान लगाता है।

अनुमान के अवयव

नैयायिक हेतु के पांच अवयव मानते हैं यथा—**'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः'**
[तर्कसंग्रह]

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। न्याय सूत्र के टीकाकार वात्स्यायन ने नैयायिकों की दश अवयव मान्यता का भी उल्लेख किया है—**'दशावयवानित्येके नैयायिका वाक्ये संचक्षते जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं, संशयव्युदासः इति''** [न्यायवात्स्या० भाष्य १-१-३२]

उपर्युक्त पांच में जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास मिला देनें से दश अवयव हो जाते हैं।

वौद्ध—

वौद्धों ने अनुमान का हेतु रूप एक ही अवयव माना है। धर्मकीर्ति नें हेतु और दृष्टांत ऐसे दो अवयवों को स्वीकार किया है। दिग्नाग ने पक्ष हेतु और दृष्टांत ऐसे तीन अवयव भी मान लिये हैं। मुख्य रूप से वौद्ध के यहां केवल एक हेतु का प्रयोग ही आवश्यक माना गया है। उसका कहना है कि केवल हेतु के प्रयोग से ही गम्यमान पक्ष में साध्य का वोध हो जाता है। **मीमांसक** तीन अवयव मानते हैं–पक्ष, हेतु, दृष्टांत। कहीं पर चार भी मानते हैं। **सांख्य** भी तीन अवयव मानते हैं। मतलव यह है कि वौद्ध एक दो और तीन अवयव मानते हैं, नैयायिक पांच ही मानते हैं। मीमांसक चार और तीन मानते हैं एवं सांख्य तीन अवयव मानते हैं।

जैनाचार्यो ने मात्र **'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गनोदाहरणम्'** [परीक्षामुख] इस सूत्र के अनुसार प्रतिज्ञा और हेतु ऐसे दो ही अवयव मानते हैं उनका कहना है कि दृष्टांत उपनय और निगमन इन तीनों की स्वीकारता शास्त्र में वालवुद्धि वालों को समझाने के लिये होती है किन्तु वाद काल में नहीं होती है वहां पर विद्वान् पुरुषों को दो ही अवयव प्रयुक्त करने चाहिये।

हेतु के लक्षण पर विचार

बौद्ध सांख्य और वैशेषिक हेतु का त्रैरूप्य लक्षण मानते हैं। यद्यपि हेतु का त्ररूप्य लक्षण अधिकांशतः बौद्धों का ही प्रसिद्ध है फिर भी त्रैरूप्य की मान्यता सांख्य और वैशेषिकों की भी है। इनकी ये परंपरा बौद्धों से प्राचीन है दिग्नाग के पहले होने वाले प्रशस्तपाद ने अपने प्रशस्तपादभाष्य में [पृ० १०० में काश्यप और (कणाद) कथित] दो पद्यों को उद्धृत किया है जिनमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष-व्यावृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। नैयायिक ने पाँच अवयव माने हैं यथा—**"पक्षधर्मत्वम् सपक्षसत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति····· एतैः पंचभिर्लक्षणैरूपपन्नं लिंगमनुमापकं भवति'**

[न्याय. म. पृ. १०१]

इन तीन रूप और पांच रूप की मान्यता अति प्रसिद्ध है, किंतु इनके अलावा भी हेतु के द्विलक्षण चतुर्लक्षण, और षड्लक्षण एवं एकलक्षण की मान्यताओं का उल्लेख तर्क ग्रन्थों में पाया जाता है। इनमें चतुर्लक्षण की मान्यता संभवतः मीमांसकों की मालूम होती है। जिसका निर्देश प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् प्रभाकरानुयायी शालिकानाथ ने किया है।

इन सबका खंडन करते हुये जैनाचार्यों ने हेतु का एक ही लक्षण माना है। जिसका नाम है **अन्यथानुपपत्ति अर्थात् साध्य साधन का अविनाभाव।** इसका भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

हेत्वाभास पर विचार

नैयायिक हेतु के पांच रूप मानते हैं अतः उन्होंने एक-एक रूप के अभाव में पांच हेत्वाभास माने हैं। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम। [न्यायक० पृ० १४]

वैशेषिक और बौद्ध हेतु के तीन रूप स्वीकार करते हैं इसलिये उन्होंने तीन हेत्वाभास माने हैं— असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक। सांख्य ने भी त्रैरूप्य हेतु के विपरीत ये ही तीन हेत्वाभास माने हैं। प्रशस्तपाद ने वैशेषिक दर्शन सम्मत तीन हत्वाभासों के अलावा एक चौथे हेत्वाभास की कल्पना भी की है जिसका नाम है अनध्यवसित [प्र. भा. पृ. ११६]

जैन विद्वान् हतु का केवल एक ही अन्यथानुपपत्ति रूप मानते हैं अतः उनका हेत्वाभास भी एक ही होना चाहिये। इस संबंध में सूक्ष्मप्रज्ञ श्री अकलंक देव ने बड़ी योग्यता से उत्तर दिया है **'साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे। विरुद्धासिद्धसंदिग्धा अकिंचित्करविस्तराः।'** [न्याय. वि. का. २६९]

वस्तुतः हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिंचित्कर अथवा असिद्ध। विरुद्ध, असिद्ध और संदिग्ध य उसी के विस्तार हैं। चूंकि अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक प्रकार से होता है अतः हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी और अकिंचित्कर ये चार भेद भी मानेगये हैं।

आगम प्रमाण का विचार

यद्यपि चार्वाक आगम प्रमाण नहीं मानता है फिर भी वृहस्पति गुरु को चार्वाक मत प्रवर्तक मानता है अतः उन वृहस्पति के द्वारा कहे गये वचन और तत्त्व ही आगम सिद्ध होते हैं अन्यथा वे अपने गुरु

कथित तत्त्वों का वर्णन या गुरु का नामोल्लेख भी कैसे कर सकेंगे ?

बौद्धों ने भी प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो को ही प्रमाण माना है अतः ये लोग भी आगम को प्रमाण नहीं मानते हैं। फिर भी 'आगम आदि अप्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान में अंतर्भूत हैं क्योंकि वे अप्रत्यक्ष पदार्थ को विषय करने वाले प्रमाणहैं।' ऐसा कहा है [षट् दर्शन. पृ. ५७]

एवं बौद्धों ने त्रिपिटक ग्रन्थ को भी माना है। उनका कहना है कि 'महात्मा बुद्ध के वचनों का संकलन उनके निकटतम शिष्यों द्वारा त्रिपिटकों में ही हुआ है। उनके नाम—विनयपिटक, सुत्त पिटक और अभिधम्मपिटक हैं। इनकी भाषा पालि है। इन ग्रन्थों में के वल प्राचीन बौद्ध धर्म का वर्णन मिलता है।' अस्तु ! बुद्ध भगवान् वक्ता ही प्रमाण नहीं हैं तब उनके आगम भी प्रमाण कैसे होंगे ? बुद्ध की प्रमाणता—आप्तता का निराकरण आप्तसमीक्षा में किया जावेगा।

नैयायिक—

नैयायिकों ने कहा है कि **'शाब्दमाप्तोपदेशस्तु'**··· [षड्व. पृ. १०६]

आप्त के उपदेश को आगम प्रमाण कहते हैं। 'जो एकांत से सदा सत्यवादी और हितकारी है वहीं आप्त है। आप्त के वचन को आप्तोपदेश कहते हैं।'

वैशेषिक ने प्रत्येक अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं अतः आगम को प्रमाण नहीं माना है किंतु आगम अवश्य माना है।

सांख्य ने आप्त और वेदों के वचनों को शाब्द—आगम प्रमाण कहा है। रागद्वेषादि से रहित वीतराग ब्रह्म, सनत्कुमार आदि आप्त हैं। और श्रुति—वेद इन्हीं के वचन आगम हैं। (षड्द.)

मीमांसक 'शादंशाब्श्वतवेदोत्थं'—नित्यवेद से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आगम कहते हैं।

(षड्द. पृ. ४४०)

वास्तव में इन नैयायिक वैशेषिक ने जो ईश्वर का लक्षण किया है उसका आप्त समीक्षा में विचार किया जावेगा। जब इनका मान्य आप्त ही सिद्ध नहीं है तब उनके वचन आगम कैसे हो सकेंगे ?

यही हाल सांख्यों का है उन्होंनें भी कपिल को आप्त माना है, परंतु उनकी मान्यता ठीक नहीं है। अतः उनके आगम प्रमाण का लक्षण गलत सिद्ध होता है।

अपौरुषेय वेद का विचार

मीमांसक ने तो वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने में बड़ा पुरुषार्थ लगाया है। इनका कहना है कि 'वेद अपौरुषेय हैं इसलिये वे प्रमाण हैं, क्योंकि उनके कर्त्ता का स्मरण नहीं है, अतः वेद वाक्यों से ही धर्म-अधर्म आदि अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है।' जैनाचार्य उनसे ऐसा पूछते हैं कि भाई ! उन वेद वाक्यों का व्याख्याता रागी है या वीतरागी ? यदि व्याख्याता रागी है तो विपरीत अर्थ भी कर देगा। यदि वीतरागी कहो तो आप सर्वज्ञ मानते नहीं। इत्यादि रूप से वेद प्रमाणीक नहीं हैं क्योंकि उनमें परस्पर विरोधी वचन पाये जाते हैं।

यद्यपि मीमांसकों ने वेद को अपौरुषेय कहा है फिर भी उन्हीं के यहां किन्हीं-किन्हीं ने वेद के कर्ता भी मान लिये हैं। काणाद-वैशेषिक लोग अष्टक ऋषि को वेद का कर्ता कहते हैं, पौराणिक लोग ब्रह्मा को एवं जैन कालासुर को वेद का कर्ता कहते हैं। यदि आप कहें कि वेद में विशेष शक्तिशाली मंत्रादि पाये जाते हैं अतः वेद प्रमाण हैं। इस पर भी हम जैनों का उत्तर है कि उन विशेष मन्त्रों की उत्पत्ति हम जैनों के विद्यानुवाद पूर्व से हुई है। अनेकों रत्न राजा के भंडार में हैं किन्तु उनकी उत्पत्ति समुद्र, खान आदि से हुई है न कि भंडार से। यदि अपौरुषेय होने से ही वेद प्रमाण हैं तो म्लेच्छों के यहां मातृ-विवाह, मांसाहार आदि क्रियायें भी प्रमाण हो जावेंगी, क्योंकि उनका कर्ता कोई पुरुष भी स्मृति में नहीं है वे क्रियायें भी पुरुषकृत् प्रतीत न होने से अपौरुषेय ही हैं किंतु ऐसा है नहीं। अतः वेद प्रमाण नहीं हैं।

जैनों द्वारा मान्य आगम का लक्षण

'आप्त के वचन आदि निमित्त से होने वाला अर्थ ज्ञान ही आगम है'। एवं सर्वज्ञ से ही आगम सिद्ध होता है और उसके अर्थ अनुसार अनुष्ठान करने से ही सर्वज्ञ वनते हैं। इस प्रकार बीजांकुर न्याय से सर्वज्ञ और आगम की सिद्धि होती है।

अभाव का विचार

मीमांसक ने स्वतंत्र एक अभाव प्रमाण माना है। इसलिये उनका कहना है कि—**"अभावश्च प्रागभावादिभेदभिन्नोवस्तुरूपोऽभ्युपगन्तव्यः अन्यथा कारणादिव्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसंगात्"**

[षड्द० पृ० ४४६]

अभाव प्रमाण का विषयभूत अभाव पदार्थ वस्तुभूत है तथा वह चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव। यदि ये चार अभाव न हों तो संसार में कारण, कार्य, घट, पट, जीव, अजीव आदि की प्रतिनियत व्यवस्था का लोप होकर समस्त व्यवहार ही नष्ट हो जावेगा।

वैशेषिकों द्वारा मान्य सात पदार्थों में एक अभाव नाम का पदार्थ है उसके भी उन्होंने चार भेद किये हैं। यथा—**'अभावश्चतुर्विधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोत्यंताभावोऽन्योन्याभावश्चेति"** ॥

[तर्क संग्रह]

अभाव के चार भेद हैं प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

नैयायिक लोग अभाव के चार भेद करके भी उन्हें सर्वथा तुच्छाभाव रूप कहते हैं।

सांख्य इन अभावों को सर्वथा भावरूप ही सिद्ध करते हैं।

—किंतु जैनाचार्यों ने इन भावैकांतवादी सांख्य का खंडन करके एवं नैयायिक के तुच्छाभाव का भी निषेध करके चारों अभावों को भावांतर रूप स्वीकार किया है। अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव।

कारण में कार्य का न होना प्रागभाव है जैसे--मिट्टी में घट नहीं है, उस प्रागभाव का अभाव होने के वाद घट वनता है।

कार्य का विनाश न होना प्रध्वंसाभाव है जैसे—घट में प्रध्वंसाभाव है उसका अभाव न होवे तो घट अनंत काल तक वना रहेगा, किंतु उसका अभाव-प्रध्वंस होकर घट से कपाल आदि वन जाते हैं।

एक पर्याय का दूसरी पर्याय में अभाव अन्योन्याभाव है जैसे घटपर्याय में पट आदि पर्यायें नहीं हैं। यदि इसको न मानो तो सभी पर्यायें एकमेक हो जावेंगी—सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जावेंगे।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव होना अत्यंताभाव है जैसे—जीवद्रव्य में अजीव पुदगल आदि द्रव्यों का अभाव है इसको न माने तो भी सभी वस्तुयें अपने स्वभाव से रहित सर्वात्मकया निःस्वरूप हो जावेंगी।

इन चारों ही अभावों का वर्णन अष्टसहस्री में कारिका ९-१०-११ में वहुत ही विस्तृत रूप से किया गया है।

इन अभावों को ग्रहण करने के लिये अभाव नामक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये प्रत्यक्ष आदि से ही जाने जाते हैं। अतः मीमांसकों द्वारा मान्य अभाव प्रमाण व्यर्थ है।

इस प्रकार से 'प्रमाण समीक्षा' प्रकरण समाप्त हुआ।

प्रमेयसमीक्षा

प्रमाणेन ज्ञानेन प्रमीयते ज्ञायते यत् वस्तुतत्त्वं तत् सर्वं प्रमेयं ज्ञेयमित्यर्थः।

प्रमाण—ज्ञान के द्वारा जो वस्तु तत्त्व जाना जाता है वह सभी तत्त्व प्रमेय-ज्ञेय कहलाता है। अर्थात् ज्ञान से जाने गये सभी पदार्थ ज्ञेय कहलाते हैं और ज्ञान को ही प्रमाण माना है अतः प्रमाण से जाने गये सभी पदार्थ 'प्रमेय' कोटि में आ जाते हैं। संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो ज्ञान का विषय न हो, चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो या परोक्ष ज्ञान का विषय हो किन्तु सभी चेतन-अचेतन पदार्थ ज्ञान के विषय अवश्य हैं जो ज्ञान के विषय नही हैं वे पदार्थ ही नहीं है वे तो आकाशकमलवत् असत् ही हैं। अतः प्रमेय शब्द से सम्पूर्ण चेतन-अचेतन पदार्थ आ जाते हैं। यहां तक कि प्रमाण भी कथंचित् प्रमेय है जैन दर्शन में ज्ञान को स्वसंवेदी सिद्ध किया है अतः ज्ञान जानने वाला होने से ज्ञान है एवं स्वयं के द्वारा स्वयं जाना जाता है अतः ज्ञेय भी है। यथा—'**ज्ञानपदेन प्रमातुः प्रमितेश्च व्यावृत्तिः। ननु ज्ञानपदेन यथा प्रमातुः प्रमितेश्च व्यावृत्तिः कृता तथा प्रमेयस्य कथं न कृता तस्यापि ज्ञानत्वाभावात् इति चेत्तस्यापि चशब्दात् ग्रहणं वोध्यं। यद्यपि स्वपरिच्छेद्यापेक्षया ज्ञानस्य प्रमेयत्वमस्त्येव तथापि घटपटादिवहिरर्थापेक्षया नास्तीत्यतो युक्तं च शव्दात्तस्य ग्रहणं।**' [न्याय दी० टि० पृ० १०]

आचार्य कहते हैं कि 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' सूत्र में ज्ञान शब्द से प्रमाता—आत्मा और प्रमिति-ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है, इस पर शंकाकार कहता है कि जैसे ज्ञानपद से प्रमाता और प्रमिति का निराकरण किया है वैसे ही प्रमेय का निराकरण क्यों नहीं किया, क्योंकि प्रमेय भी ज्ञानरूप नहीं है। इस पर

जैनाचार्य कह रहे हैं कि च शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हुआ समझना चाहिये। यद्यपि 'स्व' को जानने की अपेक्षा से ज्ञान 'प्रमेय' ही है फिर भी घट पट आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से प्रमेय नहीं भी है अतः च शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हो जाता है। यहां इस बात को समझ लेना चाहिये कि ये प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय तीनों ही यद्यपि ज्ञान नहीं हैं फिर भी इनमें सम्यक्पना सिद्ध है। इसलिये सच्चे ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ सच्चे ज्ञेय-प्रमेय कहलाते हैं। ये ही ज्ञेयभूत जीवादिपदार्थ द्रव्य, तत्त्व आदि सम्यक्त्व के विषयभूत हैं।

इसलिये यद्यपि 'प्रमेय' शब्द से प्रमाण को भी लिया जा सकता है फिर भी इस ग्रन्थ में प्रमाण की समीक्षा करने के बाद प्रमेय की समीक्षा की गई है क्योंकि न्याय शास्त्रों में प्रमाण का विषय ही मुख्यतया प्रतिपाद्य है, और ये न्याय शास्त्र प्रमाण शास्त्र भी कहलाते हैं।

इस प्रमेय समीक्षा में सबसे प्रथम 'दर्शन' शब्द का निरुक्ति अर्थ करते हुये सभी दर्शनों की संक्षिप्त समीक्षा की जाती है।

दर्शन शब्द का महत्त्व और आधार

'दृश्यते निर्णीयते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्' अथवा **'दृश्यते निर्णीयते इदं वस्तुतत्त्वमिति दर्शनम्'** व्याकरण शास्त्र की इन दोनों व्युत्पत्तियों के अनुसार दृश् धातु से दर्शन शब्द बना है। जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाय निर्णीत किया जाय, वह दर्शन है, या दूसरी व्युत्पत्ति के आधार पर दर्शन शब्द का अर्थ उल्लिखित विचारधारा के द्वारा निर्णीत तत्त्वों की स्वीकारता होता है। एवं पहली व्युत्पत्ति के आधार पर दर्शन शब्द तर्क–वितर्क, मन्थन या परीक्षास्वरूप उस विचार धारा का नाम है जो तत्त्वों के निर्णय में प्रयोजक हुआ करती है। जैसे—यह संसार नित्य है या अनित्य ? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नहीं ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? इसका पुनर्जन्म होता है या नहीं ? ईश्वर की सत्ता है या नहीं ? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन शास्त्र का काम है।

'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से हुई है--शास्--आज्ञा करना, तथा शंस्-वर्णन करना। **"शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते"** प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार शासन अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग धर्म शास्त्र के लिये किया जाता है। शंसक शास्त्र--बोधक शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया जाय। धर्मशास्त्र कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रतिपादन करने के कारण पुरुष परतन्त्र है। किन्तु दर्शन शास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने से वस्तु परतन्त्र है।

दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया गया है—

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन। भारतीय दर्शन में भी वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन से दो भेद हो गये हैं।

वैदिकदर्शन में—मुख्यतः सांख्य, वेदांत, मीमांसा, योग न्याय तथा वैशेषिक दर्शन लिये जाते हैं।

अवैदिक दर्शन में—जैन, बौद्ध और चार्वाक माने जाते हैं। वेद परम्परा के पोषक वैदिक एवं वैदिक परंपरा से भिन्न दर्शनों को अवैदिक दर्शन कहते हैं।

न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त इन छह दर्शनों को आस्तिक एवं जैन, चार्वाक तथा बौद्ध दर्शनों को नास्तिक कहा जाता है। यहां वेदों को मानने वालों को आस्तिक एवं वेदों को न मानने वालों को नास्तिक कहा है किंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रायः प्राणियों को जन्मान्तर रूप परलोक स्वर्ग, नरक तथा मुक्ति को न मानने वालों को नास्तिक कहा जाता है, इससे जैन और बौद्ध दोनों अवैदिक दर्शन नास्तिक न होकर आस्तिक हो जाते क्योंकि हैं ये दोनों दर्शन परलोक, स्वर्ग आदि को स्वीकार करते हैं। यदि जगत् के कर्ता अनादि निधन ईश्वर को मानने में आस्तिकता है, तब तो सांख्य मीमांसक भी ईश्वर की सृष्टि का कर्ता न मानने से नास्तिक बन जावेंगे क्योंकि ये दोनों ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जैन नास्तिक नहीं हैं परलोक स्वर्ग, नरक, मुक्ति आदि मानते हैं ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मान कर भी निरीश्वरादि नहीं है क्योंकि अनन्त ईश्वरों-सर्वज्ञों को स्वीकार करते हैं।

अब यहां भारतीय दर्शनों की संक्षिप्त मान्यता दिखाकर उनकी समीक्षा करना है। इनमें सबसे पहले चार्वाक दर्शन को स्पष्ट करेंगे।

चार्वाक मत

चार्वाक—**ननु अनाद्यनंतरूप इति विशेषणमात्मनः कथं योयुज्यते। कायाकारपरिणतियोग्येभ्यो भूतेभ्यैश्चैतन्यं जायते। जलवुदवुदवदनित्या जीवा इत्यभिधानात्। न केषामपि मते जीवस्यानानन्त्यनन्तत्वग्राहकं प्रमाणं जाघटयते।** [विश्व त. प्र. १]

आत्मा का अनादि अनन्त विशेषण कैसे बन सकता है? शरीर के आकार को प्राप्त हुये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन भूत चतुष्टयों से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। जीव पानी के बुदबुद् के समान अनित्य है। जीव को अनादि अनन्त कहने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से केवल वर्तमान काल से संबंद्ध पदार्थों का ही ज्ञान होता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण जीव को अनादि अनन्त सिद्ध नहीं कर सकता। जन्म समय के पहले माता-पिता का चैतन्य होता ही है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः उससे भिन्न अन्य चैतन्य की कल्पना करना व्यर्थ है। इत्यादि

ये चार्वाक काम और अर्थ इन दो ही पुरुषार्थों को मानते हैं एवं स्वर्गादि पारलौकिक सुख का निराकरण कर देते हैं अतएव चार्वाक का 'लोकायत' यह दूसरा नाम अन्वर्थ है क्योंकि ये लोक प्रसिद्ध के अतिरिक्त अन्य कुछ भी पदार्थ नहीं मानते हैं।

"अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्य्वनिलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।।
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ।।१।।
देहः स्थौल्यादियोगाच्च सः एवात्मा न चापरः ।
मम देहोयमित्युक्तिः संभवेदोपचारिकी ।।२।।

[सर्वद. पृ. ५]

अर्थ—चार्वाक के यहां पृथ्वी, जल, अग्नि वायु ये चार तत्त्व हैं। किण्वादिमादक द्रव्य के समुदाय से उत्पन्न मदशक्ति के समान इन्हीं तत्त्वों से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। मैं 'स्थूल हूं, कृश हूं, इत्यादि से देह और जीव में समान अधिकरण होने से शरीर ही आत्मा है 'मेरा देह' इत्यादि व्यवहार उपचार मात्र से होता है। संक्षेपतः इस मत का सिद्धान्त है कि कण्टक आदि से उत्पन्न हुआ दुःख ही नरक है, लोक प्रसिद्ध राजा ही ईश्वर है, मरण ही मुक्ति है।

ये चार्वाक जड़वादी हैं, इनके यहां प्रत्यक्ष एक ही मात्र प्रमाण है, अनुमान शब्द आदि जितने अप्रत्यक्ष प्रमाण हैं वे सभी भ्रममूलक हैं। अतः प्रत्यक्ष से ज्ञात वस्तुओं के अतिरिक्त किसी भी वस्तु के अस्तित्व को नहीं माना जा सकता है। यह जड़ जगत् चार भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है इन पृथ्वी आदि तत्त्वों का ज्ञान हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है।

'एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में नये-नये गुणों की उत्पत्ति हो सकती है। यद्यपि लाल रंग न तो पान में है, न सुपारी में, न चूने में है, फिर भी उनको एक साथ चबाने से लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। गुड़ में मादक गुण नहीं है फिर भी सड़ जाने से उसमें मादकता आ जाती है। इसी तरह भौतिक तत्त्वों का जब विशेष ढंग से मिश्रण होता है तब जीव और शरीर का निर्माण होता है, और उसमें चैतन्य का संचार हो जाता है। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद चैतन्य भी नष्ट हो जाता हैं। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है, अतः मृत्यु के बाद कर्मों के फल भोग की कोई सम्भावना नहीं है"। [भारतीयद. पृ. १६]

'चारु-सुन्दर वाक्—बातों को अर्थात् लोगों को प्रिय लगने वाली बातों को कहने के कारण, अथवा आत्मा, परलोक आदि को चर्वण-भक्षण कर जाने के कारण इनका 'चार्वाक' नाम सार्थक है। चार्वाक दर्शन के संस्थापक बृहस्पति गुरु हैं अतः इस दर्शन का नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है।

चार्वाक का इष्ट कथन—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।"

[सर्व दर्शन संग्रह]

मृत्यु से कोई नहीं वच सकते अतः जव तक जीवो सुख से जीवो, भस्मीभूत हुये शरीर की पुनः उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

विचित्रता यह है कि यह चार्वाक जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति मानकर आत्मा, ईश्वर और परलोक सवको समाप्त कर देता है।

उपसंहार—चार्वाक आत्मा को अनादि अनन्त एवं अजीव से भिन्न जीव नाम का द्रव्य नहीं मानते हैं किंतु वास्तव में जाति स्मरण, संस्कार व्यंतर आदि के निमित्तों से पुनर्जन्म सिद्ध है। ये एक प्रत्यक्ष ही मानते हैं किंतु अनुमान के विना परलोकादि का निषेध और पर में ज्ञान आदि के अस्तित्व को कहना भी असंभव है। ये जड़ पृथ्वी आदि से चैतन्य की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं यह तो सर्वथा असंभव है। पूर्वजन्म के मनुष्य गति आयु आदि कर्म के निमित्त से जीव माता पिता आदि निमित्तों से जन्म लेता है। अचेतन चेतन की उत्पत्ति मानना सर्वथा गलत है अतः शुभ कार्यों से अपनी आत्मा को नरकादि से वचाकर सुखी वनाने का प्रयत्न करो।

वौद्ध दर्शन

वौद्ध दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि सत्‌रूप हैं।

"वौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभंगुरम्।
आर्य्यसत्त्वाख्यया तवचतुष्टयमिदं क्रमात्॥
दुःखमायतन चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥
दुःखं संसारिणः स्कंधास्ते च पंच प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारोरूपमेव च॥
पंचेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पंच मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि तु॥" [सर्वद० पृ० ४६]

अर्थ—वौद्धों के भगवान् वुद्ध हैं। संसार क्षणिक है। दुःख समुदय, तन्निरोध और मार्ग ये सूत्रोक्त चार ही तत्त्व हैं। विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप ये पांच स्कंध सांसारिक दुःख हैं। शव्द, स्पर्श रूप, रस, और गंध ये पांच विषय हैं। ये पाँच विषय, पांचज्ञानेंद्रिय, मन और वुद्धि ये द्वादश-आयतन हैं। इत्यादि।

"माध्यमिक योगाचार सौत्रान्तिकवैभाषिक संज्ञाभिः प्रसिद्धा वौद्धाः यथाक्रमं सर्वशून्यत्ववाह्यशून्यत्ववाह्यार्थानुमेयत्ववाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठंते।" [सर्वद० पृ० १६]

माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के भेद से वौद्धों के चार भेद हैं। माध्यमिक वाह्य अभ्यन्तर समस्त वस्तु को शून्य मानते हैं। योगाचार वाह्य वस्तु का अभाव मानते हैं। सौत्रान्तिक वाह्य वस्तु को अनुमान ज्ञान का विषय मानते हैं। एवं वैभाषिक लोग वाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष कहते हैं।

"दुःखसमुदयनिरोधमार्गणा इति चत्वारः पदार्था एव मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्याः" ।

[विश्वत० प्र० पृ० ३०२]

बौद्धों का कथन है कि दुःख, समुदय, निरोध तथा मार्ग ये चार (आर्य सत्य) पदार्थ ही मोक्ष के लिये जानने योग्य हैं। शारीरिक, मानसिक, आगंतुक और सहज से उत्पन्न हुये 'दुःख' कहलाते हैं। इन दुःखों के उत्पादक तथा कर्मबंध के कारण दो हैं अविद्या, तृष्णा, इन्हें ही 'समुदय' कहा है। अविद्या और तृष्णा के नाश से निरास्रव चित्त उत्पन्न होना, या चित्त के संतान का उच्छेद होना 'निरोध' है इसे ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष मार्ग के आठ अंग हैं। सम्यक्त्व आदि जिनके नाम हैं।

चार आर्य सत्य – (१) सांसारिक जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। (२) दुःखों का कारण है। (३) दुःखों का अन्तसम्भव है। (४) दुःखों के अन्त का उपाय है। इन्हें क्रमशः दुःख, दुःखसमुदय, दुःख-निरोध तथा दुःखनिरोध मार्ग कहते हैं। [भारतीय द० पृ० ७७]

बौद्धों के यहां 'त्रिपिटक' ग्रन्थ हैं—

त्रिपिटकों के अन्तर्गत विनयपिटक, सुत्तपिटक तथा अभिधम्मपिटक हैं। प्रत्येक पिटक में अनेक ग्रंथ हैं इसलिये 'पिटक' (पेटी) नाम पड़ा। विनयपिटक में संघ के नियमों का, सुत्त-पिटक में बुद्ध के वार्तालाप और उपदेशों का, तथा अभिधम्म पिटक में दार्शनिक विचारों का संग्रह हुआ है। इन पिटकों में केवल प्राचीन बौद्ध धर्म का वर्णन मिलता है। इनकी भाषा पालि है। [भारतीय द० पृ० ७५]

बौद्धों के कुछ प्रमुख सिद्धान्त ये हैं—अनात्मवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभंगवाद, विज्ञानवाद, शून्य-वाद, अन्यापोह आदि। बौद्ध दर्शन में आत्मा का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कंधों के समुदाय को ही आत्मा माना गया है।

बौद्धों के प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। ये स्मृति, तर्क आदि को प्रमाण नहीं मानते हैं।

प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, और योगि प्रत्यक्ष।

स्पर्शन आदि पांच इंद्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान इंद्रिय प्रत्यक्ष है।

मन से उत्पन्न हुआ ज्ञान मानस प्रत्यक्ष है।

सव चित्त और चैत्तों का जो आत्म संवेदन है वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। [न्यायविन्दु]

दुःख, समुदय आदि चार आर्य सत्यों की भावना करते-करते एक समय ऐसा आता है जव भावना अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाती है और तव भाव्यमान अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान उत्पन्न होता है, यही योगि प्रत्यक्ष है।

इनके यहां ये चारों प्रत्यक्ष निर्विकल्प (अनिश्चायक) हैं यह प्रत्यक्ष ज्ञान क्षणिक स्वलक्षण मात्र को (एक समय की पर्याय को) ही जानता है।

अनुमान प्रमाण भ्रान्त है क्योंकि वह सामान्य पदार्थ को विषय करता है।

अनुमान का लक्षण

पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूप वाले लिंग-हेतु से होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान कहलाता है। वह अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थ और परार्थ।

हेतु के तीन भेद हैं—अनुपलब्धि हेतु, स्वभाव हेतु और कार्यहेतु।

अनुपलब्धि के ४ भेद हैं—विरुद्धोपलब्धि, विरुद्धकार्योपलब्धि, कारणानुपलब्धि और स्वभावानुपलब्धि।

विरुद्धोपलब्धि—यहां शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि शीतस्पर्श की विरोधी अग्नि मौजूद है।

विरुद्धकार्योपलब्धि—यहां शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि शीतस्पर्श के विरोधी अग्नि का कार्य धूम उपलब्ध हो रहा है।

कारणानुपलब्धि—यहां धूम नहीं है, क्योंकि यहां धूम का कारण अग्नि नहीं पाई जाती।

स्वभावानुपलब्धि—यहां धूम नहीं है क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है। अन्यत्र अनुपलब्धि के सात भेद भी माने हैं।

स्वभावहेतु—'यह वृक्ष है, क्योंकि शिंशपा है।'

कार्यहेतु—'यहां अग्नि है, क्योंकि धूम का सद्भाव है।' [षट्दर्शन पृ० ६७]

सौत्रान्तिक और वैभाषिकों के अनुसार अर्थ दो प्रकार का है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। इनमें से स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है। प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं। एक असाधारण, दूसरा साधारण। **'स्वमसाधारणंलक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणं'**। [न्यायविन्दु]

वस्तु का जो असाधारण तत्त्व है वही स्वलक्षण है इसे ही विशेष कहते हैं। **'अन्यत् सामान्यलक्षणं'** जो स्वलक्षण से भिन्न है वह सामान्य लक्षण है। [न्यायविन्दु]

प्रत्येक गो में गो स्वलक्षण है, और अनेक गायों में जो गोत्व रूप एक सामान्य की प्रतीति होती है वह सामान्य लक्षण है।

वौद्धों के यहां विनाश को पदार्थ का स्वभाव माना गया है, वे कहते हैं कि मुद्गर की चोट से घट फूटा तो घट के विनाश में मुद्गर कारण नहीं है विनाश स्वयं स्वभाव से हुआ है। हां! कपाल की उत्पत्ति में मुद्गर कारण अवश्य है।

इनकी एक मान्यता और भी वड़ी विचित्र है कि शव्द अपने अर्थ को न कहकर 'अन्यापोह' को कहते हैं जैसे—आपने 'गो' शव्द कहा, तो इसका अर्थ होता है अश्व का अभाव, ऊंट का अभाव इत्यादि गो से भिन्न पदार्थों का अभाव ही अर्थ होता है, न कि गो शव्द का अर्थ गाय वाचक कोई पशु। ऐसे ही ये वौद्ध पदार्थों से ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसका आकार धारण करता है और उसे ही जानता है।

उनके यहाँ एक 'संवृति सत्य' भी मजेदार है जो कि हरएक बातों को कल्पित कह देता है।

माध्यमिक लोग बाह्य और अभ्यन्तर चेतन-अचेतन सभी को अभाव कहकर जगत् को शून्य रूप सिद्ध करते हैं इसलिए ये शून्याद्वैतवादी हैं।

योगाचार—विज्ञान को ही तत्त्व मानते हैं अन्य कुछ भी बाह्य पदार्थ नहीं मानते हैं। अतः ये विज्ञानाद्वैतवादी हैं। ये दोनों ही अनेकों पदार्थों के सद्भाव को संवृति—कल्पना रूप कहते हैं।

अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में स्थल-स्थल पर इन बौद्धोंकी मान्यताओं का निराकरण किया गया है।

उपसंहार—बौद्धों ने सभी पदार्थों को क्षणिक कहा है, यह कथन असंभव है। हां पदार्थों की अर्थ पर्याय प्रतिक्षण नष्ट होती है, किन्तु व्यंजन पर्याय बहुत काल तक भी स्थाई रहती है। देखो सुमेरु पर्वत आदि अनादि निधन हैं, उनमें अर्थपर्याय का परिणमन प्रतिसमय चल रहा है, किन्तु व्यंजनपर्याय और ध्रौव्य की अपेक्षा हम उसे नित्य कहते हैं। ऐसे ही आत्मा आदि कथंचित् द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं। इन्होंने विज्ञान आदि स्कंधों को सांसारिक दुःखरूप सिद्ध किया है, परन्तु विज्ञान कभी दुःखरूप नहीं होता कुज्ञान अवश्य दुःखरूप हैं। कोई विज्ञानाद्वैतवादी लोग सर्वथा ज्ञान मात्र ही जगत सिद्ध करते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष में ज्ञान और जड़रूप दो तत्त्वगोचर हो रहे हैं। स्मृति आदि को प्रमाण माने बिना भी प्रातः घर से निकलकर वापस वहीं आना अशक्य होगा। हेतु के तीन रूप का भी पहले खण्डन किया गया है। इनके यहां शब्द का अन्यापोह अर्थ तो बहुत ही हास्यास्पद है।

विनाश को अहेतुक कहना भी प्रत्यक्ष बाधित है एवं वस्तु के स्वलक्षण को इन्द्रिय प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं कर सकता है। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय भी व्यंजन पर्यायें ही हैं। सिर्फ दो प्रमाण से एवं आगम प्रमाण अप्रमाणिक होने से बौद्धों का क्षणिक सिद्धांत भी किस पर निर्भर रहेगा। अतः कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य रूप अनेकान्त शासन ही जयशील होता है।

सांख्य मत

सांख्या निरीश्वराः केचित् केचित् ईश्वरदेवताः।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्वानां पंचविंशतिः॥ [षड् द० पृ० १४२]

कुछ सांख्य ईश्वर को नहीं मानकर केवल अध्यात्मवादी हैं। कुछ सांख्य ईश्वर को ही देवता मानते हैं। सभी सेश्वर तथा निरीश्वर सांख्य साधारण रूप पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करते हैं।

सांख्य के मत में सत्त्व रज और तम ये तीन गुण हैं। प्रसाद, ताप तथा दीनता आदि कार्यो से क्रमशः उनका अनुमान होता है। एक दूसरे का उपकार करने वाले परस्पर सापेक्ष इन सत्त्वादि तीन गुणों से समस्त जगत् व्याप्त है। इन सत्त्वादि गुणों की समस्थिति ही प्रकृति कही जाती है। प्रकृति और आत्मा के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है।

"संक्षेपेण हि सांख्यशास्त्रस्य चतस्रो विधाः संभाव्यंते। कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव कश्चिद् विकृतिरेव, कश्चित् विकृतिः प्रकृतिश्च, कश्चिदनुभय इति" [सर्व द० पृ० २५६]

संक्षेप से सांख्यशास्त्र में पदार्थ के चार क्रम हैं। कोई पदार्थ केवल प्रकृति ही हैं, कोई केवल विकृति रूप हैं, कोई प्रकृति विकृति रूप एवं कोई प्रकृति विकृति से भिन्न अनुभय रूप हैं।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ [सांख्य का० ३]

अर्थ—इनमें प्रकृति किसी का विकार-कार्य नहीं है अतः मूल प्रकृति विकृति रहित है। महान् अहंकार और पांच तन्मात्रायें ये सात प्रकृति और विकृति दोनों रूप हैं–अर्थात् कारण-कार्य रूप हैं। षोडश-गणमात्र विकृति रूप हो हैं क्योंकि वे कार्य हैं। पुरुष तो न किसी को उत्पन्न करता है, न किसी से उत्पन्न होता है अतः कारण कार्य रूप न होने से प्रकृति विकृति से रहित है।

सांख्य के २५ तत्त्व

प्रकृति से महान् (बुद्धि) उत्पन्न होती है, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से सोलहगण उत्पन्न होते हैं।

षोडशगण—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच बुद्धीन्द्रियाँ, पायु, उपस्थ, वाणी, हस्त, पाद ये पांच कर्मेन्द्रिय तथा मन ये ग्यारह इन्द्रियां तथा रुप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये पांच तन्मात्रायें मिलकर सोलह गण कहलाते हैं। पांच तन्मात्राओं से पांच भूतों की उत्पत्ति होती है, यथा—रूप से अग्नि, रस से जल, गन्ध से पृथ्वी, शब्द से आकाश और स्पर्श से वायु उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार से सांख्य मत में प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वरूप में परिणत होने वाला प्रधान तत्त्व है। स्वयं प्रकृति, महान्, अहंकार ये तीन, सोलह गण, और पांच भूत मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। इनसे भिन्न पच्चीसवां पुरुषतत्त्व है जो अकर्ता, निर्गुण, भोक्ता, नित्य और चैतन्य स्वरूप है।

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने॥

अर्थ—आत्मा अमूर्त, चेतना, भोक्ता, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म है ऐसा सांख्यमत में कहा है।

सांख्य के यहां मोक्ष—प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है, वह प्रकृति तथा पुरुष में विज्ञान रूप तत्त्वज्ञान से होता है।

सांख्यमत में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं।

सांख्य के प्रमाण का लक्षण—

"अर्थोपलब्धिहेतुः प्रामणं" अर्थोपलब्धि में जो साधकतम कारण है वह प्रमाण है। उसमें निर्वि-कल्प श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट के भेद से अनुमान के तीन भेद हैं।

आप्त और वेदों के वचन आगम प्रमाण हैं इनके यहां 'पतञ्जलि' सेश्वरसांख्य शास्त्र के प्रवर्तक माने गये हैं। इनके यहां छब्बीसवां तत्त्व 'ईश्वर' है।

"प्रकृति इस संसार का आदि कारण है, यह एक नित्य तथा जड़ वस्तु है, सर्वदा परिवर्तनशील है। तत्त्व, रज, तम ये प्रकृति के तीन गुण या उपादान हैं, सृष्टि के पहले ये तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं, ये संसार के विषय सुख, दुःख या मोहजनक हैं, सुख दुःख या विषाद होने के कारण हम इन तीन गुणों का अनुमान करते हैं······पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। पुरुष न तो किसी का कारण है न कार्य है, वह निरपेक्ष तथा नित्य है।" [भारतीय द० पृ० २७]

इनके यहां चित्त वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। सेश्वर सांख्य ने ईश्वर की सत्ता मानकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-योगसे आठ अंगों का प्रतिपादन किया है।

इनके यहां प्रधान के दो भेद हैं—अव्यक्त और व्यक्त अव्यक्त। प्रधान कारण है और व्यक्त प्रधान कार्य है। इनमें व्यक्त प्रधान हेतुमान्, अव्यापि, सक्रिय, अनेक, अश्रित, लिंग, सावयव और परतन्त्र है। लेकिन अव्यक्त इनसे विपरीत अहेतुमान् एक इत्यादि रुप है। ये दोनों ही प्रधान त्रिगुणात्मक हैं—सत्त्व, रज, तम, रुप हैं। अविवेकी, विषय सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी हैं। परन्तु पुरुष में त्रिगुण आदि नहीं हैं। प्रधान से उत्पन्न हुआ सारा जगत् प्रधान रूप है।

सांख्य किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति और नाश नहीं मानते हैं। किन्तु आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं, ये कूटस्थ, अपरिणामी नित्य एकांत को स्वीकार करते हैं।

इनके यहां सत्कार्यवाद की मान्यता बड़ी ही विचित्र है। इनका कहना है कि कारण में कार्य सदैव विद्यमान रहता है कारणों से उत्पन्न नहीं होता है। कार्य कारणों से अभिव्यक्त—प्रगट होता है। मिट्टी में घट विद्यमान है कुंभार, दण्ड, चक्र आदि निमित्तों से प्रगट हो गया है आदि। नित्यैकांत की ये सब बातें प्रत्यक्षविरुद्ध हैं।

सांख्यों के यहां ज्ञान पुरुष का गुण न होकर अचेतन प्रकृति का परिणाम है। मोक्ष में प्रकृति का संयोग समाप्त होते ही ज्ञान का भी अभाव हो जाता है।

उपसंहार—सांख्य ने अचेतन को सृष्टि कर्त्री माना है यह सर्वथा असम्भव है। आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने से उसमें रागादि परिणाम न होने पर जड़कर्मों का बंध असम्भव है एवं ज्ञान और सुख आत्मा के स्वभाव हैं न कि जड़ प्रकृति के। इसलिये सांख्य के २५ तत्त्वों की मान्यता विल्कुल असंगत है। आत्मा को निर्गुण, निष्क्रिय, अकर्ता मानना नितांत भूल है। प्रकृति के अपराध से आत्मा संसार में दुःख उठावे यह बात तो स्वयं उनके कूटस्थ नित्य मत का निराकरण कर देती है। इनके द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व का भी कथन विरुद्ध है क्योंकि ये ज्ञानमात्र से मोक्ष मानते हैं क्या आज तक कोई औषधि के जानने मात्र से स्वस्थ हुये हैं। इनका सत्कार्यवाद भी बड़ा विचित्र है मिट्टी में सदा घट को विद्यमान कहना और कुंभार आदि से उसकी प्रकटता मानता विल्कुल गलत है। हां ! शक्तिरूप से मिट्टी में घट को हम जैन भी मान लेते हैं। जैसे कि संसारी आत्मा में परमात्मा शक्ति रूप से है। इनके प्रमाण और प्रमेय दोनों की व्यवस्था भी अघटित है। ये सर्वथा नित्य एकांतवादी हैं यदि कथंचित् आत्मा को कर्ता, भोक्ता मान लें तो बहुत ही अच्छा हो जावे। तब तो स्याद्वाद शासन ही उन्हें श्रेयस्कर हो जावे।

नैयायिक दर्शन

नैयायिक मत के प्रस्थापक गौतम मुनि हैं। इस न्याय दर्शन का दूसरा नाम अक्षपाद दर्शन है।

"प्रमाणप्रमेयेत्यादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" यह न्याय शास्त्र का प्रथम सूत्र है। प्रमाण प्रमेय इत्यादि तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

"तच्चतर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्। प्रमेयं द्वादशप्रकारं, आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः-प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदात्"। [सर्व दर्शन सं० पृ० २०१]

प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।

प्रमेय के बारह भेद हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

नैयायिक के मत में सोलह तत्त्व हैं—१प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टांत, ६ सिद्धांत, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वाभास, १४ छल, १५ जाति, १६ निग्रहस्थान। इन्हें पदार्थ भी कहते हैं। [षट्दर्शन पृ० ८२]

प्रमाण के १६ भेद, प्रमेय के १२, संशय के ३, प्रयोजन के २, दृष्टान्त के २, सिद्धान्त के ४, अवयव के ५, तर्क के ११, निर्णय के ४, वाद का १, जल्प का १, वितण्डा का १, हेत्वाभास के ५, छल के ३, जाति के २४, एवं निग्रह स्थान के २२ भेद हैं। इनके नाम और लक्षण सर्वदर्शन संग्रह और षड्दर्शन समुच्चय ग्रन्थों से देखना चाहिये। [सर्व द० पृ० २०१ से २०४]

अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृत् शिवः।
विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः ॥१३॥ [षड् द० पृ० ७८]

नैयायिक मत में जगत् की सृष्टि तथा संहार को करने वाला, व्यापक, नित्य, एक, सर्वज्ञ, नित्य ज्ञानशाली, शिव देवता हैं।

अक्षपाद नाम के आदिगुरु ने नैयायिक मत के मूल सूत्रों की रचना की है इसलिये नैयायिक अक्षपाद कहलाते है।

नैयायिक ने अनुमान के पांच अवयव माने हैं, प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन। हेतु के पांच अवयव माने हैं—पक्षधर्मत्व आदि।

अनुमान के तीन भेद माने हैं—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी।

इनके यहां—"जिसके द्वारा प्रमिति–उपलब्धि या ज्ञान उत्पन्न किया जाता है उस ज्ञान के जनक कारण को 'प्रमाण' कहते हैं। एवं अक्षपाद ने स्वयं न्यायसूत्र में कहा है कि—"इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाला अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि तथा व्यवसायात्मक ज्ञान 'प्रत्यक्ष' है।"

वैशेषिक दर्शन

न्याय और वैशेषिक इन दोनों दर्शनों का 'यौग' नाम से उल्लेख किया गया है। कुछ बातों को

छोड़कर न्याय और वैशेषिक में समानता पाई जाती है। शिवादित्य (११ शताब्दी) के 'सप्तपदार्थों' में उक्त दोनों का समन्वय किया गया है। मालूम पड़ता है कि दोनों के योग–जोड़ी को 'यौग' नाम दे दिया गया है। न्याय सूत्र के रचयिता गौतम ऋषि हैं जैसा कि ऊपर कह आये हैं। वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि 'कणाद' हैं। विशेष नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना से इस दर्शन का वैशेषिक नाम हुआ है। ऐसा माना जाता है। वैशेषिक ने सात पदार्थ माने हैं–**"द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः"**।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं।

इनमें से द्रव्य के नव भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

गुण चौबीस हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

कर्म के पांच भेद हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।

सामान्य के दो भेद हैं—परसामान्य, अपरसामान्य। विशेष केवल नित्य द्रव्यों में रहता है और वह अनंत है।

पूर्वोक्त नव द्रव्य और परमाणु नित्य द्रव्य हैं।

'समवायस्त्वेक एव' समवाय एक ही है।

अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, और अत्यंताभाव। [तर्क सं०]

आत्म द्रव्य का लक्षण और भेद—

'ज्ञानाधिकरणमात्मा' स द्विविधः—जीवात्मा परमात्मा चेति, तत्रेश्वरः सर्वज्ञः, परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

जिस द्रव्य में समवाय से ज्ञान रहता है वही आत्मा है क्योंकि आत्मा में ज्ञान समवाय सम्बन्ध से रहता है। आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा, परमात्मा। परमात्मा ईश्वर, सर्वज्ञ और एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है, व्यापक और नित्य है। [तर्क संग्रह]

वैशेषिक के यहां द्रव्य गुण आदि परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। समवाय सम्बन्ध से रहते हैं।

ये लोग शब्द को आकाश का गुण मानते हैं।

नैयायिक और वैशेषिक दोनों ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं—'पृथ्वी पर्वत आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं।' इस अनुमान के द्वारा ये लोग बुद्धिमान् ईश्वर को सृष्टिकर्ता सिद्ध करते हैं।

इन्होंने कारण को तीन प्रकार से माना है—

'कारणं त्रिविधं–समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्'।

कारण तीन प्रकार के हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण, और निमित्तकारण।

जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायिकारण होता है। जैसे—तन्तुओं में पट समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है अतः तंतु पट के समवायिकारण हैं। समवायिकारण द्रव्य ही होता है (जिसे जैन उपादान कारण कहते हैं)। तन्तु का संयोग पट का असमवायिकारण है। असमवायिकारण संयोग रूप गुण ही होता है।

जो इन दोनों कारणों से भिन्न है वह निमित्तकारण है जैसे—तुरी, वेम, शलाका आदि वस्त्र के निमित्तकारण हैं। यहां ईश्वर भी पृथ्वी आदि सृष्टि को बनाने में निमित्तकारण है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण

'इंद्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं तद् द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति'।

जो ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष–सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है उसके दो भेद हैं—निर्विकल्प और सविकल्प।

सन्निकर्ष के ६ भेद

"प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः—संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति"।

जो इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष सम्बन्ध है वही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है उस सन्निकर्ष के ६ भेद हैं—

संयोग—नेत्र से जो घट पट आदि का प्रत्यक्ष होता है वह संयोग है।

घट पट आदि के रूप का नेत्रों से ज्ञान है–वह 'संयुक्तसमवाय' है।

घट के रूप में जो रूपत्व है उसका नत्रों से प्रत्यक्षज्ञान 'संयुक्तसमवेतसमवाय' है।

कर्ण इंद्रिय से शब्द के प्रत्यक्ष में 'समवाय' सन्निकर्ष है।

श्रोत्र से शब्दत्व का साक्षात्कार करने में 'समवेतसमवाय' सन्निकर्ष है।

एवं अभाव को—घटाभाव, पटाभाव आदि को इन्द्रियों से प्रत्यक्ष करने में 'विशेषण विशेष्यभाव' सन्निकर्ष होता है। [तक संग्रह]

वैशेषिक ने बुद्धि सुख दुःख आदि आत्मा के नव विशेष गुणों के विनाश को मुक्ति माना है।

इन वैशेषिक, नैयायिकों ने ज्ञान को अस्वसंविदित माना है।

एवं धारावाहिकज्ञान को भी प्रमाण माना है। तथा पदार्थ और आलोक को ज्ञान का कारण माना है। समवाय की कल्पना तो इनके यहां बहुत ही विचित्र है।

"य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम्।
संबंध इह प्रत्ययहेतुः स हि भवति समवायः॥" [षड् द० पृ० ४२४]

अर्थ—अयुतसिद्ध और आधार आधेयभूत पदार्थों का 'यह इसमें है' इस इहेदं प्रत्यक्ष में कारणभूत

सम्बन्ध समवाय कहलाता है। एवं प्रागभाव आदि अभावों को इन लोगों ने सर्वथा तुच्छाभाव रूप सिद्ध किया है।

वैशेषिक ने नैयायिक के समान चार प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इस वैशेषिक दर्शन को 'औलुक्य' दर्शन कहा है।

उपसंहार—नैयायिक और वैशेषिक का बहुत से विषयों में एक मत हैं पदार्थ गणना, प्रमाणसंख्या आदि में ही अंतर है। दोनों ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं किन्तु आगे ईश्वर परीक्षा में इसका अच्छा समाधान किया जायेगा। वास्तव में कृतकृत्य ईश्वर विश्व की रचना में राग द्वेष के विना कैसे प्रवृत्त होगा? रागद्वेष सहित होने से सर्वज्ञ, हितोपदेशी और इष्टदेव कैसे कहलायेगा? अतः सर्वज्ञ सृष्टि के ज्ञाता द्रष्टा हैं कर्ता नहीं हैं। इनके द्वारा मान्य पदार्थ, द्रव्य, गुण आदि की व्यवस्था भी ठीक नहीं है। समवाय सम्बन्ध तो सिद्ध नहीं हो सकता, हां! यदि उसे तादात्म्य सम्बन्ध कह दो तब तो ठीक होगा। मुक्ति में सुख ज्ञान आदि गुणों का नाश मानना, ज्ञान को अपने संवेदन से रहित मानना, द्रव्य से गुणों को भिन्न मानकर समवाय से उसमें स्थापित करना सर्वथा अशक्य है। इनका सन्निकर्ष प्रमाण भी अव्याप्त है मन और चक्षु से पदार्थ को छूकर ज्ञान नहीं होता है, प्रत्युत दूर से ही हो जाता है। एवं सन्निकर्ष को प्रमाण मानने से सर्वज्ञ की सिद्धि होना शक्य नहीं है क्योंकि भूत, भविष्यत् पदार्थों का सन्निकर्ष होगा नहीं, और सन्निकर्ष से विश्व का ज्ञान हुये विना सर्वज्ञ होगा नहीं। आत्मा को व्यापक कहना, दिशा और मन को द्रव्य कहना विल्कुल गलत है आत्मा शरीर प्रमाण है, मन आत्मा में ज्ञानावरण की नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से होता है। अतः सर्वज्ञ को वीतराग एवं निर्दोष मानना उचित है उनके तत्त्वों पर श्रद्धा करना ही सम्यक्त्व है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा शब्द का अर्थ है किसी वस्तु स्वरूप का यथार्थ विवेचन। मीमांसा करने वालों को मीमांसक कहते हैं इसे ही जैमिनीय मत भी कहते हैं। मीमांसा के दो भेद हैं—कर्ममीमांसा, ज्ञानमीमांसा। यज्ञ-विधि कर्मकाण्ड अनुष्ठान आदि का वर्णन कर्ममीमांसा का विषय है, एवं जीव जगत् ईश्वर के स्वरूप सम्बन्ध आदि का निरूपण ज्ञानमीमांसा का विषय है। कर्ममीमांसा को पूर्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा को उत्तर मीमांसा कहते हैं किन्तु वर्तमान में मीमाँसा शब्द का प्रयोग केवल कर्ममीमांसा के लिए है और ज्ञानमीमांसा या उत्तरमीमांसा को 'वेदान्त' शब्द से कहा जाता है।

महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शन के सूत्रकार हैं। मीमांसकों में कुमारिलभट्ट के शिष्य भाट्टों ने छह प्रमाण माने हैं एवं प्रभाकर मिश्र के शिष्य प्राभाकरों ने अभाव के विना पांच प्रमाण माने है। इस प्रकार से मीमांसादर्शन में भाट्ट और प्राभाकर ये दो संप्रदाय हो जाते हैं। सूत्रकारों ने मीमांसक, प्राभाकर और जैमिनीय इन तीनों नामों से इस दर्शन का उल्लेख किया है।

प्राभाकर की मान्यतानुसार पदार्थ आठ हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या।

भाट्टों के अनुसार पदार्थ पांच हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव।

भाट्ट ग्यारह द्रव्य मानते हैं—वैशेषिक के नव द्रव्यों में अंधकार और शब्द ये दो द्रव्य मिलकर ग्यारह होते हैं।

प्राभाकर—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण मानते हैं एवं भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं।

मीमांसकों ने ज्ञान को परोक्ष माना है। ज्ञान न तो स्वयं वेद्य है न ज्ञानान्तर से वेद्य है। अतएव वह परोक्ष है। मीमांसक कहते हैं कि कोई सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शी नहीं है।

"जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ॥६८॥
तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद् द्रष्टुरभावतः।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ॥६९॥ [षड् द० पृ० ४३२]

जैमिनीय कहते हैं कि-सर्वज्ञत्व आदि विशेषण वाला कोई सर्वदर्शी देव नहीं है कि जिसके वचन प्रमाणीक माने जा सकें। इस तरह जब अतीन्द्रिय पदार्थों का कोई साक्षात्कार करने वाला ही नहीं है तब नित्य वेद वाक्यों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का यथावत् ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इनके यहां 'नहीं जाने गये अनधिगत पदार्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है।'

'विद्यमान पदार्थों से इंद्रियों का सम्बन्ध होने पर जो आत्मा में बुद्धि उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष, प्रमाण है।'

'लिंग से उत्पन्न होने वाले लैंगिक ज्ञान को अनुमान कहते हैं।'

नित्य वेद वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'आगम' है।

'सादृश्य ज्ञान को उपमान कहते हैं'।

'इष्ट पदार्थ की अनुपपत्ति के बल से किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं'। प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणों के निमित्त से अर्थापत्ति के भी छह भेद हो जाते हैं—प्रत्यक्षपूर्विकाअर्थापत्ति, अनुमान-पूर्विका अर्थापत्ति, उपमानपूर्विका अर्थापत्ति, आगमपूर्विका अर्थापत्ति, अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति, अभाव-पूर्विका अर्थापत्ति।

अभाव प्रमाण का लक्षण—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता" ॥७६

वस्तु के सत्ता के ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण जिस वस्तु में प्रवृत्ति नहीं करते, उसमें अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाण जिस भूतल आदि आधार में घटादि रूप आधेय के ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त नहीं होते, उस घटादि आधेय से शून्य शुद्ध भूतल के ग्रहण करने के लिये अभाव की प्रमाणता है।

अभाव प्रमाण का विषय भूत अभाव पदार्थ वस्तुभूत है तथा वह चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव। [षड्दर्शन सं०]

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। क्योंकि वेद मुख्य रूप से अतींद्रिय धर्म का प्रतिपादक हैं और अतींद्रिय दर्शी कोई पुरुष संभव नहीं है। इसलिये इन लोगों ने प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ की असिद्धि वतलाकर अभाव प्रमाण के द्वारा उसके अभाव को सिद्ध कर दिया है।

अतः इन मीमांसकों ने धर्म में वेद को ही प्रमाण माना है। एवं वेद के दोषों से मुक्त रखने के लिए ही अपौरुषेय माना है, और इसीलिए उन्हें शब्द मात्र को नित्य मानना पड़ा, क्योंकि यदि शब्द को अनित्य मानते तो शब्दात्मक वेद को भी अनित्य और पौरुषेय मानना पड़ता जो कि अभीष्ट नहीं है।

उपसंहार—मीमांसक ने सर्वज्ञ का अभाव कर दिया है एवं वेद को अपौरुषेय मानकर शब्द को नित्य, एक, अमूर्त, सर्वव्यापी मानते है किंतु अनुमान एवं आगम से सर्वज्ञ का स्वभाव सिद्ध है, शास्त्र कथंचित् अर्थ की अपेक्षा अनादि अनन्त है फिर भी रचना की अपेक्षा सादि सांँत है। शब्द वर्गणायें पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा नित्य-अनादि अनन्त होते हुये भी पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं, अनेक हैं मूर्तिक, अव्यापि हैं। इन मीमाँसकों द्वारा मान्य प्रमाणों के लक्षण, पदार्थों के लक्षण गलत हैं। कहीं अभाव को प्रमाण कहा जा सकता है ? जैनों के मान्य प्रागभावों का लक्षण इनके द्वारा मान्य अभाव के लक्षणों को वाधित कर देता है। मीमाँसकों के ज्ञान को परोक्ष कहा है, किंतु ज्ञान स्वयं का अनुभव स्वयं कर रहा है। इसलिए ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। अतः मीमांसा दर्शन की मीमांसा करने से इनका प्रमाण प्रमेय तत्त्व बाधित हो जाने से जैनसिद्धांत ही अवाधित सिद्ध होता है।

वेदांत दर्शन

'सर्व वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ॥

[छांदोग्योपनिपत् ३-१४-१]

यह सारा जगत् एक ब्रह्म स्वरूप ही है, यहां अन्य कुछ भी नहीं है, सब उसके प्रभाव को देखते हैं, उसे कोई नहीं देख सकता।

"ये तूत्तरमीमांसावादिनः ते वेदान्तिनो ब्रह्माद्वैतमेव मन्यंते।" उत्तर मीमांसावादी वेदांती मात्र अद्वैत ब्रह्म को मानते हैं, यह उनका मूल सिद्धान्त है कि "सर्व वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि। इनके यहां

ध्यान करने के लिये "**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**" अरे भक्त ! तुम आत्मा को देखो, सुनो, मानो और ध्यान करो। [सर्वदर्शन० ११६] उनका यह कहना है कि एक ही ब्रह्म सभी प्राणियों के शरीर में भासमान होता है। यथा—"एक ही भूतात्मा, सिद्ध, ब्रह्म प्रत्येक प्राणियों में व्यवस्थित है वही एक रूप से तथा अनेक रूप से जल में चन्द्रमा की तरह चमचमाता है"।

[षड् दर्शन० ४३०]

उपनिषदों के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित होने के कारण इस दर्शन का नाम वेदान्त (वेद का अन्त-उपनिषद्) प्रसिद्ध हुआ है। ब्रह्मसूत्र-वेदांत सूत्र के रचियता महर्षि वादरायण व्यास हैं। शंकर, रामानुज और मध्व ये ब्रह्म सूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। मीमांसकों की तरह वेदांती भी छह प्रमाण मानते हैं। इनके मतानुसार 'ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व है' इस संसार में जो भी चेतन अचेतन पदार्थ दिखते हैं वे सब अविद्या से जनित हैं। एक ही तत्त्व स्वीकार करने से ये अद्वैत वादी, सत्ताद्वैतवादी भी कहलाते हैं। ये अपौरुषेय वेद के आधार से ही 'ब्रह्म' की सिद्धि करते हैं, उक्त श्रुति के समर्थन में ये लोग प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की दुहाई भी देते हैं। फिर इन प्रमाणों को भी अविद्या का विलास कह देते हैं। अतः उनका मान्य तत्त्व ही अविद्या का विलास प्रतीत होता है।

उपसंहार—यदि अद्वैततत्त्व को आगम से माना जाता है तो आगम और ब्रह्म दो होने से द्वैत आ जाता है, यदि प्रत्यक्ष से कहो तो बाधा आती हैं, क्योंकि एक को सुख अन्य को दुःख आदि विचित्रतायें दृष्टिगोचर हैं, अनुभव गोचर हैं। यदि एक ही ब्रह्म सबमें है तो सभी को एक साथ सुख-दुःख का अनुभव होना चाहिये, किंतु ऐसा तो है नहीं। बड़े आश्चर्य की बात है कि चेतनस्वरूप ब्रह्म से चेतन अचेतन रूप जगत् मान लिया जावे। क्या आप स्वयं चेतन ब्रह्म अचेतन बनना अच्छा समझेगा ? वास्तव में अस्तित्व रूप से सभी चेतन-अचेतन कथंचित् एक रूप हैं। इसी का विपर्यास करके वेदांतवादियों ने सारे जगत् को ब्रह्म रूप से एकरूप मान लिया है किंतु यह मान्यता कथमपि शक्य नहीं है। किसी भी तरह से इस अद्वैत को सिद्ध करने में द्वैत आ ही जाता है। यदि सब द्वैत को अविद्या का विलास कहो, तब तो यह अद्वैत भी अविद्या का ही विलास सिद्ध होगा।

जैन दर्शन

यह जैन धर्म अनादि निधन धर्म है इसकी स्थापना किसी ने भी नहीं की है। स्याद्वाद, अहिंसा, अपरिग्रह, आदि इसके मौलिक सिद्धांत हैं। जैन सिद्धांत में—सात तत्त्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य और पांच अस्तिकाय माने गये हैं। '**जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्**' इस सूत्र से जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन्हीं में पुण्य और पाप मिलाने से नव पदार्थ बन जाते हैं।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। इनमें काल को छोड़कर पांच अस्तिकाय कहलाते हैं। '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' इस सूत्र से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-

चारित्र की एकता ही मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। एवं संपूर्ण कर्मों से आत्मा का छूट जाना ही मोक्ष है।

सर्वज्ञ प्रणीत आगम ही सच्चे शास्त्र हैं, एवं घातिया कर्म मल से रहित शुद्ध हुई आत्मा ही अर्हंत् सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी है। उन सर्वज्ञ के वचनों पर पूर्ण श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है।

'छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥५६॥ [गोम्मटसार जी.]

छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थ इनका जिनेंद्रदेव ने जिस प्रकार वर्णन किया है, उस ही प्रकार से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह दो प्रकार से होता है—एक तो केवल आज्ञा से, दूसरा अधिगम से।

जिनेंद्रदेव ने जो भी वस्तु तत्त्व का वर्णन किया है वह ठीक है क्योंकि 'जिनदेव असत्यवादी नहीं हो सकते' ऐसा केवल आज्ञा मात्र से श्रद्धान करना आज्ञा सम्यक्त्व है। तथा इन द्रव्यादिकों का प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण, नय आदि से निर्णय करके श्रद्धान करना अधिगम सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व होने के बाद जो यथार्थ ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है उसके भी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भेद हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन और ज्ञान के बाद रागद्वेष को दूर करने के लिये जो चारित्र ग्रहण किया जाता है वह सम्यक्चारित्र है। इसके पंचमहाव्रत आदि रूप से सकल चारित्र और पंच अणुव्रत आदि रूप से विकल चारित्र ऐसे दो भेद होते हैं।

इस जैन सिद्धांत में सप्तभंगी, नय पद्धति आदि विशेष बातें बहुत ही उत्तम हैं वस्तु तत्त्व को ज्यों की त्यों समझाने वाली हैं। द्रव्यार्थिक नय से आत्मा आदि पदार्थ नित्य हैं किंतु पर्यायार्थिक नय से ये अनित्य भी हैं। इत्यादि रूप से वस्तु की व्यवस्था सुघटित सिद्ध है। यह अनेकांत शासन, आत्मा, सर्वज्ञ, परलोक, मोक्ष आदि की व्यवस्था करते हुये सदा जय शील हो रहा है।

सभी दार्शनिकों के मुख्य-मुख्य सिद्धांत

चार्वाक—भूतचैतन्यवाद, प्रत्यक्षैक-प्रमाणवाद।

बौद्ध—निर्विकल्पप्रत्यक्षवाद, साकारज्ञानवाद, क्षणभंगवाद, चित्राद्वैतवाद, विज्ञानाद्वैतवाद, शून्यवाद, त्रैरूप्यहेतुवाद, अपोहवाद।

सांख्य—प्रकृतिकर्तृत्ववाद, अचेतनज्ञानवाद, इंद्रियवृत्तिवाद, सत्कार्यवाद, नित्यैकांतवाद।

नैयायिक वैशेषिक - षोड़शपदार्थवाद, सप्तपदार्थवाद, सन्निकर्षवाद, कारकसाकल्यवाद, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद, पांचरूप्यहेतुवाद, समवायवाद।

मीमांसक—वेद अपौरुषेयवाद, परोक्षज्ञानवाद, अभावप्रमाणवाद, शब्दनित्यत्ववाद।

वैयाकरण—शब्दाद्वैतवाद, स्फोटवाद।

वेदांती—ब्रह्मवाद, अविद्यावाद ।

इन सबके प्रमुख गुरू एवं मतों के नाम

१—**चार्वाक** को लौकायतिक भी कहते हैं इनके गुरू बृहस्पति हैं ।

२—**नैयायिक**—न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं ।

इन्हीं का नाम अक्षपाद भी है अतः इसे अक्षपाद दर्शन भी कहते हैं, इनका मूलग्रन्थ 'न्यायसूत्र' है। न्याय भाष्य के अनेकों ग्रन्थ हैं ।

जैसे—वात्स्यायन का 'न्यायभाष्य' उद्योतकर का 'न्यायवार्तिक' वाचस्पति की 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका,' उदयन की 'न्याय वार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि' तथा 'कुसुमाञ्जलि' जयन्त की 'न्याय मंजरी' आदि । ऐसे ही श्रीकण्ठ अभय तिलकोपाध्याय विरचित न्यायालंकार वृत्ति आदि प्रमुख तर्क ग्रन्थ हैं। भासर्वज्ञ कृत न्यायसार की अठारह टीकायें हैं । इनमें न्यायभूषण नाम की टीका सर्वप्रमुख है ।

प्राचीन समय के न्याय को 'प्राचीनन्याय' एवं आधुनिक काल के न्याय को 'नव्यन्याय' कहते हैं। प्राचीन न्याय के अंतर्गत 'गौतम' का न्यायसूत्र, उसके भाष्य आदि हैं । नव्यन्याय का प्रारंभ गंगेश की 'तत्त्वचिंतामणि' से हुआ है, इसे 'न्यायदर्शन' या शैव दर्शन भी कहते हैं एवं 'योग' भी कहते हैं ।

३—**वैशेषिक**—वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक 'महर्षिकणाद' हैं । कहा जाता है कि ये इतने बड़े संतोषी थे कि खेतों से चुने हुये अन्नकणों के सहारे ही जीवन यापन करते थे । इसलिये इनका उपनाम 'कणाद' पड़ा है । उनका वास्तविक नाम 'उलूक' था अतएव वैशेषिक दर्शन कणाद या 'औलूक्य' दर्शन नाम से प्रसिद्ध है । इस दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ की विशद विवेचना है अतः इसे 'वैशेषिक' भी कहते हैं । अन्यत्र भी यही बात है ।

"मुनिविशेषस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठवतो रथ्यानिपतांस्तंडुलानादायादाय कृताहारस्याहारनिमित्तात्कणादसंज्ञा अजनि । तस्य कणादस्य पुरः शिवेनोलूकरुपेण मतमेतत्प्रकाशितम् 'तत औलूक्यं प्रोच्यते । पशुपतिभक्तत्वेन पाशुपतं चोच्यते" ।

कापोत सदृशवृत्ति का अनुसरण करने वाले मार्ग में पतित तंदुल कणों को खाने वाले होने से इन्हें कणाद संज्ञा हुई, इनके आगे शिव ने उल्लू का शरीर धारण करके इस मत को चलाया अतः 'औलूक्य' हैं । वैशेपिक लोग पशुपति-शिव के भक्त हैं अतः यह दर्शन 'पाशुपत' भी कहलाता है । वैशेषिक कणाद के शिष्य हैं अतः काणाद भी कहलाते हैं । [षड्द० ४०६]

इनके यहां कणाद कृत मूलग्रन्थ 'षट्पदार्थी-वैशेपिक सूत्र' नाम से है । इसपर प्रशस्तपाद का 'पदार्थ धर्म संग्रह' है, इस प्रशस्तपाद भाष्य-पदार्थ धर्मसंग्रह पर दो उत्तम टीकायें हैं, उदयन आचार्य की किरणावली, और श्रीधराचार्य की 'न्यायकंदली' । इसके बाद का जो वैशेषिक साहित्य है वह न्याय और वैशेपिक इन दोनों का संमिश्रण है । ऐसे ग्रन्थों में शिवादित्य की 'सप्तपदार्थी'

लौगाक्षि भास्कर की 'तर्ककौमुदी' वल्लभाचार्य की 'न्यायलीलावती' और विश्वनाथ पंचानन का भाषा परिच्छेद (सिद्धांत मुक्तावली टीका के साथ) प्रमुख है। [भारतीयद० पृ० १४६]

व्योमशिवाचार्य कृत व्योमवती टीका, श्रीवत्साचार्यकृत लीलावती तर्क, आत्रेयतन्त्र आदि

४–मीमांसक—मीमांसा का मूल ग्रन्थ है 'जैमिनिसूत्र' इस जैमिनि के सूत्र पर शबरस्वामी का विशद भाष्य है जिसे 'शावरभाष्य' कहते हैं। उनके वाद बहुत से टीकाकार और स्वतंत्र ग्रन्थकार हुये, उनमें दो मुख्य हैं—कुमारिल भट्ट और प्रभाकर। इन दोनों के नाम पर मीमांसा में दो प्रधान संप्रदाय चल पड़े जिनका नाम है—भाट्ट मीमांसा और प्रभाकर मीमांसा। [भारतीयद० पृ० १६६]

मीमांसा दर्शन के दो भेद हैं—पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसावादी यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छह ब्राह्मण कर्मों का अनुष्ठान करने वाले हैं ब्रह्म सूत्रधारी हैं, यज्ञादि क्रिया काण्ड में मुख्य रूप से प्रवृत्ति करते हैं। इनके साधु एक दण्डी, त्रिदण्डी, गेरुआ वस्त्रधारी मृगछाला, कमंडलु आदि रखते हैं, सिर मुंडाते हैं। इनका वेद ही गुरु और भगवान् है ये लोग वेद के सिवा किसी को सर्वज्ञ मानने को तैयार नहीं हैं। इनमें कुमारिल का मीमांसाश्लोकवार्तिक, प्रभाकर का 'बृहती' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

५—उत्तर मीमांसावादी वेदांती—कहलाते हैं ये केवल अद्वैत ब्रह्म को ही मानते हैं। इनके साधु कुटीचर, बहूदक, हंस, परमहंस ऐसे चार तरह के होते हैं। जो त्रिदण्डधारी, शिखाधारी ब्रह्म सूत्रधारी हैं यजमानों के यहां भोजन करते हैं गृह त्यागी हैं कुटिया बनाकर जंगल में रहते हैं, वे 'कुटीचर' कहलाते हैं। बहुत जल वाली नदी में स्नान करने से बहूदक होते है। हंस साधु ब्रह्मसूत्र, शिखा नहीं रखते, कषायवस्त्र, दण्डधारी ग्राम में एक रात नगर में तीन रात निवासी 'हंस' कहलाते हैं।

इन हंस साधु को तत्त्वज्ञान होने के वाद 'परमहंस' कहते हैं। इसे ही वेदांत दर्शन कहते हैं।

वेदांत का अर्थ है वेद का अंत। उपनिषदों को भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद का अंत कहा जाता है। वैदिक काल में तीन तरह के साहित्य होते हैं। सबसे प्रथम वैदिक मंत्र जो भिन्न-भिन्न संहिताओं—ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद में संकलित हैं।

ततः परं ब्राह्मण भाग जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना है, अंत में उपनिषद जिसमें दार्शनिक तथ्यों की आलोचना है। ये तीनों मिलकर श्रुति या वेद कहलाते हैं। अध्ययन के विचार से उपनिषदों की बारी अंत में आती थी। लोग संहिता से शुरू करते थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर गृहस्थोचित यज्ञादि कर्म करने से ब्राह्मण, वानप्रस्थ या संन्यास लेकर वन में रहने पर आरण्यक नाम होता है।

उपनिषदों का विकास आरण्यक साहित्य से हुआ है। स्वयं उपनिषदों में कहा है कि वेद-वेदांग सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर जब तक ज्ञान पूर्ण न हो जावे तब तक मनुष्य उपनिषदों की

शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता, उपनिषद् (उप+नि+सद्) जो ईश्वर के समीप या गुरु के समीप पहुंचावे वह उपनिषद् है। भिन्न-भिन्न उपनिषदों के विचार भेद का परिहार करने के लिये बादरायण ने 'ब्रह्म-सूत्र' ग्रन्थ की रचना की। इसे वेदांत सूत्र शारीरिक सूत्र, शारीरिकमीमांसा या उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र पर अनेकों भाष्य हैं, शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निंवार्काचार्य, आदि के भाष्यों से उनके नाम पर भिन्न भिन्न-संप्रदाय चल पड़े हैं। आजकल शंकराचार्य का 'अद्वैतवाद' और रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद अधिक प्रसिद्ध है।

६. सांख्य—

कुछ सांख्य ईश्वर मानते हैं कुछ निरीश्वरवादी हैं, जो निरीश्वर हैं उनके नारायण ही देवता हैं। इनके आचार्य विष्णु, प्रतिष्ठाकारक चैतन्य आदि शब्दों से कहे जाते हैं।

सांख्य दर्शन के रचियता महर्षि कपिल हैं। सांख्य अत्यन्त प्राचीन मत है इसमें पचीस तत्त्वों की संख्या होने से इसे सांख्य मत कहते हैं। सांख्य दर्शन का मूल ग्रन्थ है कपिल का 'तत्त्वसमास'। इसमें निरीश्वर सांख्य का दर्शन है। योगदर्शन में ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है अतः इसे 'सेश्वर सांख्य' कहते हैं। इस सेश्वर सांख्य मत के प्रवर्तक पतञ्जलि ऋषि हैं अतः इसे 'पातञ्जल दर्शन' भी कहते हैं।

कपिल, आसुरि, पंचशिख, भार्गव तथा उलूक आदि सांख्य मत के प्रमुख प्रवक्ता हैं। इसलिए इसे सांख्य या कपिलमत भी कहते हैं। कपिल को परमर्षि कहने से इस मत को 'पारमर्ष' भी कहते हैं। सांख्यों का प्राचीन ग्रन्थ है ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' गौडपाद का 'सांख्यकारिकाभाष्य' वाचस्पति की 'तर्क कौमुदी' विज्ञान भिक्षु का 'सांख्य प्रवचन भाष्य' और सांख्यसार आदि ग्रन्थ हैं। एवं इनके षष्टितंत्र का पुनः संस्करण रूप 'माठर भाष्य' सांख्यसप्तति, तत्त्व कौमुदी, आत्रेयतंत्र आदि हैं।

७. बौद्ध—

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध हैं। इन्हें सुगत भी कहते हैं अतः इनके अनुयायी बौद्ध या सौगत कहलाते हैं, इनमें चार भेद हैं—सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक।

बौद्धों के ज्ञान पारमिता आदि दश ग्रन्थ हैं—तर्कभाषा, हेतुबिन्दु, अर्चटकृत, हेतुबिंदु की अर्चट तर्क नाम की टीका, प्रमाणवार्तिक, तत्त्वसंग्रह, न्यायबिंदु, कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह पंजिका, न्यायप्रवेश आदि ग्रंथ हैं।

महात्मा बुद्ध के उपदेश के तीन पिटक इनके यहां माने गये हैं उनमें-विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्म पिटक ये नाम हैं। इन पिटकों में केवल प्राचीन बौद्ध धर्म का वर्णन मिलता है।

धर्मकीर्ति का 'प्रमाणवार्तिक' उसकी टीका में प्रभाकर गुप्त का 'प्रमाणवार्तिकालंकार' है। शांतरक्षित का 'तत्त्वसंग्रह' दिग्नाग का 'न्यायप्रवेश' धर्मकीर्ति का 'न्यायबिंदु' आदि।

षड्दर्शन समुच्चय में बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इनको 'षड्दर्शन' कहा है। आगे चलकर नैयायिक और वैशेषिक दर्शनों को दो न कहकर एक कहने से आस्तिकवादी के पांच ही दर्शन कह देते हैं एवं उसमें नास्तिक चार्वाक की संख्या मिलाकर 'षड्दर्शन' कहते हैं। इस षड्-दर्शन में मीमाँसक और वेदांती को भी एक ही में लिया है।

८. जैनधर्म में किसी को इस जैनधर्म का प्रवर्तक नहीं माना गया है क्योंकि यह जैनधर्म अनादि-निधन धर्म है। अनादि काल से जीव कर्मों का नाशकर सर्वज्ञ होते रहे हैं और वर्तमान से लेकर अनंतानन्त काल तक सर्वज्ञ होते रहेंगे। जैन दर्शन में संसार पूर्वक—बंधपूर्वक ही मोक्ष माना गया है। अतः संसारी जीव ही आत्मा की सर्वोच्च विशुद्धि प्राप्त करके भगवान बन जाते हैं, **'कर्मारातीन् जयतीति जिनः जिनो देवता अस्य स जैनः'** जो कर्म शत्रुओं को जीतते हैं वे जिन कहलाते हैं एवं 'जिन' देवता जिसके उपास्य हैं वे जैन कहलाते है, यह धर्म 'अहिंसामय' है अतः **"सर्वेभ्यो हितः सार्वः"** प्राणिमात्र का हित-कारी होने से 'सार्वधर्म' कहलाता है। जिन भगवान के ही सार्व, सर्वज्ञ, अर्हंत, जिनेन्द्र, शिव, परमेश्वर, महेश्वर, महादेव आदि सार्थक नाम हैं। जैनधर्म में मनुष्य रत्नत्रयरूप उपाय तत्त्व से मोक्षरूप उपेयतत्त्व को प्राप्त कर लेता है जैनधर्म में—सभी वस्तुयें द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं एवं पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं, सत् रूप—महासत्ता से एक एवं पृथक्-पृथक् अवांतरसत्ता से अनेक हैं, किन्तु इस मर्म-स्याद्वाद को न समझकर बौद्धों ने वस्तु को सर्वथा क्षणिक कह दिया है। सांख्य ने ही सर्वथा नित्य कह दिया है। वेदांती ने एक ब्रह्मरूप एवं अन्यों ने अनेक रूप कह दिया है। ऐसे ही कर्मों की विचित्रता से संसार का वैचित्र्य देखकर वैशेषिकों ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता कह दिया है, किन्तु जैनाचार्यों ने सृष्टि को अनादि निधन एवं जीव पुद्गल संयोग से उत्पन्न हुई सिद्ध किया है। मीमांसक ने वेद को अनादि कह दिया है किन्तु वास्तव में अर्थ की अपेक्षा आगम अनादि है एवं सर्वज्ञ की वाणी द्वारा गणधर ग्रथित होने से परम्परा कृत आचार्य प्रणीत होने से सादि भी हैं। अनेकांत शासन में कुछ भी दोष नहीं है। इसलिए इन अन्य मतावलंबियों के ग्रंथों का पठन, मनन, कुश्रुत का पठन मनन है, इससे मिथ्यात्व का आस्रव होता है, ऐसा समझना चाहिये। जैनाचार्यों ने इन ग्रन्थों का अवलोकन केवल उनके तत्त्वों की मान्यताओं का खण्डन करने के लिये ही किया है। जब बौद्ध परंपरा में दिङ्नाग के पश्चात् धर्मकीर्ति जैसे प्रखरतार्किकों की तूती बोलती थी, तो ब्राह्मण परम्परा में कुमारिल जैसे उद्भट् विद्वानों की प्रतिध्वनि मंद नहीं हुई थी दोनों ही विद्वानों ने अपनी-अपनी कृतियों में जैन परम्परा के मंतव्यों की खिल्ली उड़ाई थी और समंतभद्र जैसे तार्किकों का खण्डन किया था। उस समय अकलंक देवने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत लेकर बौद्धदर्शन आदि पढ़ने का संकल्प किया, उस समय श्री अकलंक देव ने न्याय प्रमाण विषयक अनेकों ग्रन्थ रचे, लघीयस्त्रयी, न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय, अष्टशती, प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थों में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध तार्किकों की एवं उद्योतकर भर्तृहरि कुमारिल जैसे ब्राह्मण तार्किकों की उक्तियों का निरसन करते हुये जैन मन्तव्यों की

स्थापना तार्किक शैली से की है। इन अकलंक देव से पूर्व श्री समंतभद्र स्वामी ने भगवान की स्तुति करते हुये न्याय का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। श्री उमास्वामी आचार्य के महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र के मंगलाचरण पर आप्तमीमांसा स्तुति बनाकर तो एक अलौकिक प्रतिभाशाली कहलाये हैं। श्री विद्यानंद महोदय ने आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा एवं अष्टसहस्री, श्लोक वार्तिकालंकार टीका आदि ग्रंथों में न्याय का विशद वर्णन किया है। श्री माणिक्यनन्दि के परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ पर प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमल-मार्तण्ड आदि विस्तृत टीकायें हुई हैं। जैन न्याय का मतलब यही है कि **'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'** प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये सभी शास्त्रकारों ने उसका यही अर्थ किया है **'नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थोऽनेनेति न्यायः** न्यायकु०। **'नितरामीयंते गम्यंते गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् ज्ञायंतेऽर्थाः अनित्यत्वास्तित्वादयोऽनेनेति न्यायः तर्कमार्गः** [न्याय प्रवेश पं० पृ० १] जिसके द्वारा विवक्षित अर्थ का ज्ञान हो उसे न्याय कहते हैं। अतिशयरूप से जिसके द्वारा अनित्यत्व, अस्तित्व आदि अर्थ जाने जाये वह न्याय—तर्क मार्ग है। न्यायविनिश्चयालंकार में जैनाचार्यों ने भी विशेष रूप से कहा है कि—

'निश्चितं च निर्बाधं च वस्तुतत्त्वमीयतेऽनेनेति न्यायः' [न्यायविनिश्चयालंकार भा० १ पृ० ३३] जिसके द्वारा निश्चित और निर्बाध वस्तु तत्त्व का ज्ञान होता है उसे न्याय कहते हैं। इसमें 'निर्बाध' पद जैन न्याय की निर्दोषता को प्रगट करता है। ऐसा ज्ञान प्रमाणों के द्वारा होता है इसी से न्याय विषयक ग्रन्थों का मुख्य विषय प्रमाण होता है। प्रमाण के ही भेद प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि माने गये हैं, किन्तु प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा वस्तु तत्त्व को जानकर भी उसकी स्थापना और परीक्षा में हेतु और युक्तिवाद का अवलम्बन लेना पड़ता है। इसी से न्याय को तर्कमार्ग और युक्तिशास्त्र भी कहा है। जैनधर्म के बारहवें दृष्टिवाद अंग में ३६३ मिथ्यामतों का स्थापनापूर्वक खंडन किया गया है। न्यायविनिश्चय के प्रारम्भ में श्री अकलंक देव ने लिखा है—

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः।
माहात्म्यात् तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः॥
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते।
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकंपापरैः॥

कल्याण के इच्छुक अज्ञजनों के पूर्वोपार्जित पाप के उदय से एवं स्वयं कलिकाल के प्रभाव से गुण द्वेषी एकांतवादियों ने न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है। करुणाबुद्धि से प्रेरित हो करके हम उस मलिन किये गये न्यायशास्त्र को सम्यग्ज्ञान रूपी जल से किसी तरह प्रक्षालित करके निर्मल करते हैं। इसी भावना से ही श्री अकलंक देव ने छः महीने तक बौद्धों की अधिष्ठात्री तारादेवी से शास्त्रार्थ करके उसे पराजित करके जैनधर्म के स्याद्वाद की विजय पताका लहराई थी। और आज भी वीरप्रभु का अनेकांत शासन जयशील हो रहा है। तीर्थंकर श्री वृषभदेव या महावीर प्रभु ने इस जैनधर्म की स्थापना नहीं की है,

प्रत्युत सभी तीर्थंकर धर्मतीर्थ के प्रकाशक, उपदर्शक मात्र होते हैं, स्याद्वादमय धर्म तो वस्तु का स्वरूप होने से किसी के द्वारा प्रस्थापित नहीं है। जैनधर्म में वर्तमान में दो भेद दिख रहे हैं दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर संप्रदाय में स्त्रीमुक्ति केवली कवलाहार सवस्त्रमुक्ति आदि माने गये हैं, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में स्त्रियों को उसी भव से मुक्ति का निषेध, केवली के कवलाहार का निषेध एवं सवस्त्रमुक्ति का निषेध किया गया है।

जैनधर्म के मर्म को समझने के लिये महापुराण, पद्मपुराण, भद्रबाहुचरित्र आदि प्रथमानुयोग, तत्त्वार्थ सूत्र, गोम्मटसार, त्रिलोकसार, षड्खंडागम आदि करणानुयोग, रत्नकरण्डश्रावकाचार, वसुनंदि-श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, मूलाचार, आचारसार आदि चरणानुयोग, एवं समाधितन्त्र, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश, समयसार आदि द्रव्यानुयोग ऐसे चारों अनुयोगों के ग्रन्थों का गुरुमुख से पठन, स्वाध्याय करना चाहिये।

इस प्रकार से सर्वदर्शन के सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा की गई है।

ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व खण्डन

वैशेषिक कहते हैं कि—'सदाशिव' नाम का एक महेश्वर है जो सदा ही मुक्त है, कभी भी कर्ममल से लिप्त नहीं था अनादिकाल से ही मुक्त है और सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता है यथा—

"तनुभुवनकरणादिकं विवादापन्नं बुद्धिमन्निमित्तकम् कार्यत्वात्। यत्कार्यं तद् बुद्धिमन्निमित्तकं दृष्टं यथा वस्त्रादि। कार्यं चेदं प्रकृतं तस्माद् बुद्धिमन्निमित्तकं योऽसौ बुद्धिमांस्तद्धेतुः स ईश्वरः इति।"

"शरीर जगत्, इन्द्रिय आदि विवाद की कोटि में आये हुये पदार्थ बुद्धिमान् निमित्त कारण से हुये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। जो कार्य होता है वह बुद्धिमान् निमित्त कारण से ही होता है, जैसे वस्त्रादि। और कार्य प्रकृत शरीर आदि हैं इसलिये बुद्धिमान् निमित्त कारण से हुये हैं। जो बुद्धिमान् उनका कारण है वह ईश्वर है।" इसलिए यह सिद्ध होता है कि अनादि सिद्ध ईश्वर ही सम्पूर्ण विश्व का बनाने वाला है।

जैनाचार्यों का कहना है कि "तनुभुवनकरणादयो न बुद्धिमन्निमित्तकाः दृष्टकर्तृकप्रासादादि विलक्षणत्वात आकाशादिवत्।" 'शरीर जगत् और इन्द्रिय आदि बुद्धिमान् कारण जन्य नहीं हैं, क्योंकि जिन मकानादि के कर्ता देखे जाते हैं उनसे भिन्न हैं। जैसे आकाशादि।'

दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर सृष्टिकर्ता शरीर सहित है या रहित ? यदि रहित कहो तो अन्य मुक्त जीवों के समान वह भी सृष्टि नहीं बना सकता। यदि शरीर सहित कहो, तो वह कर्मसहित होने से अज्ञानी संसारी प्राणी के समान सृष्टि नहीं कर सकेगा।

इन वैशेषिकों ने एक सदाशिव ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना है, उसमें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ऐसी तीन शक्तियां मानी हैं। पुनः प्रश्न यह भी होता है कि कर्म के बिना इच्छा शक्ति कैसे होगी ? यदि ज्ञान शक्ति से ही सम्पूर्ण कार्य करना मानो, तो भी असंभव है। यदि वैशेषिक कहे कि—

समीहामंतरेणापि यथा वक्ति जिनेश्वरः ।
तथेश्वरोऽपि कार्याणि कुर्यादित्यप्यपेशलम् ॥१४॥
सति धर्मविशेषे हि तीर्थकृत्त्वसमाह्वये ।
ब्रूयाज्जिनेश्वरो मार्गं न ज्ञानादेव केवलात् ॥१५॥
सिद्धस्यापास्तनिःशेष-कर्मणो वागसंभवात् ।
विना तीर्थकरत्वेन नाम्ना नार्थोपदेशना ॥१६॥

जिस प्रकार से आप जैनों का जिनेश्वर विना इच्छा के मोक्ष मार्ग का उपदेश देता है, वैसे ही हमारा महेश्वर विना इच्छा के सृष्टि बनावे क्या बाधा है ? आचार्य ने कहा कि भाई ! हमारे जिनेश्वर की तीर्थंकर नामा नाम कर्म विशेष से उपदेश में प्रवृत्ति होती है और वे तीर्थंकर तो कर्म सहित हैं शरीरसहित हैं। हां ! मोहकर्म के नष्ट हो जानें से इच्छा रहित अवश्य हैं। पूर्णकर्म रहित सिद्धों का उपदेश हम नहीं मानते हैं।

यदि आप भी ईश्वर के योग विशेष मानों तो शरीर अवश्य मानना पड़ेगा, पुनः प्रश्न माला चलती जायेंगी। वह सृष्टि रचने के पहले अपना शरीर वना लेता है या शरीररहित ही सृष्टि वनाकर अपना शरीर बनाता है ? यदि कहो ईश्वर स्वयं अपना शरीर नहीं बनाता है वह स्वयं वन जाता है, तव तो जैसे ईश्वर की इच्छा और प्रयत्न के बिना उसका शरीर वन गया वैसे ही सारी सृष्टि वन जावे।

यदि ईश्वर अपने पूर्व शरीर का कर्ता पूर्व पूर्ववर्ती शरीर से होता है तव तो शरीर परम्परा अनादि सिद्ध होने से अनवस्था दोष आ जाता है, एवं संसारी प्राणी और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं दिखता है। कार्मणशरीर से सहित ही संसारी प्राणी अनादि काल से शरीरों का निर्माण करता चला आ रहा है।

दूसरी वात यह भी है कि उस ईश्वर का ज्ञान नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य कहो तो सारे कार्य एक साथ हो जावेंगे, क्योंकि ज्ञान सदा काल एक नित्य है, अनित्य कहो तो भी अनेकों दूषण आते हैं। यहां ईश्वर का ज्ञान व्यापी है या अव्यापी ? स्वसंविदित है या अस्वसंविदित ?

वह ज्ञान महेश्वर से भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि प्रश्न चलते ही रहेंगे।

वैशेषिक महेश्वर के ज्ञान को महेश्वर से भिन्न मानकर समवाय से महेश्वर को ज्ञानी कहता है तव आचार्य कहते हैं कि यह समवाय एक है तो यह समवाय महेश्वर में ही ज्ञान को जोड़े अन्यत्र आकाशादि में नही ऐसा क्यों ? यदि कहो आकाश अचेतन है, ईश्वर चेतन है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि आपने ईश्वर को चेतन नहीं माना है चेतन के समवाय से ही चेतन माना है।

"नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता स्वयं ज्ञानस्य केवलं ।
समवायात्सदा ज्ञाता यश्चात्मैव स किं स्वतः ॥६५॥

यदि कहो कि ईश्वर न ज्ञाता है न अज्ञाता है किन्तु ज्ञान समवाय से ज्ञाता है तब तो बताओ ईश्वर आत्मा है या नहीं ? तब उसने कहा, ईश्वर न आत्मा है न अनात्मा हैं। आत्मत्व के समवाय से आत्मा है। तब तो बताओ उस आत्मत्व समवाय के पहले वह क्या है ? द्रव्य है ? तब वह कहता है कि नहीं। ईश्वर न द्रव्य है न अद्रव्य है, द्रव्यत्व के समवाय से द्रव्य है तब प्रश्न होता है कि द्रव्यत्व समवाय के पहले वह सत् रूप तो अवश्य होगा ? उसने कहा नहीं। ईश्वर न स्वतः सत् है न असत् है सत्ता के समवाय से 'सत्' है तब तो बड़ी आफत आ गई, सत्ता समवाय के पहले ईश्वर असत् ही रहेगा। अर्थात् उस ईश्वर का कुछ भी स्वरूप समझ में नहीं आता है। समवाय की सिद्धि तो असंभव है। क्योंकि जीव में या ईश्वर में ज्ञान समवाय के पहले वे ज्ञानी हैं या अज्ञानी ? यदि ज्ञानी हैं तो समवाय ने क्या किया ? यदि अज्ञानी हैं तो पत्थर आदि अज्ञानी अचेतन में भी ज्ञान का समवाय क्यों नहीं होता है अतः समवाय सम्बन्ध नाम से तादात्म्य सम्बन्ध मानकर स्वरूप का स्वरूपवान् के साथ तादात्म्य ही स्वीकार करना चाहिए अग्नि में उष्ण का जीव में ज्ञान का जो तादात्म्य सम्बन्ध है उसे ही समवाय भले ही कह दो।

इसलिए उपर्युक्त दोषों के निमित्त से आपका महेश्वर देहसहित, कर्मसहित, सर्वज्ञ एवं मोहरहित सिद्ध नहीं होता है।

दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर सृष्टि क्यों बनाता है किसी अन्य पुरुष की प्रेरणा से, या दया से, क्रीड़ा से या स्वभाव से ?

यदि अन्य से प्रेरित होकर बनाता है तब तो उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। यदि दया से बनाता है तो उसने दुःखी प्राणी को क्यों निर्माण किये ? यदि कहो पापियों को दण्ड देना पड़ता है तब तो उसने पाप की सृष्टि क्यों की ? परम पिता परमकारुणिक ईश्वर पाप और पापीजनों की सृष्टि क बवेंान फिर उन्हें दुःख देवें यह तो उचित नहीं है। यदि कहो क्रीड़ा से सृष्टि का निर्माण करता है तवो तो वह प्रभु महान् कैसे रहेगा, प्रत्युत क्रीड़ा प्रिय होने से बालकवत् नादान समझा जावेगा। यदि कहो स्वभाव से वह सृष्टि का निर्माण करता है तब तो ईश्वर का स्वभाव नित्य है सदा काल है अतः सदा काल एक जैसी सृष्टि बनती रहेगी, तरह-तरह की विचित्रता का अनुभव नहीं होना चाहिये।

इत्यादि अनेकों दोष आते हैं अतः ईश्वर को अनादि सिद्ध एवं सृष्टि का कर्ता मानना अनुचित है। यह संसारी प्राणी अनादि काल से कर्म सहित होने से स्वयं ही पुण्य पाप का कर्ता है और भोक्ता है। जब पुरुषार्थ से कर्मों का भेदन कर देता है तो ईश्वर महेश्वर, ब्रह्मा, महात्मा, परमात्मा सिद्ध, शिव अक्षय, अच्युत आदि अनेकों नाम से पूज्य बन जाता है।

सांख्य की आप्त समीक्षा

'कपिल एव मोक्षमार्गस्योपदेशकः क्लेशकर्मविपाकाशयानां नेत्ता च रजस्तमसोस्तिरस्करणात्।'

[आप्त प. पृ. १५६]

कपिल ही मोक्ष मार्ग का उपदेशक तथा क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों का भेद करने वाला है; क्योंकि उसके रज और तम का सर्वथा अभाव है। यह कथन सांख्यों का है। इस पर आचार्य कहते हैं कि कपिल सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह स्वयं अपने ज्ञान से सर्वथा भिन्न है, इसलिये सर्वज्ञ नहीं है। सांख्य का कहना है कि मुक्त होना, संसारी होना पुरुष का धर्म नहीं हैं। प्रधान के ही संसारीपना, मुक्तपना ज्ञान और सुख का होना संभव है।

प्रधानं ज्ञत्वतो मोक्षमार्गस्यास्तूपदेशकम्।
तस्यैव विश्ववेदित्वात् भेदित्वात् कर्मभूभृताम् ॥८०॥
इत्यसंभाव्यमेवास्याचेतनत्वात् पटादिवत्।
तदसंभवतो नूनमन्यथा निष्फलः पुमान् ॥८१॥
भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तदविशेषतः।
विरोधे तु तयोर्भोक्तिः स्याद्भुजौ कर्तृता कथं ॥८२॥

प्रधान ही मोक्ष मार्ग का उपदेशक है, क्योंकि वह ज्ञानी है और ज्ञानी इसलिये है कि वह विश्ववेदी-सर्वज्ञ है, तथा सर्वज्ञ भी इसलिये है कि कर्म पर्वतों का भेत्ता है। जैनाचार्य कहते हैं कि सांख्यों का यह मत असंभव है क्योंकि वह प्रधान वस्त्रादि की तरह अचेतन हैं। इसलिये प्रधान को कर्मों का नाशक, विश्वज्ञानी, मोक्षमार्ग का उपदेशकत्व आदि मानना असम्भव हैं। यदि मानोगे तो पुरुष की कल्पना ही व्यर्थ हो जावेगी। अगर कहो कि पुरुप भोक्ता है तब तो वही कर्ता भी होवे, क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों एक जगह संभव हैं। यदि क्रिया के कर्तापने का विरोध कहा जावे तो भोक्ता पुरुष भुज् क्रिया का कर्ता कैसे रहा? आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रधान सर्वज्ञ है और मुमुक्षु जन स्तुति पुरुष की करते हैं। तात्पर्य यह है कि कपिल ने ज्ञान के आश्रय भूत प्रधान के संसर्ग से ही ज्ञान माना है, वह पुरुष स्वयं तो ज्ञान रहित है, किंतु यह सिद्धांत सर्वथा गलत है अचेतन में ज्ञान हो और उसके संसर्ग से संसार में पुरुप ज्ञानी बनें एवं मुक्त में अज्ञानी रहें यह कल्पना गलत है अतः ज्ञानदर्शन स्वरूप पुरुष विशेष ही कर्मो का नाशक, विश्व का ज्ञाता सर्वज्ञ और मोक्ष मार्ग का उपदेष्टा आप्त है किंतु कपिल आप्त नहीं है।

बुद्ध की आप्त समीक्षा

सुगत ही सर्वज्ञ है क्योंकि वह संपूर्ण तृष्णा से रहित है एवं 'संपूर्ण गतः सुगतः, अथवा शोभनं गतः सुगतः यदि वा सुष्ठुगतः सुगतः' इस नियम में जो संपूर्णता को प्राप्त है या शोभन अवस्था को प्राप्त है या अच्छी गति को प्राप्त है वह सुगत है एवं उस सुगत की जगत् के लिये महती कृपा है 'बुद्धो भवेयम् जगते हिताय' मैं जगत् का हित करने के लिये बुद्ध होऊं' इत्यादि भावना से ही बुद्ध भगवान् सच्चे आप्त हैं और मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं। यह सौगतों का कहना है किंतु जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि—

सुगतोऽपि न निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः।
विश्वतत्त्वज्ञतापायात् तत्त्वतः कपिलादिवत् ॥८४॥
संवृत्या विश्वतत्त्वज्ञः श्रेयोमार्गोपदेश्यपि।
वुद्धो वंद्यो नतु स्वप्नस्तादृगित्यज्ञचेष्टितं ॥८५॥

सुगत भी मोक्ष मार्ग का उपदेशक नहीं है, क्योंकि वास्तव में उसके सर्वज्ञता नहीं है, जैसे कपिल आदि में नहीं है ॥ यदि कहो वुद्ध संवृति–कल्पना से सर्वज्ञ है और मोक्ष मार्ग का उपदेष्टा भी है। फिर भी संवृति से सर्वज्ञ होते हुये भी वुद्ध भगवान् तो वंदनीक होवें और कल्पित स्वप्न आदि वंद्य न होवें यह क्यों ? यह तो अज्ञानी का ही पक्षपात है।

आपके द्वारा मानी गई तत्त्व व्यवस्था ही ठीक नहीं है पुनः उसके उपदेशक वुद्ध सर्वज्ञ कैसे होंगे ! आपके यहां प्रत्येक पदार्थ को प्रतिक्षण विनाशी एवं परमाणु रूप मानते हैं। जो कि प्रत्यक्षज्ञान से अनुभव में नहीं आते हैं।

इन बौद्धों में योगाचार वौद्ध केवल 'विज्ञानमात्र' तत्त्व को मानते हैं वाह्य पदार्थों को नहीं मानते हैं। उनकी इस मान्यता से सुगत की सिद्धि ही असंभव है क्योंकि ज्ञान से भिन्न सुगत को मानने से द्वैत आता है और संवृत्ति से सुगत की कल्पना करने से वह स्वप्न के सदृश होने से नमस्कार योग्य नहीं रहता। तथैव चित्राद्वैतवादी की मान्यता भी गलत है क्योंकि चित्र ज्ञान भी कहें और उसे एक अद्वैत भी कहें यह असंभव हैं। चित्रज्ञान का अर्थ ही है अनेक ज्ञान न कि एक ज्ञान। यदि आप कहें कि क्षणभंगुर वस्तु में और अद्वैत में जो स्थायी रहना या द्वैत रूप दिखना है वह संवृति मात्र है। तव तो आपका वुद्ध भी कल्पना से ही सर्वज्ञ होगा, पुनः वास्तव में सर्वज्ञ न होने से कल्पित–असत्य मान्यता अपने आप में कल्पित असत्य ही है।

व्रह्माद्वैतवादी के व्रह्म की समीक्षा

व्रह्माद्वैतवादी इस जगत् को एक परम व्रह्म स्वरूप मानते हैं उस व्रह्म की ही उपासना करते हैं। ये लोग प्रत्यक्ष अनुमान और आगम से व्रह्म की सिद्धि कर रहे हैं। उनका कहना है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस व्रह्म का ग्राहक है ही क्योंकि आंख खोलने के अनंतर सर्वविकल्पों से रहित शुद्ध सत्तामात्र व्रह्म ही झलकता है। अनुमान भी परम व्रह्म को ही सिद्ध करता है। '**ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्। यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभासंते च विवादापन्नाः इति**' ग्राम और उद्यान आदि सभी दिखलाई देने वाले पदार्थ प्रतिभास-परम व्रह्म के अंतःप्रविष्ट हैं, क्योंकि वे प्रतिभासमान होते हैं। जो प्रतिभासित होता है, वह सर्व प्रतिभास के अंतःप्रविष्ट है, जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप। विवादापन्न ग्राम और उद्यान आदि प्रतिभासित होते हैं, इसलिये वे सभी परमव्रह्म के ही स्वरूप हैं। इस परमव्रह्म को सिद्ध करने के लिये श्रुतिवाक्य भी अनेकों पाये जाते हैं।

"सर्व वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यंति न तं पश्यति कश्चन" ॥

सभी दृश्यमान पदार्थ ब्रह्म स्वरूप हैं इससे भिन्न जगत् में नाना पदार्थ कुछ नहीं हैं। हम सभी लोग उस ब्रह्म की पर्यायों को ही देखते हैं, किंतु उसे कोई नहीं देखते हैं ॥ इत्यादि रूप से ब्रह्मवादी अपना पक्ष स्थापित करते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि आपने जो परमब्रह्म को प्रत्यक्ष का विषय कहा है वह गलत हैं क्योंकि विशेष से निरपेक्ष सामान्य मात्र का प्रत्यक्षज्ञान से अनुभव होना ही अशक्य है। जो आपने अनुमान से ब्रह्म को सिद्ध किया है उसमें प्रश्न यह होता है कि 'प्रतिभासित होने वाले धर्मी, हेतु दृष्टांत आदि प्रतिभासरूप ब्रह्म के अंतःप्रविष्ट होकर (भीतर घुसकर) प्रतिभासित होते हैं या ब्रह्म से बहिर्भूत रहकर ही प्रतिभासित होते हैं ? यदि अंदर होकर प्रतिभासित होते हैं तब तो अनुमान नहीं बनेगा। अनुमान में साध्य, हेतु, उदाहरण अवश्य होने से द्वैत आ जावेगा। यदि बहिर्भूत होकर प्रतिभासित होते हैं कहो, तो स्पष्ट ही द्वैत हो गया। आपने अद्वैत को सिद्ध करने के लिये अनुमान बनाया, उसने द्वैत को ही सिद्ध कर दिया।

आगम आदि भी ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि विकल्प उठते रहने से आपका ब्रह्माद्वैत सिद्ध नहीं होगा। एवं उस ब्रह्म से सृष्टि की मान्यता कहना तो बिल्कुल ही असंभव है। एक परमब्रह्म रूप चैतन्य आत्मा से अनेकों चेतन अचेतन रूप जगत् को उत्पन्न हुआ मानना गलत है। अतः परमब्रह्म को आप्त भगवान् कहना सर्वथा गलत है।

उपसंहार—इस प्रकार महेश्वर, कपिल, सुगत और परमब्रह्म इनके सर्वज्ञत्व और आप्तपने का अभाव होने से मोक्षमार्ग का प्रणयन नहीं बनता है और जो सर्वज्ञ हैं, कर्म पर्वतों के भेत्ता हैं, मोक्ष मार्ग के प्रणेता हैं वे अर्हंत ही हैं वे ही सच्चे आप्त हैं।

चार्वाक—

चार्वाक कहता है कि 'कोई पुरुष सर्वज्ञ है" यह बात किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हैं। आगम प्रमाण से सर्वज्ञ का अस्तित्व बतलाना योग्य नहीं है, क्योंकि जब सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं तब उसका कहा हुआ आगम कैसे होगा ? एवं असर्वज्ञप्रणीत आगम से सर्वज्ञ को सिद्ध करना गलत है क्योंकि अल्पज्ञ का कहा हुआ आगम प्रमाणिक नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि इस समय यहां सर्वज्ञ नहीं है यह बात प्रत्यक्ष से स्पष्ट है। अनुमान से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं होता क्योंकि सर्वज्ञ के साथ जिसका अविनाभाव हो ऐसा कोई साधन नहीं है अतः कोई पुरुष तीर्थकर आप्त सर्वज्ञ भगवान् नहीं है। न उनके द्वारा कथित आत्मा और परलोक आदि ही हैं।

इसपर जैनाचार्य कहते हैं कि आज भले ही इंद्रिय प्रत्यक्ष से यहां पर सर्वज्ञ न हो फिर भी सर्वज्ञ के प्रतिपादक आगम एवं अनुमान सिद्ध हैं यथा—**'कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबंधप्रत्ययत्वात्' यद् यद् ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबंधप्रत्ययं तत् तत्**

सकलपदार्थसाक्षात्कारी यथा अपगततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्कारि, तथा चायं पुरुषः तस्मात्सकलपदार्थ-साक्षात्कारी इति" [विश्वत० प्र० पृ० ४]

'कोई पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला अवश्य है, क्योंकि उसके पदार्थों का ग्रहण स्वभाव होनें से ज्ञान के प्रतिवंधक कारण नष्ट हो चुके हैं। जो-जो पदार्थ के ग्रहण स्वभाव वाला होने पर प्रतिवंधक कारण से रहित है वह-वह सकल पदार्थों को साक्षात् करने वाला है जैसे तिमिर दोष से रहित नेत्र रूप का साक्षात्कार करने वाले हैं और उसी प्रकार से यह कोई पुरुष है इसीलिये सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाला है।

दूसरी वात यह है कि जव चार्वाक प्रत्यक्ष से सारे विश्व को देखकर आवे कि कोई सर्वज्ञ नहीं है तभी वह निर्णय दे सकता है कि विश्व में कहीं भी कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं है अन्यथा सारे विश्व को देखे विना कैसे निर्णय देगा ? और जव सारे विश्व को देखकर आयेगा तव वही तो सर्वज्ञ वन जायेगा क्योंकि जो सारे विश्व को जाने वह सर्वज्ञ है। पुनः सर्वज्ञ का निषेध वह कैसे करेगा, अर्थात् नहीं कर सकेगा।

मीमांसक —

मीमांसक भी यही कहते हैं कि अतीन्द्रियदर्शी कोई भी सर्वज्ञ नहीं है, अतः नित्य वेदवाक्यों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है, किन्तु जैनाचार्यों ने इन मीमांसकों के मत की भी मीमांसा करके सर्वज्ञ की सिद्धि की है।

कुमारिल भट्ट कहता है कि—'**धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद् विजानानः पुरुषः केन वार्यते**' अर्थात् हम तो मनुष्य को केवल धर्मज्ञ होने का निषेध करते हैं। धर्म को छोड़कर यदि मनुष्य सवको भी जान ले तो कौन मना करता है ? मतलव यह है कि ये मीमांसक किसी को सव कुछ जानने वाला कहकर भी धर्मज्ञ का निषेध कर देते हैं, इनको वेद के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होना सिद्ध करना है क्योंकि ये क्रियाकांडी लोग वेद को अपौरुषेय कहकर उसकी प्रमाणता को सिद्ध करने में वहुत ही प्रयत्नशील हैं। खैर ! 'सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती आदि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला, अतींद्रिय-धर्म, अधर्म आदि सभी को स्पष्ट करने वाला सर्वज्ञ अवश्य है।'

अकलंकदेव ने सर्वज्ञत्व के साधन में अनेकों युक्तियों के साथ एक युक्ति वहुत विशेष दी है कि 'सर्वज्ञ के सद्भाव में कोई वाधक प्रमाण नहीं हैं अतः उसका अस्तित्व होना ही चाहिए' एवं दूसरी युक्ति यह दी है कि—'**ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते। अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम्॥**

[न्यायविनिश्चय]

आत्मा 'ज्ञ'—ज्ञाता है और उसके ज्ञानस्वभाव को ढकने वाले आवरण दूर होते हैं। अतः आव-रणों के विछिन्न हो जाने पर ज्ञस्वभाव आत्मा के लिये फिर ज्ञेय—जानने योग्य क्या रह जाता है ? अर्थात

कुछ भी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञान से सकलार्थ परिज्ञान होना अवश्यंभावी है। इसलिये सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध है।

तात्पर्य यह है कि चार्वाक शून्यवादी और मीमांसक सर्वज्ञ का अस्तित्व ही नहीं मानते हैं एवं सांख्य बौद्ध वैशेषिक वेदांती ईश्वर का अस्तित्व मानते हैं किन्तु उनकी मान्यतायें सुघटित नहीं हैं इसलिए सबका निराकरण करते हुये जैनाचार्य युक्तिपूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि कर रहे हैं।

जैन—

सोऽर्हन्नेव मुनीन्द्राणां वंद्यः समवतिष्ठते।
तत्सद्भावे प्रमाणस्य निर्बाध्यस्य विनिश्चयात् ॥८७॥
ततोऽन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽञ्जसा।
प्रमेयत्वाद्यथास्मादृक् प्रत्यक्षार्थाः सुनिश्चिताः ॥८८॥ [आप्तपरीक्षा]

जो सर्वज्ञ हैं, कर्म पर्वतों के भेत्ता हैं, मोक्षमार्ग के प्रणेता हैं, वे अर्हंत ही हैं और इसीलिये वे ही मुनीश्वरों के वंदनीय प्रसिद्ध हैं, क्योंकि सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये अबाधित और निश्चित प्रमाण पाये जाते हैं। 'एवं ईश्वर आदि सर्वज्ञ नहीं हैं, इसलिये सूक्ष्मादि, अन्तरित पदार्थ अर्हंत के परमार्थतः प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं जैसे हम लोगों के द्वारा जाने गये प्रत्यक्ष पदार्थ।'

शंका—"आत्मा का इन्द्रियों के साथ समीचीन सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है।" अतः हम लोगों का प्रत्यक्ष ज्ञान उन देशकाल और स्वभाव से अन्तरित (दूरवर्ती) पदार्थों को नहीं जानता है अतः धर्मी असिद्ध होने से हेतु आश्रयासिद्ध है।

समाधान—नहीं, क्योंकि स्फटिक आदि अन्तरित कितने ही पदार्थों का सद्भाव हम लोग देखते हैं। और दीवाल आदि से ढकी हुई अग्नि आदि को भी धूमादि हेतु से निश्चित कर लेते हैं। काल से अन्तरित वर्षा आदि को भी विशिष्ट मेघ आदि के द्वारा जानते हैं तथा स्वभाव से अन्तरित इन्द्रिय-शक्ति आदि कितने ही पदार्थ अर्थापत्ति से सिद्ध होने से धर्मी प्रसिद्ध है अतः हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है।

शंका—आप अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से अन्तरित पदार्थों को अर्हंत के सिद्ध करते हो या इंद्रिय प्रत्यक्ष से?

समाधान—अर्हंत भगवान् इन्द्रिय प्रत्यक्ष से धर्मादिक सूक्ष्म पदार्थ एवं सुमेरु आदि दूरवर्ती पदार्थों को जानने में समर्थ नहीं हैं। अतः अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही जानते हैं।

शंका—जो अर्हंत के प्रत्यक्ष नहीं है वह प्रमेय नहीं है जैसे प्रत्यक्ष से बहिर्भूत मिथ्या एकान्त।

समाधान—जो मिथ्या एकान्त ज्ञान हैं वे सभी परमागम और अनुमान से हम लोगों के प्रमेय हैं और अर्हंत के प्रत्यक्ष हैं अतः वे विपक्ष नहीं हैं।

शंका—धर्मादिक पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष नहीं हैं, क्योंकि सदैव अत्यन्त परोक्ष हैं। जो किसी के प्रत्यक्ष हैं वे सदैव अत्यन्त परोक्ष नहीं हैं। जैसे घटादिक पदार्थ।

समाधान—"अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति इति अक्ष आत्मा" अर्थात् जो व्याप्त करे जाने उसे अक्ष कहते हैं और अक्ष नाम आत्मा का है। अतः आत्मा के आश्रय स जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अर्हंत का प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष है, वह सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को विषय करने वाला है। क्योंकि वह क्रम रहित है। और वह क्रम रहित इसीलिए है कि उसमें मन तथा इन्द्रिय को अपेक्षा नहीं है। इन्द्रिय मन की अपेक्षा भी इसीलिए नहीं है कि वह समस्त दोष रहित है तथा मिथ्यात्व अज्ञानादि दोषों से रहित भी इसीलए है कि वह इन दोषों के कारण भूत मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शना-वरण तथा अन्तराय इन चार कर्मों का नाश कर चुके हैं जो दोष रहित नहीं है वह कर्म रहित भी नहीं है जैसे हम लोगों का प्रत्यक्ष। मोहादि कर्म रहित अर्हंत का प्रत्यक्ष है इस कारण वह समस्त दोष रहित है।

शंका—अर्हंत के मोहादि का नाश कैसे सिद्ध है?

समाधान—अर्हंत के मोहादि चार कर्मों के कारणभूत मिथ्यात्व आदि के प्रतिपक्षियों का प्रकर्ष देखा जाता है। यथा—मोहादि चार कर्म किसी आत्मा विशेष में सर्वथा नष्ट हो जाते हैं क्योंकि जहां उनके कारणों के प्रतिपक्षी का प्रकर्ष पाया जाता है वहां उसका नाश हो जाता है। जैसे आंख का तिमिरदोष।

मोहादि चार कर्मों के कारणों के प्रतिपक्षियों का प्रकर्ष केवली में पाया जाता है इस कारण वहां उनका सर्वथा नाश हो जाता है।

शंका—मोहादि चार कर्मों का कारण क्या है?

समाधान—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों मोहादि चार कर्मों के कारण हैं।

शंका—मिथ्यादर्शनादि के प्रतिपक्ष (विरोधी) क्या हैं?

समाधान—सम्यग्दर्शनादि तीन मिथ्यादर्शन आदि तीन के विरोधी हैं। क्योंकि उनके प्रकर्ष होने पर उन मिथ्यादर्शन आदि की हानि देखी जाती है। जिसके प्रकर्ष में जिसका अप्रकर्ष देखा जाता है वह उसका विरोधी है। जैसे—ठंढ का प्रतिपक्षी अग्नि है एवं सम्यग्दर्शन आदि तीनों वृद्धिगत होने वाले हैं।

जो बढ़ने वाला है वह कहीं पर प्रकर्ष के अन्त को प्राप्त होता है। जैसेपरिमाण परमाणु से लेकर आकाश में चरम सीमा को प्राप्त है। अतएव सम्यग्दर्शनादि के पूर्ण प्रकर्ष को प्राप्त होने पर मिथ्या-दर्शन आदि अत्यन्त नाश को प्राप्त हो जाते हैं। उनके नाश होने पर मोहादि चार कर्मों का अत्यन्त क्षय होने से अर्हंत भगवान् दोष रहित सर्वज्ञ वीतराग सिद्ध हो जाते हैं। और मिथ्या एकांतों का अभाव तो अनेकांत की सिद्धि से ही हो जाता है।

शंका—अर्हंत सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है पुरुष है जैसे ब्रह्मा वगैरह।

समाधान—ज्ञान के बढ़ने पर वक्तापन की हानि नहीं देखी जाती है। अतः वक्तापन सर्वज्ञता का

विरोधी नहीं है। सर्वज्ञ का जो समस्त पदार्थों को विषय करने वाला वक्तापन है वह युक्ति एवं शास्त्र से अविरोधी सिद्ध है। तथा स्पष्ट है कि समस्त अज्ञानादि दोष रहित पुरुषपना परमात्मा सर्वज्ञ में सिद्ध होता हुआ समस्त ज्ञानादि गुणों के परम प्रकर्ष की प्राप्ति को ही सिद्ध करता है। अतः आपका अनुमान सर्वज्ञ का वाधक नहीं है।

दूसरी वात यह है कि सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला कोई व्यक्ति पहले तीनों लोकों में एवं तीनों कालों में सवको देख कर यह निर्णय करे कि कोई भी सर्वज्ञ नहीं है तब तो वह स्वयं ही तीनों लोकों एवं तीनों कालों को जान लेने से सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है। यदि उसने तीनों लोकों एवं तीनों कालों को नहीं जाना तव वह यह निर्णय ही कैसे करेगा कि तीनों जगत में सर्वज्ञ नहीं है। अतः आप सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

शंका—कर्म कार्य-कारण रूप प्रवाह से प्रवर्तमान हैं इसलिए वे अनादि हैं। उनका विनाशक कारण न होने से कोई सर्वज्ञ भी कर्म पर्वत का भेत्ता नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अर्हत में विरोधी सम्यग्दर्शन आदिकों की वृद्धि चरम सीमा को प्राप्त हो जाती है, तव प्रवाहरूपसेअनादि होने पर भी कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है। वीजांकुर की अनादि संतान भी प्रतिपक्षी अग्नि से जलकर खाक हुई देखी जाती है।

शंका—कर्म पर्वतों का विपक्ष क्या है ?

समाधान—आगामी कर्मों का विपक्ष संवर है और संचित कर्मों का विपक्ष तप से होने वाली निर्जरा है। अर्थात् कर्मों के आने के द्वार का रुक जाना संवर है। और कर्मों के वे द्वार पाँच हैं—

(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग। इनके होने पर कर्म आते हैं अतः ये आश्रव हैं। आश्रव का निरोध संपूर्णतया तो गुप्तियों से होता है। एक देश रूप समिति, धर्म, परीषहजय, अनुप्रेक्षा और चारित्र से होता है। और संपूर्ण रूप से योग निरोध रूप संवर तो अयोगकेवली के अंतिम समय में होता है क्योंकि वही समस्त कर्मों के निरोध का कारण है। इसीलिए अयोगकेवली के अंतिम समयवर्ती सम्यग्दर्शन आदि तीनों साक्षात् मोक्ष के कारण माने जाते हैं। निर्जरा भी दो प्रकार की है :—

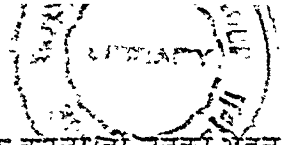
(१) अनुपक्रमा (२) औपक्रमिकी।

अनुपक्रमा निर्जरा तो यथा समय हर एक संसारी जीवों में पाई जाती है और औपक्रमिकी वारह प्रकार के तपों से प्राप्त (सिद्ध) होती है। अतः संवर और निर्जरा से कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

शंका—कर्म पर्वत क्या हैं ?

समाधान—कर्म के दो भेद हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म।

जीव के जो द्रव्य कर्म हैं वे पौद्गलिक हैं उनके अनेक भेद हैं। और जो भाव कर्म हैं वे आत्मा के चैतन्य परिणाम रूप हैं क्योंकि आत्मा से कथंचित् अभिन्न हैं वे क्रोधादिक हैं।



ये द्रव्य-भाव कर्म ही पर्वत नाम से कहे जाते हैं। उनको जीव से पृथक् करना ही उनका भेदन है।

शंका—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, ये चार घातिया कर्म जीव के अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य रूप गुणों के घातक हैं। किंतु नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु ये चार कर्म जीव के स्वरूप के घातक न होने से अघाति कर्म, कर्म नहीं हैं क्योंकि ये परतंत्रता के कारण नहीं हैं।

समाधान—नहीं। नामादि अघाति कर्म भी जीव के स्वरूप-सिद्धत्व रूप के प्रतिबंधक हैं अतः परतंत्रता के कारण प्रसिद्ध ही हैं।

शंका—पुनः इन्हें अघाति क्यों कहा है ?

समाधान—ये जीवन्मुक्त उत्कृष्ट आर्हत्य लक्ष्मी-अनन्त चतुष्टयादि विभूति के घातक नहीं हैं इसीलिए इन्हें हम अघाति कर्म कहते हैं।

शंका—कर्म, धर्म-अधर्म रूप हैं और वे आत्मा के गुण हैं अतः कर्म औदयिक एवं पुद्गल रूप नहीं हैं।

समाधान—यदि कर्म आत्मा के गुण हैं तो आत्मा की परतंत्रता में कारण नहीं हो सकते हैं और इस तरह आत्मा के कभी भी बंध न हो सकने से उसके मुक्ति का प्रसंग आ जावेगा, किंतु ऐसा है नहीं।

शंका—मोक्ष का स्वरूप क्या है ?

समाधान—समस्त कर्मों की संवर और निर्जरा होकर जो अपने स्वरूप का लाभ होता है उसे ही आस्तिक पुरुषों ने मोक्ष कहा है। क्योंकि आत्मा का स्वरूप अनंत चतुष्टय आदि रूप है न कि अचेतन रूप।

शंका—मोक्ष मार्ग क्या है ?

समाधान—मोक्ष की प्राप्ति का उपाय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की एकता ही है। और चौदहवें गुणस्थान के अन्त में परम शुक्ल ध्यान रूप तपोविशेष जो कि चारित्र के अंतर्गत है उसकी पूर्ति होने पर ही मोक्ष होता है रत्नत्रय की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अन्त में ही होती है, अतः तीनों की एकता ही मोक्ष मार्ग है।

अतः मोक्ष में ज्ञानादि गुणों का उच्छेद नहीं होता है प्रत्युत अनंत ज्ञान अव्याबाध सुखादि गुणों की पूर्ण प्रगटता हो जाने से यह जीव कृतकृत्य सिद्ध हो जाता है इस प्रकार से अर्हंत में सर्वज्ञता की सिद्धि घटित होती है अन्यत्र नहीं होती है।

इस प्रकार आप्तकी समीक्षा करते हुये अर्हंत को ही आप्तता सिद्ध होती है।

तत्त्व समीक्षा

तत्त्व विचार

चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों को ही चार तत्त्व मानता है इन भूत चतुष्टय से ही आत्मा इन्द्रिय ज्ञान और मन आदि की उत्पत्ति मानता है इसलिए जड़वादी है।

बौद्ध कहता है कि आकाश, चित्त संतान की उत्पत्ति तथा चित्तसंतान की उच्छित्ति ये तीन तत्त्व असंस्कृत तथा नित्य हैं। बाकी सब तत्त्व संस्कृत, क्षणिक, कर्ता से रहित हैं। [विश्व तत्त्व० पृ० २८५]

एवं इनके यहां रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच स्कंध माने गये हैं, इन पांच स्कंधों से ही सब कार्य होते हैं। और तो क्या इनके समूह से ही इन्होंने आत्मा की उत्पत्ति मानी हैं। जब तक इनकी समष्टि रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। [भारतीयद. पृ० ६०]

सांख्य—

सांख्य के यहां पच्चीस तत्त्व हैं—प्रकृति, प्रकृति से महान् (बुद्धि) बुद्धि से अहंकार, अहंकार से सोलह तत्त्व—पांच ज्ञानेंद्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र पांच कर्मेंद्रिय—वायु, उपस्थ, वाणी, हस्त, पाद एवं मन ये ग्यारह इन्द्रियां एवं रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये पाँच तन्मात्राएं ऐसे सोलह गण हैं। इन पांच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच महाभूत होते हैं। ऐसे ये प्रकृति, महान, अहंकार, सोलह गण, पांच महाभूत मिलकर चौबीस तत्त्व हुये ये अचेतन हैं एवं पुरुष तत्त्व चेतन है। ये चेतन-अचेतन मिलकर पच्चीस तत्त्व होते हैं।

नैयायिक—

नैयायिक के मत में सोलह पदार्थ या तत्त्व हैं—

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान ये सोलह तत्त्व हैं। इनके भी भेद प्रभेद अनेक हैं।

वैशेषिक—

वैशेषिक मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं। इनमें से द्रव्य के नव भेद गुण के २४, कर्म के ५ भेद आदि पाये जाते हैं।

मीमांसक के दो भेद हैं प्राभाकर और भाट्ट।

प्राभाकर आठ पदार्थ मानते हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य, और संख्या।

भाट्टों ने पांच पदार्थ माने हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव।

भाट्ट ग्यारह द्रव्य मानते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मन, अंधकार और शब्द।

वेदांती—

वेदान्ती लोग ब्रह्मवादी हैं—ये लोग "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इस कथन से 'एक ब्रह्ममात्र' ही तत्त्व मानते हैं, अन्य कुछ भी नहीं मानते। उनका कहना हैं कि जगत् में जितने भी चेतन-अचेतन पदार्थ हैं वे सब ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुये हैं इत्यादि।

जैन—

जैनाचार्यों ने इन सबकी मान्यता का न्यायदर्शन में निराकरण किया है। देखिये ! चार्वाक के द्वारा मान्य भूत चतुष्टय से विजातीय चैतन्य स्वरूप आत्मा की उत्पत्ति असंभव है।

बौद्धों द्वारा मान्य भी पांच स्कंधों से चेतन-अचेतन कार्य मानना नितांत गलत है।

सांख्य के पच्चीस तत्त्वों में महान् शब्द से बुद्धि को लेकर उसे प्रकृति-अचेतन से उत्पन्न होना कहा है और पुरुष को अकर्ता मानकर एकांत से अकेली जड़ प्रकृति को ही सारे विश्व का कर्ता कहा है यह ठीक नहीं है।

नैयायिक के द्वारा मान्य सोलह पदार्थों में संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, छल, हेत्वाभास, जल्प, वितण्डा आदि को पदार्थ में शामिल करना गलत है।

वैशेषिक के सात पदार्थों में कर्म समवाय आदि चीजें पदार्थ नहीं हैं। गुण, धर्म, संबन्ध, क्रिया आदि को पदार्थ कहना ठीक नहीं है।

मीमांसक ने तो परतन्त्रता, अंधकार, सदृशता आदि को भी पदार्थ कह दिया है। वास्तव में अंधकार आदि पदार्थ न होकर पर्यायें हैं।

वेदांती के द्वारा मान्य 'एक ब्रह्मतत्त्व' तो असंभव ही है। अतः जैनाचार्यों द्वारा मान्य द्रव्य छह हैं—

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। तत्त्व सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन्हीं तत्त्वों में पुण्य पाप मिला देने से नव पदार्थ बन जाते हैं।

आत्मसमीक्षा

आत्मा का विचार

चार्वाक—आत्मा का पृथक् रूप से अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं इनका कहना है कि भूत चतुष्टय से आत्मा का जन्म हुआ है। मरने के बाद आत्मा कोई चीज नहीं है अतः परलोक गमन, पुण्य, पाप आदि कार्य ये लोग नहीं मानते है इसीलिये ये 'नास्तिक' कहलाते हैं। वास्तव में स्वयं अपनी आत्मा के अस्तित्व को न मानकर उसका घात करना महा मूढ़ता है।

बौद्ध—

'विज्ञान स्कंध चित्त हैं इसी को आत्मा कहते हैं' [सर्व. द. पृ. ३६] विज्ञान क्षणों का नाम आत्मा

है। काय चित्त और विज्ञान के समूह को आत्मा कहते हैं। मनुष्य एक समष्टि का नाम है जिस तरह चक्र, धुरी, नेमि आदि के समूह को रथ कहते हैं, उसी तरह वाह्य रूप युक्त मानसिक अवस्थायें और रूपहीन संज्ञा (विज्ञान) के समूह या संघात को मनुष्य कहते हैं। जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का भी अंत हो जाता है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। अन्य दृष्टि से मनुष्य पाँच प्रकार के परिवर्तनशील तत्वों का एक संग्रह है। इसे पंच स्कंध कहते हैं उनके नाम हैं रूप वेदना संज्ञा, संस्कार और विज्ञान'। [भारतीयद० ९०] बौद्ध की यह कल्पना भी कल्पित होने से गलत है।

सांख्य—

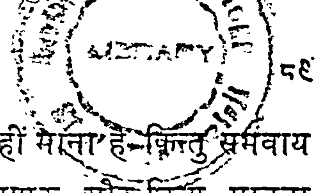
सांख्य आत्मा को चेतन पुरुष मानते हैं एवं कूटस्थ, नित्य, निरतिशय अपरिणामी मानते हैं, कर्मों का कर्ता नहीं मानते किन्तु भोक्ता अवश्य मानते हैं, इनके यहां पुरुष को—अमूर्त, निर्गुण, भोक्ता, नित्य सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, सूक्ष्म और चेतन माना है। तथा ज्ञान से रहित माना है एवं ज्ञानसहित प्रधान के संसर्ग से ज्ञानी माना है। आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय अमूर्त आदि मानना एवं ज्ञानरहित मानना गलत है।

नैयायिक—

नैयायिक का कहना है कि आत्मा, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा ज्ञानादि गुणों का आश्रय होता है, चेतनत्व, कर्तृत्व, सर्वगतत्व आदि धर्मों से आत्मा की प्रतीति होती है। आत्मा के भोग का आयतन शरीर है। भोग के साधन भूत पांच इन्द्रियां हैं। रूप, रस आदि पंचेन्द्रियों के विषय रूप अर्थ हैं। [षड् द० पृ० १०७] इतना सब कुछ मान करके भी नैयायिकों ने आत्मा में द्रव्यत्व के समवाय से आत्मा को द्रव्य माना है एवं ज्ञान के समवाय से ज्ञानी माना है यह समवाय सम्बन्ध की व्यवस्था गलत है क्योंकि समवाय के पहले आत्मा क्या है और ज्ञान कहां है? यदि दोनों ही पृथक् २ कभी भी किसी के दृष्टि-गोचर होवें तब तो उनका संबंध भी माना जावे। एवं आत्मा को सर्वगत मानना भी असम्भव हैं क्योंकि आत्मा स्वदेह परिमाण ही है।

वैशेषिक—

'आत्मा जीवोऽनेको नित्योऽमूर्तो विभुर्द्रव्यं च' [षड् द० पृ०४०९] आत्मा जीव है अनेक है नित्य अमूर्त और व्यापक द्रव्य है। **'ज्ञानाधिकरणमात्मा, स द्विविधः -जीवात्मा परमात्मा चेति'**। जिस द्रव्य में समवाय से ज्ञान रहता है वही आत्मा है क्योंकि, आत्मा में ज्ञान समवाय संबंध से रहता है। आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा, परमात्मा। परमात्मा ईश्वर सर्वज्ञ एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है, व्यापक और नित्य है। [तर्क संग्रह]



अर्थात् नैयायिक के समान वैशेषिक ने भी आत्मा में स्वतः ज्ञान गुण नहीं माना है किन्तु समवाय से माना है अतः उसके यहां भी आत्मा ज्ञान शून्य हैं एवं आत्मा को सर्वथा व्यापक और नित्य मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

मीमांसक—

मीमांसक जन जीव का लक्षण पूर्वोक्त मानकर भी समवाय नहीं मानते हैं एवं 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः' इस नियम से 'स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निहोत्र यज्ञ करे' ऐसे क्रिया काण्ड, यज्ञ अनुष्ठान आदि से आत्मा को स्वर्ग मानते हैं किन्तु जीव का कर्म से रहित होकर शुद्ध होना नहीं मानते हैं ये लोग जीव को हमेशा कलंक कालिमा सहित अशुद्ध ही मानते हैं। अतएव इन्होंने सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करके अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद वाक्यों से मान लिया है।

इन मीमांसकों में भाट्ट, प्राभाकार और वेदांती ऐसे तीन संप्रदाय हो गए हैं। भाट्ट, प्राभाकर क्रियाकाण्ड को प्रमुख कहते हैं। किन्तु वेदांती 'सारे जगत को एक परमब्रह्म' रूप ही मानते हैं और चेतन अचेतन को उस ब्रह्म की पर्याय सिद्ध करते हैं। किन्तु यह मान्यता गलत है, आत्मा शुद्ध हो सकती है एवं एक ब्रह्म की पर्याय न होकर प्रत्येक आत्मा निश्चय नय से परम ब्रह्म स्वरूप है।

किन्हीं-किन्हीं ने आत्मा को 'वटकणिका मात्र' माना है किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा को वट बीज के समान मानकर सारे शरीर में संचार माना जाए, तब ऐसे मानने वालों को मन के माध्यम से सुख का अनुभव होगा। शरीर के जिस प्रदेश में आशुगति से आत्मा का संचार होगा, उस समय उस प्रदेश में मन का नया–नया सम्बन्ध मानना पड़ेगा।

अणु परिमाण ज्ञानाश्रय जीव है। **'तदणुत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्।' "वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते"। "आराग्रमात्रः पुरुष एषोऽणरात्मा चेतसा वेदितव्यः"।**

आत्मा का अणुत्वश्रुति प्रसिद्ध है। केश के अग्रभाग के प्रथम सौ टुकड़े करके पश्चात् एक-एक के सौ–सौ टुकड़े करने से एक भाग का जो परिमाण हो वह जीव का परिमाण है ऐसे जीव अनन्त हैं और जीव रूप पुरुष आरे के अग्र भाग के समान सूक्ष्म हैं। आत्मा–जीव अणु परिमाण चक्षु आदि इन्द्रियों से अग्राह्य केवल मन से जानने योग्य है।" [सर्वदर्शन सं० रामानुजदर्शन पृ० १०६] यह सब मान्यता विवेक शून्य है क्योंकि आत्मा स्वदेह परिमाण है यह बात अनुभव सिद्ध है।

जैन—

जैनाचार्यों ने उपर्युक्त मान्यताओं का विशेष रीति से खण्डन करके जीव का लक्षण स्थापित किया है। यथा—'उपयोगो लक्षणं' 'स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।' [तत्त्वार्थसूत्र द्वि० अ० सूत्र ८-९]

जीव का लक्षण उपयोग है। चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं। उसके दो भेद हैं—

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच ज्ञान एवं कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये ३ कुज्ञान ये आठ ज्ञानोपयोग हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार दर्शनोपयोग हैं।

जीव का लक्षण चेतना है ज्ञानदर्शन को ही चेतना कहते है। जैनाचार्यों ने अन्यत्र जीव का लक्षण किया है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥ [द्रव्यसंग्रह]

जीव—जो तीनों कालों में इन्द्रिय, वल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप द्रव्य प्राणों से एवं चेतना लक्षण भाव प्राणों से। **अजीवत् जीवति जीविष्यति इति जीवः** जीता था, जीता है, जीयेगा वह जीव है, यह उपयोगमयी है—ज्ञान दर्शन स्वरूप है कथंचित् अमूर्तिक है, कर्ता है स्वशरीर प्रमाण है, भोक्ता है, संसारी है। सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है ॥

'संसारिणो मुक्ताश्च' [तत्त्वार्थ सूत्र]

जीव के संसारी और मुक्त की अपेक्षा दो भेद होते हैं कर्म सहित जीव संसारी हैं, कर्म वंधन से रहित जीव मुक्त जीव कहलाते हैं। जैन सिद्धांत में कर्मों के निमित्त से जीव का ज्ञान गुण ढका रहता है पूर्ण प्रगट नहीं होता है धीरे-धीरे अपने आवरण कर्म का क्षयोपशम होते-होते ज्ञान गुण प्रगट होता चला जाता है जव पूर्ण ज्ञानावरण का नाश हो जाता है तव पूर्ण ज्ञान प्रगट होकर यह आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी-ज्ञाता द्रष्टा कहलाने लगता है।

वहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायात् वहिस्त्यजेत् ॥४॥ [समाधितंत्र]

वहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा के तीन भेद होते हैं। उसमें परमात्मा उपादेय–प्राप्त करने योग्य है एवं अंतरात्मा उपाय भूत है—परमात्मा को प्राप्त कराने वाला है। और वहिरात्मा त्यागने योग्य है। इस प्रकार 'अहं' प्रत्यय से अनुभव में आने वाला आत्मा सभी जीवों को स्वसंवेदन अनुभव से सिद्ध है।

ज्ञान का विचार

चार्वाक—

'तदिह विज्ञानघन एवंतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति स न प्रेत्यसंज्ञास्तीति तत् चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा' [सर्वदर्श० पृ० ३]

विज्ञान स्वरूप आत्मा इन चार भूतों से उत्पन्न होकर उसी में नष्ट हो जाता है, मरने पर परलोक

में कोई नाम नहीं रहता, चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है। अर्थात् भूत चतुष्टय से आत्मा उत्पन्न होता है ज्ञान भी भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुआ है वह अस्वसंविदित है।

सांख्य--

'ततः संजायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते' [षड् द० पृ० १४५]

'इस प्रकृति से महान्—बुद्धि उत्पन्न होती है'

इससे स्पष्ट है कि सांख्य ज्ञान को अचेतन प्रधान का धर्म कहते हैं उनका कहना है कि ज्ञान के आश्रय भूत प्रधान का जब आत्मा में संसर्ग होता है तब आत्मा ज्ञानी दिखता है। वास्तव में सर्वज्ञता प्रधान को ही है। मुक्ति में प्रधान का संसर्ग छूट जाने से आत्मा में ज्ञान नहीं रहता है आत्मा सुपुप्त चैतन्यवत् हो जाती है।

नैयायिक --

'एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यं ज्ञानं' [षड् द० १३७]

आत्मा में ज्ञान के समवाय से ज्ञान रहता है और वह भी ज्ञानान्तर वेद्य है। ज्ञान स्वयं अस्वसंविदित है अन्य ज्ञानों से जाना जाता है। 'नैयायिक ज्ञान को दूसरे ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होना मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान प्रमेय है इसलिये ज्ञानान्तर वेद्य है जो प्रमेय होता है वह दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाता है जैसे घट पट आदि प्रमेय'। किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि ज्ञान ज्ञानान्तर से वेद्य माना जावे तो महेश्वर के ज्ञान से अनैकांतिक दोष आवेगा। जैन सिद्धांत में तो ज्ञान स्वयं सबको जानता है अतः ज्ञान है एवं स्वयं को भी जानता है अतः ज्ञेय-प्रमेय भी है कोई बाधा नहीं है एवं वह समवाय से आत्मा में नहीं आता है बल्कि आत्मा का ही गुण है। ज्ञान से ही आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है।

वैशेषिक—

नैयायिक और वैशेषिक दोनों ने ही ज्ञान को अस्वसंवेदी माना है। इनकी मान्यता है कि ज्ञान स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है, किंतु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। ये दोनों लोग धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। ये दोनों ही पदार्थ और आलोक को ज्ञान का कारण कहते हैं। किंतु जैनाचार्यो ने ज्ञान को स्वसंविदित ही सिद्ध किया है।

प्राभाकर—

प्राभाकर मतानुयायी ज्ञान को अप्रत्यक्ष ही मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान न तो स्वयं जाना जाता है, और न ज्ञानान्तर से ही जाना जाता है। ये प्राभाकर आत्मा और ज्ञान दोनों को अत्यन्त परोक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि प्रमिति जानना यह क्रिया और जानने योग्य घट पट आदि पदार्थ कर्म हैं वे ही प्रत्यक्ष हैं आत्मा, कर्ता और ज्ञान करण है वह परोक्ष ही है। किंतु जैनाचार्यों ने आत्मा और ज्ञान दोनों को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष सिद्ध किया है।

मीमांसक—

मीमांसक भी ज्ञान को परोक्ष कहते हैं किंतु आत्मा को प्रत्यक्ष मान लेते हैं, इनका कहना है कि ज्ञान करण है इसलिए परोक्ष है। ज्ञान के द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं किंतु ज्ञान स्वयं नहीं जाना जाता है।

'अहं ज्ञानेन घटं वेद्मि' में ज्ञान से घट को जानता हूं, यहां कर्ता कर्म और क्रिया प्रत्यक्ष हैं, ज्ञान यह करण होने से परोक्ष है। किंतु जैनाचार्य कहते हैं कि यदि आत्मा प्रत्यक्ष है तो ज्ञान को परोक्ष कैसे कहना ? क्योंकि भावेन्द्रिय रूप लब्धि और उपयोग ही ज्ञान है जो कि आत्मा रूप है, आत्मा से भिन्न नहीं है अतः आत्मा को प्रत्यक्ष कहने से ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही सिद्ध हो जाता हैं।

बौद्ध—

बौद्ध ज्ञान को 'साकार' कहते हैं उनके यहां ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसके आकार को धारण करके ही उसको जानता है इसलिये ज्ञान तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसायरूप है। उनकी मान्यता है कि जैसे पुत्र पिता से उत्पन्न होकर पिता के आकार को धारण करता है। उसी तरह ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसी के आकार को धारण कर उसी को जानता है अन्य को नहीं, यदि ऐसा न मानों तो पदार्थों की व्यवस्था कैसे बनेगी ? इन्होंने विज्ञान स्कंध को ही आत्मा माना है। एवं विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ने ज्ञान परमाणुओं को पृथक्-पृथक् ही माना है। किंतु जैनाचार्यों ने इस तदुत्पत्ति तदाकार ज्ञान का निराकरण कर दिया है। क्योंकि यदि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है तो पदार्थ के साथ ही ज्ञान का अन्वय व्यतिरेक होना चाहिए किंतु नहीं है मतलब पदार्थ के बिना भी ज्ञान होता है और पदार्थ के रहते हुये भी नहीं होता है इसलिए ज्ञान की तदुत्पत्ति सिद्ध नहीं होती, तदाकार का भी निराकरण इसी से होता है तदध्यवसाय की कल्पना भी निर्मूल है। ज्ञान अपने क्षयोपशम विशेष से आत्मा में उत्पन्न होकर पदार्थो को अवग्रह आदि विकल्पों से जानता है अतः सविकल्प, साकारोपयोग भी कहलाता है। एवं क्षयोपशम विशेष से ही पदार्थों की व्यवस्था कर देता है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होकर भी इन्द्रिय के आकार का न होकर इन्द्रिय को नहीं जानता है। अतः आपका कथन दोष पूर्ण है।

जैन—

'ज्ञानपदेन प्रमातुःप्रमितेश्च व्यावृत्तिः अस्ति हि निर्दोषत्वेन तत्रापि सम्यक्त्वं न तु ज्ञानत्वम्।

[न्याय दी. पृ. १०]

'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' में सम्यक् पद से मिथ्याज्ञानों का निराकरण किया है और 'ज्ञान' पद से प्रमाता-आत्मा, प्रमिति–जानना और 'च' शब्द से प्रमेय-ज्ञेय की व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि निर्दोष होने से ये प्रमाता प्रमिति प्रमेय-ज्ञाता ज्ञप्ति ज्ञेय सम्यक् तो हैं किंतु इनमें ज्ञानत्व नहीं है।

"ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं कर्मसाधनश्चारित्रशब्दः"

ये ज्ञान और दर्शन व्याकरण में करण साधन से बने हैं और चारित्र शब्द कर्म साधन है। अर्थात् दृश्यते अनेनेति दर्शनं। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं। चर्यते यत्तच्चारित्रं जिसके द्वारा श्रद्धान किया जाय वह दर्शन है। जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है। जो आचरण किया जाय वह चारित्र है।

"कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवत इति चेत् न तत्परिणामादग्निवत्"।

[राजवार्तिक पृ० ४]

प्रश्न—यदि जिसके द्वारा जाना जाय उस करण को ज्ञान कहते हैं तो 'जैसे कुल्हाड़ी से लकड़ी काटते हैं' यहां कुल्हाड़ी और काटने वाले दोनों भिन्न हैं वैसे ही कर्ता आत्मा और करण ज्ञान इन दोनों को भिन्न मानना होगा?

उत्तर—नहीं! जैसे 'अग्नि उष्णता से पदार्थ को जलाती है' यहां अग्नि का उष्णत्व गुण अग्नि से पृथक् न होकर भी करण अर्थ में प्रयुक्त है। अतः कथंचित् अभेद में भी कर्ता, करण व्यवहार देखा जाता है। एवं भूतनय की दृष्टि से ज्ञान क्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है। अतः द्रव्य दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है।

ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है जो कि सबसे निकृष्ट सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव में भी कुछ अंश में मौजूद रहता है। तथाहि—

'सुहुमणिगाद अपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घादं णिरावरणं ॥३२०॥

[गोम्मट. सार जी. पृ. १६६]

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसी को 'पर्याय' कहते हैं। इतना ज्ञान सदा ही निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है। यदि इस ज्ञान पर भी आवरण आ जावे तब तो ज्ञान के विना जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा। अतः अतिसूक्ष्म ज्ञान वहां भी विद्यमान रहता है। एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति वृक्ष आदि में भी आत्मा के ज्ञान दर्शन गुण मौजूद हैं कर्मावरण से ढके हुये हैं कुछ-कुछ अंश प्रकट हैं ये ही बढ़ते-बढ़ते एक दिन पुरुषार्थ से पूर्ण हो जाते हैं। तब आत्मा केवली, सर्वज्ञ कहलाने लगता है। अतः ज्ञान गुण आत्मा का है इसी से आत्म ज्ञानी है। सभी मतावलम्बियों ने ज्ञान को अचेतन अथवा अस्वसंविदित माना हैं किंतु जैनाचार्यों ने ही ज्ञान को चेतनारूप स्वपर प्रकाशी सिद्ध किया है। आत्मा के अनन्त गुणों में एक ज्ञान गुण ही ऐसा है जो सारे गुणों का महत्व बताता है यदि ज्ञान गुण न हो तो अनन्त गुणों का मूल्यांकन और अनुभव कौन करावे? अतः सभी गुणों में श्रेष्ठ ज्ञान गुण है। इसे ही प्रमाण कहते हैं। इसका फल—

'ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनं' श्री पूज्यपाद स्वामी ने श्रुतभक्ति में ज्ञान का फल अच्युत सुख को प्राप्त करना कहा है।

वैसे न्याय ग्रन्थों में—'अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलं'

उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।
पूर्वा वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ।। [आप्त मीमांसा]

ज्ञान का साक्षात् फल अज्ञान का अभाव होना है एवं परम्परा फल हेय वस्तु का त्याग उपादेय का ग्रहण एवं इन दोनों से रहित में उपेक्षा रखना है । श्री समंतभद्र स्वामी ने भी यही कहा है कि—

केवल ज्ञान का फल उपेक्षा है शेष ज्ञानों का फल ग्रहण और त्याग बुद्धि का होना है । अथवा शेष ज्ञानों का भी फल उपेक्षा और अपने विषय में अज्ञान का अभाव होना है ।

अतः ज्ञान को अचेतन भूत चतुष्टय का धर्म, या अचेतन प्रकृति का धर्म न मानकर चेतन आत्मा का ही धर्म मानना चाहिये । एवं अस्वसंविदित न मानकर स्वसंवेदी, स्वपर प्रकाशी मानना चाहिये ।

संसार तत्त्व का विचार

चार्वाक—

ते च जीव पुण्यपापादिकं न मन्यंते । चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते । केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाशं पंचमं भूतमभिमन्यमानाः पञ्चभूतात्मकं जगदिति निगदन्ति" । [षड्द० पृ० ४५०]

ये चार्वाक लोग आत्मा, पुण्य, पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के झगड़े में न पड़कर इनकी सत्ता का सर्वथा लोप करते हैं। इस संसार को पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टय रूप ही मानते हैं । कोई चार्वाक आकाश को भी पांचवां तत्त्व मानकर 'जगत्' को पांचभौतिक कहते हैं ।

'यह जड़ जगत् चार प्रकार के भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है ।' इस भूतचतुष्टय को आत्मा या संसार कहना गलत है । [भारतीय द० पृ० १६] यह बात पहले आ चुकी है ।

बौद्ध—

"संसरन्ति स्थानात् स्थानांतरं भवाद् भवांतरं वा गच्छंतीत्येवंशीला संसारिणः स्कंधाः सचेतना अचेतना वा परमाणुप्रचयविशेषाः । ते च स्कंधाः वाक्यस्य सावधारणत्वात् पंचैवाख्याताः न त्वपरः कश्चिदात्माख्यः स्कंधोऽस्तीति" [षड्दर्शन पृ० ४०]

जो स्थान से स्थानान्तर को अथवा भव से भवान्तर को संसरण करें, गमन करें वे संसारी स्कंध हैं वे सचेतन या अचेतन परमाणुओं के प्रचय विशेष कहलाते हैं । वे स्कंध पांच ही होते हैं । इन पांच स्कंधों से भिन्न आत्मा नाम का कोई छठा स्कंध नहीं है । अर्थात् इन पांच स्कंधों में ही आत्मा नाम का व्यवहार होता है । ये पांचों स्कंध एक स्थान से दूसरे स्थान को या भव से भवान्तर को गमन स्वभाव वाले होने से-संसरणधर्मा होने से संसारी कहलाते हैं। इन्हीं संसारी पांच स्कंधों को 'दुःख सत्य' कहते हैं। रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इनके नाम हैं । ये पांचों स्कंध क्षणिक हैं एक क्षण तक ही ठहरते हैं ।

जिससे लोक में 'मैं हूं यह मेरा है' इत्यादि अहंकार रूप ममकार रूप समस्त रागादि समूह उत्पन्न होता है उसे 'समुदय' कहते हैं। बौद्ध के मत में चार आर्य सत्य हैं । दुःख, समुदय, मार्ग, निरोध । इनमें

से आदि के दो तत्त्वों से संसार है एवं अंत के दो से मोक्ष होता है ये 'दुःख तत्त्व' और 'समुदय तत्त्व' संसार की प्रवृत्ति में निमित्त भूत हैं। [षड् दर्शन० पृ० ४३]

"य पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे॥" [प्रमाण वा १।२१९-२०]

जो पाँच स्कंधों में आत्मा को देखता है उसे यह मेरा है ऐसा नित्य स्नेह होता है, स्नेह से तृष्णा, तृष्णा से आत्मा के दोषों पर दृष्टि न जाना, गुण दिखाई देना, आत्मसुख में गुण देखने से उसके साधनों में ममकार होना, उन्हें ग्रहण करना, इत्यादि रूप से जब तक आत्मा का अभिनिवेश है तभी तक संसार है।

किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि पंचस्कंध रूप आत्मा नहीं है ये बौद्ध एक ओर पृथ्वी आदि भूतों से आत्मा को मानने वाले चार्वाक का खण्डन कर रहे हैं। और दूसरी ओर रूप वेदना आदि स्कंधों से भिन्न आत्मा को मानना नहीं चाहते हैं। इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कंध चेतनात्मक हो सकते हैं क्योंकि अचेतन में ये चारों बातें असम्भव हैं। किन्तु रूपस्कंध को चेतन कहना चार्वाक के भूतात्मवाद से कोई अन्तर नहीं रखता है। अर्थात् बुद्ध भगवान का कहना है कि आत्मा क्या है इत्यादि कुछ मत सोचो, दुःख, दुःख के कारण उनके निरोध का ही विचार करो। इत्यादि रूप से बौद्ध अनात्मवादी ही हैं। उनका मान्य संसार गलत हैं, क्योंकि एक क्षण स्थिर रहने वाले दूसरे क्षण में नष्ट हो जाने वाले स्कंधों से क्या भवान्तर गमन होगा ? और क्या संसार बनेगा ? समझ में नहीं आता है।

सांख्य—

मूल सांख्य तो हर एक आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले प्रधान को भी भिन्न-भिन्न मानते हैं अतः इनके यहां अनन्त पुरुषों की तरह प्रधान-प्रकृति भी अनन्त है। किन्तु उत्तरकालीन सांख्य सभी आत्माओं से सम्बन्ध रखने वाला एक नित्य ही प्रधान मानते हैं। प्रकृति और आत्मा के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। [षड्द० पृ० १४५]

पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। प्रकृति के तीन गुणों की साम्यावस्था पुरुष के संयोग से नष्ट हो जाती है। जगत् की रचना इस क्रम से होती है, सत्त्व की अधिकता होने से प्रकृति से महान्—बुद्धि होती है, यह महान् ही विश्व का अंकुर है, इस बुद्धि के आठ रूप होते हैं धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक रूप हैं। तथा अधर्म, अज्ञान, विषयाभिलाष और अनैश्वर्य ये चार तामस रूप हैं। पुरुष का चैतन्य प्रकाश महान् पर पड़ने से महान् भी चेतन मालूम पड़ता है। इसी बुद्धि तत्व से मैं 'सुन्दर हूं' इत्यादि अहंकार, अहँकार से षोडशगण और पांच तन्मात्रा से पंचमहाभूत बन जाते हैं। इसी का नाम संसार है।

किन्तु विचार करके देखा जाये तो यह संसार का लक्षण प्रत्यक्ष बाधित है क्योंकि जब आत्मा अकर्ता निर्गुणी निष्क्रिय और व्यापक है तब उसका प्रकृति से सम्बन्ध कैसे होगा ? एवं उसमें परिणमन हुये बिना दोनों के संयोग से संसार भी कैसे बनेगा ? आत्मा को व्यापक मानने से तो सबसे बड़ा प्रश्न यह होता है कि वह अखण्ड आत्मा व्यापक है तब सब आत्माओं का सम्बन्ध सबके शरीरों के साथ है पुनः अपने-अपने सुख-दुःख और भोग का नियम कैसे बनेगा ? एवं कूटस्थ नित्य निष्क्रिय आत्मा का परलोक गमन आदि असम्भव होनें से संसार किसे कहेंगे ?

नैयायिक वैशेषिक—

नैयायिक और वैशेषिक ईश्वर को संसार का कर्ता, पोषक और संहारक मानते हैं। उनका कहना है कि—

"अज्ञो जंतुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥" [महा भा० वनप० ३०।२८]

अर्थात् यह विचारा संसारी अज्ञ प्राणी असमर्थ है अपने सुख-दुःख भोगने के लिये ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग तथा नरक में जाता है।

इनके यहां भी प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों में से प्रमेय तत्त्व में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, परलोक, फल, दुःख और मोक्ष ये बारह भेद किये हैं आत्मा को व्यापक, नित्य भोक्ता आदि माना है। किन्तु बुद्धि—ज्ञान को आत्मा से पृथक् प्रमेय कहा है, उसका आत्मा में समवाय मानते हैं।

'ईश्वर ने विश्व का निर्माण शून्य से नहीं किया है, किंतु परमाणु दिक्, काल, आकाश, मन, तथा आत्मा आदि उपादानों से किया है। जीव अपने-अपने पुण्य या पाप कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का उपयोग कर सकें, इसके लिये संसार की सृष्टि हुई है'। [भारतीय द० पृ० २३]

वास्तव में विचार करके देखा जाय तो यह प्रत्येक प्राणी अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोक्ता है किसी ईश्वर को उसमें निमित्त मानना गलत है, इसका वर्णन ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व खंडन में पहले किया जा चुका है। अतः नैयायिक वैशेषिक इन दोनों के द्वारा मान्य संसार तत्त्व गलत है।

मीमांसक—

मीमांसाक लोग भौतिक जगत् को मानते हैं। भौतिक जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती है। मीमांसा बाह्य सत्तावादी है। किंतु ये लोग किसी को जगत् का स्रष्टा परमात्मा ईश्वर नहीं मानते हैं, जगत् अनादि तथा अनंत है न इसकी कभी सृष्टि हुई है न प्रलय होगा। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है। कर्म एक स्वतंत्र शक्ति है

जिससे संसार परिचालित होता है। मीमांसा के अनुसार जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है, तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है। अतः इस लोक में किये गये कर्मों के फल का उपयोग परलोक में किया जाता है'। [भारतीय द० पृ० ३०]

ये मीमांसक भी परलोक को मानते हैं एवं 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र यज्ञ को करे। ऐसा प्रतिपादन करते हैं इसलिये ये आस्तिकवादी हैं किंतु ये ईश्वर को सृष्टि का कर्ता या सर्वज्ञ नहीं मानते हैं ईश्वर के अस्तित्व को समाप्त करने वाले हैं इनके यहां सभी आत्मा सदा अशुद्ध संसारी ही रहते हैं।

किंतु वास्तव में यह कथन भी गलत है क्योंकि जीव कर्मबंध से छूटकर मुक्त होता है एवं वही ईश्वर सर्वज्ञ कहलाता है, भले ही वह सृष्टि का कर्ता नहीं है अतः मीमांसकों द्वारा मान्य भी संसार-तत्त्व गलत है।

वेदान्तवादी—

उत्तर मीमांसावादी वेदान्ती मात्र 'अद्वैत ब्रह्म' को ही मानते हैं **'सर्वमेतदिदं ब्रह्म'** 'यह सब कुछ ब्रह्म है' उनका कहना है कि ब्रह्म ही सभी प्राणियों में भासमान है एवं अचेतन पदार्थों में भी वही ब्रह्म है। 'उपनिषदों में उसे सत् ब्रह्मन् वा आत्मन् कहते हैं। संसार इसी सत् से उत्पन्न हुआ है, इसी पर आश्रित है तथा प्रलय होने पर इसी में विलीन हो जाता है। संसार का नानात्व-असत्य है, उसकी एक मात्र एकता ही सत्य है'। कुछ उपनिषदों में यह उल्लेख है कि ब्रह्म या आत्मा के द्वारा संसार की सृष्टि हुई है, किंतु अन्य उपनिषदों में यहां तक वेदों में भी संसार की सृष्टि की तुलना इंद्र जाल से की गई है। ईश्वर को मायावी माना गया है जो अपनी माया से संसार की रचान करता है।'

[भारतीय द० पृ० ३१]

परंतु जैनाचार्यों का कहना है कि एक अकेला ब्रह्म सब चेतन अचेतन रूप विश्व में व्यापक है सभी विश्व उस ब्रह्म की पर्यायें हैं। यह कथन सर्वथा असत्य है अन्यथा एक को सुख-दुःख होने पर दूसरे को भी सुख-दुःख उसी समय होना चाहिये था, अतः प्रत्येक आत्मा की भिन्न-भिन्न सत्ता मानकर उनका संसरण मानना ही संसार है।

जैन—

जैन सिद्धांत के अनुसार उपर्युक्त सभी के संसार तत्त्व के लक्षण बाधित हैं क्योंकि यह संसार अनादि निधन है, इसका कर्ता, धर्ता, पोषक एवं संहारक कोई भी ईश्वर परमात्मा आदि नहीं है। यह जीव स्वयं अपने कर्म का कर्ता और भोक्ता है, कर्म सहित होने से गतिनामकर्म के उदय से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में परिभ्रमण करता रहता है। इस जीव के 'संसरण' का नाम ही संसार है। कहा भी है—

स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवांतरावाप्तिः संसारः। [अष्ट.स. पृ. ६३]

अपने पूर्वोपर्जित कर्म के निमित्त से आत्मा के भवांतर की प्राप्ति का नाम संसार है।

पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च संसारः। [अष्टसहस्री. पृ. ६६]

पूर्वभव का परित्याग करके भवांतर का ग्रहण करना ही संसार है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार कर्म के आठ भेद हैं। और उनमें भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के वंध से वंध के चार भेद हैं। 'इन कर्म वंध के निमित्त से आत्मा की भवांतर प्राप्ति को संसार कहते हैं'।

"संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः। स एषामस्ति ते संसारिणः। तत्परिवर्तनं पंचविधं द्रव्यपरिवर्तनं, क्षेत्रपरिवर्तनं, कालपरिवर्तनं, भवपरिवर्तनं, भावपरिवर्तनं चेति।" [सर्वार्थसिद्धि पृ. १६४]

संसरण करने को संसार कहते हैं जिसका अर्थ परिवर्तन है। यह जिन जीवों के पाया जाता है वे संसारी हैं। परिवर्तन से पांच भेद है—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन, और भावपरिवर्तन। इनका विशेष विवरण सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में देखिये।

अष्टसहस्री में ऐसा कहा है कि चार्वाक ने तो संसार माना ही नहीं है क्योंकि भवांतर गमन रूप संसार उनके यहाँ है ही नहीं। अन्य जनों के द्वारा मान्य संसार की व्यवस्था भी ठीक नहीं हैं क्योंकि बौद्धों ने सर्वथा सब कुछ क्षणिक—एक क्षण रहने वाला माना है एवं सांख्यों ने सर्वथा नित्य अपरिणामी माना है अतः इन लोगों के यहां भी भवांतर गमन रूप संसार की व्यवस्था असंभव है। स्याद्वाद मत में जीव को कथंचित् नित्य माना है और कर्मबंध से सहित होने से मूर्तिक, स्वशरीरप्रमाण माना है। एवं पर्यायार्थिक नय से जन्म-मरण सहित अनित्य भी माना है। जैसे—एक जीव मनुष्य पर्याय से मरकर देवगति में जन्म लेता है वहां वही जीव है जो यहाँ मनुष्यगति में था अतः जीव द्रव्य की अपेक्षा वह ध्रौव्य है नित्य है, किन्तु मनुष्य पर्याय का नाश होकर देव पर्याय का उत्पाद हुआ है अतः पर्याय की अपेक्षा जीव अनित्य भी है। जीव के जन्म-मरण का व्यवहार एवं परलोक गमन भी लोक में सिद्ध है क्योंकि किसी को पूर्व जन्म स्मरण हो जाता है या पूर्व के संस्कार विशेष देखे जाते हैं। इस प्रकार से जैनाचार्य सम्मत संसार तत्त्व प्रसिद्ध है।

मोक्ष तत्त्व का विचार

चार्वाक—

इनका कहना है कि भूतचतुष्टय से शरीर, आत्मा, इन्द्रिय और मन बन जाते हैं एवं शरीर के नष्ट होने के बाद समाप्त हो जाते हैं जीव नाम की कोई वस्तु अनादि अनन्त है ही नहीं पुनः मोक्ष की बात ही कहां रही? **'आगमोऽपि न तत्प्रतिपादयितुं समर्थः तत्र प्रामाण्याभावात् आप्तो ह्यवंचकोऽभिज्ञः सोऽपि किंचिज्ज्ञत्वाल्लौकिकार्थानेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां चक्षुरादिभिरूपलभ्य प्रतिपादयति न तु जीवस्यानाद्यनन्तत्वादिकं।"** [विश्वत. प्र. पृ. ४]

आगम प्रमाण से भी जीव का अनादि अनन्त होना सिद्ध नहीं हैं क्योंकि 'आप्त पुरुष के वचन आदि को आगम कहते हैं' तथा जो ज्ञानी है अवंचक है उसे आप्त कहते हैं, वह आप्त चक्षु आदि इन्द्रियों से अन्वय व्यतिरेक को समझकर लौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर दूसरों को बतलाता है। जीव के अनादि अनन्तत्व का प्रतिपादन नहीं करता है। अतः जब न कोई सर्वज्ञ हैं न उनका आगम सत्य है तब मोक्ष का विचार करना सर्वथा गलत है क्योंकि जब आत्मा और परलोक गमन ही सिद्ध नहीं है तब मोक्ष की सिद्धि कैसे होगी ? इस प्रकार से यह चार्वाक मोक्ष तत्त्व को स्वीकार नहीं करता है।

बौद्ध—

'निरोधो निरोधनामकं तत्वं मोक्षोऽपवर्ग उच्यते । चित्तस्य निःक्लेशावस्थारूपो निरोधो मुक्तिर्निगद्यते'। [षड्. द. पृ. ५०]

मोक्ष या अपवर्ग को निरोध तत्त्व कहते हैं। अर्थात् अविद्या तृष्णा रूप क्लेश से रहित चित्त की निःक्लेश अवस्था रूप निरोध मुक्ति कहा जाता है। बौद्धों द्वारा मान्य चार आर्य सत्यों में यह 'निरोध' चौथा आर्य सत्य है।

'आयुरवसाने प्रदीपनिर्वाणोपमं निर्वाणं भवति। उत्तरचित्तस्योत्पत्तरभावात् यदप्युक्तं—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपैति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शांति ।।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपैति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् मोहक्षयात्केवलमेति शांति ।।

[सौन्दरनन्द १६-२८, २९]

सौगतों के यहां 'आयु के क्षय हो जाने पर उत्तर चित्त की उत्पत्ति नहीं होती है अतः दीपक बुझने के समान चित्तसंतति का निर्वाण होता है।' कहा भी है—"जिस तरह दीपक बुझता है वह न पृथ्वी में जाता है, न आकाश में जाता है। दिशा या विदिशा में भी नहीं जाता है, सिर्फ तेल के खतम होने से शांत हो जाता है। उसी प्रकार जीव का निर्वाण होता है वह न पृथ्वी में जाता न आकाश में जाता है एवं न दिशा विदिशाओं में जाता है, सिर्फ मोह के खतम हो जाने से शांत हो जाता है।"

'रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानपंचकस्कंधनिरोधादभावो मोक्षः इति। [राज. वा. पृ. २]

ये बौद्ध लोग, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कंधों के निरोध को मोक्ष कहते हैं।

इस बौद्ध की मान्यता के अनुसार 'अभाव' को मोक्ष कहना सर्वथा गलत है क्योंकि जब आत्मा और ज्ञान का ही अभाव हो जावेगा तब सुख किसको मिलेगा ? वास्तव में मोक्ष की इच्छा सुख के लिए है न कि सर्वनाश के लिए। अतः विचार की कोटि में बौद्ध का मोक्ष तत्त्व ठीक नहीं है। फिर उनके यहां क्षणिकवाद में आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है तब मोक्ष की कल्पना सुतरां समाप्त हो जाती है।

'प्रकृतेर्वियोगो मोक्षः पुरुषस्य'''.....[षड्दर्शन० पृ० १५३]

प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है। यह पुरुष के होता है। 'गुणपुरुषान्तरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्त-विवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्षः' इत्यपरे—सांख्याः। [तत्वार्थवा० पृ० २]

सांख्य लोग प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान होने पर सुषुप्तपुरुष के विवेक के लुप्त हो जाने के समान अनभिव्यक्त चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा के अवस्थान को मोक्ष कहते हैं।

सांख्यों द्वारा मान्य यह मोक्ष लक्षण भी गलत है क्योंकि चैतन्य विशेषस्वरूप की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है यह मान्यता सत्य है। देखो! प्रकृति का संयोग छूटने के वाद प्रकृति का ज्ञान और सुख मुक्ति में नहीं रहा ऐसा ये लोग कहते हैं, किन्तु यह गलत है। वास्तव में ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण आत्मा के हैं इन विशेष गुणों को प्रगट करके ज्ञाता द्रष्टा पूर्ण सुखी हो जाना मोक्ष है।

नैयायिक वैशेषिक—

'बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारनवात्मगुणात्यंतोच्छेदो मोक्षः इत्यन्ये' (वैशेषिकाः) [तत्वार्थवा० पृ० २] नैयायिक और वैशेषिक लोग 'बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव गुणों के अत्यन्त अभाव को मोक्ष कहते हैं।'

यह मान्यता तो विल्कुल ही गलत है क्योंकि वुद्धि-ज्ञान और सुख का यदि मुक्ति में अभाव हो जावे तो वौद्धों के समान शून्य रूप ही 'मुक्ति कल्पना' सिद्ध हो गई। और कौन ऐसा वुद्धिमान् पुरुष होगा जो कि अपने ज्ञान और सुख को समाप्त करने के लिये मुक्ति को प्राप्त करना चाहेगा अर्थात् अपने सुख और ज्ञान को तिलांजलि देकर मोक्ष जाना कोई भी नहीं चाहेगा। हां! इतना अवश्य है कि इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञान एवं साता वेदनीयजन्य इन्द्रिय सुख का मुक्ति में अभाव होकर अनंतज्ञान और अव्या-वाध-वाधारहित सुख प्रगट हो जाता है यह वात वास्तविक है।

मीमांसक—

मीमांसक लोग न सर्वज्ञ मानते हैं न कोई सृष्टिकर्ता ईश्वर मानते हैं, वे तो वेद वाक्यों से ही अती-न्द्रिय धर्म-अधर्म आदि पदार्थों का ज्ञान होना घोषित करते हैं एवं इनके यहां भी जीवात्मा हमेशा अशुद्ध संसारी ही रहता है कभी पूर्ण शुद्ध मुक्त नहीं होता है। अतः इनके यहां मुक्तितत्त्व का अभाव है।

वेदांतवादी—

'ये लोग भी सारे विश्व को 'परमब्रह्म' स्वरूप मानते हैं अतः उस ब्रह्म की उपासना करके कोई भी व्यक्ति उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है पुनः किसी के मुक्ति की कल्पना ही असम्भव है। इसलिये इन वेदांतवादियों के यहां भी मोक्ष तत्त्व अघटित है। अथवा—

'अनंतसुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष इत्यपरः सोऽपि युक्त्यागमाभ्यां वाध्यते'। [अष्टस० पृ० ६९]

'मुक्ति में अनंत सुख है ज्ञानादि नहीं हैं ऐसे आनन्द रूप एक स्वभाव की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है ऐसा इन वेदांतियों ने कहा है,' किन्तु यह मोक्ष लक्षण भी युक्ति और आगम से वाधित होता है।

प्रश्न यह होता है कि अनंत सुख लक्षण मोक्ष को मानने पर ज्ञान के विना उसका अनुभव कैसे होगा ? यहां भी देखा जाता है कि यदि किसी को मूर्च्छित कर दिया जाय पुनः उसका ऑपरेशन किया जाय तो उसे दुःख का अनुभव नहीं आता है अथवा यदि किसी का उपयोग दूसरी तरफ लगा हो और सुख साधन सामग्री रखी हो तो भी उसे सुख का अनुभव नहीं आता है अतः ज्ञान के विना सुख का अनुभव न होने से मुक्ति में सुख मानना कैसे सिद्ध होगा ? क्या उनके सुख का अनुभव हम और आप को अपने ज्ञान से आ रहा है ? 'अनुभव नाम ज्ञान का है' यदि उन्हें सुख का अनुभव है मतलव सुख का ज्ञान है पुनः ज्ञान रहित मोक्ष कैसे रहा ? दूसरी वात यह है कि ब्रह्मवादियों के यहां मोक्ष की व्यवस्था कहने पर संसार की व्यवस्था भी माननी पड़ेगी पुनः द्वैत हो जाने से 'अद्वैत तत्त्व' समाप्त हो जावेगा।

जैन—

"निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्यावाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्षः इति"। [सर्वार्थ सिद्धि पृ० २]

जव आत्मा कर्ममल, कलंक और शरीर को अपने से जुदा कर देता है तव उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्यावाध सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं।

'वंध हेत्वभावनिर्जराभ्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' [तत्वार्थ सूत्र दशम अ०] मिथ्यादर्शन आदि वंध के कारणों का अभाव और संचित कर्मों की निर्जरा इन दोनों कारणों से सम्पूर्ण कर्मों का आत्यंतिक वियोग हो जाना मोक्ष है।

जैन सिद्धान्त में मुक्ति में अनंत गुणों का विकास माना है एवं अपने स्वभाव की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा है। मतलव आत्मा अनंत गुणों का पुंज है। 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' यह भी पूज्यपादस्वामी का वाक्य है अतः अपने आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि हो जाना ही सिद्धि है उसे ही मोक्ष कहते हैं।

यद्यपि यह मोक्ष प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देता है फिर भी आगम और अनुमान से उसका ज्ञान हो जाता है यथा—घटीयंत्र का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है और धुरे का घूमना उसमें जुते हुये वैल के घूमने पर। यदि वैल का घूमना वन्द हो तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटीयंत्र का घूमना वंद हो जाता है। इसी तरह कर्मोदय रूपी वैल के चलने पर ही चारगति

रूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति रूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेदनाओं रूपी घटीयन्त्र को घुमाता रहता है कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसके रुकने से संसाररूपी घटीयंत्र का परिचलन समाप्त हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है।

इसी प्रकार से आगम से भी मोक्ष की सिद्धि स्पष्ट है सभी शिष्टवादी—आस्तिकवादी लोग किसी न किसी रूप में 'मोक्ष' का अस्तित्व अवश्य ही स्वीकार करते हैं। एवं सभी वादियों ने सामान्यतया मोक्ष में 'दुःखों का विनाश हो जाना' या कर्मबंधन से छूट जाना ही स्वीकार किया है अतएव मोक्ष सामान्य में किसी को विवाद नहीं है। मोक्ष के विशेषलक्षण में ही विसंवाद है जिसका यहां विचार किया गया है।

संसार कारण तत्त्व

चार्वाक—

'देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः।
मतत्रयामिहाश्रित्य जीवाभावो विधीयते'॥

[प्रमाण वा० भा. पृ. ५३]

देहात्मको जीवः देहादन्यत्रानुपलब्धेः शिरादिवदिति पुरंदरः। देहकार्यो जीवः देहान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् उच्छ्वासवदित्युद्भटः। देहगुणो जीवः देहाश्रितत्वात् देहस्य रूपादिवदित्यविद्धकर्णः।

[विश्रत० प्र० पृ० ८]

शिरा इत्यादि के समान जीव भी देहात्मक है क्योंकि देह को छोड़कर अन्यत्र कहीं जीव पाया नहीं जाता, ऐसा पुरंदर आचार्य ने कहा है। जीव शरीर का कार्य है क्योंकि देह के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है जैसे कि उच्छ्वास का अन्वय व्यतिरेक शरीर के साथ पाया जाता है, यह उद्भट विद्वान् आचार्य का कथन है। जीव शरीर का गुण है क्योंकि शरीर के आश्रित है जैसे कि शरीर के रूप आदि। यह अविद्धकर्ण आचार्य का कथन है। मतलब चार्वाक मत के प्ररूपक तीन आचार्य प्रमुख हैं पुरंदर, उद्भट और अविद्धकर्ण। पुरंदर जीव को देहात्मक कहते हैं, उद्भट जीव को देह का कार्य कहते हैं एवं अविद्धकर्ण जीव को शरीर का गुण कहते हैं।

चार्वाक के साधु कापालिकों की तरह हाथमें कपाल रखते हैं और शरीर में भस्म लगाते हैं। ब्राह्मणों से लेकर अन्त्यज तक सभी जातियों के लोग चार्वाक योगियों में मिलते हैं।

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः॥ ८०॥ [षड्द० पृ० ४५२]

चार्वाक कहते हैं कि जीव, मोक्ष, धर्म, अधर्म, पुण्यपाप और इनका फल कुछ भी नहीं है। स्वर्गनरक की कल्पना हास्यास्पद है। इनका सिद्धांत है कि-'**लौकिकं यद्विषयजं सुखं तस्य परित्यागाददृष्टे परलोकसुखादौ तपश्चरणादिकष्टक्रिया साध्ये यत्प्रवर्तनं प्रवृत्तिः तल्लोकस्य विमूढत्वं**'। [षड्द० पृ० ४५६]

चार्वाक का कहना है कि प्रत्यक्ष सिद्ध लौकिक विषय सुखों को छोड़कर अदृष्ट परलोक के सुख के लिये तपश्चरण आदि कष्टकर क्रियाओं में प्रवृति करना महामूढता तथा अज्ञान की पराकाष्ठा है। 'धर्मः कामात्परो नहि' उनका कहना है कि काम सेवन से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। जैसे गुड़, महुआ आदि वस्तुओं के संमिश्रण से मदिरा बनती है उसी प्रकार भूतचतुष्टय से चैतन्य बन जाता है अतः इनके यहां संसार के कारण भूत मिथ्यात्व आदि कोई चीज ही नहीं हैं और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इनकी जड़ता-मूढ़ता ही महामिथ्यात्व होने से अनंत संसार का कारण है।

बौद्ध—

इन विज्ञान आदि स्कंधों से भिन्न सुख-दुःख इच्छा-द्वेष ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। न स्कंधों से भिन्न आत्मा प्रत्यक्ष से अनुभव होता है और न अनुमान से ही होता है, अतः ये पांचों स्कंध क्षणिक हैं दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं मात्र एक क्षण स्थायी हैं, इस प्रकार से पंचस्कंध रूप दुःख तत्त्व है। दुःख तत्त्व का कारण भूत समुदय तत्त्व माना है—'मैं हूं, यह मेरा है, पर है, पराया है' इत्यादि रूप से रागद्वेषादि दोष समुदय उत्पन्न होते हैं, अहंकार और ममकार रूप से आत्म भाव, आत्मीय भाव, परभाव, परकीयभाव आदि उत्पन्न होते हैं इन भावों से रागद्वेष समूह उत्पन्न होते हैं ये दुःख और दुःख समुदय दो तत्त्व संसार के कारण हैं

"अविद्या प्रत्यया संस्कारा इत्यादिवचनं केषाञ्चित्' । ४६ ।

अविद्या निमित्तक ही संस्कार होते हैं ऐसा बौद्धों का कहना है। अनित्य, अनात्मक, अशुचि और दुःखरूप पदार्थों को नित्य सात्मक पवित्र और सुख रूप मानना अविद्या है। इस अविद्या से रागादि संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कार के तीन भेद हैं—

पुण्योपग-शुभ, अपुण्योपग–अशुभ और आनेज्योपग-अनुभय रूप वस्तु का प्रतिविज्ञप्ति विज्ञान है, इन संस्कारों से वस्तु में इष्ट अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है, इन पुण्य, अपुण्य और अनुभय में विज्ञान होता है। अतः संस्कार निमित्तक विज्ञान है, विज्ञान से चार स्कंध उत्पन्न होते हैं वे नाम हैं एवं चार महा-भूत, रूप कहलाते हैं, अतः विज्ञान के निमित्त से नाम रूप होते हैं। नामरूप से पांच इंद्रिय और मन ये छह आयतन होते हैं। छह आयतन द्वारों का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञान तंतुओं को जाग्रत करना स्पर्श है। स्पर्श से वेदना, वेदना से आसक्तिरूप तृष्णा की वृद्धि से उपादन होता है। यह इच्छा होती है कि यह मेरी प्रिया सदैव मुझ में सानुराग रहे इत्यादि। इस उपादान से पुनर्भव को उत्पन्न करने वाला कर्म होता है, इसे भव कहते हैं यह कर्म मन वचन कायपूर्वक होता है, इससे परलोक में नया शरीर ग्रहण करना जाति है, शरीर स्कंध का पक जाना जरा है और उस स्कंध का विनाश मरण है ये जरा मरण जाति कारणक हैं। इस तरह यह द्वादशांग वाला चक्र परस्पर हेतुक है इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य एक को निमित्त करके समुत्पाद–उत्पन्न होना प्रतीत्य समुत्पाद है। अतः अविद्या से संस्कार संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से

तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरा और मरण ऐसा कर्म चलता है। इसके कारण भव चक्र बराबर चलता रहता है। अतः अविद्या से संसार होता हैं संसार का कारण अविद्या है।

बौद्धों की यह संसार कारण पद्धति ठीक नहीं है क्योंकि जब प्रत्येक स्कंध और संस्कार क्षणिक हैं दूसरे क्षण टिकते ही नहीं तब यह सब उपर्युक्त परम्परा कैसे चलेगी, क्योंकि 'क्षणिका सर्वे संस्काराः' [का. ७] ऐसा वचन है अतः बौद्धों द्वारा मान्य संसार कारण तत्त्व गलत है। एक तो आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है दूसरे सभी पदार्थ प्रतिक्षण ध्वंसी है। अतः संसार के कारण होना असंभव हैं। वास्तव में यह क्षणिक सिद्धान्त ही दीर्घसंसार का कारण है ऐसा समझना चाहिये।

सांख्य—

'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बंधः ॥ [सांख्य. का. ४४]

धर्म से ऊर्ध्व गति एवं अधर्म से अधोगति होती है एवं ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बंध होता है जब तक कोई भी मनुष्य आत्मा को महान्, अहंकार, पाँच तन्मात्रा, पांच इन्द्रिय, पांच भौतिक शरीर, आदि अनात्मीय पदार्थों में 'मैं सुनता हूं, देखता हूं' यह कल्पना करता है तभी तक उसको संसार है अतः संसार का कारण अज्ञान या अविद्या ही है।

इस पर आचार्यों का कहना है कि ऐसा एकांत मानना गलत है क्योंकि आपके यहां पुरुष को सर्वथा अपरिणामी, निष्क्रिय, अकर्ता आदि कहा है पुनः उसके यहां संसार के कारण मोक्ष के कारण आदि कैसे बनेंगे ? एवं सर्वथा अविद्या ही संसार का कारण नहीं है। सम्यग्ज्ञान होने के बाद भी संसार में कुछ दिन रहना देखा जाता है। अतः संसारकारणतत्त्व अज्ञान मात्र ही नहीं है, राग द्वेष आदि परिणाम भी संसार के कारण हैं।

नैयायिक—

नैयायिक का कहना है कि मिथ्याज्ञान का कार्य दोष, दोष का कार्य प्रवृत्ति, प्रवृति का कार्य जन्म, और जन्म का कार्य दुःख है। इसलिये मूल में संसार का कारण मिथ्याज्ञान ही है। वैसे इनके यहां सदाशिव ईश्वर ही सृष्टि रचना करके जीव में मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान आदि को भर देता है कोई जीव स्वयं स्वतन्त्र समर्थ नहीं है। यही कारण है कि इनकी संसार कारण मान्यता भी ठीक नहीं है।

वैशेषिक—

इच्छा और द्वेष से धर्म अधर्म की प्रवृत्ति होती है। उनसे सुख और दुःख रूप संसार होता है, संसार में नये शरीर और मन का संयोग होता है, जन्म होता है, एवं कर्मों का संचय होता। अतः इच्छा और द्वेष ही संसार के कारण हैं। इनके यहां भी ईश्वर सृष्टि का कर्ता है अतः यह सब कल्पनायें व्यर्थ प्रतीति होती हैं।

मीमांसक—

ये मीमांसक लोग भले ही '**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**' यह रटते रहें या लाखों बार यज्ञ आदि अनुष्ठान जप, तप दीक्षाविधि, सन्यास आदि में विशेष-विशेष क्रिया काण्ड करते रहें लेकिन ये लोग जीव का संसार से छूट कर मुक्त होना मानते ही नहीं हैं अतः इनके यहाँ के सब क्रिया काण्ड संसार के ही कारण हैं। वास्तव में मिथ्यात्व युक्त वेद विहित यज्ञादि का अनुष्ठान संसार का ही कारण है क्योंकि वेदों में हिंसादि में भी धर्म माना है। वैसे ही वेदांतियों की 'ब्रह्मवाद' व्यवस्था भीठीक नहीं है एवं उनके अनुसार 'परमब्रह्म' का ध्यान मनन भी संसार का ही कारण है।

जैन—

जैनसिद्धांत में संसार के कारण मुख्य रूप से पांच हैं—

'**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः।** [तत्वार्थ. सू.] मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच कारणों से कर्मों का बंध होता है अतः ये कर्म बंध के कारण ही संसार के कारण हैं क्योंकि कर्मों से बंधा हुआ जीव ही संसार में परिभ्रमण करता है। यह कर्म का सम्बन्ध कब से हुआ ?

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥

[गोम्मटसार कर्म.]

प्रकृति, शील और स्वभाव ये प्रकृति के नाम हैं। जीव और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। जैसे कि स्वर्ण पाषाण में किट्ट आदि प्रारम्भ से ही मिश्रित रहता है। एवं इन जीव और कर्मों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। 'अहं' प्रत्यय से जीव का अस्तित्व जाना जाता है। दीन, दरिद्री, धनी आदि होने से कर्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। यह जीव कर्मों के उदय से राग द्वेष आदि रूप परिणत होता है। राग द्वेष से कर्मों का बंध कर लेता है। द्रव्यकर्म और भावकर्म का परस्पर में कार्य कारण भाव सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। यह कर्म बंध कतिपय भव्यों की अपेक्षा अनादि होकर भी सांत है एवं अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनंत है।

पूर्वोक्त सूत्र का विशेष अर्थ—

अतत्त्व श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं उसके दो भेद हैं—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। जो परोपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से अनादिकाल से जीव के साथ चला आ रहा है वह नैसर्गिक है। इससे जीव एकान्त से क्षणिक या नित्य तत्त्व मान लेता है, या यथार्थ तत्त्वों पर श्रद्धान नहीं करता है। परोपदेश से होने वाला मिथ्यात्व चार प्रकार का है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक। अथवा मिथ्यात्व के पांच भेद भी हैं—एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान।

असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं तह य होइ चुलसोदी। सत्तट्ठण्णाणीणं वेणइयाणं तु वत्तीसं।' क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानियों के ६७, और वैनयिकों के ३२ ऐसे ३६३ मिथ्यामत माने गये हैं।

छह काय के जीवों की दया न करने से एवं पांच इन्द्रिय और मन को वश में न रखने से अविरति के १२ भेद हैं।

चार विकथा, चार कषाय, पंचइन्द्रिय विषय, निद्रा और स्नेह ये १५ प्रमाद हैं। कुशल कार्य में अनादर करना प्रमाद है।

अनंतानुन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सोलह कषाय और हास्य, रति आदि नव नोकषाय ये २५ कषाय हैं। चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काय योग ऐसे १५ योग होते हैं। ऐसे ये ५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, १५ प्रमाद, २५ कषाय और १५ योग सब मिलकर ५+१२+१५+२५+१५=७२ भेद हो जाते हैं।

प्रथम गुण स्थान में जीवों के पांचों ही बंध के कारण मौजूद हैं द्वितीय से चतुर्थ तक मिथ्यात्व के सिवा चार कारण होते हैं, पांचवें में त्रस की विरति और ग्यारह की अविरति इस निमित्त से विरताविरत परिणाम होने से चार कारण हैं। छठे में प्रमाद होने से तीन कारण हैं, सातवें से दसवें तक कषाय और योग ये दो ही कारण होते हैं, ग्यारहवें से तेरहवें तक मात्र योग ही एक कारण है, एवं चौदहवें में योग न होने से बंध के कारण नहीं हैं अतः चौदहवें गुण स्थान के अन्त में बंध के हेतु का पूर्णतया अभाव और पूर्वकर्मों की निर्जरा हो जाने से मोक्ष हो जाती है।

जो जीव कर्मों से बंधे हैं वे ही मुक्त होते हैं यह जैनसिद्धान्त का अटल नियम है।

मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणामों का नाम गुणस्थान है। ये गुणस्थान चौदह माने गये हैं। इनका विवरण गोम्मटसार जीवकाण्ड से देखिये।

कोई संसार को अहेतुक कहते हैं। कोई प्रकृति मात्र को संसार का कारण कहते हैं, कोई केवल अज्ञानादि दोषों को संसार का कारण कहते हैं।

किन्तु संसार अहेतुक नहीं है, यद्यपि अनादि है फिर भी उसके कारण कर्म मौजूद हैं। आगम और अनुमान आदि से संसार सहेतुक ही सिद्ध है तभी तो कोई जीव उन संसार के हेतुओं का नाश करके मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। सांख्य ने प्रधान को ही संसार का हेतु माना है, किन्तु आत्मा को संसर्ग से संसार का होना, जीव को जन्म मरण आदि दुःखों का होना जो कि प्रत्यक्ष सिद्ध है वह नहीं बनेगा। बौद्ध अज्ञान आदि जन्य ही संसार मानते हैं, किन्तु कर्मोदय बिना अज्ञान, द्वेष आदि परिणाम हो नहीं सकते हैं इसलिये संसार के कारण मिथ्यात्व आदि प्रसिद्ध हैं।

चार्वाक—

'सुख दुःख के कारण धर्म, अधर्म, उत्कृष्ट धर्म, अधर्म के फल भोगने के स्थान स्वर्ग नरक, पुण्य और पाप दोनों के नाश से होने वाला मोक्ष सुख इत्यादि अतीन्द्रिय पदार्थों की कल्पना उसी तरह हास्यास्पद और उपेक्षणीय है जिस तरह आकाश में अनेक रंगों से विचित्र चित्र बनाने की भावना हास्यास्पद है।'

"साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते नरे।
निरर्था सा मतें तेषां धर्मः कामात्परो न हि॥८६॥ [षड्दर्श० पृ० ४५६]

कर्तव्य कार्य में प्रवृत्ति और न करने योग्य-अकार्य से निवृत्ति होने पर जो मनुष्यों को आत्म संतोष या प्रीति उत्पन्न होती है उसे चार्वाक लोग निरर्थक बताते हैं उनके यहां तो काम पुरुषार्थ से बढ़कर कोई धर्म ही नहीं है। अर्थात् चार्वाक लोग जप, तप, संयम, साधना आदि कार्यो में प्रवृत्ति करने और विषय सुख, इंद्रिय लंपटता, हिंसा, असत्य आदि पाप कार्यों के त्याग करने को मूढता समझते हैं। इसलिये इनके यहां आत्मा, परलोक, मोक्ष और मोक्ष के कारणों की वार्ता ही समाप्त हो जाती है।]

बौद्ध—

'निरोधहेतु नैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो मार्गः। मार्गण् अन्वेषणे मार्ग्यतेऽन्विष्यते याच्यते निरोधार्थिभिरिति चुरादिणिजन्तत्वेनालप्रत्ययः। निःक्लेशावस्था चित्तस्य निरोधः' [षड् द० ३९]

निरोध-निर्वाण मार्ग के इच्छुक मुमुक्षु जिसे ढूंढ़ते हैं, जिसकी याचना करते हैं वह मार्ग है (अन्वेषण अर्थ में मार्गण्—धातु से चुरादिगण में णिच् प्रत्यय के बाद अल् प्रत्यय से मार्ग शब्द बना है) निरोध में हेतुभूत नैरात्म्यादि भावनायें ही निर्वाण में कारण होने से मार्ग कही जाती हैं। एवं चित्त की क्लेश रहित अवस्था को निर्वाण कहते हैं। अर्थात् दुःख, दुःख समुदय, मार्ग और निरोध ऐसे चार आर्य सत्य माने हैं। दुःख का नाम संसार है, दुःख समुदय संसार का कारण है, मार्ग मुक्ति का कारण है एवं निरोध का अर्थ मुक्ति है।

'सर्वभावेष्वविपरीतदर्शनं विद्या। यत्सर्वभावेष्वनित्यानात्मकाशुचिदुःखेषु अनित्यानात्मकाशुचि-दुःखदर्शनं सा विद्या। ततो मोक्षः।' [तत्त्वार्थ वा. पृ. १३]

जब सब पदार्थों में अनित्य निरात्मक अशुचि और दुःख रूप तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या के विनाश से क्रमशः संस्कार आदि का नाश होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस तरह बौद्ध मत में अविद्या से बंध और विद्या से मोक्ष माना गया है। अर्थात् बौद्धों के यहां अनित्य अशुचि आदि पदार्थों को नित्य शुचि आदि समझना अविद्या है। अविद्या से रागादि संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम रूप (पंचस्कंध) नाम रूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरा-मरण होते हैं। यह संसार के कारणों की परंपरा बताई है। वैसे ही विद्या से अविद्या का अभाव, अविद्या के अभाव से

संस्कार का निरोध, संस्कार के अभाव से विज्ञान का अभाव, विज्ञान के अभाव से नाम रूप का अभाव, नाम रूप के अभाव से षडायतन का अभाव, षडायतन के अभाव से स्पर्श का, स्पर्श के अभाव से वेदना का, वेदना के अभाव से तृष्णा का, तृष्णा के अभाव से उपादान का, उपादान के अभाव से कर्म का, कर्म के अभाव से जाति का, जाति के अभाव से जरा-मरण का अभाव हो जाता है। मतलव विद्या से मोक्ष होती है, किंतु यह बौद्ध मान्यता विल्कुल गलत है पदार्थ सर्वथा क्षणिक न होकर नित्य भी हैं उन्हें क्षणिक समझना विद्या नहीं है प्रत्युत महा अविद्या है। इस क्षणिक मत की वुद्धि के अभाव से सम्यक्त्व और ज्ञान आदि प्रगट होने से ही मोक्ष होती है।

सांख्य—

'विपर्ययाद् वंधस्यात्मलाभे सति ज्ञानादेव तद्विनिवृत्तेस्त्रित्वानुपपत्तिः ॥४१॥ [तत्वार्थ वा. पेज ११]

शंका—मिथ्याज्ञान से ही वंध होता है अतः मोक्ष भी ज्ञान मात्र से ही होना चाहिये इसलिये मोक्ष के लिये तीन कारण नहीं वनते हैं। यथा—जव तक पुरुष को महान् आदि के क्रम से उत्पन्न होने वाले पाँच भौतिक शरीर में अहंपने का मिथ्याज्ञान रहता है, तभी तक शरीर को आत्मा मानने से विपर्यय ज्ञान से वंध होता है। और जव इसे प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान हो जाता है, वह पुरुष के सिवाय यावत् पदार्थों को प्रकृति कृत और त्रिगुणात्मक मानकर उनसे विरक्त होकर 'इनमें मैं नहीं हूं, ये मेरे नहीं हैं' यह परम विवेक जाग्रत होता है, तव ज्ञान मात्र से मोक्ष हो जाता है। अतः ज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण है।

जैनाचार्य कहते हैं कि ज्ञान मात्र से मोक्ष माना जाय तो पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के द्वितीय क्षण में ही मोक्ष हो जानी चाहिये। पुनः एक क्षण भी संसार में ठहरने से उपदेश तीर्थ प्रवृत्ति आदि कुछ भी नहीं हो सकेंगे। यह सम्भव नहीं कि दीपक भी जल जाय और अन्धेरा भी रह जाय। उसी तरह से ज्ञान मात्र से मोक्ष कहने पर यह सम्भव नहीं है कि ज्ञान भी हो जाय और मोक्ष न हो। यदि कहो कि पूर्णज्ञान होने के वाद भी कुछ संस्कार शेष रह जाते हैं जिनके क्षय हुये विना मोक्ष नहीं होती, एवं जव तक उन संस्कारों का क्षय नहीं होता तव तक उपदेश आदि प्रवृत्ति होती है तव तो यह स्पष्ट अर्थ हुआ कि संस्कार क्षय से मुक्ति होती है न कि ज्ञान मात्र से। पुनः यह वताओ! संस्कारों का क्षय ज्ञान से होता है या अन्य कारणों से? यदि ज्ञान से कहो तो ज्ञान होते ही संस्कार का क्षय हो जाना चाहिये। पुनः वही उपदेश नहीं हो सकेगा। यदि अन्य कारण कहो, तो उसी का नाम चारित्र है। एवं ज्ञान मात्र से मोक्ष कहने से तो सिर मुंडाना, गेरुआ वेष, यम, नियम, जप, तप, दीक्षा आदि सव व्यर्थ हो जावेंगे।

नैयायिक—

'दुःखादिनिवृत्तिः इत्यन्येषां ।४५।, दुःखजन्मप्रवृत्तिमिथ्याज्ञाननामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्निः-श्रेयसाधिगमः। [न्याय सूत्र १।१।२]

दुःखादि की निवृत्ति होना मोक्ष है, ऐसा नैयायिकों का कहना है। अर्थात् मिथ्या ज्ञान का कार्य दोष, दोष का कार्य प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कार्य जन्म और जन्म का कार्य दुःख है। मिथ्या ज्ञान का अभाव होने पर क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख नष्ट हो जाते हैं उसी का नाम मोक्ष है।

इनके द्वारा मान्य सात पदार्थ और नव द्रव्य की कल्पना, ईश्वर सृष्टि की और समवाय की कल्पना ही गलत है तव उनके यहां मिथ्याज्ञान का अभाव असम्भव है। अतः इनके द्वारा मान्य मोक्ष के कारणों से जप, तप, दीक्षा आदि कुत्सित चारित्र से मोक्ष प्राप्त करना अशक्य है।

वैशेषिक—

'इच्छाद्वेषाभ्यामवरेषां' ।४४। [तत्त्वार्थवा० पृ० ११] वैशेषिक का कहना है कि इच्छा और द्वेष से धर्म अधर्म की प्रवृत्ति, उनसे सुख दुःखरूप संसार। जिस पुरुष को तत्त्वज्ञान हो जाता है उसे इच्छा और द्वेष नहीं होते, इनके न होने से धर्म अधर्म नहीं होते, इनके न होने से नये शरीर और मन का संयोग नहीं होता, जन्म नहीं होता, और संचित कर्मों का निरोध हो जानेसे मोक्ष हो जाता है। जैसे प्रदीप के बुझ जाने से प्रकाश का अभाव हो जाता है, उसी तरह धर्म और अधर्म रूप वन्धन के हट जाने से जन्म-मरण चक्ररूप संसार का अभाव हो जाता है। अतः षट् पदार्थ का तत्त्व ज्ञान होते ही अनागत धर्म और अधर्म की उत्पत्ति नहीं होगी और संचित धर्माधर्म का उपभोग और ज्ञानाग्नि से विनाश होकर मोक्ष हो जाता है। अतः वैशेषिक मत में भी तत्त्वज्ञान से मोक्ष माना है।

वास्तव में इन वैशेषिक के मोक्ष कारण तत्त्व भी गलत हैं तत्त्वज्ञान मात्र से मोक्ष होना असम्भव है यह वात ऊपर कही जा चुकी है, तथा इनके सोलह पदार्थों का ज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं है क्योंकि सोलह पदार्थ वास्तविक नहीं हैं कल्पना से कल्पित हैं, अतः इनके द्वारा मान्य भी मोक्ष कारण तत्त्व वाधित है।

इनका कहना है कि अदृष्ट के दो भेद हैं-धर्म, अधर्म। धर्म पुरुष का गुण है, कर्ता के प्रियहित और मोक्ष में कारण है, अतीन्द्रिय है, अन्तिम सुख का यथार्थ विज्ञान होने से इसका नाश होता है। जव तक तत्त्वज्ञान की पूर्णता नहीं होती तब तक धर्म का कार्य सुख वरावर चालू रहता है। तत्त्वज्ञान होने के वाद प्रारब्ध कर्मों के फल रूप अन्तिम सुख तक बरावर धर्म ठहरता है अन्तिम सुख के प्राप्त होने के वाद धर्म का तत्त्वज्ञान से नाश हो जाता है। यह तत्त्वज्ञान श्रुति स्मृति विहित मार्ग का पालन करने से अहिंसा आदि एवं विशेष रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के पूजन अध्यन आदि से उत्पन्न होता है अतः तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। यह मान्यता पूर्वोक्त प्रकार से गलत ही है।

मीमांसक—

'कुमारिल भट्ट ने कहा है कि पुरुष की प्रीति को श्रेय कहते हैं' यथा—

'श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।
नोदनालक्षणैः साध्या तस्मादेष्वेवधर्मता (मी०श्लोक० चोदना सूत्र श्लो०१९१)

पुरुष की प्रीति को श्रेय कहते हैं यह प्रीति वेद वाक्यों से प्रतिपादित यज्ञादि में उपयुक्त होने वाले

द्रव्य, गुण और क्रियाओं से उत्पन्न होती है अतः स्वर्गादि रूप प्रीति के साधन द्रव्य, गुण आदि में ही धर्मता है। मतलब ये मीमांसक सर्वज्ञ, ईश्वर को नहीं मानते हैं तब मोक्ष और उसके कारणों की बात ही खतम हो जाती हैं। ये सदा ही आत्मा को धर्म से स्वर्गादि सुख और अधर्म से नरकादि दुःख की व्यवस्था कर देते है। बस इनके यहां बुद्धि में मीमांसा करने का ही अभाव है।

"आत्मा नित्य अविनाशी द्रव्य है जो वास्तविक जगत् में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है मृत्यु के बाद भी यह अपने कर्मों के फलों का उपभोग करने के लिए विद्यमान रहता है, चैतन्य आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, किन्तु औपाधिक है। सुषुप्तावस्था तथा मोक्षावस्था में आत्मा को चैतन्य नहीं रहता, क्योंकि उसके उत्पादक कारणों का अभाव हो जाता है जितने जीव हैं उतने ही आत्मा हैं। जीवात्मा बन्धन में आते हैं और उससे मोक्ष भी पा सकते हैं।" [भारतीय द० पृ० २११]

वास्तव में मोक्षावस्था में जीवात्मा को चैतन्य शून्य मानना मतलब जीव के मोक्ष का अभाव सिद्ध कर देना है।

प्राचीन मीमांसकों के मत में स्वर्ग ही जीव का चरम लक्ष्य माना गया है, इसलिए कहा गया है 'स्वर्गकामो यजेत' सभी कर्मों का अंतिम उद्देश्य है स्वर्ग प्राप्ति। परन्तु धीरे-धीरे मीमांसक गण अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह मोक्ष—सांसारिक बंधनों से छूटकर मुक्ति को सबसे बड़ा कल्याण—निःश्रेयस मानने लगे हैं।

निष्काम धर्माचरण और आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्व कर्मों के संचित संस्कार भी क्रमशः लुप्त हो जाते हैं। तब इसके बाद पुनर्जन्म नहीं होता और कर्म का बन्धन छूट जाता है, परन्तु मीमांसक का यह मोक्षकारण तत्त्व ठीक नहीं है।

वेदान्तवादी—

'ब्रह्म स्वरूप में लय हो जाना ही मुक्ति है' इस ब्रह्मालयावस्था के सिवाय अन्य किसी प्रकार की मुक्ति वेदान्तियों को इष्ट नहीं है। ये 'भगवत्' शब्द से पुकारे जाते हैं। इनके कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस ये चार भेद होते हैं। हंस साधुओं को तत्त्वज्ञान हो जाता है तब ये परमहंस कहलाते हैं। "परमहंसादित्रयाणां च कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमंडलुर्न दण्डः सार्ववर्णैकभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः" ॥ [ना. प. उ. ५।१] परमहंसादि तीनों के कटिसूत्र, कौपीन, वस्त्र, कमंडलु नहीं होते हैं सभी वर्णों में भिक्षा ले लेते हैं जातरूपधारी होते हैं। इनके अध्ययन का एक मात्र विषय है वेदान्त। ये चारों ही मात्र ब्रह्माद्वैत की सिद्धि में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं।' [षड्द. पृ. ४३२]

ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं हर एक भाष्यकार एक-एक वेदान्त संप्रदाय के प्रवर्तक बन गये हैं इस तरह शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निंबार्क आदि के नाम पर भिन्न-भिन्न संप्रदाय चल पड़े हैं।

शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं, इनमें द्वैत नहीं है। अतः इनके मत का

नाम 'अद्वैत' हैं। रामानुजाचार्य अद्वैत को स्वीकार करते हुये भी कहते हैं कि एक ही ब्रह्म में जीव तथा अचेतन प्रकृति भी विशेष रूप है, अनेक विशेषण विशिष्ट एक ब्रह्म को मानने के कारण इस मत का नाम पड़ा है 'विशिष्टाद्वैत'। मध्वाचार्य ब्रह्म और जीव को दो मानते हैं अतः इस मत का नाम 'द्वैत' है। निंबार्काचार्य का मत है कि जीव और ब्रह्म किसी दृष्टि से दो हैं, किसी दृष्टि से दो नहीं हैं। इस मत को द्वैताद्वैत कहते हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध है शंकर का अद्वैत और रामानुज का विशिष्टाद्वैत।

'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिंविश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

[ऋग्वेद. १।-९०]

पुरुष के सहस्रमस्तक, सहस्रनेत्र, सहस्र पैर हैं, वह समस्त पृथ्वी में व्याप्त है और उससे दश अंगुल परे भी है। जो कुछ है, जो कुछ होगा, सो सब वही पुरुष है, वह अमरत्व का स्वामी है, जितने अन्न से पलने वाले जीव हैं सबमें वही है, उसकी इतनी बड़ी महिमा है, वह उससे भी बड़ा पुरुष है, उसके एक पाद से संपूर्ण विश्व व्याप्त है और तीन पाद अमृत हैं जो द्युलोक में हैं, वही चारों ओर चराचर विश्व में व्याप्त है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि वैशेषिक और नैयायिक, ईश्वर को सृष्टि की रचना में निमित्त मानते हैं। सर्वेश्वरवादी ईश्वर को जगत का उपादान कारण मानते हैं, किंतु ये वेदान्ती तो ईश्वर को जगत् का निर्माण करने में उपादान और निमित्त दोनों कारण मान लेते हैं। वैदिक ऋषि की दिव्य दृष्टि इतनी दूर तक पहुंच गई है कि एक ही मंत्र में उन्होंने अद्वैत, जगदैक्यवाद तथा निमित्तोपादानेश्वरवाद के तत्त्व भर दिये हैं।

इस तत्त्व को कभी 'ब्रह्म' कभी 'आत्मा' कभी केवल 'सत्' कहा गया है। अर्थात् शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि वास्तविक आत्मा नहीं हैं, वे उसके बाह्य रूप हैं। सबका मूल आधार आत्म तत्त्व है, आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। सत्य, अनन्त और ज्ञान स्वरूप होने के कारण जो ही आत्मा मनुष्य में है वही सब भूतों में है। अतएव आत्मा परमात्मा एक ही है। इस आत्मज्ञान या आत्मविद्या को श्रेष्ठ विद्या कहते हैं। आत्म ज्ञान का साधन है काम क्रोधादि वृत्तियों का दमन करना एवं ब्रह्म का श्रवण, मनन, निदिध्यासन। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा संस्कारों का लोप हो जाता है तब आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। उपनिषदों का मत है कि कर्मकाण्ड के द्वारा जीवन के परम पुरुषार्थ की—अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। केवल आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या के द्वारा ही पुनर्जन्म और तज्जन्य क्लेशों का अन्त

हो सकता है। जो अपने को शाश्वत ब्रह्म से अभिन्न समझ लेता है वही अमरत्व प्राप्त करता है।

विषयों को भोग करने की वासनायें वे बेड़ियां हैं जो हमें जकड़कर सांसारिक बंधन में रखती हैं और जिनसे जन्म और मृत्यु एवं पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। जब मनुष्य का हृदय वासना से रहित निष्काम हो जाता है तब वह इस जीवन में ब्रह्म में लीन हो जाता है।

शैव, पाशुपत, कापालिक और कालामुख मतों के अनुसार जगत का उपादान कारण पंचभूत है एवं निमित्त कारण ईश्वर है, किंतु वेदान्तियों के अभिप्राय से जगत् का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण चित्रूप परमब्रह्म आत्मा ही है।

इस प्रकार से कोरे वेदांत के अध्ययन से मुक्ति नहीं मिल सकती है यद्यपि उपनिषदों में ज्ञान मात्र से मुक्ति कही है फिर भी ज्ञान शब्द का अर्थ श्रुति का कोरा शब्द ज्ञान नहीं है। श्रवण—गुरु के उपदेश सुनना,। मनन—उन उपदेशों पर युक्ति पूर्वक विचार करना। निदिध्यासन—उन सत्यों का वारम्बार ध्यान करना। पूर्व संचित संस्कारों का नाश वारंवार ब्रह्म विद्या के अनुशीलन, तदनुकूल आचरण से होता है। आगे बढ़ते-बढ़ते जीव और ब्रह्म का भेद मिट जाने से उसी के साथ बंधन कटकर मोक्ष का साक्षात् अनुभव होता है।" [भारतीय द०]

यह वेदांतियों द्वारा मान्य मोक्ष का कारण प्रारंभ में बड़ा सुन्दर लगता है, किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि जब एक 'अद्वैतरूप ब्रह्म' ही सिद्ध नहीं है, नाना जीवों की सत्ता पृथक्-पृथक् है तब उस ब्रह्म का श्रवण, मनन, चिंतन, ध्यान भी अविद्या का ही विलास है। इसलिये वेदांतियों द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व भी ठीक नहीं हैं।

जैन—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' [तत्त्वार्थ सूत्र]

जैनाचार्यों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को मोक्ष की प्रप्ति का उपाय बतलाया है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

सच्चे आप्त, आगम और गुरु का श्रद्धान करना एवं तीन मूढता रहित आठ अंग सहित आठ मद-रहित होना सम्यग्दर्शन है। **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'** तत्त्वार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

इस सम्यग्दर्शन के होने के बाद ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है पुनः रागद्वेष को दूर करने के लिए सम्यक् चारित्र ग्रहण किया जाता है। उसके दो भेद हैं। 'सकलं विकलं चरणं' पूर्ण पापों के त्यागी महाव्रती साधु सकल चारित्र धारण करने वाले हैं एवं श्रावक अणुव्रत रूप विकल चारित्र पालन करते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व पूर्ण हो गया, केवलज्ञान की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण ज्ञान प्रगट हो गया है, चारित्र के अंतर्गत व्युपरतक्रिया निवृत्ति ध्यान की पूर्ति चौदहवें

गुणस्थान के अंत में होकर चौहदवें गुणस्थान के बाद जीव मुक्त-सिद्ध होता है। अर्थात् इस मोक्ष के कारण भूत रत्नत्रय की पूर्णता चौहदवें गुणस्थान के अंत में होती है तभी मोक्ष प्राप्त होता है। इसी बात को आप्त परीक्षा में श्री विद्यानंद आचार्य महोदय ने स्पष्ट किया है। **'तथैवायोगकेवलिचरमक्षणवर्तिकृत्स्नकर्मक्षयलक्षणमोक्षमार्गे साक्षान्मोक्षमार्गत्वं सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वं न व्यभिचरति तपोविशेषस्य परमशुक्लध्यानलक्षणस्य सम्यक्चारित्रेऽन्तर्भावादिति"।**

[आप्तपरीक्षा पृ० २६०]

उसी प्रकार अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में होने वाले समस्त कर्मों के नाश रूप मोक्ष के मार्ग में वत्ति 'साक्षात् मोक्षमार्गपना' सम्यग्दर्शन आदि तीन रूपता का व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि परमशुक्लध्यानरूप तपोविशेष का सम्यक्चारित्र में समावेश होता है।

जो मात्र ज्ञान से या सम्यक्त्व से या चारित्र से या दोके मेल से मुक्ति मानते हैं, वह मान्यता गलत है। यहां यह बात निश्चित है कि 'रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है' एक दो आदि नहीं। कहा भी है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः॥

क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल है। दावानल से व्याप्त वन में जैसे अंधा व्यक्ति इधर-उधर भाग कर भी जल जाता है वैसे ही पंगु देखता हुआ भी जल जाता है।

इसलिये मोक्ष की प्राप्ति का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों से अविनाभाव है, वह मुक्ति इन तीनों के विना नहीं हो सकती है। अतः सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष के कारण तत्त्व हैं ऐसा समझना चाहिये।

अद्वैतवाद विचार

अद्वैतवादियों में पांच भेद हैं—ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत और शून्याद्वैत।

ब्रह्माद्वैतवादी वेदांती हैं ये सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक ब्रह्म रूप ही मानते हैं।

शब्दाद्वैतवादी वैयाकरण कहलाते हैं ये भी सम्पूर्ण चराचर जगत् को 'शब्दब्रह्म' रूप मानते हैं।

विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध हैं ये सारे विश्व को एक विज्ञान मात्र ही मानते हैं।

चित्राद्वैतवादी भी बौद्ध हैं ये सम्पूर्ण जगत् को 'चित्रज्ञान' रूप एक मानते हैं।

शून्याद्वैतवादी माध्यमिक बौद्ध हैं ये सारे जगत् को एक शून्य रूप ही स्थापित करते हैं।

इनमें से शब्दाद्वैतवादी का मत स्पष्ट करते हैं।

शब्दाद्वैतवाद निराकरण

'येऽपि शब्दाद्वैतवादिनो निखिलप्रत्ययानां शब्दानुविद्धत्वेनैव सविकल्पकत्वं मन्यंते'

[प्रमेय क० मा०पृ३९]

जो भर्तृहरि और शव्दाद्वैतवादी हैं वे सम्पूर्ण ज्ञानों को शव्द से अनुविद्ध सविकल्प ही मानते हैं।

मतलव उनका कहना यह है कि–ज्ञान शब्द से अनुबिद्ध होकर ही पदार्थों का ज्ञान कराता है–जगत् में जितने भी ज्ञान हैं वे सब शव्दों के द्वारा ही होते हैं। एवं जगत् में जितने भी पदार्थ हैं वे सव शव्द ब्रह्म की पर्यायें हैं।

शव्द ब्रह्म तो अनादि निधन है अक्षरादि उसकी पर्यायें हैं एवं सम्पूर्ण पदार्थ आदि इसी के भेद प्रभेद हैं।

इस पर श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने विशद वर्णन के द्वारा शव्द ब्रह्मवाद का निराकरण कर दिया है क्योंकि शव्द से अनुविद्ध होकर ही ज्ञान हो यह वात असम्भव है, नेत्रादि से जो ज्ञान होता है उसमें शव्दानुविद्धत्व कहां है ? एक कर्णज्ञान को छोड़कर किसी भी ज्ञान में शव्दानुविद्धत्व नहीं है।

यदि पदार्थों का शव्द से अनुविद्धत्व–सम्बन्ध मानों तो भी ठीक नहीं है अन्यथा अग्नि आदि शव्द सुनते ही कान जलने लगेगा। जगत् को शव्दरूप मानना तो प्रत्यक्ष से ही वाधित है फिर भी आप मानें तो प्रश्न यह होता है कि शव्दब्रह्म जब जगत् रूप परिणमन करता है तव अपने स्वरूप को छोड़ कर या विना छोड़े ? यदि अपने स्वरूप को छोड़कर परिणमन किया तो अनादिनिधनता कहां रही ? नहीं छोड़ा तो सारे पदार्थ शव्दमय होने से वहरे को भी शव्द सुनायी देने लगेंगे। पुन: प्रश्न होंगे कि शव्द-ब्रह्म से उसकी जगत् रूप पर्यायें भिन्न हैं या अभिन्न ? भिन्न कहो तो अद्वैत पक्ष समाप्त हुआ। यदि अभिन्न कहो तो शव्दमय पदार्थ हो गये, पुन: 'गिरि' शव्द छोटा सा होकर बड़े से पर्वत का वाचक कैसे होगा ? एवं विना संकेत के भी वाल मूक आदि को उनका ज्ञान होने लगेगा आदि अनेकों दोष आते हैं अत: जगत् को शव्द ब्रह्ममय मानना गलत है। ये शव्दवर्गणायें तो पुग्दलद्रव्य की पर्याय हैं, मूर्तिक हैं, तभी इन्हें आज यंत्रों द्वारा लाखों मीलों तक भेजा जाता है, सुना जाता है टेपरेकार्ड आदि यंत्रों में भरा जाता है। यदि अमूर्त और एक हों तो ये सब वातें असम्भव हो जावेंगी। इसलिये इन अद्वैतवादों की मान्यतायें गलत हैं। ब्रह्माद्वैत आदि का खण्डन इसी में पहले कर दिया है।

स्फोटवाद का विचार

स्फोटवादी मीमांसकों का मत है कि ध्वनियां क्षणिक हैं, क्रमशः होती हैं और अनंतर क्षण में विनष्ट हो जाती हैं, वे स्वरूप का वोध कराने में ही क्षीणशक्ति हो जाती हैं अत: भिन्न अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हैं। उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाला, अर्थ प्रतिपादन में समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शव्दस्फोट स्वीकार करना चाहिये। जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह मत ठीक नहीं है क्योंकि ध्वनि और स्फोट में व्यंग्य-व्यंजक भाव नहीं वनता है। जिस शव्द स्फोट को व्यंग्य मानते हो वह स्वरूप में रहता है या नहीं ? यदि स्वरूप से रहता है, तव तो ध्वनियों से पहले और वाद में उसके उपलव्व न होने का क्या कारण है सूक्ष्मता या किसी प्रतिवन्धक का होना ? यदि

सूक्ष्मता कारण है तो आकाश की तरह ध्वनिकाल में भी उपलब्ध नहीं रहना चाहिये। एवं प्रतिबन्धक कारण भी कोई दिखता नहीं है।

यदि स्फोट स्वरूप से अनवस्थित है तो वह व्यंग्य नहीं हो सकता है और न ध्वनियां व्यंजक हो सकती हैं। जब ध्वनियाँ उत्पत्ति के वाद ही नष्ट हो जाती हैं तब वे स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे करेंगी? यदि क्षणिक होकर भी वे स्फोट की अभिव्यक्ति कर सकती हैं तो सीधा अर्थ बोध कराने में क्या वाधा है जिससे कि एक निरर्थक स्फोट माना जाय?

अतः शब्द ध्वनिरूप ही है और वह नित्यानित्यात्मक है यह स्वीकार करना चाहिये। वह पुद्गल दृष्टि से नित्य है, श्रोत्रेंद्रिय के द्वारा सुनने योग्य पर्याय सामान्य की दृष्टि से कालांतर स्थायी है और प्रतिक्षण की पर्याय की अपेक्षा से क्षणिक भी है। [राजवा० पंचम अ० पृ० ४८६]

'स्फोटवादी वैयाकरणों का कहना है कि वर्ण, पद और वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं, किन्तु स्फोट ही अर्थ का प्रतिपादक है'। [न्या० कु० चं० पृ० ७४५]

मीमांसक और वैयाकरणों का कहना है कि एक शब्द को भी सम्यक्रीति से जानकर शास्त्रानुसार उसका शुद्ध प्रयोग करने से इस लोक और परलोक में इच्छित फल की प्राप्ति होती है। अर्थ का ज्ञान कराने में संस्कृत भाषा के शब्द ही कारण हो सकते हैं, प्राकृत भाषा के नहीं। अतः व्याकरण के अनुसार सिद्ध 'गौ' आदि शब्द ही साधु हैं और वे ही अर्थ के वाचक हो सकते हैं, 'गौ' शब्द के अपभ्रंश 'गावी' 'गोणी' आदि शब्द अर्थ के वाचक नहीं हैं क्योंकि वे शुद्ध नहीं हैं।

तात्पर्य यह है कि 'वैयाकरणदर्शन' को 'पाणिनिदर्शन' भी कहते हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इसका वर्णन आता है।

ये लोग शब्द ब्रह्म को एक और विश्व व्याप्त मानते हैं अतः शब्दाद्वैत वादी हैं। इन्हीं में कोई लोग वर्णों को अर्थ वोधक न मानकर 'स्फोट' से अर्थ की अभिव्यक्ति मानते हैं वे शब्द स्फोटवादी हैं। मीमांसक भी शब्द को नित्य मानते हैं एवं कोई स्फोटवाद भी मानते हैं।

हरिणाभाणि ब्रह्मकाण्डे—**"अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्तेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगते यतः"**॥ [सर्व द० पृ० २४५]

अनादि निधन अक्षराख्य शब्द तत्त्व ब्रह्म घटादि अर्थाकार विवर्त होता है जिससे जगत्प्रक्रिया निष्पन्न होती है।

'पदार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यापि स्फोटोऽभ्युपगंतव्यः' अर्थ प्रतीति के वल से भी स्फोट पदार्थ मानना होगा क्योंकि वर्ण से ही अर्थ वोध होता है यह मानना गलत है।' "जिससे अर्थ प्रतीति होती है वह वर्ण से अतिरिक्त वर्ण से अभिव्यंग्य नित्य शब्दस्फोट है। अतएव—**"स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यंग्यः स्फुटो भवत्यस्मादर्थ इति स्फोटो अर्थप्रत्यायक इति"**। [सर्व द० पृ० २४६]

अतएव वर्णों से जो स्फुटित हो, प्रकाशित हो वह स्फोट है। वर्णों से अभिव्यंग्य अर्थ जिससे स्फुटित होता है वह अर्थ की प्रतीति कराने वाला स्फोट है।

जैनाचार्यों ने वर्णों से ही अर्थ बोध माना है किंतु स्फोट नाम का कोई पदार्थ स्वीकार नहीं किया है इसके ऊपर 'तत्त्वार्थवार्तिक' के आधार से कहा जा चुका है अतः मीमांसक एवं वैयाकरणों की यह शब्द स्फोट कल्पना व्यर्थ है।

भर्तृहरि के वचनों से 'निरवयव स्फोट होता है' क्योंकि वे कहते हैं कि 'यह सब परमार्थ संवित् रूप सत्ता जाति ही सभी शब्दों का अर्थ है।'

ये लोग कहते हैं कि 'जीव से अभिन्न सच्चिदानंद परब्रह्म ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होने पर ब्रह्मस्वरूपावस्थिति रूप मोक्षप्राप्त होता है। अभियुक्तों ने भी शब्द ब्रह्म में निपुण होने से परब्रह्म की प्राप्ति कही है, इसलिये शब्द शास्त्र को मोक्ष साधनत्व सिद्ध हुआ।

'वचन मल को हटाने वाला व्याकरण शास्त्र अपवर्ग का द्वार संपूर्ण विद्या पवित्र में और श्रेष्ठ कहा जाता है। सिद्धि की प्रथम सीढी एवं मोक्षमार्ग का सीधा सरल राजमार्ग व्याकरण शास्त्र है'

[सर्व द० पृ० २५५]

इस प्रकार से इन वैयाकरण पाणिनि आदि ने 'शब्द' को परब्रह्म माना है और व्याकरण को ही मोक्ष मार्ग मान लिया है, किंतु यह गलत है जैनाचार्यों ने बताया है कि व्याकरण के विना केवल वृद्धजनों के व्यवहार से भी शब्दों में वाचकत्व का नियम वन जाता है क्योंकि वाच्यवाचकभाव लोक व्यवहार के आधीन है। शब्द धर्म के साक्षात् साधन नहीं हैं। व्याकरण पद्धति से शुद्ध भी काव्य शास्त्र, कोक-शास्त्र, कुत्सित इतिहास आदि, विषयभोग और चारित्र मलिनता के भी कारण वन जाते हैं। यदि एकांत से शब्द को ही मोक्ष का मार्ग माना जावे तव तो व्रत अनुष्ठान ध्यान समाधि सव व्यर्थ हो जावेंगे। हां! परंपरा से द्रव्यश्रुत भावश्रुत के लिए कारण है एवं भावश्रुत केवलज्ञान के लिये बीजभूत है अतः संस्कृत शब्दों की तरह प्राकृत आदि शब्द भी परंपरा से धर्म के साधन हैं, क्योंकि विशिष्ट वक्ता के द्वारा कहे गये, विशिष्ट पुरुष द्वारा रचित, विशिष्ट अर्थ को कहने वाले वचन ही शुद्ध हैं। अतः द्रव्य दृष्टि से 'द्रव्यश्रुतरूप, शब्दब्रह्म अनादि निधन है एवं पर्याय दृष्टि से पुद्गल की पर्याय होने से सादि सांत है और भावश्रुत के लिए, यथार्थ ज्ञान के लिए कारण होने से उपास्य भी है इसे जिनवाणी सरस्वती भी कहते हैं। द्वादशांग या उसके अंशरूप परंपरागत आचार्य आदि प्रणीत शब्दशास्त्र और उनसे होने वाला अर्थज्ञान मोक्ष के लिये कारण होने से ग्राह्य है वाकी अन्य शास्त्र संसार वर्धक होने से अग्राह्य हैं। ऐसा समझना चाहिये।

स्याद्वाद सिद्धि

स्याद्वादः सर्वथैकांतत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ।। १०४ ।।　　[आप्तमीमांसा]

अर्थ—'स्यात्' यह शब्द निपात है और यह सर्वथा एकांत का त्यागी होने से 'कथंचित्', 'कथंचन' आदि शब्दों के अर्थ का वाची है । जिसे हिन्दी भाषा में 'भी' शब्द से स्पष्ट समझ लेते हैं । जैसे-जीव नित्य भी है, अनित्य भी है इत्यादि । इसमें बताया है कि स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की अपेक्षा रखता है एवं हेय और उपादेय को बतलाने वाला है ।।

सप्तभंगी का स्पष्टीकरण—

"प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी"—प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरूद्ध विधि और प्रतिषेध की कल्पना सप्तभंगी है । यथा—**स्यादस्ति जीवः । स्यात् नास्ति जीवः । स्यादस्ति नास्ति जीवः । स्यादवक्तव्यो जीवः । स्यादस्ति अवक्तव्यो जीवः स्यान्नास्ति अवक्तव्यो जीवः, । स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यो जीवः ।**

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जीव 'अस्तिरूप' ही है । पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से जीव 'नास्तिरूप' ही है । क्रम से स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से जीव अस्ति नास्ति रूप है । युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से जीव अवक्तव्य रूप है । स्वचतुष्टय को कहने से एवं युगपत् स्वपर चतुष्टय को न कह सकने से जीव अस्ति अवक्तव्य है । पर चतुष्टय की विवक्षा करने से एवं युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से जीव नास्ति अवक्तव्य है । स्वपर चतुष्टय की विवक्षा से एवं युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से जीव अस्ति नास्ति अवक्तव्य है ।

यहां पर प्रथम भंग में अस्तित्व की प्रधानता होने से शेष छह भंग गौण हैं । द्वितीय में नास्तित्व की प्रधानता से बाकी छह भंग गौण हैं ऐसे ही सर्वत्र समझना ।

यदि कोई कहे कि एक ही जीवादि वस्तु में विधि योग्य और निषेध योग्य अनन्त धर्म पाये जाते अतः उन अनन्त धर्मों की कल्पना तो 'अनंतभंगी' बनेगी न कि सप्तभंगी । आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना क्योंकि एक वस्तु में अनन्त धर्म हैं और उन अनन्त धर्मों में एक-एक धर्म के प्रति सप्त भंगी का प्रयोग करना पड़ेगा अतः अनन्त सप्तभंगी बनेंगी न कि अनन्त भंगी । जैसे—एक जीव में अस्ति, नित्य, भेद, एक आदि अनेकों धर्म हैं उन सबमें सप्तभंगी अलग अलग घटेगी । इनके प्रतिपक्षी धर्म स्वयं द्वितीय भंग में आ जाते हैं। 'जीव अस्ति रूप है' यह प्रथम भंग है तो 'जीव नास्ति रूप भी है' यह द्वितीय भंग बन जाता है ।

प्रश्न—वस्तु में सात ही भंग क्यों होते हैं ?

उत्तर—शिष्यों के द्वारा सात ही प्रश्न किये जाते हैं।

प्रश्न—शिष्यों द्वारा सात ही प्रश्न क्यों किये जाते हैं ?

उत्तर—क्योंकि सूत्र में 'प्रश्नवशादेव' ऐसा पद है।

प्रश्न—सात ही प्रश्न क्यों है ?

उत्तर—सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती है।

प्रश्न—सात प्रकार की ही जिज्ञासा क्यों हैं ?

उत्तर—उस संशय के विषयभूत वस्तु धर्म सात प्रकार के ही हैं। एवं यह सात प्रकार का व्यवहार निर्विषय नहीं है, क्योंकि इन सात प्रकारों से ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उनकी प्राप्ति का निश्चय देखा जाता है। अतएव श्री भट्टाकलंकदेव ने इस सप्तभंगी को 'स्याद्वादामृतगर्भिणी' कहा है।

शंका—एक ही वस्तु में विरुद्ध दो धर्म शीतउष्णस्पर्शवत् संभव नहीं हैं। जो वस्तु नित्य है वही अनित्य नहीं है, अन्यथा अनर्थ हो जावेगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस समय जीव, द्रव्यदृष्टि से नित्य है उसी समय वही जीव पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। देखो ! जीव नित्य न होवे तो पुनर्जन्म में वही जीव नहीं जावे और यदि अनित्य नहीं होवे तो मनुष्य पर्याय का नाश और देव पर्याय का उत्पाद नहीं हो सकता है, किंतु सभी आस्तिकवादी, जीव का पुनर्जन्म एवं उत्पाद विनाश मानते हैं, ऐसे अनेकों विरोधी धर्म अपेक्षा की शैली से एक ही वस्तु में रह जाते हैं, वाधा नहीं आती है।

प्रश्न—यदि अनेकान्त में भी यह विधि प्रतिषेध कल्पना लगती है तो जिस समय अनेकान्त में नास्तिभंग प्रयुक्त होगा, उस समय एकान्तवाद का प्रसंग आ जावेगा, और अनेकान्त में भी अनेकान्त लगाने पर अनवस्था आ जाती है अतः अनेकान्त को अनेकान्त नहीं कहना चाहिये।

उत्तर—अनेकान्त में भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त और एकान्त रूप से अनेकमुखी कल्पनायें हो सकती हैं।

एकान्त और अनेकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं—सम्यक् एकान्त, मिथ्या एकान्त। सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त।

सम्यक् एकान्त—प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक अंश को युक्ति सहित नय की विवक्षा से ग्रहण करने वाला सम्यक् एकान्त है। जैसे—जीव निश्चयनय से शुद्ध है या व्यवहार नय से अशुद्ध है। इसे सम्यक् नय भी कहते हैं।

मिथ्या एकान्त—वस्तु के एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, या सर्वथा नित्य ही है, यह दुर्णय है।

सम्यक् अनेकान्त—एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों का ग्रहण करने

वाला सम्यक् अनेकान्त हैं। जैसे जीव अनन्त धर्मात्मक है।

मिथ्या अनेकान्त—वस्तु को अस्ति नास्ति आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना, अर्थ शून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है।

इन चारों में सम्यक् एकान्त नय कहलाता है एवं सम्यक् अनेकांत प्रमाण कहलाता है।

[तत्वार्थ वा.]

यदि अनेकांत को अनेकांत ही माना जावे और एकांत का लोप किया जावे तो सम्यक् एकांत के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव के समान तत्समुदाय रूप अनेकांत का भी अभाव हो जावेगा और यदि एकांत ही माना जावे तो अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने से प्रकृत शेष का भी लोप हो जावेगा। अत :—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

[स्वयंभूस्तोत्र]

अनेकान्त भी अनेकान्त रूप है क्योंकि प्रमाण और नय से सिद्ध है। प्रमाण की अपेक्षा से अनेकांत अनेकान्त रूप है एवं अर्पित-विवक्षित नय की अपेक्षा से अनेकान्त एकान्त रूप है। इस प्रकार से अनेकाँत में भी सप्तभंगी घटित हो जाती है। यथा—

अनेकान्त कथंचित् अनेकान्त रूप है क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा रखता है।

अनेकान्त कथंचित् एकान्त रूप है क्योंकि सम्यक् नय की अपेक्षा रखता है।

अनेकान्त कथंचित् उभय रूप है।

अनेकान्त कथंचित् अवक्तव्य है इत्यादि। अनेकान्त छल रूप एवं संशय रूप नहीं हैं।

कोई कोई अनेकान्त को 'सर्वधर्म समन्वयवाद' कहकर सभी मिथ्या एकान्त धर्मों को सत्य सिद्ध करना चाहते हैं किंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं है क्योंकि कथंचित् शैली से एक वस्तु में अनेकों धर्मों को प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि से अविरुद्ध सिद्ध करना अनेकान्त है न कि मिथ्या एकान्तों का समन्वय करना। इसलिये सामान्य सत् की अपेक्षा से सभी वस्तुयें एक रूप हैं।

अवांतर सत्ता की अपेक्षा से सभी वस्तुयें पृथक्-पृथक् अस्तित्व वाली हैं। द्रव्यार्थिक नय से सभी वस्तुयें नित्य है। पर्यायार्थिक नय से सभी वस्तुयें अनित्य है। इत्यादि।

श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥

इस प्रकार से प्रमेय समीक्षा नामक द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

—o—

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

* श्री वीतरागाय नमः *

रचयित्री : विदुषी रत्न पू० आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी

(प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज संघस्था)

❀ मंगल स्तुति ❀

जिनने तीन लोक त्रैकालिक सकल वस्तु को देख लिया।
लोकालोक प्रकाशी ज्ञानी युगपत सबको जान लिया।।
रागद्वेष जर मरण भयावह नहिं जिनका संस्पर्श करें।
अक्षय सुख पथ के वे नेता, जग में मंगल सदा करे ।।१।।

चन्द्र किरण चन्दन गंगा जल से भी जो शीतल वाणी।
जन्म मरण भय रोग निवारण करने में है कुशलानी है ।।
सप्तभंग युत स्याद्वाद मय, गंगा जगत पवित्र करें।
सबकी पाप धूली को धोकर, जग में मंगल नित्य करें।२।

विषय वासना रहित निरंबर सकल परिग्रह त्याग दिया।
सब जीवों को अभय दान दे निभय पद को प्राप्त किया।।
भव समुद्र में पतित जनों को सच्चे अवलम्बन दाता।
वे गुरुवर मम हृदय विराजो सब जन को मंगल दाता।३।

अनंत भव के अगणित दुःख से जो जन का उद्धार करे।
इन्द्रिय सुख देकर, शिव सुख में ले जाकर जो शीघ्र धरे।
धर्म वही है तीन रत्नमय त्रिभुवन की सम्पत्ति देवे।
उसके आश्रय से सब जन को भव-भव में मंगल होवे ।।४।।

श्री गुरु का उपदेश ग्रहण कर नित्य हृदय में धारें हम।
क्रोध मान मायादिक तजकर विद्या का फल पावें हम ।।
सबसे मैत्री, दया, क्षमा हो सबसे वत्सल भाव रहे।
सम्यक् 'ज्ञानमति' प्रगटित हो सकल अमंगल दूर रहे।५।

